प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, संवत् २०२४ वि०

मूल्य

Post Box, No 69, Chowk

Varanasi-1, (INDIA)

1967

Phone 3076

THE

VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA

67

Hindi Translation of J. Muir's

ORIGINAL SANSKRIT TEXTS

BY

RAMKUMAR RAI

Vol. II

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI-1

1967

First Edition

1967

Price : Rs [redacted]00

Also can be had of

THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

Publishers and Antiquarian Book-Sellers

P O Chowkhamba, Post Box 8, Varanasi-1 (India)

Phone . 3145

प्रथम संस्करण की
भूमिका

प्रस्तुत भाग में मेरा प्रथम उद्देश्य एक ऐसी कृति को प्रस्तुत करना है जो उन लोगों के लिये सहायक हो सके जो हिन्दुओं की उत्पत्ति, उनके राष्ट्र के इतिहास तथा उनके राष्ट्रीय साहित्य, धर्म और संस्थाओं का समालोचनात्मक अध्ययन करना चाहते है। यह ग्रन्थ उन योरोपीय अध्यापकों के कार्य को भी सरल बनायेगा जो यहाँ विवेचित अनेक विषयों से सम्बद्ध आधुनिक अनुसन्धानों के परिणामो से हिन्दुओं को अवगत कराना चाहते है। अधिकाशतः यह ग्रन्थ अन्य लोगो के परिश्रमों पर ही आधारित है। किन्तु एक ओर जहाँ मेरा उद्देश्य पाठकों को पिछले अनुसन्धानों के परिणामो से अवगत कराना रहा है वहीं, साथ ही साथ, मेरी यह योजगा भी रही है कि मै कुछ विशेष विषयों का विभिन्न दृष्टिकोणों से नवीन अनुसन्धान करूँ।

मेरे ऊपर जिन लेखकों का आभार है, अथवा जिनकी सामग्रियों का प्रस्तुत कृति में उपयोग किया गया है, उनके प्रति अगले पृष्ठों में मैने प्रायः सर्वत्र इतने विस्तृत रूप से आभार प्रगट किया है कि यहाँ उसके विशेप उल्लेख की आवश्यकता नहीं है। फिर भी, मै उस सहायता का यहाँ उल्लेख कर देना चाहता हूँ जो मुझे ऋग्वेद के एम० लैंग्लोई के अनुवाद तथा उसके इण्डेक्स से प्राप्त हुई है। इससे बाद के ग्रन्थों के अनेक महत्त्वपूर्ण अशो की ओर मेरा ध्यान आकर्षित हुआ जिनका मैने मूल रूप से अध्ययन किया है।

यद्यपि प्रस्तुत भाग के थोडे से अंशों में ही मूल सस्कृत उद्धरण दिये गये है, तथापि मैंने इसके पुराने नाम को बदलना आवश्यक नहीं समझा।

यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तावना के अध्ययन से तथा विषय सूची से प्राप्त हो सकते हैं, तथापि मैं ऐसे पाठको के लिये यहाँ प्रमुख विषयो का एक संक्षिप्त सराश दे देना उचित समझता हूँ जो ग्रन्थ को पढने के पूर्व इसकी रूपरेखा से परिचित होना चाहेंगे।

प्रस्तुत भाग का सामान्य उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि हिन्दू भारत के आदि-निवासी नहीं बल्कि उस मध्य एशिया से यहाँ आकर बसे लोग

है, जहाँ कभी इनके पूर्वज पर्शियनों, यूनानियों, रोमनों, जर्मनों, इत्यादि के पूर्वजों के साथ एक ही समुदाय के रूप म निवास करते थे। इस निष्कर्ष की स्थापना के लिये मैंने यह दिखाया है कि हिन्दुओं की मूल भाषा, संस्कृत, में ऐसे चिह्न लक्षित होते हैं जो उक्त अन्य जातियों की प्राचीन भाषाओं के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध की ओर संकेत करते हैं; और यह कि भारत के आरम्भिकतम धर्म तथा पुराकथायें भी सम्पर्क और साम्य के अनेक मापदण्डों द्वारा परस्पर सम्बद्ध हैं। इन दोनों शीर्षकों के अन्तर्गत प्रमाण प्रस्तुत करने तथा यह प्रतिपादन करने के बाद कि ये तथ्य इन राष्ट्रों के समान स्रोत से उद्भूत हुये होनें तथा एक ही केन्द्रीय-स्थान से उन क्षेत्रों मे जहाँ ये आज बसे मिलते है, फैले होने की ओर संकेत करते हैं, मैंने इन निष्कर्षों को पुष्ट करने का प्रयास किया है और यह दिखाया है कि अपने इतिहास के आरम्भिकतम युग मे हिन्दू लोग भारत के उत्तर-पश्चिमी कोने पर ही बसे मिलते हैं; और यह कि जहाँ एक ओर ये लोग भाषा तथा धर्म की दृष्टि से पश्चिम के राष्ट्रों से सम्बद्ध है, वहीं दूसरी ओर, उत्तर-भारत में आगे बढते समय ये जिन अन्य जातियों के सम्पर्क मे आये उनसे इनकी भाषा तथा संस्थायें दोनों भिन्न है।

इस तर्क के भाषावैज्ञानिक अंश की पूर्ति के लिये, अर्थात हिन्दुओं की मूल भाषा की पर्शियनों, यूनानियों और लैटिनों की भाषा के साथ तुलना करने के लिये मेरे लिये यह प्रमाणित करना आवश्यक हो गया कि संस्कृत, जो अब केवल पण्डितों की भाषा है, एक समय हिन्दुओं के पूर्वजों की बोल-चाल की भाषा थी। मैंने इस बात को प्रथम अध्याय (पृ० ६–२८२) में विस्तार से यह दिखा कर सिद्ध करने का प्रयास किया है कि मूल संस्कृत परिवर्तन की एक दीर्घ शृङ्खला से होकर गुजरी है जिसके परिणाम के रूप में हमें उत्तर भारत की देश बोलियाँ उपलब्ध हैं। इसे दिखाने के लिये मेने वर्तमान बोलियों, जैसे उर्दू, हिन्दी, मराठी, इत्यादि से आरम्भ करके यह सिद्ध किया है कि ये किन तत्त्वों से निर्मित हैं (खण्ड १)।

बाद के खण्डों (२–७) में मैंने इन आरम्भिक देश-बोलियों का विवरण प्रस्तुत किया है : (१) प्राकृत, जिनके नमूने हिन्दू नाटकों में मिलते है और जो कम से कम ईसवी सन् के आरम्भ से ही बोली जाने वाली भाषाओं के रूप मे व्यवहृत होती हैं, और अन्ततः आधुनिक देश-बोलियो मे विलीन हो गई। (२) पालि, अथवा लङ्का तथा बर्मी

के बौद्धों की पवित्र भाषा, जो छठवीं शताब्दी ई० पू० के समय, जब बौद्धधर्म का आविर्भाव हुआ, उत्तर भारत की एक प्रान्तीय भाषा थी; यह नाटकों की प्राकृतों के और आरम्भिक स्तर को व्यक्त करती है। (३) पालि की समकालीन वह बोलियाँ जिनका अशोक के स्तम्भ तथा शिलालेखो में व्यवहार हुआ है। (४) उत्तर भारत के बौद्धों के कुछ ग्रन्थो की भाषा, गाथा। इन खण्डों मे ऐसी तुलनात्मक तालिकायें दी गई हैं जो इन बातों को व्यक्त करती हैं; (क) आधुनिक देशबोलियों, हिन्दी, मराठी, इत्यादि, का नाटकों की प्राकृतों के साथ साम्य; (ख) ऐसे रूप जो नाटकों की प्राकृतो, और पालि में मिलते हैं; (ग) पालि तथा शिलालेखों की भाषा का सम्वन्ध। खंड ८ में यह निष्कर्ष निकाला गया है कि जहाँ तक हम इतिहास की खोज कर सकते हैं, भारत की देशबोली मे सतत परिवर्तन होते रहें है। इस प्रकार, जहाँ उत्तर भारत की प्राचीनतम देशबोली सस्कृत थी, वहीं आज हमें इस रूप में आधुनिक देशबोलियाँ मिलती हैं। खंड ९ में इस बात के प्रमाण प्रस्तुत किये गये है कि संस्कृत एक समय बोली जानेवाली भाषा थी, और वैदिक सूक्तों की रचना उसी भाषा में हुई है जिसे उनके प्रणेता बोलते थे। तदनन्तर खड १० में मैंने यह दिखाया है कि यदि संस्कृत एक समय बोली जानेवाली भाषा थी, तो इसमें भी वह सब परिवर्तन हुये होगे जो सभी देशबोलियों में होते है।

दूसरे अध्याय में मैंने उन प्रमाणों को प्रस्तुत किया है जो तुलनात्मक भाषाविज्ञान से उपलब्ध हैं। इसके आधार पर मैंने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि भाषा के साम्य के आधार पर हम इन भापाओं के बोलने वाले लोगो के भी एक ही स्रोत से उद्भूत हुये होने का निष्कर्ष निकाल सकते है। तदनन्तर मैंने तुलनात्मक पुराकथाशास्त्र, तथा अन्य आधारों के द्वारा इस मान्यता का प्रतिपादन किया है कि हिन्दुओं के पूर्वज उसी महान परिवार के सदस्य थे जिसके पर्शियन, यूनानी, रोमन इत्यादि, और इन सब का मध्य एशिया में एक केन्द्रीय आवासस्थान था। इस वृहत्तर परिवार की भारतीय शाखा ने उत्तर पश्चिम की ओर से भारत में प्रवेश किया।

तीसरे अध्याय में मैने इन आधारों पर उक्त निष्कर्षों की पुष्टि करने का प्रयास किया है: (१) वैदिक सूक्तों के प्रणेताओं द्वारा अपने जाति के लोगो, आर्यों, तथा अन्य वर्ण, आचार-व्यवहार और धर्म

वाले लोगों के बीच किया गया विभेद; (२) ब्राह्मणों और वैदिकोत्तर कृतियों में उपलब्ध आर्यों के उत्तर-पश्चिम से क्रमशः भारत मे पूर्व और दक्षिण की ओर बढने के विवरण; (३) यह सुप्रमाणित तथ्य कि दक्षिण-भारतीय भाषायें संस्कृत से भिन्न है, और इनको बोलने वाले लोग भी अनार्य है।

प्रस्तुत भाग के प्रायः सभी संस्कृत उद्धरण मुद्रित संस्करणो से ही लिये गये है। ऋग्वेद के उन अंशों से जो प्रो० मूलर के संस्करण में अभी प्रकाशित नहीं हो सके हैं, मैंने जो उद्धरण दिये है उन्हे मैंने अपने पास की एक पाण्डुलिपि से लिया है। दुर्गाचार्य के उद्धरणों को ईस्ट इण्डिया हाउस की एक पाण्डुलिपि से लिया गया है। मैंने भास्करा-चार्य के दो स्थलों को बनारस कालेज के पण्डित बापू देव से प्राप्त किया है।

यह प्रो० गोल्डस्टूकर की ही कृपा है कि मैं न्यायमालाविस्तर के भी कुछ उद्धरण दे सका हूँ।

श्री सेण्ट मार्टिन का एक ग्रन्थ (जि०२) मेरे हाथ में तब आया जब मैं प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्तिम पृष्ठों तक का लेखन समाप्त कर चुका था। अपने इस मूल्यवान शोध-प्रबन्ध में इस लेखक ने आर्यों की उत्पत्ति, उनके भारत मे आगमन, और इस देश में प्रसार की दिशा आदि के सम्बन्ध में जो निष्कर्ष निकाले है वह मेरे निष्कर्षों के बिलकुल समान हैं। यहाँ तक कि कुछ ऐसे विषयों पर, जिन पर मैंने एक भिन्न मत स्थिर किया है, इनके दृष्टिकोण उन निष्कर्षों की और शक्तिशाली पुष्टि करते हैं जिन पर हम दोनों मे साम्य है।

सन् १८६० ।

जे० मूइर

द्वितीय संस्करण की

भूमिका

प्रस्तुत संस्करण को प्रेस के लिये तैयार करते समय मुझे इस बात का स्मरण हो आता है कि इसके लिये मैं उन विभिन्न लेखकों, जैसे, बर्नफ, लासन, कोवेल, कैम्बेल, इलिस, काल्डवेल, क्लाउ, टर्नर, फॉस-बॉल, राजेन्द्रलाल मित्रा, एच० एच० विलसन, वेबर, मूलर, गोल्डस्टूकर, रॉथ, बेनफे, बॉप, कुन, ए० डब्लू० श्लेगेल, पिक्टेट, स्पीगल, हॉग, ह्विट्ने, विण्डिशमैन, लैंग्लोई, रेनन, कर्जन, और एलिफस्टन, के परिश्रमों का कितना ऋणी हूँ।

इन नामों के अतिरिक्त अब मुझे सर्वश्री बीम्स, चिल्डर्स, ड' अल्विस, आफरेख्त, कर्टियस, बूलर्स, श्लीचर, फिक, क्राफोर्ड, हक्सले, और जी० रॉलिन्सन के प्रति भी आभार प्रगट करना है जिनकी कृतियों अथवा पत्रों से मुझे अपनी सामग्री के संवर्द्धन में अथवा विभिन्न स्थलो के संशोधन में अत्यन्त बहुमूल्य सहायता मिली है। ग्रन्थ में भी यथास्थान मैंने इन लेखकों के प्रति आभार प्रगट किया है।

प्रस्तुत संस्करण में निम्नलिखित सुधार किये गये हैं : विभिन्न तुलनात्मक तालिकाओ, तथा गाथा और वैदिक रूपों के विवरणों में बहुत अधिक विस्तार कर दिया गया है।

भाषा में साम्य के महत्त्व को जाति-साम्य का प्रमाण मानने का निष्कर्ष, और त्वचा के रंग पर जलवायु के प्रभाव का विषय इतना अधिक परिवर्तित हो गया है कि मैं अब निश्चित रूप से यह कह सकने में असमर्थ हूँ कि ब्राह्मण भारतीय शुद्ध भारोपीय वंश के हैं। मैं अब इस

प्रश्न को खुला छोड़ देता हूँ कि इनके पूर्वजों का रक्त भारत आगमन के समय यहाँ पहले से रह रही काली जातियों से मिश्रित हुआ या नहीं।

परिशिष्ट, नोट बी, में प्रो० कर्न के एक हाल के शोध-निबन्ध का सन्दर्भ दिया गया है जिसमें उन्होंने अथर्ववेद को ऋग्वेद से पहले का मानने में प्रमाणों की अपर्याप्तता की ओर संकेत किया है। अतः मैंने इनके मत के सम्बन्ध में अन्य लेखकों के और अधिक विवरण दे दिये हैं। इसके बाद इसी लेखक तथा प्रो० हॉग के वर्ण-व्यवस्था के प्राचीनता सम्बन्धी विचारों पर भी कुछ टिप्पणी की गई है।

मूल ग्रन्थ के विभिन्न विषयों के संवर्धनार्थ या परिष्कारार्थ, परिशिष्ट में अन्य नोट भी दिये गये हैं।

प्रस्तुत भाग को पूरी तरह से संशोधित किया गया है। किन्तु उक्त परिवर्तनों के अतिरिक्त इसकी रूप रेखा बिल्कुल पहले जैसी ही है।

एडिनबर्ग, १८७१। जे० मूइर

विषय सूची

संक्षेप-सूची

अ०	: Abhandlung uber den Atharvaveda, Zubingen.
इआ०	: Indische Alterthumskunde
इएन०	: Ersch and Gruber's Encyclopedia.
इलि०	: Indische Literaturgeschichte.
इलिप्रा०	: Institutiones Lingua Pracriticae.
उमे०	: Uber die Bedentung der Sprache fur die Natur-geschichte der Menschen, 1858.
एवे०	: Ægyptens Stelle in der Welt-geschichte
ऐसंलि०	: History of Ancient Sanskrit Literature.
ओयो०	: Pictet, A. : Origines Indo-Europeennes.
कास्प्रा०	: Compendium der vergleichenden Grammatik der Indogermanischen Sprachen.
कुगो०	: Kuhn's Herabkunft des Feuers und des Getter-tranks, Berlin, 1859.
कोल०मिस० ए०	: Colebrooke's Miscellaneous Essays.
गोगे०	: Gott. in der Geschichte
जअओसो०	: Journal of American Oriental Society
जएसो०	: Journal of the Royal Asiatic Society.
जजएसो०	: Journal of German Oriental Society.
जिवे०	: Etude sur la Geographie et les Populations Primitives do Nordouest de l' Inde d' apres les Hymnes Vediques.
ट्राला०	: Transactions of the Ethnological Society of London.
डेप्रा०	: Delius Radices Pracriticae.
त्सीमा०	: Zeitschrift fur die Kunde des Morgenlandes.
त्सुवे०	: Zur Litteratur und Geschichte des Weda.
बी०	: Beitrage Zur Vergleichenden Sprachforschung.
लबु०	: L' Histoire do Buddisme.
लाइ०	: Lassen : Institutions Linguae Pracriticae.
वस्प्रा०	: Vergleichendes Wörterbuch der Indo-germanischen sprachen.
हिसे०	: Histoire des Langues Semitiques.

मूल संस्कृत उद्धरण

द्वितीय भाग

ग्रन्थ के प्रस्तुत भाग की रूपरेखा

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग में मैंने : (१) वैदिक सूक्तों, ब्राह्मणों तथा उनके उपाङ्गों, रामायण, महाभारत, और पुराणों में मिलनेवाले मानव-सृष्टि तथा जाति-व्यवस्था से सम्बद्ध पुराकथात्मक विवरणों; (२) मनुको आर्य-भारतीयों का आदि पूर्वज बतानेवाले वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थों के विभिन्न स्थलों; (३) ऋग्वेद और अथर्ववेद के भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों के परस्पर सम्बन्धों पर प्रकाश डालनेवाले, इन्हीं ग्रन्थों के स्थलों; (४) भारतीय इतिहास के आरम्भिक युगों में ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के बीच श्रेष्ठता की प्रतिस्पर्धा का विवरण प्रस्तुत करनेवाले ब्राह्मण-ग्रन्थों अथवा उनके परवर्ती ग्रन्थों के विभिन्न अंशों; (५) भारत की सीमा अथवा सीमावर्ती प्रदेशों में निवास करनेवाली आर्येतर जातियों की उत्पत्ति से सम्बद्ध मनु, तथा महाभारत और पुराणकारों के मतों; और (६) भारतवर्ष के बाहर के भूभागों के पुराणों में आनेवाले वर्णनों का संग्रह और अनुवाद, तथा उनकी व्याख्या का प्रयास किया था। उस समस्त अनुसन्धान के आधार पर मैंने यह देखा कि हिन्दुओं के पवित्र ग्रन्थों में जातिवाद की उत्पत्ति का कोई सार्वभौमिक अथवा संगत विवरण नहीं मिलता, और इस दोष के कारण हिन्दुओं द्वारा सामान्य रूप से मान्य इस सिद्धान्त की कि इसकी उत्पत्ति प्रजापति के शरीर के विभिन्न भागों से हुई है, हिन्दुओं की अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित कृतियों की शाब्दिक व्याख्या के द्वारा भी हिन्दू-धर्म के सिद्धान्त के रूप में स्थापना नहीं होती।

अब मैं हिन्दुओं के प्राचीनतम धर्मग्रन्थों, वेदों, के अनुसन्धान, तथा तुलनात्मक भाषाविज्ञान के आधार पर निष्कृष्ट भिन्न प्रकार के प्रमाणों के द्वारा यह दिखाने का प्रयास करूँगा कि भारत के प्रधान, विशुद्ध और मिश्रित वर्ग के लोग मूलतः न तो जातियों में विभक्त थे और न भारत के निवासी ही थे। इसके विपरीत, वे अधिक सम्भवत: उस महान भारोपीय परिवार की एक शाखा (जिसे यद्यपि विदेशी तत्वों के अन्तर्मिश्रण से मुक्त नहीं कहा जा सकता) थे जिसकी ही पारसी, यूनानी, रोमन और जर्मनिक जातियाँ भी या तो अंग अथवा शाखायें थीं। उसी महान परिवार (जिसका मूल आवास भारत की उत्तर-पश्चिम दिशा में किसी दूरस्थ देश में रहा प्रतीत होता है) की कुछ शाखायें उससे पृथक होकर पश्चिम की ओर चली गईं, जब कि हिन्दुओं के पूर्वजों ने भारत की ओर यात्रा की। यहाँ आकर उन्होंने सम्भवत. इस देश

में पहले से बसी जाति के लोगों के साथ अन्तर्विवाह किये, उनके मूल धार्मिक विचार भी क्रमशः परिवर्तित हो गये, और धीरे धीरे वर्ण व्यवस्था तथा ब्राह्मण-धर्म के अन्य सिद्धान्तों तथा संस्थाओं का विकास हो गया।

मैं जिस तर्क-पद्धति के आधार पर इन निष्कर्षों की स्थापना करना चाहता हूँ वे इस प्रकार हैं. सर्वप्रथम, मैं भारत की भाषा और उसके साहित्य के परीक्षण द्वारा यह दिखाना चाहता हूँ कि संस्कृत भाषा नित्य और देववाणी नहीं (जैसा कि हिन्दू मानते हुए प्रतीत होते हैं) वरन् उसका स्वरूप आज उससे भिन्न है जो भारतीयों के पूर्वजों के सुदूर भारत आने के समय था। वैदिक सूक्तों की प्राचीन शैली, तथा इतिहास और पुराणों की अपेक्षाकृत आधुनिक भाषाओं की तुलना से यह तथ्य स्पष्ट हो जायगा। शैलियों का इस अन्तर के एक क्रमिक विकास का परिणाम होना, भाषा के स्वाभाविक विकास के नियमों और अन्य देशों की भाषाओं के रूपान्तरण-पद्धति की समानता के तथा वैदिक सूक्तों के अप्रचलित शब्दों और वाक्यांशों की व्याख्या करनेवाले निघण्टु तथा निरुक्त प्रभृत ग्रन्थों में दिये गये तर्कों के आधार पर सिद्ध हो जाता है। साथ ही ब्राह्मणों जैसे मन्त्रों की व्याख्या करनेवाले ग्रन्थों के अस्तित्व और वैदिक सूक्तों को प्राचीन तथा पूर्ववर्ती मानकर उनका उद्धरण देने और उनके आशयों का विकास तथा व्याख्या करनेवाले उपनिषदों द्वारा भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। विभिन्न भारतीय शास्त्रों के कालगत अन्तर का आगे संक्षिप्त विवेचन किया जायगा और उनके द्वारा पृथक्-पृथक् व्यक्त धार्मिक विचारों, उपासनापद्धतियों[1], तथा रीति-रिवाजों से सम्बन्धित अत्यधिक वैषम्य की ओर ध्यान आकर्षित करते हुये इसे सिद्ध किया जायगा। इन विभिन्न प्रमाणों के आधार पर यह दिखाया जायगा कि समस्त भारतीय ग्रन्थों में वैदिक सूक्त सर्वाधिक प्राचीन हैं, और उनके बाद के अन्य ग्रन्थों का स्वरूप, सृजन तथा संवर्द्धन के एक स्वाभाविक विकास-क्रम को ही व्यक्त करता है। जहाँ संस्कृत भाषा का अस्थैर्य और उसकी वास्तविक अस्थिरता संस्कृत साहित्य की इस ऐतिहासिक रूपरेखा द्वारा व्यक्त होती है, वहीं मैं कुछ आरम्भिक खण्डों में यह भी दिखाऊँगा कि उन्हीं ध्वन्यात्मक परिवर्तनों के आधार पर, जिन्होंने योरप की अधिकांश प्राचीन भाषाओं को उनके अनेक आधुनिक प्रतिनिधि रूपों में परिवर्तित कर दिया है, किस प्रकार प्राचीन संस्कृत भाषा अतीत की शताब्दियों की पालि और प्राकृत में क्रमशः

[1] इस विषय की विस्तृत विवेचना इस ग्रन्थ के एक अगले, चौथे, भाग में की जायगी।

परिवर्तित[१] और उसके बाद अन्य तत्वों—जो अभिजात साहित्य में तो नहीं मिलते किन्तु जो या तो आर्य भारतीयों की बोल-चाल की भाषा के मूल अथवा किसी अन्य विदेशी स्रोत से गृहीत अंश थे—के सयोग से अन्ततोगत्वा उत्तर भारत की आधुनिक भाषाओं में विभक्त हो गई।

इस प्रकार, भारत में प्रतिष्ठित होने के बाद संस्कृत भाषा की परिवर्तनशीलता को दिखाने के पश्चात्, द्वितीयतः मैं इस आदरणीय भाषा की जेण्ड, फारसी, यूनानी, लैटिन, और अन्य पाश्चात्य भाषाओं के साथ तुलना करते हुये यह सिद्ध करना चाहता हूँ कि ये समस्त भाषायें धातुओं तथा विभक्ति के रूपों, दोनों ही दृष्टियों से परस्पर अत्यन्त घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। इनका यह सम्बन्ध ऐसा है जो इनके परस्पर मातृत्व की ओर संकेत करते हुए यह व्यक्त करता है कि ये सब किसी अपेक्षाकृत और प्राचीन, किन्तु आज लुप्त, मूल भाषा के ही क्रमिक परिवर्तन से उत्पन्न हैं। इन, तथा ज़ेण्ड और यूनानी पुराकथाशास्त्र तथा साहित्य में उपलब्ध तथ्यों के आधार पर मै उक्त भाषाओं को बोलनेवाले सामान्यतया आर्य, इण्डो-जर्मनिक और भारोपीय कहे जनेवाले विभिन्न राष्ट्रों का एक ही मूल स्रोत होने की सम्भावना का तर्क प्रस्तुत करूँगा। साथ ही साथ, इस बात की भी अत्यधिक सम्भावना पर ज़ोर दूँगा कि हिन्दुओं के पूर्वज भारत में उत्तर और उत्तर-पश्चिम से आये थे।

तदुपरान्त मै इन निष्कर्षों में से अन्तिम को, भारत में आने के पश्चात् भारतीय आर्यों और उनके आने के पूर्व से ही इस देश में बसी भिन्न भाषाभाषी तथा भिन्न जातीय असभ्य जातियों के बीच संघर्ष के उपलब्ध चिह्नों, तथा भारत मे आर्यों के दक्षिण और पूर्व दिशाओं में अग्रसर होने का इतिहास के उल्लेखों के आधार पर पुष्टि करने का प्रयास करूँगा। भारतीय पुरातनता के सर्वाधिक प्राचीन स्मारक, वैदिक सूक्तों, तथा साथ ही साथ, बाद के काल के अन्य शास्त्रों में उपलब्ध प्रदत्तों के आधार पर ही इन विषयों की व्याख्या की जायगी।

---

[१] पालि आदि की उत्पत्ति सम्बन्धी इस व्याख्या के विरुद्ध जो आपत्तियाँ की गई है उनका आगे विवेचन किया जायगा।

अध्याय १

उत्तर भारत की भाषायें : उनका इतिहास और परस्पर सम्बन्ध

खण्ड १—उत्तर भारतीय बोलियाँ : प्राचीन और आधुनिक

उत्तर-भारतीय भाषाओं के पर्यवेक्षण से हमें निम्नलिखित तथ्य उपलब्ध होते हैं : (१) हमें एक अत्यन्त परिष्कृत और जटिल भाषा, संस्कृत, मिलती है जिसे सामान्यतया पवित्र माना गया है और जो वास्तव में अत्यन्त प्राचीन है, किन्तु जिसे अब केवल थोड़े से विद्वान ही समझते, और अपने विद्यालयों में व्याकरण, धर्मशास्त्र, तथा दर्शन सम्बन्धी वाद-विवादों के माध्यम के रूप में प्रयुक्त करते हैं, जबकि अधिकांश लोगों के लिये यह सर्वथा अबोधगम्य है। (२) हमें अनेक प्रकार की प्रान्तीय बोलियाँ, जैसे—बँगला, हिन्दी, मराठी, गुजराती, इत्यादि मिलती हैं, जिनका साधारण तथा विद्वद्जन दोनों ही व्यवहार करते हैं, इन सब में घनिष्ठ साम्य है और अधिकांशतः ये सब एक ही धातुओं से बनी हैं।

इन बोलियों के शब्दों को चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम तो वे शुद्ध संस्कृत शब्द हैं, जैसे 'ईश्वर', 'देवता', 'स्वर्ग', 'स्त्री', 'पुरुष', 'जन'। द्वितीय, ऐसे शब्द जो अपने मूल रूप से तो परिवर्तित हो गये हैं, किन्तु जिनके संस्कृत रूप को सरलतापूर्वक पहचाना जा सकता है, जैसे—'लोक' से 'लोग', 'स्त्री' से 'इस्त्री', 'मुख' से 'मुँह', 'भ्रातृ' से 'भाई', 'भ्रातृज' से 'भतीजा', 'भगिनी' से 'बहिन', 'विवाह' से 'बियाह', 'भूमि' से 'भूईं', तथा इसी प्रकार हिन्दी के अन्यान्य शब्द। तृतीय, ऐसे शब्द जिनका संस्कृत ग्रन्थों में उपलब्ध किसी पद या शब्द के साथ कोई साम्य नहीं है, जिसके फलस्वरूप या तो इन्हें संस्कृत से स्वतन्त्र अथवा आर्यों[1] की लिखित नहीं वरन् बोली जानेवाली लोक-भाषा से व्युत्पन्न मानना होगा, जैसे—हिन्दी

[1] इस वाद के विकल्प का मुझे प्रो० आफरेक्ट ने परामर्श दिया था। पहले श्री जे० बीम्स इस प्रकार का मत व्यक्त कर चुके हैं जैसा कि उस उद्धरण से स्पष्ट होगा जिसे मैं ज० रा० सो०, १८६८, पृ० ४९१, में प्रकाशित उनके 'नोट्स ऑन भोजपुरी डायलेक्ट ऑफ हिन्दी,' से आगे उद्धृत करूँगा।

भाषा के, 'बाप', 'बेटा', 'पेड़', 'चौकी', 'चूक', 'खिड़की', 'झगड़ा', 'बखेड़ा', 'आटा', 'चटाई', तथा अनेक अन्य शब्द है। चतुर्थ, अरबी, फारसी, तथा कुछ अन्य विदेशी भाषाओं से लिये गये शब्द, जैसे 'आदमी', 'औरत', 'हाकिम', 'हकीम', 'दुरुस्त', 'रोज़', 'दरिया', 'रोशनी' इत्यादि।

अब हम यह देखें कि इन बोलियों का इतिहास क्या है। अनेक कारणों से यह स्पष्ट है कि यह सदैव अपने वर्तमान रूप में ही नहीं रही होंगी। अतः ये कब और किस प्रकार निर्मित हुईं? इतिहास और भारतीय वैयाकरण के ग्रन्थ हमें इस विषय में क्या बताते हैं?

यदि हम उत्तर भारत की बोलियों, जैसे बंगला, और हिन्दी में मिलने वाले अरबी और फारसी शब्दों से आरम्भ करें तो हम सर्वसम्मत रूप से देखेंगे कि मुसलमानों के भारत-आक्रमण के समय से ही इन बोलियों मे इस प्रकार के शब्दों का प्रवेश आरम्भ हुआ। यह सर्व-विदित है कि महमूद गज़नी ने आठ से नौ सौ वर्ष पूर्व भारत मे प्रथम प्रवेश किया था। उस समय के पूर्व, और वास्तव में बहुत समय बाद तक भी, जब मुसलमान उत्तर-पश्चिम से भारत में काफी भीतर तक प्रवेश कर अपना आधिपत्य जमा चुके थे, भारतीय बोलियों में अरबी और फारसी शब्दों का कदाचित् ही कोई अन्तर्मिश्रण हुआ होगा।[२]

---

[२] वास्तव मे हमे प्राचीन ज्योतिषशास्त्री, वराहमिहिर, की कृतियो से यह पता चलता है कि यूनानी अथवा अरबी उत्पत्ति के कुछ नक्षत्र-शास्त्रीय और ज्योतिष-शास्त्रीय शब्द अरब नक्षत्रविदो से गृहीत होकर सस्कृत ग्रन्थो मे आये। मेरा तात्पर्य ऐसे शब्दो से है, जैसे 'होरा', 'द्रकाण', 'लिप्ता', 'अनफा', सुनफा, 'आपोक्लिम','रिफ', जिन सबकी उत्पत्ति यूनानी है, तथा 'मुकारिणा','मुकाविला', 'तस्दी', 'तस्ली', इत्यादि, जो अरबी से व्युत्पन्न है। (कोल० मिस० ए० २,५२५ और बाद, वेबर इ० लि० पृ० २२७, तथा इन्डिशे स्टूडियन, २, पृ० २५४ और २६३)। वराहमिहिर का निम्न श्लोक स्पष्ट रूप से यह सिद्ध करता है कि भारतीय नक्षत्रशास्त्री किस सीमा तक यूनायियो के ऋणी है —

म्लेच्छा हि यवनास् तेषु सम्यक् शास्त्रम् इदं स्थितम्।
ऋषि-वत् तेऽपि पूज्यन्ते किम् पुनर् दैवविद् द्विज ॥

अर्थात् "यवन लोग म्लेच्छ है, फिर भी उनमे यह शास्त्र सम्यक् रूप से प्रतिष्ठित है, और वे भी ऋषिवत् पूज्य हैं फिर ज्योतिषशास्त्री ब्राह्मण इससे अधिक और क्या है?" (कोल० मिस० ए० २, ४१०)।

उर्दू की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रसिद्ध उर्दू पुस्तक, बाग-ओ-बहार, की भूमिका में उसके लेखक दिल्ली के मीर अम्मन (जिनका कथन है कि उनके पूर्वजों ने हूमायूँ और उसके बाद के हिन्दुस्तान के सभी राजाओं की सेवायें की थीं) ने जो विवरण दिया है उसे मैं नीचे उद्धृत कर रहा हूँ :—

हकीकत उर्दू की ज़बान बुज़ुर्गों के मुँह से यूँ सुनी है कि दिल्ली शहर हिन्दुओं के नज़दीक चोजुगी है। उन्हीं के राजा प्रजा कदीम से रहते थे, और अपनी भाखा बोलते थे। हजार बरस से मुसलमानों का अमल हुआ। सुल्तान मुहम्मद गजनवी आया। फिर गोरी और लोदी बादशाह हुये। इस आमद-ओ-रफ्त के बाइस कुछ ज़बानों ने हिन्दू मुसलमान की आमेजिश पाई। आखिर अमीर तिमूर ने "हिन्दुस्तान को लिया। उनके आने और रहने से लश्कर का बाजार शहर में दाखिल हुआ। इस वास्ते शहर का बाजार उर्दू कहलाया।" जब अकबर बादशाह तख्त पर बैठे, तब चारों तरफ़ के मुल्कों से सब कौम कद्रदानी और फैज़रसानी उस खान्दान लासानी की सुनकर हुजूर में आकर जमा हुए। लेकिन हर एक की गोयाई और बोली जुदी जुदी थी। इकट्ठे होने से आपस में लेन देन सौदा सुल्फ सुवाल जवाब करते एक ज़बान उर्दू की मुकर्रर हुई" निदान ज़बान उर्दू की मँजते मँजते ऐसी मँजी कि किसू शहर की बोली उससे टक्कर नहीं ले सकी।*

किन्तु केवल उर्दू भाषा में ही, जिसका मुसलमान और भारत के उत्तर पश्चिम प्रदेश (आधुनिक उत्तर प्रदेश) के फारसी पढ़े हिन्दू व्यवहार करते हैं, फारसी और अरबी शब्दों का प्रचुर व्यवहार हुआ है। सामान्यतया हिन्दुओं द्वारा बोली जानेवाली बंगाली, हिन्दी, मराठी, गुजराती तथा अन्य उत्तर-भारतीय बोलियों में इन स्रोतों से गृहीत शब्दों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। इसके विपरीत इन बोलियों में अधिकांश शब्द (जैसा कि ऊपर कहा जा

फिर भी, यह नगण्य सन्दर्भ मेरी ऊपर की उस उक्ति को अप्रमाणित नहीं करता कि भारत की बोलियों में अरबी और फारसी शब्द केवल मुसलमानों के भारत में बसने के बाद ही आये।

*मूल ग्रन्थ में इस उद्धरण का अंग्रेजी अनुवाद भी दिया गया है, किन्तु मैंने उस अनुवाद का हिन्दी अनुवाद नहीं किया है, क्योंकि उद्धरण की भाषा हिन्दी भाषियों के लिए सर्वथा बोधगम्य है।

—अनुवादक

चुका है) या तो (१) शुद्ध संस्कृत के, अथवा (२) विकृत, संस्कृत के, अथवा (३) ऐसे है जिनकी उत्पत्ति को न तो संस्कृत ग्रन्थों में ही ढूंढा जा जा सकता है और न वे फारसी या अरबी से ही व्युत्पन्न है, जिसके कारण उन्हें या तो स्थानीय (अर्थात, अनार्य जातियों से व्युत्पन्न), अथवा आर्य उत्पति की लोक-भाषा से व्युत्पन्न माना जा सकता है ।

यहाँ अनेक मनोरंजक प्रश्न उठ खड़े होते हैं : प्रथम तो यह कि हम वंगाली, हिन्दी, मराठी, गुजराती, इत्यादि, वर्तमान बोलियों के आज के बोले जानेवाले रूप के अस्तित्व को कितने पीछे तक ढूँढ सकते हैं ? द्वितीय, यह कि इनके निर्माण की पद्धति क्या थी ? और तृतीय यह कि, ऐसे शब्दों को इन्होंने कहाँ से ग्रहण किया जिन्हें हम उपलब्ध संस्कृत कृतियों में ढूंढ़ नहीं पाते ?

जहाँ तक वर्तमान बोलियों की प्राचीनता का प्रश्न है इसका मैं ठीक-ठीक उत्तर देने के लिए प्रस्तुत नहीं हूँ । प्रोफेसर लासन (इलिप्रा० पृ० ५९ और वाद) का विचार है कि कम से कम १००० ई० से ही इनका अस्तित्व है । संस्कृत से गृहीत बोलियों के दो वर्गों के सम्बन्ध में उनके (लासन के) मत का अनुवाद दे रहा हूँ : "इस अनुसन्धान को समाप्त करने के लिये मै यह व्यक्त करना चाहता हूँ कि विकृत संस्कृत के दो वर्ग हैं—एक अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन तथा सर्वथा विश्रृंखल नहीं हुआ है, और पालि तथा नाटकीय बोलियाँ इसके अन्तर्गत आती है; और दूसरा अपेक्षाकृत अधिक हाल का उत्पन्न और हमारे समय मे भारतीय प्रदेशों में व्याप्त है, तथा अपनी पैतृक भाषा से कहीं अधिक भिन्न हो गया है । उक्त प्रथम वर्ग की बोलियाँ संस्कृत की वास्तविक पुत्रियाँ हैं, जब कि द्वितीय उसकी पौत्रियाँ, यद्यपि बहुत अंशों तक यह सदिग्ध ही है कि ये प्रथम की पुत्रियाँ हैं अथवा ऐसी बोलियाँ जो परस्पर बहने हैं । जहाँ तक प्रथम परिवार की बोलियों की प्राचीनता का प्रश्न है, बौद्धधर्म और भारतीय नाटक साहित्य से यह सिद्ध हो जाता है कि ये ईसवी सन् के पूर्व ही अस्तित्व में आ चुकी थीं । इसके विपरीत सामान्य प्रमाणों के आधार पर यह दिखाया जा सकता है कि द्वितीय का १००० ई० के कुछ पूर्व ही आरम्भ हुआ था । उक्त द्वितीय प्रश्न का विचार हमारे उद्देश्य से बाहर है ।"

श्री बीम्स आधुनिक भारतीय बोलियों को बहुत अधिक प्राचीन बताते हुये उन्हें एक ऐसी प्राचीन आर्य भाषा से उद्भूत मानते है जिसमें ऐसे तत्त्व

भी वर्तमान थे जिन्हें अभिजात संस्कृत में नहीं ढूँढा जा सकता। आपके (बीम्स के) विचार इस प्रकार है :—

"मैं यहाँ इतना और कहूँगा कि दुर्भाग्यवश लिखित संस्कृत ने विद्वानों का बहुत कुछ अनन्य ध्यान आकर्षित किया है। भारत में अधिक समय तक रहनेवाला कोई भी व्यक्ति अपने ऊपर इस विश्वास के लादे जाने से बच नहीं सकता कि यह लिखित भाषा आधुनिक बोलियों में दिखाई पड़नेवाले अनेक रूपों और तथ्यों के समाधान के लिये सर्वथा अपर्याप्त है। ये बोलियाँ अपने को अत्यन्त प्राचीन सिद्ध करती है, और इस बात पर कोई सन्देह नहीं कर सकता कि ये एक ऐसी प्राचीन आर्य बोली से उद्भूत हुई है जो संस्कृत में उसी प्रकार अपर्याप्त रूप से व्यक्त हुई है जिस प्रकार सिसेरो अथवा वर्जिल में उनके समय का इटली का कृषक समाज। चयन की वही पद्धति जिसने विशिष्ट रोमनों को केवल बड़े-बड़े और श्रुतिमधुर शब्दों के प्रयोग की ओर अग्रसर किया—एक ऐसी पद्धति जिसकी आधुनिक अंग्रेजी लेखकों की कृतियों में भी प्रचुर अभिव्यक्ति मिल सकती हैं—निःसन्देह प्राचीन ब्राह्मणों के बीच भी क्रियाशील थी; और यह तथ्य कि सजातीय इण्डो-जर्मनिक भाषाओं में ऐसे शब्द सुरक्षित है जो संस्कृत में तो नहीं किन्तु जिनका साधारण तथा अस्पष्ट हिन्दी और बंगाली बोलियों के शब्द-भण्डार के शब्दों के साथ सादृश्य स्थापित किया जा सकता है, उक्त कथन का एक अन्य प्रमाण है। प्रोफेसर लास्सन द्वारा अपने महत्त्वपूर्ण प्राकृत व्याकरण में अपनाई गई समस्त प्राकृत शब्दों को अनिवार्यतः संस्कृत शब्दों के ही रूपान्तरण मानने की पद्धति ऐसी हैं जो वररुचि और हेमचन्द्र से गृहीत है। फिर भी, यह इन प्राचीन भाष्य-कारों की दशा में चाहे कितनी भी क्षम्य हो, आज के आलोचनात्मक अनुसंधान के युग के लिये अनुपयुक्त ही प्रतीत होती है।"

फिर भी, मेरे उद्देश्य के लिये यह आवश्यक नहीं कि मैं, अनुमानतः ही सही, आधुनिक जनभाषाओं की प्राचीनता के प्रश्न का निर्णय करूँ। मेरे लिये यही दिखा देना पर्याप्त होगा कि ये अपनी पूर्ववर्ती उन अन्य प्रान्तीय बोलियों से ही परिवर्तन की एक क्रमिक गति के आधार पर विकसित हुई है जो स्वयं भी अपने विकास के किसी स्तर पर संस्कृत से ही उद्भूत हुई थीं।

यह समझने में कोई कठिनाई नहीं है कि भारतीय बोलियों में समय की दीर्घ अवधि में अत्यधिक परिवर्तन हुए होंगे। किसी निश्चित किये जा सकने वाले अतीत के समय में इनमें फारसी और अरबी शब्दों के प्रचुर प्रवेश का

तथ्य, जिसे ऊपर स्थापित किया जा चुका है और जिसे आज सब मानते हैं, स्वयं इस बात को सम्भाव्य बना देने के लिए पर्याप्त है कि पूर्व-समय में इनमें और भी विभिन्न प्रकार के परिवर्तन-संवर्द्धन हुए होंगे।

यह स्थिति भी कि उत्तर भारत के विभिन्न प्रदेशों में रहनेवाले लोग बंगाली, हिन्दी, मराठी, इत्यादि, परस्पर भिन्न किन्तु ऐसी सजातीय प्रान्तीय बोलियों का व्यवहार करते हैं जो प्राचीन समय में अधिकांशतः एक ही स्रोत[३] से उद्भूत हुई होंगी, परिवर्तन की उस प्रवृत्ति का प्रमाण है जो सभी बोली जानेवाली भाषाओं में निहित मिलता है। क्योंकि, जैसा कि इन सभी प्रान्तों के निवासियों का थोड़े बहुत परिमार्जन के साथ, एक ही धर्मावलम्बी होने, एक ही धर्मग्रन्थों मे आस्था रखने, एक ही अथवा समान जातियों में विभक्त होने, और इन तथा अन्य कारणों से यद्यपि सर्वथा तो नहीं किन्तु अधिकांशतः एक ही जाति से उद्भूत होने से, यह अत्यन्त सम्भाव्य प्रतीत होता है कि इनके समान पूर्वज अतीत मे कभी एक ही भाषा का व्यवहार करते रहे होंगे : और उसी भाषा में कालान्तर में विभिन्न प्रान्तीय परिवर्तन हो गये जिनसे आज की अनेक आधुनिक प्रान्तीय बोलियाँ क्रमशः निर्मित हुईं।

थोड़ा आगे हम यह भी देखेंगे कि उत्तर-भारतीय बोलियों (प्राचीन महाराष्ट्री, शौरसेनी, इत्यादि) का, जो आधुनिक देशीय बोलियों की पूर्वगामी थीं, परस्पर अन्तर बहुत कम तथा अमहत्त्वपूर्ण था, जब कि आधुनिक देशीय बोलियाँ, बंगाली, हिन्दी, मराठी, और गुजराती, विभक्ति और रूपकरण की दृष्टि से परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं। इनके पहले के बोलियों के बीच के अन्तर की अपेक्षा इनके आधुनिक स्वरूप में अत्यधिक विभेद उस सतत परिवर्तन-

---

[३] श्री बीम्स का यह कथन है (जएसो० १८६८, पृ० ४९८) "फिर भी, यह स्पष्ट है कि हिन्दी की प्रत्येक उप-बोली का शताब्दियो से स्वतन्त्र अस्तित्व, और मेरे विचार से, स्वतन्त्र उद्भव-स्रोत रहा है।" किन्तु यह हिन्दी अथवा अन्य बोलियो के केवल समान रूपो के लिये ही व्यवहृत हो सकता है, शब्दो के लिए नही। साथ ही, अनेक दशाओ मे इनके अनेक शब्द मूल सस्कृत से भी बहुत कुछ भिन्न है। और, यद्यपि इनके कुछ व्याकरण-रूप मौलिक अथवा अविष्कृत न कि किसी पूर्वस्थित आर्य-भाषा के परिष्कृत रूप हो सकते है, तथापि कुछ ऐसे भी रूप रहे होगे जो केवल परिवर्तित अथवा विकसित मात्र कहे जा सकते है।

शीलता की प्रवृत्ति का स्पष्ट प्रमाण है जिसे मैं भाषा मात्र की सामान्य विशिष्टता की संज्ञा दे चुका हूँ।

सर्वप्रथम मैं सक्षेप में उन तथ्यों का उल्लेख करूंगा जिनसे यह सिद्ध होता है कि, तुलनात्मक दृष्टि से, आधुनिक देशीय बोलियाँ बहुत प्राचीन नहीं वरन् पहले की प्रान्तीय बोलियों से ही उत्पन्न हुई है। तदनन्तर मैं इन तथ्यों की अधिक विस्तार से स्थापना करूंगा।

प्रथम . वर्तमान बौद्ध इतिहासों, जैसे संस्कृत में रचित ललित विस्तर, में 'गाथा' कहे जानेवाले अनेक श्लोक बीच-बीच में मिलते हैं जिनकी भाषा विभिन्न और भ्रष्ट विभक्ति-रूपों के कारण विशुद्ध संस्कृत से भिन्न है : यह चलतू अथवा इसी के समान संस्कृत एक समय भारत की बोल-चाल की भाषा रही प्रतीत होती है और उस प्रक्रिया का उदाहरण प्रस्तुत करती है जिसके अनुसार प्राचीन संस्कृत, जो स्वयं एक समय बोल-चाल की भाषा थी, क्रमशः भ्रष्ट हो गई।

द्वितीय : यह खोज की गई है कि भारत के विभिन्न भागों में अनेक ऐसे शिलालेख उपलब्ध हैं जिन पर दो से तीन शताब्दी ई० पू० की तिथियाँ अंकित हैं और जिनकी भाषा संस्कृत तथा आधुनिक देशी बोलियों दोनों से भिन्न है।

तृतीय . अन्य देशों, जैसे लङ्का और बर्मा, में पालि अथवा मागधी में लिखे अत्यन्त प्राचीन बौद्ध ग्रन्थ उपलब्ध हैं जिनकी भाषा भी आधुनिक देशी बोलियों और संस्कृत से भिन्न है, किन्तु ऊपर उल्लिखित शिलालेखों की भाषा से घनिष्ठ साम्य रखती है।

चतुर्थ : प्राचीन भारतीय नाटकों, जैसे मृच्छकटिक, शाकुन्तल, इत्यादि, में जहाँ राजाओं और ब्राह्मणों से संस्कृत भाषा का प्रयोग कराया गया है, वहीं हीन जाति के लोगों तथा स्त्रियों के लिये प्राकृत और अपभ्रंश कही जानेवाली उन विभिन्न बोलियों का प्रयोग कराया गया है जो संस्कृत तथा वर्तमान देशी बोलियों दोनों से समान रूप से भिन्न हैं।

भाषा के उक्त चारों वर्गों में न्यूनाधिक मात्रा में परस्पर घनिष्ठ साम्य है, तथा विशेष रूप से अन्तिम तीन, अर्थात् शिलालेखों में प्रयुक्त, पालि बौद्ध-ग्रंथों में प्रयुक्त, और नाटकों में प्रयुक्त, के सम्बन्ध में इस बात पर सन्देह करना असम्भव है कि ये अथवा इनसे घनिष्ट रूप से सम्बद्ध बोलियाँ पहले कई शताब्दियों तक अपने समय की वास्तविक जनभाषाओं के रूप में प्रचलित रही होंगी जिस समय इनका साहित्यिक, राजनीतिक और धार्मिक कार्यों के लिये प्रयोग हुआ।

किन्तु जहां हम यह देखते हैं कि पालि तथा प्राकृत के उक्त विभिन्न रूप पहले के समय में व्यवहृत हुए थे, वहीं हमें आधुनिक देशी बोलियों, हिन्दी, बंगला अथवा मराठी, इत्यादि के वर्तमान स्वरूप का उस समय के प्राचीन ग्रन्थों में कोई चिह्न नहीं मिलता। इसलिये हमें अनिवार्यतः यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि इन आधुनिक बोलियों का उस समय कोई अस्तित्व नहीं था, बल्कि ये उक्त प्राकृत भाषाओं अथवा पूर्व-स्थित अन्य बोलियों से ही कालान्तर में विकसित हुईं। दूसरे शब्दों में पहले की बोलियाँ (अथवा प्राकृत आदि) धीरे-धीरे इतनी परिवर्तित हो गईं कि उन्होंने आधुनिक हिन्दी, बंगाली, मराठी, इत्यादि का रूप ग्रहण कर लिया।

गत ९ वें पृष्ठ पर उल्लिखित जहाँ तक द्वितीय प्रश्न अर्थात् उस प्रक्रिया का सम्बन्ध है जिसके द्वारा आधुनिक जनभाषाओं का संस्कृत के अपेक्षाकृत पूर्व रूपों से विकास हुआ, अर्थात् प्राकृत आदि के व्याकरण-रूपों का जिस पद्धति से वर्तमान भाषाओं में परिवर्तन हुआ, हमारे लिए उसका बहुत विस्तार से विवेचन करना आवश्यक नहीं, यद्यपि आगे दी गई तुलनात्मक तालिकाओं से इस सम्बन्ध में कुछ अन्तर्दृष्टि प्राप्त की जा सकती है।

इतना जान लेना पर्याप्त है कि भाषात्मक परिवर्तन सम्बन्धी सामान्य नियमों की विशिष्ट प्रक्रिया के अनुसार अपेक्षाकृत अधिक अर्वाचीन भाषा रूप स्वभावतः प्राचीन रूपों से ही विकसित होते हैं।

अब मैं उन देशी बोलियों के स्वरूपों का अपेक्षाकृत और विस्तार से विवरण प्रस्तुत करूँगा जो वर्तमान बोलियों के पूर्व-स्थित तो थीं किन्तु आज अप्रचलित हो गई हैं। इस उद्देश्य को कार्यान्वित करने के लिए उन बोलियों से आरम्भ करना अधिक उपयुक्त होगा जो ऊपर उल्लिखित चार भारतीय भाषावर्गों, अर्थात् पहली बौद्ध गाथाओं में मिलने वाली, दूसरी शिलालेखों में प्रयुक्त, तीसरी पालि, और चौथी नाटकों की प्राकृत, में से सबसे अर्वाचीन प्रतीत होती है। अन्तिम वर्ग की भाषा ही सर्वाधिक अर्वाचीन प्रतीत होती है। अतः मैं सर्वप्रथम इसी का अध्ययन करूंगा और उसके बाद अन्य का।

खण्ड २—नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत बोलियाँ

प्राकृत भाषाओं का उत्तर भारत की आधुनिक देशी बोलियों के साथ क्या सम्बन्ध था इसका निश्चय करने की दृष्टि से मैंने उत्सुकतापूर्वक अनेक ऐसे नाटकों, जैसे—राजा शूद्रक रचित मृच्छकटिक, कालिदास-रचित विक्रमोर्वशीय (जो दोनों ही, चाहे इनके ठीक-ठीक समय के सम्बन्ध में विवाद हो, क्रमशः

कम-से-कम आज से १६ और १४ शताब्दी पूर्व रचे गये प्रतीत होते हैं)[1], तथा अनेक अन्य का अवलोकन किया है। मैंने वररुचि के प्राकृत व्याकरण, जिसे लासन १८ शताब्दी पूर्व रचित मानते हैं[2], तथा उसके भाष्य में दिये हुए उदाहरणों को भी देखा है। इन अनेक ग्रन्थों में मिलनेवाली प्राकृतों का परीक्षण यह व्यक्त करता है कि उस समय भारत की भाषायें संक्रमण की अवस्था में, और संस्कृत तथा आधुनिक देशी बोलियों के बीच की कड़ी थीं। समकालीन देशी बोलियों के साथ नाटकों की प्राकृत भाषाओं की कितनी समानता थी इस विषय पर हमारा चाहे जो भी विचार हो[3], यह कल्पना करना कठिन है कि इनका इनमें से कुछ के साथ कोई साम्य नहीं था। चाहे नाटकों की प्राकृत के कुछ रूप सर्वथा साहित्यिक तथा किसी भी बोल-चाल की भाषा के लिये अज्ञात रहे हों, फिर भी ऐसा नहीं हो सकता कि बोल-चाल की भाषाओं के

---

[1] अनेक दृष्टियो से तर्क करते हुए प्रोफेसर विल्सन मृच्छकटिक को सम्भवत १०० ई० पू० से ईसा की द्वितीय शताब्दी के बीच की अवधि मे रचित मानते है (इस नाटक की अपनी भूमिका मे, पृ० ५-९)। यही लेखक विक्रमोर्वशीय को भी, जिसे कालिदास की रचना माना जाता है, मृच्छकटिक के बाद की कृति मानते है किन्तु इसकी कोई सम्भाव्य तिथि निश्चित नहीं करते (नाटक की भूमिका, पृ० १८५, १८६)। लासन यह मानते है कि मृच्छकटिक की रचना ईसा की प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध मे हुई थी, जब कि विक्रमोर्वशीय और शकुन्तला (इसे भी कालिदास की रचना माना गया है) को ईसा की द्वितीय शताब्दी के उत्तरार्ध मे (इन्ड० आल्ट०, २, पृ० ११६०)। दूसरी ओर, अपनी मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना (पृ० ३३, ४०) मे वेबर इस विषय की विवेचना करते हुए विक्रमोर्वशीय और शकुन्तला के लेखक कालिदास का समय ईसा की तृतीय शताब्दी का उत्तरार्ध मानते है। यही लेखक मृच्छकटिक को ईसा की द्वितीय शताब्दी के पहले का नही मानते (इण्ड० स्ट० २,१४८)।

[2] इन्ड० आल्ट०, भाग २, पृ० ११६०

[3] यह सर्वथा सम्भव प्रतीत होता है कि पहले के नाटको मे व्यवहृत प्राकृत भाषायें इसी प्रकार बाद की कृतियो की भी भाषा बनी रही—उस समय के बाद तक भी जब कि वे प्रान्तीय बोलियाँ जिनके वे सर्वाधिक समान थी, या तो परिवर्तित या स्थानान्तरित हो गई, उसी प्रकार जैसे बोल चाल की भाषा न रह जाने पर भी लैटिन, सस्कृत और पालि साहित्यिक कार्यो के लिये प्रयुक्त होती रही।

साथ इनका कुछ भी साम्य न रहा हो। क्योंकि, प्रथमतः इन रूपों के आविष्कर्त्ताओं में बोली में एक सर्वथा नवीन परिवर्तन लाने की कदाचित ही कुशलता रही होगी, और द्वितीयतः यदि उनमें यह कुशलता रही होती तो उनकी कृतियाँ दुर्बोध हो गई होतीं। यद्यपि विभक्तियों और रूपाचरण का प्राकृत स्वरूप आधुनिक देशी बोलियों की अपेक्षा संस्कृत के अधिक समीप है, तथापि संस्कृत रूपों का कहीं अधिक तोड-मरोड और परिमार्जन किया गया है। मैं इसके कुछ उदाहरण दूँगा जो हमारे अर्थ को किसी सैद्धान्तिक वक्तव्य की अपेक्षा अधिक स्पष्ट करेंगे। यहाँ मैं प्राकृत के विभिन्न रूपों के विभेद का संकेत करना आवश्यक नहीं समझता क्योंकि उन्हें और आगे के पृष्ठों में स्पष्ट किया गया है।

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी	अंग्रेजी
भवामि	होमि	हूँ	आई ऐम
भवसि	होसि	है	दाउ आर्ट
भवति	होदि	है	ही इज
भवन्ति	होन्ति	हैं	दे आर
उत्तिष्ठ	उट्ठेहि	उठ	राइज
प्राप्नोमि	पाविमि	पाता हूँ	आइ ऑब्टेन
शृणोमि	शुणामि	सुनता हूँ	आइ हीयर
शृणु	शुणु, अथवा शुणाहि	सुन	हीयर
कथय	कहेहि	कह	टेल
ददामि	देमि	देता हूँ	आई गिव
ददाति	देदि	देता है	ही गिव्स
दत्तम्	दिण्णम्	दिया, दी	गिवेन
नृत्यति	णच्चै	नाचता	ही डान्सेज़
रक्षामि	रक्खामि	रखता हूँ	आई कीप
धाव	धोवेहि	धो	वाश
ब्रूम	बोल्लामो	बोलते	वी स्पीक
पतामि	पडेमि	पडता	आइ फॉल
निष्काशय	निक्कालेहि	निकाल	एक्सपेल
घृतम्	घिअ	घी	घी
मुख	मुह	मुँह	माउथ
कार्य्यम्	कज्जम्	काज	वर्क
कर्म	कम्म	काम	वर्क
कर्ण	कण्ण	कान	ईयर
त्वम्	तुमम्	तुम	दाऊ अथवा यू

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी	अंग्रेजी
तुभ्यम्	तुझ्	तुझ	टु दा
युष्माकम्	तुम्हाणम्	तुम्हारा	ऑफ यू
अस्ति	अत्थि, अथवा अच्छि	आच्छे (बगाली)	ही इज
सन्ति	अच्छन्ति	आच्छेन् (,,)	दे आर

यह स्पष्ट है कि इन उदाहरणों मे हम शब्दों के उन मध्यवर्ती प्राकृत रूपों को देखते हैं जिनमे वे आज की हिन्दी या बंगाली भाषाओं के रूप-ग्रहण के पूर्व थे। उदाहरण के लिये 'कर्म' और 'कार्य' प्राकृत में क्रमश' 'कम्म' और 'कज्ज' बने और अन्ततः हिन्दी में 'काम' तथा 'काज'। संस्कृत रूप 'रक्षामि' प्राकृत में 'रक्खामि' के रूप मे पुन' प्रकट होता है जिसमे 'क्ष' अक्षर बदल कर तो 'क्ख' हो गया है किन्तु अन्त का उत्तम पुरुष एक वचन प्रत्यय अपरिवर्तित है। आधुनिक देशी बोली में प्रथम परिवर्तन तो जैसे का तैसा है किन्तु शब्द मे अन्य परिवर्तन हो गया है जिसमे उत्तम पुरुष एकवचन प्रत्यय 'आमि' हिन्दी 'रखता' में लुप्त हो गया है जो मध्यम और अन्य पुरुष से भिन्न नहीं है। उन बातों का अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण उदाहरण, जिनमे एक ओर तो प्राकृत संस्कृत के समान और भिन्न है, और दूसरी ओर आधुनिक बोलियों के लगभग समान है, आगे के तालिकाबद्ध विवरण में उपलब्ध होगा।

इस तालिका में जिन पुस्तकों का सन्दर्भ है वे ये हैं :—कोवेल द्वारा सम्पादित वररुचि का प्राकृत प्रकाश (वर०), लासेन०, डेलियस, (टेप्रा०), मृच्छकटिक का स्टेन्ज़लर का संस्करण (मृ०), शकुन्तला. बौटलिङ्क का संस्करण (श०), प्रबोध चन्द्रोदय का ब्रॉकहॉस का संस्करण (प्रबो०), मालविकाग्नि का तुलबर्ग का संस्करण (माल०), और विक्रमोर्वशीय का कलकत्ता संस्करण (विक्र०)।[1]"

---

[1] प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम संस्करण के निकलने के बाद दो अन्य नाटको, जयदेव के प्रसन्नराघव, और राजशेखर के बालरामायण को पण्डित गोविन्द देव शास्त्री ने बनारस मे प्रकाशित होने वाली 'पण्डित' नामक पत्रिका मे प्रकाशित किया है। इन दोनो के अलग अलग संस्करण भी पुनर्मुद्रित हुए है जिनपर, क्रमश सन् १८६८, और १८६९, तिथियां अंकित है। सन् १८६६ मे प्रोफेसर वेबर ने भी उस 'भगवती' नामक एक जैन ग्रन्थ की भाषा पर एक शोध निबन्ध प्रकाशित किया है, जो प्राकृत भाषा का एक नमूना है। इन्होने ही १८७० मे प्राकृत के ज्ञान के प्रसार की दिशा मे योगदान देते हुए हल के सप्तशतक का मूल और जर्मन अनुवाद भी प्रकाशित कराया है।

तालिका–१

संस्कृत, प्राकृत और आधुनिक भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक विवरण[८]

सन्दर्भ	संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी	मराठी	अंग्रेजी
			घी	घी	घी
मृ० ३.१२६	घृतम्	घियम्	दही	दही	कर्ड् स
मृ० ३; वर० ५.२१	दधि	दहीं, दहिं	मुँह	मुख	माउथ
वर० २.२७	मुख	मुहं	बहिरा	बहिरा	डेफ
वर० २.२७	बधिर	वहिर	मेंह	मेघ, ढग	क्लाउड
वर० २.२७	मेघ	मेहो	वहू	बायको, बाइल	वाइफ
वर० ५.१९	वधू	वहू	साहू	साहू, सावकार	गुड बैंकर
मृ० १६४ १६८	साधु	साहू, शाहू	काज, काम	काज, काम	वर्क
वर० ३.३ १७	कार्य, कर्म	कज्ज, कम्मो	..	..	रेस्पेक्टेबल
वर० ३.१७; ९.१७	आर्ये	अज्जे	गब्भिन	गाभण	प्रेग्नेन्ट
वर० २.१०	गर्भिणी	गब्भिण	जोग	योग्य	प्रॉपर
वर० ३.२ ५०	योग्यम्	जोग्गम	राज	...	किङ्गडम
वर० ३.२	राज्य	रज्ज	आज	आज	टु-डे
वर० ३.२७, मृ० ३१	अद्य	अज्ज	बजाना	वाजविणें	टु साउण्ड
विक्र० ७८.७९	वाद्यमानैः	वज्जन्तेहिं	आधा	अर्धा	हाफ
वर० ३.३	अर्धम्	अद्धम्			ईयर
वर० ३.३.५०	कर्णः	कण्णो	कान	कान	

[८] यह तालिका (भारतीय शब्दो के लिपिकरण की पद्धति को छोडकर) वैसो की वैसी ही पुनर्मुद्रित है जैसी कि यह प्रथम सस्करण मे थी। प्रथम कालम के सन्दर्भों की भी मैंने पुन जांच नही की है, क्योकि इस कार्य मे मेरे विचार से जितना परिश्रम करना होता उसका केवल एकाध अशुद्धियो को ठीक कर देने की तुलना मे बहुत अधिक फल नही होता।

८ मृ० सं० ७० द्वि०

सन्दर्भ	संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी	मराठी	अंग्रेजी
श० २५	खर्जूरैः	खज्जूरेहि	खजूर	खजूर	डेट ट्री
मृ० १०४	चर्मकार·	चम्मारओ	चमार	चाम्भार	चमार
वर० ४.१	कुम्भकार	कुम्भारो	कुम्हार	कुम्भार	पॉटर
वर० ३ ३	सर्वम्	सव्वम्, शव्वम्	सब		ऑल
मृ० १२४	सुवर्ण	शोवण	सोना	सोने	गोल्ड
वर० ३ २७	सत्यम्	सच्चम	सच	साच	ट्रू
वर० ३ ४, मृ० ४४	चन्द्र	चन्दो	चाँद	चाँद	मून
विक्र० २३	चन्द्रेण	चान्दएण		.	बाइ द मून
वर० ३ २८	मध्य.	मज्झो	मझला, मझोला	मधला	मिडिल
वर० ३.१२	हस्त	हत्थो	हाथ	हात	हैण्ड
मृ० ७.१२०	वृद्ध	वुड्ढ	बुड्ढा		ओल्ड
विक्र० १०७	वृद्धाम्	वुड्ढी	बुढ़िया		ओल्ड वूमन
विक्र० १२१	ज्येष्ठ	जेट्ठ	जेठा	..	एल्डेस्ट
वर० ३.१.५०	मुष्टि	मुट्ठि	मुट्ठी	मूठ	फिस्ट हैण्डफुल
वर० ३.१.५१, मृ० २८,१४२	श्रेष्ठि	सेट्ठि	सेठ	शेठ	सुपीरियर बैङ्कर
मृ० १८.३०	काष्ठेन	कट्ठेण	काठ	काठी	वुड, ए पोल
मृ० १८.२१	शुष्क	सुक्ख, शुस्क	सूखा	सुका, सुका	ड्राइ
मृ० ५३	साक्षिन्	सक्खि	साखी		विटनेस
वर० १.२, ३ १२	पुस्तकम्	पोत्थिया	पोथी	पोथी	बुक
वर० ३.२९, मृ० ५४	पुष्कर	पोक्खरो	पोखरा	पोखर	पॉण्ड
मृ० ९९, वर० ३ २९	दक्षिणे	दक्खिणे	दक्खिन	..	साउथ
लाइ० ३६३, मृ० ९७, ११७	दक्षिणम्	दाहिणम्	दाहिना	...	ऑन द राइट हैन्ड

वर० ३.४०, मृ० ९९	पश्चिम.	पच्छिमो	पच्छिम	...	वेस्ट
वर० ३.1	भक्तम्	भत्तं	भात	भात	बॉएल्ड राइस
मृ० १०४	ग्रन्थि	गण्ठि	गाँठ	गाठ	ज्वाइन्ट
वर० १.१२	पिष्टम्	पिट्ठम्	पीटना	पिटणें	टु पाउण्ड
मृ० १०५	पृष्ठत.	पिट्ठिदो	पीठ	.	ऐट द बैक
वर० १ ३६	चैत्र.	चइत्तो	चैत	...	ए नेम आफ ए मन्थ
मृ० .२०,वर० ३ २९	क्षेत्र	खेत्त	खेत	शेत	फील्ड
मृ० ९४ ९५	मृत्तिका	मट्टिआ	मट्टी	माती	अर्थ
वर० ३ ४० } मृ० ७१.१५० }	पश्चात्	पच्छादो, पच्छा	पाछे	.	आफ्टर
वर० ३ २	नग्नः	णग्गो	नङ्गा	नङ्गा	नेकेड
वर० ३.४०	वत्स	वच्छ[10]	बच्चा	बच्चा	चाइल्ड
वर० ४ ९.२६ } विक्र० ३६ }	विद्युत	विज्जू, विज्जुली	बिजली	वीज़	लाइटनिङ्ग
वर० १.३२, ३ ३१	वृक्ष	वुच्छो[11]	वृच्छ	वृक्ष	ट्री
मृ० ७३ ७९	रूक्ष.[12]	रुक्ख, लुक्ख	रूख	...	ट्री

[9] यहाँ यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि सस्कृत शब्द मे उसके दो विभिन्न अर्थों की दृष्टि से प्राकृत और हिन्दी मे वही परिवर्तन होता है।

[10] फारसी मे भी यही रूप है जहाँ 'व' के स्थान पर 'ब' है।

[11] 'वुच्छ', जो मुझे मृ०, पृष्ठ ७३ पर मिला है, के स्थान पर वररुचि 'वच्छो' रूप देते है।

[12] विलसन की डिक्शनरी मे अग्रेजी शब्द 'ट्री' के लिये सस्कृत शब्द 'रूक्ष' दिया है। किन्तु यह प्राकृत से आ गया प्रतीत होता है। तुकी० बौटलिङ्क' और रॉथ, वस्था०।

सन्दर्भ	संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी	मराठी	अंग्रेजी
वर० १.३०, ३ ३०	ऋक्षः	रिच्छो	रीछ	..	बीअर
मृ० ७२, वर० ५ ३५	भ्राता	भादा, भाआ	भाई	भाऊ	ब्रदर
मृ० ७२	अष्टमम्	अट्ठमम्	आठवाँ	आठ्वा	एट्थ
मृ० ७१	सप्तमम्	सत्तमम्	सातवाँ	सातवा	सेवेन्थ
वर० २.३५, मृ० ९३	पुष्पम्	पुप्फम्	पुहप	.	फ्लावर
वर० १.८	मयूर	मोरो	मोर	मोर	पीकॉक
वर० १.७	लवणम्	लोणम्	लोन	लोण	साल्ट
मृ० ११.९४ ११३.१३८	भगिनीम्	बहिणिम्	बहिन	बहीण	सिस्टर
मृ० ११७	शूकरः	शूअले[13]	सूअर		हॉग
वर० १.२८, ११.१७ मृ० ११	शृगाली	शिआली	सियाल	..	शी जैकाल
मृ० १२०	बीज	बीअ	बीआ	बीज, बी	सीड
मृ० ७७	वणिक्	वणिओ[14]	बनिया	वाणी	मर्चेन्ट
मृ० ७८	कायस्थः	काअत्थओ	कागथ	कायत्	कायस्थ
लाइ० १७२.२१८; मृ० २९ ३०.१७१, वर० ४ २	देवालयः, देवकुलम्	देउलु, देवलम्	देवल	देवल, देऊळ	टेम्पल
वर० ४.१	राजकुलम्	राअउलम्, राउलम	रावल (एक पुरोहित)	राऊळ (एक राजप्रासाद)	रॉयल फैमिली
मृ० ३०.३८.३९	द्यूतकर'	जूदिअरो, जूदिअरु, जूदिअलो	जुआरी	जुगारी	गैम्बलर
वर० ८ २५	स्थान	थाण	थाँव	थाणं	प्लेस
वर० ३.३३	स्नान	ण्हाण	नहान	नहाण, न्हाण	बेदिंग

वर० ३.३३.६१	कृष्णः	कण्हो	कन्हैया,[15] कान्ह	कन्हैया, कान्होबा	कृष्ण
वर० ३ ३, मृ० १.३	ग्राम	गाम	गाँव	गाव	विलेज
मृ० ९७, वर० ४.२५	ग्राम्या.	गामेलुआ[16]	गाँववाला	...	निलेजर
मृ० ६९.९६, लाइ० १९२.४२५	वलीवर्दा.	वइल्ला	बैल	बैल	ऑक्सेन
मृ० ६	दरिद्रतया	दलिद्दाए	दलिद्रता	...	पावर्टी
मृ० १२.४४. १६४, वर० १२.२२, विक्र० ३०	स्त्रियम् , स्त्रिया	इत्थियम्[17], इत्थिआए	स्त्री	...	वूमन
मृ० १८.२३ ५८	श्याल	सालअ, सालो	साला	साळा	ब्रदर-इन-लॉ
वर० ३.१४,५०, मृ० ४०	स्तम्भः	खम्भो	खम्भा	खाम्ब	पिलर
वर० ३.२९	स्कन्धः	खन्धो	कन्धा	...	शोल्डर
मृ० ४३, ५०	वहिस् , वाह्य	वाहिल, वाहिर	वाहर	वाहेर	आउटसाइड
मृ० १२६	वृद्धे, वृहति	वड्ढके, वड्ढकाहिं	बड़ा	...	ग्रेट
मृ० १३१; वर० ३.३९	कार्षापणम्	कहावणम् , कहावणो	कहावन, काहन	...	१६ पण ऑफ कौडी

[13] यह शब्द अपभ्रंश की एक बोली, 'शकारिका', से लिया गया है। साधारण प्राकृत मे यह सम्भवत. 'सूअरो' या 'शूअरो'होगा।

[14] 'वाणिओ', मृ० २८ और ५० ।

[15] कान्हपुर (कान्ह अथवा कृष्ण का नगर) वर्तमान कानपुर नगर का नाम है। जब 'कृष्ण' का अर्थ 'काला' होता है तो यह वररुचि ३.६१ के अनुसार प्राकृत मे 'कसणो' हो जाता है। बालरामायण मे पृ० १४१ पर 'किसण', और पृ० २४४ पर 'कण्ण' भी इसी आशय मे आता है।

[16] दे० लाइ० पृ० ४२५, जिनके अनुसार गोमेलुआ = अर्थ 'ग्रामालयकाः ।'

[17] यह शब्द 'शकारिका' बोली का है।

सन्दर्भ	संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी	मराठी	अंग्रेजी
वर० ३.५८, मृ० ७३ १३४	दीर्घिका	दिग्घिआ, दीहिआ	दिघी	..	ऑब्लाङ्ग पौण्ड
वर० ५.२४	हरिद्रा	हलद्दा, हलद्दी	हल्दी	...	टर्मेरिक
वर० २.३१	यशस्	जसो	जस	यश	ग्लोरी
वर० ३.२९, मृ० १५०	क्षेमम्	क्खेमम्	खेम	क्षेम	वेलफेयर
मृ० १७५, वर० ३.२६	गर्दभः	गद्दहो, गड्डहो	गदहा	गाढव	आस
वर० ३.२८.५६	सन्ध्या	सन्झा[18]	साँझ	सान्ज	ईवनिङ्ग
वर० ४.२५	एतावत्	एत्तिअम्	इतना	...	सो मच
मृ० ४४	अन्धकारस्य	अन्धआरस्स	अन्धियारा	अन्धार	डार्कनेस
विक्र० ४९, १९, लाइ० २४९ १९	उपाध्यायस्य	उज्झाअस्स, ओझाओ	ओझा[20]	...	रिलीजस टीचर
वर० ३ १८, और विक्र० ९	आश्चर्यम्	अच्चेरम्, अच्चरीअम्	अचरज	.	वण्डरफुल
वर० १२.६, विक्र० १०३	गृध्रेण	गिद्धेण	गिध	गीध	वल्चर
विक्र० ११२, वर० ५ ३२	मातरम्, माता	मादरम्[21], माअम्, माआ	मा	आई, माई[21]	मदर
विक्र० ११२, विक्र० ११६	पितरम्, पितु	पिदरम्[23], पिअरम्, पिदुणो	पिता, बाप	पिता, बाप	फादर
मृ० १४ ९५. ११६.१४१, वर० ४.३२	गृहम्	घलम, घरम्, गिहम्, हरअम्	घर	घर	हाउस

वर० २.२	जीवम्	जीअम	जी	...	लाइफ
वर० २.२	सूची	सूई	सूई	सुई	नीडल
वर० २.२, ३.५०	मार्गः	मग्गो	..	...	पाथ
वर० ३ ४८	आत्मन.	आपणो,[24] अप्पणो	अपना	...	सेल्फ, ओन
सू० १२.७८, १०३. १०४; श० १०५; प्रबो० १२.२८.३७. ४६ ६३ ६८	आत्मा	आपा, अप्पा	आप	आपण	सेल्फ, ग्रेट-सोल्ड
		अप्पाणम्, आपानम्	..	..	
	आत्मानम्	महाप्पाणाणम्	..	.	
	महात्मानम्	महाप्पाणम्			

[18] इस तथा अन्य दशाओ मे दिये हुये नियमो तथा उदाहरणो द्वारा, तुलनात्मक साम्य की दृष्टि से अनेक अन्य आधुनिक देशीय बोलियो के ऐसे शब्दो के अस्तित्व की पुष्टि होती है जिनके प्राकृत रूप आज के किसी भी उपलब्ध ग्रन्थ मे नही मिलते। इस प्रकार, हिन्दी और मराठी शब्द 'बान्झ' (प्रजनन की शक्ति से रहित स्त्री) उसी प्रकार सस्कृत शब्द 'वन्ध्या' से बने है जैसे 'सान्झ' शब्द 'सन्ध्या' से। और जैसा इस बाद की दशा मे हम देखते हैं कि आरम्भिक प्राकृत रूप 'सन्झा' था, उसी प्रकार हम यह मान सकते हैं कि 'बान्झ' का प्राचीन प्राकृत रूप 'बन्झा' या 'वन्झा' रहा हो सकता है। अनेक अन्य दशाओ मे भी यही स्थिति रही हो सकती है। [वास्तव मे उक्त पक्तियो के लिखे जाने के बाद मैने क्लाड के 'पालि ग्रामर' पृ० ३७ मे 'वन्झा' शब्द भी देखा। देखिये 'वन्झिझीभूदा' भी, बालरामायण, पृ० २२५]।

[19] कैम्वेल का तेलुगु ग्रामर' इन्ट्रोडक्शन, पृ० १३, पर नोट।

[20] 'ओझा' ब्राह्मणो की एक उपजाति की उपाधि है। बालरामायण, ८५ और बाद मे इस शब्द का 'उवज्झाअ' रूप है।

[21] फारसी मे 'मादर'।

[22] नागपुर की मराठी।

[23] फारसी मे 'पदर'

[24] देखिये लाइ०, पृ० ३१५। बर्नफ (लोटस ड ल बोन्ने लोइ, पृ० ६६०) यह व्यक्त करते है कि गिरनार के शिलालेख मे मिलने वाला 'ओत्पनो' अथवा 'आत्पनो' वह माध्यमिक रूप है जिससे 'आत्मन्', का 'अप्पा', 'अप्पनो' इत्यादि रूपो मे परिवर्तन हुआ।

सन्दर्भ	संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी	मराठी	अंग्रेजी
प्रवो० ६३, वर० ३.१	स्थले	थले	थल	...	ड्राइ लैण्ड
वर० ४.१५, श० २१	अश्रु	असू , अस्सु	आँसू	ॲसू , आसु	टीयर
वर० ३.२, ५.१४; ६.६०	अग्निम्	अग्गिम्	आग	आग	फायर
वर० ३ ६०; लाइ० २८४	क्रिया	किरिआ	किरिया	...	सेरीमनी
वर० ३.८	ब्राह्मणो	वम्हणो	बाम्हन	ब्राह्मण	ब्राह्मण
वर० ३ २५	गर्त्त	गड्डो	गड्ढा	...	केविटी
वर० १.१८, २,२७	गभीरम	गहिरम्	गहिरा	गहिरा	डीप
वर० ४.३१	मलिनम्	मइलम्	मैला	.	डर्टी
वर० १.९	चतुर्थी	चउत्थी, चोत्थी	चौथी	चौथा	फोर्थ
	चतुर्दशी	चउद्दही, चोद्दही	चौदहवीं	चौदा	फोर्टीन्थ, फोर्टीन
वर० ३ ४४	पञ्चदश.	पण्णारहो	पन्दरहवीं	पन्धरा	फिफ्टीन्थ, फिफ्टीन
वर० २.४१, सू० ७०	षष्ठी	छट्ठी	छठी	..	सिक्स्थ
वर० २.१४ ४४	एकादश	एआरह	इगारह		एलेविन
	द्वादश	वारह	बारह		ट्वेल्व
	त्रयोदश	तेरह[15]	तेरह		थर्टीन
लाइ० २७१.३१८ वर० ६.५९	द्वयोः	दोण्हम् , दोण्णम्	दोनों	...	ऑफ टू
लाइ० ३१८, सू० १०१; वर० ६.५४	द्वौ, द्वाभ्याम् , द्वयोः	दुए, दो, दोहि, दोसु	दो	दोन	टू
लाइ० ३१९ वर० ६.५६	त्रीणि	तिण्णि	तीन	तीन	थ्री

लाइ० ३१०	षट्	छ	छै	...	सिक्स
लाइ० ३२०	विंशति	वीसइ	वीस	वीस	ट्वेन्टी
लाइ० ३२०	त्रिंशत	तीसअ	तीस	तीस	थर्टी
वर० ३.३०.३१	क्षणम्	छणम्	छन	...	मोमेन्ट
	क्षमा	छमा	छमा	...	पेशेन्स
	मक्षिका	मच्छिया	मक्खी	...	द् फ्लाई
वर० ३.५२; ४१	स्रोतस्	सोत्तो	सोता	...	स्ट्रीम
वर० १.१२	निद्रा	णिद्दा	नींद	नींज	स्लीप
लाइ० २४६ वर० ३.५३	ताम्रम्	तम्बम्	ताम्बा	ताम्ब (लोहेका मोरचा)	कॉपर
वर० ४.३३ लाइ० १७२ नोट	दुहिता, धीदा	धीआ	धिआ, धी	...	मेडेन, डॉटर
वर० ४.२५	धनवान्	धणालो	धनवाला	...	रिच
वर० १.१०, ३.१२ मृ० ७१	प्रस्तारः प्रस्तरः	पत्थरो पत्थारो	पत्थर	पत्थर	द् बेड : द् स्टोन
वर० १.२०; ३.१	मुक्ता	मोत्ता	मोती	मोतीं	पर्ल
वर० ३.३.५८; मृ० ७३	रात्रि	रत्ती	रात	रात्र	नाइट
वर० २.३२	यष्टि	लट्ठी	लाठी	लट्ठ	स्टाफ, क्लब
वर० १.१५.२८; ३.४१; मृ० १	वृश्चिकः	विच्छुओ, विञ्छुओ	बिच्छू, बिच्छी	बिच्छू	स्कॉर्पियन
वर० ३.१७.१९ वर० १.२९,	सूर्यः	सुज्जो, सूरो	सूरज	...	द सन
लाइ० २९३; बि० ४५	प्रावृष्	पाउस	...	पाउस	द रेनी सीज़न

[२५] देखिये प्रोफेसर कोवेल का नोट, वर० २ ४४ ।

सन्दर्भ	संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी	मराठी	अंग्रेजी
वर० ३.३५ ३८ लाइ० २०९	वाष्प.	वाष्फो, वष्फो	भाफ	.	वेपर
वर० ३.२२	नर्तक॰	णट्टओ	नट	नट	ए डान्सर
वर० ३.२४	वार्ता	वत्ता	बात		वर्ड
लाइ०२५०,वर०३ २१	पर्यङ्क	पल्लङ्क	पलङ्ग[६]	पलङ्ग	बेड
वाल० १३२	पल्यङ्क॰	पल्लङ्को	..		,,
लाइ० २६४ वर० ३.१.१२	एकस्थ	एकत्थ	इकट्ठा	.	कलेक्टेड
वर० ३.१२, सू० १८	मस्तक	मत्थक, मत्थअम्	माथा	माथा	हेड
लाइ० २७२ वर० ३.४०	मत्स्य[२७]	मच्छ	मच्छ, मछली	..	फिश
वर० १० १० लाइ० ३७९ अप्प० ५३	कन्या	कन्जा, हन्जा	.	..	गर्ल
	अहम्	अहम् , हम् , हम्मो, हँइ	मैं, हम	मी	आइ
	वयम्	अम्हे, वअम्	हम	आम्ही	वी
विक्र० ८१.८२	मम	मह, मज्झ	मुझ	माझा	माइन
वर० ६.२५-५३	अस्माकम्	अम्हाणम्	हमारा	अम्हाला, अम्हान	ऑफ-अस
कोवेल, इन्ट्रोडक्शन,	त्वम् , त्वाम्	तुमम,	तुम	तू	दाऊ
पृ० XXVII[२८]	तुभ्य	तुज्झ	तुझ	तुझ	टु दी
	तव	तुह, तुज्झ, तुज्झह	तुझ	तुझा	दाइन
	यूयम्	तुम्हे, तुज्झे	तुम	तुम्ही	यू
	युष्माकम्	तुम्हाण	तुम्हार	तुम्हाल, तुम्हान	ऑफ यू

मृ० ३८	कस्य	काह	काहे	...	हूज़ ?
वर० ६.६	कस्याः	किस्सा	किस	...	ऑफ ह्वाट वूमन ?
कोवेल, इन्ट्रो० XXVIII	यः	जो	जो	जो	हू
वर० ४.१६	तस्मिन्	तहिं	...	..	इन दिस
मृ० ९३ ९६	यत्र, तत्र	जहिं, तहिं	जहाँ, तहाँ, तहीं	जेथें, तेथें	ह्वेयर, देयर
वर० ४.२५	कियत्, यावत्	केत्तिअ, जेत्तिअ	कितना, जितना	किति	हाउ मच, ऐज़ मच
मृ० ७४	कुत्र	कहिं	कहाँ	कोठे	ह्वेयर ?
मृ० ४.५१	उतिष्ठ	उट्ठेहि, उत्थेहि	उठना	उठणे	राइज़ टु राइज़
वर० ८.१५.६१	गृह्णाति	गेण्हइ	गह्ना	घेणे	टु टेक
	पृच्छ	पुच्छ	...	...	
मृ० ४.२७, और	पृष्टा	पुच्छिदा	पूछना	पुसणें	टु आस्क
सर्वत्र, तुर्की०	पृष्ट्वा	पुच्छिअ	...	...	
डेम्रा० पृ० ४१	प्रच्यामि	पुच्छिस्सम	...	...	
	पृच्छति	पुच्छदि	..	...	
वर० ८.१२	म्रियते	मरइ	मरना	मरणें	टु डाइ
वर० ८.१८; १२.१७ मृ० ३६	स्मरामि	सुमरामि			
१०३.१२४. और	स्मरसि	सुमरेसि	सुमरण	...	टु रेमेम्बर
सर्वत्र, विक्र० १४	स्मृत्वा	सुमरिअ			
मृ० २१.२४	समर्पयसि	समप्पेसि	सौंपना	सोंपणें	टु एनट्रस्ट

२६ इस 'पलङ्ग' शब्द मे फारसी मे 'पलङ्ग' का, और साथ ही साथ, 'चीते' का अर्थ है।

२७ फिर भी, विलसन ने अपने कोश मे 'मच्छ' को एक सस्कृत शब्द के रूप मे दिया है।

२८ [देखिये मृच्छकटिक और विक्रमोर्वशीय मे सर्वत्र]

सन्दर्भ	संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी	मराठी	अंग्रेजी
	प्रापिता	पाविदा	..		
मृ० १४ १३१,	प्राप्त	पाविदे, पत्तो, पाविय	पायो	पावणें	टु ऑब्टेन
विक्र० ५७.१७ १०१,	प्राप्नोमि	पाविमि	पावता		
हेप्रा० पृ० ६२	प्राप्स्यसि	पाविहि	पावहि		
				..	ही प्रिवेल्स
वर० ३.३	प्रभवति	प्रभवइ	..	..	आई विकम, अथवा ऐम
	भवामि	होमि[29]	हूँ	...	दाउ विकमेस्ट
वर० ७.२०.२१;	भवसि	होसि	है		
८.१;		भोदि, होदि[30]		..	ही बिकम्स
मृ० १०५.३८.	भवति	होज्ज, होज्जइ	है		
३९.७२ १६३	भवन्ति	होन्ति	हैं	..	दे विकम
				..	दे फील
प्रवो० पृ० ४४	अनुभवन्ति	अणुहवन्ति	...	..	टु फील
मृ० १४१	अनुभवितुम	अणुभविदुम	...	..	ही विल बी
मृ० २१.२४	भविष्यति	हविश्शदि, हुविस्सदि	होइही[31]		
	भविष्यामि	होस्सामि[32], होस्सम	हूँगा	होइन	आई विल बी
		होहामि, होहिमि			
वर ७.१२.		होस्सामो, होहामो			
१३.१४.१५,	भविष्यामः	होहिमो, होहिस्सा	होंगे	...	वी विल बी
लाइ० २६८		होहित्था			
	भविष्यति	होज्ज, होज्जा,	होगा	होईल	ही विल बी
वर७ ७ २०.२१		होज्जहिइ, होज्जाहिइ			
	भवतु	होज्ज, उ, होज्जाउ	हूजिये, हूजियो	...	लेट हिम बी
	अभवत्	हुवीअ	भया, हुआ,	होता	ही वाज़
वर० ७.२३.२४	अभूत्	होहीअ	हता, था		
वर० ८.२	भूतम्	हुअम (हूअम ?)	हूआ	.	बीन

मृ० २५.	ज्वालय	जालेहि	जलाना	..	टु बर्न
वर० ८.१३, विक्र० ११२; मृ० १६.३१	करोमि	करोमि, कलेमि, करेमि	करता	करितों	आ टु
मृ० १३२	कृतम्	कडे	करा, किया	केलं, केलें	डन
मृ० ३१; विक्र० १८	कृतः	कुलु, कडो[33]			
डेप्रा०, पृ० २७.२९	कुर्वन्	करन्तो, कलेन्तो, करेन्तो, कुव्वाणो	करता	करित	डूइङ्ग
डेप्रा० पृ० २७.२९	निराकृत्य	णिराकरिय	कोरिया (बंगाली)	...	हैविङ्ग अनडन [डन]
डेप्रा० पृ० १७, मृ० १०५	ददामि	देमि	देता	..	आइ गिव्
मृ० ६६	ददाति	देदि	...	...	ही गिव्स
वर० ८.६२, मृ० ९५.३७	दत्तम	दिण्णम	दिया, दीन	...	गिवेन
मृ० १२७	ददती	देन्ती	देती	...	गिविङ्ग (स्त्री०)
मृ० ३२.१६३	मार्गयति	मग्गदि[34], मग्गेदि	माँगना	मागणें	टु आस्क
मृ० ७९.८२.८८	मार्गयितुम	मग्गिदुम	...	..	टु आस्क
मृ० १३६	मार्गमाणेन	मग्गमाणेन	. .	...	

[29] 'हवामि' इत्यादि से; देखिये लाइ० पृ० १७६ ।

[30] 'होइ' मृ० ३८,१०२

[31] 'होगा' का प्रान्तीय रूप 'होइहि'

[32] बर्नफ लोटस, ६८७

[33] डेप्रा० का विचार है कि 'कुलु' प्राकृत रूप है ।

[34] ऊपर 'मग्गो' की 'मार्ग.' के साथ तुलना कीजिये; वर० २ २; ३ ५०

सन्दर्भ	संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी	मराठी	अंग्रेजी
मृ० ९५	मार्गयत	मग्गन्तस्स	.	.	टु आस्क
मृ० १२	कल्पयत	कप्पेध	.	कापणे	टु कट
कल्पयित्वा	कल्पयित्वा	कप्पिअ			
वर० ८.२३					
मृ०, ३६	ज्ञात्वा	जाणिअ	जानिया (बगाली)		हैविङ्ग नोन
हेम्रा० १५ १६					
वर० ८.५६					
हेम्रा० पृ० २४	शृणोमि	शुणामि	सुनना (हिन्दी)	.	टु हीयर
मृ० ३७	श्रुत्वा	शुणिअ	शुनिया (बगाली)	..	
मृ० १०४.१०५	शृणु	सुणु, सुणाहि	सुन्	.	हीयर
मृ० ४५.७०	धाव् , धावति	धोवेहिं, धोअदि	धाना	धुणे	टु वाश
मृ० ४६	स्वपिन'	सुवेम्ह	सोना		टु स्लीप
प्ररा० ६५	सुप्त	सुत्त	सोजा		एस्लीप
बाल० १७८	स्वपस्यामि	सुविस्सम्	सोऊंगा	.	आइ शैल स्लीप
मृ० ५९.१२२					
वर० ८.२५	स्थापयित्वा	ठाविअ, थाविअ	थामना	थाम्बणे	टु होल्ड, स्टॉप
मृ० ९७,					
हेम्रा० १९	स्थापयामि	थावेमि		..	
मृ० ५७	रक्षामि	रक्खामि	रखना	राखणें	टु कीप
वर० ८.४७	नृत्यति,	णच्चइ			
मृ० ७०.७१	नृत्यते	णच्चीअदि	नाचना	नाचणें	टु डान्स
हेम्रा० ५०	नृत्यन्	णच्चन्तो			
मृ० ७१	शिक्षयन्तः	सिक्खन्ता	सिखाना	.	टु टीच
मृ० ७२	उपविष्टः	उवविट्ठा	बैठा (?)	...	सीटेड

को० पृ० ९९	कथयति	कहइ	कहना	कथणें	टु टेल
श० ४५ ३४, मृ० ४.८०	कथय	कहेहि, कधेहि		.	
मृ० ८०	कथयिष्यामि	कहिस्सम	..	.	
मृ० ३६	कथयितुम्	कहिदा	कहा	..	
मृ० १०३	कथ्यते	कहिज्जदि			
डेग्रा० ८६, विक्र० २	अस्ति	अत्ति, अच्चि[35]	आच्चे (बगाली)	आहे	ही इज्
मृ० ९९	स्थ	अच्छध	आछो (बगाली)		इ आर
लाइ० ३४६, को० १८४	सन्ति	अच्चन्ति	आछेन (बंगाली)		दे आर
को० का सूत्र २४, को० ९९	वदति	बोलइ, बोलइ	बोलना	बोलणें	टु स्पीक
मृ० १०५	ब्रूमः	बोल्लामो[36]			
डेग्रा० ६७, मृ० १६९	लभन्ते	लहन्ति	लहते, लेते	...	दे रिसीव्
मृ० ११५	चिपतु, फेल (टु गो)	फेलदु[37]	फेलिते (बंगाली)		टु थ्रो

[35] श्री चिल्डर्स का विचार है कि 'अच्चि' आदि रूपो को संस्कृत धातु 'अस्' से व्युत्पन्न नही माना जा सकता। उनका कहना है कि 'अस्ति' पालि मे 'अत्थि' बन गया, परन्तु उनके विचार से पालि 'अच्छति' निसन्देह 'आस्' का वर्तमान काल है, और इसके लिए एक सदिग्ध रूप 'अत्सति' का सकेत करते हैं।

[36] 'ब्रूमः' के 'बोल्लामो' के रूप मे इस परिवर्तन को इन स्तरो से होकर निर्मित माना जा सकता है : वरूम, वलूम, बोल्लामो। अथवा यह सम्भव है कि 'बोल्' एक देशीय अ-सस्कृत रूप अथवा प्राकृत मे सुरक्षित एक देशीय बोली का रूप हो।

[37] सम्भवत 'प्रेर्' (प्रेरित करना) से व्युत्पन्न। तुलना बाल० पृ० २०३ मे 'प्रेरणेन' के रूप मे अनूदित 'पेल्लणेण'। कोशो मे दोनो ही धातु दिये हैं।

सन्दर्भ	संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी	मराठी	अंग्रेजी
मृ० १३९	दूरीकरिष्यासि	फेलइश्शम्	.		आइ शैल रिमूव
मृ० ११२	जागृत	जग्गेथ	जागना	जागणें	टु वेक
वर० ७.७	गतः	गअओ	गया		गॉन
वर० ७ १ और २.२४	पठति	पढइ	पढना	पढणें	टु रीड
मृ० १२१	पतामि	पडेमि	पडना	पडणें	टु फॉल
वर० ८.५१		पडामि			
डेप्रा० ५१	पतित॰	पडिदो	पडा		फॉलेन
मृ० १२०	उड्डयन्ते[८]	उड्डेन्ति	उडना	.	टु फ्लाइ
डेप्रा० पृ० २२		उड्डअएन्ति			
मृ० १२४	परिधास्ये	पहिलिश्शम्	पहरना	पांघरणें	टु पुट ऑन (क्लोदिङ्ग)
मृ० ७१	पिवन्ति	पिअन्ति	पीना	पीणें	टु ड्रिङ्क
डेप्रा० ७७	जीवामि	जिआमि	जीना		टु लिव
मृ० १७०	जीवन्तम्	जीअन्तम्			
मृ० १६५	निष्काशय	णिक्कालेहि	निकासना, निकालना	.	टु पुट आउट
वर० ८.४४					
विक्र० ११, डेप्रा०	वर्द्धते	वड्ढदि	वढ़ना	वाढणें	टु इनक्रीज़
६०; क्रम० १०	वर्द्धताम्	वड्ढदु			
विक्र० ४४	त्वरयस्व	तुरवावेहि	तुरन्त		हेसेन
वर० ८.४	त्वरते	तुवरअइ		.	ही हेसेन्स
श० ४३.१६८	पश्यामि	देक्खामि[४०]	देखना	देखणें	टु सी
विक्र० ९१	दृश्यामि[३९]				
डेप्रा० ७९	दर्शय	देक्खानहि	दिखाना	दाखविणे	टु कॉज टु सी
हेमचन्द्र, कोवेल					
१७३ नोट					

वर० ८.४८	युध्यते	जुज्झइ	जूझना	जुझणें	टु फाइट; बी किल्ड
वर० ८.४८	बुध्यते	बुज्झइ	बूझना	बुझणें	टु अण्डरस्टैण्ड
वर० ८.२५ २६, मृ० ७३	ध्यै	झा, मन्झाअदि	समझाना (?)	समजणे	टु मीडियेट, अण्डरस्टैण्ड
क्रम० २८; डेप्रा० पृ० १० में	क्रुध्	कुज्झ	...	...	टु बी ऐन्ग्री
वर० ८.४६	रूष्यति	रूसअइ	रिसियाना	...	टु बी ऐन्ग्री
वर० ८.५०	मृद्गाति	मलइ[41]	मलना	...	टु ग्राइण्ड, रब
वर० ८.५३१	स्फुट	फुट्टइ, फुडइ	फूटना	फुटणें	टु स्प्लिट
मृ० ७०.७, डेप्रा० ५९	बध्यन्ते	बज्झन्ति	बझना	..	टु बी बाउण्ड ऑर कॉट
वर० ८ २७	खाद्	खा	खाना	खाणें	टु ईट
डेप्रा० २९, माल० ५४	पारयामि	पारेमि	पारिते (बंगाली)	...	टु बी एबल

[38] प्रो० आफरेख्त इस तथ्य की ओर मेरा ध्यान आकर्षित करते है कि वेदो मे 'टु फ्लाइ' को व्यक्त करनेवाली धातु 'डी' नही वरन् 'दी' है। बॉटलिङ्क और रॉथ द्वारा वस्था० पर शतपथ ब्राह्मण ५ ३,२,६ से उद्धृत 'देदीयितवै' मे इस क्रिया के प्रकर्षवाचक रूप को भी देखिये।

[39] यह रूप कभी प्रयोग मे आता रहा होगा।

[40] 'देखति' और 'देखिये' रूपो मे यह शब्द फिरोज शाह के लाट् मे आता है; और 'देखामि' रूप धौली के अभिलेखो मे मिलता है। देखिये बर्नफ . लोटस डे ल बौने लोइ, पृ० ६६६, ६६९, ६७१, ६७६, जो 'देखति' को एक प्राचीन रूप 'दृश्यति' (ही सीज) से व्युत्पन्न मानते है। फिर भी, श्री चिल्डर्स का विचार है कि यह सस्कृत भविष्यवाचक 'द्रक्ष्यते' से व्युत्पन्न है।

[41] डेप्रा०, पृ० ११ मे; देखिये क्रमदीश्वर, ३९ भी, जहाँ 'मृद्' धातु के प्राकृत मे 'मण्' बन जाने का उल्लेख है। फारसी मे भी 'मालीदन' क्रिया का अर्थ मलना (टु रब) है।

सन्दर्भ	संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी	मराठी	अंग्रेजी
पुरा० ४५	प्राघुणस्य, प्राहुणस्य	पाहुणस्स[४२]	पाहुन् , पाहुना	...	ए गेस्ट
बाल० २६६	पक्षिण.	पक्खिणो	पखेरु, पंछी	..	वर्ड्स
बाल० २९०	क्षीर	खीर	खीर	..	मिल्क
बाल० २३१.२३५	लक्ष'	लक्खा	लाख	..	हण्ड्रेड थाउज़ेण्ड
बाल० ४५.३०७	अक्षि	अच्छि, अक्खि	आँख	...	आई
बाल० २४६	कक्ष	कक्ख	...	.	साइड
बाल० ५३ ६९.९८	गोत्र	गोत्त	गोत		फैमिली, क्लान
बाल० २६७	सूत्र	सुत्त	सूत	...	थ्रेड
बाल० ६५ १६७. २९७	पुत्र, पुत्री	पुत्त, पुत्ती	पुत	.	सन, डॉटर
बाल० २२१	कार्पास	कप्पास	कपास		कॉटन
बाल० १४२ १७८	कर्पूर	कप्पूर	कपूर		कैम्फर
बाल० २६९ २९८	धर्म	धम्म	...		वर्चू
बाल० २९४	दर्पणम्	दप्पणम्	. .		ए मिरर
बाल० २६७	निर्वाण	निव्वाण			एक्सटिंक्शन
बाल० ७६.१९४	दुग्ध	दुद्ध	दूध	. .	मिल्क
बाल० २६६	मुग्ध, स्निग्ध	मुध्ध सिणिध्ध	..		इनफैचुएटेड अफेक्शनेट
बाल० २३६	पिप्पल	पीपल	पीपल		पीपल ट्री
बाल० १७८, प्रा०	मिष्ट	मिट्ठा, मिट्ठी	मीठा	.	स्वीट
बाल० २७०.२७८	ओष्ठ	उट्ठ, ओट्ठ	होंठ		लिप
बाल० १५६.३०३	श्वशुरेण	ससुरेण	ससुर		फादर-इन-लॉ
बाल० १५३	श्वश्रू	सासुए	सास		मदर-इन-लॉ
बाल० १५८	श्वश्रूणाम्	सासूणम्	सास	...	वही, बहु०

वाल० १८२	भ्रू	भू	भौ	...	आइब्राउ
वाल० १३८.१७६	स्नुषा	सुणा, सुसा	...	...	डॉटर-इन-लॉ
वाल० ३४.१६९. २३४.२४५.३६४	शब्दः	सद्दो	...	...	साउण्ड
वाल० २४५.२५१	मुद्गर	मोग्गर	मोग्रा, मुद्गर	...	ए मेलेट
वाल० २३५	धूम	धूम	धूआँ	...	स्मोक
वाल० २३८	पादयो:	पाएसु	पाँव	...	ऐट द फीट
वाल० १४२.२९२	पक्व	पिक्क	पक्का		मेच्योर
प्रा० ४८	मूर्ख	मुरुक्ख	मूरख	...	फूल
वाल० ४९.९३.२७०	झटिति	झत्ति	झट		क्विकली
वाल० २४६.२७०	शिरसा	सिरेण	सिर		हेड
वाल० ७७	कथम्	कीस	कैसा		हाउ ?
प्रा० ३६.४४	कथम्	कहं			
प्रा० २६	व्याघ्रस्य	वग्घस्स	बाघ		ए टाइगर
प्रा० ८४ वाल० ७६ २३८	स्तन	थण, थण	थन		फीमेल ब्रेस्ट, अडर
वाल० १६८	जिह्वा	जीहा	जीभ	...	टंग
वाल० २७६	कांस्य	कास	काँस		बेल मेटल

[४२] पण्डित गोविन्द देव के सस्करण मे इस शब्द का 'अतिये' के रूप मे अनुवाद है। परन्तु मुझे विलसन के कोश मे 'प्राघुण' शब्द 'अतिथि' के आशय मे मिला है, और बॉटलिङ्क तथा रॉथ इन दोनो तथा एक अन्य 'प्राहुण' रूप को भी देते हैं। फिर भी, यत ये लोग किसी ऐसे प्राचीन लेखक के किसी स्थल का उद्धरण नही देते जिसमे यह शब्द मिलता हो, और यत 'अतिथि' की तुलना मे यह अत्यन्त दुर्लभ रूप से ही आता है, अत. यह सम्भवतः प्राकृत से सस्कृत मे गृहीत हुआ हो सकता है। श्री चिल्डर्स मुझे सूचित करते है कि पालि मे एक श्रेष्ठ शब्द, 'पाहुण', अतिथि के आशय मे मिलता है।

सन्दर्भ	संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी	मराठी	अंग्रेजी
चर० ८.६ } वाल० ७६ }	घूर्णत्	घोलन्त	घोलना (टु मिक्स विथ लिक्विड)	...	रौलिङ्ग
वाल० २३८	घूर्णन्ति	घोलन्ति			रौल, मूव
वाल० २४६	घूर्णति	घुण्णदि		...	टर्न्स राउण्ड
वाल० १४३	चूर्णितम्	घुल्लिदम्			पाउण्डेड, क्रश्ड
मृ० ३	आहूय	सद्दाविअ[४३]			हैविङ्ग काल्ड, समण्ड
मृ० ५०	आह्वयामि	सद्दावेमि			आइ कॉल
मृ० ५४	आह्वय	सद्दावेहि	...	.	कॉल
मृ० ५४.१४१	{ आज्ञापयति { आह्वयति	सद्दावेदि			ही कमाण्ड्स कॉल्स
मृ० ६०	आकारयिष्यामि	सद्दावइश्शस्		.	आइ शैल समन
मृ० १'१०	आहूयते	सद्दावीअदि		...	ही इज़ कॉल्ड

[नोट —इस तथा आगे की तालिका मे, यह देखा जायगा कि मैंने हिन्दी और मराठी क्रियाओ को तुमुन् रूप मे उनके समकक्ष प्राकृत शब्द के क्रियाभाव और काल के सन्दर्भ के विना ही दिया है। इसके विपरीत संस्कृत के खाने मे दी गई क्रियाये, काल, वचन और पुरुष इत्यादि की दृष्टि से सदैव प्राकृत के शब्दो की ठीक-ठीक अनुवाद है]।

[४३] जैसा कि श्री चिल्डर्स ने परामर्श दिया है, यह शब्द संस्कृत 'शब्दापय' (देखिये ऊपर 'सद्द' के रूप मे 'शब्द' का परिवर्तन) से बना है। 'शब्दापयेत' शब्द रामायण (श्लेगेल संस्करण २ ५७,९ और बम्बई संस्करण २ ५९,३) मे आता है, जहाँ टीका द्वारा इसकी 'आकारयेत' (समन) के रूप मे व्याख्या की गई है। गोरेसियो संस्करण, २ ५९,६, मे इसी आशयवाली 'आह्वयेत' क्रिया को इसके स्थान पर प्रयुक्त किया गया है। जैसा कि प्रो० आफरेख्त ने मुझे सूचित किया है, 'शब्दापय' जैसे रूप बाद की संस्कृत मे सामान्य रूप से मिलते हैं।

सू० ६	स्पृष्ट्वा	छिविअ[४४]	छूना (?)	...	हैविङ्ग टच्ड
सू० ३५	वेश्या	गोसाविआ[४५]	.	.	ए हार्लाट

[४४] एक विभेदात्मक पाठ 'विविअ' है। श्री चिल्डर्स का विचार है कि 'छिविअ' सस्कृत 'छुप्' (टु टच) से आया है। उन्होने मुझे बताया है कि यह धातु पालि क्रियाओ की क्लॉउ की तालिका मे 'स्पर्श करना' (टु टच) के आशय मे दी हुई है, और यह शब्द धम्मपद, पृ० १५६, पक्ति १, मे आता है।

[४५] इसमे सन्देह नही कि यह शब्द 'गोस्वामिनी' (गोस्वामी की पत्नी या गोसाँइन) से व्युत्पन्न है, और एक विद्वान मित्र ने मुझे बताया है कि कुछ इस प्रकार की स्त्री-भक्तो के चरित्र के कारण ही इस शब्द का आशय 'हार्लाट' जैसा है।

इस प्रकार भारतीय नाटकों के तथा नाटकीय बोली का विवेचन करने-वाले वैयाकरणों द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों (जैसा कि उपरोक्त तुलनात्मक तालिका में दिखाया गया है) के परीक्षण से यह स्पष्ट है कि हमें प्राकृत में जो शब्द मिलते हैं वह अधिकांश अंशों में संस्कृत के समान हैं, किन्तु उनका रूप न्यूनाधिक परिवर्तित हो गया है, और यह भी कि अनेक दशाओं में ये परिवर्तन मूल संस्कृत शब्दों और उन और भी भ्रष्ट रूपों के मध्यवर्ती हैं जिन्हें हम प्राकृतों से अवतरित भाषाओं—मेरा तात्पर्य आधुनिक देशीय बोलियों से है—में पाते हैं।

परन्तु जहाँ अधिकांश प्राकृत शब्दों का, उपयुक्त विधि के व्यवहार द्वारा, संस्कृत स्रोत में उद्गम ढूँढ़ा जा सकता है, वहीं कुछ अन्य ऐसे भी हैं जो आलोचना द्वारा व्यवहृत सर्वाधिक शक्तिशाली परीक्षणों की प्रक्रिया के प्रति भी विनत होना अस्वीकार कर देते हैं और अभिजात संस्कृत से स्वतन्त्र उत्पत्ति के अपने अधिकार की सफलतापूर्वक स्थापना करते हैं। अत. हमें यही निष्कर्ष निकालना चाहिये कि ऐसे शब्द आर्यभाषा की जनभाषा से सम्बद्ध अथवा अनार्य स्रोतों से व्युत्पन्न हैं।

ऐसी स्थिति में नाटकीय काव्यों और वैयाकरणों के परीक्षणों द्वारा जो एक अन्य तथ्य स्पष्ट होता है वह यह है कि प्राकृत बोलियों में ऐसे शब्दों की भी पर्याप्त संख्या है जिन्हें अभिजात संस्कृत में नहीं ढूँढ़ा जा सकता, परन्तु जिन्हें हम आधुनिक जनभाषाओं में पाते हैं, जैसे डुब् अर्थात् डूबना, थर्हर् (हिन्दी में थरथर) अर्थात काँपना, ढक्क् अर्थात् ढँकना या बन्द करना, आदि धातुयें, और गोड अर्थात् पाँव, बप्प अर्थात् बाप या पिता, इत्यादि संज्ञायें।[४६] इस वर्ग के शब्दों का, जिन्हें मैंने ढूँढ़ा है, अधिकांश आगे की

---

[४६] देखिये रेव० एच० वैलेन्टाइन का निबन्ध "ऑन दि रिलेशन ऑफ दि मराठी टु दि संस्कृत", जो जअओसो०, भाग ३, पृ० ३६९–३८५ में प्रकाशित है। फिर भी, श्री वैलेन्टाइन द्वारा मराठी माने गये कुछ शब्द फारसी अथवा अरबी के हैं, जैसे मेख, बगल, मंजिल, अन्य, जैसे 'खाने' अर्थात् खाना, संस्कृत हैं। मैं डा० जे० विलसन के मराठी भाषा सम्बन्धी 'नोट्स ऑन दि कांस्टीचूएण्ट एलिमेन्ट्स' (जो मोल्सवर्थ के मराठी डिक्शनरी, द्वि० संस्करण मे दिये गये है) से निम्न टिप्पणी उद्धृत करता हूँ : [मराठी भाषा] मे दो स्पष्ट मूर्द्धन्य तत्त्व हैं. एक सीथियन (अथवा तूरानियन) और दूसरा संस्कृत। सीथियन तत्व, स्पष्टत दोनो मे, जहाँ तक वर्तमान स्थानीयता का प्रश्न है, अधिक प्राचीन है। यह आज भी, विशेषत निम्नवर्गीय व्यक्तियो तथा साधारण

तालिका मे मिलेगा। [प्रस्तुत सस्करण मे मैने तालिका के नीचे अनेक नवीन शब्दों को जोड दिया है, जिनमे से यद्यपि कुछ, जैसा कि मैंने देखा है, की संस्कृत से व्युत्पत्ति दी जा सकती है परन्तु कुछ अन्य आधुनिक जनभाषाओं मे ढूँढे जा सकते हैं]।

जीवन व्यापार मे काफी अशो मे प्रयुक्त होता है। इसके अन्तर्गत प्रायः वे समस्त शब्द आ जाते हैं—(१) जो मूर्द्धन्य अक्षरो से आरम्भ होते है और जो आद्य अक्षर के रूप मे सम्भवत सस्कृत मे मूलत प्रयोग मे नही आते थे; (२) ऐसे प्राय समस्त शब्द जो 'झ' अक्षर से आरम्भ होते हैं, और (३) अश्लिष्ट और अभ्यस्त दोनो ही प्रकार के अनुकरणात्मक निपातो से बने अधिकांश शब्द, जो अक्सर अत्यन्त अभिव्यंजक है और अब यादृच्छिक प्रकृति के नही रह गये है, चाहे मूलत निर्माण करनेवाले लोगो द्वारा व्यवहृत भाषा मे स्थापित होने के पूर्व इनका कोई भी रूप रहा हो।" · · "जैसा कि कोश का अवलोकन तत्काल व्यक्त करता है, मराठी मे संस्कृत तत्त्व ही प्रधान है।" ·· ··"कोलब्रुक अपने मत के रूप मे यह व्यक्त करते है कि "हिन्दी बोली के उन्तीस बटा बीस भाग तक के स्रोत को सस्कृत मे ढूँढा जा सकता है", और सम्भवत पुरातन और परिष्कृत दोनो ही स्वरूपो को दृष्टि मे रखने पर मराठी मे संस्कृत शब्दो के अनुपात के सम्बन्ध मे भी यही टिप्पणी की जा सकती है।"

तालिका—२

प्रमुखत मृच्छकटिक तथा वैयाकरणों के ऐसे प्राकृत शब्दों की, जहाँ निर्धारित हो सके हैं वहाँ उनके आधुनिक जनभाषा के समकक्ष शब्दों सहित, तालिका जो अभिजात संस्कृत में नहीं मिलते, अथवा जिनकी उत्पत्ति संदिग्ध है।

सन्दर्भ	संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी	मराठी	अंग्रेजी
मृ० ११९	पितृसम्बन्धि	बप्प-केलके[४७]	बाप के बाप करके	बाप	फादर
मृ० ८० १०८	पादम्	गोडम्	गोड़		फुट, लेग
मृ० ७२ ११२	उदर	पोट, पोट्ट	पेट, पोट	पोट[४८]	बेली
मृ० ३५	पुंश्चली	छिणालिआ	छिनाल	छिनाल, सिन्दल	हार्लाट
मृ० ४०	स्तम्भ	खुण्ट	खूँटा	खुण्टा	पेग
मृ० ३१.३६ १६७	मनुष्य·	गोहो	..	गोहो	मैन
मृ० १२३ और नोट २९९	रस·	लखलिआ	. .	लकेरी[४९]	ए स्लाइट टेस्ट
मृ० १७५	कुक्कुरः	हुडे	...	.	डॉग
विक्र०, पृ० ७९	पश्य	उअ	..		लुक
मृ० १००	रक्षत	जोहह[५०]	जोहना		टु वाच / लुक आउट फॉर
मृ० १४१	प्रकम्पते	थर्त्तरेदि[५१]	थर्थराना	थर्थरणें	टु ट्रेम्बल
वर० ८.६८ और हेम्रा० ११ में क्रम	मज्जति	बुड्डइ, वुत्तइ / खुप्पइ	बूड़ना	बुडणें	टु सिङ्क
मृ० १६२ ३१७	मज्जन्तम्	डुब्बन्तम्	डूबना	डूबणें	
मृ० ३६.७९.१६४ प्रबो० ५८	पिधेहि / पिधत्त / पिहितम्	ढक्केहि[५२] / ढक्केध / ढक्किदे	ढकना	ढांकण (ए लिड) / झाकणें (टु कवर)	टु कवर अथवा शट

मृ० ११८	कारयिष्यामि कारय	घडाविश्शम् घडावेहि[53]	घडना (गढ़ना)	घडणें	टु फैब्रीकेट टु ड्रा, स्टेन्ज० २९८ टु सिट
मृ० १२२	कर्षामि	वड्ढामि	...	ओढणें	टु ड्रिङ्क, गल्प
डेप्रा० मे क्रम०	निपद् , पिव् क्षिप्	नुमज्ज्[54], घोट्ट् विज्ज्	घूँटना	घोटणें	टु थ्रो
वर० ८ ६४	क्रुध्	जुर्[55]		...	टु बी ऐंग्री

[47] 'केलके' अथवा 'केरके' प्रत्यय के सम्बन्ध मे देखिये लासन, पृ० ११८।

[48] मोल्सवर्थ की मराठी डिक्शनरी मे इस शब्द को संस्कृत 'पेट' से व्युत्पन्न माना गया है, किन्तु विलसन की सस्कृत डिक्शनरी मे इसे जो एकमात्र आशय प्रदान किया गया है वह 'बास्केट', अर्थात् 'टोकरी' है।

[49] स्टेन्जलर का मृच्छकटिक, पृ० २९९।

[50] विलसन की सस्कृत डिक्शनरी मे 'जोगट' शब्द को 'आकाक्षा करने' के आशय मे सज्ञा के रूप मे दिया गया है, जो सम्भवतः इस शब्द से सम्बन्धित हो सकता है।

[51] जनवरी २३,१८६१ मे गोगेऐ० के पृ० १३२ मे, प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम संस्करण की आलोचना मे प्रो० बेनफे ने इस धातु को सस्कृत 'तरल' (टु ट्रेम्बल), और उस कृदन्त 'ततुंराण' ('तुर्' धातु से) से सम्बद्ध माना है जो ऋग्वेद ९ ९५,३ मे आता है और बॉटलिङ्क तथा रॉथ के अनुसार जिसका आशय 'आगे दौडना' है।

[52] विलसन, तथा बॉटलिङ्क और रॉथ नष्ट करने के आशय मे एक धातु 'धक्क्' देते हैं; परन्तु 'ध्' दन्त्य अक्षर है मूर्द्धन्य नही। मैने तालिका से 'काणेली' शब्द निकाल दिया है क्योकि यह मृच्छकटिक मे संस्कृत तथा प्राकृत वाक्यो में आता है।

[53] यह सस्कृत धातु 'घट्' (कार्य करना) से व्युत्पन्न हो सकता है।

[54] डेप्रा० पृ० का विचार है कि ये धातुये सस्कृत मे अप्रचलित हो गई होगी।

[55] उपरोद्धृत आलोचना मे प्रो० बेनफे इस शब्द को सस्कृत धातु 'ज्वर्' और विशेषण 'ज्वर' (उत्तेजित, आवेग मे) से सम्बद्ध मानते है।

सन्दर्भ	संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी	मराठी	अंग्रेजी
वर० ८.२८, डेप्रा० पृ० ६	ग्रस्	विस्, घिस्[५८]	.	.	टु ईट
वर० ८.२०	घ्रा	पा	.		टु स्मेल
वर० ८.६७	मृज्	लुभ्, सुप्			टु क्लीन्स
वर० ८.६९	दृश्	पुलअ			टु सी
प्रा० ११.१३.	विलोकयन्	पुलोवन्तो	..		सीइङ्ग
११३.११५	विलोकय	पुलोवेहि			सी
वर० ८.७०	शक्	तर्, वअ, तीर्	.		टु बी एबल
मृ० २१	स्फोटयिष्यामि	मडमडाइस्सम्	.	..	आइ शैल स्प्लिट[५७]
मृ० १७	भक्त	छल्लि[५७]			बॉएल्ड राइस
मृ० ४३	शस्यलम्पट	शस्सपलक्क			ए रायटर इन ग्रेन (बैलों के लिये प्रयुक्त)
मृ० १०१.१५९	चिन्तापर / चिन्तायुक्तः	तत्तिलो (अथवा तन्तिलो), तत्तिला			ऐंक्शस
मृ० १२७	वाले	वाधू	..	..	ओ यङ्ग फीमेल !
मृ० १३४	गालयिष्यामि	गालइस्सम्[५९]	..		आइ शैल वाश
बाल० ६५ और बाद० ७४.२४०	कान्ति	रिञ्छोली	.	..	ब्रिलिएन्स
बाल० १९४	पङ्क्ति	रिंछोली	.	..	ए राउ
बाल० ८६	गज	दोघट्ट		..	ऐन एलीफेण्ट
बाल० १९५.२६४	शुक्ति	सिप्पि	सीप, सीपी	...	ए शेल
बाल० २४९	त्रस्त	चमक्कन्त[६०]	चमकना (चौंकना)	...	एलार्म्ड

[५८] देखिये पृ० ७३ पर श्री कोवेल की टिप्पणी ५, जहाँ वह यह मानते हैं कि डेलियस का 'घिस्' पाठ सम्भवतः अशुद्ध है। तथापि अपने इण्डेक्स, पृ० २०२, में श्री कोवेल ने 'विसइ' के बाद एक प्रश्नवाचक चिह्न लगाया है।

[५७] जब यह तालिका प्रेस मे ही थी, मैं कुछ शब्दो के सम्बन्ध मे श्री आर० सी० चिल्डर्स की निम्न टिप्पणी से अनुगृहीत हुआ
" 'वप्प', 'वाप'—सिंहली मे 'बप्प' का अर्थ 'पिता' है, और बाप का अर्थ 'चचा'। यह बादवाला शब्द 'बाल-अप्पा' का भ्रष्ट रूप है, जैसा
कि इसके साथ के शब्द 'बालम्मा अर्थात् 'चाची' से व्यक्त होता है। पोट, पेट्—मैं समझता हूँ कि यह बहुत अच्छी तरह सस्कृत 'पेट' हो सकता
है, कोष्ट के विभिन्न अर्थों की तुलना कीजिये। मनुष्य के मस्तक के लिये इटालियन शब्द 'तेस्त' है जिसका अर्थ मिट्टी का पात्र है। यह भी
एकमात्र उदाहरण है कि पेट के लिये सिंहली शब्द 'बड' है जो पेट नही हो सकता, यह तो कदाचित 'भण्ड' को व्यक्त करता है, किन्तु मुझे
इसकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे अत्यन्त सदेह है। 'छिनाञिया—सिंहली डिक्शनरी मे क्लाउ ने 'छिन्न' के अन्तर्गत ही 'छिनाल' अर्थ दिया है।
क्या 'नालि' सस्कृत 'नारी' हो सकता है ? उअ (देखना)—मैं नही जानता कि इस शब्द का प्रयोग किस प्रकार होता है, परन्तु क्या यह केवल
एक उद्गार मात्र नही हो सकता ? 'ढक्केहि'—संस्कृत धातु 'स्तग्' पालि मे 'थक्' है (थकेति अर्थात वह ढकता है, थकनैन अर्थात ढक्कन)।
परन्तु क्लाउ ने 'ढक' का एक अर्थ 'छिपाना' भी दिया है। 'घडाबइश्शम्'—इसे 'घट्' का णिजन्त होना चाहिये। 'घटापेति' वह गढता है,
पालि मे आता है (देखिये ड अल्विस, इन्ट्रो० पृ० ३५)। 'वड्ढामि' (खीचना)—तुलना टर्नर का महावंसो, पृ० १६०, पंक्ति १, और
शुद्धिपत्र मे 'कुन्त वड्ढेथ भो' अर्थात् भाले को खीचना, जो ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि मे धसा है। 'विज्ज्' अर्थात् फेकना—क्या यह 'व्यध्'
हो सकता है ? पालि मे वर्तमान कालिक रूप 'विज्झति' है। 'विज्जै' अर्थात् 'भयभीत' होना—क्या यह 'वृज्' हो सकता है (पालि वज्जति'),
जिसका आशय किसी स्थान से पीछे को ओर खिसकना या सिकुडना है ? 'पुल्' अर्थात देखना—इसे सिंहली 'बल-नवा' अर्थात् देखना, होना
चाहिये, जिसकी व्युत्पत्ति ढूँढने मे मैं सफल नही हो सका हूँ।"

[५८] विलसन ने 'छल्लि' को 'वल्कल' के आशय मे दिया है।

[५९] यहाँ सस्कृत का 'क्ष', 'ग्' मे परिवर्तित किया जा सकता है। श्री चिल्डर्स ने मुझे बताया है कि पालिरूप 'खालयिस्सामि' है, जो
उनके विचार से, तालिका को दोनो शब्दो के बीच की कडी हो सकता है। परन्तु बालरामायण, पृ० ४-, मे सस्कृत 'प्रक्षालन' के लिये
'पक्खालण', और प्रसन्नराघव, पृ० १२४, मे सस्कृत 'क्षालय' के लिये 'च्छालअ' है।

[६०] यह शब्द इसी नाटक के पृ० २४३ पर 'चमक्कन्त' तथा 'चमकिद' रूपो मे भी आता है, जहाँ टीका मे इसकी 'चमत्कृत'
(आश्चर्यचकित) के रूप मे व्याख्या की गई है।

सन्दर्भ	संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी	मराठी	अंग्रेजी
वाल० २४०	मिश्रित	कल्लविद	...	..	मिक्स्ड
वाल० २६४	पतित	पल्लोट्ट	..	...	फॉलेन
वाल० १९८	समूहा॰	कडप्पा	...	...	एसेम्ब्लेजेज़
वाल० २७३	श्रेष्ठ	गरिल्ल[६१]	...	...	मोस्ट एकसेलेण्ट
वाल० २४३	नर्तकी	तरट्ठी	..	..	ए डान्सिङ्ग गर्ल
वाल० २५१	चूर्णित	चुम्पणिअ	..	...	पाउण्डेण्ड
वाल० २७६	मिश्रम्	विदुरिल्लम्	..	..	मिङ्गिल्ड
वाल० २४६	स्पर्शै॰	झडप्पेहि	..	..	कॉन्टैक्ट्स
वाल० २४६	दुत्कारैः	डुक्करेहिम्	ठोकरों से		दे बीट विथ
	दुत्कुरुत॰	डुक्कन्ति	ठोंकते ?	..	क्लोज़ ?
वाल० २५९	ललाट	णिडोल[६२]	..	...	फोरहेड
वाल० १९८	शोभित	चङ्गोट्ठिअ[६३]	...	...	ब्यूटीफाइड

[नोट .—प्राकृत मे प्रयुक्त सदिग्ध व्युत्पत्तिवाली अन्य सस्कृत धातुओ के लिये देखिये वररुचि ८ १८ २१ २३ ३४ ३५ ३९ ४० ।]

[६१] यह लिपिक द्वारा 'गरिट्ठ' (गरिष्ठ) के लिये की गई त्रुटि हो सकती है जो पृ० २२४ पर आता है।

[६२] श्री चिल्डर्स यह मत व्यक्त करते है कि 'णिडोल' सम्भवत. केवल 'ललाट' का एक परिवर्तित रूप है, जैसे पालि मे 'ललाट' की अपेक्षा 'नलात' अधिक प्रचलित रूप है, जब कि सर्वाधिक महत्वपूर्ण अवशिष्ट विभेद की वर्णव्यत्यास द्वारा व्याख्या हो जाती है।

[६३] सस्कृत कोशो मे सुन्दर के आशय के लिये 'चङ्ग' है। परन्तु शब्द का बाद का अंश किस प्रकार बना है यह मैं नही समझ पा रहा हूँ।

यह सत्य है कि नाटकों मे आनेवाले जनभाषा के ये शब्द संख्या मे थोडे है, कि अनेक शब्द जो संस्कृत से बहुत असमान और जल्दी मे किये गये परीक्षण द्वारा एक भिन्न उत्पत्ति के प्रतीत होते है, अधिक सतर्क परीक्षण पर परिवर्तन के कुछ मान्य सिद्धान्तों के अनुसार उत्तरोत्तर स्तरों से मूलत. संस्कृत से ही व्युत्पन्न सिद्ध होते है, और यह भी कि ऐसे शेष शब्दों का, जो लिखित संस्कृत से निगम्य नहीं है, संस्कृत से व्युत्पन्न शब्दों की अपेक्षा अधिक अनुपात नहीं है, जैसा कि आधुनिक देशभाषाओं मे है।[६४] नाटकों मे ऐसे शब्दों की अल्पता का कारण सम्भवत. यह तथ्य है कि ये अनेक काव्यात्मक स्थलों से युक्त निखरी हुई कृतियाँ है और इनकी रचना संस्कृत के ऐसे विद्वान पण्डितों ने की है जो, जब चाहते थे तो, भद्दे शब्दों को छोडकर जहाँ सम्भव हो सकता था, संस्कृत से व्युत्पन्न शब्दों के प्रयोग की क्षमता रखते थे . जैसा कि हम वर्तमान समय मे भी पाण्डित्यदर्शी पण्डितों में भी इस प्रकार की आदत देख सकते है।[६५] और इसमे कोई सन्देह नही कि प्रान्तीय भाषाओं मे, जैसी की वह उन नाटकों की रचनाओं के समय निम्नवर्गीय तथा अशिक्षित सामान्य वर्ग के लोगों द्वारा बोली जाती थी, उससे कही अधिक अ-संस्कृत शब्द प्रचलित रहे होंगे जितने हमें नाटकों में मिलते है। इसी प्रकार आधुनिक समय में भी हिन्दुस्तान के एक ही प्रान्त में विभिन्न वर्ग के लोगों मे प्रचलित भाषा में अनेक परिमार्जन और परिवर्तन लक्षित होते है। उदाहरण के लिये, हिन्दू पण्डित ऐसी बोली का व्यवहार करते है जिसमे संस्कृत शब्दों की

---

[६४] लासन यह टिप्पणी करते हैं (पृ० २८६) · "प्राकृत की धातुओ को निश्चित रूप से सस्कृत मे ही देखना चाहिये; और जो थोडे से शब्द सस्कृत-बाह्य प्रतीत होते है, उन्हे भी, उपयुक्त सिद्धान्तो के अनुसार अनुसन्धान करने पर सस्कृत मे ढूंढा जा सकता है। साथ ही साथ, मैं इस बात को भी सर्वथा अस्वीकार नही करूँगा कि कुछ शब्द भारत की देशभाषाओ से ही सस्कृत और प्राकृत मे चले गये हो सकते हैं, परन्तु ऐसे शब्द निश्चित रूप से अधिक नही हैं।" लासन ने यहाँ विशुद्ध जनभाषाओ के प्राकृत मे प्रचलित शब्दो की सख्या को, जैसे कि वे नाटको मे मिलते हैं, कम न भी आँका हो, फिर भी आधुनिक जनभाषाओ की दशा मे उनकी टिप्पणी निश्चित रूप से ठीक नही है, जिनमे ऐसे शब्द जो सस्कृत से व्युत्पन्न नही है, और जो जनप्राकृतो से आये होगे, बहुत अधिक मात्रा मे मिलते है।

[६५] उदाहरण के लिये डा० सैमुएल जॉनसन की अँग्रेजी की, जो ग्रीक और लैटिन से व्युत्पन्न शब्दो से परिपूर्ण है, अन्य ऐंग्लोसैक्सन प्रमुखो की कृतियो से तुलना कीजिये।

प्रचुरता होती है, ग्रामीण लोग संस्कृत कम और देशी शब्दों का अधिक व्यवहार करते हैं, निम्नवर्ग के मुसलमान ऐसी भाषा बोलते है जो ग्रामीणों के तो बहुत कुछ समान होती है परन्तु उसमें फारसी और अरबी शब्दों की अधिकता होती है, जब कि शिक्षित मुसलमान अपने वार्तालापों मे अरबी और फारसी शब्दों तथा वाक्यांशों का बहुत अधिक प्रयोग करते है। परन्तु नाटकों में ऐसे अ-संस्कृत शब्दों के एक अल्प अनुपात का अस्तित्व भी, संस्कृत शब्दों के भ्रष्ट रूपों के व्यवहार को—आधुनिक जनभाषाओं के ही समान—दृष्टि मे रखने पर, यह दिखाने के लिये पर्याप्त प्रतीत होता है कि प्राकृत, जैसी हमें नाटकों मे देखने को मिलती है, न्यूनाधिक परिवर्तित रूपों मे अपने समय की बोली जाने वाली भाषाये और इसलिये वे ही आधुनिक देश-भाषाओं की पूर्वज थीं। अत हमे इन देश-भाषाओं मे ऐसे शब्दों की पर्याप्त सख्या मिलती है जिनके स्रोत को अभिजात संस्कृत में नहीं ढूंढ़ा जा सकता, अत. हमे यह निष्कर्ष निकालना पडता है कि ये शब्द प्राचीन देश-भाषाओं मे अवश्य वर्तमान रहे होंगे और उन्हीं से आधुनिक जनभाषाओं मे आ गये। इसका एक मात्र विकल्प यह मानना हो सकता है कि ये अ-संस्कृत शब्द आधुनिक समय में ही अविष्कृत हुये होंगे, परन्तु यह मान्यता समस्त सम्भावनाओं से रहित है।"[६]

गत पृष्ठ ७ पर प्रस्तावित प्रश्न अब पुन. सामने आता है. ऐसे शब्द कहाँ से आये जो प्राकृत बोलियों मे मिलते हैं और जिनकी और भी अधिक सख्या आधुनिक देशभाषाओं में मिलती है, परन्तु जो अभिजात संस्कृत मे नहीं मिलते? इस प्रश्न के उत्तर मे दो मान्यतायें पहले ही प्रस्तावित की जा चुकी हैं। पृष्ठ ७ पर यह कहा गया है कि ये शब्द या तो (१) आर्य उत्पत्ति के लोकभाषीय शब्द है (जिस दृष्टिकोण को गत पृष्ठ ८ पर उद्धृत स्थल में

---

[६६] यदि यह भी मान लिया जाय कि पालि और नाटकीय बोलियो का कभी भी बोली जानेवाली जनभाषाओ के साथ तादात्म्य नही था, तो भी यह मेरे तर्क को अप्रमाणित नही करेगा। क्योंकि प्राकृत भाषायें रगमञ्च पर बोली जाती रही होगी और इसलिये वे बोधगम्य भी रही होगी। परन्तु यदि वे किसी बोली जानेवाली भाषा के बहुत निकट न होती तो बोधगम्य नही हो सकती थी। और पालि तथा प्राकृतो का अस्तित्व, अपनी भाषाओं को तोडने मरोडने और परिमार्जित करने की मनुष्यो की समान्य प्रकृति, तथा उस वास्तविक पद्धति को जिसमे वे उत्तर भारत मे अग्रसर हुये, स्पष्ट रूप से व्यक्त करता है।

श्री वीम्स ने ग्रहण किया है), अथवा (२) ये उन अनार्य जातियों की भाषा से गृहीत है जिनके सम्पर्क मे आर्य लोग आये थे। मैं यहाँ इस तथ्य की पूर्वकल्पना करता हूँ जिसे आगे विस्तृत रूप से सिद्ध करने की मुझे आशा है, अर्थात् यह कि भारत मे मनुष्यों की अनेक ऐसी जातियों के प्रगट चिह्न वर्तमान हैं जिनकी परस्पर उत्पत्ति मे वहुत अधिक अन्तर है।

ऐसा प्रतीत होता है उत्तर के उच्चवर्गीय हिन्दुओं के पूर्वज, जो मूलत संस्कृत बोलते और अपने को आर्य कहते थे, भारत के उत्तर पश्चिम देशों के निवासी रहे होंगे जो एक आरम्भिक समय मे भारत मे आकर वस गये। जव वे लोग भारत मे आये तो उन्होंने इस देश को पहले से ही एक ऐसी जाति के लोगों द्वारा अधिकृत देखा जिन्हें वेद और महाभारत में दस्यु कहा गया है, जो उनसे एक पृथक भाषा वोलते थे, और जिनसे उनका दीर्घकाल तक युद्ध चलता रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यों द्वारा अंशत. तो दस्यु पूर्व, दक्षिण और उत्तर की ओर भगा दिये गये जहाँ उन्होंने पर्वतों और वनों में आश्रय लिया, और अंशत. दमित कर के दासों या आश्रितों के रूप मे आर्य समुदायों मे ही सम्मिलित कर लिये गये। यद्यपि वहुत सम्भवतः भारत के आरम्भिकतर निवासी भी आर्यों के आक्रमण के वहुत पहले कहीं वाहर से ही भारत मे आकर वसे होंगे, तथापि तात्कालिक विभेद के लिये मैं उन्हें आदिवासी कहूँगा। ये आदिवासी जातियाँ सव की सव एक ही जाति की नहीं रही होंगी और विभिन्न समयों मे भारत मे आई होंगी, किन्तु उनका इतिहास अत्यन्त अस्पष्ट और केवल अनुमान का ही विषय है। इतना स्पष्ट है कि इनकी भाषाये समान नहीं थीं। भारत के दक्षिण मे हमे आज भी तामिल, तेलुगू, कन्नड, मलयालम आदि अनेक वोली जानेवाली भाषाये मिलती हैं जो उत्तर भारत की देशभाषाओं, जैसे मराठी, वंगला, आदि से वहुत अधिक भिन्न हैं। यद्यपि आज दक्षिणी भाषाओं में संस्कृत शब्दों का अन्तर्मिश्रण मिलता है, तथापि इतना स्पष्ट है कि यह अन्तर्मिश्रण अपेक्षाकृत हाल का है क्योंकि आकार-प्रकार तथा अधिकांश शब्दों की दृष्टि से ये भाषाये संस्कृत तथा उससे व्युत्पन्न अन्य समस्त भाषाओं से सर्वथा भिन्न हैं। दूसरी ओर, उत्तर तथा मध्य भारत की वोलियाँ, जैसे मराठी, हिन्दी, वंगला इत्यादि, जैसा कि हम पहले ही देख चुके है, प्रमुखतः संस्कृत से व्युत्पन्न हैं, यद्यपि इनमे पर्याप्त मात्रा मे ऐसे भी शब्द है जो प्रत्यक्षत भिन्न उत्पत्ति के हैं। असंस्कृत उत्पत्ति के ये शब्द, जिन्हे हम पहले-पहल एक सीमा तक प्राचीन प्राकृतों में पाते है, और जो उन्हीं से उत्तर भारतीय जनभाषाओं मे आये होंगे, निश्चित रूप से या तो (१) आर्यों की वोलचाल की भाषा के ऐसे अंश रहे होंगे जो उनकी साहित्यक भाषा से नहीं

"प्राकृत के गठन के सम्बन्ध में कुछ रुचिपूर्ण केवल एक ही प्रश्न है जिस पर, जितना अब तक किया गया है उसकी अपेक्षा अधिक, अनुसन्धान किया जाना चाहिये, परन्तु जिसके विवेचन के लिये यह स्थान उपयुक्त नहीं है। क्या यह किसी ऐसी बोली का प्रतिनिधित्व करती है जो कभी बोली जाती थी, अथवा यह संस्कृत को साहित्य की विशेष शाखाओं के अनुकूल बनाने के लिये उसका केवल एक कृत्रिम परिवर्तन मात्र है ? यह बाद का विकल्प ही अधिक सम्भाव्य प्रतीत होता है, क्योंकि आज के समय में भी इसके लिखने में कोई कठिनाई नहीं होगी, यद्यपि यह अब बोली नहीं जाती, और ऐसे नाटकों में भी इसके अत्यन्त परिष्कृत और प्राञ्जल उदाहरण मिलते हैं जो आधुनिक रचनायें हैं। उदाहरण के लिये, विदग्धमाधव में आधा से भी अधिक प्राकृत है और इस तीन शताब्दियों से भी कम पूर्व लिखा गया था। दूसरी ओर, हिन्दुस्तान की बोली जानेवाली भाषाओं में अनेक परिवर्तित रूप मिलते हैं और उनके परिवर्तन का समाधान प्राकृत व्याकरण के नियम ही करते हैं, जिनकी सहायता के बिना उन्हें समझना कठिन होगा। द्विवचन के अप्रचलन द्वारा व्याकरणिक रचना के सरलीकरण, और क्रियारूपों की घटी हुई संख्या भी, वास्तविक बोली में सैद्धान्तिक की अपेक्षा व्यावहारिक पूर्णता के एक स्वाभाविक प्रतिनिधान जैसा प्रतीत होता है और हमें ऐसा विचार करने के लिये प्रलोभन देता है कि प्राकृत भी कभी बोली जानेवाली भाषा ही थी। यह विषय न केवल भाषावैज्ञानिक दृष्टि से ही वरन् ऐतिहासिक दृष्टि से भी कौतूहलवर्धक है, क्योंकि बौद्धों तथा जैनों की पवित्र बोलियाँ प्राकृत के अतिरिक्त और कुछ नहीं, तथा इसके नेपाल और लङ्का स्थानान्तरित होने की परिस्थितियाँ तथा समय हिन्दुस्तान के उत्तर और पूर्व के प्रमुख देशों द्वारा मान्य धर्मों के उदय और विकास से सम्बद्ध है।"

श्री बीम्स इस विषय पर अपने को और भी सशक्त शब्दों में व्यक्त करते हैं : "वास्तव में शौरसेनी, व्रज और आधुनिक हिन्दी बोलियों के सम्बन्ध में अभी बहुत अधिक छान-बीन करनी है, और जब तक हम आरम्भिक प्राकृत के बोल-चाल के स्वरूपों के सम्बन्ध में अधिक नहीं जान लेते यह कुहरा साफ नहीं हो सकता। कवियों की प्राकृत स्पष्टतः ऐसी बोली नहीं है जिसे कभी बोला जाता था। यह किस सीमा तक किसी बोली जानेवाली भाषा की विशेषताओं को व्यक्त करती है यह एक समस्या है।' (—जएसो०, १६६८ पृ० ४९८)।

इस दृष्टिकोण की पुष्टि करने के लिये, जिसे पहले ही आधुनिक देशभाषाओं के साथ किसी पूर्वस्थित प्राकृत, अर्थात् देशी बोलियों, के सम्बन्ध में व्यक्त

किया जा चुका है, यह मानना आवश्यक नहीं है कि नाटकीय प्राकृतों का किसी पूर्वकाल अथवा उस काल में ही जब प्राकृतों का काव्यीय उद्देश्यों के लिये व्यवहार होता था, वोली जानेवाली प्राकृतों के साथ तादात्म्य था। वास्तव में प्रो० विलसन ने गत कुछ शताब्दियों के वीच, जब प्राचीन प्राकृतें वर्तमान देशभाषाओं के द्वारा अधिक्रमित हुईं, नाटकों की रचना के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन प्राकृतों के, किसी भी मान्यता के आधार पर, सर्वथा अप्रचलित हो जाने के बहुत समय बाद तक नाटकों में प्राकृतों का स्त्रियों और निम्नवर्गीय पात्रों के लिये एक परम्परागत भाषा के रूप में प्रयोग होता रहा। परन्तु यह सम्भव है कि जब इनका मूलत. व्यवहार हुआ होगा तो इनका कुछ समसामयिक वोली जाने वाली जनभाषाओं के साथ भी तादात्म्य अवश्य रहा होगा। मैंने शब्दों की जो तालिका ऊपर दी है उससे इस तथ्य की पूर्ण स्थापना हो जाती है, और तालिका से यह भी स्पष्ट होता है कि आधुनिक देशभाषायें स्वभावत. वोली के ऐसे रूपों से निष्कृष्ट हुई हैं जो नाटकीय प्राकृत के या तो समान या सजातीय थीं। जैसा कि हम देखेंगे, देशभाषाओं तथा पालि के सम्बन्ध से भी यही दृष्टिकोण उपयुक्त सिद्ध होता है।

अब मैं लासन का एक उद्धरण दूँगा, जे अपने इलिप्रा०, पृ० ३९ और बाद में, इस समस्या पर प्रो० विलसन और श्री वीम्स के विपरीत मत रखते हैं। उनकी टिप्पणी उस प्रक्रिया पर भी प्रकाश डालती है जिसके अनुसार प्राकृत वोलियाँ संस्कृत से उद्भूत हुईं।

"यदि इन वोलियों की उत्पत्ति के प्रश्न से केवल उसी स्रोत का तात्पर्य है जिससे ये उद्भूत हुई हैं, तो इसका एक अत्यन्त सरल उत्तर है : क्योंकि, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, समस्त रंगमंचीय वोलियाँ सर्वथा संस्कृत से ही गृहीत है।[६८] परन्तु, यदि इस प्रश्न का तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिससे ये वोलियाँ सस्कृत से गृहीत हुईं, तो इसका उत्तर अधिक कठिन होगा। यह कठिनाई इन भाषाओं के ऐसे रूपों या शब्दों में निहित नही है जिनके आद्य स्वरूप सस्कृत मे खोजे नहीं जा सकते। क्योंकि, इसके विपरीत, कालान्तर में परिवर्तित या भ्रष्ट हो जाने की प्रक्रिया में परिवर्तन की जिस पद्धति का सभी भाषाये अनुसरण करती है—उदाहरण के लिये, जैसा कि गौथिक और लैटिन से उद्भूत समस्त जर्मनिक तथा रोमनिक भाषाओं में भी देखा जा सकता

[६८] फिर भी, ऊपर पृ० और बाद पर इस विषय पर जो कुछ कहा जा चुका है उसे देखिये।

है—उसके अनुसार इनके भी शब्दों और रूपों का उद्गम इस प्राचीन स्रोत (संस्कृत) में ढूंढ़ा जा सकता है।

"कठिनाई तो इस बात में निहित है कि संस्कृत से उत्पन्न और विभिन्न प्रान्तीय नामों से युक्त ये नाटकीय बोलियाँ समान नाम और उत्पत्तिवाली प्रान्तीय भाषाओं से भिन्न हैं। उदाहरण के लिये प्रधान प्राकृत (जिसे महाराष्ट्री के नाम से पुकारा गया प्रतीत होता है) आधुनिक मराठी से, और शौरसेनी व्रजभाषा से भिन्न है। अतः यह संदेह व्यक्त किया गया है कि क्या नाटकीय बोलियाँ पहले उन अनेक प्रान्तों के लोगों की बोली जानेवाली भाषायें थीं जो आज एक सजातीय किन्तु भिन्न बोली का प्रयोग करते हैं, अथवा नाटकीय बोलियाँ, चाहे संस्कृत की या प्रान्तीय बोलियों के नाटकीय प्रयोजन के लिये कृत्रिम रूप से गृहीत बोली की अपेक्षा कुछ अन्य हैं। यह बाद का दृष्टिकोण विल्सन को सर्वाधिक सम्भाव्य प्रतीत हुआ है, जो इस कारण कि, मथुरा और बिहार के मराठा देश की आधुनिक बोलियाँ उन बोलियों से भिन्न हैं जिनका रंगमञ्च पर इन्हीं नामों से व्यवहार होता था। वह एक अन्य कारण भी देते हैं, अर्थात यह कि इन नाटकीय बोलियों में आज भी रचना की जा सकती है। परन्तु क्या संस्कृत या लैटिन की दशा में भी ठीक ऐसा ही नहीं हो सकता? इन दोनों भाषाओं को भी, जिनका दैनिक जीवन में व्यवहार या कुछ विद्वानों के अपवाद के अतिरिक्त बोला जाना बहुत पहले ही समाप्त हो गया है, आज भी इनके विज्ञ विद्वानों द्वारा लिखा जा सकता है। विल्सन का प्रथम तर्क भी समान रूप से अनिर्णायक है, क्योंकि, यदि मैं लाछन-तर्क का व्यवहार करूँ तो, कह सकता हूँ कि विद्वान प्रोफेसर यदि अपने देशवासियों के समक्ष एंग्लो-सैक्सन भाषा में बोलें तो अपने आशय को समझा सकने में कदाचित ही सफल होंगे। उनका तर्क उस दशा में अवश्य उपयुक्त होता यदि यह सिद्ध किया जा सकता कि जिस युग में नाटकीय बोलियों को सर्वप्रथम मञ्च पर लाया गया उस समय महाराष्ट्री, अथवा बोली का कोई अन्य समसामयिक रूप उसी नाम से नाटकों में व्यवहृत बोली से भिन्न था। क्योंकि यह द्रष्टव्य है कि अपने पूर्वगामियों के उदाहरण का अनुसरण करते हुये बाद के नाटकीय कवियों ने नाटकीय बोली के प्रकारों को परिवर्तित नहीं किया वरन् उनके मूलरूप में ही सुरक्षित रक्खा, जब कि, दूसरी ओर, प्रचलित बोलियों में महान् परिवर्तन होते चले गये, जैसा कि सतत प्रयोग में आनेवाली प्रत्येक भाषा की दशा में इस प्रकार का तोड़-मरोड़ होता ही रहता है। इन मञ्चीय बोलियों को आज भी व्याकरणिक शिक्षण द्वारा उसी प्रकार सिखाया जा सकता है जैसे संस्कृत को, यद्यपि इनमें से किसी को कोई भी भारतीय किसी परिचारिका से नहीं

सीख सकता। मञ्चीय बोली को समस्त परिवर्तनों के विरुद्ध (जैसा कि संस्कृत की दशा में भी था) उस समय से ही रक्षित रखा गया जब से इसके रूपों और नियमों को वैयाकरणों ने व्यवस्थित कर दिया। फलस्वरूप नाटकीय और आधुनिक प्रान्तीय बोलियों की विभिन्नताओं पर आधारित तर्क में तब तक कोई शक्ति नहीं जब तक यही न दिखा दिया जाय कि प्रान्तीय बोलियाँ भी आरम्भ से लेकर अब तक अपरिवर्तित बनी रही। परन्तु न तो इसे दिखाया ही जा सकता है और न ऐसा सम्भव ही है। दूसरी ओर, प्रान्तीय बोलियों की वर्तमान दशा की उस समय तक व्याख्या नही की जा सकती जब तक हम यह न मान ले कि उनके वर्तमान रूप की अपेक्षा उनका एक अधिक प्राचीन और भिन्न रूप भी था, और वह रूप संस्कृत से अधिक मिलता-जुलता था।

"यत. जब यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि प्रान्तीय बोलियाँ मूलतः मञ्चीय बोलियों से भिन्न थीं अतः मैं यहां कुछ और तर्कों को प्रस्तुत करता हूँ जिनके द्वारा यह सम्भाव्य हो जायगा कि मञ्चीय बोलियाँ उन प्रान्तों में प्रचलित थीं जिनसे उन्होंने अपने नाम ग्रहण किये। और सर्वप्रथम, तर्क के रूप मे मैं स्वयं इनके नामों का ही उपयोग करूँगा : क्योंकि महाराष्ट्री, शौरसेनी प्रभृत नाम उस दशा में निरर्थक होंगे यदि इनसे किसी प्रान्तीय बोली का तात्पर्य न हो। यह तथ्य ध्यान में रखते हुये कि ये नाम न तो इसी नाम से पुकारी जानेवाली किसी मनुष्य जाति से निष्कृष्ट हो सकते हैं और न सम्बद्ध बोलियों की किसी विशिष्टता से ही, मागधी के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है, क्योंकि यद्यपि मैं इस तथ्य से अवगत हूँ कि मगध शब्द गायकों के एक वर्ग का द्योतक है, तथापि मञ्च पर मागधी बोली का व्यवहार अन्य वर्गों के मनुष्यों ने भी किया है, और स्वयं गायकों या चारणों ने अपने नाम की अभिधा उसी प्रान्त से प्राप्त की है जिसके आधार पर इस बोली का नाम पड़ा है।

"दूसरे, मैं यह तर्क प्रस्तुत करता हूँ कि नाटकीय काव्य इस बात को कदाचित ही विश्वसनीय बनाता है कि साधारण जीवन में प्रचलित भाषा से भिन्न भाषा मे रचित नाटकों का भी मञ्च पर अभिनय किया जाता रहा होगा। फिर भी, यह इस मान्यता से एक भिन्न विषय है कि नाटकीय बोलियों का बोला जाना बाद में समाप्त हो गया और वे अप्रचलित हो गई, जब कि मञ्च पर उनका स्थान अक्षुण्ण बना रहा। अपेक्षाकृत आधुनिक समय मे रचित नाटकों में स्वयं संस्कृत के व्यवहार के सम्बन्ध मे भी स्थिति ऐसी ही है।

"यदि इन तर्कों को उचित रूप से परखा जाय तो यह निष्कर्ष निकलेगा

कि मञ्च पर भिन्न बोलियों का व्यवहार, भारतीय कवियों द्वारा नाटकीय नियमों के सर्वप्रथम विधान के समय भारतीय जीवन की विशिष्ट परिस्थितियों का ही परिणाम है।

"इन तर्कों में इतना और जोड़ देना चाहिये कि प्राथमिक नाटकीय बोली और पालि के बीच इतना घनिष्ट साम्य है कि मूलत: दोनों के समान होने के सम्बन्ध में कदाचित ही कोई सन्देह रह जाता है। इतना निश्चित है कि जैनों की पवित्र भाषा प्राथमिक प्राकृत से भिन्न नहीं है। यदि नाटकीय बोली का ब्राह्मणों की उर्वर और सूक्ष्म प्रतिभा के अतिरिक्त अन्य कोई आधार न होता तो इस भाषा को एक ऐसी जाति के लोगों ने कदापि ग्रहण न किया होता जिनका ब्राह्मणों तथा उनके विचारों के साथ तीव्र विरोध था। परन्तु यदि यह दैनिक जीवन की बोली थी तो जैनों को इसे अपने प्रयोजन के लिये ग्रहण करने में कोई कठिनाई नहीं हुई होगी। यह किस प्रकार सम्भव हुआ कि विशेष रूप से मराठी बोली का नाटकीय कवियों तथा जैनों, दोनों ने वरण किया? यह एक ऐसा विषय है जिसकी व्याख्या भारतीय रंग-मंच तथा बौद्धधर्म के इतिहास के आधार पर की जानी चाहिये, जिससे ही जैन मत उत्पन्न हुआ। किन्तु ऐसा प्रयास यहाँ समीचीन नहीं होगा।

"फिर भी प्रमुख तर्क को स्वयं भाषाओं के आकार से ही ग्रहण करना चाहिये। जहाँ तक सिद्धान्तों और सामान्य नियमों का प्रश्न है यह आकार संस्कृत से उद्भूत समस्त प्रान्तीय भाषाओं में एक ही है, जबकि, इनके वैयक्तिक रूपों और तत्त्वों को देखने पर यह भिन्न (यद्यपि बहुत समान) है। अत: मैं अपनी योजना के प्रति तभी पर्याप्त न्याय कर सकूँगा जब मैं इनमें से कुछ भाषाओं का अधिक सूक्ष्मता के साथ परीक्षण करूँ और यह दिखाऊँ कि उनकी व्याकरणिक प्रकृति कैसी है। फिर भी, उनके सम्पूर्ण व्याकरण को प्रदर्शित करने में प्रस्तुत पुस्तक की सीमा बाधक है, और यदि मैं ऐसा करूँ भी तो इससे मेरे अभीष्ट की अधिक सिद्धि नहीं होगी। अत: मैं इन भाषाओं के विशिष्ट विभक्ति-रूपों की प्रणाली का अनुसन्धान करूँगा, जो शब्द-प्रक्रिया के समान नियमों का ही अनुसरण करती है। मैं यहाँ ध्वनियों के प्रतिवर्तन को छोड़ देता हूँ जिनकी विभिन्नता यहाँ विवेचन के लिये अनुपयुक्त है। और यदि मैं इनका विवेचन करूँ भी तो यह मेरे उद्देश्य में सहायक नहीं होगा, क्योंकि मैं प्रान्तीय बोलियों तथा नाटकीय भाषाओं के विभेद को दर्शाने के लिये प्रान्तीय बोलियों के आकार या गठन का वर्णन करना चाहता हूँ। आधुनिक बोलियों में गृहीत संस्कृत शब्दों के तत्त्वों में हुआ परिवर्तन दो ऐसे अत्यधिक भिन्न नियमों का अनुसरण करता है जिनका यदि सतर्कतापूर्वक

विभेद न कर दिया गया तो उनका परस्पर-विरोधी निष्कर्षों के लिये प्रयोग किया जा सकता है। एक प्रकार का परिवर्तन उन शब्दों में व्याप्त है जो प्राचीन समय में ही संस्कृत से निर्मिति या भ्रष्ट होकर बनी प्रान्तीय बोलियों में गृहीत हुये हैं · जैसे कि ब्रजभाषा का 'पोर्था,' प्राकृत मे 'पोथओ' और संस्कृत में 'पुस्तक' है। ऐसे ही अनेक अन्य शब्द हैं जो हमें इस निष्कर्ष के लिये प्रेरित कर सकते हैं कि आधुनिक देश-भाषाओंके शब्दों के तत्वों में भी उसी प्रकार परिवर्तन हुये जैसे नाटकीय बोलियों मे, और यह कि, देश-भाषाओं में शब्दों के रूप व्युत्पन्न रूप है और उनकी व्याख्या नाटकीय शब्दों द्वारा होती है। मैं इसे कभी अस्वीकार नही करता, परन्तु आधुनिक बोलियों मे उपलब्ध शब्दों का एक अन्य प्रकार भी है जो नाटकीय प्राकृतों में प्रयुक्त रूपों की तुलना में मूल संस्कृत शब्दों से अधिक निकट है। ब्रजभाषा, पंजाबी, मराठी और बँगला से उदाहरण-स्वरूप निम्न शब्द प्रस्तुत हैं :

	ब्रजभाषा	पंजाबी	मराठी	बॅगला
	पुत्र,[६९] पुत्री	प्रकास	कर्ता, प्रुथुवी	दीप, पृथिवी
प्राकृत .	पुत्त, पुत्ती	पकास	कत्ता, पुहवी	दीव, पुहवी
संस्कृत.....	पुत्र, पुत्री	प्रकाश	कर्ता, पृथिवी	दीप, पृथिवी

"अन्य उदाहरण भी यहॉ जोडे जा सकते है, और यदि केवल ऐसे ही शब्दों पर विचार किया जाय तो यह निष्कर्ष अनुपयुक्त नहीं होगा कि आधुनिक बोलियों में उससे कहीं अधिक संख्या में अपने वास्तविक रूप में संस्कृत शब्द सुरक्षित है जितने प्राकृतों में। परन्तु यह एक अयुक्त निष्कर्ष होगा, क्योंकि आधुनिक देशभाषाये, जब ऐसे व्यक्तियों द्वारा बोली जाती है जो सस्कृत के विद्वान है और ऐसे ही व्यक्तियों (जिन्होंने ही ऐसी बोलियों की हस्तपुस्तिकाये, व्याकरण, और कोषादि लिखे हैं) द्वारा लिखित पुस्तकों मे इनका जो स्वरूप मिलता है, उनमे इनके प्राचीन और पवित्र स्रोत (संस्कृत) की सतत आवृत्ति होती रहती है। ऐसा न केवल उस समय ही होता है जब उन्हे गहन विचारों को व्यक्त करनेवाले अथवा शैली में निखार लानेवाले शब्दों की आवश्यकता होती है, वरन् उस समय भी जब किसी शब्द का देशभाषीय रूप उससे अधिक भ्रष्ट होता है जितने का एक विद्वान व्यक्ति अपनी कृति मे समावेश कर सकता है। इसीलिये ऐसा हुआ कि एक ही प्रान्तीय भाषा में एक ही सस्कृत शब्द के द्विविध रूप मिलते है : एक अपेक्षाकृत अधिक संस्कृत

[६९] फिर भी, इस भाषामे 'पुत' शब्द भी प्रयुक्त होता है, जैसा कि 'बाप पूत' वाक्यांश मे हैं।—मुइर

और दूसरा प्राकृत, क्योंकि स्रोत-भाषा, संस्कृत, का भारत की देश-भाषाओं पर प्रभाव पड़ना कभी भी समाप्त नहीं हुआ, जैसा कि लैटिन का भी रोमनिक भाषाओं पर सतत प्रभाव लक्षित होता है। जब कि दूसरी ओर, संस्कृत का उस समय से ही नाटकीय बोलियों पर प्रभाव पड़ना समाप्त हो गया जब से नाटकीय कवियों तथा उनका अनुसरण करते हुये वैयाकरणों ने नाटकीय बोलियों को एक निश्चित रूप प्रदान कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि नाटकीय बोलियों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ और अब से लगभग तीन शताब्दी पूर्व रचित तथा अत्यन्त प्राचीनकाल में रचित मृच्छकटिक जैसे नाटकों, दोनों में, उनका एक ही रूप मिलता है। मध्य की भाषा संस्कृत शब्दों को तो नित्य ग्रहण करती रही किन्तु उनके रूपों में अपनी आवश्यकतानुसार परिवर्तन और रूपान्तरण भी करती रही। दूसरी ओर, देशी बोलियाँ भी उसी प्रकार संस्कृत से ग्रहण तो करती रहीं परन्तु गृहीत शब्दों को अपरिवर्तित ही रहने दिया[६०], जब कि ऐसे शब्द जिन्हें इन्होंने बहुत पहले ग्रहण कर लिया था, उसी प्रकार के स्वाभाविक नियमों के अनुसार परिवर्तित होते रहे जैसे प्राकृतों के शब्द। देशभाषाओं में संस्कृत शब्दों, जैसे बँगला में 'तीक्षण,' 'तिरस्कृत' आदि, की उपस्थिति की इस प्रकार व्याख्या हो जाती है।" पृ० ३९–४५।

तदनन्तर प्रो० लासन आधुनिक देश-भाषाओं में व्यवहृत रूप-संचालन विधि का परीक्षण करते हुये आगे इस प्रकार मत व्यक्त करते हैं :—

[आधुनिक देश-भाषाओं में] "हम यह देखते हैं कि संस्कृत और प्राकृत कारक-रूप सर्वथा विनष्ट हो गये हैं, एक ही रूप-रचना या विभक्ति-रूप एक-वचन और बहुवचन दोनों ही रूपों में व्यवहृत है, और मूल तथा विकारी कारकों के बीच के कारक रूपों में एक नवीन प्रकार के अन्तर का समावेश कर दिया गया है। यह इस बात को सिद्ध करता है कि प्रान्तीय कारकरूप उनकी अपेक्षा बाद के हैं जिनका नाटकों की उन बोलियों में व्यवहार किया गया है जो कुछ निश्चित नियमों के आधार पर संस्कृत से व्युत्पन्न हैं और जिनमें केवल

---

[६०] यह द्रष्टव्य है कि अनेक संस्कृत शब्द, जो पालि और प्राकृत में गृहीत तथा परिवर्तित हो गये हैं, आधुनिक बोलियों में, जहाँ तक साधारण व्यक्तियों के प्रयोग का प्रश्न है, आदिम अथवा कम से कम, लोकभाषीय उत्पत्तिवाले शब्दों द्वारा स्थानान्तरित हो गये हैं, जैसे 'पुत्र' के स्थान पर 'बेटा', जब कि प्रमुखत. ब्राह्मणों तथा अन्य उच्च वर्गीय व्यक्तियों द्वारा प्रथम प्रकार के ही शब्द (पुत्र, आदि) प्रयुक्त होते हैं।—मूइर।

यत्र-तत्र ही कुछ परिवर्तन सिद्धियाँ मिलती हैं। प्रान्तीय रूप-रचनाओं में भी वास्तव में अंशतः स्पष्ट और अंशत. अस्पष्ट कुछ संस्कृत और प्राकृत कारक-रूपों के चिह्न लक्षित होते हैं, किन्तु अन्य विषयों पर अत्यधिक परिवर्तन सिद्धियाँ मिलती है जो प्राचीन व्याकरणिक ढाँचे के सम्पूर्ण विलय तथा सर्वथा नवीन उपकरणों के आधार पर उनके पुनर्निर्माण को व्यक्त करती हैं।

"यतः उक्त सभी प्रान्तीय बोलियों के सम्पूर्ण व्याकरण में यही स्थिति लक्षित होती है, अतः मैं यह निष्कर्ष निकालता हूँ कि ये मंचीय भाषा की अपेक्षा उत्पत्ति की दृष्टि से बाद की है। संस्कृत भाषा तथा उसकी वर्तमान पुत्रियों (आधुनिक देश-भाषाओं) के बीच व्याकरणिक ढाँचे की इतनी अधिक विभिन्नता है कि उससे यह निश्चित हो जाता है कि पुरातन भाषा एक बार में ही गिरकर उस रूप में नहीं आ गई होगी जिसमें आज हम प्रान्तीय बोलियों को पाते हैं। अनिवार्यतः यह निष्कर्ष निकलता है कि पुरातन और आधुनिक बोली के बीच कोई माध्यमिक स्थिति अवश्य रही होगी। इसमें सन्देह नहीं कि यह माध्यमिक स्थिति विविध प्रकार की रही होगी, जो आरम्भ में तो संस्कृत के निकट रही होगी परन्तु बाद में प्रान्तीय बोलियों के निकट आ गई होगी।

"यदि हम पालि (और यदि मैं बौद्ध ग्रन्थों की गाथा बोली को भी सम्मिलित कर दूँ—मूइर) को संस्कृत का वह आरम्भिक रूप माने जिसके बाद से वह पतनोन्मुख हो गई, और उसका परिवर्तित रूप वह हो गया जो हमें नाटकों में मिलता है, तो हमें यह मानना होगा कि संस्कृत के प्रथम परिवर्तन के रूप में नाटकीय बोली, जिसने अन्ततोगत्वा आधुनिक देश-भाषाओं को जन्म दिया, बहुत अधिक भिन्न नहीं थी। मै यह मानता हूँ कि संस्कृत की यह आरम्भिकतम भ्रष्टता यद्यपि सर्वथा समान नही, तो भी, बहुत अशों में उसके समान थी जो हमें नाटकों में मिलती है। यदि यह मत ठीक है, तो हमे यह विश्वास करने से कुछ भी वंचित नहीं कर सकता कि मचीय बोलियाँ पहले विभिन्न प्रान्तों की प्रचलित बोलियाँ थी। वैयाकरणों से इन मञ्चीय बोलियों ने जो नाम प्राप्त किया है वह, तथा नाटकीय काव्य की स्थितियों, दोनों ही हमें एक ही निष्कर्ष पर पहुँचाते हैं।

"फिर भी, यहाँ मैं यह समझता हूँ कि मुझे रुक जाना चाहिये, क्योंकि मंचीय तथा प्रान्तीय बोलियों, दोनों के, सम्पूर्ण क्षेत्र का परीक्षण किये बिना मैं इस मत को सिद्ध करने के लिये विस्तृत तर्क नहीं प्रस्तुत कर सकता। परन्तु मैं सोचता हूँ कि यहाँ मुझे यह भी स्पष्ट कर देना चाहिये कि मैं ऐसे किसी व्यक्ति से सदैव असहमत ही नहीं रहूँगा जो यह कहे कि मंचीय बोलियो

भाषा का बिल्कुल वही विशुद्ध रूप नहीं जो विभिन्न प्रान्तों में समकालीन रूप में प्रचलित था, बल्कि ये इन्हें व्यवहृत करनेवाले व्यक्तियों की प्रकृति के साथ अनुकूलन करने के लिये थोड़ी परिवर्तित रूप में थीं। इस निष्कर्ष के पक्ष में प्रमुख तर्क यह है कि नाटकीय बोलियों में कभी-कभी दो ऐसे रूप मिलते हैं जिनमें से एक का प्रान्तीय भाषा से अधिक साम्य है, जब कि दूसरा, जो कि कोमल और इसलिये, अधिक स्त्रियोचित है।

"इस विवेचन को समाप्त करते हुये हम यह कह सकते हैं, भ्रष्ट संस्कृत के दो परिवार विद्यमान हैं। प्रथम के, जो अधिक प्राचीन तथा अधिक भ्रष्ट नहीं है, अन्तर्गत पालि तथा मंचीय बोलियाँ आती हैं, और द्वितीय जो अपेक्षाकृत बाद में उत्पन्न हुई और आज भारत के (उत्तरी) प्रान्तों में बिखरी हुई है, अपनी स्रोत-भाषा से अपेक्षाकृत अधिक भिन्न है। प्रथम परिवार की सदस्यायें संस्कृत की पुत्रियाँ हैं, जबकि द्वितीय को संस्कृत की पौत्रियाँ, यद्यपि कुछ अंशों तक यह संदिग्ध ही है कि इन्हें प्रथम परिवार की ही पुत्रियाँ अथवा दो बहनों से उत्पन्न पौत्रियाँ माना जाय। जहाँ तक इन दोनों वर्गों के समय का प्रश्न है, बौद्ध धर्म तथा भारतीय रंगमञ्च के इतिहास से यह सिद्ध है कि उक्त प्रथम वर्ग ईसवी सन् के आविर्भाव के पूर्व ही उत्पन्न हो चुका था, जबकि पर्याप्त सम्भावना के साथ यह कहा जा सकता है कि बाद का वर्ग (अर्थात् आधुनिक प्रान्तीय देशभाषायें) भी ईसवी सन् १,००० के पहले ही निर्मित हो चुका था।"—पृ० ३७–६०।

प्राचीन प्राकृतों और आधुनिक देश-भाषाओं के बीच विभेद के विषय पर मैं इसी लेखक के इआ०, भाग २, पृ० ११४९–११५०, से कुछ और टिप्पणियाँ उद्धृत करता हूँ।

हमें मध्ययुगीन भारतीय भाषाओं (जिसके अन्तर्गत हम उपर्युक्त पालि, नाटकों की भाषा और प्राचीनतम अभिलेखों में व्यवहृत भाषाओं को रख सकते हैं) तथा नवीन भारतीय अथवा वर्तमान देशभाषाओं के बीच स्पष्ट विभाजन-रेखा खींचनी चाहिये। यदि हम कहें तो, प्रथम ने लक्ष्मण-रेखा को कभी पार नहीं किया और न अपनी मातृ-भाषा के नियमों के प्रति निष्ठा का परित्याग किया। यह सत्य है कि ये प्राचीन ध्वनिशास्त्रीय नियमों के तो केवल थोड़ा ही अनुरूप हैं, परन्तु इनका व्याकरणिक रूप, यद्यपि भ्रष्ट और कुण्ठित है, तथापि सीधे अपने स्रोत से ही गृहीत है। दूसरी ओर, भारत की आधुनिक बोलियों ने संस्कृत के ध्वनिशास्त्रीय नियमों का अनुसरण करना प्रायः सर्वथा छोड़ दिया है। ये अंशतः प्राकृत बोलियों के ध्वनिशास्त्रीय नियमों का अनुसरण करती हैं, परन्तु इनके अतिरिक्त इन आधुनिक बोलियों के स्वयं अपने

विशेष ध्वनिशास्त्रीय नियम हैं, और इनके शब्द, यदि शब्दभण्डार की वृद्धि के लिये सीधे संस्कृत से गृहीत नही है तो, अक्सर उससे कहीं अधिक संकोचन और मूल शब्द से कहीं अधिक विभेद प्रगट करते हैं, जितना हमें प्राकृत के समकक्ष शब्दों में मिलता है। आधुनिक बोलियों के व्याकरणिक रूप, कुछ दुर्लभ अपवादों के अतिरिक्त, नव-सृजित है। क्योंकि कारक विभक्तियों को प्रमुखतः परसर्गों से व्यक्त किया गया है, प्राचीन व्यक्तिगत प्रत्यय बहुत अंशों तक सर्वथा लुप्त हो गये है, और कालों को प्राकृत बोलियों की तुलना में एक सर्वथा भिन्न प्रकार से व्यक्त किया गया है—भूतकाल को सामान्यतया निपातों से तथा तीन पुरुषवाचक सर्वनामों को करण कारक के अन्तर्गत दिखाया गया है। यहाँ तक कि नाटकीय प्राकृतों में निम्नतम, अपभ्रंश, ने भी इस विभाजन रेखा का अतिक्रमण नहीं किया है, और संस्कृत के, जितनी आधुनिक देशभाषायें है, उससे कहीं अधिक निकट है।"

खण्ड ४—प्राकृतों और संस्कृत के सम्बन्ध तथा इनकी रचना के अन्य तत्वों के विषय पर भारतीय वैयाकरणों के दृष्टिकोण।

वररुचि[७१], जो बोली के प्राकृत रूपों का विवेचन करनेवाले सबसे प्राचीन विद्यमान वैयाकरण है, तथा उनके टीकाकार भामह (अपनी मनोरमा में) स्पष्ट रूप से इन बोलियों के सीधे या माध्यमिक रूप से संस्कृत से व्युत्पन्न हुए होने का उल्लेख करते है। प्रथम लेखक ने अपने भावप्रकाश में इस प्रकार की चार बोलियों का वर्णन किया है, यथा: १. महाराष्ट्री अथवा सामान्य रूप से प्राकृत कही जानेवाली, २. पैशाची ३ मागधी, और ४. शौरसेनी।[७२] अपने प्रथम नौ अध्यायों में संस्कृत से प्राकृत के निर्माण के नियमों का विधान कर लेने के बाद ये अन्य भाषाओं पर आते है, और दसवें अध्याय के आरम्भ में यह कहते हैं कि 'पैशाची की प्रकृति शौरसेनी है' (पैशाची; प्रकृतिः शौरसेनी)। इस पर टीकाकार भामह यह टिप्पणी करते हैं कि पैशाची पिशाचों की भाषा है।[७३] वररुचि

[७१] इनके समय के सम्बन्ध मे देखिये लासन: इलिप्रा०, एडेण्डा, पृ० ६५; और इआ०, भाग २, पृ० ११६०, जहाँ इन्हे ईसा की प्रथम शताब्दी मे हुआ कहा गया है।

[७२] देखिये लासन : इलिप्रा०, ७ और बाद, और कोवेल वर०, पृ० XVII।

[७३] 'पैशाचानाम् भाषा पैशाची; अस्या पैशाच्या प्रकृतिः शौरसेनी।' कोवेल, पृ० ८६, और लासन : इलिप्रा ७ ४३९।

ने ग्यारहवें अध्याय में मागधी को भी 'उसी शौरसेनी से व्युत्पन्न' माना है। (मागधी, प्रकृतिः शौरसेनी)।[74] स्वयं शौरसेनी बोली को बारहवें अध्याय के आरम्भ में सीधे संस्कृत से व्युत्पन्न कहा गया है (शौरसेनी, प्रकृतिः संस्कृतम्)।[75] शौरसेनी विषयक अध्याय के अन्त में यह कहा गया है कि "अन्य दृष्टियों से" (जिनका स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं है) "यह महाराष्ट्री बोली के समान है" (शेषम् महाराष्ट्रीवत्)।[76] इस तथा कुछ अन्य उद्धरणों के आधार पर, जो नीचे मिलेंगे, ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन महाराष्ट्री, और प्रसिद्धि की दृष्टि से प्राकृत कही जानेवाली बोली, दोनों एक ही है।[77] लक्ष्मीधर कृत षड्भाषा चन्द्रिका नामक एक कृति में यह कहा गया है कि 'प्राकृत बोली का उद्भव महाराष्ट्र में हुआ है (प्राकृतम् महाराष्ट्रोद्भवम्).[78] यतः शौरसेनी को संस्कृत से गृहीत कहा गया है, अतः महाराष्ट्री अथवा प्रधान प्राकृत के सम्बन्ध में भी यही उक्ति सत्य होगी क्योंकि वररुचि की कृति का अधिकांश भाग इस बात को दिखाने से सम्बद्ध है कि इसका संस्कृत के परिवर्तनों से किस प्रकार निर्माण हुआ है। और वास्तव में, इस बोली विषयक वररुचि के नवें अध्याय के अन्त से इसी बात को १८ वें सूत्र में इस प्रकार कहा गया है : 'शेष को संस्कृत से (जानना चाहिये)' (शेष संस्कृतात्)।[79] इस पर टीकाकार यह टिप्पणी करता है : "शेष से उस सब का तात्पर्य है जिसका पहले उल्लेख नहीं किया गया है। प्रत्यय, समास, तद्धित, लिङ्ग आदि सम्बन्धी शेष नियमों को संस्कृत से सीखना चाहिये (उक्ताद् अन्य शेषः। प्रत्यय-समास-तद्धित-लिङ्ग वर्णकादि-विधि: शेष: संस्कृताद् अवगन्तव्यः)। यहाँ प्राकृत के संस्कृत से व्युत्पन्न होने का तात्पर्य है, और वास्तव में, जैसा कि पहले ही व्यक्त किया जा चुका है, प्राकृत शब्दों के निर्माण सम्बन्धी नियमों की समस्त शृङ्खला से भी यही परिणाम निकलता है, जो इस बात की व्याख्या के

---

[74] कोवेल, पृ० ८९, और लासन पृ० ८ ३९१।

[75] कोवेल पृ० ९३, और लासन, पृ० ८ तथा ४९ (परिशिष्ट के)।

[76] कोवेल, पृ० ९६, और लासन, पृ० ८ तथा ५० (परिशिष्ट के)।

[77] उस समय की महाराष्ट्री आज की मराठी जैसी ही नहीं थी ऐसा (मुझे कदाचित् ही कहना चाहिये) प्रथम की उस प्रकृति से व्यक्त हो जाता है जो उन नाटकों द्वारा स्पष्ट होती है जिनमें प्राकृतों का व्यवहार किया गया है।

[78] लासन, पृ० १२।

[79] कोवेल, पृ० ८५ और १७६।

अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कि संस्कृत रूप किस प्रकार प्राकृत में परिवर्तित होजाते हैं। हेमचन्द्र ने भी प्राकृत की यही व्युत्पत्ति माना है, जो इस प्रकार कहते है : प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र-भवं तत आगतं वा प्राकृतम्।[८०] "उसका उद्गम सस्कृत में है। प्राकृत वह है जो संस्कृत से उत्पन्न हुई या आई है।" वररुचि द्वारा विवेचित प्राकृतों के सम्बन्ध मे, हम, इस प्रकार देखते है कि इनमें से तीन अपने नाम भारत के तीन प्रान्तों, यथा महाराष्ट्र, मगध, और शौरसेन देश जो मथुरा के आस-पास का क्षेत्र है, से अपने नाम ग्रहण करती है। इसे, जैसा कि हम पहले ही ऊपर पृष्ट ४७ पर देख चुके है, लासन ने इस बात के लिये प्रवल प्रमाण माना है कि ये बोली जानेवाली भाषायें थीं।

जैसा कि इस प्रकार हमने देखा, प्राकृत व्याकरण पर प्राचीनतम आधिकारिक विद्वान, वररुचि, ने केवल चार प्रकार की प्राकृतों का उल्लेख किया है, यथा : महाराष्ट्री (अथवा प्रधान प्राकृत), शौरसेनी, मागधी, और पैशाची। यद्यपि बाद के वैयाकरणों ने अनेक अन्य बोलियों के प्रकार का उल्लेख किया है, तथापि मेरे प्रयोजन के लिये इनमें से किसी का भी विस्तृत विवरण देना आवश्यक नहीं है।

वररुचि ने महाराष्ट्री के लिये नौ अध्याय लगाये है जिनमे ४२४ सूत्र है, ३२ सूत्रों का एक अध्याय शौरसेनी की विशेषताओं पर है, १७ सूत्रों का एक अन्य अध्याय मागधी पर है, और १४ सूत्रों का एक तीसरा अध्याय पैशाची पर।

विवेचन की इस पद्धति मात्र से यह स्पष्ट है कि जिन विषयों पर ये चार बोलियाँ, और विशेषत. महाराष्ट्री तथा शौरसेनी, एक दूसरे से सहमत है, उनकी संख्या उससे कहीं अधिक है जिन पर इनका विभेद है। और इस निष्कर्ष की नाटकों मे विद्यमान अनेक बोलियों के नमूनों की तुलना से पुष्टि हो जाती है। फलत. प्रोफेसर लासन (इलिप्रा० पृ० ३७७) यह टिप्पणी करते है कि "प्रधान बोली और शौरसेनी, अनेक दृष्टियों से एक दूसरे के समान है।" वैयाकरणों द्वारा इन दो बोलियों में किया गया प्राविधिक विभेद यही है कि इनमे से एक (शौरसेनी) गद्य में प्रयुक्त भाषा है, जब कि महाराष्ट्री का पद्य मे प्रयोग किया गया है (लासन, पृ० ३८४)। यही लेखक मागधी के सम्बन्ध में यह टिप्पणी करते हैं कि प्रधान प्राकृत संस्कृत से जितनी पृथक है, मागधी उससे अधिक नहीं है (पृ० ३८७), और यह कि मागधी को शौरसेनी से उद्भूत मानने मे भारतीय वैयाकरण गलत है, क्योंकि मागधी भी उतने ही सीधे संस्कृत से उद्भूत है

[८०] कोवेल, पृ० xvii; लासन, पृ० २६।

जितनी शौरसेनी, और ये दोनों ही उद्भूत बोलियाँ अनेक दृष्टियों से एक दूसरे के समान हैं (पृ० ४३७)। इसी प्रकार लासन यह भी मानते हैं कि पैशाची (बर्बर पहाड़ी जातियों द्वारा व्यवहृत एक बोली) भी, यद्यपि अपनी एक विशिष्ट प्रक्रिया के अनुसार, सीधे संस्कृत से ही व्युत्पन्न है (पृ० ४४७)।

सामान्य रूप से इन प्राकृत बोलियों के सम्बन्ध में लासन यह टिप्पणी करते हैं (पृ० ३८६) . "विशिष्ट हिन्दुस्तान की संस्कृतजन्य भाषायें पहले एक दूसरे से उसकी अपेक्षा कम भिन्न थीं, जितनी आज हो गई हैं। ऐसा निष्कर्ष इस तथ्य के आधार पर निकलता है कि उस अपेक्षतया आरम्भिक समय में ये अपने समान स्रोत से बहुत पृथक नहीं हुई थी।"

लासन (इलिप्रा० पृ० १७) द्वारा उद्धृत चण्डीदेव कृत प्राकृतदीपिका नामक एक ग्रन्थ का निम्न स्थल भी यही दिखाता प्रतीत होता है कि प्राकृत व्यवहार की एक प्रचलित भाषा थी और, साथ ही साथ, इसका नाटकों में भी व्यवहार होता था एतद् अपि लोकानुसाराद् नाटकादौ महाकवि-प्रयोग-दर्शनात् प्राकृतम् महाराष्ट्रदेशीयम प्रकृष्ट-भाषणम् । तथा च दण्डी 'महाराष्ट्रा-श्रयम् भाषाम् प्रकृष्टम् प्राकृतं विदुर' इति। "यह महाराष्ट्र देश की प्राकृत अपनी लोकानुसारिता तथा महाकवियों द्वारा नाटकों और अन्य काव्यों में प्रयुक्त हुई होने के कारण भाषा का सर्वश्रेष्ठ रूप है। इसलिये दण्डी कहते हैं : 'महाराष्ट्र देशाश्रित प्राकृत को सर्वश्रेष्ठ माना गया है'।" अपने प्राकृत कल्पतरु में राम तर्क-वागीश ने इस प्रकार कहा है . "महाराष्ट्री भाषा अन्य सब की हेतुभूत है' (सर्वासु भाषास्व् इह हेतुभूताम् भाषाम् महाराष्ट्र-भवाम् पुरस्तात् । निरूपयिष्यामि यथोपदेश श्रीरामशर्माऽहम् इमाम् प्रयत्नात्)[८१] और इसका समर्थन करते हैं कि 'शौरसेनी इसी से व्युत्पन्न है' (विरच्यते सम्प्रत शौरसेनी पूर्वैव भाषा प्रकृतिः किलास्याः)[८२]। मागधी को इन्हीं दोनों से व्युत्पन्न कहा गया है : अथ इह मागध्य् अनुशिष्यते ··· अस्या. महा-राष्ट्रक-शौरसेन-भाषे प्रवीनैः प्रकृती निरुक्ते।[८३] इन भाषाओं तथा इनके साथ ही अर्धमागधी और दाक्षिणात्य को 'भाषायें' कहा गया है। तदनन्तर लेखक 'विभाषा' नामक एक द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत शकारी अथवा चण्डालिका, शाबरी, अभीरिका, द्राविडा, और उत्कली, नामक बोलियों को रखता और इनके सम्बन्ध में कहता है कि 'यद्यपि इनकी प्रकृति में अपभ्रंशता है, तथापि यदि इनका

---

[८१] लासन, पृ० २० मे उद्धृत प्राकृत कल्पतरु।

[८२] वही, द्वितीय शाखा, प्रथम स्तवक।

[८३] वही, द्वितीय स्तवक

नाटकों में प्रयोग हुआ हो तो इन्हें अपभ्रंश वर्ग के अन्तर्गत नहीं रखना चाहिये (शक्कारकोड्-द्राविडादिवाचोऽपभ्रंशता यद्यपि सश्रयन्ति। स्याद् नाटकादौ यदि सम्प्रयोगो नेतास्व् अपभ्रशतया तथैपः)।[८४] दूसरी ओर उन विभाषाओं के रूपों को, जिनका नाटकों में प्रयोग नही हुआ है, लेखक ने अपभ्रश बोलियों के अन्तर्गत माना है, और अपभ्रश नाम से उसने बॅगला, गुजराती इत्यादि[८५] जैसी प्रान्तीय भाषाओं का बोध किया है। इसी लेखक ने भाषाओं के एक तृतीय वर्ग को पैशाची कहा है।

काव्यविषयक एक ग्रन्थ, काव्यचन्द्रिका, में भाषा सम्बन्धी यह कथन है :

तद् एव वाङमयं विद्यात् संस्कृतम् प्राकृत तथा। अपभ्रंशश् च मिश्रश् च तस्य भेदाश् चतुर्विधाः। सस्कृतं देवता-वाणी कथिता मुनि-पुङ्गवेः। तद्भवं तत्समं देशीत्य् अनेकम् प्राकृतं विदुः।

"भाषा के सम्बन्ध में यह जान लेना चाहिये कि ये चार प्रकार की है, यथा सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्रित। मुनियों ने संस्कृत को देववाणी कहा है, और यह मानते है कि प्राकृत अनेक है, यथा तद्भव, तत्सम, और देशी।"[८६] इस स्थल पर टीकाकार ने यह टीका की है .

'तद्भव.' संस्कृत-भवः खड्गादि-शब्दः। 'तत्सम'' सस्कृत-प्राकृतयो समः हिण्डीर हण्डे इत्यादि-शब्दः। 'देशी' इति महाराष्ट्रीयादि। 'अपभ्रशस्' त्व् अभीरादि-वाक्यम्। 'मिश्रकम्' नाटकादिकम्।

"'तद्भव' शब्द का अर्थ संस्कृत से उद्भूत है, जैसे खड्ग आदि शब्द। 'तत्सम' का अर्थ है जो संस्कृत और प्राकृत के समान है, जैसे हिण्डीर-हण्डे आदि शब्द।[८७] 'देशी' का अर्थ महाराष्ट्री इत्यादि है। अपभ्रंश अभीरों आदि की बोली है। 'मिश्रित' बोली नाटकों आदि की है।"[८८] यहाँ पर यह संकेत कर दिया जाना चाहिये कि यद्यपि महाराष्ट्री को सामान्यतया प्रधान प्राकृत के रूप मे मान्यता दी गई है, तथापि इसे इस उद्धरण पर टीकाकार ने 'देशी' अथवा प्रान्तीय कहा है। दण्डी के काव्यादर्श का निम्न स्थल भी इसी विषय पर है :

तद् एव वाङ्मयम् भूय. संस्कृतम् प्राकृतं तथा। अपभ्रश च मिश्रं

---

[८४] वही, तृतीय स्तवक (लासन, पृ० २१)।

[८५] लासन पृ० २२।

[८६] लासन, पृ० २२, द्वारा उद्धृत काव्यचन्द्रिका।

[८७] देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम सस्कृत की गोगेए०, जनवरी २३,१८६१, पृ० १३२, पर प्रो० वेनफे की समालोचना।

[८८] उसी स्थान पर टीकाकार, वही।

कम से कम 'देशी' शब्द से, जैसा कि उनका तेलुगु लेखकों ने प्रयोग किया है, इस प्रकार का असन्दिग्ध आशय व्यक्त होता है।[९२]

विभिन्न प्राकृत बोलियों के वर्गीकरण, तथा नाटककारों द्वारा भिन्न-भिन्न वर्ग के लोगों को कौन सी बोली बोलवाना चाहिये इस विषय का वर्गीकरण भारतीय आलोचकों ने कितने कृत्रिम रूप से किया है उसका कुछ आभास प्रदान करने के लिये मैं साहित्यदर्पण से निम्न उद्धरण देता हूँ।—

पुरुषाणाम् अनीचानां संस्कृतं संस्कृतात्मनाम्। शौरसेनी-प्रयोक्तव्या तादृशीनां च योषिताम्। आसाम् एव तु गाथासु महाराष्ट्रीम् प्रयोजयेत्। अत्रोक्ता मागधी भाषा राजन्तःपुर-चारिणाम्। चेटानां राजपुत्राणां श्रेष्ठिनां चार्धमागधी। प्राच्या विदूषकादीनाम् धूर्तानां स्याद् अवन्तिका। योध-नागरिकादीनाम् दाक्षिणात्या हि दियताम्। शकराणां शकादीनां शाकारीं सम्प्रयोजयेत्। बाह्लीकभाषा दिव्यानाम् द्राविडी द्रविडादिषु। आभीरेषु तथाऽऽभीरी चाण्डाली पुक्कसादिषु। आभीरी शाबरी चापि काष्ठ-पत्रोपजीविषु। तथैवाङ्गारकारादौ पैशाची स्यात् पिशाचवाक्। चेटीनाम् अप्य् अनीचानाम् अपि स्यात् शौरसेनिका। बालानां षण्डकानां च नीचग्रहविचारिणाम्। उन्मत्तानाम् आतुराणां सैव स्यात् संस्कृत क्वचित्। ऐश्वर्येण प्रमत्तस्य दारिद्र्योपस्कृतस्य च। भिक्षु-बन्ध-धरादीनाम् प्राकृत सम्प्रयोजयेत्। संस्कृतं सम्प्रयोक्तव्य लिङ्गिनीपुत्तमासु च। देवीमन्त्रिसुता-वेश्यास्व् अपि कैश्चित् तथोदितम्। यद्देशं नीचपात्रं तु तद्देशं तस्य भाषितम्। कार्यतश् चोत्तमादीनां कार्यो भाषा-विपर्यय।

[९२] देखिये कैम्बेल का तेलुगु ग्रामर (३ रा संस्करण १८४९) पृ० ३७, जहा इस प्रकार कहा गया है—"तेलुगु भाषा के शब्दो को "संस्कृत वैयकरणो ने चार शीर्षको के अन्तर्गत वर्गीकृत किया है। प्रथम 'देश्युमू' अथवा जैसा इसे अधिक जोर देकर 'उत्मु देश्यमू' कहा गया है, जिसका अर्थ देश की विशुद्ध भाषा है, द्वितीय 'तुत्सुमुमू', जिसके अन्तर्गत तेलुगु प्रत्यय वाले संस्कृत शब्द आते हैं, तृतीय 'तद्भवुमू', जिसके अन्तर्गत अक्षरो के स्थानान्तरण, विलोप, अथवा सयोग से बने संस्कृत शब्दो के भ्रष्ट तेलुगु शब्द आते हैं; चतुर्थ 'ग्राम्युमू' अर्थात् प्रान्तीय अथवा लोक भाषा के शब्द। इन शीर्षको मे हम एक 'उन्यु देश्युमू' भी जोड सकते हैं जिसके अन्तर्गत अन्य देशो के शब्द आते है। इसे कभी कभी उक्त प्रथम वर्ग का एक उपवर्ग कहा गया है, जिसके अन्तर्गत, प्राचीन लेखको की परिभाषा के अनुसार कन्नड, मराठी, गुजराती, और द्राविड़ प्रान्तो की बोलियो से गृहीत शब्द आते हैं, परन्तु अब फारसी, हिन्दुस्तानी, तथा अंग्रेजी उत्पत्तिवाले शब्द भी इसी के अन्तर्गत वर्गीकृत किये जाते है।"

योषित्-सखी-बाल-वेश्या-कितवाप्सरसम् तथा। वैदग्ध्यार्थम् प्रदातव्यं संस्कृत चान्तरान्तरा।

"उच्च श्रेणी के पढ़े-लिखे पुरुषों की भाषा संस्कृत हुआ करती है। उच्च श्रेणी की पढ़ी लिखी स्त्रियाँ शौरसेनी का प्रयोग करती दिखाई जाया करती है। कुलीन स्त्रियों के गीत की भाषा महाराष्ट्री है। राजा के अन्त.पुर में रहनेवाले वामन, कुब्ज आदि लोगों की भाषा मागधी हुआ करती है। चेट, राजपुत्र और श्रेष्ठिजन की भाषा अर्धमागधी है। विदूषक आदि प्राच्या (गौडी या बंगला, टीकाकार के अनुसार) भाषा का व्यवहार किया करते हैं। धूर्तों की भाषा आवन्ती है। द्यूतसेवी सैनिकों और नागरिकों की भाषा दाक्षिणात्या (टीकाकार के अनुसार वैदर्भी) है। शबर और शक-यवन आदि लोगों की भाषा शावरी है। उदीच्य के लोगों की भाषा वाह्लीक और द्राविडों की भाषा द्राविडी है। आभीरों की भाषा आभीरी और चाण्डालों की भाषा चण्डाली हुआ करती है। लकड़ी का काम करनेवालों की भाषा आभीरी अथवा शावरी दोनों में से कोई भी हो सकती है। लोहार आदि की भाषा पैशाची हुआ करती है। उत्तम और मध्यम श्रेणी के चेटिओं की भाषा शौरसेनी है। साथ ही साथ बालकों, नपुंसकों, छोटे ज्योतिषिओं, उन्मत्तों और आतुर लोगों की भाषा शौरसेनी ही हुआ करती है। कहीं कहीं इन्हें संस्कृत बोलते हुये भी प्रदर्शित किया जाया करता है। धनोन्मत्त अथवा दरिद्र, और साथ ही साथ, भिक्षुक अथवा परिव्राजक की भाषा प्राकृत रक्खी जाया करती है। उत्तम जाति की ब्रह्मचारिणिओं अथवा परिव्राजिकाओं की भाषा संस्कृत हुआ करती है। कुछ नाट्याचार्य रानी, सचिवपुत्री और वेश्या के लिये भी संस्कृत का प्रयोग उचित मानते है। जहाँ तहाँ कार्यवश भाषापरिवर्तन भी किया जा सकता है। साथ ही साथ, स्त्री, सखी, बालक, वेश्या, द्यूतकार और अप्सरा के लिये बीच-बीच में संस्कृत भाषा में भी बोलना उचित माना गया है क्योंकि इससे उनकी विदग्धता का प्रकाशन किया जाया करता है।"[१३]

यहाँ दिये गये नियम सर्वथा कृत्रिम है, क्योंकि यह मानना नितान्त अनुचित होगा कि एक ही स्थान पर निवास करनेवाले विभिन्न वर्ग के लोग, जैसा कि अधिकांश नाटक-पात्र होते है, अलग अलग बोलियों का प्रयोग करेंगे, और वह भी दूसरे तथा सम्भवत. दूरस्थ प्रान्तों की।

प्राकृत बोलियों के सम्बन्ध में अपने ग्रन्थ के आरम्भिक भाग (पृ० २२,

---

[१३] देखिये साहित्यदर्पण (विब० ३० संख्या ५३, पृ० १७२–१७३)। देखिये लासन: इलिप्रा० पृ० ३५-३६ भी।

२५-२९) में प्रोफेसर लासन ने जो कुछ कहा है उसके सारांश को देकर मैं इस खण्ड को समाप्त करूँगा।

"प्राकृत' शब्द 'प्रकृति' से बना है और इसका अर्थ 'व्युत्पन्न' है, और अनेक प्राकृत बोलियों को प्रत्यक्ष या माध्यमिकरूप में संस्कृत से व्युत्पन्न माना गया है। किसी भी मूल भाषा को, जिससे कोई अन्य भाषा उत्पन्न होती है, 'प्रकृति' अथवा स्रोत कहते हैं। हेमचन्द्र इस प्रकार कहते हैं—'प्रकृत् की उत्पत्ति संस्कृत से हुई है, जो संस्कृत से निकली या उत्पन्न हुई है उसे प्राकृत कहते हैं।'[९४] अन्य आशय में 'संस्कृत' और 'प्रकृत्' शब्दों का तात्पर्य परस्पर विरोधी है, क्योंकि जहाँ प्रथम शब्द पढ़े-लिखे सभ्य व्यक्ति का द्योतक है, वहाँ द्वितीय ऐसों का जो असभ्य है। अत. प्रकृत् शब्द भी बोली के प्रान्तीय और अशिष्ट रूपों के लिये व्यवहृत होता है।

"वैयाकरण महाराष्ट्री को प्रकृत शब्द के विशुद्ध आशय में प्राकृत का प्रमुख प्रकार मानने पर सहमत हैं। शौरसेनी और मागधी, महाराष्ट्री के सर्वाधिक निकट हैं और इन दोनों की अभिधा प्रान्तों के नामों से गृहीत है। महाराष्ट्री, शौरसेनी और मगाधी, इन तीन प्रान्तीय अभिधानों द्वारा, ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय वैयाकरण इन तीन अलग-अलग प्रान्तों में व्यवहृत भाषा के स्थानीय प्रकारों, तथा इन्हीं अलग-अलग नामों से पुकारी जानेवाली नाटकीय बोलियों के तात्पर्य का बोध करते हैं। वररुचि ने केवल हीन बोली, पैशाची, का उल्लेख और इसे मनुष्यों के निम्नतम वर्ग द्वारा व्यवहृत भाषा के रूप में ग्रहण किया है। इनका उन पिशाचों की बोली से विभेद स्पष्ट कर देना चाहिये जो, जब मञ्च पर प्रस्तुत किये जाते हैं, व्याकरण रहित सर्वथा दुर्बोध भाषा बोलते हैं। इस शब्द को लाक्षणिक आशय में उस अनादर की भावना का द्योतक मानना चाहिये जिसमें निम्नतम वर्ग को देखा जाता था। इस बोली के एक प्रकार के रूप में हेमचन्द्र ने चूलिका-पैशाची का उल्लेख किया है जो प्रथम प्रकार से भी निम्न प्रकार की द्योतक है। वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि वैयाकरणों ने दो प्रकार की पैशाची बोलियों का विभेद किया है।[९५] इन दोनों का प्रयोग बर्बर जातियाँ करती थीं, जिनमें से एक उत्तर भारत की प्रतीत होती है दूसरी दक्षिण की। राम तर्कवागीश ने दो प्रकार की पैशाची का उल्लेख, और इस शब्द को विभिन्न वाक्सम्प्रदायों से गृहीत भाषाओं के एक असंस्कृत मिश्रण के द्योतक के रूप में ग्रहण किया है।

---

[९४] हेमचन्द्र, ८ १, लासन, पृ० २६।

[९५] देखिये ऊपर पृष्ठ ६४ पर उद्धृत स्थल।

"वैयाकरण अपभ्रंश शब्द का उन बोलियों के लिए व्यवहार करते है जो मूल संस्कृत से सर्वाधिक दूर और सर्वाधिक भ्रष्ट है। हेमचन्द्र ने इनके दो प्रकारों का उल्लेख किया है, जिनमें से एक का मुख्य प्राकृत के साथ अधिकांश साम्य है, और दूसरे का शौरसेनी के साथ। अपेक्षाकृत लेखकों ने इस बोली के बोलनेवालों के अन्तर्गत पश्चिमी सागरतट के निवासियों, मुख्यतः आभीरों को रक्खा है। इन प्रचीन लेखकों के मत से पृथक् होते हुए राम तर्कवागीश ने अपभ्रंश के स्रोत के रूप में स्थानीय और प्रान्तीय बोलियों का उल्लेख किया है। यही लेखक (जब ये 'नागादिक्रमात्' अर्थात् 'नागों की भाँति बोलने वालों की भाँति' शब्द का व्यवहार (३.१) करते हैं) उसी प्रकार प्रान्तीय बोलियों को पुराकथात्मक नाम देते हैं जिस प्रकार प्रचीन लेखक पिशाचों के रूप में कुछ बर्बर जातियों का उल्लेख करते है। यह अभिधा काव्यशास्त्र के लेखकों से उत्पन्न प्रतीत होती है जो संस्कृत को देववाणी मानते है। अतः मनुष्यों के लिये प्राकृत बच रहती है, जब कि वे लोग, जिन्हें ब्राह्मण कदाचित ही मनुष्य कहे जाने के योग्य समझते हैं, जैसे चंडाल, आभीर, आदि, केवल नागों या पिशाचों की ही भाषा बोलने के अधिकारी है।

नाटकों में व्यवहृत प्राकृत बोलियों के सम्बन्ध मे वैयाकरण ठीक ही कहते हैं कि ये संस्कृत से उद्‌भूत हैं, क्योंकि अत्यन्त अल्प अपवादों के अतिरिक्त शब्दों के व्याकरणिक रूप तथा प्राकृतों का सम्पूर्ण ढाँचा और उनके वाक्यविन्यास की प्रकृति संस्कृत से ही गृहीत है। फिर भी, जब अपेक्षाकृत हाल के वैयाकरण कन्नड तथा अन्य दक्षिण भारतीय बोलियों के सम्बन्ध में यह मत व्यक्त करते हैं तो यह गलत है क्योंकि, यद्यपि कुछ नियमों के अनुसार इन भाषाओं मे संस्कृत से निर्मित कुछ शब्द मिलते हैं, तथापि इनके व्याकरणिक रूप तथा प्राथमिक शब्द किसी भी प्रकार उस स्रोत से ग्रहीत हुये नहीं हो सकते।

अब आगे मैं यह दिखाऊँगा (जब मै विशेषत. दक्षिण भारतीय भाषाओं पर आऊँगा) कि दक्षिण के भारतीय वैयाकरण तेलुगु के लिये, और इसमें सन्देह नही कि तमिल, कन्नड, और मलयालम के लिये भी, संस्कृत से एक सर्वथा स्वतन्त्र उत्पत्ति का समर्थन करते है।[९६]

---

[९६] देखिये डा० काल्डवेल का कम्परेटिव ग्रामर ऑफ दि द्राविडियन लैंग्वेजेज, पृ० ३०, ३१; कैम्बेल के तेलुगु ग्रामर, (तृतीय सस्करण, मदरास, १८४९) की प्रस्तावना, पृ० xv और बाद, और इसी ग्रन्थ मे कैम्बेल की प्रस्तावना पृ० ११–१२ पर श्री इलिस की टिप्पणी।

खण्ड ५—पालि, तथा उसका संस्कृत और प्राकृत के साथ सम्बन्ध

ऊपर दिये गये आधुनिक देशभाषाओं के साथ प्राकृत की तुलना के तालिका-बद्ध विवरण ने यह भली प्रकार दिखा गया होगा कि देशभाषायें प्राकृत या किसी उसी से सम्बद्ध स्रोत से उद्भूत हैं, और यह भी, कि ये दोनों अपने इतिहास के किसी न किसी समय, एक सीधे और दूसरी माध्यमिक रूप से, अधिकांशत: संस्कृत से ही उत्पन्न हैं। फिर भी, यद्यपि यह पर्याप्त अंशों तक स्पष्ट हो जाना चाहिये कि देशी वैयकरण और संस्कृत और प्राकृतों की तुलना दोनों के द्वारा यह सिद्ध होता है कि यह बाद वाली भाषायें प्रथम से उत्पन्न हैं, तथापि बाद की प्राकृतें बोली के ऐसे रूप का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं जो संस्कृत के ही सर्वाधिक निकट हो, और हम एक ऐसी बोली का भी संकेत करने की स्थिति में हैं जो संस्कृत से जितनी प्राकृत है उससे कहीं अधिक निकट है। मेरा तात्पर्य पालि या बौद्धों की पवित्र भाषा से है जो आज भारत में लुप्त हो गई है किन्तु जिसमें बर्मा और लङ्का में विद्यमान बौद्ध धर्म के अनेक धर्मग्रन्थ लिखे गये हैं।[२७]

फिर भी, अपनी मातृभूमि से लुप्त हो जाने का यद्यपि इसी एक मात्र भाषा का दुर्भाग्य है जो विदेशों में ते पवित्र भाषा बन गई, तथापि उत्तर भारत की प्राचीन देशभाषाओं में से एक होने मात्र से अधिक कुछ नहीं। मागधी इसका वह नाम है जो स्वयं लंका के बौद्धों ने इसे प्रदान किया है। जैसा कि श्री टर्नर हमें सूचित करते हैं, यह वास्तव में सत्य है कि "बौद्ध लोग अपने इस विश्वास से प्रभावित हैं कि उनकी पवित्र अभिजात भाषा, मागधी अथवा पालि, संस्कृत से अधिक प्राचीन है, और यह भी कि इसने अपनी प्रतिद्वन्द्वी भाषा की अपेक्षा परिष्कार का एक उच्चतम स्तर प्राप्त कर लिया है। अपने इस विश्वास की पुष्टि में वे विभिन्न तर्क प्रस्तुत करते हैं जो उनकी दृष्टि में सर्वथा निर्णायक हैं। उनका कथन है कि स्वयं 'पालि' शब्द ही मौलिक, मूल भाषा और नियमितता का द्योतक है। लंका में कदाचित कोई भी पालि का बौद्ध विद्वान ऐसा नहीं

---

[२७] यदि कोई ब्राह्मणवादी पाठक इन पंक्तियों के पढ़ने की इच्छा करता है तो मेरी समझ में पालि भाषा का बौद्ध धर्म के साथ सम्बद्ध होने से उसकी दृष्टि में यह भाषा उसकी रुचि से वंचित नहीं होगी और कदाचित वह न्यायमाला-विस्तर (१ ३ ४) के लेखक के साथ, इसके यद्यपि विशुद्ध संस्कृत मूल से उद्भूत होने पर भी बौद्ध नास्तिकों के सम्पर्क के कारण कुत्ते के चर्म में गाय के दूध की भाँति अपवित्र (नहि पूत स्याद् गोक्षीरम् श्व-हतौ धृतम्) नहीं कहेगा।

होगा जो एक विजय की भावना के साथ अपने इस प्रिय श्लोक को उद्धृत न करता होगा : सा मागधी मूल-भासा नरा यायऽआदिकप्पिका ब्रह्मानो।चऽ-अस्सुतालापा सम्बुद्धा चापि भासरे। "एक ऐसी भाषा है जो सबकी मूल है, सृष्टि के आरम्भ में, मनुष्य और ब्राह्मण, जिन्होंने कभी भी किसी मानव आलाप का श्रवण या उच्चारण नहीं किया था, और यहाँ तक कि सम्बुद्ध भी उसे बोलते थे : वह मागधी थी।"[९८] यह श्लोक[९९] कच्चायन के व्याकरण से उद्धृत है जो लंका के पालि साहित्य में प्राचीनतम संदर्भ है। मूल व्याकरण इस द्वीप मे विद्यमान नहीं है।"[१००] फिर भी, श्री टर्नर "इस विषय (अर्थात् संस्कृत की तुलना से पालि की प्राथमिकता) पर बौद्धों के विपरीत मत रखते है। ऐतिहासिक और दार्शनिक दोनों ही प्रकार के योरोपीय विद्वानों द्वारा किये गये अब तक के अनुसन्धान निर्विवाद रूप से" उनका विचार है कि, "संस्कृत को अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन मानने के विषय पर एक मत है। यहाँ तक कि", आप आगे कहते हैं, "इस द्वीप मे ज्योतिष, चिकित्सा, और (जैसे भी

---

[९८] महावसो, प्रस्तावना, पृ० xxii, देखिये पृ० xxvii भी। श्री चिल्डर्स ने इस प्रकार अनुवाद किया है "मागधी ही वह मूल भाषा है जिसे पूर्वकल्पो के मनुष्य तथा ब्राह्मण, जिन्होने बोली को कभी नही सुना, और जिसे सम्बुद्ध भी, बोलते हैं।" आपका विचार है कि 'ब्राह्मण' लोग ऊपरी ब्रह्मलोक के निवासी हैं। सस्कृत की अपेक्षा पालि के श्रेष्ठ होने का विचार, कच्चायन के व्याकरण की रचना के परिणाम का वर्णन करनेवाली उसकी रूपसिद्धि नामक टीका से उद्धृत निम्न स्थल मे भी देखा जा सकता है : "एवं सति नाना देस-भासा-सक्कतादि-खलित-वचनम् अनाकारं जेत्वा तथागतेन वुत्ताय सुभाव निरुत्तिया सुखेन बुद्ध-वचनम् उग्गण्हिस्सन्ति।" अर्थात् : "इसकी रचना से मनुष्य, सस्कृत तथा अन्य बोलियो के मिश्रण से उत्पन्न बोली की अस्तव्यस्ता और अशुद्धियो का निराकरण करके, तथागत द्वारा प्रतिपादित व्याकरण के नियमो के अनुसरण द्वारा सरलतापूर्वक बुद्धत्व प्राप्त कर सकते है।" महावसो, प्रस्तावना, पृ०xxvi, xxviii।

[९९] प्रयोगसिद्धि नामक व्याकरण मे सुरक्षित। टर्नर, पृ० xxvii। श्री चिल्डर्स ने मुझे बताया है कि यह श्लोक कच्चायन मे नही आता।

[१००] यह व्याकरण अब विद्वानो के लिये उपलब्ध है और इसके कुछ अंशों का श्री डी' अल्विस तथा डा० कुन ने प्रकाशन कराया है। श्री चिल्डर्स का कथन है कि यह प्रत्येक देशी विद्वान के हाथ मे है और श्री टर्नर के समय मे भी ऐसा ही रहा होगा।

खण्ड ५—पालि, तथा उसका संस्कृत और प्राकृत के साथ सम्बन्ध

ऊपर दिये गये आधुनिक देशभाषाओं के साथ प्राकृत की तुलना के तालिका-बद्ध विवरण ने यह भली प्रकार दिखा गया होगा कि देशभाषायें प्राकृत या किसी उसी से सम्बद्ध स्रोत से उद्भूत है, और यह भी, कि ये दोनों अपने इतिहास के किसी न किसी समय, एक सीधे और दूसरी माध्यमिक रूप से, अधिकांशत: संस्कृत से ही उत्पन्न है। फिर भी, यद्यपि यह पर्याप्त अंशों तक स्पष्ट हो जाना चाहिये कि देशी वैयकरण और संस्कृत और प्राकृतों की तुलना दोनों के द्वारा यह सिद्ध होता है कि यह बाद वाली भाषायें प्रथम से उत्पन्न है, तथापि बाद की प्राकृत बोली के ऐसे रूप का प्रतिनिधित्व नहीं करती जो संस्कृत के ही सर्वाधिक निकट हो, और हम एक ऐसी बोली का भी संकेत करने की स्थिति में है जो संस्कृत से जितनी प्राकृत है उससे कहीं अधिक निकट है। मेरा तात्पर्य पालि या बौद्धों की पवित्र भाषा से है जो आज भारत में लुप्त हो गई है किन्तु जिसमें बर्मा और लङ्का में विद्यमान बौद्ध धर्म के अनेक धर्मग्रन्थ लिखे गये है।[१७]

फिर भी, अपनी मातृभूमि से लुप्त हो जाने का यद्यपि इसी एक मात्र भाषा का दुर्भाग्य है जो विदेशों में ते पवित्र भाषा बन गई, तथापि उत्तर भारत की प्राचीन देशभाषाओं में से एक होने मात्र से अधिक कुछ नहीं। मागधी इसका वह नाम है जो स्वयं लंका के बौद्धों ने इसे प्रदान किया है। जैसा कि श्री टर्नर हमें सूचित करते है, यह वास्तव में सत्य है कि "बौद्ध लोग अपने इस विश्वास से प्रभावित है कि उनकी पवित्र अभिजात भाषा, मागधी अथवा पालि, संस्कृत से अधिक प्राचीन है, और यह भी कि इसने अपनी प्रतिद्वन्द्वी भाषा की अपेक्षा परिष्कार का एक उच्चतम स्तर प्राप्त कर लिया है। अपने इस विश्वास की पुष्टि में वे विभिन्न तर्क प्रस्तुत करते है जो उनकी दृष्टि में सर्वथा निर्णायक हैं। उनका कथन है कि स्वयं 'पालि' शब्द ही मौलिक, मूल भाषा और नियमितता का द्योतक है। लंका में कदाचित कोई भी पालि का बौद्ध विद्वान ऐसा नहीं

---

[१७] यदि कोई ब्राह्मणवादी पाठक इन पक्तियो के पढने की इच्छा करता है तो मेरी समझ मे पालि भाषा का बौद्ध धर्म के साथ सम्बद्ध होने से उसकी दृष्टि मे यह भाषा उसकी रुचि से वंचित नही होगी और कदाचित्त वह न्यायमाला-विस्तर (१ ३ ४) के लेखक के साथ, इसके यद्यपि विशुद्ध संस्कृत मूल से उद्भूत होने पर भी बौद्ध नास्तिको के सम्पर्क के कारण कुत्ते के चर्म मे गाय के दूध की भाँति अपवित्र (नहि पूत स्याद् गोक्षीरम् श्व-हतौ धृतम्) नही कहेगा।

होगा जो एक विजय की भावना के साथ अपने इस प्रिय श्लोक को उद्धृत न करता होगा : सा मागधी मूल-भासा नरा याय्ऽआदिकप्पिका ब्रह्मानो।चऽ-अस्सुतालापा सम्बुद्धा चापि भासरे। "एक ऐसी भाषा है जो सबकी मूल है, सृष्टि के आरम्भ में, मनुष्य और ब्राह्मण, जिन्होंने कभी भी किसी मानव आलाप का श्रवण या उच्चारण नही किया था, और यहाँ तक कि सम्बुद्ध भी उसे बोलते थे : वह मागधी थी।"[९८] यह श्लोक[९९] कच्चायन के व्याकरण से उद्धृत है जो लका के पालि साहित्य में प्राचीनतम संदर्भ है। मूल व्याकरण इस द्वीप मे विद्यमान नहीं है।"[१००] फिर भी, श्री टर्नर "इस विषय (अर्थात् संस्कृत की तुलना से पालि की प्राथमिकता) पर बौद्धों के विपरीत मत रखते है। ऐतिहासिक और दार्शनिक दोनों ही प्रकार के योरोपीय विद्वानों द्वारा किये गये अब तक के अनुसन्धान निर्विवाद रूप से" उनका विचार है कि, "संस्कृत को अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन मानने के विषय पर एक मत है। यहाँ तक कि", आप आगे कहते है, "इस द्वीप मे ज्योतिष, चिकित्सा, और (जैसे भी

---

[९८] महावसो, प्रस्तावना, पृ० xxii, देखिये पृ० xxvii भी। श्री चिल्डर्स ने इस प्रकार अनुवाद किया है "मागधी ही वह मूल भाषा है जिसे पूर्वकल्पो के मनुष्य तथा ब्राह्मण, जिन्होने बोली को कभी नही सुना, और जिसे सम्बुद्ध भी, बोलते हैं।" आपका विचार है कि 'ब्राह्मण' लोग ऊपरी ब्रह्मलोक के निवासी हैं। सस्कृत की अपेक्षा पालि के श्रेष्ठ होने का विचार, कच्चायन के व्याकरण की रचना के परिणाम का वर्णन करनेवाली उसकी रूपसिद्धि नामक टीका से उद्धृत निम्न स्थल मे भी देखा जा सकता है : "एव सति नाना देस-भासा-सक्कतादि-खलित-वचनम् अनाकार जेत्वा तथागतेन वुत्ताय सुभाव निरुत्तिया सुखेन बुद्ध-वचनम् उग्गण्हिस्सन्ति।" अर्थात् "इसकी रचना से मनुष्य, सस्कृत तथा अन्य बोलियो के मिश्रण से उत्पन्न बोली की अस्तव्यस्तता और अशुद्धियो का निराकरण करके, तथागत द्वारा प्रतिपादित व्याकरण के नियमो के अनुसरण द्वारा सरलतापूर्वक बुद्धत्व प्राप्त कर सकते है।" महावसो, प्रस्तावना, पृ०xxvi, xxviii।

[९९] प्रयोगसिद्धि नामक व्याकरण मे सुरक्षित। टर्नर, पृ० xxvii। श्री चिल्डर्स ने मुझे बताया है कि यह श्लोक कच्चायन मे नही आता।

[१००] यह व्याकरण अब विद्वानो के लिये उपलब्ध है और इसके कुछ अशों का श्री डी' अल्विस तथा डा० कुन ने प्रकाशन कराया है। श्री चिल्डर्स का कथन है कि यह प्रत्येक देशी विद्वान के हाथ मे है और श्री टर्नर के समय मे भी ऐसा ही रहा होगा।

है) रसायन तथा गणित विषयक समस्त ग्रन्थ एकमात्र संस्कृत में ही लिखे हैं—जब कि बौद्धधर्म विषयक ग्रन्थ, गौतम बुद्ध के आविर्भाव के बाद के इतिहास और कुछ भाषाशास्त्रीय ग्रन्थ मात्र पालि भाषा में रचित हैं।" (महावंसो, प्रस्तावना, पृ० XXII, XXIII)। इसमें सन्देह नहीं कि श्री टर्नर ठीक, और लंका के धर्मगुरु जो भाषावैज्ञानिक नहीं हैं, गलत हैं। अपने विकास के आरम्भिक स्तर पर पालि में भी संस्कृत से उद्भूत हुये होने के उतने ही स्पष्ट चिह्न वर्तमान हैं जितने किसी भी अन्य उत्तर भारतीय भाषा में हैं। फिर भी, इसका प्रमाण प्रस्तुत करने के पूर्व मुझे इस बात का भी कुछ विवरण देना चाहिये कि लंका में पालि का प्रवेश किस प्रकार हुआ।

एक धर्म सुधारक के रूप में बुद्ध का उत्तर भारत में आविर्भाव ईसा पूर्व छठवीं शताब्दी के आरम्भिक चरण में हुआ प्रतीत होता है। ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने अपने अभीष्टों का प्रयास ५८८ ई० पू० में आरम्भ किया और ५०३ ई० पू० में उनका महानिर्वाण हुआ। (टर्नर . महावंसो, की प्रस्तावना, पृ० XXIX)।[१०१] ब्राह्मणों के स्पष्ट विपरीत बुद्ध और उनके अनुयायियों ने अपने नवीन सिद्धान्तों को एक लोकप्रिय ढंग से समाज के सभी वर्गों में प्रचारित करना आरम्भ किया, और इस उद्देश्य के लिये, जहाँ आवश्यक हुआ, उन्होंने अपने देश और काल की प्रचलित देशभाषाओं का व्यवहार किया,

---

[१०१] उत्तर के बौद्धों द्वारा मान्य बुद्ध के महानिर्वाण की तिथि की अपेक्षा सिंहली तिथि, ५४३ अथवा ५४४ ई० पू० को ग्रहण करने का कारण लासन ने इआ० भाग २, पृ० ५१-६१ में प्रस्तुत किया है। विशेष रूप से देखिये पृ० ६०, ६१। श्री टर्नर के अनुसार (प्रस्तावना, पृ० XXVIII) बौद्ध आंकड़ों का ऐतिहासिक महत्त्व इस प्रकार निश्चित है—"हम जिस युग में आज रह रहे हैं वह गौतम का बुद्धोत्पाद (एक बुद्ध के प्रकट होने तथा उस युग के बीच का समय जब उनका धर्म लुप्त हो जाता है) है। उनके धर्म की ५००० वर्ष अवधि निश्चित है, जिसमें से उनके महानिर्वाण के बाद अब तक (१८३७ ई० तक) २,३८० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, और २,६२० वर्ष अभी बीतने को हैं।...इस शुभ कथा द्वारा उस रहस्यवाद के लिये एक सीमा का निर्धारण कर दिया गया है जिसमें गौतम के आविर्भाव के पूर्व के अपने साहित्य में निहित अपने समस्त ऐतिहासिक प्रदत्तों को बौद्ध धर्म ने लिप्त कर दिया है। 'बौद्ध प्रदत्तों का रहस्यवादीयकरण ई० पू० ५८८ में, जब गौतम बुद्ध के रूप में राजकुमार सिद्धार्थ ने बुद्धत्व प्राप्त किया उसके कम से कम एक शताब्दी पूर्व ही, समाप्त हो गया।"

यद्यपि, साथ ही साथ, उन्होंने अपने धर्मग्रन्थों की रचना के लिये संस्कृत तथा मागधी, दोनों का प्रयोग किया हो सकता है (लासन : इआ० २, ४९२ और बाद ११४७ और बाद, बर्नफ. लोटस डे ल बौने लोइ, पृ० ८६२)।[102] बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों और धर्मादेशों का प्रतिपादन करनेवाले धर्मग्रन्थों के संग्रह तथा उनकी विषय-व्यवस्था के लिये बुद्ध के महानिर्वाण के ३०० वर्षों के भीतर ही विभिन्न समयों पर तीन बौद्ध संगीतियों का आयोजन किया गया। इन संगीतियों का उद्देश्य धर्म की त्रुटियों, और भ्रष्टताओं का परिमार्जन तथा विदेशों मे इस नवीन धर्म का प्रचार करना था। बुद्ध के अनुगामियों का कथन है कि बुद्ध के वचन "पालि में मौखिक रूप से उच्चरित किये गये थे और बाद में चार शताब्दियों, अर्थात् बौद्ध प्रेरणा के युग की समाप्ति तक मौखिक रूप से ही संचरित होते रहे।" ये वचन तीन पितकत्तय (संस्कृत में पिटकत्रय) अथवा तीन पिटकों में निहित हैं, जो अब बौद्धों के धर्मग्रन्थ हैं और विनय, अभिधर्म तथा सूत्रपिटकों मे विभाजित हैं। बुद्ध के महानिर्वाण के पश्चात् एक धर्म-संघ का निर्माण हो गया और प्रथम बौद्ध संगीति का आयोजन ५४३ ई० पू० में हुआ जिसमें इस पालि सग्रह की प्रामाणिकता का स्थापन तथा इन पर अट्टत्था नामक टीकाओं का प्रकाशन किया गया। ४४३ ई० पू० में आयोजित द्वितीय संगीति में पितकत्तय की प्रामाणिकता की पुनः स्थापना की गई और इस समय प्रस्तुत की गई अट्टकथा ने प्रथम संगीति के बाद से इस समय तक के इतिहास को पूर्ण कर दिया। ३०९ ई० पू० में सम्राट अशोक, जो बौद्ध धर्म के प्रबल प्रवर्तक थे, के शासन काल में तृतीय संगीति का आयोजन हुआ (टर्नर पृ० XXIX)। फलस्वरूप अनेक धर्मप्रचारक अभियान किये गये।[103] सम्राट अशोक के ही पुत्र, महेन्द्र, लङ्का मे धर्मप्रचार तथा उस द्वीप के निवासियों का धर्मपरिवर्तन करने के लिये भेजे गये।

जैसा कि लासन ने विवरण प्रस्तुत किया है (इआ० २. पृ० २४७-२५३), देशीय स्रोतों से उनके अभियान से सम्बद्ध निम्न विवरण प्राप्त होते हैं.—महेन्द्र लङ्का में २४५ ई० पू० में पहुँचे। वहाँ के राजा ने उनका हार्दिक

---

[102] एक विषय पर बेनफ ने भिन्न मत व्यक्त किया है। आप का कथन है कि (इण्डियेन, पृ० १९४) नेपाल के सस्कृत मे रचित बौद्ध ग्रन्थ, "जैसा कि हम यहाँ देखेगें, ऐसे प्रतीत होते हैं कि वे बौद्ध स्रोतो से अनूदित उन ग्रन्थो के अनुवाद हैं जिनकी मूलतः पालि मे रचना हुई थी।"

[103] देखिये लासनः इआ०, २. पृ० ७९, ८६, २२९ और बाद, और २३४ २४०।

स्वागत किया, और तदनन्तर उन्होंने उपदेशों द्वारा यहाँ के निवासियों को बौद्ध-धर्म में परिवर्तित करना आरम्भ किया। स्वयं राजा ने भी इस नवीन धर्म को अंगीकार किया। उत्तर भारत से बुद्ध के पवित्र अवशेष इस द्वीप में लाये गये। जिस वृक्ष के नीचे बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त किया था उस वृक्ष की कलम भी बिहार से लाकर यहाँ लगाई गई। बौद्धों के विश्वास के अनुसार यह वृक्ष आज भी पुष्पित-पल्लवित होता हुआ विद्यमान है। इन वस्तुओं के आवागमन के समय अनेक आश्चर्यजनक घटनायें घटित हुईं। बौद्ध धर्म में लोगों को परिवर्तित किया जाना चलता रहा तथा अनेक पुरुषों और स्त्रियों को बौद्ध धर्म के गुरुओं के रूप में दीक्षित किया गया। इस प्रकार यहाँ प्रविष्ट होकर बौद्ध धर्म आज तक लङ्का का धर्म बना हुआ है, और दक्षिणी बौद्ध धर्म के इस प्रधान केन्द्र को, जहाँ से यह धर्म बर्मा और गङ्गापारीय भारत के देशों में गया, इन देशों द्वारा आज भी एक पवित्र स्थान माना जाता है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, लङ्का में विस्तृत बौद्ध साहित्य वर्तमान है जो ब्राह्मण धर्म की महत्त्वपूर्ण रिक्तता की पूर्ति करता है। जैसा कि कहा जा चुका है, यह साहित्य पालि में है। फिर भी, आरम्भ से ऐसा कहा गया है कि बौद्धों के पवित्र उपदेश आदि मौखिक परम्परा द्वारा ही संचारित होते रहे। श्री टर्नर (पृ० xxix) देशीय अधिकारियों के आधार पर इस विषय पर निम्न वक्तव्य देते हैं • पितकत्तय तथा तृतीय संगीति के समय तक पूर्ण अट्ठकथा का महेन्द्र ने लङ्का में मौखिक रूप से प्रकाशन किया था। उन्होंने पितकत्तय को पालि में और अट्ठकथा को सिंहली में, तथा इनके साथ ही साथ, एक अपनी अट्ठकथा का भी उपदेश किया। ऐसा कहा गया है कि इन कृतियों का प्रतिपादन उनके भक्त अनुयायियों ने, प्रेरणा के अन्तिम समय तक, जो लङ्का में १०४ से ७३ ई० पू० तक रहा, मौखिक रूप से किया। तदनन्तर इन्हें लिपिबद्ध किया गया मूलग्रन्थ (पितकत्तय) को पालि में (जिस भाषा में ही यह अब तक मौखिक रूप से संचरित होता रहा) और इसकी टीकाओं को सिंहली में। महवंसो, अध्याय ३३, पृ० २९७ में इस घटना की इस प्रकार प्रख्याति है : पिटक-त्तय-पालिं च तस्सा अट्ठकथं च तम्। मुखपाठेन आनेसु पुब्बे भिक्खू महामति हानिं दिस्वान सत्तानं तदाभिक्खू समागता। चिरट्ठितत्थम् धम्मस्स पोत्थकेसु लिखापयुं। "पूर्वकाल के महामति भिक्षुओं ने मुख-पाठ द्वारा ही तीनों पिटकों तथा उनकी अट्ठकथाओं को संचरित किया। परन्तु उस समय लोगों की हानि न हो इस बात को ध्यान में रखकर भिक्षुगण एकत्र हुए और धर्म की दीर्घ-कालीन स्थिरता के लिये उन्हें ग्रन्थों के रूप में लिखवा दिया।' लगभग ५०० वर्ष के बाद, ४१० और ४३२ ई० के बीच बुद्धघोष ने, जैसा कि महावंसो के

३७ वें अध्याय में उल्लेख है, सिहली अट्ठकथा को पालि मे बदल दिया। बौद्ध धर्म ग्रन्थों तथा उनकी टीकाओं के ये पालि पाठ ही अब लंका मे विद्यमान है, और श्यामी तथा बर्मी पाठों से इनका सर्वथा तादात्म्य है।

धर्म ग्रन्थों, अर्थात् स्वयं पालि मे मूल ग्रन्थों, उनकी सिंहली में टीकाओं इत्यादि के मौखिक संचरण तथा बाद मे लिखित ग्रन्थों के रूप मे रचना-सम्बन्धी बौद्ध परम्पराओं का यही स्वरूप है। फिर भी, यह उल्लेखनीय है। उक्त वृत्तान्त के उस अंश को, जो इन ग्रन्थों के मौखिक संचरण का उल्लेख करता है, श्री टर्नर ने स्पष्ट रूप से अस्वीकृत करते हुये इस प्रकार कहा है (पृ० lvii) "यद्यपि बौद्धों का, इसमें सन्देह नहीं, यह विश्वास है कि लिखे जाने के पूर्व ये ग्रन्थ ४५३ वर्षों तक मौखिक पाठ द्वारा संचरित होते रहे, केवल अन्धविश्वासात्मक वंचना पर आधारित है, जो सम्भवतः पुरोहितों द्वारा अपने अतिरिक्त धर्मग्रन्थों को दूसरों की पहुँच से बाहर रखने की प्रवृति से उत्पन्न हुआ हो सकता है, तथापि पालि धर्मग्रन्थों के आरम्भ, उनकी मान्यता, तथा संशोधन-संवर्धन सम्बन्धी इस प्रकार प्राप्त इतिहास की प्रमाणिकता पर सन्देह करने के लिये कोई तर्कसंगत आधार नहीं है।"

लंका में पालि के प्रवेश के सम्बन्ध मे विभिन्न मत मिलते है। अपने इण्डिप्रा० में प्रोफेसर लासन (पृ० ६० ६१) ने इस प्रकार टिप्पणी की है :—

"यह स्पष्ट है कि पालि दक्षिणी बौद्धों की पवित्र भाषा है, अर्थात् उन लोगों की जो कलिङ्ग के तटों से अधिकांशतः दूर दक्षिण की ओर हटते हुये अपने साथ सर्वप्रथम बौद्ध सिद्धान्तों को लंका लाये, और अन्ततोगत्वा उनका गंगा के क्षेत्र से बाहर भारत में प्रचार किया।" और पुनः :—

"एक ओर जहाँ पालि, बौद्धमत के दक्षिण देशान्तर गमन के साथ सम्बद्ध है, वहीं इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह स्वयं भारत में उत्पन्न हुई थी। यह किसी भी प्रकार स्पष्ट नही कि बौद्ध लोग, जब वे दक्षिण की ओर यात्रा कर रहे थे, आरम्भ से ही पालि भाषा का प्रयोग कर रहे थे या नहीं। परन्तु, वास्तव में, यतः लंका की ओर इस देशान्तर गमन के आरम्भ को ई० पू० ६२८–५४३ के पूर्व कदाचित ही रक्खा जा सकता है, अतः, बौद्ध सिद्धान्तों के संचार के माध्यम के रूप में पालि भाषा का व्यवहार इस समय के पूर्व कदाचित ही आरम्भ हुआ होगा। इस समय के कितने बाद इसके व्यवहार का आरम्भ हुआ हो सकता है इसका अनुसन्धान मै उन लोगों पर छोडता हूँ जो इस मत के इतिहास का निर्धारण कर रहे है।"

फिर भी, अपनी बाद की कृति, इण्डियन ऐन्टिक्विटीज़' (भाग २, पृ०

४८८–४९०) में लासन इस विषय पर निम्न सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं (मैं इसका थोड़े संक्षिप्तीकरण के साथ अनुवाद दे रहा हूँ) :—

"लंका के बौद्ध, पालि भाषा को मागधी कहते है, अत. इसका जन्मस्थान मगध होना चाहिये। फिर भी, स्थिति ऐसी नहीं हो सकती, क्योंकि, अधिकांश नाटकीय बोलियों की ही भाँति, इसमें मागधी की विशेषतायें नहीं है। बौद्धों की यह घोषणा भी गलत है कि पालि संस्कृत का मूल है और इसे संस्कृत तथा अन्य प्रान्तीय बोलियों के अन्तर्मिश्रण से मुक्त करके कात्यायन ने इसके मूल स्वरूप को पुन. प्रतिष्ठित किया। अत' हमें इसके जन्मस्थान को मगध के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं ढूँढ़ना होगा। हमें यह मानना पड़ेगा कि कभी यह एक बोली जानेवाली देशभाषा अवश्य रही होगी, क्योंकि, अन्यथा यह जान पाना असम्भव होगा कि धर्मग्रन्थों की भाषा के रूप मे इसे क्यों चुना गया। इसके अतिरिक्त, इसकी प्रकृति में ऐसा कुछ भी नहीं जो इस मान्यता के विरुद्ध हो कि यह एक समय बोली जानेवाली भाषा थी। यदि पश्चिमी अभिलेखों की भाषा से इसकी तुलना करें, तो हम सामान्य रूप से यह देखेंगे कि दोनों ही समान रूप से संस्कृत से दूर हैं, क्योंकि यदि एक मे कुछ ऐसे रूप मिलते हैं जो अपेक्षतया प्राचीन है, तो पुनः, दूसरे मे भी अन्य रूप ऐसे है जो और भी प्राचीन हैं।[१०८] अन्य भिन्नताओं के अतिरिक्त, पश्चिमी अभिलेखों मे 'त्वा' को 'त्ता' में परिवर्तित कर देने का एक विशेष ध्वन्यात्मक नियम मिलता है (जैसा कि 'दसयित्वा' [संस्कृत 'दर्शयित्वा'] को 'दसयित्ता' में बदल दिया गया है), जो पालि, तथा साथ ही साथ, अन्य नाटकीय बोलियों में अज्ञात है। ये अन्तर पालि और पश्चिमी अभिलेखों की भाषा के बीच किसी समीकरण को असम्भव बना देते है। साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि बौद्धमत का प्रमुख केन्द्र पश्चिमीतट नहीं था जहाँ उक्त अभिलेखों की भाषा देशभाषा थी।"

---

[१०८] इस प्रकार अभिलेखों की भाषा 'त' और 'थ' के पहले 'स' को सुरक्षित रखती है, जैसे कि 'अस्ति' मे, 'सस्थे' मे, और 'उस्थान' मे। साथ ही 'सर्व्व' मे 'र' को भी सुरक्षित रखती है जिसके स्थान पर पालि मे 'त्थ', 'ट्ठ', और 'व्व्' है। अभिलेखो में संस्कृत सम्प्रदान भी सुरक्षित है जिसके लिये पालि मे सम्बन्ध कारक का व्यवहार होता है, यद्यपि वैयाकरण सम्प्रदान के अस्तित्व को भी स्वीकार करते हैं। पालि 'स्मा' तथा 'म्हा' मे अपादान, और 'स्मिन्' तथा 'म्हि' मे अधिकरण भी मिलते हैं यद्यपि वाक्यविन्यास मे इनका प्रयोग दुर्लभ रूप से ही हुआ है। दूसरी ओर, अभिलेखो मे अधिकरण का रूप 'म्हि' है, जब कि अपादान मे 'अ' का 'आ' हो जाता है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि इस कारक की सार्वनामिक च्युति अभी संज्ञा मे स्थानान्तरित नहीं हुई है।

इस प्रकार, लासन के अनुसार, पालि का न तो पूर्वी हिन्दुस्तान की भाषा, मागधी, के साथ समीकरण स्थापित किया जा सकता है, और न अभिलेखों द्वारा ज्ञात पश्चिमी भारत की बोलियों के ही साथ।

प्रोफेसर लासन का कथन है कि "पालि के जन्मस्थान का संकेत करनेवाली अन्य किसी परिस्थिति की अनुपस्थिति में मै इस विषय पर निम्न अनुमान का प्रस्ताव करता हूँ। मैं यह मान लेता हूँ कि कात्यायन ने उस देश की ही बोली को चुना जहाँ वे बौद्धमत का प्रचार-कार्य कर रहे थे, अर्थात् मलव की बोली को। नाटकों में व्यवहृत प्राकृतों में से शौरसेनी ऐसी है जिसका सर्वाधिक प्रयोग हुआ है, और यही गद्यांशों में प्रयुक्त प्रकार है। वररुचि इसे सीधे संस्कृत से तथा इससे ही अन्य नाटकीय बोलियों को व्युत्पन्न मानते है। अतः उन्होंने इसे ही सर्वाधिक प्राचीन माना होगा, यद्यपि वह (तथा उनके उत्तराधिकारी भी) महाराष्ट्री नामक बोली को ही प्रधान मानते है। ये दो बोलियाँ पालि के सर्वाधिक निकट हैं, यद्यपि पालि इनकी अपेक्षा निश्चित रूप से प्राचीन है। इसलिये, मैं यह अनुमान करता हूँ कि हम इसे ही वह प्राचीनतम रूप मान सकते है जो यमुना और विन्ध्यपर्वत के बीच के पश्चिमी भारत की, जिसके अन्तर्गत मलव भी आ जाता है, देशभाषा का सुरक्षित रूप है। फलस्वरूप शौरसेनी इस भाषा का एक बाद का स्वरूप प्रस्तुत करेगी। उज्जैन से कात्यायन के व्याकरण का ज्ञान, सम्भवतः दक्खन में प्रसृत हुआ, और सिंहलियों ने उस बोली का, जिसका इसमें विवेचन था, परिचय डमिलों, अर्थात् तमिलों, अथवा चोलों से प्राप्त किया। उस देश में बुद्धप्रिय उपनामधारी दीपंकर ने कात्यायन की कृति को एक नवीन रूप से व्यवस्थित किया, जो अब विद्यमान प्राचीनतम पालि व्याकरण है।[१०५] यतः

[१०५] श्री टर्नर कहते हैं (महावसो की प्रस्तावना, पृ० XXV) कि "रूपसिद्धि को ही कच्चायन के व्याकरण से सग्रहीत प्राचीनतम पाठ माना गया है। मैं तीन स्थलो को उद्धृत करता हूँ · इनमे से प्रथम उद्धरण (रूपसिद्धि के उपसहार से) इस ग्रन्थ को दक्षिण मे उस समय रचित हुये होने के आधार पर जब वहाँ बौद्धमत राजधर्म के रूप मे प्रतिष्ठित था, अत्यन्त प्राचीन सिद्ध करता है।" यह उद्धरण इस प्रकार है : "विख्यातानन्द-थेरव्हय-वरगुरूना तम्बपण्णि-द्धजान सिस्सो दीपन्कराख्यो दमिल-वसुमति दीपलद्ध-प्पकासो वाला-दिच्चादि-वास-द्द्वितयम् अधिवसन् सासनं जोतयी यो सोमम् बुद्ध-पिय्यव्हो यती इमम् उजुक रूपसिद्धिम् अकासि।" श्री टर्नर के पाठ की सहायता से मैं इसका इस प्रकार अनुवाद करता हूँ :—"विख्यात गुरु अनान्दो के" जो तम्बपण्णि

लंका में सूत्रबद्ध कृतियों का इस पवित्र भाषा में ईसा की पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ तक अनुवाद नहीं हुआ[१०८] अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इसका ज्ञान दक्षिण की ओर अत्यन्त मन्द गति से ही प्रसृत हुआ। उक्त व्याकरण इस अनुवाद की तुलना में अधिक प्राचीन प्रतीत होता है। भारत की भाषाओं के इतिहास के इस अंश के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत अधिक ठीक-ठीक निष्कर्ष सम्भवतः दक्षिणी बौद्धों की कृतियों के और अधिक पूर्ण अनुसन्धान से प्रगट होगा।"

लासन की ये टिप्पणियाँ, सम्भवतः, इस बात को अस्वीकृत करने के लिये कदाचित ही पर्याप्त आधार प्रस्तुत करती हैं कि लंका में पालि मगध से आई। अपने समय में विद्यमान मागधी की जिन विशिष्टताओं का वररुचि ने उल्लेख किया है, (जैसे 'ष' के स्थान पर 'श', 'ज' के स्थान पर 'य', 'च', 'छ' के स्थान पर 'स्क', 'र' के स्थान पर 'ल',) वे सब की सब कोई विशेष महत्व नहीं रखतीं, और सम्भवतः विद्वान व्यक्ति स्वयं मगध में ही इन्हें अपनी भाषा की अनिवार्य विशिष्टता की अपेक्षा भ्रष्ट प्रान्तीयता मात्र मानेंगे। यदि ऐसा है तो संस्कृत के ज्ञाता शिक्षित व्यक्ति, अपने लिये साहित्यिक भाषा का निर्माण करते समय स्वभावतः इस प्रकार के रूपों का परित्याग कर देंगे।

आरम्भिक बौद्ध आचार्यों की उत्तरभारत के सम्पूर्ण मध्य भाग में भ्रमण करने की आदत रही प्रतीत होती है, और इसलिये वे इस भाग के विभिन्न प्रान्तों की भाषाओं से अवश्य परिचित रहे होंगे। अतः जब इन्हीं विभिन्न प्रदेशों में प्रचारित करने के लिये इन लोगों ने ग्रन्थों की रचना आरम्भ की तो इन्होंने स्वभावतः इन सीमाओं में प्रचलित बोली के सर्वाधिक शुद्ध और सर्वमान्य प्रकार को ही चुना होगा। भारत में नाटकों की रचना की स्थिति सर्वथा भिन्न है जिनमें प्रत्येक प्रान्तीय प्राकृतों के सर्वाधिक स्पष्ट गुणों को सुरक्षित रखना होता है क्योंकि इस वर्ग की रचनायें अपने आकर्षण के काफी अंशों को स्थानीय विचित्रताओं के चित्रण अथवा कभी-कभी उनकी अत्युक्ति से ही ग्रहण करती हैं।

(कच्चा) के रंग के समान थे, एक दीपन्करो नामक शिष्य था। इस शिष्य ने, जिसने दक्षिण में प्रसिद्धि प्राप्त की थी और जो बालादिच्च इत्यादि नामक दो धर्मगृहों का अधिपति था, बुद्धधर्म की व्याख्या की। यही वह भक्त था जिसने बुद्धपिय उपाधि धारण की और इस पूर्ण रूपसिद्धि की रचना की।"

[१०९] लासन का यह वक्तव्य देशी अधिकारियों के श्री टर्नर द्वारा दिये गये इस विवरण से असहमत है कि पिटकत्तय पहले से ही पालि में थे और उसी में सुरक्षित होते रहे। ज०ए०सो०, १८३७, पृ० ५०३ और बाद भी देखिये।

लङ्का में पालि या मागधी के प्रवेश के समय के सम्बन्ध में भी मैं लासन के मत से सहमत होने में कठिनाई का अनुभव कर रहा हूँ। महेन्द्र तथा उनके अनुयायी, जिनकी संख्या निःसन्देह बहुत रही होगी, अपने साथ अपने मूल प्रदेश की भाषा भी अवश्य ले गये होंगे, और इतना ही नहीं, उस भाषा में लिखित अनेक ग्रन्थ भी वे लोग अपने साथ लाये हो सकते हैं, क्योंकि अपने धार्मिक ग्रन्थों को लिखित रूप प्रदान किये जाने के समय के सम्बन्ध में लङ्का के लेखकों के विवरण को (जिसे, जैसा कि हम ऊपर पृ० ७१ पर देख चुके हैं, श्री टर्नर भी अस्वीकृत करते है) अक्षरशः सत्य मान लेना सरल नहीं है। साथ ही, यह भी नहीं माना जा सकता कि बौद्ध-धर्म के विदेशी प्रचारकों के पास, जो आरम्भ में सिंहली से अवश्य अपरिचित रहे होंगे, उनके आगमन के समय उस नवीन धर्मसम्बन्धी अपनी भाषा में लिखित कोई विवरण न रहा होगा जिसका वे प्रचार कर रहे थे, अथवा यह भी कि ये विवरण उनके उत्तराधिकारियों के पास सुरक्षित रूप से प्रदत्त नहीं किये गये होंगे।

पालि में रचित एक शास्त्रीय बौद्ध धर्मग्रन्थ, दीघनिकाय, के एक परिच्छेद तथा उसी के समानान्तर एक नेपाली संस्कृत ग्रन्थ के स्थल के बीच तुलना करते हुए एम० युजीन बर्नफ ने उक्त प्रथम ग्रन्थ की भाषा के सम्बन्ध में निम्न मत व्यक्त किया है जिससे यह स्पष्ट होगा कि ये पालि भाषा के मगध की बोली से उत्पन्न बताने के मत का खण्डन नहीं करते :—

"यह सर्वथा सम्भव है कि ये दोनों ही भाषान्तर भारत में प्रायः समकालीन और वहाँ बौद्धमत के आरम्भिकतम समय में तथा उन घटनाओं के, जो इन्हें लङ्का ले गईं, पूर्व से ही प्रचलित रही हों। पालिभाषा मगध तथा अवध के अधिकांश लोगों और अपेक्षाकृत हीन जातियों मे प्रचलित रही होगी, जब कि ब्राह्मण लोग संस्कृत भाषा का व्यवहार करते रहे होंगे। फिर भी, हमारा यह मान लेना उचित नहीं होगा कि हमारे पास इस स्थल का उसके वास्तविक मागधी रूप का एक प्रामाणिक पालि पाठ उपलब्ध है, क्योंकि अशोक के भारतीय अभिलेखों तथा लङ्का की पालि की तुलना इन दोनों बोलियों के रूपों में कुछ विभिन्नतायें व्यक्त करती है। तथापि, जहां हम लङ्का में पालि के प्रचार द्वारा उत्पन्न कुछ कृत्रिम नियमितता की मात्रा को स्वीकार करते हैं, वहीं हमें यह भी मानना चाहिये कि इस स्थल का पालि रूप उस रूप के अत्यन्त निकट आता है जो इसका मागधी में रहा होगा।"—(लोटस डे ल बौने लोइ, परिशिष्ट, पृ० ८६२)।

प्रोफेसर वेबर (अपने इण्डिशे स्टूडियन, ३.१७६ और बाद, में लोटस

डे ल वौने लोइ के एक विस्तृत विमर्श में) इस स्थल पर इस प्रकार टिप्पणी करते हैं :—"यह अन्तिम व्याख्या (कि पालि का लङ्का में विकास हुआ) मुझे सन्तोषजनक नहीं प्रतीत होती, क्योंकि कुछ थोड़े से लोगों द्वारा किसी विदेश में ले जाई गई भाषा साधारणतया अपनी प्राचीन प्रकृति को अपरिवर्तित रूप में सुरक्षित रखती है। साथ ही यह भी अत्यन्त सन्देहास्पद है कि पालि का व्यवहार लङ्का में आरम्भ हुआ। इसके विपरीत सम्भावना तो इस मान्यता के पक्ष में ही प्रतीत होती है कि इस भाषा का व्याकरण उसी प्रदेश में निर्धारित हो गया था जो इसका गृह था।" वेबर आगे यह कहते हैं कि सिंहली परम्परा अपने व्याकरण की उत्पत्ति भारत में हुई मानती है। आप इस बात पर ही सन्देह प्रकट करते हैं कि ४२० ई० में बुद्धघोष के लङ्का आगमन के पूर्व यहाँ पालि का प्रयोग भी होता था। क्योंकि, यद्यपि ऐसा कहा जाता है कि सिंहली में सूत्रों का अनुवाद इससे साठ वर्ष पूर्व हो चुका था (जिससे यह सिद्ध होता प्रतीत होता है कि इस समस्त अवधि में पालि समझी जाती थी), तथापि आपका विचार है कि यदि बुद्धघोष के पूर्व भी इसका मनोयोग के साथ अध्ययन किया जाता था, तो अट्ठकथा नामक ग्रन्थ का अनुवाद इतने दिनों तक रुका रहना असम्भाव्य था। जो कुछ भी हो, आपका विचार है कि इस आचार्य के आगमन ने पालि के अध्ययन को एक नवीन स्फूर्ति प्रदान की, जैसा कि पचास वर्ष बाद ही इस भाषा में महावंसों की रचना से सिद्ध होता है। फिर भी, यह स्पष्ट है कि वेबर छठवीं शताब्दी ई० पू० की मगध की बोली के साथ पालि के अनिवार्य तादात्म्य को मानते हैं, जैसा कि वह अशोक के भारतीय अभिलेखों की भाषा की तुलना में पालि ग्रन्थों, अट्ठकथा और त्रिपिटक की भाषा की अपेक्षाकृत अधिक पुरातन प्रकृति की इस मान्यता के आधार पर व्याख्या करते हैं कि (जहाँ बुद्ध के महानिर्वाण तथा अभिलेखों के बीच की २०० वर्षों की अवधि में प्रचलित बोली में महान् परिवर्तन हुये वहाँ) बुद्ध के अनुयायियों ने यथासम्भव उसी बोली को जिसे स्वयं बुद्ध बोलते थे, उन समस्त उपदेशों की भाषा के रूप में जो स्वयं बुद्ध से उद्भूत हुये अथवा जिन्हें उनका माना गया, तथा उन वृत्तान्तों की भाषा के रूप में भी सुरक्षित रखने का नियम बना लिया होगा जिनके विषय-वस्तु बुद्ध से सम्बन्धित थे।

लङ्का में पालि के आरम्भिक समय में ही प्रविष्ट होने के सम्बन्ध में मैं दो अन्य अधिकारियों को उद्धृत करता हूँ। इनमें से प्रथम प्रोफेसर स्पीगल हैं जो कम्मवाक्य (इनके द्वारा संपादित तथा लैटिन में अनूदित एक लघु बौद्ध कृति) की अपनी भूमिका में इस प्रकार टिप्पणी करते हैं—"यह

मान लेना तर्कसंगत प्रतीत होता है कि बौद्धों ने लङ्का मे पालि का प्रवेश कराया और यहीं से यह भाषा गङ्गा की घाटी के पार के भारतीय भूभागों मे ले जाई गई। आरम्भिकतम समय से ही भारतीय उपमहाद्वीप तथा लङ्का के बीच व्यापक आदान-प्रदान होने लगा था और रामायण में इस द्वीप का उल्लेख सुविदित है। महावंसो मे छः ब्राह्मण राजाओं की गणना कराई गई है, जो, क्योंकि वे अशोक के समय के पूर्व ही हो चुके थे, नि:सन्देह किसी अन्य भाषा का प्रयोग करते रहे होंगे। स्थिति ऐसी ही थी, यह उन बहुसंख्यक शब्दों से सिद्ध हो जाता है जो पालि से नहीं वरन् संस्कृत से सिंहली में आये, और इनका यह प्रवेश उस पूर्ववर्ती संसर्ग का परिणाम रहा होगा जिसका अभी ऊपर उल्लेख किया गया है। इस प्रकार हम सिंहली मे 'कण्ण' नहीं वरन् 'कर्ण' (कान), तथा 'वेर' नहीं वरन् 'वैर' (शत्रुता) पाते हैं। साथ ही हम विसर्ग का, जो पालि में प्राय: लुप्त हो गया है, और ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, जैसे स्वरो का भी प्रयोग पाते हैं।" आगे स्पीगल इस प्रकार कहते हैं:—
"सिहली पुस्तकों से हमे यह पता चलता है कि बौद्ध लोग अपने साथ पालि भाषा लेकर लङ्का में, अशोक के समकालीन देवानम्पियतिस्स के समय मे आये जो २६०—२१९ ई० पू० मे शासन करता था। यह सम्भव है कि लङ्का में बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ अशोक के पुत्र महेन्द्र के अभियान के फल-स्वरूप ही पालि को मागधी कहा गया हो। वास्तव मे हम लोगों तक पहुँचे अभिलेखों की भाषा के साथ पालि की तुलना करने पर इस बात के लिये कि, बोली के ये दोनों ही रूप अत्यन्त घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है, कोई भी सन्देह नही रह जाता। परन्तु, अपेक्षतया दोनों ही संस्कृत से बहुत कम ही पृथक है, क्योंकि इनमे से किसी मे भी न तो प्रचलित अक्षरों का लोप हुआ है, और न, कुछ अपवादों के अतिरिक्त, महाप्राणित अक्षरों का 'ह्' से विपर्यय जैसा कि प्राकृत में मिलता है।"

दूसरे अधिकारी, जिनको मैं उद्धृत कर रहा हूँ, वह है प्रोफेसर बेनफे। आप भारत पर अपने लेख मे (अर्श और गूबर की जर्मन एनसाइक्लोपीडिया, पृ० १९४ मे) इस प्रकार लिखते हैं —

"भारतबाह्य जिस स्थान पर एक राष्ट्रीय धर्म के रूप में भारत सम्राट अशोक के विशेष तत्त्वाविधान में बौद्धमत की स्थापना (ईसा के २४० वर्ष पूर्व) हुई वह है लङ्का। अत. यह मानना होगा कि उस समय बौद्धमत विषयक जो बातें महत्त्व रखती थीं उन सब को उनके उसी समय के वर्तमान रूप में लङ्का में लाया गया होगा। साथ ही, लङ्का तथा भारतीय साम्राज्य की राजधानी, अर्थात् बंगाल की खाड़ी पर स्थित क्षेत्रों (स्वयं बंगाल तथा निकट-

वर्ती प्रान्तों) के बीच इतना घनिष्ट सम्बन्ध था कि बौद्धधर्म के विकास में लङ्कावासियों का कम से कम एक निष्क्रिय सहयोग अवश्य रहा होगा। अतः इनकी पुस्तकें आधिकारिकता की दृष्टि से मुझे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है। यह भी द्रष्टव्य है कि ये पुस्तकें पालि में रचित हैं, जो लङ्का में बौद्धों की, तथा लङ्कावासियों द्वारा बौद्धधर्म में परिवर्तित देशों की पवित्र भाषा है, और जो मध्य भारत की भी प्रमुख प्रचलित बोली थी।"

मैं इसी समान एक अन्य स्थल को उसी ग्रन्थ के पृष्ट २५० से उद्धृत करता हूँ। यद्यपि यहाँ, अन्त में, लेखक ने पालि के मगध प्रान्त से उद्भूत हुये होने तथा बंगाल की खड़ी के तटवर्ती प्रान्तों से बौद्धधर्म के लङ्का में आने का संदेहपूर्वक उल्लेख किया है, तथापि यह नहीं समझना चाहिये कि वह पालि अथवा बौद्धधर्म के सामान्य रूप से उत्तर-भारत के साथ सम्बन्ध पर कोई अनिश्चितता का आक्षेप करते है।

आप पालि को "लङ्का तथा गङ्गोत्तर भारत में उपलब्ध बौद्ध ग्रन्थों की पवित्र भाषा मानते हैं· ·· जो आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के संकेतों के आधार पर मध्य भारत की देशभाषा रही सिद्ध होती है। यह उक्त देशों में बौद्धधर्म के साथ ही प्रसृत हो गई जहाँ इसने शीघ्र ही बौद्धों की दृष्टि में वैसी ही पवित्रता अर्जित कर ली जैसी कि ब्राह्मणों के लिये संस्कृत आज भी है। यह "भाषा", आप आगे करते है, "(यद्यपि इस सम्बन्ध में अभी निश्चित प्रमाण नहीं प्रस्तुत किया जा सकता) भारत की अत्यधिक प्राचीनतम देशभाषाओं में से एक है और बौद्धधर्म के आविर्भाव के समय इसका पहले से ही प्रयोग प्रचलित था। यह सम्भवतः बंगाल के अधिकाश, मेरा तात्पर्य पश्चिमी से है, भाग की बोली थी। लङ्का के विवरणों के अनुसार यही वह स्थान, वङ्ग अथवा कलिङ्ग, था जहाँ से आकर बौद्धधर्म ने लङ्का में प्रवेश किया—फिर भी यह अनुमान इस तथ्य के कारण अनिश्चित हो जाता है कि मगध की भाषा, जो बगाल की खाडी के थोडा उत्तर में बोली जाती थी, और जिसका (कटक में अशोक के अभिलेख के इसी में लिखित प्रतीत होने के कारण) दक्षिण में विस्तार रहा प्रतीत होता है, अनेक दृष्टियों से पालि से अनिवार्यतः भिन्न है।" पुनः, पृ० २४६ में बेनफे यह कहते हैं कि "पालि अनेक दृष्टियों से मगध की भाषा से भिन्न तथा प्रमुख प्राकृत या महाराष्ट्री बोली के निकट है।"

परन्तु इसका बहुत महत्त्व नहीं है कि हम पालि को किस प्रान्त-विशेष में चाहे मगध में अथवा और पश्चिम के किसी देश में, उद्भूत मानते है—

क्योंकि किसी भी दशा में सम्भवतः कुछ परिमार्जनों के साथ, यह तथ्य असन्दिग्ध रहता है कि—यह उत्तर भारत की प्राचीनतम प्राकृत वोलियों में से ही एक का प्रतिनिधित्व करती है।

जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, वौद्ध लेखक यह कहते हैं कि पालि भाषा संस्कृत से उद्भूत नहीं है। इसके विपरीत उनके अनुसार, पालि ही वह पूर्वग भाषा है जिससे अन्य सव उत्पन्न हुई हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ये वौद्ध वैयाकरण इस भाषा के प्रति पक्षपात की भावना से प्रभावित थे जिसे उन्होंने अथवा उनके पूर्वगामियों ने अपने धार्मिक साहित्य की निधि के रूप में ग्रहण किया था। साथ ही, इनमें संस्कृत के प्रति विरोधी भावना भी थी क्योंकि वह इनके प्रतिद्वन्द्वियों, ब्राह्मणों, द्वारा पूज्य भाषा थी। समस्या का निर्धारण किये विना ही, श्री क्लाउ (पालि ग्रामर, विज्ञापन, पृ० ३) तक का कथन है कि "यह विषय वहुत दिनों से विवादास्पद है कि पालि तथा संस्कृत में से कौन-सी भाषा अधिक प्राचीन है।" इस सम्वन्ध में श्री क्लाउ इस टिप्पणी से ही सन्तुष्ट हैं कि "यह निश्चित है कि बुद्ध द्वारा स्थापित शक्तिशाली धर्म के भारतीय उपमहाद्वीप के वाहर वहिष्कृत होने के पूर्व बुद्ध के निवास-क्षेत्र, मगध, की प्रचलित वोली पालि ही थी, और यह घटना ईसवी सन् के पूर्व ही घट चुकी थी।"

कच्चायन के व्याकरण (कोलम्वो में सन् १८६३ में प्रकाशित) की अपनी प्रस्तावना में इस विषय के एक विस्कृत विवेचन के पश्चात् श्री जेम्स ड' अल्विस (पृ० CXXXII) निम्न निष्कर्ष पर पहुँचते है:—

"अत, जव हम उस उच्च परिष्कार पर ध्यान देते हैं जिसे एक भाषा के रूप में पालि ने अत्यन्त आरम्भिक समय में प्राप्त कर लिया था, तथा इसकी अत्यधिक प्राचीनता के साथ-साथ इसकी प्रचुरता, इसका लालित्य और सुस्वरत्व, शाब्दिक और व्याकरणिक दोनों दृष्टियों से इसकी अपेक्षाकृत अधिक सरलता, ब्राह्मणों की उस प्राचीतम भाषा के साथ इसका सम्वन्ध जिससे उनकी वर्तमान वोली का संस्कृत रूप वना है, इसका उस भाषा के रूप में माने जाने का अधिकार जिसका ऋग्वेद मे व्यवहारिक-वाक् के रूप में उल्लेख है, ऐसी मूल प्राकृत वोली के साथ इसका एक मात्र तादात्म्य जो 'संस्कृत के समान' थी, प्राचीन ब्राह्मण लेखकों द्वारा दिये गये किसी ऐसे वक्तव्य का अभाव जिसमें यह कहा गया हो कि उक्त प्राकृत वोली संस्कृत से उद्भूत थी, किसी उद्भूत भाषा को ही [प्रकृति] प्राकृत नाम दिये जाने की अत्यधिक असम्भाव्यता, उस परिभाषा का स्पष्ट अनौचित्य जिसके अनुसार इसे आधु

इसी प्रकार प्राकृत भी, संस्कृत से उत्पन्न हैं, उस दृष्टिकोण की तुलना में प्राथमिकता की अधिकारिणी है, जो ड 'अल्विस की यत्र-तत्र इसके विपरीत मान्यता है : अर्थात् यह कि आज हम लोगों को प्राप्त सर्वाधिक

किसी भी वस्तु की प्राकृतिक अथवा चरमशान्ति की स्थिति हो, जो 'कृत्रिम' न हो। अत यह स्पष्ट है 'प्राकृत' शब्द का शुद्ध तथा प्रमुख आशय—और जो वास्तव मे इसे 'सामान्य रूप से मान्य' विचार के विपरीत भी मूलत: प्रदान किया गया था—'मौलिक', 'मूल', या 'प्राकृतिक' था। इस प्रकार प्राकृत से पहले, अपभ्रश अथवा 'अव्याकरणिक' और सस्कृत ['सम्' अर्थात साथ-साथ या सब कुछ, और कृत' अर्थात 'किया हुआ' = सबको मिला-जुला कर बना या निर्मित हुआ. का द्योतक है] अर्थात् 'जो कलात्मक रूप से निर्मित, अलकृत और अत्यधिक परिष्कृत भाषा', के विपरीत मौलिक और नियमित रूप से निष्पन्न भारतीय भाषा का अर्थ था।" प्राकृत शब्द के अर्थ-सम्बन्धी इस दृष्टिकोण के विरोधी विचार के लिये देखिये ऊपर पृ० ६० पर दी गई इस शब्द की हेमचन्द्र की व्याख्या, और पृ० ६८ पर उद्धृत लासन का विवेचन। प्रो० वेबर के इलि० की जजओसो० (१८५३, पृ० ६०५) मे समालोचना करते हुये प्रो० रॉथ इस समस्या पर इस प्रकार मत व्यक्त करते हैं : "प्राकृत (व्युत्पत्ति के अनुसार, जो मुझे उपयुक्त प्रतीत होता है) उसका द्योतक है जिसका आधार किसी अन्य वस्तु मे हो, अर्थात 'उद्भूत', अथवा उसका द्योतक जिसे 'निष्पन्न करना हो'। इस शब्द का निर्माण वैयाकरण ने किया है और इसका आशय भी व्याकरणिक है। वैयाकरण कहते है:—'सहिता पद–प्राकृति:' सहिताओ के आधार शब्द हैं, अर्थात् मत्रो को लिखने तथा बोलने के उस रूप का, जिसमे किसी वाक्य मे एक के बाद दूसरे आने वाले शब्दो के अन्त और आरम्भ को सस्कृत के ध्वन्यात्मक नियमो के अनुकूल रक्खा जाता है, आधार अपने मूल रूप मे गृहीत अलग-अलग शब्द होते हैं। इस प्रकार, पदपाठ की तुलना मे सहिता-पाठ को प्राकृता कहते हैं, अर्थात एक शास्त्रीय उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह एक निष्पन्न रूप होता है। बोलियो के लिये व्यवहृत होने पर भी मैं 'प्राकृत' शब्द को इसी आशय मे ग्रहण करूँगा।" बॉटलिङ्क और रॉथ के सस्कृत कोश मे सामान्य रूप से प्रयुक्त होने पर 'प्राकृत' शब्द को 'सामान्य', या 'प्रचलित' का आशय प्रदान किया गया है, जब कि इस नाम से पुकारी जानेवाली बोली के लिये यह कहा गया है —"'सामान्य' बोली उसे कहते हैं जिसे वैयाकरण सस्कृत से निष्पन्न करते हैं और जिसे सर्वसाधारण बोलते हैं।"

प्राचीन प्राकृत भाषा के रूप में पालि, संस्कृत की तुलना में मौलिकता तथा स्वतन्त्रता की दृष्टि से अपेक्षाकृत उच्चतर स्थान रखती है। क्योंकि यह स्पष्ट है कि अपने ध्वन्यात्मक और रूपान्तरण पद्धति, दोनों ही दृष्टियों से संस्कृत, पालि और अपनी समान माता के, पालि की तुलना में, कहीं अधिक निकट है,[१०८] जिसके फलस्वरूप संस्कृत अपनी उस मूल स्रोतभाषा की प्रतिनिधि होने का कहीं अधिक श्रेष्ठ अधिकार रखती है। इस समस्या से सम्बद्ध एक जटिल स्थिति, जो अनेक प्रकार की त्रुटियों को उत्पन्न करती है, यह है कि दुर्भाग्यवश हमारे पास भाषा के उस स्तर के लिये, अर्थात् वैदिक अशिष्ट बोली के लिये कोई उपयुक्त नाम नहीं है जो परस्पर बहनों के समान दोनों बोलियों, पालि (और प्राकृत) तथा संस्कृत, का आधार थी, क्योंकि 'भाषा' और 'व्यावहारिकी' नामों मे पर्याप्त सार्थकता नहीं है, और फलस्वरूप हम यह नहीं कह सकते कि उक्त आधारभूत बोली का क्या नाम रक्खा जाय। ईसा पूर्व छठवीं शताब्दी मे एक देशभाषा के रूप में संस्कृत के मृत हो जाने के विषय पर बेनफे की उनके लेख, इण्डियन, (जिसे दुर्भाग्यवश, अभी तक फिर से नहीं लिखा गया है) की उत्कृष्ट टिप्पणी (पृ० २४५) भी इसी प्रतिकूल परिस्थिति के अन्तर्गत किया गया प्रयास है कि वे संस्कृत नाम को उस काल की भाषा के लिये व्यवहृत करते हैं जिसके लिये इसे किसी भी प्रकार व्यवहृत नहीं किया जा सकता।"

पालि के संस्कृत के साथ सम्बन्ध के विषय पर बर्नफ और लासन के दृष्टिकोण उनके 'एसे सुर ले पालि' (पृ० १२८ और बाद) में इस प्रकार व्यक्त है :

"पालि संस्कृत से कुछ ऐसे नियमों, अधिकाशत सुस्वरात्मक, के आधार पर ही निष्पन्न हुई है जो व्युत्पन्न भाषा को मूल भाषा में प्रचलित कुछ ध्वनियों तथा कुछ व्यञ्जनों के सयोगों को ग्रहण करने की स्वीकृत नहीं देते। अधिकांश शब्दों तथा उनके प्रत्ययों और रूपान्तरों की दशा में भी समान रूप मे ऐसे ही परिमार्जन हो जाते है। इसके परिणामस्वरूप पालि में कोई भी ऐसा व्याकरणिक रूप नहीं मिलता जिसका स्रोत सस्कृत मे न ढूँढा जा सके। साथ ही, पालि ने जो सस्कृत मे परिवर्तन उत्पन्न किये है उनकी व्याख्या के

---

[१०८] फिर भी यह हमारे लिये ऐसा आधार नहीं प्रदान करता कि हम इस बात को अस्वीकार करें कि पालि मे वास्तव मे सस्कृत की अपेक्षा प्राचीन रूप सुरक्षित हैं। [प्रो० वेबर की टिप्पणी]।

लिये भी किसी विदेशी प्रयोग के प्रभाव की कल्पना के लिये कोई स्थान नहीं है ।

"संस्कृत से उद्भूत एक भाषा के रूप में जब पालि की इसी प्रकार उत्पन्न अन्य बोलियों के साथ तुलना की जाती है तो यह विदित होता है कि यह इन अन्य समस्त बोलियों की अपेक्षा उस समान मूल स्रोत के अधिक निकट है । यह कहा जा सकता है कि यह संस्कृत से पृथक्त्व की सीढ़ी के प्रथम सोपान पर स्थित, और उस उर्वर तथा समृद्ध भाषा से पृथक हुई अन्य बोलियों की शृङ्खला में प्रथम है । परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि पालि, जिसमें स्वयं भी पहले से ही अत्यधिक विकसित परिवर्तन के बीज निहित थे, अपनी प्रगति में सहसा एक ही बार अवरुद्ध होकर उसी स्वरूप में स्थित रह गई जिसमें आज हम उसे पाते है : अर्थात् जिस भाषा से यह उद्भूत हुई उसके साथ निकटतम सम्बन्ध की दशा में । वास्तव में ऐसे अधिकाश शब्द, जो एक के आधार है, बिना परिवर्तन के ही दूसरे मे भी मिलते हैं । जो परिवर्तित भी हो गये हैं उनकी सस्कृत धातु को ढूँढ़ा जा सकता है । संक्षेप मे पालि में एक भी विदेशी स्रोतवाले शब्द नहीं मिलते ।"

पुनश्च :—

'हम यहाँ उस प्रक्रिया के विस्तार में नहीं जायेंगे जिसके अनुसार पालि सस्कृत से व्युत्पन्न हुई । इस भाषा के निर्माण का निर्देश करनेवाले नियम वही हैं जो विभिन्न देश और काल में अन्य बोलियों के निर्माण में भी सक्रिय देखे जा सकते है । ये नियम सामान्य हैं, क्योंकि ये अनिवार्य हैं । चाहे हम स्वयं लैटिन के साथ लैटिन से व्युत्पन्न भाषाओं की तुलना करे अथवा प्राचीन ट्युटनिक भाषाओं के साथ बाद की ट्युनिक बोलियों की, या आधुनिक ग्रीक का प्राचीन ग्रीक से अथवा भारत की अनेक प्रचलित बोलियों की संस्कृति से, हम समान सिद्धान्तों को विकसित, तथा सामान नियमों को ही व्यवहृत देखेंगे । मूलभाषा के प्रकृति-प्रत्ययों की रूपरचना अंशत. विद्यमान तो दिखाई पडती है, परन्तु एक स्पष्ट परिवर्तन की अवस्था में । अधिक सामान्यतः तो ये सर्वथा लुप्त, और कारक प्रत्यय निपातों द्वारा तथा काल सहायक क्रियाओं द्वारा स्थानान्तरित ही मिलते है । प्रक्रियाये विभिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न हो सकती है, परन्तु सिद्धान्त प्रायः समान होते है । इनका स्वरूप विश्लेषणात्मक होता है, जिसका कारण चाहे यह हो कि एक सश्लिष्ट भाषा जब किसी ऐसी बर्बर जाति की बोली बन जाती है जो उसकी संरचना को नही समझते, तो वे उसके रूपान्तरणों को दबाकर उन्हें अन्य चिह्नों से स्थानान्तरित कर देते है; अथवा यह

कि अपने स्वाभाविक प्रभाव से कोई नई भाषा, अपने प्रचार की आवश्यकता के कारण, प्राय: विघटित होने और विचारों तथा सम्बन्धों के प्रतिनिधि चिह्नों को उसी प्रकार उपविभाजित करने लगती है जैसे वह स्वयं विचारों और सम्बन्धों को ही सतत विघटित तथा उपविभाजित करती रहती है। ऐसा प्रतीत होता है कि पालि में इसी अन्तिम प्रकार का परिवर्तन हुआ है यह संस्कृत है परन्तु ऐसी नहीं जैसी कि यह एक अपरिचित जनसंख्या द्वारा बोली जाती, क्योंकि ऐसों के लिये यह सर्वथा नवीन भाषा होती, वरन् विशुद्ध संस्कृत जो अपनी प्रचलनवृत्ति के अनुपात में ही परिवर्तित और परिमार्जित हो गई। इस प्रकार, इसमें कारकरूप निपातों से स्थानान्तरित नहीं हुये हैं जैसा कि भारत की आधुनिक बोलियों में हो गया, वरन् इनका रूप आज भी सुरक्षित है। बहुसंख्यक पालि रूपों को यह सिद्ध करने के लिये उद्धृत किया जा सकता है कि इसने संस्कृत में जो परिमार्जन किये हैं वे उसी प्रकार के हैं जैसे कि अन्य भाषाओं के बीच इटालियन ने लैटिन में उत्पन्न किये हैं। इस प्रकार, व्यञ्जनों का सारूप्य, जिसने लैटिन में 'लैक्टस' का 'लैट्टो' और 'स्क्रिप्टस' का 'स्क्रिट्टो' बना दिया, पालि में भी सिद्धान्तीत एक सिद्धान्त है।"

पालि, जैसा कि हम इसका ठीक-ठीक रूप लंका की पुस्तकों में पाते हैं, कदाचित् ही एक देशभाषा रही होगी। कम से कम, इसमें अनेक प्रकार के ऐसे परिष्कार व्यक्त होते हैं जिनका साधारण बोल-चाल में कदाचित् ही प्रयोग किया जाता रहा होगा। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ये कृतियों की भाषा तक सीमित रहे होंगे अथवा उस समय के बाद सम्मिलित किये गये होंगे जब पालि बुद्ध के अनुगामियों की बोली जानेवाली भाषा न रह कर केवल धर्म तथा साहित्य की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई ठीक वैसे ही जैसे देशभाषा के रूप में प्रयुक्त होने के पतनोन्मुख प्रभाव से दूर हट जाने के बाद स्वयं संस्कृत का व्याकरण भी अपेक्षाकृत अधिक दृढ़ और निश्चित नियमों से नियन्त्रित होने लगा। इस प्रकार की विशेषता के अन्तर्गत, स्वरों के समाधान से उत्पन्न विस्वरात्मक ध्वनियों का परिहार करने के लिये प्रक्षिप्त प्रयोग अथवा अन्यथा अप्रचलित व्यञ्जनों को सम्मिलित कर देना आता है। कम से कम नौ अक्षरों, य, व, म, द, न, त, र, ल, और ग, का इस उद्देश्य से व्यवहार किया गया है, जैसा कि निम्न उदाहरणों से स्पष्ट होगा —

१.	य—न	+ इमस्स	नयिमस्स बन जाता है।
२.	व—ति	+ अङ्गिकम्	तिवङ्गिकम् „
३.	म—लहु	+ एस्सति	लहुमेस्सति „

४.	द्—अत्त + अत्थम	अत्तदत्थम्	,,
५.	न—इतो + आयति	इतोनायति	,,
६.	त—तस्मा + इह	तस्मातिह	,,
७.	र—सब्भि + एव	सब्भिरेव	,,
८.	ल—च + अभिण्ण	चलभिण्ण	,,
९.	ग—पुथ + एव	पुथगेव[१०९]	

---

[१०९] क्लाउ का पालि ग्रामर, पृ० ११। इस विषय पर मैं बी०, भाग ३, पृ० २४१ और बाद, मे प्रकाशित डा० कुन की प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम सस्करण की समालोचना से एक अश का अनुवाद करता हूँ :—"पृ० ८२ पर विवेचित सुस्वर अक्षरो को प्रक्षिप्त करने के विषय पर मैं लेखक से उस समय सर्वथा सहमत नही हूँ जब वह इनका केवल लिखित भाषा के सम्बन्ध मे ही उल्लेख करता है : इनके अधिकाश भाग से यह व्यक्त होता है कि ये वह नही हैं जिन्हे प्रक्षिप्त कहते हैं। इसके विपरीत ये अन्तिम व्यञ्जन हैं जो भाषा के एक आरम्भिक स्तर पर पूर्वगामी शब्दो मे विद्यमान थे। मैं बी० के प्रथम भाग के पृ० १२६ पर इनका विवेचन कर चुका हूँ, और यहाँ केवल इतना ही दुहराता हूँ कि अब मैं 'न-य-इमस्स' और 'ति-व-अङ्गिकम्' मे क्रमश 'य' तथा 'व' को ही वास्तविक अर्थो मे सुस्वरात्मक प्रक्षेपण मानता हूँ, और इस बाद वाले को भी मैं 'य' से ही व्युत्पन्न कहूँगा।" मैं यहाँ लेखक द्वारा उल्लिखित उसके बी० के प्रथम भाग के पृ० १२६ का अनुवाद भी देता हूँ—"सस्कृत के साथ तुलना यह व्यक्त करती है कि इन प्रक्षिप्त व्यञ्जनो मे से केवल कुछ ही वास्तविक प्रक्षेपण के परिणाम हैं, क्योकि अन्य, भाषा के एक आरम्भिक स्तर के ही अवशेष हैं। पालि ने अन्तिम 'स्पर्शो' को प्रायः सर्वथा अस्वीकृत कर दिया है, और जिन कुछ दशाओ मे ये मिलते हैं उन्हे अपवाद मात्र मानना चाहिये। उदाहरण के लिये, जब सामान्यतः प्रयुक्त 'एतम् एव' के स्थान पर 'एतद् एव' प्रयुक्त मिलता है, तो इसे एक पुरातन प्रयोग मात्र ही कहा जायगा जिसकी व्याख्या करते हुये लासन ने ठीक ही कहा है कि पूर्वपद 'एतद्' के साथ बादवाले 'एव' के घनिष्ठ सान्निध्य के कारण ही ऐसा हुआ है। इसी प्रकार हमे सस्कृत 'तस्माद् इह' से 'तस्मात् इह' की, 'सद्भिर् एव' से 'सब्भिर् एव' की, 'पलभिज्ञा' से 'छलभिञ्ञा', 'पृथग एव' से 'पुथगेव' की और 'प्राग् एव' से 'प्रागेव' की भी व्याख्या करनी चाहिये। उदाहरणो मे से

सुस्वरता के प्रति ध्यान देने की पालि की विचित्रता संस्कृत में भी समान रूप से मिलती है, और, यद्यपि इसके लिये ये जिन माध्यमों का उपयोग करती हैं वह अनेक दृष्टियों से भिन्न है, तथापि इन दोनों में से किसी में भी साधारण व्यवहार की भाषा में उस परिष्कृत स्वरूप का व्यवहार नहीं मिलता जिसका इनके लिखने में व्यवहृत होता रहा है। पालि में (संस्कृत से गृहीत) अन्य विशेषतायें भी हैं जो उत्तर भारत में इसकी समकालीन कही जाने वाली देश भाषाओं में कदाचित ही विद्यमान रही होंगी—जैसे इच्छार्थक तथा नाम

शेष, 'नयिमस्स', 'तिवङ्गिकम्', और 'इतोनयति', को वास्तव में व्यञ्जनात्मक प्रक्षेपण मानना चाहिये, जब कि 'लहुम् एस्सति' और 'अत्तदत्थम्' फिर भी संदिग्ध रह जायेंगे। क्लाउ, पृ० १४, में आगे यह कहते हैं कि अ' को कभी कभी स्वरों और व्यञ्जनों दोनों के पहले एक आगम के रूप में सम्मिलित किया जाता है। इसलिये 'चक्खु अनिच्च' (संस्कृत : चक्षुर् अनित्यम्) 'चक्खु अनिच्चम्' के लिये, और 'अवसिरो' 'अवसिरो' के लिये प्रयुक्त हुआ है, किन्तु प्रथम की दशा में, जैसा कि 'लहुम् एस्सति' की दशा में भी, सम्भवत एक भिन्न व्याख्या सम्भव है जब कि द्वितीय दशा में किसी प्रक्षेपण की मान्यता निश्चित रूप से गलत है क्योंकि संस्कृत का अन्तिम 'स्पर्श' सम्भवतः आनुनासिक था। फिर भी, क्लाउ का नियम उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि कम से कम टर्नर का पाठ इस प्रकार के प्रक्षेपण के कुछ अन्य उदाहरण भी प्रस्तुत करता है। इस प्रकार पृ० ५० की पंक्ति १४ में 'एवञ्च ते-म् अत्तणो नामक्-कत्वा जनपदञ्च बहुञ्च' इसका उदाहरण है, जब तक, सम्भवत ते—म् को यहाँ संस्कृत 'ते इमे' का भ्रष्ट रूप न मान लिया जाय; और पृ० ५२ पर पंक्ति ४ में 'यत्र—म् इच्चसि तम् अञ्ञत्र यक्खेहि विजितं मम' भी ऐसा है, जहाँ फिर भी, छन्द न केवल 'म्' के प्रक्षेपण के ही विरुद्ध है, वरन् 'यत्र' के अन्तिम 'अ' के लोप का समर्थन करता है।" यह द्रष्टव्य है कि एकाधिक अक्षर का वैसा ही प्रक्षेपण (जैसे 'यथा—इव' के लिये 'यथ—र्—इव' में) ललितविस्तर में गाथा की भाषा में मिलता है, जिसका कुछ आगे विवेचन किया जायगा। यह इस बात का द्योतक है कि इस प्रक्रिया का आरम्भ लङ्का में नहीं हुआ।

स्वरों के बीच सुस्वरात्मक व्यञ्जनों के समावेश के निम्न उदाहरण ललितविस्तर से संग्रहीत हैं जिनकी इसी प्रकार के उन उदाहरणों से तुलना की जा सकती है जो पालि में इनके प्रयोग के रूप हैं।

धातुओं का प्रयोग, यथा 'जिघच्छति', (वह खाना चाहता है), 'पब्बतायति' (वह पर्वत के समान है), पुत्तियति (वह पुत्रवत् व्यवहार करता है)।[११०]

फॉसबोल, धम्मपद की अपनी प्रस्तावना (पृ० VI) में यह मत व्यक्त करते हैं कि इस कृति की प्राचीनता इसकी भाषा के स्वरूप से सिद्ध है, जो संस्कृत के, यहाँ तक कि उसके प्राचीनतम रूपों के, अत्यन्त निकट तथा गद्यात्मक सूत्रों की भाषा और बुद्धघोष की टीका से अत्यधिक भिन्न है। इस प्रकार, धम्मपद में हमें इस प्रकार के रूप मिलते है, जैसे : 'अम्' में वर्तमान-कालिक कृदन्त का कर्तृकारक रूप 'गणयन्', 'रोदम' (गणयन्तो' इत्यादि के बदले) मिलते हैं। इसी प्रकार, 'आरे' में वर्तमान मध्य का अन्य पुरुष बहु-वचन रूप 'सोचरे', 'उपपज्जरे 'मिलते हैं। क्रियार्थक संज्ञा का भी संप्रदान रूप

सन्दर्भ	सस्कृत	गाथा
ललितविस्तर ४२८	वर्तिष्येऽस्य	वर्तिष्यम् अस्य
६३	यथा एव	यथ + र् + इव
१९५	त्वया इह	त्वम् इह
१५४	अवमानम्, अखिला	अवमानु, + र् + अखिला
	स उपगत	च रूपगतु
२२०	शब्दानुभावेन	शब्द + र् + अनुभाव
२१५	श्रुत्वा इदम्	श्रुत्व + म् + इदम्
३५५	मुच्ये इतः	मुच्ये + म् + इत
२३६	लाभा एहि	लाभी + म् + एहि
३७०	स्वके आत्मनि	स्वकि + म् + आत्मनि
३९८	तत्र असि	तत्र + म् + असि
४७१	तव उपैमि	तव + म् + उपेमु
४३०	दृष्ट्वा इमाम्	दृष्टवा + न् + इमाम्
३	स्व उष्णीष	स + व् + उष्णीष

[११०] कुछ इच्छार्थक क्रियायें और सज्ञायें, निश्चित रूप से प्राकृतो मे भी साधारण रूप से प्रयुक्त होती रही होंगी, जैसा कि हम आधुनिक देशभाषाओ मे भी कुछ ऐसे शब्द पाते हैं जिनकी उत्पत्ति इच्छार्थक क्रियाओ मे निहित है। इस प्रकार, हिन्दी शब्द 'भूख', निश्चित रूप से उस 'बुभुक्षा' से आया होना चाहिये जो स्वय 'बुभुक्षा' का भ्रष्ट प्राकृत रूप है। हिन्दी 'पियास्', भी, सम्भवत 'पियासा' से व्युत्पन्न है, यद्यपि यह 'पी + आशा' (पीने की इच्छा) से भी बना हो सकता है !

'नेतवे', 'पहातवे' आदि आते हैं जो सामान्यतया केवल वेदों इत्यादि में ही मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि पालि भाषा के विभिन्न स्तर अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन अथवा बाद के भी हैं।

प्रोफेसर आफ्रेख्त ने मुझे उन वैदिक रूपों के सम्बन्ध में निम्न उल्लेखों से अनुगृहीत किया है जो पालि में आते हैं:—"इच्छा को व्यक्त करने के अर्थ में, क्रिया के बाद प्रयुक्त, 'तवे' के तुमुन् रूप के, तथा 'तुम्' के अतिरिक्त, पालि में, प्राकृत तथा मराठी के समान, 'त्वान' जैसे एक अविकारी कृदन्त, का तथा सङ्कुचित 'तून' का प्रयोग होता है। 'कत्वान' अथवा 'कातून गच्छति' = 'कृत्वा गच्छति" [कर के वह जाता है]।[१११] ये रूप उन प्राचीन रूपों के अनुकूल है जिन्हें पाणिनि ने वैदिक कहा है, जैसे 'पीत्वानम्' = 'पीत्वा'; इष्ट्वीन देवान् = इष्ट्वा देवान् (पाणिनि ७.१,४८)। यास्क (निरुक्त ६ ७) यह मानते हैं कि 'वयम' के सभी कारक-रूपों के लिये 'अस्मे' का प्रयोग हो सकता है। पालि सभी कारकों में 'अम्हे = 'अस्मे' रूप ही चलाता है : कर्त्ता 'अम्हे,', कर्म 'अम्हे' अथवा 'अम्हाकम्' (= अस्माकम), करण 'अम्हेभि' अथवा 'अम्हेहि', सम्बन्ध 'अम्हाकम्'।

"इसके अतिरिक्त, 'एभिस्' में भी करण को सुरक्षित रक्खा गया है। यहाँ 'बुद्धेभि' अथवा 'बुद्धेहि' = बुद्धैः, अर्थात् 'भि' अथवा 'हि' का ही सभी कारक रूपों में प्रयोग हुआ है। 'गो' का रूप चलाने में षष्ठी बहुवचन में 'गव' अथवा 'गुण्ण' अथवा 'गोणं' का प्रयोग होता है, जिनमें से अन्तिम वैदिक 'गोणा' रूप ही है। 'अ', 'इ', 'उ' में क्लीव, जैसे 'फल', 'अट्टि' (अस्थि), 'मधु', के या तो नियमित बहुवचन कर्तृ, कर्म रूप 'फलानि', 'अट्ठीनि', 'मधूनि' अथवा 'फला', 'अट्ठी', 'मधु' रूप मिलते हैं, जैसा कि वेदों में भी है।

"एक और ऐसा आधुनिक रूप है जो वेद में मिलता है। पालि में 'अस्स' (अस्य) अथवा 'इमस्स' (इमस्य) है, और इसी प्रकार प्राकृत में भी 'इमस्स', इत्यादि मिलते हैं। और ऋग्वेद ८.१३,२१ में 'अस्य' के लिये 'इमस्य पाहि अन्धसः' मिलता है। यह मत्स्यपुराण में 'एभिर् विद्वद्भिः' के लिये 'इमैर् विद्वासैः' मिलने की अपेक्षा अधिक कौतूहलवर्धक है।"

बौद्धों की पवित्र भाषा बन जाने के बाद पालि में किये गये परिष्कारों के विपरीत भी, इस बात में कोई सन्देह नहीं कि, जैसा कि बर्नफ का विचार (लोटस, परिशिष्ट, ८६२) है, यह हमारे समक्ष पर्याप्त मात्रा में उस भाषा का प्रतिनिधित्व करती है जो बिहार तथा उत्तर भारत के मध्यवर्ती भागों की

---

[१११] इस रूप के कुछ और नमूने आगे की तालिकाओं में मिलेंगे।

उस युग मे, जब बौद्धधर्म का प्रथम प्रवेश हुआ, अर्थात् तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम शताब्दी ई० पू० में, एक प्रचलित देशभाषा थी। इस स्थिति के कारण हमें स्वभावतः यह आशा करनी चाहिये कि इसका प्राकृत बोलियों के साथ प्रबल साम्य रहा होगा, जो, जैसा कि हम पहले ही (गत खण्ड में) देख चुके है, या तो बोली जाती थीं अथवा ईसवी सन की आरम्भिक शताब्दियों के लगभग उन्हीं प्रान्तों में बोली जाने वाली बोलियों के अत्यधिक समान थीं। वास्तव में स्थिति ऐसी ही थी, इसकी इन बोलियों की पालि के साथ तुलना करने पर निश्चित रूप से स्थापना हो जाती है। मैं तत्काल, कुछ संज्ञाओं, सर्वनामों, क्रियाओं, और निपातों की तुलनात्मक सूची के आधार पर, सर्वप्रथम यह सिद्ध करूँगा कि संस्कृत शब्दों के एक विस्तृत वर्ग में पालि में बिलकुल वैसे ही परिवर्तन हुये है जैसे कि प्राकृत मे, और द्वितीयत. यह कि, कुछ दशाओं में संस्कृत शब्दों तथा उनकी रूपान्तरण-विधि में हुये परिवर्तन पालि में उतनी सीमा तक अग्रसर नही हुये जितने बाद मे प्राकृत में हो गये। इन तुलनाओं से यह निष्कर्ष निकलेगा कि पालि अपेक्षाकृत संस्कृत के निकटतर है, और उत्तर भारत की देशभाषा की तुलना में अपेक्षाकृत उससे अधिक प्राचीन स्वरूप का प्रतिनिधित्व करती है जितना प्राकृत द्वारा हुआ है।

नीचे की तालिका मे संस्कृत के अनुरूप चलाये गये रूपों की एक तुलनात्मक तालिका दी जा रही है, जिसमे यह देखा जायगा कि प्राकृत की अपेक्षा पालि रूप सस्कृत के अधिक निकट है। (क्लाउ, पृ० १९, कोवेल, पृ० xxiv)।

एकवचन		बहुवचन	
पालि	प्राकृत	पालि	प्राकृत
१. बुद्धो	बुद्धो	१. बुद्धा	बुद्धा
२ बुद्धम्	बुद्धम्	२ बुद्धे	बुद्धे, बुद्धा
३. बुद्धेन	बुद्धेण	३. बुद्धेहि, बुद्धेभि	बुद्धेहि
४. बुद्धाय, बुद्धस्स	षष्ठी के ही समान	४ बुद्धानम्	षष्ठी के ही समान
५ बुद्धस्मा	बुद्धादो	५. बुद्धेहि	बुद्धाहिन्तो
बुद्धा	बुद्धा	बुद्धेभि	बुद्धासुन्तो
बुद्धम्हा	बुद्धाहि		
६ बुद्धस्स	बुद्धस्स	६ बुद्धानम्	बुद्धाणम्
७. बुद्धस्मिण्		७. बुद्धेसु	बुद्धेसु
बुद्धे	बुद्धे		
बुद्धम्हि	बुद्धम्मि		

दोनों भाषाओं में उत्तम पुरुषवाचक सर्वनाम इस प्रकार हैं : (क्लाउ, पृ० ६१, कोवेल, पृ० xxviii)। अधिकांश दशाओं में पालि ही संस्कृत के निकटतम है।

एकवचन पालि	एकवचन प्राकृत	बहुवचन पालि	बहुवचन प्राकृत
१. अहम	अहम	१ मयम्	वअम
		अम्हे	अम्हे
२. मम	मम	२. अम्हाकम	नो
ममम्	ममम	अम्हे	अम्हे
३. मया	मे	३. अम्हेभि	अम्हेहिण
	मए	अम्हेहि	
४ मम	मे	४. } अम्हाकम	अम्हाणम्
६. मय्हम	मम	६. }	
अम्हम	मज्झ		
ममम्	मह		
५. मया	मत्तो	५. अम्हेभि	अम्हाहिन्तो
		अम्हेहि	अम्हासुन्तो
७ मयि	मयि	७. अम्हेसु	अम्हेसु
	ममम्मि		

मध्यम पुरुषवाचक सर्वनाम, जैसा कि यह दोनों बोलियों में आता है, नीचे की तालिका में दिया जायगा।

पालि क्रिया प्राकृत से कहीं अधिक पूर्ण प्रतीत होती है। प्राकृत के साथ तुलना करते हुये निम्नलिखित कुछ पालि के प्रमुख कालों के उदाहरण हैं (क्लाउ, पृ० १०० और बाद, कोवेल पृ० xxix)

पालि	प्राकृत	पालि	प्राकृत
परस्मैपद		आत्मनेपद	
एकवचन	एकवचन	एकवचन	एकवचन
१ पचामि	१. पचामि	१ पचे	
	पचमि		
२ पचसि	२. पचसि	२. पचसे	२. पचसे
३ पचति	३. पचदि	३. पचते	३. पचदे
	पचइ		पचए

बहुवचन	बहुवचन	बहुवचन	बहुवचन
१. पचाम	१. पचामो पचिमो, इत्यादि	१. पचाम्हे	
२. पचथ	२. पचह पचित्था	२. पचव्हे	
३. पचन्ति	३. पचन्ति	३. पचन्ते	

संस्कृत की ही भाँति, पालि में भी एक विधिलिङ् और तीन भूत काल है, जो परस्मैपद में इस प्रकार हैं—

एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
१. विधिलिङ्		२. द्विरावृत्तिक लिट्	
१. पचेय्यामि	१. पचेय्याम	१. पपच	१. पपचिम्ह
२. पचेय्यासि	२. पचेय्याथ	२. पपचे	२. पपचित्थ
३. पचे पचेय्य	३. पचेय्युम्	३. पपच	३ पपचु
३ लङ्		४. लुङ्	
१. अपच	१. अपचम्हा	१. अपचिम्	१. अपचिम्हा
२. अपचो	२. अपचत्थ	२. अपचो	२. अपचित्थ
३. अपचा	३. अपचू	३. अपचि	३. अपचुम अपचिम्सु

दूसरी ओर, प्राकृत में किसी भी भूतकाल के अत्यन्त थोडे से ही चिह्न अवशिष्ट प्रतीत होते हैं। श्री कोवेल (पृ० XXIX) का यह कथन है : "कर्तृवाच्य के जो मात्र काल बचे है वे वर्तमान, और आज्ञार्थक भविष्य में ही प्रतीत होते है।" फिर भी वररुचि के सातवें अध्याय के २३ वें, २४ वे तथा २५ वे, और आठवें अध्याय के १७ वें सूत्रों मे (कोवेल, पृ० १६२, १६३) एक भूतकाल का उल्लेख है जिसके 'हुवीय', 'होहीअ', 'आसि'[११२], 'हसीअ', 'हाहीअ' जैसे उदाहरण दिये हुये है। फिर भी नाटकों में प्राकृत के भूतकाल के उदाहरण बहुत कम ही मिलते प्रतीत होते हैं। परन्तु यह विश्वास-योग्य नहीं प्रतीत होता कि प्राकृत बोलियों में, जो पालि के अप्रचलन तथा आधुनिक देशभाषाओं (जिन दोनों में हमें भूतकाल मिलते हैं) के आरम्भ के बीच की दीर्घ अवधि मे बोली के रूप में प्रचलित थीं, दैनिक प्रयोग में भूतकाल को व्यक्त करने के

---

[११२] 'आस' रूप हाल के सप्तशतक १२८ (वेबर सस्करण, पृ० ११४) मे आता है।

लिये कोई व्याकरणिक रूप नहीं रहा होगा। फिर भी, इस विषय के और अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं है : क्योंकि मैं जो कुछ विवरण तथा व्याख्यायें अब तक प्रस्तुत कर चुका हूँ वे तथा आगे दी जाने वाली तालिकायें उत्तर भारतीय बोलियों के स्थान को निर्दिष्ट करने के लिये पर्याप्त हैं।[113]

तालिका—२

ऐसे शब्दों की सूची जिनका पालि और प्राकृत रूप या तो सर्वथा अथवा बहुत कुछ समान है

[इन सूचियों में पालि शब्दों के स्रोतग्रन्थ ये हैं : धम्मपद (फॉसबोल द्वारा सम्पादित एक पालि ग्रन्थ) = ध०, डेब० बी० क्लाउ का पालि ग्रामर (लङ्का, १८२४) = क्ला, बर्नफ और लासन का 'एसैं सुर ले पालि' = बला, स्पीगेल का कम्मवाक्य, और 'एनेक्डोटा पालिका, जिसमें रसवाहिनी आदि आते हैं = स्पी०, और टर्नर का महावंसो (लंका, १८३७) = टम० । प्राकृत शब्दों के स्रोतग्रन्थ अंशत: गत तालिका १ में दिये जा चुके हैं। प्रस्तुत संस्करण में तालिकाओं को अत्यधिक विस्तृत कर दिया गया है और कहीं-कहीं ललित विस्तर (= ललि) से गाथा बोली के समानान्तर शब्द भी दे दिये गये हैं। पालि शब्दों के रूप श्री चिल्डर्स द्वारा संशोधित हैं, और अतिरिक्त प्राकृत शब्दों को बालरामायण (= बा०), प्रसन्नराघव (= प्र०), तथा सप्तशतक (= स०) से लिया गया है। अनेक ऐसे प्राकृत शब्दों को, जिनके लिये कोई पालि समकक्ष नहीं पाये जा सके हैं, सूची में वैसे ही छोड़ दिया गया है, क्योंकि कम से कम ये उन परिवर्तनों को व्यक्त करते हैं जो संस्कृत शब्दों के इस भाषा में हो गये हैं।]

---

[113] प्रथम संस्करण के पृष्ठ १०७ की निम्नलिखित टिप्पणी को प्रस्तुत संस्करण की गत १०१ नं० की टिप्पणी के अन्तर्गत रखा जाना चाहिये था

[प्रोफेसर मूलर—बौद्ध स्रोतों से प्राप्त—इन आँकड़ों को, जिनके आधार पर बुद्ध के महानिर्वाण की तिथि ५४३ ई० पू० निर्धारित होती है, और जिनके आधार पर किसी भी बौद्ध संगीति को अशोक के समय में हुई एक संगीति के पूर्व हुआ कहा गया है, असंतोषजनक तथा मिथ्या मानते हैं। यद्यपि ये बुद्ध के महानिर्वाण को ४७७ ई० पू० के नीचे लाने का प्रयास नहीं करते, तथापि चन्द्रगुप्त के पूर्व की समस्त बौद्ध तिथियों को परिकल्पित मानते हैं। देखिये उनका 'ऐसीज़, पृ० २६०—३००, जो मुझे उस समय प्राप्त हुआ जब प्रस्तुत खण्ड प्रकाश्य हो चुका था]।

सन्दर्भ	संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेजी
ध० ४३, क्ला० १५, मु० ४४, वर० १२.२२	स्त्री	इस्त्रि, इस्त्री, इस्त्रिय, इस्त्रिका	इत्थी, इत्थि	इत्थी, इत्थिया	ए वूमन
क्ला० ३९, वर० ३.१०	दृष्टि	..	दिट्ठि	दिट्ठि	साइट
वा० २१५	दृष्ट	..	दिट्ठ	दिड	सीन
वा० २१०, क्ला० ३९	वृष्टि	..	वुट्ठि	विट्ठि	रेन
वा० ७३	सृष्टि	...	सट्ठि	सिष्ठी	डिसचार्ज
वा० २३८, २४५, २४८, २६७, २८७, प्र० ४४	पृष्ठ	...	पिट्ठि, पिट्ठ	पुट्ठि, पुट्ठ, पिट्ठ, वट्ठ, वट्ठ, वेठ	दि बैक
वा० १७८, प्र० ४१	मिष्टा	...	...	मिट्ठा, मिट्ठी	स्वीट
ध० ५	श्रेष्ठ	...	सेट्ठ	सेट्ठ	बेस्ट
वा० ७९, ११३, १४४, क्ला० ३७	ज्येष्ठ	.	जेट्ठ	जेट्ठ, जेट्ठ	एल्डेस्ट
वा० ११३, २२३, २२५.	कनिष्ठ	...	कनिट्ठ	कनिट्ठ, कनिट्ठ, कनिट्ठ	यङ्गेस्ट
वा० ६, १२२, २२५	वरिष्ठ	...	...	वरिट्ठ	बेस्ट

सन्दर्भ	संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेजी
क्रा० ६९ चर० ३, १०	तुष्टि	.	तुट्ठि	तुट्ठि	सैटिस्फैक्शन
वा० २२४	गरिष्ठ	...	...	गरिट्ठ	हेवियेस्ट
क्रा० २७	मुष्टि	.	मुट्ठि	मुट्ठि	दि फिस्ट
वा० ५६, ११४	दुष्ट		दुट्ठ	दुट्ठ	विकेड
वा० २७०	दष्ट	..	दट्ठ	दट्ठ	बिटेन
वा० ३४	निविष्ट	...	निविट्ठ	निविट्ठ	एन्टर्ड, प्लेस्ड
वला० १६६	शिष्ट	...	सिट्ठो	सिट्ठो	इन्सट्रक्टेड
वा० ६	दिष्टया	..	दिट्ठा	दिट्ठिआ	बाइ गुडलक
प्र० २०	प्रविष्ट	...	पविट्ठ	पविट्ठ	एन्टर्ड
वा० ८६	सुष्ठ	...	सुट्ठु	सुठ्ठु	वेल
वा० २०३, २७०	निष्ठुर	..	निट्ठुर	निठ्ठुर	सीवियर
वा० १७९, २४२, २९४	गोष्ठी	..	...	गोट्ठी	एसेम्ब्ली
वा० २७०, २७८ क्रा० २	ओष्ठ	...	ओट्ठ	ओट्ठ	लिप
वा० २५९, २७०	दंष्ट्रा	...	दाठा	दाढा	टस्क
मृ० १८, ३०	काष्ठ	...	कट्ठ	कट्ठ	वुड
ध० ३, ५८	वृक्षम्	...	रुक्खम्	रुक्खम् , उक्खम्	ट्री
प्र० ८४; वा० १०५, २१९	वृत्तान्त	...	वुत्तन्त	वुत्तन्त	इन्टेलिजेन्स
प्र० ११४, १२५ वा० २१६	वृत्तान्त	...	..	उत्तन्त	इन्टेलिजेन्स

प्र० ८४, व्रा० ५३, ५६	संवृत्त	...	संवट्ट	संवुत्त	हैपेण्ड
प्र० ३०३	निवृत्त	...	निवत्त	निवुत्त	सीज्ड
प्र० ४४	वृषभ	...	उसभ	वुसह	वुल
प्र० ९१	तृण	...	तिण	तुण	ग्रास
मृ० ३, १२६	घृत	...	घत	घिअ	घी
प्र० १९	प्रच्छामि	...	पुच्छिस्सामि	पुच्छिस्सम	आइ शैल आस्क
वर० १.२९, ला० २९३, त्रिक्र० ४'५	प्रावृष्	...	पावुसा	पाउस	रेनी सीज़न
स० २४४ वा० १५७, १६३; वर० १.२७	वृद्ध	...	वुद्ध, वुड्ढ, बुड्ढ	बुड्ढ, विद्ध वद्ध	ओल्ड
ध० ५२, वर० १ २७	स्मृति	...	सति	...	रिकलेक्शन
मृ० ९४	मृत्तिका	...	मत्तिका	मट्टिआ	अर्थ
वा० १३१	ऋतु		उतु	रिदु	सीज़न
वा० १९९	कृतान्त	...	...	कियन्त	फेट
मृ० १४, ९५, ११६, १४१; वर० ४.३२; वा० १७८, १६४	गृह	...	गह घर	घल, घर, गिह, हरअ	हाउस
प्र० ३०३	गृहिणी		घरणी	घरिणी	वाइफ
प्र० ३३, ३५, ३८, ४१	गृहिणीत्व	...	...	घरिणित्तण	स्टेट ऑफ ए वाइफ
ध० १३	गृही	...	गिही	गिह	हाउस-होल्डर

सन्दर्भ	संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेजी
ध० ४६	अर्थम्	...	अत्थम्	अत्थम्	मीनिङ्ग
ध० ४७	सर्व	...	सब्ब	सव्व, सब्ब	ऑल
ध० १	पूर्व	...	पुब्ब	पुव्व, पुब्ब	फर्स्ट
गा० १६९, २३१, २३८	शीर्ष	...	सीस	सीस	हेड
वा० १६८, २३५, २६२, २७९	दीर्घ	...	दीघ	दीह	लॉङ्ग
वा० १२६, १९८, २६७, २९३	मार्ग	...	मग्ग	मग्ग	रोड
वा० ७, ३६, ७०	सर्ग, निसर्ग	..	सग्ग, निसग्ग	सग्ग, णिसग्ग	सेक्शन, नेचर
ध० २३	स्वर्ग	...	सग्ग	सग्ग	हेवेन
वा० १०, क्ला० २	वर्ग	...	वग्ग	वग्ग	क्लास
वा० १९९	दुर्ग	...	दुग्ग	दुग्ग	इनऐक्सेसिबल
वा० २९३	निर्गम	...	निग्गम	णिग्गम	गोइङ्ग आउट
वा० ५५, ७६, १७८, २७६, प्र० १३४	गर्भ	...	गब्भ	गब्भ, गम्भ	ऊम्ब
प्र० ३४	निर्घोष	...	निग्घोस	निग्घोस	साउण्ड
प्र० ३३, वा० ६९, ८७, १९८, २८८	अर्ध	...	अद्ध, अड्ढ	अद्ध	हाफ
प्र० ४८; वा० २६७, २९८; क्ला० १६६	धर्म	...	धम्म	धम्म	राइचसनेस
वा० ९४	कर्म	...	कम्म	कम्म	वर्क
ध० ४३	कर्मकार, चर्मकार	...	कम्मकार, कम्मार, चम्मकार	चम्मार	ब्लैकस्मिथ, लेदरकटर

वा० ६४, ७२, ९४	निर्माण	...	निम्मान	णिम्माण	कन्स्ट्रक्शन
वा० ७	चर्मचक्षु	..	..	चम्मचक्खू	लेदर-आइड
वा० २४६	कूर्म	...	कुम्म	कुम्म	टॉर्टाइज़
प्र० १२६	अवतीर्ण	...	ओतिण्ण	अवितिण्ण	डिसेन्डेड
वा० २००	उत्तीर्ण	...	उत्तिण्ण	उत्तीण	क्रॉस्ड
प्र० ४६, ४८	तर्कयामि	..	तक्केमि	तक्केमि	आइ रीज़न
प्र० १२, ४८, वा० २३८, २४५	कर्ण	...	कण्ण	कण्ण	ईयर
वा० २००	सम्पूर्ण	...	सम्पुण्ण	सम्पुण्ण	फुल
वा० २९८	पर्ण	...	पण्ण	पण्ण	फेदर
वा० २६४	ताम्रापर्णि	...	तम्बपण्णि	तम्बवण्णी	सीलोन
वा० १४२, १९८, वला० १६१	वर्ण	...	वण्ण	वण्ण	कलर
वा० २९१	सुवर्ण	...	सुवण्ण, सोण्ण	सुवण्ण	गोल्ड
वा०	उद्गीर्ण	...	...	उद्गिण्ण	वामिटेड
वा० २४०, २४३	कीर्ण	...	किण्ण	किण्ण	क्राउडेड
वा० १४७, २००, २७८	चूर्ण	...	चुण्ण	चुण्ण	क्रश्ड
वा० २६७	निर्वाण	...	निब्बान	निव्वाण	एक्सटिंक्शन
वा० २०९, २८९, ३०७	कीर्त्ति	...	कित्ति	कित्ति	रिनाउन
वा० १९८, २७८	मार्तण्ड	...	...	मत्तण्ड	दि सन
वा० १२९, १९८, २८७	निर्विघ्न	...	निब्बिग्ग	णिव्विग्घ, णिविग्घ, निव्विग्घ	विदाउट ऑब्सटेक्लस

सन्दर्भ	संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेजी
वा० २४१	निर्झर	.	निज्झर	निज्झर	ए कैस्केड
वा० १५४	निर्वाहन	.	निब्बाहन	णिव्वाहण	इफेक्टिङ्ग
वा० १५३	दुर्यश	.	...	दुज्जस	बैड रिप्यूट
वा० ८६, १७९	दर्प	...	दप्प	दप्प	प्राइड
वा० २१४	उपसर्पामि	..	उपसप्पाम	उवसप्पम्ह	वी एप्रोच
वा० ५, १७९	कन्दर्प	.	...	कन्दप्प	गॉड ऑफ लव
वा० १२९, १९४	दर्पण	.	दप्पन	दप्पण	ए मिरर
वा० १४२, १७८	कर्पूर		कप्पूर	कप्पूर	केम्फर
वा० २२१	कार्पास	.	कप्पास	कप्पास	कॉटन
वा० २१८	परस्पर	..	..	परोप्पर	म्यूचुअल
वा० २३९	कूर्पर	.	कप्पर	कुप्पर	एल्बो, नी
वा० २३९	शर्करा	...	सक्खर	सक्कर	ग्रेवेल
वा० २३६	कर्कर	...		कक्कर	लाइमस्टोन
श० २५	खर्जूर		खज्जूरी	खज्जूर	डेट ट्री
वा० २४०	कर्दम	.	कद्दम	कद्दम	मड
वा० २४३	पर्यस्त	...	पल्लत्थ	पल्लत्थ	थ्रोन डाउन
वा० २०३	निर्लूण	...	..	णिल्लूण	कट
प्र० १४४; वा० ५२	दुर्लभ	...	दुल्लभ	दुल्लह	डिफिकल्ट टु ऑब्टेन
प्र० १६, ४८ घ० ५६	समर्पित	...	समप्पित	समप्पिद	एन्ट्रस्टेड
वा० १७८	मुहूर्त	...	मुहुत्त	मुहुत्त	मोमेन्ट
वा० १३६, २१५	वार्ता	...	वात्ता	वत्ता	इन्टेलिजेन्स
वा० २४२, २६६, १४७	सार्थ	...	सत्थ	सत्थ	ए बैण्ड ऑफ ट्रैवेलर्स

वा० १९८	तीर्थ	...	तित्थ	तित्थ	प्लेस ऑफ पिलग्रिमेज
वा० २३४	सम्मर्द	...	...	सम्मद्द	फ्रिक्शन
वा० २६५, २६७	विमर्द	...	..	विमद्द	
वा० १८१, १९४	पर्वत	...	पव्वत	पव्वद	माउन्टेन
वा० १७९	पार्वती	..	पव्वती	पव्वदी	पार्वती
वा० ११३, प्र० ११४, १३७	आर्य	...	अरिय, अय्य	अज्ज	रेस्पेक्टेब्ल पर्सन
वा० ९४	सम्मार्जित	...	सम्मज्जित	समज्जिद	क्लीन्ड
वा० २०९	गर्जित	...	गज्जित	गज्जिद	थण्डर्ड
क्ला० १९; वा० ७३	चन्द्र	...	चन्द	चन्द	मून
वा० ३६, १३०, १४८, २९९; क्ला० २७	ग्रन्थि	...	गण्ठि	गण्ठि	ए नॉट
वा० ११३, १४४, २२३, मृ० ७२; वर० ५ ३५	भ्राता भ्रातु.	...	भाता	भाद, भाआ भादुणो	ब्रदर
वा० २३८	ग्रह	..	गह	गाह	टेकिङ्ग
वा० ३०८	शीघ्र	...	सीघ	सिग्घ	क्विकी
वा० १४९	यात्रा	...	यात्रा	जत्ता	जर्नी
वा० ३४, ५२	चित्र	...	चित्त, चित्र	चित्त	वेरीगेटेड
वा० ८, ५३, ६९, ८६, ९८, २६७	गोत्र	...	गोत्त	गोत्त	फेमिली, क्लान
वा० ८६	क्षुरप्रा	...	खुरप्पा	खुरप्पा	ए काइण्ड ऑफ ऐरो
प्र० १२२	भद्र	...	भद्द, भद्र	भद्द	गुड
वा० १४५, १९८	तत्काल	...	तक्काल	तक्काल	दैट टाइम

सन्दर्भ	संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेजी
धा० ८६, ९८ प्र० १०, २१	सहस्र	..	सहस्स	सहस्स	ए थाउजेण्ड
वा० १२१	वक्त्र	...	वत्त	वक्क	माउथ
प्र० १४०	वक्र	...	वङ्क	वक्क	क्रूकेड
प्र० १४	चक्र	...	चक्क	चक्क	व्हील
वा० २०, १२०, १९८, २४५, प्र० १६	चक्रवर्त्ति	..	चक्कवत्ति	चक्कवट्टि चक्कवत्ति	एम्परर
धा० १९८ भ० ५९	स्रोतस्	.	सोत	सोत, सोत्त	स्ट्रीम
वा० ५, ७१, २९३, क्ला० ५२, वला० १६५	पत्र पात्र	...	पत्त	पत्त	लीफ, वेसेल
वा० १३२	सामग्री	..	सामग्गी	सामग्ग्	इम्प्लीमेंट्स
वा० ८७, २४३ वला० ८५	रात्र, रात्रि	...	रत्त, रत्ति	रत्त, रन्ति	नाइट
व० ६७, ७५	नेत्र	..	नेत्त	णेत्त	आइ
वला० ९१, वा० २४, २४७	मित्र	..	मित्त	मित्त	फ्रेण्ड
वा० ३५, ६५, ७५	मात्र	...	मत्त	मेत्त	मेजर
वा० २७०	भ्रुकुटी	...	.	भिउडी	फ्राउन
वा० ७१, १८२	भ्रू	..	भू	भू	आइब्राउ
वा० २०९	मन्त्र	...	मन्त	मन्त	ऐड्वाइस
वा० २२१	यन्त्र	...	यन्त	यन्त्र	ऐन एञ्जिन

वा० २०	अभ्र	..	अब्भ	अब्भ	क्लाउड
वा० २२१, २६७	सूत्र	.	सुत्त	सुत्त	थ्रेड
प्र० २१, वा० १६५, १६७, १७४, २९७	पुत्र		पुत्त	पुत्त	सन
प्र० ६५	जाग्रत्	.	जागरम्	जग्गन्त	वेकिङ्ग
प्र० ४५	प्राघुणस्य	..	पाहुणस्स	पाहुणस्स	गेस्ट
वा० १५६, २७९	अश्रु	...	अस्सु	असु	ए टीयर
वा० २६, क्रा० ५१	व्याघ्रस्य	...	व्यग्घस्स	वग्घस्स	टाइगर
वा० २६७	क्रोध	...	कोध	कोध	ऐङ्गर
वा० ११३, १२६	विक्रम	...	विक्कम	विक्कम	वेलर
वा० ६७, ८८, ११३	पराक्रम	...	परक्कम	परक्कम्म, परक्कम	वेलर
वा० ५५, ११३	विभ्रम	...	विब्भम	विब्भम	फ्लरी
वला० १६६	निग्रह	...	निग्गह	निग्गह	कन्ट्रोल
वा० ६४	परिश्रम	...	परिस्सम	परिस्सम	टॉएल
वा० २१, ११३, २७६	मिश्र	...	मिस्स	मिस्स	मिक्स्ड
वा० २७८	विश्राम	...	विस्सम	विस्साम	रेस्ट
वा० ९४	ग्राम	...	गाम	गाम	विलेज
वा० २७९; ध० ४४	प्राण	...	पाण	पाण	लाइफ
वा० २९४	अद्रि	...	अद्दि	अद्दि	माउन्टेन
वा० १८९, २०२, २३७, २९०	समुद्र	...	समुद्द	समुद्द	दि ओशन
वा० २२०, २२३, २६७	निद्रा	...	निद्दा	णिद्दा	स्लीप
वा० १६५	दरिद्र	...	दलिद्द	दरिद्द, दलिद्द	पूअर
वा० २९७	रुद्र	...	रुद्द	रुद्द	रुद्र

सन्दर्भ	संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेजी
चा० १४२	मुद्रा	...	मुद्दा	मुद्दा	ए सील
ध० २४, वर० ३.३	प्रियम्		पियम्	..	डीयर
चा० ४८, प्र० १३, ४६, ११९; क्रा० २६	अग्नि	.	अग्गि अग्गिनि, गिनि	अग्गि	फायर
चा० २१८	बुध्न	..		बुद्ध	बॉटम
ध० २५; वर० ३.२	नग्न	...	नग्ग	णग्ग	नेकेड
चा० ८२, १२६, १३०	भग्न	...	भग्ग	भग्ग	ब्रोकेन
चा० १३७	विज्ञान	...	विञ्ञाण	विण्णाण	नॉलेज
चा० २९३	ज्ञान	.	ञाण	जाण	
चा० १६८, १७६, स० २५५	स्नुषा	.	सुनिसा, सुण्हा	सुणा, सुसा सोण्हा	डॉटर-इन-ला
चा० २२७	आज्ञा		आणा, अञ्ञा	अण्णा	कमाण्ड
चा० २८१	पत्नीनाम्		पतानीनम्	पत्तीणम्	ऑफ वाइव्स
त्ला० १६६	ज्ञातम्		ञातम्	णातम्	नोन
चा० ३५, ८०, १४५	कार्य	...	कारिय	कज्ज	वर्क
च० ५८, १५७, प्र० ४६	राज्य	...	रज्ज	रज्ज	किङ्गडम
ध० ४४, क्रा० १०,	विद्या	..	विज्जा	विज्जा	नॉलेज
चा० ८६, २०२	अविद्या		अविज्जा	अविज्जा	इग्नोरेन्स
ध० ६२	मध्य	...	मज्झ	मज्झ	मिडिल
ध० ३३	ध्यानम्	...	झानम्	झानम्	कान्टेम्प्लेशन
चा० २६२, २६४; प्र० १३७	विद्याधर	...	...	विज्जाहर	ए डिटी

टम० १८२; वा० ५०, लवि० २०४	विद्युत	विद्यु	विज्जु, विज्जुता	विज्जु, विज्जुली	लाइटनिङ्ग
वा० १३६	वैद्यत्व	...	वेज्जत्त	वेज्जत्तण	प्रोफेशन ऑफ ए फ़िज़ीशियन
वा० १३१, २६९; प्र० ३२, ५५, ११४, १३४, १४४; ध० ५८	अद्य	..	अज्ज	अज्ज	टु डे
वा० १२५; प्र० ३२	उद्यान		उय्यान	उज्जान	ए गार्डेन
वा० १४७, २६२	णिरवद्य	...	निरवज्ज	णिरवज्ज	ब्लेमलेस
	वाद्यत्, वाद्यमान		विज्जमान	विज्जन्त	साउन्डिङ्ग
वा० १४७	उद्भिद्यमान		उब्भिज्जमान	उब्भिज्जन्त	बीङ्ग स्प्लिट
	निबध्यमान		निवज्झमान	णिवज्झन्त	बीङ्ग स्टॉप्ड
वा० ५८, १६९, १८१, १९८	विन्ध्य	...	विञ्झ	विञ्झ	विन्ध्या माउन्टेन्स
क्षा० ३७	वन्ध्या	...	वञ्झा	वण्झा[११४]	वैरन वूमन
वा० २२६	वन्ध्यीभूत	...	...	वञ्झीभूद	विकम बैरन
वा० २४५	अध्यवस्य	...	...	अज्झवसिअ	हैविङ्ग स्ट्रिवेन
वा० १४४, १५०	अयोध्या	...	...	अओज्झा	अयोध्या
वा० १३५	सन्ध्या	...	सन्झा	सन्झा	ईवनिङ्ग
वर० २८.२५; वा० १८५	उपाध्याय	...	उपज्झाय, उपज्झ	उवज्झाअ, उज्झाअ, ओझाअ	रिलीजस टीचर

[११४] देखिये ऊपर पृष्ठ २३, नोट १८।

सन्दर्भ	संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेजी
बा० ६६	निध्यायन्ती		.	निज्झाअन्ती	मेडिटेटिङ्ग
बा० १२१	अपराध्यति	.	अपरज्झति	अपरज्झइ	ही ऑफेन्ड्स
बा० २०, १०५	सा वस	..	...	सज्झस	फीयर
बा० १६८, १८०, २१६	युद्ध	.	युज्झ	जुज्झ	बैटल
बा० १०५	युज्यते	...	युज्जति	जुज्जदि	इट इज प्रॉपर
बा०	प्रत्यूष	...	पच्चूस	पच्चूस	मॉर्निङ्ग
बा० ७१	पाण्डित्य	...	पण्डिच्च	पाण्डिच्च	लर्निङ्ग
ध० ३, २४; चर० ३.२९	प्रेत्य	...	पेच्च	..	आफ्टर डेथ
बा० २०, १००, १८२	सत्य	..	सच्च	सच्च	ट्रू
बला० १६७	कृत्य	...	किच्च	किच्च	ड्यूटी
बा० १८१, १२८, २७८, २९१	नित्य	.	निच्च	निच्च	कन्टीन्यूअल
बा० ९८, १४७	रथ्या	...	रच्छा	रच्छा, रत्था	रोड
वर० १.१५, २८, ३.४१	वृश्चिक	..	विच्छिक	विच्चुअ, विन्चुअ	स्कार्पियन
ध० ५५, ७४; बा० ६, २२	पश्चात्	..	पच्छा	पच्छा	आफ्टर
बा० २८७	पश्चिम	..	पच्छिम	पच्छिम	वेस्ट
बा० ६,५३, वर० ३.१८	आश्चर्य	...	अच्छेर	अच्छेर, अचरिअ	वण्डरफुल
बा० २४२ विक्र० ९	आश्चर्य	...	अच्छरिय	अचरीअ, अच्छरिअ	वण्डरफुल

वा० ८७	निश्चित	...	निच्छित	निच्छिद	एसर्टेन्ड
वा० २१८	अप्सरसः	...	अच्छरा	अच्छराऊँ	निम्फ्स
वा० २०२	अप्सरोभिः		अच्छराहि	अच्छराहि	वाइ निम्फ्स
वा० ४३, ६४, १४४, प्र० ४७, ११३	अस्ति, अस्तु	...	अत्थि, अत्थु	अत्थि, अत्थु	इज़, लेट देयर बी
प्र० २०, ४७	नास्ति		नऽत्थि	णात्थि	इज़ नॉट
वा० १२२	वस्तुनि		वत्थुनि	वत्थुणि	थिङ्ग
वा० १५४	अवस्तम्भ	...	.	अवट्ठम्ह	स्टॉपेज
वा० १५४, १९१	विस्तरेण	...	वित्थारेन	वित्थरेण	डिफ्यूजन
वा० २३८, २४३	विस्तरन्ति	.	वित्थरन्ति	वित्थरन्ति	दे स्प्रेड
प्र० १९	मस्तकानि	.	मत्थकानि	मत्थआइँ	हेड्स
वा० ७६, २३८ प्र० ८४	स्तन	.	थन	थण	ब्रेस्ट
वा० ४९, ७६ ध० ६५	स्तनित		थनित	थणिद	साउन्डेड
वा० १५८, प्र० २६, ३६, ११०	हस्त		हत्थ	हत्थ	हैण्ड
क्रा० २९; वा० २६६	हस्ति	.	हत्थि	हत्थि	इलीफैन्ट
प्र० १२; वा० २७८	स्थल	...	थल	थल	ग्राउण्ड
ध० ५५; वा० ७१, ५६, २७८, २९४	स्थान	...	ठान	ठाण	प्लेस
वा० १६४	सुस्थान		...	सुट्ठान	ए गुड प्लेस
वा० १३१	स्थानस्थ	...	ठानट्ठ	थानत्थ	स्टैण्डिङ्ग इन दि प्लेस
वा० २२०	अधिष्ठान		अधिट्ठान	अहिट्ठान	सपोर्ट

सन्दर्भ	संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेजी
वा० १६५, १७८, २२०	स्थित	...	ठित	ठिद, थिद, टिद	स्टेण्डिङ्ग
वा० १५७	प्रस्थित	...	पट्ठित	पत्थिद	प्रोसीडेड
वा० २३८	प्रस्थान		पट्ठान	पट्ठाण	डिपार्चर
वा० ९७	अनुष्ठित	..	अनुट्ठित	अणुट्ठिद	प्रैक्टिस्ड
वा० २०९, २६३	अधिष्ठित	.	अधिट्ठित	अहिट्ठिय, अधिठिद	गवर्न्ड
वा० १९९	उपस्थित	.	उपट्ठित	उवट्ठिद	एराइव्ड
ध० २७, वर० ३.११	अस्थि	..	अट्ठि	अट्ठि	ए वोन
वा० २२०	अवस्था	...	अवट्ठा	अवत्था	कण्डिशन
वा० २९३	स्थिर	...	थिर	थिर	फर्म
वा० १५४	सुस्थित		सुट्ठित	सुथिद	वेल प्लेस्ड
वा० २१७, २१८	संस्थित		सण्ठित	सन्ठिअ	प्लेस्ड
	उत्थित		उट्ठित	उडिद	रिज़ेन
वा० १९८, २६८, २९६	अगस्त्य	.		अगत्थि	नेम ऑफ ए ऋषि
वा० ५२	पुलस्त्य	.	..	पुलत्थ	नेम ऑफ ए ऋषि
वर० १.२०; ३.२०	पुस्तक		पोत्थक	पोत्थअ	बुक
वा० २३६	प्रस्तर	...	...	पत्थर	ए स्टोन
ध० ९, वर० ३.२७, वा० ९६	मृत्यु	...	मच्चु	मच्च	डेथ
वा० ११२, १५०, १५३, ३१०, प्र० ३५; ध० ५०	वत्स	.	वच्छ	वच्छ	ए चाइल्ड

स० २४९	वत्सल	...	...	वच्छल	अफेक्शनेट
प्र० ३५	वात्सल्य		...	वच्छत्तण	अफेक्शन
ध० २८, वा० १९५	मत्स्य[115]		मच्छ	मच्छ	ए फिश
वा० २२८	उद्गारैः	..	उग्गारेहि	उग्गारेहि	वॉमिटिङ्ग
वा० १८२	उद्घाटन		उग्घटन	उग्घटण	ओपेनिङ्ग
वा० १२५, स० २३६	ग्रीष्म		गिम्ह	गिम्ह	हॉट सीज़न
ध० ४१	तुष्णीम्		तुण्ही	तुण्हीम्	साइलेन्ट
वा० ४८; वला० १६६	उष्मा	..	उम्हा[116], उस्मा, उसुमा	उम्हा	हीट
ध० ५९, ६१	तृष्णा		तण्हा, तसिना	तण्हा	थर्स्ट
वा० १२५, १३५, स० २३३	उष्ण, अनुष्ण		उण्ह	उण्ह, उण्ण, अणुन्ह	हॉट, नॉट हॉट
ध० १६, वा० १४१	कृष्ण	...	कण्ह	कण्ह,[117] किसण	ब्लैक
वा० ६७, १२५	पद्मल	.	पखुम, पम्ह	पम्हल	विथ लॉङ्ग आइलैशेज़
प्र० १३७	विस्मय	..	विम्हय	विम्हअ	ऐस्टॉनिशमेन्ट
प्र० ४७, १२४; स० २३८	ज्योत्स्ना, ज्यौत्स्ना	.	जुण्हा	जोण्हा, जउण्ह	लाइट, लस्ट्रस
वा० २३१, २४५	खड्ग	...	खग्ग	खग्ग	सोर्ड
प्र० ३३, ३७, ४६	जल्प	..	जप्प	जप्प	चैटर

[115] विलसन के संस्कृत कोश, तथा बॉटलिङ्क और रॉथ के कोश में भी 'मच्छ' को एक शुद्ध संस्कृत रूप माना गया है, किन्तु यह प्राकृत से आया हो सकता है।

[116] श्री चिल्डर्स 'उम्हा' को एक सन्दिग्ध पालिरूप मानते है।

[117] देखिये ऊपर पृष्ठ २१, नोट १७। प्राकृत मे 'कण्ह' का अर्थ श्रीकृष्ण है।

सन्दर्भ	संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेजी
वा० २६५, २७८	कल्प	...	कप्प	कप्प	विश
वा० २६५	अनल्प	..	अनप्प	अणप्प	नॉट लिटिल
वा० १५८, १६७	वल्कल		वक्खल	वक्कल	वार्क
वर० ३ २९, मृ० ५४, भा० ७१	पुष्कर	..	पोक्खर	पोक्खर	पौण्ड
वा० २३४	पुष्कल	...	.	पुक्कल	एक्सेलेण्ट, मच
मृ० १८, २१	शुष्क	.	सुक्ख	सुक्ख / शुक्ख	ड्राइ
वा० ५४, ८०	दुष्कर		दुक्कर	दुक्कर	डिफिकल्ट
वा० २०२	अनुग्रह	.	अनुग्गह	अणुग्गह	काइण्डनेस
वा० ३४, ८२	पाणिग्रहण	...	पाणिग्गहण	पाणिग्गहण	हैण्ड-टेकिङ्ग, मैरेज
वा० २४६	हस्तग्राह	...	हत्थग्गाह	हत्थग्गह	हैन्ड-टेकिङ्ग
वा० ३६	नामग्रहण	...	नामग्गहण	णामग्गहण	नेम-टेकिङ्ग
वा० २०	शङ्करप्रसाद	...	..	सन्करप्पसाद	शंकर्स फेवर
वा० १९८	प्रभाप्रसार	...		पभाप्पसर	डिफ्यूज़न ऑफ स्प्लेंडर
वा० १०	पार्श्वप्रसर	...	..	पासप्पप्सर	डिफ्यूज़न ऑफ, ऑर फ्राम, दि साइड
ध० २९, वर० ३ ३२[११८]	अश्मन्मयम्		अम्हमयम्	..	स्टोनी
वा० २७९	निष्करुण		निक्करुण	णिक्करुण	मर्सीलेस
वा० १५६, २८१, वर० ३.३५, ३८, ला० २०९	वाष्प		वप्प	वाप्फ / वप्फ / वाह	मॉएस्चर

वर० ३ ३५, वा० २९३; ध० १०	पुष्प	...	पुप्फ	पुप्फ	फ्लावर
वा० २८५	नृत्य	...	...	णट्ट	डान्सिङ्ग
वा० २४७, प्र० २७	नृत्य	...	नच्च	णच्च	,,
वा० १४७	नृत्यत्	...	नच्चम्, नच्चन्तो	णच्चन्त	,,
वा० २४८	नर्तितुम्	...	नच्चितुम	नच्चिदुम्	टु डान्स
वा० २४२, प्र० १२, ३८	स्फुरत्	...	फुरम्, फुरन्त	फुरन्त	थ्रॉबिङ्ग
वा० २०९	विस्फुरित	...	..	विप्फुरिअ	क्विवर्ड
वा० २३५	विस्फुरन्ति	...	...	विप्फुरन्ति	क्विवर
वा० २३५, प्र० १३	स्फुलिङ्ग	...	फुलिङ्ग	प्फुलिङ्ग	ए स्पार्क
वा० २४२	संस्फुटित	...		सम्प्फुडिद	ब्लॉसम्ड
वा० २०४	स्फार	...		फार	क्विवरिङ्ग
वा० २१८	आस्फाल्य	...	..	अप्फालिअ	हैविङ्ग टच्ड
ना० २०२	स्पर्श, परिस्पर्श	...	फस्स	फंस, परिप्फंस	टच, टच
वा० ३१०	परिस्यन्द	...		परिप्फन्द	ड्रॉपिङ्ग
वा० २४५	उत्प्रेरित	...	...	उप्फेरिद	सेन्ट अप
वा० २६२	परिस्फुरन्ति	...	...	परिप्फुरन्ति	दे क्विवर
प्र० १०	स्फटिक	...	फलिक	फडिअ	क्रिस्टल
वा० १९५, २६८	स्कन्ध	...	स्कन्ध	खन्ध	शोल्डर
वर० ३.१४,५०, मृ० ४०	स्तम्भ	...	थम्भ	खम्भ	ए पोस्ट

११८ यह उद्धृत नियम केवल 'ष्म' और 'स्म' के परिवर्तन के लिये ही व्यवहृत है, और 'श्म' का उल्लेख नहीं है।

सन्दर्भ	संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेजी
वा० १५३; स० २५४	श्वश्रू	...	सस्सु	सासुए, सासू	मदर-इन-लॉ
वा० १५८	श्वश्रूणाम्	...	सस्सूनम्	सासूणाम्	ऑफ मदर-इन-लॉ
वा० १५६, १६३, ३०३	श्वशुरा	...	ससुर	ससुर	फादर-इन-लॉ
वा० १४२, २०९, २९२	पक्ष	...	पक्क	पक्क, पिक्क	मेच्योर
वा० १४३, २६३	ज्वाला	...	जाला	जाला	फ्लेम
वा० २३५	प्रज्वलन्ति	...	पज्जलन्ति	पज्जलन्ति	दे बर्न
प्र० ११९	प्रज्वालय	...	पज्जालेहि	पज्जालेहि	बर्न
वा० ४८	ज्वालालि	...	...	जालालि	?
वा० २१३, २१५	स्वामिनी	...	सामिनी	सामिणी	मिस्ट्रेस
वा० २१६	त्वरित	...	तुरित	तुरिअ	क्विक
प्र० ४८	तत्त्र	...	...	तत्त	दू थ
वा० २३८	अश्व	...	अस्स	अस्स	हॉर्स
वा० १४७	स्वच्छ	...	...	सच्छ	क्लीयर
वा० ६	द्विधा	...	द्विधा, द्वेधा	दुधा	इन टू वेज़
वा० १६८	जिह्वा	...	जिव्हा	जीहा	टङ्ग
वा० २०३	माल्य	...	माल्य	मल्ल	गार्लैण्ड
प्र० ४८	पुण्य	...	पुञ्ञ	पुण्ण	मेरिट
वा० २००; प्र० ४५	शून्य	...	सुञ्ञ	सुण, सुण्ण	एम्प्टी
वला० १६६	अरण्य	..	अरञ्ञ	अरण्ण	फॉरेस्ट
क्षा० ३६, वर० १०.१०	कन्या	..	कञ्ञा	कञ्जा	ए गर्ल
वा० २४७	स्वादीकृत	...	सादीकत	सद्दीकद	स्वीटेण्ड

वा० २३०, २४४	दिव्य	दिव्व	दिव्व	डिवाइन
वा० २२, ६४, १४४, १६२	योग्य	योग्ग	जोग्ग	फिट
वा० ७२, ८५, १००, १०५	शिष्य	सिस्स	सिस्स	डिसाइपिल
वा० १००, १२० १३९, २२९	अन्य, अन्यथा अन्यतः	अञ्ञ अञ्ञथा	अण्ण अण्णधा अण्णदो	अदर, अदरवाइज़
वा० २७६	कास्य	कंस	कंस	बेल मेटल
वा० १३२	पल्यङ्क, पर्यङ्क	पल्लङ्क, परियङ्क	पल्लन्क	बेड
वा० १५५	शल्य	सल्ल	सल्ल	डार्ट
वा० ६८, ७६, २४६	तिर्यक्	तिरियम	तिरिच्छ	ऑब्लीक
प्र० ६५, ध० ६, ५६	सुप्त, गुप्त	सुत्त, गुत्त	सुत्त, गुत्त	ऐस्लीप, प्रोटेक्टेड
प्र० २१, ४६, ११४	प्राप्त	पत्त	पत्त	ऑब्टेण्ड
वा० २७९	विध्वसन	विद्धंसन	विध्धंसण	डेस्ट्रक्शन
वा० १९८, २५९	विलुप्त	विलुत्त	विलुत्त	डिसएपीयर्ड
वा० २४०	विलिप्त	विलित्त	विलिद्द	स्मीयर्ड
ध० ५४	तप्त	तत्त	तत्त	बर्न्ट
वा० २१८, २४५	क्षिप्त	खित्त	खित्त	थ्रोन
क्रा० ३९	तृप्ति	तित्ति	तित्ति	सैटिस्फैक्शन
वा० ७६, १५४, १९८	समुत्पत्ति उत्पन्न	समुप्पत्ति उप्पन्न	समुप्पत्ति उप्पण्ण	बर्थ बॉर्न
वा० २४३	समुत्पोषित	समुप्पोसित	समुप्पोसिद	चेरिश्ड
वा० २१७	उत्क्षिप्य	उक्खिप्प	उज्झिअ	हैविङ्ग थ्रोन अपवर्ड्स

सन्दर्भ	संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेजी
गा० २२८	जन्म	.	...	जम्म	बर्थ
गा० २३६	पिप्पल	..	पिप्फल	पीपल	फाइकस इण्डिका
गा० १९८	सिक्त	.	सित्त	सित्त	स्प्रिङ्किल्ड
वा० २२७	वक्तुकाम	...	वत्तुकाम	वत्तुकाम	विशिङ्ग टु स्पीक
वा० ११३, १२०	पुनरुक्ति	...	पुनरुत्ति	पुणरुत्ति	रिपिटीशन
गा० ५४	भुक्त	.	भुत्त	भुत्त	ईटेन
वर० ३.१	भक्त	.	भत्त	भत्त	राइस बॉएल्ड
वा० १९५, २२७, २६४, २९८	मुक्त मौक्तिक	...	मुत्ता	मोता, मुत्ता, मोत्तिअ	पर्ल
क्रा० ३९;	युक्ति	..	युत्ति	जुत्ति	प्रोपराइटी
वर० ३ १	मुक्ति		मुत्ति	मुत्ति	रिडेम्पशन
गा० ३५, ९१; वा० १०, २४, १६८, १७०, १९५, २३१	मुक्त	..	मुत्त	मुक्क	फ्रीड
वा० ३५, ९८, १४१	युक्त	..	युत्त	जुत्त	फिट
वा० ६७, २०४	रक्त	..	रत्त	रत्त	रेड, ब्लड
वा० ७५	सक्त	...	सत्त	सत्त	अटैच्ड
मृ० १२०; वर० ३.२९	क्षेत्र	.	खेत्त	खेत्त	फील्ड
वा० ८७	अभियोक्तुम	...	अभियुञ्जितुम्	अभिजुञ्जिदुम	टु एक्यूज़
वा० ७६, २३८, २४२, २५९, २९४; प्र० ४५	अक्षि	.	अच्छि, अक्खि	अच्छि	आइ
वा० ३०७	अक्षि	...	...	अक्खि	आइ

वा० २३८, २४४, २५९	वक्षःस्थल	...	...	वच्छत्थल	ब्रेस्ट
वा० १९९, १३४, २९४; प्र० ११, ४१	लक्ष्मी	...	लक्खी	लच्छी, लच्छी	गॉडेस ऑफ फार्च्यून
वा० ११३	यष्टि	...	यट्ठि, लट्ठि	लच्छि	ए क्लब
वा० ७६, २४३	विक्षोभ	...	विक्खोभ	विच्छोह	एजिटेशन
वा० ४९, ९३, प्र० १०, ३५	प्रेक्षस्व	.	पेक्खस्स / पेक्ख	पेक्ख	लुक (दाउ)
वा० २२०	प्रेक्ष्य	...	पेक्खिय	वेक्खिअ	हैविङ्ग लुक्ड
वा० ४८, १९८, २२६	प्रक्षालन	...	पक्खालन	पक्खालण	वाशिङ्ग
प्र० ३५, १२४	प्रक्षालितम्		पक्खालितम्	पक्खालिअम्	वाश्ड
वा० १३९	अवक्षिपामि	...	ओक्खिपामि	अवक्खिवामि	आइ डिस्ट्रैक्ट
वा० २०२, २२१, २५०	ऋक्ष	...	इक्क, अच्छ	रिक्ख	ए बीयर
प्र० १९	निक्षिप्यन्ते	...	निखिपीयन्ति	णिक्खिप्यन्ति	आर थ्रोन
वा० ९२	लक्ष्य	...	...	लक्ख	ए मार्क
वा० ६७, ७७, ८६, क्वा० ५१, प्र० ४६	क्षत्रिय	...	खत्तिय	खत्तिअ	ए क्षत्रिय
वा० १९९	लक्ष	...	लक्ख	लक्ख	१००,०००
वा० ४८, ६९, ७१, प्र० ८४	क्षण	...	खण, छन	खण	ए मोमेण्ट
क्वा० ३८	क्षमा	...	खमा	खमा	पार्डन
वला० १६६, वा० ११२	लक्षण	...	लक्खण	लक्खण	ए मार्क

सन्दर्भ	संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेजी
गा० १८०	क्षीण	...	खीण	खीण	डिकेड
वा० ८६, १४१,२६६	पक्ष	...	पक्ख	पक्ख	साइड, विङ्ग
धा० २०, ५२; प्र० १९	राक्षस	...	रक्खस	रक्खस	ए राक्षस
गा० ५२	रक्षा	...	रक्खा	रक्खा	डेलिवरेन्स
प्र० १९	रक्षित्वा	...	रक्खित्वा	रक्खिअ	हैविङ्ग डेलिवर्ड
प्र० १२, ८४	दक्षिण	...	दक्खिण	दक्खिण	साउथ
वा० २४९	दक्षिण	...	दक्खिण	दाहिण	राइट (साइड)
धा० १९८	साक्षिन्	...	सक्खी	सक्खि	विटनेस
वा० २९०	क्षीर	...	खीर	खीर	मिल्क
धा० २२१	क्षौम	...	खोम	खोम	ऑफ लिनेन
वा० १२१	अक्षर	...	अक्खर	अक्खर	लेटर
वा० २४६, २४८	कक्ष	...	कच्च	कक्ख	साइड
वा० २१५	चक्षुषः	...	चक्खुनो	चक्खुणो	ऑफ दि आइ
वा० १०३, १६५	शिक्षित	...	सिक्खित	सिक्खिद	लर्न्ट
वा० ७५	विक्षेप	...	विक्खेप	विक्खेव	पर्प्लेक्सिटी
वला० १६७	मोक्ष	...	मोक्ख	मोक्ख	डेलिवरेन्स
ध० ४६	क्षेम	...	खेम	खेम	प्रास्पेरिटी
ध० २३	अन्तरिक्षे	...	अन्तलिक्खे	..	ऐटमॉस्फीयर
वा० ७, १७९, २३४, २४५; प्र० ३४, ९०	शब्द	...	सद्द	सद्द	साउण्ड
वा० ६६, १२१,२६६; प्र० १०, ३५, ४१	मुग्ध	...	मुद्ध	मुद्ध	बिविल्डर्ड

वा० ७६, १९४; प्र० १०, ४१	दुग्ध	...	दुद्ध	दुद्ध	मिल्क
वा २९०	दुग्ध	...	दुद्ध	दुद	मिल्क
प्र० १०, वा० ७२, २६६	स्निग्ध	...	सिनिद्ध	सिणिद्ध	अफेक्शनेट
प्र० ३६	विदग्ध	...	..	विदद्ध	क्लेवर
वा० २०	लब्ध	...	लद्ध	लद्ध	कवेटस
वा० १३१	लुब्ध	...	लुद्ध	लुद्ध	कवेटस
वा० ६७, २२६, २७८, २८७; प्र० १३४	पर्यन्त	...	परियन्त	पेरन्त	लिमिट
वा० १७६	प्रान्त	...	पान्त	पेरन्त	विसिनिटी
वर० १.८	मयूर	...	मयूर, मोर	मऊर, मोर	पीकॉक
वर० १ ७	लवण	...	लवन, लोन	लोण	साल्ट
मृ० १२०	वीज	...	वीज	वीअ	सीड
मृ० ७७	वणिक्	...	वणिज	वाणिअ, वाणिअ	मर्चेण्ट
मृ० ७८	कायस्थ	...	कायट्ठ	काअथअ	कायस्थ
मृ० २९६, १५१; ला० १७२, २१८	देवालय, देवकुल	...	देवालय	देवल	टेम्पल
वर० ४,१	राजकुल	...	राजकुल	राअउल, राउल	रॉयल रेस
मृ० ३०, ३८	द्यूतकर	...	जूतकर	जूदिअर, जूदिअरु, जूदिअल	गैम्बलर

सन्दर्भ	संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेजी
	स्नान	...	नहान, सिनान	ण्हान	बेदिङ्ग
वर० ३.३३, वा० २८२	वह्नि	...	...	वण्हि	फायर
	विष्णु	...	...	विण्हु	विष्णु
	श्लक्ष्ण	...	सण्ह	संह	जेण्टिल
	तीक्ष्ण	...	तिखिण, तिण्ह	तिक्ख, तिह	शार्प
मृ० ६	दरिद्रता	..	दलिद्दता	दलिद्दा	पावर्टी
वर० ५ २४	हरिद्रा	..	हलिद्दा	हलद्दा, हलद्दी	टर्मेरिक
वर० ३.२५	गर्त्त	...	...	गड्ड	हो ल
वर० ४.३१	मलिन	...	मलिन	मलिण, मइल	डर्टी
वर० ३.३०	मक्षिका	...	मक्खिका	मच्छिआ	ए फ्लाइ
वर० ४.३३	दुहिता	...	दुहिता	धूदा	डॉटर
	धीदा	...	धीता	धिआ	मेडेन
	धनवत्	...	धनवा	धणाल	वेल्दी
वर० २४.५	शब्दवत्	...	..	सद्दाल	साउण्डिङ्ग
	मालावत्	...	...	मालाइल्ल	हेविङ्ग ए गार्लैण्ड
वर० ३.१७, १९, कृा० १९	सूर्य	...	सुरिय	सुज्ज, सूर	सन
वर० ३.१२	मस्तक[११५]	...	मत्थक	मत्थअ	हेड
मृ० १८	समस्त	...	समत्थ	समत्थ	ऑल
	स्तुति	...	थुति	थुइ	प्रेज़
वा० १९५, २६४	शुक्ति	...	सुत्ति, सिप्पी	सिप्पि	शेल
वा० २५९, २७०	ललाट	...	ललाट, नलाट	ललाड, णिडोल	फोरहेड
वा० ६६	द्रविड	...	डमिल	दमिद	द्रविड कंट्री

वा० २४२, लवि० ३७२	कमलिनी पुष्करिणी	पद्मिनी[120]	पुण्डरीकिनी	पुडइणी	लोटस-पॉ[illegible]स
वा० २४५	पेशला व्यक्ता ?[121]	...	व्यत्ता	वेअट्टी	क[illegible]', सो, 'प्रतीति[illegible]
लवि० ३५५, और नोट २, पृ० ४०२	अदम्भी अनाश्चर्यवान् वा	अच्छम्भी	अच्छम्भी[122]	...	विदआउट ऐरोगेन्स; अनडॉन्टेड
वला० ९९	पुरुषः	...	पुरिसो	पुरिसो	मैन
वला० ८६	अवकाशः	.	ओकासो	ओकासो	लेज़र
वला० १६६	मनुष्यः	...	मनुस्सो	मनुस्सो	मैन
लवि० १५३	अवलम्भते	ओलम्बते	ओलम्बति	...	ही हैंग्स
लवि० २४५	आलम्बयत अवलम्बयत ?	ओलम्बयाथ	...		हैंग
लवि० २७२	आभासिता अवभासिता ?	ओभासिता	ओभासिता		इल्यूमिनेटेड
लवि० २७०	प्रस्वापिताः अवस्वापिताः	ओस्वापिता	...		पुट टु स्लीप
लवि० २९२	प्रस्वापनम् अवस्वापनम् ?	ओस्वापनम्	...	...	पुटिङ्ग टु स्लीप
लवि० २९२, ४५६	प्रणमन्तः अवनमन्तः	ओनमन्त	ओनमन्तो		बॉविङ्ग डाउन

[119] इस शब्द को भूल से दुहरा दिया गया है।

[120] एक अन्य पाठ के अनुसार 'पुष्करिणी'।

[121] विलसन के कोश मे 'व्यक्त' को प्रदान किये गये आशयो मे एक 'बुद्धिमान, पण्डित' भी है।

[122] श्री चिल्डर्स का विचार है कि यह शब्द संस्कृत 'अस्तम्भिन्' के समकक्ष है। 'अचम्भा' शब्द हिन्दी मे सुविज्ञात है।

सन्दर्भ	संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेजी
ललि० ३००, ३३८	अवरुह्य	ओरुहित्वा, ओरुह्या	ओरुहित्वा, ओरुह्या	...	हैविङ्ग डिसेन्डेड
प्र०	सम्भावयामि	...	सम्भावेमि	सम्भावेमि	आइ कन्जेक्चर
वा० ५८	सम्पादयाम'	.	सम्पादेम	सम्पादेम्ह	वी फुलफिल
प्र० ४४	आरोपयसि	...	आरोपेसि	आरोवेसि	दाउ स्ट्रेचेस्ट
प्र० ३४	निरूपयामः			निरूवेम्ह	वी फिक्स
प्र० १२६	आलिङ्गयामि	...	आलिङ्गयाम, आलिङ्गेम	आलिङ्गेमि	आइ एम्ब्रेस
वा० २२१	सज्जयत	. .	सज्जेथ	सज्जेह	प्रेपेयर यी
	आनयत		आनेथ	आनेध	ब्रिङ्ग यी
वा० ११२	धारयसि		धारयसि, धारेसि	धारेसि	दाउ अपहोल्डेस्ट
ललि० ३२४	धारयन्ति	धारेन्ति	धारयन्ति, धारेन्ति	धारेन्ति	दे होल्ड
वा० २०, ८८	मन्त्रयथः	.	मन्तेथ	मन्तेध	यी ऐडवाइस
वा० १२१	नियमन्ति	विवेन्ति	विनेन्ति	णिमेन्ति	दे रेस्ट्रेन
ललि० १५७	विनेष्यति				
वा० २२१	उत्तम्भयत	...	...	उत्तम्भेह	सपोर्ट यी
ललि० ३५२	दर्शयन्ति	दर्शेन्ति	दस्सेन्ति	.	दे शो
वा० ३६	शिथिलयामि	. .	.	सिढिलेमि	आइ स्लैकेन
ललि० १४८	निवर्तयति	निवर्तेति	निवत्तेति	..	ही स्टॉप्स
ललि० ८४, १५७, १८०, २०४	आयान्ति	एन्ति	एन्ति	...	दे कम
	उपयन्ति	उपेन्ति	उपेन्ति	...	दे एप्रोच
ललि० १४, १८६, १८९	चोदयन्ति	चोदेन्ति	चोदेन्ति	...	दे उर्ज
ललि० २१४	स्थापय	स्थपे, स्थपेहि	ठपेहि	...	प्लेस दाउ
ललि० २२३	पूरय	पूरेहि	पूरेहि	...	फिल दाउ

लवि० ९०	यष्टिधारकान्	इष्टिकान्	..		मेस-बेयरर्स
लवि० १५८, १८१	न अपि	नऽपि	नापि	...	नॉट इवेन
लवि० २३१, २८८	तथाऽपि	तथऽपि	तथापि	...	नेवर-दि-लेस
लवि० ४२१	पुनर् अपि	पुनोपि	पुन पि, पुनो पि		अगेन, सो,
प्र० १९, ३९ ; प्र० ८९, वा० ९४	किम् अपि	...	किम् अपि	किं पि, किम् त्रि ; किम्पि	एनीथिङ्ग
प्र० १९, १५१	क्मि् इति	..	किन् ति	किं ति	ह्वाट, सो
प्र० ८४	कस्मिन्न् अपि		कस्मिम् पि	कस्सिं पि	इन एनी
प्र० ४७; लवि २२७, ३०४	त्वम् अपि	तुभ्यम्पि ; वयम्पि	त्वम् पि	तुमं वि	दाउ, वी, सो
लवि० ३८७	अयम् इति	अहं ति	अहम् पि	इमोत्ति	दिस, आइ, सो
वा० १९८	मित्रत्व	...	.	मित्रत्तण	फ्रेण्डशिप
वा० ७९	बालत्व		...	बालत्तण	चाइल्डहुड
लवि० २३१, ३०२	विद्वद्भिः	विदुभिः	विदूहि	..	बाइ लर्नेड मेन
वा० ८७	मनसा	...	मनसा, मनेन	मणेण	विथ दि माइण्ड
वा० २४६, २७०	शिरसा	...	सिरसा, सिरेन	सिरेण	विथ दि हेड
लवि० १४८, २०४	नभसि	नभे	नभसि, नभे	...	इन दि हेवेन

नोट :—ऊपर पृ० ४०–४४ पर दी हुई तालिका २ के अधिकाश शब्दो के पालि पर्याय श्री चिल्डर्स को ज्ञात नही हैं। साथ ही बालरामायण और प्रसन्नराघव से सग्रहीत इन शब्दो के भी पालिरूप उन्हे ज्ञात नही हैं, यथा : 'कद्रणो', बा० २३८; 'निलुक्कन', 'निलुक्कन्त', बा० २६६, 'वेल्लिर', बा० २०३, 'हलहवल्लावा', बा० १५०, 'विसट्ट', 'विस्सट्टन्त', 'विसट्टन्ति', बा० । बा० २२१ मे मुझे एक क्रिया 'ढोएह' मिली है जिसका टीका मे 'वहत' अनुवाद है - हिन्दी 'ढोना'। ललितविस्तर २६१ मे एक संज्ञा 'ओस' = हिन्दी ओस, भी मिली है। ये दोनो शब्द पृ० ४० और बाद पर दी गई तालिका २ के है।

तालिका ४

क्रमवाचक शब्दों तथा संख्याओं की अधोलिखित तालिका से यह व्यक्त होगा कि कुछ दशाओं में पालि तथा प्राकृत शब्द समान हैं, परन्तु साथ ही यह भी कि अधिकांश दशाओं में समकक्ष प्राकृत शब्दों की अपेक्षा पालि शब्द ही संस्कृत के अधिक निकट हैं।

सन्दर्भ	संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेजी
ध० ४; मु० २८, धा० २०९	प्रथम		पठमो	पढुमो / पढमो	फर्स्ट
ध० ६; मु० ६९	द्वितीय		दुतियो	दुदिओ	सेकेण्ड
ध० ८; मु० ६९	तृतीयः		ततियो	तइओ	थर्ड
ध० ३०; वा० ९०; गर० ६ ५८	चत्वारः		चत्तारो	चत्तारो	फोर
ध० ११; गर० १ ९; मु० ६९	चतुर्थः		चतुत्थो	च-उत्थो / च-उट्ठो	फोर्थ
ध० १४, मु० ७०	पञ्चमः		पञ्चमो	पञ्चमो	फिफ्थ
वा० ८७, ता० ३२०; ध० १६, मु० ७०	षट् / षष्ठः		छ / छट्ठो	छा / छट्ठो	सिक्स / सिक्स्थ
ध० १८; मु० ७१	सप्तमः		सत्तमो	सत्तमो	सेवेन्थ
ध० २१; मु० ७२	अष्टमः		अट्ठमो	अट्ठमो	एट्थ
ध० २३; मु० १००	नवम		नवमो	णवमो	नाइन्थ

ध० २६; ला० ३२०	दशमः	दसमो	दसमो	टेन्थ
ध० २८; वर० २.१४	एकादशन्	एकादस	एआरह	एलेविन
ध० ३०, वर० २.१४	द्वादशन्	द्वादश, बारम	बारह	ट्वेल्व
ध० ३२; वर० २ १४	त्रयोदशन्	तेरस, तेलस,	तेरह	थर्टीन
ध० ७६; वर० १,९, और २.१४	चतुर्दशन्	चतुद्दस, चुद्दस, चोद्दस	च–उद्दह	फोर्टीन
ध० २८; वर० ३.४४	पञ्चदशन्	पञ्चदश, पन्नरस	पण्णरहो	फिफ्टीन
ध० ३९; ला० ३२०	षोडशन्	सोलस	सोलह (?)	सिक्सटीन
ध० ४२; ला० ३२०	सप्तदशन्	सत्तरस	सत्तरह (?)	सेवेन्टीन
ध० ४५; ला० ३२०	अष्टादशन्	अट्ठारस	अट्ठारह	एट्टीन
ध० ४८	ऊनविंशति	एकूनवीसति	...	नाइन्टीन
ध० ५१, ला० ३२०	विंशति	वीसति	वीस-इ	ट्वेन्टी
ध० ५४, ७६	एकविंशति	...	...	...
ध० ५६, ७६	द्वाविंशति	द्वावीसति, बावीसति, द्वावीसं	...	ट्वेन्टी-टू
ध० ५९, ७६	त्रयोविंशति	तेवीसति, तेवीसा	...	ट्वेन्टी-थ्री
ध० ६४	चतुर्विंशति	चतुवीसति	...	ट्वेन्टी-फोर
ध० ६८	पञ्चविंशति	पञ्चवीसति	..	ट्वेन्टी-फाइव
ध० ७५	षड्विंशति	छब्बीसति		ट्वेन्टी-सिक्स
ध० ७६	चत्वारिंशत्	चत्तालिसं		फॉर्टी

तालिका ५

पालि और प्राकृत के निपातों और सर्वनामों, इत्यादि, की तुलनात्मक तालिका, जिसमें गाथा बोली के भी कुछ समकक्ष शब्दों को उद्धृत किया गया है।

सन्दर्भ	संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेजी
गा० २०, १५९	अथ	...	अथ	अह	नाऊ
गा० ३४, गा० २४२	अथवा	...	अथवा	अथवा	ऑर
गा० ४८ और बाद, क्रा० ६८	इतः	...	इतो, अतो	इदो	हेन्स
धा० २०, क्रा० ६९	इह	..	इह, इध	इध	हीयर
धा० २१, ९२, १२१, १३९, १५२, ११९, १२८; क्रा० ६९; प्र० ४३	अत्र	...	एत्थ	एत्थ	हीयर
प्र० ३१	अत्र	...	...	एत्त	हीयर
प्र० ११३, क्रा० ६८	अत्र	..	अत्र, अत्थ	अत्थ	हीयर
प्र० १९	अत्र	..	...	अत्तो	हीयर
धा० १५६, प्र० ११९; क्रा० ६९	यत्र	...	यत्र, यत्थ	जत्थ	व्हेयर
धा० ९१, १४९, २३८	तत्र	...	तत्र, तत्थ	तत्थ	देयर

वा० ९८, १४९; लवि० १५३, १९१ और बाद, क्रा० ६९	तत्र	तहि	तहिं, तहम्	तहिं	देयर
वा० २४६	तदा	...	...	तहिं	देन
वा० १८०, २१३, १४५, १४८, २००, २१०, २३५; लवि० ५६, ६१, ४६४	यथा	जिह्नि जिह्म जह	यथा	जहा, जहअ जहं, जधा	ऐज़
वा० १५०	यत्	...	यं	जधा	दैट
वा० १८१,२१०, २२३	तथा		तथा	तहअ	सो
वा० १४८, २७८	तथा	...	..	तधा	सो
वा० ८६, १२२	यत	...	यतो	जदो	व्हेन्स
वा० २९७	यतः	...	...	जत्तो	व्हेन्स
प्र० ४७	ततः	...	ततो	तदो	देन्स
वा० ८८, १४८; प्र० २०	यदि	...	यदि	जदि	इफ
वा० ७०, २२९; प्र० १७, ४७	यदि	...	...	जइ	इफ
वा० १८९	यदि	...	...	जहिं	इफ
वा० ७७	यथेच्छम्	...	यथिच्छितं	जहिज्जम्	ऐज़ डिजायर्ड
वा० २३८	यथेच्छम्	...	...	जहिच्छम्	ऐज़ डिज़ायर्ड
वा० ३४,९७; प्र० २०, ३४	कथम्	.	कथं	कहं	हाऊ ?

[illegible]	[illegible]	गा II	पालि	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]म्	...	...	कधम्	हाऊ ?
[illegible]	[illegible]म्	.	..	कीम	हाऊ ?
[illegible]	कुह	कहिं ([illegible]० २३२, २८३)	कुहि, कुहम्	कहि	व्हेयर ?
[illegible]	कुत्र	...	क, कुत, कुत्र	कह	व्हेयर
[illegible]	कुतः	...	कुतो	कुदो	व्हेन्स ?
[illegible]	किम्	...	कि	की	व्हाई ?
[illegible]	कतर	...	कतर	कदर	व्हिच ?
[illegible] २०	कति	...	कति	कदि	हाऊ मेनी ?
[illegible] ५, १८१	तत्	...	त	तम्	देट
[illegible]	ततः	...	तं	ता	देट, देयरफोर
प्र० १९, ५७	तर्हि	..	तद (तरहि)	ता	देन
[illegible] ३१, ५९, १८२	यत्		यं	जम्	हाट
[illegible] xxviii, [illegible] ७०; प्र० ४३, १२२; [illegible]० १९०, १९९	त्वाम्[123]	तुम	त्वम् , तुवम्	तुमम्	दाउ
प्र० ४१	त्वाम्	...	तम् , तवम् , त्वम् , तुवम्	तुमम्	दी
प्र० ३८	तुभ्यम्	...	तव, तुय्हम् तुम्हम्	तुह	टु दी

९ मू० सं० उ० द्वि०

वा० १२०, १४१; वा० ३५, ११३	तव, ते (तव)	ति	तव, तुय्हम्, तुम्हम्	तुह, तुम्म, तुम्ह, तुज्झ, ते, दे	ऑफ दी
वा० ५६, १४१, २२४, १४५, १६५, १७०, १७७, १५३	त्वया	...	त्वया, तया	तुए, तुमए, तए, तुमे, ते, दे, तीए	बाइ दी
प्र० १२४	त्वयि		तयि	तुमम्मि, तुम्हि, तइ	इन दी
प्र० ४०, लवि० १७३, ३९६	यूयम्	युष्मे, युष्मि	तुम्हे	तुम्हे, तुझ्झे	यू
वर० XXVIII	युष्मान्	...	तुम्हाकम् , तुम्हे	तुज्झे, तुम्हे, वो	यू
	युष्माभिः		तुम्हेभि, तुम्हेहि	तुज्झेहि, तुम्हेहिं, तुम्मेहिं	बाइ यू
	युष्मत्	...	तुम्हेभि, तुम्हेहि	तुम्हाहिन्तो, तुम्हासुन्तो	फ्रॉम यू
	युष्माकम्	...	तुम्हाकम्	वो, भे, तुज्झाणं, तुम्हाणं	ऑफ यू
	युष्मासु	...	तुम्हेसु	तुज्झेसु, तुम्हेसु	इन यू
वा० २८३; प्र० ४१, १३८	तस्याः	...	तिस्साय, तिस्सा, तस्सा, ताय	तिस्सा, तीए, ताए,	ऑफ हर
प्र० १३४	तया	..	ताय	ताए	बाइ हर
प्र० ४५, ४७	अयम्	...	अयम्	इमो	दिस

१२३ प्रथम पुरुषवाचक सर्वनामो की तुलनात्मक तालिका ग्रन्थ मे और आगे मिलेगी ।

सन्दर्भ	संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेजी
प्र० ३[illegible], ४[illegible], १२[illegible], १[illegible]; गा० ३१, ५[illegible], ६३, ७२, १००; गा[illegible] ५[illegible]	अस्य इमस्य (वैदिक)	इमस्य	अस्स इमस्स	इमस्स, से	ऑफ दिस
प्र० १२[illegible]; गा० ३५, [illegible] ४५४	अनेन	एन	अनेन, इमिणा	इमिणा	वाइ दिस
प्र० ३८	अनया	...	इमाय	इमाए	वाइ दिस
गा० ६५, ६२, ७०	अस्मिन्	...	अस्मि इमस्मिं इमम्हि	इमस्सि	इन दिस
प्र० १३	एषाम्	...	एसं, एसानं इमेसं, इमेसानं	इमाणम्	ऑफ दीज़
प्र० ३३	एभि	...	एभि, इमेभि, एहि, इमेहि	इमेहि	वाइ दीज़
प्र० १३४	कस्या·	...	...	कीए	ऑफ हूम ?
गा० ३५	इदम्	...	इदम् , इमम्	इणम्	दिस
गा० ५	एतत्	...	एतम् , एतद्	एदम्	दिस
गा० ५०	एते	...	एते	एदे	दीज़ (पु०)
गा० ४४ और बाद	एताः	...	एता, एतायो	एदाओ	दीज़ (स्त्री०)
गा० ५०	ते	...	ने, ते,	दे	दे
गा० ३५	एतावत्	...	एत्तावता	एदह	सो मच
गा० २१३	एतावत्	...	एत्तो, एत्तको	एत्तिअ	सो मच
प्र० १९	इयन्ति	...	...	एत्तिआइं	सो मच

वा० २९, २९३	येन	...	येन	जेण	वाइ व्हिच
वा० ८	यस्मिन्		यस्मिं, यम्हि	जस्सि	इन व्हिच और हूम
वा० ८७	येषाम्	...	येसम्	जाणम्	ऑफ हूम
वा० ५६	तेषाम्	...	तेसम् , तेसानम् , नेसम् , नेसानम्	ताणम्	ऑफ देम
वा० ५५	सदृश	...	सदिस, सादिस	सदिस	लाइक
वा० ३५, ११३, २८९ प्र० १२, १६, ४४	सदृश	...	सारिस	सरिस	लाइक
वा० ६५, ७६, ८०, २९२, प्र० ४१	सदृक्ष	...	सादिक्ख सरिक्ख	सरिच्छ	लाइक
वा० ३५	ईदृश	...	ईदिस	ईदिस	लाइक दिस
प्र० ४३, ४६	ईदृश	...	ईरिस	ईरिस	लाइक दिस
प्र० १६, १९, ४८	ईदृश	...	एदिस, एरिस	एरिस	लाइक दिस
वा० ५३, ५७, १६४, २१८	कीदृश	...	कीदिस	कीदिस	लाइक व्हाट
वा० ८८, प्र० ११३	कीदृश	...	कीरिस	कीरिस, केरिस	लाइक व्हाट ?
प्र० ९१	तादृश	...	तादिस, तारिस	तारिस	लाइक दैट
प्र० ११२	अन्यादृश	...	...	अण्णारिस	लाइक एनेदर
वा० २९९	अस्मादृशम्	...	अम्हादिस	अम्हारिस	लाइक अस
वा० १२०; कु० ७०	इदानिम्	...	दानि, इदानि एतरहि	एण्हिं	नाऊ
वा० ७७, १३८;	आत्मानम्	...	अत्तानम्	अत्ताणम्	हिमसेल्फ
प्र० २५; ध० २९	आत्मानम्	...	आतुमानं	अप्पाणम्	हिमसेल्फ
कर्पूरमंजरी, पृ० ५;	आत्मा	...	अत्ता	अप्पा	
वा० १२२	माहात्म्य	...		माहप्प	ग्रेटनेस

तालिका ६

अधोलिखित तालिका में पालि के कुछ ऐसे शब्दों की सूची दी गई है जिनमें से कुछ में तो अपरिवर्तित संस्कृत सुरक्षित है, जब कि कुछ अन्य का रूप थोड़ा परिवर्तित है, किन्तु प्राकृत की अपेक्षा इस परिवर्तन की मात्रा कम है।

सन्दर्भ	संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेजी
ध० ३१, ५५, ५८; का० २१, वर० ५.३६	राजा	...	राजा	राआ	किङ्ग
ध० १२ और वर० १.१७	जिह्वा	...	जिव्हा	जीहा	टङ्ग
गा० २९, और वर० २.३२	यष्टि	...	यट्ठि, लट्ठि	लट्ठि	स्टाफ
ध० ४०; वर० २.२७, मु०	साधुम्	...	साधुम, साहुम्	साहुम	गुड
ध० ५१, वर० ५.५	पिता	...	पिता	पिआ	फादर
ध० ५२, वर० ५.३४	पितरम्	...	पितरम्	पिअरम्	फादर
स्पी० १५	पित्रा	...	पितरा	पिदुणा	फादर
ध० २६, ५२, ७१; वर० ३.८	ब्राह्मणः	...	ब्राह्मणो	बम्हणो	ब्राह्मन
ध० ७२; वर० १.१८	गम्भीर	...	गम्भीर, गभीर	गहिर	डीप
ध० २०, २४; वर० ४.५	जीवितम्	...	जीवितम्	जीवम् , जीअम्	लाइफ

ध० २०७; वा० २४२, २५१	अन्धकारेण	...	अन्धकारेन	अन्धआरेण	डार्कनेस
ध० २८; मृ० ४३, ६९	ब ीवर्द॰	...	बलिवद्दो	वलिअद्दो, ब-इल्लो	ऑक्स
ध० ३४; वर० ३.३९	कार्षापणः	...	कहापण	कहावणो	...
ध० ४४	समाधिम्	...	समाधिम्[१२४]	..	मेडिटेटिङ्ग
ध० ४६; वर० ४.१५	यावता	...	यावता	जाव, जा	ऐज़ मच
	तावता		तावता	ताओ, ता	सो मच
ध० २२, ६८, मृ० ११; वर० ४.१२	भद्रम्	...	भद्रम्, भद्दम्	भद्दम्	गुड
क्षा० ४०, वा० २३४, २६७	शूकरी	..	सूकरी	सूअरी	ए सो
	शूकर		सूकर	सूयर, सूअर	ए बोर
क्षा० ७; वर० २.२७, ५.२५, २७	मधु	...	मधु	महु	हनी
ध० ३६, प्रबो० ५८; प्र० ३८, ४०	सुखम्	...	सुखम्	सुहम्	हैपिनेस
क्षा० ३७, वर० २.२७; वा० १५६	सभा	...	सभा	सहा	ऐन असेम्बली
	गाथा		गाथा	गाहा	ए वर्स
क्षा० ४२; वर० ५.३२	माता	...	माता	माआ	मदर
	मातरम्		मातरम्	माअम्	मदर
स्पी० २२; क्षा० ४५; वर० २.२७	मुखम्	...	मुखम्	मुहम्	फेस

[१२४] मैं यह नही कह सकता कि इस शब्द का प्राकृत रूप 'समाधि' है अथवा 'समाहि', अथवा इन दोनो से भी भिन्न कोई तीसरा रूप ।

सन्दर्भ	संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेजी
	[illegible]		लोको	[illegible]	[illegible]
[illegible]	गजः	...	गजो	गओ	एलीफेण्ट
	रजतम्		रजतम्	रअदम	सिल्वर
चर० १.२२	कृतम्	...	कतम्	कअम्	डन
चर० ३.५८	त्रैलोक्यम्	...	तेलोकम्	तेल्लोअम	दि थ्री वर्ल्ड्स
	जीवम्		जीवम्	जीअम्	लाइफ
चर० २.२	वचनम्	...	वचनम्	वअणम्	वर्ड
चर० २.२, ४६	दिवसः	..	दिवसो	दिवहो, दिअहो	डे
चर० १.४१	यौवनम्	...	योब्बनम्	जोव्वनम्	यूथ
महा० पृ० २२४; मृ० ४४	संस्कृतम्	...	सक्कतम्	सक्कदम्	संस्कृत
महा० २०१, चर० १.२०	पुस्तकम्	..	पोत्थकम्	पोत्थओ	बुक
स्पी० ५०; प्र० ९१; पा० १४३	भगिनी	...	भगिनी	बहिणी; बहिणी, भइणी	सिस्टर
महा० २५०; चर० ३.२६	गर्दभः	...	गद्रभो	गड्डहो	आस
स्पी० ३२, चर० १.२०	मुक्ता	...	मुत्ता	मोत्ता	पर्ल
स्पी० ३३; सू० १६, ४३, ४४, ५०; पा० ३५, २२१	द्वार	...	द्वार	दुआरअ; दुवार; दूवार	डोर
पा० १३०, २८४	शाखी	...	साखी	साही	ए ट्री
पा० ७०	रेखा	...	रेखा	रेहा	ए लाइन

वा० ११३	सखी	...	सखी	सही	फीमेल फ्रेण्ड
वा० ४८, ७६, १५६, प्र० ३६	शिखा	...	सिखा	सिहा	क्रेस्ट
वा० ९३; प्र० १०, १२	शिखर	...	सिखर	सिहर	समिट
वा० ७३, ९६, १५६; प्र० ३८	शेखर	...	सेखर	सेहर	क्रेस्ट
वा० ५२; प्र० ३५, ३८	शिखण्ड	...	सिखण्ड	सिहण्ड	पीकॉक्स टेल
प्र० १२, ४१	लेखा	...	लेखा	लेहा	ए राइटिङ्ग
प्र० ३६	नख	...	नख	णह	नेल
प्र० ३६; वा० ६, १०, ९२	लिखित	...	लिखित	लिहिद	रिटेन
वा० २२१, २७८	परिखा	...	परिखा	परिहा	डिच
वा० २८७	मेखला	...	मेखला	मेहला	गर्डल
वा० २१५, २२५	मेघ	...	मेघ	मेह	क्लाउड
वा० ५०	सङ्घ	...	सङ्घ	संह	असेम्ब्लेज
ध० ७, ६६; वर० ३.६५, मृ० १०७	लघु	...	लहु	लहु	लाइट
वा० ७१, १९९, प्र० १४	रथ	...	रथ	रह	चैरियट
प्र० ३६	अथवा	...	अथवा	अहवा	ऑर
प्र० १३७; वा० २४२, २९७	मिथुन	...	मिथुन	मिहुण	पेयर
वा० ३०८	मिथिला	...	मिथिला	मिहिला	नेम ऑफ ए सिटी

सन्दर्भ	संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेजी
धा० २९८	अतिथि	...	अतिथि	अतिहि	गेस्ट
धा० २३८	अधर	..	अधर	अहर	लोअर लिप
धा० १११, १९३, १९८, प्र० ३२	गाढ़	...	गाढ़	गूढ़, गढ़	ग्राइफ
ग० ३५, ३९; धा० ३०	मधुर	.	मधुर	महुर	स्वीट
धा० २५४; फ़ा० ७, ५१	मधु	...	मधु	महु	स्वीट
धा० १०	विबुध	.	विबुध	विबुह	वाइज़ मैन
धा० २५८	पञ्चविध	...	पञ्चविध	पञ्चविह	फाइव-फोल्ड
धा० १९८, २२१, २४३	विविध	...	विविध	विविह	वेरियस
धा० २३८	विधुर	...	विधुर	विहुर	एजिटेटेड
धा० १९९	जलधि	...	जलधि	जलहि	सी
धा० ८९, २०३	रुधिर	...	रुधिर	रुहिर	ब्लड
धा० २५०	दधि	...	दधि	दहि	कर्ड्स
धा० २२८	बधिर	...	बधिर	बहिर	डेफ
धा० २८९	महीधर	...	महीधर	महीहर	माउण्टेन
धा० १६०	आराधण	...	आराधन	आराहण	वर्शिप
धा० ७२, २९२; फ़ा० ७, २४	फल सफल	... ...	फल सफल	हल, सहल	फ्रूट, फ्रूटफुल
प्र० १३७	रभस		...	रहस	स्पीड
प्र० ११	शोभन्ते		सोभन्ति	सोहन्ति	दे शाइन
प्र० ३६	अभिलषन्ति	...	...	अहिलसन्ति	दे डिज़ायर

वा० १२३	लभते	...	लभति	लहइ	ही रिसीव्स
वा० ७९, १५६, २४२, २५९	वल्लभ	...	वल्लभ	वल्लह	बिलवेड
वा० २१९	उपलब्धम्	...	..	उअलहिउम	टु अण्डरस्टैण्ड
वा० ७३, ९३, २०७	वृषभ	...	उसभ	वुसह	बुल
वा० २०२, २१८	चोभ	...	खोभ	खोह	शेकिङ्ग
वा० २२४	विभिन्न	...	विभिन्न	विहिण्ण	डिवाइडेड
वा० २३८	सुरभि	...	सुरभि	सुरहि	फ्रैग्रेण्ट
वा० २७६	दुन्दुभि	...	दुन्दुभि	दुन्दुहि	ड्रम
वा० १९८	नाभि	...	नाभि	णाहि	नेवेल
वा० २३७	शैल	.	सेल	सेल्ल	माउन्टेन
वा० ८६, १४५	वैर	...	वेरि	वेरि	एनिमी
वा० २२१, २४०	तैल	...	तेल	तेल्ल	ऑएल
वा० २६४	दाह	..	दाह, डाह	डाह	बर्निङ्ग
प्र० १०४	सूची	...	सूचि	सूई	नीडिल
वा० २४३	सूचित	...	सूचित	सूइद	इण्डिकेटेड
वा० १५०, १५५	हृदय	...	हदय	हिअअ	हार्ट
वा० २३८	पादयोः	.	पादेसु	पाएसु	ऐट दि फीट
वा० २३५	धूम	...	धूम	धूम	स्मोक
वा० १९९	पदातिकस्य	.	...	पाइकस्स	फूटमैन
वा० २४५, २५१	मुद्गर	...	मुग्गर	मोग्गर	मैलेट
प्र० ४४	कुब्ज	...	खुज्ज	खुज्ज	बेण्ट
वा० १२५	शोष	...	सोस	सोस	ड्राइङ्ग अप
वा० ५०	घोष	...	घोस	घोस	नॉएज़

प्रसंग	संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेज़ी
[illegible] ३.६२, [illegible]	ग्लान, म्लान	गिलान	गिलान, गिलान	गिलाण	सिक, वेयरीड
[illegible] ३.६२; [illegible] २६९	क्लान्त	किलान्त	किलन्त	किलान्त	वेयरीड
[illegible] ३.६२; [illegible] ६०, १८८	क्लेश	किलेश	किलेस	किलेस	ट्रबल
[illegible] ५०; प्र० ५१, [illegible] ३६, १२२, २७८	स्नेह	...	स्नेह, सिनेह	सिणेह	अफेक्शन
[illegible] ३२; प्र० १२; [illegible] १२९, १७५	श्री	सिरि	सिरी	सिरी	स्प्लेंडर
[illegible] ४४	ह्री	हिरि	हिरी	हिरी	शेम
प्र० १२; [illegible] ३.६२	हर्ष	...	...	हरस, हरिस	जॉय
प्र० ११३, ११४, २३८, [illegible] ६५, २३५, २३९, ३२९	स्वप्न	सुपिन	सुपिन, सोप्प	सिविण	स्लीप
प्र० ४४, ४८	मूर्ख	...	...	मुरुख	फूल
प्र० ३५	विस्मृत	. .	...	विसुमरिद	फॉर्गाटेन
बा० ११३, २७८	स्मरण, स्मृत्वा	. .	सुमरिय	सुमरण, सुमरिअ	रिकलेक्शन, हैविङ्ग रिकलेक्टेड
बा० १९८	उत्कर्ष	...	उक्कंस	उक्करिस	एमिनेन्स
[illegible] २४६	कर्षन्ति	.	कड्ढन्ति	करिसन्ति	डे ड्रा
बा० २०, १२६, २७६	वर्ष	...	वस्स	वरिस	रेन
बा० २१०	वर्षितुम्	...	वस्सितुं	वरिसिदुम	टु रेन

वा० २९६	वर्षऋतुः	...	...	वासारत्तो	रेनी सीज़न
वा० १४४; लवि० १९८	भार्या / नार्यः	नारिया	भरिया / नारिया	भारिआ	वाइफ, ऑफ ए वूमन
वा० ३१०	शत्रुघ्न	...	...	सत्तुहण	...
क्रा० ८; लवि० ५६, ९२, १३२, ११८, १८८	रत्न	रतन	रतन	...	जेम
क्रा० ४५, ५१, लवि० १५७	पद्म	पदुम	पदुम	...	लोटस
मृ० ३०	गृहाण		गण्ह	गेण्ह	टेक दाउ
प्र० ३७, ८७; वा० २३६	परिहृत्य	...	परिहरित्वा	परिहरिअ	हैविङ्ग रिमूव्ड
प्र० १२४	अङ्गीकृत्य	...	...	अन्गीकरिअ	हैविङ्ग असेन्टेड
प्र० ६४	मिलित्वा	...		मिलिअ	हैविङ्ग मेट्
वा० २१६; प्र० ८४	समुत्तीर्य / उत्तीर्य	उत्तरित्वा	समुत्तरित्वा / उत्तरित्वा	समोत्तीरिअ / उत्तरिअ	हैविङ्ग क्रास्ड
लवि० ४३८	पराहत्य	पराहनिअ	.	...	हैविङ्ग सिमटेन
वा० ८७	चिन्तयित्वा	चिन्तिया	चिन्तेत्वा / चिन्तिय	चिन्तिअ	हैविङ्ग रिफ्लेक्टेड
वा० ८७	अनुसन्धाय	..	...	अणुसन्धिअ	हैविङ्ग एसर्टेण्ड
वा० २३५	अवमत्य	...	अवमानेत्वा / अवमानिय	अवमणिअ	हैविङ्ग डेस्पाइज्ड
वा० ७, २६१	अतिक्रम्य	...	अतिक्कमित्वा / अतिक्कम्म	अदिक्कमिअ	हैविङ्ग अटैक्ड
वा० २४१	उत्पाट्य	...	उप्पाटेत्वा	उप्पाडिअ	हैविङ्ग रूटेड अप

प्रसंग	संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेजी
धा० ७१	उच्यते	...	उच्यते उच्चति	उच्चदि	टु बी सेड
धा० ९	वर्ण्यते	...	वण्णीयति	वण्णीअदि	टु बी रिलेटेड
धा० १	पच्यते	..	पचीयति	पच्चीअदि	टु बी रेड
	उत्तीर्यते		उत्तरीयति	उत्तरीअइ	टु बी फास्ड
धा० २२९	निर्वाप्यते	...		णिव्वोहीअइ	टु बी अण्डरस्टुड
	निमज्जते			णिमज्जीअइ	टु बी सङ्क
धा० ११२	सन्धीयते	..	सन्धीयति	सन्धिज्जइ	टु बी जॉएण्ड
धा० १२०	विज्ञाप्यते	.	विञ्ञापियति	विण्णवीअदि	टु बी इनफॉर्म्ड
धा० ३५	विस्तार्यते	.	वित्थारियति	वित्थरइ	टु बी एक्सटेण्डेड
प्र० ५५	भज्यते	...	..	भज्जीअदि	टु बी ब्रोकेन
धा० २५२	निवेद्यन्ताम्	...	निवेसियन्तु	निवेसीअन्तु	लेट देम बी प्लेस्ड
धा० २२, २६, १२१	विज्ञापयामि विज्ञापयति	...	विञ्ञापेमि विञ्ञापेति	विण्णवेमि विण्णवेदि	आइ इनफार्म ही इनफार्म्स
धा० २६३	पूर्यमाण	...	पूरमान	पूरीअमान	बीइङ्ग फिल्ड
धा० २५१, २६३	दह्यमान	...	दय्हमान	दहिज्जन्त	बीइङ्ग बर्न्ड
धा० १३५	रमणीय	...	रमणीय रमणिय्य	रमणिज्ज	प्लेजेण्ट

तालिका ७

निम्नलिखित तालिका में क्रियाओं और कृदन्तों की एक सूची प्रस्तुत है जिससे यह भली प्रकार स्पष्ट होगा कि संस्कृत रूपों से पालि रूपों में भिन्नता की मात्रा प्राकृत रूपों की अपेक्षा कम है।

संदर्भ	संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेजी
वला० १२५; डेप्रा० २४, व्रा० १०१	श्रणुम'	...	सुणोम	सुणम्ह सुणिमो	वी हीयर
वला० १२५	श्रणोषि	...	सुणासि, सुणोसि	...	दाउ हीयरेस्ट
क्रा० १०९; डेप्रा २४	श्रणोति		सुणोति	शुणादि	ही हीयर्स
वला० १२५, डेप्रा० २४	श्रणोतु		सुणातु सुणोतु	सुणादु	लेट हिम हीयर
वला० १२१; वर० ७.१६, १७, कोवेल xxx; डेप्रा० २४	श्रोष्यामि श्रोष्यति	श्रुणिष्यि शुणिष्यति	सोस्सामि	सोच्छम सोर्च्छिस्सम् सुणिस्सम	आइ, ही, विल हीयर
वला० १३१, डेप्रा० २४	श्रुतः	...	सुतो	सुदो	हर्ड

सन्दर्भ	संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेजी
[illegible] १२, [illegible]० २१, [illegible]प्रा० [illegible] १२० । २३; [illegible]० ६५, इत्यादि	श्रुत्वा	श्रुत्वा, श्रुत्व, सुणित्त, सुणित्ता, श्रुणित्वा, श्रुणित्वा	सुत्वा, सुत्वान, सुणित्वा	सुणिअ, सो-ऊन	हैविंग हर्ड
[illegible]० १७; [illegible]प्रा० २४	श्रोतुम	...	सोतुम	सुणिदुम	टु हीयर
[illegible]० १४, २८, [illegible]० २०७, २३४, २८४, २८७	शृणुते, शृण्वन्ते	श्रुणुते, श्रुनन्ति	सुणति, सुणन्ति	सुणीअदि, सुणीअइ, सुणिज्जन्ति	ही इज़ हर्ड, दे आर हर्ड
[illegible]० १२२	शृण्वन्ताम	...	सूयन्तु	सुणीअदु	लेट देम बी हर्ड
[illegible]० १५३	श्रूयते	.	...	णिसुणि	ही इज़ हर्ड
[illegible]० २०२	श्रूयमाण	..	सुयमान	सुनिज्जन्त	बीइंग हर्ड
[illegible]० ११३	श्रूयमाणा	...	...	सुवन्ती	बीन हर्ड
[illegible]० २८०	श्रावयतु	...	सावेतु	सुणावेदु	लेट हिम कॉज़ टु हीयर
[illegible]० १५६	शुश्रूषण	...	सुस्सूसा	सुस्सूसण	ओबीडियेन्स
[illegible]० १२५, हेप्रा० १७	ददामि	ददामि, ददामी	ददामि, देमि, दज्जामि	देमि	आइ गिव्
[illegible]० ३३, [illegible]० १२४, १३५, हेप्रा० १७	ददाति	...	ददाति, देति, दज्जति	देदि, देइ	ही गिव्स
[illegible]० १२७	अदात्	...	अदासि, अदा	...	ही गेव्
[illegible]० १२१; वर० ७.१६; हेप्रा० १७	दास्यामि	...	दस्सामि	दाहम्, द-इस्सम	आइ विल गिव्

क्रा० २५, डेग्रा० १७	ददत्	...	ददम् , ददन्तो, देन्तो	देन्तो	गिविङ्ग
ध० ४३; वा० १७९	ददतः	...	ददतो	देन्तस्स	ऑफ वन गिविङ्ग
ध० ४४; वर० ८.६२	दत्तम्	. .	दिण्णम्	दिण्णम्	गिवेन
वा० २२, १५३, २१८, २७७; लवि० ८९, १०८, २१५, २७०	देहि	देहि, ददहि, ददही, ददाहि	देहि	देहि, देज्ज,	गिव दाउ
वा० ६७, ७५, १३७	दीयताम् दीयन्ताम्	दीयतु ...	दीयतु, दिय्यतु दीयन्तु, दिय्यन्तु	दिज्जदु दिज्जन्तु	लेट इट बी गिवेन लेट देम बी गिवेन
डेग्रा० १७	दत्वा	देती, ददिअ, ददिय	दत्वा	दइअ, देइअ, दऊण	हैविङ्ग गिवेन
स्पी० ३४	भवितुम	...	भवितुम, होतुम	भविदुम	टु बी
लवि० २९३; ध० ४२; वला० १२२; डेग्रा० २६	भव	भोहि	भव, होहि	होहि, होइ	बी (दाउ)
वला० १६१	भवतु	...	होतु, भवतु	भोदु, होदु	लेट हिम बी
ध० ४४, ६७; क्रा० ८, १०२, वर० ८.३	भवति	भोति, भवि	भवति होति	भोदि, होदि, होइ, पभव-इ	ही विकम्स
ध० ५४, ६१, वला० ८६	भवन्ति	भोन्ति	भवन्ति, होन्ति	भोन्ति, होन्ति	दे आर
स्पी० २२	प्रभवामि	प्रभामि	पभवामि, पहोमि	पभवमि पभवामि	आइ ओवरकम
क्रा० १०३	भूयताम्	...	भूयताम्		लेट इट बी

सन्दर्भ	संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेजी
धम्म० १२०	[illegible]	..	होन्तो, भवम भवन्तो	.	बीङ्ग
धम्म० ११, १३, धैम्पा० २६, महा० ८.२	भूतः	...	भूतो	भूदो, हूअ	बीन
सं० १५, धैम्पा० २६	भूत्वा	भवित्व भवित्वा	हुत्वा	भवित्व	हैविङ्ग बीन
ग्रा० १५, म० ५.२३	अभवत्	...	अभवि	हुवीअ	ही वाज़
मल्ला० १२७; महा० ७.२४; ललि० १८७	अभूत्	अभूषि	अहोसि, अहु	होहीअ	ही वाज़
मल्ला० १२७	अभूवन् अस्थात्	अवभूवन्	अहोसुम अट्ठासि	...	दे वेयर ही स्टुड
मल्ला० १२९	स्थातुम	...	ठातुम	...	टु स्टैण्ड
म० ६०; क्रा० २५; धैम्पा० १९; मल्ला० १२५; महा० ६.६३	तिष्ठन्ति	...	तिट्ठन्ति	टिट्ठन्ति चिट्ठन्ति	दे स्टैण्ड
बा० २१९, ललि० २६१	भविष्यामि	भेष्यि	भविस्सामि	भविस्सम	आइ शैल बी
बा० १४९, १७९; म० १४०, १४२, ललि० ६२, १२७, २३८	भविष्यति	भेष्यति भवि	भविस्सति हेस्सति	भविस्सुदि हविस्सदि	ही शैल बी
ग्रा० २०	परिभव	...	...	परिहव	एक्सेल दाउ

प्र० ८३, १४०; वा० ८६, २६९	परिभूत	...	परिभूत	परिहूद	एक्सेल्ड
	प्रभूत	...	पहूत	पभूद	स्ट्रॉङ्ग
	अनुभूत	...		अणुभूद	पर्सीव्ड
वा० १६९, लवि० २९१	उत्तिष्ठ	उत्थि	उट्ठह	उठ्ठेहि	राइज़ दाउ
लवि० ३९६, ४०६	उत्थाय	उथि उत्थिहित्वा	उट्ठाय उट्ठहित्वा	...	हैविङ्ग रिजेन
लवि० ३५५	उत्तिष्ठेत्	उत्थिहेत्	उट्ठहेय्य	...	ही मे राइज़
लवि० २९८	स्थित्वा	स्थिहिय	ठत्वा	...	हैविङ्ग स्टुड
ध० ३१; मृ० ८०; वर० ८.६९	पश्यति	...	पस्सति दिच्छति	पस्सदि देखदि पुलअइ	ही सीज़
ध० ६.१०१	प्राप्नोति	...	पप्पोति पापुणाति	पाविदि	ही ऑब्टेन्स
स्पी० २२	प्राप्नुवन्ति	...	पप्पोन्ति पापुणन्ति	...	दे ऑब्टेन
ध० २४, ७५, डेप्रा० ६२	प्राप्नोऽसि	...	पप्तोऽसि पत्तो	पाविदो पत्तो	ऑब्टेन्ड
स्पी० १५, २२, ४०, डेप्रा० ६२	प्राप्य	...	पत्वा पापुणित्वा	समापिअ	हैविङ्ग ऑब्टेन्ड
ध० १२; डेप्रा० १५	विजानाति	.	विजानाति	जानादि, जाणदि, विआणादि	नोज़
ध० ३, ५०, वला० १२९	ज्ञात्वा	...	जत्वा जानित्वा	जाणिअ	हैविङ्ग नोन

सन्दर्भ	संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेजी
ना० (?)	ज्ञातुम्, ज्ञात्वान	.	जानितुम, ञातुम, ञात्वान	जाणिउम्, जाणिऊण	टु नो, [illegible] नोन
प० ५, ११, ४१; ऐग्रा० २९	[illegible]	...	[illegible]	[illegible]	[illegible]
प० ३०; ऐग्रा० २०; पद० १२.१०	गत्वा	गच्छित्वा	गन्त्वा	आगच्छिअ, गच्छिअ, गन्तुअ	हैविङ्ग गॉन
ना० ४८, २५०, २१८	गतः	...	गत	गदो, गऊँ	गॉन
प० ३०, ६०; मा० १, ऐग्रा० ६९; वा० २१५	दृष्ट्वा	...	दिस्वा, डिस्वान, पस्सित्वा	दट्ठून	हैविङ्ग सीन
वा० २४३, २८७, ३०५, प्र० १३, ३५	दृश्यन्ते	..	दिस्सन्ति	दीसन्ति	दे आर सीन
	दृश्यते		दिस्सति	दीसदि	ही इज सीन
ना० १५०	दृश्यमान	...	दिस्समान	दीसमाण	बीइङ्ग सीन
वा० ६५	दर्शन	...	दस्सन	दंसन	साइट
ना० १	दर्शयिष्यति		दस्सयिस्सति	दंसइस्सदि	ही विल शो
ऐग्रा० ७९	मृत्वा	...	मरित्वा	मरिऊण	हैविङ्ग डाइड
ना० १९७	उड्डीय	...	...	उड्डिऊण	हैविङ्ग फ्लोन
ध० ५२, ऐग्रा० ६२	हत्वा	हनित्वा	हन्त्वा, हनित्वा	आहणिअ	हैविङ्ग किल्ड
स्पी० २२; ऐग्रा० १८	पीत्वा	पिस्वा	पिवित्वा, पीत्वा, पिवित्वा	पिविअ, पाऊण	हैविङ्ग ड्रङ्क
ध० १७, ना० २८४	हित्वा	जहित्वा	हित्वा, जहित्वा	...	हैविङ्ग लेफ्ट
ध० ३२	जित्वा	..	जेत्वा, जिनित्वा	.	हैविङ्ग कॉङ्कर्ड
ध० ५०; ऐग्रा० ५५	छित्वा	छिनित्वा	छेत्वा	परिच्छिदिअ	हैविङ्ग कट

ध० ८, ९, वर० ८ ५५	विदित्वा	...	विदित्वा	वेत्तूण	हैविङ्ग नोन
स्पी० ३०, डेग्रा० ५९	वद्ध्वा	वद्धित्वा	बन्धित्वा	बन्धिअ	हैविङ्ग बाउण्ड
ध० ५८, डेग्रा० २६	अभिभूय		अभिभुय्य		हैविङ्ग ओवरकम
ध० ५८	विहाय, प्रहाय	विजहित्वा, विजह्य	पहाय, पजहित्वा		हैविङ्ग लेफ्ट
ध० २४, ६७, डेग्रा० ६७, वा० १२३	लभते	...	लभते, लभति	लहदे, लहदि, लहइ	ही रिसीव्स
ध० ६३, वला० १३७	अस्मि	.	अस्मि, अम्हि	म्हि	आइ ऐम
ध० ५१, डेग्रा० ८६	सन्ति	...	सन्ति	सन्ति, अच्छन्ति	दे आर
ध० ६०, वर० ८ ५१	पतन्ति	..	पतन्ति	पडन्ति	दे फॉल
ध० ७१,	ब्रवीमि	...	ब्रूमि	बोल्लामि (?)	आइ स्पोक
वला० ८६	कथयिष्यामि		कथेस्सामि	कधइस्सम, कहिस्सम	आइ विल से
वा० ११३	कथयामि	...	कथेमि	कधेमि	आइ से
वा० ११७	कथयति इव	...	कथेति	कहईव	ही सेज़ ऐज़ इट वेयर
वा० ५३, १६४, २१८, प्र० १२३	कथय	..	कथेहि	कधेसु, कहेसु, कहेहि	से दाउ
प्र० १२४	कथयिष्यति	...	कथेस्सति	कहिस्सदि	ही विल से
वा० २१३	कथ्यताम्		...	कहीअदु	लेट इट वी सेड
स्पी० २२, डेग्रा० ५३	कथयितुम्	...	कथेतुम्	कधेदुम्	टु से
ध० ३६, डेग्रा० ७७	जीवाम.	...	जीवाम	जीआम, जीवाम	वी लिव

सन्दर्भ	संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेजी
प्र० ११[illegible]	पृच्छति पृच्छ्यते		पुच्छति	पुच्छदि पुच्छीअदि	हे आस्क, इट इज़ आस्क्ड
प्र० ५३, [illegible]	स्नाति		न्हायति न्हाइति	ण्हाइ	ही [illegible]
[illegible] [illegible]	आसीत्	..	आसि	आसि	ही वाज़
धा० २८२	आसन्	.	आसुं	आसि	दे वेयर
प्र० १३, ६[illegible]	अस्ति		अत्थि	अत्थि, अत्थिइ	ही इज़
प्र० १[illegible]	स्यात्	..	सिया, अस्स	.	ही मे बी
प्र० [illegible]	रक्षति	...	रक्खति	रक्खदि	ही कीप्स
प्र० ५१, ५२, ५३; वर० ८.४८	बुध्यते	...	बुज्झति	बुज्झइ	ही अण्डरस्टैण्ड्स
प्र० ४०; वर०	कुप्येत	.	कुज्झेय	कुज्झ् (धातु)	लेट हिम बी ऐंग्री
प्र० ५०	दद्यात्		दज्जा	...	लेट हिम गिव
प्र० १०१, क्रा० १४५, डेप्रा० ३२	स्मरति	.	सुमरति सरति	सुमरेदि	ही रिकलेक्ट्स
प्र० १२, ३५, धा० ५२, ८६, ९२	वर्ते वर्तते	..	वत्तति	वट्टामि वट्टदि	आइ ऐम ही इज़
धा० ५, २४७	वर्धमान वर्धित	...	वड्ढमान वड्ढित	वड्ढन्त वड्ढिद	इन्क्रीज़िंग इन्क्रीज़्ड
प्र० १३, वर० ८.४३	वर्धते	..	वड्ढति	वड्ढइ	ही इन्क्रीज़ेज़
प्र० १३३	जयतु	...	जयतु, जेतु	जेदु	लेट हिम काकर
प्र० ६४; डेप्रा० २१	जयति	...	जिनाति, जेति	जअदि, जिणादि	ही काकर्स

क्रा० ५, ११०; ध० ५४, डेग्रा० २७, २८	करोमि	कुरुमि	करोमि	करोमि करेमि कलेमि	आइ डू
ध० १, ७, ६२; क्रा० १००; डेग्रा० २८	करोति कृणोति (वैदिक)	...	करोति	करेदि, करेइ कुणइ	ही डज्
ध० ९; क्रा० ११०	कुरुते	...	कुरुते		
क्रा० ११०, वा० १९५	कुर्वन्ति, कृण्वन्ति (वैदिक)	करोन्ति	कुरोन्ति कुब्बन्ति	करेन्ति कुणन्ति	दे डू
चला० १८२	कुर्मः	करोम करोमो	करोम	करेम्ह करम्ह	वी डू
चला० १२७, क्रा० ११०; वर० ८.७	अकार्षीत्	...	अकासि	काहीअ	हो डिड
क्रा० ११०	अकार्षुः	...	अकासुं	...	दे डिड
डेग्रा० २८	करिष्यति	...	करिस्सति काहति	करिस्सदि काहिइ	ही विल डू
वर० ८.१७; ध० २८, ३२२	करिष्यसि	...	काहसि करिस्ससि	...	दाउ विल्ट डू
वर० ७.१६	करिष्यामि	...	करिस्सामि	काहम्	आइ विल डू
ध० १०, १२, २३, ३९, क्रा० २५; डेग्रा० २८	कुर्वन् कुर्वतः कुर्वन्तम् कुर्वन्तः	... ...	कुब्बं कुब्बतो कुब्बानं करोन्ता	करन्तो करेन्तो	डूइङ्ग
ध० ४२; डेग्रा० २८	कुरु	कुर्वहि	करोहि, कुरु	करेहि, कलेहि	डू
चा० ६९	कुरु, कृणु	...	..	कुण	डू दाउ

[illegible]	[illegible]	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेजी
ग्रा० ४१	[illegible]	...	...	करेस्सति	[illegible]
धा० २००, ११८	[illegible] ([illegible])	...	...	कुणइ / कुणय	[illegible]
धा० २०	[illegible]	...	कत्तु, कातु	काउम	टु डू
धा० १५२, २००	[illegible]	..	कत्तब्ब / कातब्ब	कायव्व / काअव्व	टु बी डन
धा० ३२, १५९	कृत	...	कत	किद, किर	डन
धा० २२८	क्रियते	...	करीयति, कय्यति	कीरइ	इट इज डन
धा० ७, २२७	क्रियताम्	...	...	करीअदु, कीरऊ	लेट इट बी डन
धा० २२१	प्रतिकुरुत / समीकुरुत	..	पटिकरोथ	पडिकरेह / समीकरेह	अपोज़ मी / लेण्ड मी
धा० ८१, २२६; प्र० ४७; ज्ञा० ३;	गृहीत	...	गहित / गहीत	गहिअ, गहिद	टेकेन
प्र० ४६	ग्रहीतुम	...	गण्हितुं	गहीदुम्	टु टेक
धा० ७५	ग्राह्य	...	गय्ह	गेज्झ	टु बी टेकेन
ज्ञा० १६	अकुर्म	..	अकरम्हसे	...	वी हैव डन
ध० २४, डेप्रा० २८; धर० १२.१०; ४ २३	कृत्वा	करित्य / करिया / करित्वा	कत्वा / करित्वा	कादुअ, कदुअ / काऊण	हैविङ्ग डन
ध० २८	अभ्यागात्	...	अज्झगा	...	एराइव्ड
ध० ३९, डेप्रा० ९०	प्रतिगृह्णन्ति	..	पतिगण्हन्ति	पडिगेण्हन्ति	दे रिसीव
ध० ४२०	कल्पयन्	...	कप्पेन्तो	कप्पेन्तो	कटिङ्ग
ध० १०१	शक्नोति	शक्तिम्	सक्कुणाति / सक्कोति	...	ही केन

स्पी० २२; कोवेल १७१; डेप्रा० ३६	शक्नोमि	..	सक्कोमि सक्कुणोमि	सक्कणोमि	आइ कैन
क्रा० १२९; वर० ८.५०	मृद्नाति	...	मद्दति	मलदि	ही ट्रेड्स
स्पी० २२ डेप्रा० २०	स्नातुम्	.	नहायितुं	ण्हादुम	टु बेद
ध० ५० विक्र० ११६	आराधयेत्	...	आराधये	अराहण	रेवरेन्सिङ्ग
प्र० १०, १२	राजते	...	.	रेहदि	ही शाइन्स
वा० २२	सन्दधासि	...	सन्दधासि सन्दहिसि	सन्धिहिसि	दाउ अप्लाइयेस्ट
वा० १७८	पठिष्यामि	...	पठिस्सामि	पढिस्सम्	आइ शैल रीड
वा० ३५, ५२, १५७, १७९	मन्ये मन्यध्वाम्	...	मञ्ञे मञ्ञथ	मण्णे मण्णध	आइ थिङ्क थिङ्क यी
वा० १७८	स्वप्स्यामि	..	सुपिनिस्सामि	सुविस्सम्	आइ शैल स्लीप
वा० १२२	स्तुमः	...	...	थुणिमो	वी प्रेज़
वा० २४६	घ्नन्ति		हनन्ति	हणन्ति	दे स्ट्राइक
वा० २७	प्रतिघ्नन्तु	...	पटिहनन्तु	पडिहणन्तु	मे दे एवर्ट
प्र० ११, ४१, ११३, ११५, वा० ७६	विलोकयन		विलोकयं	पुलोवन्तो	लुकिङ्ग
	विलोकय		विलोकय विलोकेहि	पुलोवेहि पुलोएसु	लुक
	विलोकयामः	...	विलोकयाम विलोकेम	पुलोअम्ह	वी लुक
प्र० ११, ४१, ११३, ११५; वा० ७६	अनालोकयन्ती विलोकयिष्ये	. ..	अनालोकेन्ती विलोकयिस्सं	अपुलोअन्ति पुलोवइस्सम्	नॉट लुकिङ्ग आइ शैल लुक

सन्दर्भ	संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत	अंग्रेजी
था० ११२, ११५, ११९, २०२, २१६, २५५, २११	कृष्ट आकृष्ट	... ...	कड्ढित आकड्ढित	कड्ढिअ कड्ढिअ आकड्ढिअ आकड्ढिद	ड्रॉन
	कृष्यमाण	...	.	कड्ढिज्जन्त	बीइंग ड्रॉन
	कर्षण	...	कड्ढन	कड्ढण	ड्रॉइंग
था० ४६; प्र० १०	अपसरति[125] अपसरन्ति	...	ओसरन्ति	ओसरदि ओसरन्ति	ही डिपार्ट्स दे डिपार्ट
था० १०, ५०, १२७	अवतरन्ति	...	ओतरन्ति	ओदरन्ति	दे डिसेण्ड
	अवतार	...	ओतार, अवतार	ओदार	डिसेण्ट
	अवतीर्ण	...	...	ओत्थरिअ	हैविंग डिसेण्डेड
था० १७४	हार्यसे	...	..	हीरसि	दाउ आर्ट स्नैच्ड अवे
था० १७६	कीर्त्यते	...	...	कीरदि	ही इज़ सेलीब्रेटेड
था० ७, १७८	प्रत्यक्षीकृत	...	..	पच्चक्खीकिद	मैनिफेस्टेड
पा० ४७३	परित्यज	...	परिच्चजस्सु परिच्चज	परित्तअसु	एबैण्डन दाउ

[125] प्रसन्नराघव के पृष्ठ ३८, ३९, १२६, १४६, तथा बालरामायण के पृ० ७६, १६२ मे, हमे ये रूप मिलते है: अवगदम्हि (अवगताऽस्मि), अवसर, अवतिण्ण (अवतीर्ण), अवतरइ (अवतरति), और अवदारस्स (अवतारस्य)।

खण्ड ६—अशोक के स्तम्भ तथा शिला अभिलेखों की बोलियाँ

फिर भी, ईसवीसन् के ठीक पूर्व की कुछ शताब्दियों में प्रचलित भारतीय देशभाषाओं का हमारा ज्ञान लंका की पालि पुस्तकों पर ही सर्वथा आधारित नही है। दूसरी अथवा तीसरी शताब्दी के राजा प्रियदर्शी अथवा अशोक[१२६] के शिलालेख, जो ऐसी भ्रष्ट संस्कृत में लिखे हैं जो प्रत्यक्षतः उस समय की देशबोली थी, आज भी भारत के विभिन्न भागों में शिलाओं तथा स्तम्भों पर वर्तमान हैं।

मैं इनके सम्बन्ध में लासन (इन्ड० आल्ट० २.२१५ और बाद) द्वारा प्रस्तुत सारांश से निम्नलिखित विवरण प्रस्तुत कर रहा हूँ।[१२७] ये अभिलेख अंशतः स्तम्भों और अंशतः शिलाओं पर खुदे है। स्तम्भ दिल्ली, इलाहाबाद, मठिया, और रधिया में वर्तमान हैं। इन चार स्तम्भों के अभिलेख अंशतः समान हैं, जबकि दिल्ली और इलाहाबाद के अभिलेखों में कुछ और जोड दिया गया है जो इन्हीं की विशेषता है। शिलालेख इन स्थानों पर मिलते हैं: १. गुजरात के गिरनार में, जिन्हे चौदह पृथक् वर्गों में रक्खा जा सकता है; २. उडीसा के धौली में जो प्रयोजन की दृष्टि से अधिकांशतः गिरनार के ही समान हैं यद्यपि इनकी बोली भिन्न है, और ३. पेशावर के निकट कपुर्दगढी में, जो यद्यपि उद्देश्य की दृष्टि से तो गिरनार के ही समान है तथापि अक्सर अभिव्यक्ति और न्यूनाधिक जटिलता की दृष्टि से भिन्न है। इनके अतिरिक्त भी, ऐसा प्रतीत होता है कि, अशोक ने इसी प्रकार के अनेक अन्य शिलालेखों को भी स्थापित कराया था। इसी आधार पर जयपुर के निकट ही भब्र में भी एक शिलालेख का पता लगा है जिसमें मगध की बौद्ध संगीति के एक उपदेश के अंश में मिलते हैं।

---

[१२६] प्रोफेसर विलसन 'प्रियदसि' के 'अशोक' के साथ समीकृत किये जाने को सर्वथा अनिश्चित मानते हुए यह निष्कर्ष निकालते हैं कि शिलालेखो का समय २०५ इ० पू० से बाद का होना चाहिये (जएसो० १२, २४३–२५१; १६.३५७)। 'ऐन्शेन्ट सस्कृत साहित्य' (पृ० ५२०) मे प्रोफेसर मूलर, नि सकोच परन्तु केवल प्रसंगशः ही, इन शिलालेखो को अशोक का तथा तीसरी शताब्दी ई० पू० का मानते हैं। इस सम्बन्ध मे कुछ अन्य अधिकारी विद्वानो के मतो को भी देखिये जिन्हे आगे उद्धृत किया गया है।

[१२७] प्रिन्सेप की 'इण्डियन ऐन्टीक्विटीज़ (ई० थामस द्वारा सम्पादित), १.२३३, २१४ भी देखिये।

अधिकांशतः इन अभिलेखों का लगभग तीस वर्ष पूर्व पता लगा था, और सर्वप्रथम (१८३७ और १८३८ ई० में) इनके अधिकांश भागों को पढ़ने तथा अनुवाद करने का श्रेय स्वर्गीय जेम्स प्रिन्सेप को है। बाद में इनके अनुवाद को विलसन ने ज०ए०सो० १८४९, भाग १२, खण्ड १, पृ० १५३–२५१ में प्रकाशित एक लेख में संशोधित करके प्रस्तुत किया। पुनः इनके कुछ अंशों को एम० बर्नफ ने 'लोटस डि ल बोन्ने लोइ' के अपने अनुवाद की परिशिष्ट (पृ० ६५२–७८१) में एक बार और संशोधित किया है।[१२८] प्रोफेसर विलसन ने भव्र अभिलेखों पर अपने विचारों का निष्कर्ष प्रस्तुत किया है। तीसरी शताब्दी ई० पू० में भारत की भाषाओं पर प्रकाश डालने वालों के रूप में इन अभिलेखों के महत्व को प्रो० लासन ने भी एक स्थल (इ० आ० भाग २) पर स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है जिसे नीचे उद्धृत किया जायगा। इसी प्रकार मालविका और अग्निमित्र (पृ० XXXII) की भूमिका में लोटस डि ल बोन्ने लोई की अपनी समालोचना (इण्ड० स्टू०, ३-१६६-१७३) में, और इन्डिशे लिटरेचरगेस्तिख्ते, पृ० १७०, में वेबर ने, तथा इण्न० (पृ० १९४ और २५०) में अपने 'आर्टिक्ल इण्डियेन' में बेनफे ने भी इनके महत्व को स्वीकार किया है।

पाठकों को इन अभिलेखों की प्रकृति, तथा उस भाषा का भी जिनमें इनकी रचना हुई है, आभास देने के लिये मैं गिरनार पाठ के अनुसार ग्यारहवें अभिलेख को, जो छोटा और बहुत कुछ स्पष्ट है, तथा एम० बर्नफ (लोटस, परिशिष्ट २०, पृ० ७३६, विलसन, पृ० २१२) के उसके अनुवाद को (अंग्रेजी

---

[१२८] १८५३ की रायल एशियाटिक सोसाइटी, पृ० XIII (सोसाइटी के जर्नल, भाग १५, खण्ड १, में प्रकाशित) की वार्षिक रिपोर्ट में एम० बर्नफ को प्रस्तुत श्रद्धाञ्जलि (सम्भवतः प्रो० विलसन द्वारा लिखित) में इस शोधनिबन्ध पर यह टिप्पणी की गई है 'पालि और बौद्धदर्शन के ज्ञान का अनुसन्धान करने में जिसकी श्रेष्ठता को उनके पूर्वगामी विद्वान ही सर्वप्रथम स्वीकार करेंगे, तथा अपने पूर्वगामियों के विचारों से, जिनके महत्व को एम० बर्नफ ने अपनी स्वाभाविक निष्कपटता के साथ स्वीकार किया है, लाभान्वित एम० बर्नफ के अनुसन्धानों को हम निर्णायक मानते हुए यह अनुभव कर सकते हैं कि उन्होंने इस प्राचीनकाल के अवशेषों से वह सब विवरण प्राप्त कर लिये हैं जो इनमें उपलब्ध हो सकते थे।" लोटस डि ल बोन्ने लोइ (इण्ड० स्टू० में) की अपनी समालोचना में प्रो० वेबर ने भी इस शोधप्रबन्ध का प्रशंसात्मक शब्दों में उल्लेख किया है।

भाषा में) उद्धृत कर रहा हूँ : देवान प्रियो पियदसि राजा एवम् आह नास्ति एतारिसं दान यारिसम् धम्मदानम् धम्म-सस्तवो वा धम्म-संविभागो वा धम्म-सम्बन्धो वा। तत इदम् भवति दास-भतकम्हि सम्निपति-पती मातरि पितरि साधु सुसुसा मितसस्तुतञ्यातिकानां ब्राह्मण-समणान साधु दान पाणानम् अनारम्भो साधु एतं वतव्यम् पिता व पुतेन व भाता व मितसस्तुतञ्यातिकेन व आव पटिवेसियेहि इद साधु इदं कतव्यम्। सो ताथा कुरु इलोक सआराधो होति परत च अनन्तम् पुंञम् भवति तेन धम्मदानेन।

"देवों के प्रिय राजा, प्रियदसि, इस प्रकार कहते है : धर्मदान के समान कोई दान नही है, धर्मसंस्तुति के समान, अथवा धर्म संविभाग के समान अथवा धर्म के साथ सम्बन्ध के समान कोई अन्य दान नहीं है। यह दान इस प्रकार होता है : दासों और नौकरों के प्रति शिष्टाचार, तथा अपने पिता और माता के प्रति निष्ठा अच्छी बाते है : मित्रों, परिचितों, सम्बन्धियों, ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति उदारता अच्छी बात है. प्राणियों के जीवन का आदर अच्छी बात है, पिता, पुत्र, भ्राता, मित्र, परिचित सम्बन्धी, और यहाँ तक कि एक साधारण पड़ोसी को भी यही कहना चाहिये : यह अच्छा है, यही कर्तव्य है। जो ऐसा करता है उसे इस लोक में आदर मिलता है, और धर्मदान से उसे परलोक में भी अनन्त पुण्य प्राप्त होता है।"

जिस काल के ये अभिलेख प्रतीत होते हैं उससे हम यह आशा कर सकते हैं कि इनकी भाषा, यत. यह विशुद्ध संस्कृत नहीं है, बहुत अंशों तक पालि के समीप होगी जिसे, जैसा हम पहले ही देख चुके हैं, लगभग उस काल में उत्तर-भारत के कुछ प्रान्त में बोली जानेवाली भाषा के रूप में प्रचलित माना जा सकता है। और तुलनात्मक अध्ययन द्वारा बहुत अंशों तक स्थिति एसी ही रही सिद्ध होती है। इस दृष्टिकोण के प्रमाणस्वरूप, मै, सर्वप्रथम इन अभिलेखों की भाषा के सम्बन्ध में व्यक्त किये गये प्रोफेसर विलसन, लासन, तथा अन्य विद्वानों के विचारों को उद्धृत करूँगा, तदन्तर में एक तुलनात्मक तालिका प्रस्तुत करूँगा जिससे इस सम्बन्ध में कुछ मत निश्चित किया जा सकेगा कि इनकी भाषा पालि के किस अंश तक समान, अथवा उससे कितनी भिन्न है।[१२९]

---

[१२९] यदि मैं प्रोफेसर स्पीगल की धौली और गिरनार बोलियो की परि-शिष्ट से युक्त उस पालिव्याकरण का अनुशीलन कर पाता, जिसे पहले तो विज्ञापित किया गया परन्तु जो बाद मे कभी प्रकाशित नही हुई, तो मैं अपने

शिलालेखों की भाषा के सम्बन्ध में प्रोफेसर विल्सन की टिप्पणी (जए्सो०, भाग १२, पृष्ठ २३६ और बाद) इस प्रकार है :

"स्वयं इनकी भाषा एक प्रकार की पालि है, जिसके अधिकांश शब्दों के रूप ऐसे हैं जो आज भी व्यवहृत पालि व्याकरण के नियमों के अनुसार रचित हैं। फिर भी, अनेक अन्तर भी मिलते हैं, जिनमें से कुछ तो संस्कृत के साथ निकटता द्वारा उत्पन्न हुए हैं और कुछ ऐसी स्थानीय विशेषताओं से जो उस समय की भाषा की अस्थिर दशा का संकेत करती है। लाट अभिलेख के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुये श्री प्रिंसेप ने इस प्रकार कहा है : 'भाषा प्रत्येक वर्तमान लिखित मुहावरे से भिन्न है, और ऐसी प्रतीत होती है जैसे संस्कृत तथा पालि की कोई माध्यमिक भाषा हो।' संज्ञायें और विशेषण सामान्य रूप से पालि गठन का अनुसरण करते हैं, क्रियायें अधिकतर संस्कृत रूपों के निकट हैं, किन्तु दोनों ही दशाओं में संस्कृत के साथ असमानता व्याकरणिक पालि की अपेक्षा अधिक नहीं है। यह उल्लेखनीय है कि कपुर्दगढ़ी के अभिलेख अन्य की अपेक्षा संस्कृत से कम भिन्न हैं और इनमें संयुक्त व्यञ्जन भी सुरक्षित हैं, जैसे 'पिय' के स्थान पर 'प्रिय' में 'प्र'। साथ ही, इनमें देव-नागरी वर्णमाला के तीन ऊष्मवर्णों के प्रतिनिधि भी विद्यमान हैं, जब कि अन्य में, जैसे पालि में भी, केवल एक ही ऊष्मवर्ण मिलता है।' [130] दूसरी ओर, कपुर्दगढ़ी अभिलेख कहीं अधिक सीमा तक स्वरों को छोड़ देते हैं, और दीर्घ तथा ह्रस्व स्वरों में कदाचित् ही विभेद करते हैं, जो विशेषतायें सम्भ-वतः इनके वर्णों की सेमिटिक प्रकृति से असम्बद्ध नहीं हैं।

सरसरे अनुसन्धान के आधार पर आज इस विषय का जो विवेचन करने की आशा करता हूँ उससे कहीं अधिक सन्तोषजनक रूप से कर पाता (देखिये स्पीगल के 'अनेकडोटा पालिका' का कवर, जो लीपज़िग से १८४५ में प्रकाशित हुआ है)।

[130] वेबर भी (इ०इ० स्टू० ३.१८०) यह टिप्पणी करते हैं : "पूर्व की तुलना में उत्तर पश्चिम की लोकभाषा में विद्यमान उच्चारण की अपेक्षाकृत अधिक शुद्धता कपुर्दगढ़ी के उस अभिलेख में व्यक्त होती है जिसमें, विल्सन की टिप्पणी के अनुसार (रॉक इन्सक्रिप्शन्स आफ कपुर दि गिरि, इत्यादि) संस्कृत के न केवल तीन ऊष्मवर्ण ही सुरक्षित हैं, वरन् 'र्' से संयुक्त अनेक व्यञ्जन (जैसे प्रिय, तत्र, प्रति, यत्र, पुत्र, सर्वत्र, क्रम, शुश्रूष, श्रमण, ब्रमण, ऋतु) तथा कुछ अन्य भी (जैसे 'स्त' 'स्त्र') सुरक्षित हैं।"

"एक ओर पालि तथा दूसरी ओर संस्कृत के साथ अभिलेखों के अन्तरों और अनुरूपताओं का ठीक-ठीक निर्धारण करने के लिये सम्पूर्ण स्वरूप के श्रमसाध्य विश्लेषण की आवश्यकता पड़ेगी, और इसका लाभ इतने परिश्रम को कदाचित ही पुरस्कृत करेगा, क्योंकि, इसमें सन्देह नहीं कि, दोनों के साथ इनका अन्तर बहुत कम तथा असहत्त्वपूर्ण ही सिद्ध होगा जिससे हमें इनकी भाषा को ऐसी पालि मानने तक ही सन्तोष करना होगा जिसका व्याकरणिक ढाँचा अभी पूरी तरह पूर्णता नहीं अर्जित कर सका है, और जो संस्कृत से किसी महत्त्वपूर्ण रूप से भिन्न नहीं है।

"पालि, श्याम और लङ्का आदि के बौद्धों के लिखने की भाषा है, अतः यह निष्कर्ष निकाला गया है कि यह ऊपरी भारत के उस समय के बौद्धों की भाषा थी जब ये अभिलेख उत्कीर्ण हुये थे, और इसलिये ये अभिलेख बौद्ध है। फिर भी, इस पर शंका की जा सकती है, क्योंकि, यद्यपि बौद्ध आधिकारिक विद्वान यह कहते हैं कि शाक्यसिंह तथा उनके उत्तराधिकारियों ने पालि में उपदेश दिये थे, और यह भी कि उनके समय में ही एक पालि व्याकरण का संकलन हो चुका था, तथापि, दूसरी ओर, वे यह भी कहते हैं कि बहुत समय तक बुद्ध के सिद्धान्तों की मौखिक रूप से ही शिक्षा दी जाती रही और उनको बुद्ध के निर्वाण के चार शताब्दियों बाद, अथवा १५३ ई० पू० तक, लिपिबद्ध नहीं किया गया जो तिथि, निश्चित रूप से, अभिलेखों के बाद की है।"[१३१]

"अतः, यह किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता कि अभिलेखों के समय पालि बौद्धों की पवित्र भाषा थी। अतः इसका प्रयोग इसके बौद्ध उद्गम का निर्णायक प्रमाण नहीं है।[१३२] अधिक सम्भाव्य तो यह प्रतीत होता है कि इसे भारत के उस भाग की देश बोली के रूप में ग्रहण किया गया था जहाँ पियदसि निवास करता था, और अभिलेखों के लिये इसका इसीलिये चुनाव किया गया कि यह लोगों के लिये अधिक बोधगम्य हो सके" ... ।

"अतः, हम इसे वास्तव में भारत के कुछ भागों में प्रचलित बोली जाने-वाली भाषा का ही एक रूप मान सकते है, और इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध-

---

[१३१] फिर भी पिछले खण्ड (पृ० ७४) की टिप्पणी देखिये।

[१३२] फिर भी, तब से, भब्र अभिलेख के परीक्षण के आधार पर प्रोफेसर विलसन इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इसमें "पर्याप्त मात्रा मे इस बात के प्रमाण उपलब्ध हैं कि प्रियदर्शी, वह चाहे जो भी रहा हो, बुद्ध का एक अनुगामी था।' —(जएसो० भाग १५, पृ० ३५७)।

से स्वयं बौद्धों द्वारा प्रस्तुत साक्ष्य को स्वीकार कर सकते हैं, जिनके द्वारा इसे सदैव शाक्यसिंह की आरम्भिक उपदेश-भूमि, मगध अथवा बिहार, की भाषा के साथ समीकृत किया जाता रहा है। परन्तु इसमें तथा प्राकृत व्याकरण द्वारा विहित और जैनकृतियों में आनेवाली मागधी में अनेक अन्तर मिलते हैं। जैसा कि बर्नफ और लासन टिप्पणी करते हैं, यह फिर भी संस्कृत के अधिक निकट और बिहार से भी अधिक उत्तर के प्रदेशों, अथवा दोआबा के ऊपरी भागों और पंजाब तथा दिल्ली तक प्रचलित रही हो सकती है, यद्यपि बिहार की बोली से इतनी अधिक भिन्न नहीं रही होगी कि ऐसे लोगों के लिये अबोधगम्य हो गई हो जिन्हें शाक्य और उनके उत्तराधिकारियों ने उपदेश दिया। अत. अभिलेखों की भाषा, यद्यपि अनिवार्यतः उन्हीं के समय की तथा वही होते हुए भी जिसमें सम्भवत. बौद्धमत के आरम्भिक प्रचारकों ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, ऊपरी भारत के लोगों की बोली जानेवाली भाषा प्रतीत होती है। यह धर्मप्रचारकों के किसी वर्ग की अपनी अथवा कोई पवित्र भाषा नहीं थी, और पियदसि के अभिलेखों से इसके व्यवहार को, जिसकी यद्यपि उनके बौद्ध स्रोत के साथ संगति नहीं है, इस बात का निर्णायक प्रमाण नहीं माना जा सकता कि इसकी उत्पत्ति किसी धार्मिक विश्वास के विशिष्ट स्वरूप से हुई थी।"

इन बोलियों, तथा पालि की तुलना में इनकी सापेक्षिक प्राचीनता के सम्बन्ध में प्रो० लासन के कुछ विचारों को गत खण्ड (पृ० ७६) में पहले ही उद्धृत किया जा चुका है। एक अन्य स्थान (इण्ड० आल्ट०, २. २२१,२२२) पर वह इस प्रकार टिप्पणी करते हैं : "भारतीय भाषाओं के इतिहास के लिये ये अभिलेख सर्वाधिक महत्व रखते हैं, क्योंकि ये लोकभाषाओं के सर्वाधिक प्राचीन रूपों के प्रामाणिक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं और इस प्रकार संस्कृत परिवार की भाषाओं के लिये, जो बाद में इतने अधिक विविध रूपों में विकसित हो गईं, तुलनात्मक व्याकरण का एक सुरक्षित आधार प्रदान करते हैं।"

"इन अभिलेखों में हमें तीन देशभाषाओं के उदाहरण मिलते हैं : पहली उत्तर पश्चिमी सीमावर्ती देश की, दूसरी पश्चिमी प्रदेश की, और तीसरी पूर्वी हिन्दुस्तान की। दिल्ली, इलाहाबाद इत्यादि के स्तम्भों के अभिलेखों का धौली (कटक) अभिलेख से केवल कुछ विशेष रूपों में ही अन्तर है, जब कि प्रमुख रूप से उनकी प्रकृति एक समान है और उन्हें वैयाकरणों के मागधी के साथ वर्गीकृत किया जा सकता है। अत. दिल्ली के स्तम्भ तक पर, जो मगध की सीमा से काफी बाहर स्थित है, इसी बोली का व्यवहार किया गया

है, अत' ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक के मन में अपने प्रदेश की देशभाषा के प्रति पक्षपात की भावना थी। और संस्कृत से व्युत्पन्न इस भाषाविशेष के व्यवहार की प्रधानता द्वारा हम सम्भवतः इस तथ्य की व्याख्या कर सकते हैं कि सिंहलियों में, जिन्होंने बौद्धधर्म को मगध से प्राप्त किया था, उनकी पवित्र भाषा को इसी नाम से पुकारा जाने लगा।"

पृ० ४८६ पर लासन, पुन', इस प्रकार कहते है : "केवल शिलालेखों को ही स्थानीय बोलियों के विश्वसनीय प्रमाण के रूप मे ग्रहण किया जा सकता है, जब कि स्तम्भ-अभिलेखों मे सर्वत्र एक ही बोली का प्रयोग हुआ है जो उन सभी स्थानों मे बोली नही जाती रही होगी जहाँ ऐसे स्तम्भ मिले हैं। दिल्ली स्तम्भ के सम्बन्ध में यह मत विशेष रूप से सत्य है। जब हम इस बात को ध्यान में रखते है कि काबुल, गुजरात और मगध (स्तम्भ-अभिलेखों में इसी प्रान्त की देशबोली का व्यवहार किया गया है) परस्पर ऐसे विस्तृत भूभागों द्वारा पृथक है जिनमें संस्कृत भाषाभाषी जातियों की विभिन्न शाखाये निवास करती हैं, तब हम इस निष्कर्ष के लिये बाध्य हो जाते हैं कि इन स्थानों पर अनेक अन्य बोलियाँ भी प्रचलित रही होंगी जिनका अभिलेखों में से किसी में कोई भी उदाहरण नहीं मिलता।"

दिल्ली तथा इलाहाबाद स्तम्भों और भब्र-शिला के शब्दों की निम्न-लिखित सूची, जिसे एम० बर्नफ के 'लोटस डि ल बोन्ने लोइ (परिशिष्ट १०, पृ० ६६५, ७२४, ७४१) से लिया गया है, लासन के इस मत की सत्यता को व्यक्त करेगी कि स्तम्भ अभिलेखों की बोली धौली की मागधी के ही समान है। आगे मैं जो तुलनात्मक सूची प्रस्तुत कर रहा हूँ उससे भी यही सिद्ध होगा। इस प्रकार इन स्तम्भों पर हमें धम्मो, दानम् , सचम् , अनुगहो, कतो, पियो, कयानम् , और पापम् के स्थान पर धम्मे, दाने, सचे, अनुगहे, कते, पिये, कयाने और पापे मिलते हैं। इसी प्रकार राजा, वारिच-रेसु, विहारतम् , चिर, अरिय, पुरिस और अभिहारो के स्थान पर लाजा, वालिचलेसु, विहालतम् , चिल, अलिय, पुलिस और अभिहाले, तथा बुधम्हि, धम्मम्हि और संघम्हि के स्थान पर बुधसि, धम्मसि और सघसि मिलते हैं।

जएसो० क भाग १२ के प्रोफेसर एच० एच० विलसन के लेख से, जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, तथा एम० बर्नफ के लोटस डि ल बोन्ने लोइ की परिशिष्ट १० से गृहीत शब्दों की सूची, जो मै ठीक आगे प्रस्तुत कर रहा हूँ, उन पालि समकक्ष शब्दों के साथ तुलना करने पर जिन्हे सूची में जोड़ दिया गया है, उन बातों को व्यक्त करने के लिये पर्याप्त

है जिनमें अभिलेखों की भाषाओं और पालि में समानता अथवा विभिन्नता मिलती है। फिर भी, मैं स्पष्ट रूप से यह कह देना चाहता हूँ कि मैं इस बात का दावा नहीं करता कि ये अभिलेख अथवा वह लिपि जिनमें ये लिखे गये हैं, मेरे अध्ययन के विशेष विषय रहे हैं। अतः मैं इस बात को ही निर्विवाद रूप से स्वीकार करता हूँ कि इन शब्दों को उन प्रमुख विद्वानों ने, जिनसे मैं उद्धृत कर रहा हूँ, ठीक-ठीक ही पढ़ा होगा।

अभिलेखों की बोली की भाषा की उन अन्य सजातीय रूपों के साथ तुलना करते समय, जो अभिलेखों की बोली के समान ही प्राचीन और पुस्तकों के द्वारा उपलब्ध हैं, हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि इन बादवाले भाषारूपों को इन्हें पढ़नेवाली उत्तरोत्तर पीढ़ियों के लोगों के लिये अधिक बोधगम्य बनाने के लिये समय-समय पर परिवर्तित अवश्य किया गया होगा, जब कि अभिलेख, उन शिलाओं पर, जिन पर ये उत्कीर्ण हैं, कालजनितभ्रष्टता के प्रभाव के अतिरिक्त हमें सर्वथा अपरिवर्तित रूप में उपलब्ध हैं। इस विषय पर मैं जए्सो० (दिसम्बर १८३७, पृ० १०४९) में प्रकाशित श्री टर्नर का निम्नलिखित सन्तुलित मत उद्धृत करता हूँ :—

"जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि इन अभिलेखों को आज से दो सहस्र वर्ष से भी अधिक पूर्व अंकित किया गया था, और जिनपर ये उत्कीर्ण हैं वे स्तम्भ इस सम्पूर्ण अवधि में प्राकृतिक प्रभावों के लिये खुले और प्रत्यक्षतः उपेक्षित रहे हैं, जब हम यह देखते हैं कि उस भाषा के, जिसमें इन अभिलेखों की रचना हुई है, प्रायः सभी विभक्ति रूप अन्तिम अथवा उपान्त्य अक्षरों में ही आते हैं, और ये विभक्ति रूप प्रमुखतः सूक्ष्म स्वर-चिह्नों अथवा छोटे से अनुस्वार द्वारा बने हैं, और जब हम यह भी पाते हैं कि उस समय का पालि वर्ण-विन्यास, जैसा कि इन अभिलेखों से प्रगट होता है, अत्यन्त अपूर्णरूप से ही व्यवस्थित था—एक के लिये दो, और अविविक्त रूप से महाप्राण और अल्पप्राण व्यञ्जनों का व्यवहार, तथा 'न्' के चार स्वरूपों में से बिना भेदभाव के ही किसी का प्रयोग मिलता है—, तब इस विषय के प्रत्येक विवेकशील अनुसन्धानकर्ता को जो आश्चर्य होता है वह इन प्राचीन सामग्रियों के इनके अपने-अपने पाठों के बीच असमानता की अपेक्षा समानता की सीमा पर ही होता है।"

नीचे वह तुलनात्मक तालिका (पालि के खाने की पूर्णता का श्रेय श्री चिल्डर्स को है) प्रस्तुत है जिसे मैं उद्धृत करना चाहता हूँ :—

तालिका—८

गिरनार, धौली, और कपुर्दगढ़ी के शिलालेखों के शब्दों तथा उनके पालि समकक्ष रूपों की तुलनात्मक तालिका

सन्दर्भ	संस्कृत	गिरनार	धौली	कपुर्दगढ़ी	पालि	अंग्रेजी
विलसन १५७	देवानाम्	देवानम्	देवानम्	देवानम्	देवानम्	ऑफ दि गॉड्स
विलसन १५८	प्रियस्य	पियस	पियस	प्रियस	पियस्स	आफ दि बिलवेड
विलसन, १६५, १७५, १७७, १९८, वर्न०७३१	राजा	राजा	लाजा, लाज	रज, रय	राजा	किंग
	राज्ञः	राञो, रञो	लाजिने	रञो	राजिनो, रञ्ञो	किंग
विलसन १६५	राजानः	राजनो	लाजाने	राजय	राजानो	किंग्स
	विजिते	विजितम्हि		विजिते	विजितम्हि	कॉन्कर्ड
विलसन १६६	वृक्षाः	वच्छा	लुखनि		रुक्खा	ट्रीज़
	परिभोगाय	परिभोगाय	पटिभोगाय	प्रतिभोगय	परिभोगाय	एन्ज्वायमेंट
विलसन १९०	प्रतिवेदना	पटिवेदना	पटिवेदना	पटिवेदना		रिप्रेजेन्टेशन
विलसन १७०	द्वादशन	द्वादस	दुवादस		द्वादस	ट्वेल्व
	पञ्चसु	पञ्चसु	पञ्चसु	पचसु	पञ्चसु	फाइव्
	वर्षाः	वासा	वस	वप	वस्सा	ईयर्स
	वर्षेषु	वासेसु	वसेसु	वषेषु	वस्सेसु	ईयर्स
विलसन १७१, २ ३	मातरि, पितरि	मातरि, पितरि		मतपितुषु	मातरि, पितरि	मदर, फादर
विलसन १७१	मित्र	मिता		मित्र	मित्त	फ्रेण्ड

सन्दर्भ	संस्कृत	गिरनार	धौली	कपुर्दगढी	पालि	अंग्रेजी
वर्न० ७३१, विलसन १७५, २१३	शुश्रूषा	सुसुसा	सुसूसा	सुश्रुष	सुस्सूसा	ओवीडियेन्स
वर्न ७३०; विलसन १७१, १७४, १७५	ब्राह्मण	बाह्मण्, बाम्हन	बम्भन, वाभन	ब्रमण	ब्राह्मण	ब्राह्मन
विलसन १७१, १७४	श्रमणानाम्	समणानम्	सुमनेहि	श्रमण	समणान	श्रमन
विलसन १७४	प्राणारम्भ'	पानारम्भो	पानालम्भे	प्रनरम्भो	पाणारम्भो	इन्जुरी टु लाइफ
विल० १७४, १८२, १९९	अन्तरम्	अन्तरम्	अन्तलम्	अन्तरम्	अन्तरम्	इण्टरवल
विलसन १७५	दिव्यानि	दिव्यनि	दिवियानि	दिवानि	दिब्बा, दिब्बानि	डिवाइन
	रूपाणि	रूपानि	लूपानम्		रूपा, रूपानि	फॉर्म्स
	पूर्वे	पुवे	पुलुवे	पुर्वे	पुब्बे	बिफोर
विलसन १९०	सर्वे	सव	सव	सव	सब्ब	ऑल
	सर्वत्र	सवत	सवत	सवत्र	सब्बत्थ	एव्रीव्हेयर
विलसन १७६	पुत्राः, पौत्राः	पुता, पोता	पुता	पुत्रा	पुत्ता	सन्स, ग्रैण्डसन्स
	प्रपौत्राः	पपोता	नति	प्रनतिक	पपुत्ता	ग्रेट ग्रैण्डसन्स
	धर्मे, शीले	धम्मम्हि, सीलम्हि	धम्मसि, सीलसि		धम्मम्हि, सीलम्हि	वर्चू, गुडनेस
	अस्मिन्, अर्थे	इमम्हि, अथम्हि	इमस, अथस		इमम्हि, अत्थम्हि	दिस ऑब्जेक्ट
विलसन १८२	दुष्करम्	दुकरम्	दुकलम्		दुक्करम्	डिफिकल्ट
	अपत्यम्	अपचम्	अपितये	अपच	अपच्चम्	प्रोजेनी
विलसन १८३	धर्माधिष्ठानाय	धम्मधिस्टानाय	धम्माधिथानाये		धम्माधिट्ठानाय	सुपरविजन ऑफ रिलीजन

विलसन १८४, २००	स्थविराणाम्	थैरानम्	वधानम्	...	थेरानम्	एल्डर्स
विलसन १८४	भिक्षाहारिषु	भिकरेसु	भीकल	भिकति	...	लिवर्स ऑन आम्स
	सर्वेषु	...	सवेसु	सवेसु	सब्बेसु	ऑल
	नगरेषु	...	नगलेसु	नगरेषु	नगरेसु	सिरीज़
	अवरोधनेषु	..	ओलोधनेसु	ओरोधनेषु	ओरोधनेषु	फोर्ट्रेस
विलसन १९०	अवरोधने	ओरोधनम्हि	ओलोधनसि	ओरोधनसि	ओरोधनम्हि	पैलेस
विलसन १८४	भगिनीनाम्	...	भगिनिनम्	..	भगिनीनम्	सिस्टर्स
विलसन १९०	गर्भागारे गर्भ-गृहे (?)	गभगारम्हि	गभतपसि	गभगरसि	गब्भागारम्हि	इनर एपार्टमेंट्स
	वचसि	वचम्हि	...	वचसि	वचसि, वचम्हि	वर्ड
	विनीते	विनीतम्हि	विनीतसि	विनतसि	विनीतम्हि	पोलाइट
विलसन २०३	प्रवासे	पवासम्हि	पवाससि	पवस	पवासम्हि	डिपार्चर फ्रॉम होम
विलसन १९१, १९४	उत्थाने	उस्तानम्हि	...	...	उट्ठानम्हि	एलीवेशन
विलसन १९२, १९५	उत्थानम्	उस्तानम्	सुठान	...	उट्ठान	,,
विलसन १९२	अहम्	अहं	हकं	...	अहम्	आइ
विल० १९२, १९५, २०५	स्वर्गम्	स्वगम्	स्वग	सग	सग्गम्	हेवेन
विलसन १९९	एतस्मै, अर्थाय	एताय, अथाय	एताये	एतय, अथये	इमस्स, अत्थाय, अत्थस्स	दिस ऑब्जेक्ट
	चिरम्	चिरं	चिल	...	चिरम्	लॉङ्ग
वर्न० ७३१	श्रेष्ठम्	सेट्ठे	...	...	सेट्ठम्	बेस्ट
विलसन १९३	पराक्रमेण	पराकमेन	पलाकमेन	परकमेन	परक्कमेन	वेलर

सन्दर्भ	संस्कृत	गिरनार	धौली	कपुर्दगढी	पालि	अंग्रेजी
विल्सन १९८	रागः	रागो	लागा	रगो	रागो	पैशन
	कृतज्ञता	कतजता		कटम्रता	कतञ्ञुता	ग्रैटीच्यूड
वर्न० ५५५, विल० १९८	दृढभक्तिता	दढभतिना	..	दढभतिता	दळहभतिता	फर्मनेस ऑफ डिवोशन
विल्सन १९८	नित्य	निचा	निचे	निच	निच	कॉन्स्टेण्ट
विल्सन १९९	एतादृशानि	एतारिसानि	एडिसानि	एदिसनि	एतादिसानि	मच
विल्सन २००	यात्रा	याता	...	यत्र	यात्रा	जर्नी
	परिपृच्छा	परिपुछा	...	परिप्रुतछु (?)	परिपुच्छा	क्वेश्चन
विल० २०४, वर्न० ७३६	भ्रात्रा	भाता	भतिना	भत	भातरा	ब्रदर
विल० २१५, वर्न० ७६१	गृहस्थानि	घरस्तानि	.	...	(घर) गहट्ठानि	डोमेस्टिक
विल० २१५	विविधया	विविधाय	...	...	विविधाय	वेरियस
	पूजया	पूजय	...	...	पूजाय	ऑनर
	वृद्धि	वढी		...	वड्ढि, वुड्ढि	इनक्रीज़
विल० २१५; वर्न० ७६१, ७६५	आत्मा, आत्मन'	आत्प, आत्पनो	...	...	अत्ता, अत्तनो	सेल्फ, ऑफ सेल्फ
वर्न० ७६१	गर्हा	गरहा	...	...	गरहा	रिवाइलिङ्ग
विल० २२५	चत्वारः	चत्तारा (?), चत्तारो (?)	...	...	चत्तारो	फोर
विल० १५८, २३३	अस्ति	अस्ति	...	अस्ति	अत्थि	इज़

विल० १६५, १९१, १९८, २१२	नास्ति	नास्ति	नत्थि, नथि, नथा	नस्ति, नास्ति	नत्थि	इज़ नॉट
विल० १६६	रोपितानि	रोपापितानि	लोपापितानि	...	रोपापितानि	प्लान्टेड
विल० १९१	आरोपितम्	अरोपितम्	अलोपिते		आरोपितम्	इन्ट्रस्टेड
विलसन २०५	अपवादितव्यम्	ओवादितव्यम्	...	...	ओवादितब्बम्	टु बी ब्लेम्ड
विल० १७०, १८२, २०३	आह	आह	आहा, कह (?)	अहति[133]	आह	सेज़
यिल० १७६	तिष्ठन्तः	तिस्टन्तो			तिट्ठन्तो	स्टैण्डिङ्ग
विल० १७६, १९१, २००	भवति	भवति, होति	होति	भोति, होति	भवति, होति	इज़
विल० १८२, १९०	भूत	भूत	हूता	भुत	भूत	बीन
विल० १८२ २०३	करोति	करोति	कलेति	कराति	करोति	डज़
विल० १९१	करोमि	करोमि	कलामि	करोमि	करोमि	आइ डू
विल० १९०	कृतम्	कतम्	कटे	किट	कतम्	डन
विल० १८४	निष्ठितः	निस्टितो	निसित	निस्तिशित	निट्ठितो	फ्लेस्ड
विल० १९२	कर्तव्यम्	कतव्य	कटविय	...	कातब्बं, कत्तब्बं	टु बी डन
विल० १९२, १९५	पराक्रमामि	पराकमामि	पलकमाव	परकमम	परक्कमामि	आइ हैव् पावर
विल० २०९	प्राक्रमति	पराकमते	पलाकमति	पराक्रमति	परक्कमति	ही हैज़ पावर
विल० १९२, १९५	तिष्ठेत्	तिस्टेय	ठिति, होतु	ठितिका, भोतु	तिट्ठेय्य	लेट इट एन्डयोर

133 विलसन, पृ० १७१, के अनुसार 'आह' का प्राचीन रूप ।

सन्दर्भ	संस्कृत	गिरनार	धौली	कपुर्दगढी	पालि	अंग्रेजी
विल० १९९	अभूवन्	अहुंसु	...	अभवसु	अहेसुं	दे वेयर
	सन्	सन्तो	...	सन्तु	सन्तो	वीङ्ग
विल० २१६	क्षणोति	छुनोति	...	..	...	हर्ट्स
	गर्हते	गरहति	...	...	गरहति	रिवाइल्स
वर्न० ६६६, ६६९	पश्यति	...	देखति (दिल्ली स्तम्भ पर)	...	पस्सति, दिच्छति (देखदि, प्राकृ०)	ही सीज़
	दृश्यति (?)	..		...		
विल० २२३	लब्धेषु	लद्धेसु	...	...	लद्धेसु	ऑब्टेन्ड
वर्न० ७६१	वर्द्धयति	वढयति	...	..	वड्ढेति	ही इन्क्रीज़ेज
वर्न० ७३१	दर्शयित्वा	दसयित्पा	...	...	दस्सेत्वा	हैविङ्ग शोन
	तिष्ठति	तिठति	..	...	तिट्ठति	स्टैण्ड्स
वर्न० ७५७, ७५८	अज्ञासु'	जयासु, जयिसु (?)	...	...	अञ्ञासुं	दे न्यू
वर्न० ७५९	इयाय	अयाय (?)	...	...	...	ही वेन्ट
वर्न० ६५९, ६५४; लासन : इआ० २.२२७, नोट ४	परित्यज्य	परिचजित्पा	...	...	परिच्चजित्वा	हैविङ्ग लेफ्ट

उक्त तालिका के अध्ययन द्वारा यह देखा जा सकता है कि (१) जैसा कि प्रो० विलसन और वेबर ने टिप्पणी की है (ऊपर पृ० १५७), कपुर्द-गढ़ी अभिलेख, उन विवरणों में जिन्हे वह व्यक्त करता है, अन्य अभिलेखों की अपेक्षा संस्कृत से कम भिन्न है, (२) गिरनार अभिलेख की भाषा अधिकतर अन्य तीन के तथा पालि के समान है, (३) 'र' के स्थान पर 'ल', और 'ओ' के स्थान पर 'ए' के प्रयोग में धौली अभिलेख मागधी की सुविज्ञात प्रकृति के समान है।[134] सामान्य रूप से इन अभिलेखों की सम्पूर्ण भाषा की प्रकृति का ऊपर उद्धृत एक स्थल (पृ० १५६) पर प्रो० विलसन ने इतनी अच्छी तरह विवेचन किया है कि उस पर अब और अधिक टिप्पणी करना निरर्थक प्रतीत होता है।

खण्ड ७—बौद्धगाथाओं की बोली और उसका पालि के साथ सम्बन्ध : इस तथा गत खण्ड के परिणामों का सारांश

अब मैं भ्रष्ट संस्कृत के प्रकारों में से अन्तिम (जिसका मैं ऊपपृ० १२ पर उल्लेख कर चुका हूँ), अर्थात् उस भाषा पर आता हूँ जो हमें गाथाओं अथवा गौतम बुद्ध के जीवन तथा प्रवचनों का वर्णन करनेवाले ललित विस्तर जैसे ग्रन्थों के पद्यबद्ध स्थलों पर मिलती है। इस बोली, क्योंकि इसे इसी नाम से पुकारना अधिक सुविधाजनक है, की विशेषताओं को बाबू राजेन्द्रलाल मित्र ने ज एसो० १८५४ के अंक ६ में प्रस्तुत किया है। ललित विस्तर पर, जिससे इस लेखक ने उदाहरण दिये हैं और जिन्हें मैं स्वयं यहाँ उद्धृत करूँगा, टिप्पणी करते हुये प्रोफेसर मूलर कहते हैं कि यद्यपि "अपनी शैली तथा भाषा के कारण प्राच्यविदों ने इसे भारतीय साहित्य के एक अपेक्षाकृत बहुत बाद के समय का माना है, तथापि अब इसे ई० पू० के किसी समय का माना जा सकता है, क्योंकि चीनी विद्वानों के कथनानुसार इसे ७६ ई० जैसे प्राचीन समय में ही बौद्धों के एक धर्म ग्रन्थ के रूप में संस्कृत से चीनी में अनूदित किया गया था।"[135]

---

[134] यह उल्लेखनीय है कि शतपथ ब्राह्मण के एक स्थल पर (३ २,१,२३) असुरो को, जो सम्भवत: किसी बर्बर जाति का प्रतिनिधित्व करते हैं, 'अरय' (शत्रु) के स्थान पर मागधी रूप 'अलव' का प्रयोग करते हुये व्यक्त किया गया है—'ते असुरा आत्तवचसो "हे अलवो हे अलव' इति वदन्तो पराबभूवु।' "असुर, जो उच्चारण मे असमर्थ थे और 'हे शत्रुओ, हे शत्रुओ', चिला रहे थे, पराजित हो गये।" कुछ भिन्न पाठ के साथ यह स्थल महाभाष्य (पृ० १८,६४) मे भी उद्धृत है।

[135] 'चिप्स' (प्रथम सस्क०, भाग १, पृ० २५८) मे 'बुद्धिस्ट पिलग्रिम्स।

ऐसे स्थलों को छोड़कर, जो बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं प्रतीत होते, अब मैं बाबू राजेन्द्रलाल मित्र के शब्दों में ही उनके शोध-निबन्ध का सारांश देने जा रहा हूँ। कहीं कहीं मैंने अपनी ओर से उनके वक्तव्य को संक्षिप्त कर दिया है, और कुछ स्थानों पर उनके द्वारा दिये गये गाथा-रूपों के उदाहरणों में अपनी ओर से भी कुछ उदाहरण जोड़ दिये हैं।

"संस्कृत से उद्भूत बोलियों में से पालि तथा मागधी को अब तक अपनी मूल भाषा के सर्वाधिक निकट माना जाता रहा है, परन्तु नेपाल में बौद्ध संस्कृत साहित्य की खोज से हमें एक ऐसी नई बोली का पता लगा है जिसका प्रथम दो भाषाओं की अपेक्षा भारत की अभिजात भाषा, संस्कृत, के साथ और भी अधिक निकट साम्य है। नेपाली इतिहासकारों ने इसे गाथा[136] नाम दिया है जो सम्भवतः इसलिये कि इसका प्रधानतः मध्यकालीन भारत के चारणों और वैतालिकों[136a] द्वारा प्रयोग किया जाता था। प्रायः इसी समान कारण से इनके कवियों की भाषा तथा वेद की भाषा को 'छन्द' कहते थे, और सुविज्ञात सुस्वरात्मक नियम के अनुसार प्राचीन फारसी के ज़ेण्ड में भी ऐसी ही भाषा है।

"एम० बर्नफ, जो इस बोली के अस्तित्व की खोज करनेवाले एकमात्र योरोपीय विद्वान् हैं, इसे एक प्रकार की ऐसी असभ्य संस्कृत मानते हैं जिसमें सभी कालों के रूप, संस्कृत, पालि, और प्राकृत, निहित प्रतीत होते हैं।'[137] यह संस्कृत के व्याकरणिक नियमों की उपेक्षा की ही दृष्टि से उससे भिन्न है, न कि अपनी किसी विशेषता की दृष्टि से। संस्कृत रूपों की कालप्रक्रिया तथा

[136] [गाथा कही जानेवाली कुछ रचनाओं की प्राचीनता इस तथ्य द्वारा प्रमाणित हो जाती है कि प्रियदसि के भब्र स्थित प्राचीन अभिलेख में 'मुनि गाथा' शब्द आता है। बर्नफ, परिशिष्ट १०, लोटस, पृ० ७२४, ७२५, ७२६; विलसन जएसो० भाग १६, पृ० ३५९, ३६३, ३६७। बाबू राजेन्द्रलाल ने महावंसो, पृ० २५२, का भी उल्लेख किया है, जहाँ गाथाओं का उल्लेख है।—लेखक]

[136a] इस पर प्रो० बेनफे यह टिप्पणी (गोगेऐ० १८६१, पृ० १३४) करते हैं—"दूसरी ओर इन गाथाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बाबू राजेन्द्रलाल के मत में बहुत कुछ सस्तुतियाँ भी हैं इनमें थोड़े से प्रतिनिधान की आवश्यकता है : प्रेरित विश्वासियों के स्थान पर—जैसे कि पहले के अधिकाश बौद्ध थे और जो निम्नवर्गीय जनता के लोग होते थे—व्यावसायिक चारणों के प्रतिनिधान की।"

[137] लबु०, पृ० १०४।

कारकरूपों की अच्छाइयों पर गाथा कवियों ने बहुत कम तथा अनमस्कता-पूर्वक ही थोड़ा-बहुत ध्यान दिया है, वे अपनी आवश्यकताओं के अनुसार कारक-विभक्तियों का प्रयोग अथवा परित्याग पाणिनि के नियमों के प्रति वैसी ही श्रद्धा के साथ कर देते हैं जैसी हमें लिन्डले मरे के नियमों के प्रति वेस्ट-इण्डीज़ के नीग्रो कवियों में मिलती है। संस्कृत तथा पालि, और गाथा में जो सम्बन्ध है उसका नीग्रो लोगों के साहित्यिक स्थलों के उद्धरण द्वारा सर्वश्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है।

"गाथायें केवल पद्यबद्ध रूप में ही मिलती हैं, और बौद्ध रचनाओं के उस वर्ग के अन्तर्गत आती हैं जिन्हें 'महावैपुल्य' सूत्र कहते है। ये सामान्यतया किसी अध्याय के अन्त और कभी-कभी मध्य मे मिलती हैं, परन्तु आरम्भ मे कभी नहीं आतीं, और इनमें रचनाओं के गद्यभाग मे वर्णित विषय का पद्यबद्ध सारांश रहता है। गद्यभाग विशुद्ध संस्कृत मे रचित और उसमें विषय-वस्तु का अत्यन्त विस्तृत और ऐसा स्वरूप होता है जिसमें कुछ ऐसी भी बाते होती है जिनका गाथाभाग में कोई संकेत नहीं होता।

"गाथा की रचना अनेक प्रकार के, यहाँ तक कि सरल अनुष्टुप से जटिल शार्दूल विक्रीडित छन्दों तक में हुई है। इनमें वही विशेषतायें हैं जो सक्रमण-कालीन स्थिति की किसी भी भाषा में हो सकती हैं। ये अपने को संस्कृत कहती है परन्तु संस्कृत के नियमों का अनुसरण नहीं करतीं। इनमें हमें संस्कृत व्याकरण के ऐसे प्राचीन रूप मिलते हैं जो क्रमशः अपनी अभिव्यञ्जना-शक्ति खो चुके हैं, और उनका स्थान पूर्वसर्गों तथा वियोगात्मक अभिव्यक्तियों ने ग्रहण कर लिया है। साथ ही हमें अत्यन्त प्राचीन क्रियाये तथा तिङन्ती रूप भी मिलते हैं जिन्हें ग्राम्यबोली और अशिष्ट प्रान्तीय प्रयोगों के साथ संयुक्त कर दिया गया है। यदि एक स्थान पर छन्द को सुरक्षित रखने के लिये वर्ण-विन्यास के नियमों का परित्याग और एक लघु अक्षरवाले शब्द को बढ़ाकर तीन अक्षरोंवाला कर दिया गया है, तो दूसरे स्थान पर स्थिति इसके विपरीत मिलती है। सम्पूर्ण रचना में मितव्ययिता की भावना व्याप्त है, और अक्षरों तथा शब्दों को प्रायः अक्षमाशील हाथों से काट-छाँट या परिमार्जित कर दिया गया है। ललित विस्तर में इन विशेषताओं के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं जिन्हें सामान्य रूप से तीन वर्गों के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है—(क) छन्द की आवश्यकता, (ख) प्रान्तीयता, और (ग) छन्द और वाक्यविन्यास की त्रुटियाँ।

"(क)—छन्द की आवश्यकता के अनुसार जो परिवर्तन किये गये हैं उनके अन्तर्गत बहुधा स्वरवर्णों का दीर्घीकरण, संकोचन और लोप, तथा संयुक्त

व्यञ्जनों और दीर्घ स्वरों की उनके सरल तत्वों के रूप में पृथक्करण की प्रक्रियायें मिलती है। यहाँ हम कुछ उदाहरण प्रस्तुत करेंगे—

१ ला : निम्नलिखित को स्वरों के दीर्घीकरण का उदाहरण माना जा सकता है।[१३८]

'न च' के लिये 'ना च', 'स च' के लिये 'सो च'; 'प्रयत' के लिये 'प्रयातो', 'रुदमान' के लिये 'रोदमान।'

२ रा : स्वरों के संकोचन के उदाहरण प्रायः प्रत्येक श्लोक में मिलते हैं। यह कार्य दीर्घ स्वरों के स्थान पर ह्रस्व के प्रयोग, तथा 'ए', 'ऐ', 'ओ', और 'औ' के स्थान पर 'इ' तथा 'उ' के प्रयोग द्वारा किया गया है। उदाहरण के लिये : 'यामे' के लिये 'यामि', 'धारयन्ति' के लिये 'धरेन्ति',[१३९] 'द्रुमवरा.' के लिये 'द्रुमवर', 'माया' के लिये 'माय', 'घण्टा' के लिये 'घन्ट'; 'पूजाम एताम्' के लिये 'पुजम् एताम्', 'यथा' के लिये 'यथ', 'तथा' के लिये 'तथ', और 'सदा' के लिये 'सद' आदि प्रयोग मिलते है।

३ रा : स्वरों और व्यञ्जनों के लोप भी अत्यधिक साधारण रूप से मिलते है। इसका उपयोग मुख्यत. लाघव और ध्वनिमाधुर्य के लिये ही किया गया है। अन्तिम 'स.' आदि का तो निश्चित रूप से लोप कर दिया गया है। उदाहरण के लिये इन्हें देखिये : 'नभसि' के लिये 'नभे'; 'अप्सरसः' के लिये 'अप्सराः',[१४०] 'सदार्चिपिस्कन्धे' के लिये 'सदार्चिस्कन्धि', 'इमां दृष्ट्वा अवस्थाम्'

[१३८] विब० इ० मे छपे ललितविस्तर के सस्करण से उद्धृत।

[१३९] इसी प्रकार के सकोचन के अन्य उदाहरण (जो प्राकृत और पालि मे भी साधारण रूप मे मिलते हैं) इस प्रकार हैं—'आयान्ति' के लिये 'एन्ति'; 'उपयन्ति' के लिये 'उपेन्ति', 'जनयन्ति' के लिये 'जनेन्ति', 'जनय' के लिये 'जनेहि', 'मोचय' के लिये 'मोचेहि', 'वोधय' के लिये 'वोधेहि'; 'पूरय' के लिये 'पूरेहि', 'दर्शयन्ति' के लिये 'दर्शेन्ति', तथा अनेक अन्य—लेखक।

[१४०] इस पर प्रोफेसर वेनफे ने (गोगेऐ, १८६१, पृ० १३४) यह टिप्पणी की है—"उदाहरण के लिये 'अप्सरस्' के लिये 'अप्सरा' जैसे प्रयोग वेदो तक मे प्रचुर मात्रा मे मिलते हैं। इनकी उत्पत्ति छन्द की आवश्यकता की दृष्टि से नही वरन् 'अस्' प्रत्यय के 'अ' मे परिणत हो जाने से हुई है।" तदनन्तर आप गाथा की भाषा के अत्यधिक महत्व का उल्लेख करते हुये यह आशा व्यक्त करते हैं कि वे इस भाषा की व्याकरण मे, जिसकी वे रचना कर चुके हैं, इन वातो को पूरी तरह से दर्शाने का प्रयास करेंगे। परन्तु यह व्याकरण अभी तक प्रकाशित नही हो सका है।

के लिये 'इम दृष्ट वस्थाम्', 'निश्चचार' के लिये 'निश्चरी', 'प्राणिध्यायन्ति' के लिये "प्रणिधोन्ति', 'मनसः' के लिये 'मना', 'एतेन' के लिये 'एन'।

४ था. दीर्घ स्वरों और संयुक्त व्यन्जनों के उनके मूल अयौगिक रूपों में विभाजन के लिये प्रायः नित्य मिलनेवाले ये उदाहरण देखिये।

'राज्याः' अथवा 'राज्याम्' के लिये 'रात्तिये', 'तुर्येभ्य.' के लिये 'तुरियेभि', 'ग्लानो' के लिये 'गिलानो, 'स्त्री' के लिये 'इस्त्रि'; 'तूर्य्य' के लिये 'तुरिय', 'अक्लान्तक' के लिये 'अकिलान्तक', 'क्लेश' के लिये 'किलेश', 'ह्री' के लिये 'हिरि', 'श्री' के लिये 'सिरि', 'श्रिया' के लिये 'शिरिया', 'श्रिये' के लिये 'शिरीये', 'देव्याः' के लिये 'देविये', 'पूजार्हम' के लिये 'पूजाराहम्', 'पद्मानि' के लिये 'पदुमानि', 'दानचर्या' के लिये 'दानचरीया', 'स्वप्नम्' के लिये 'सुपिन'।[१४१]

"महाप्राण व्यञ्जनों के पृथक्करण की यह प्रवृत्ति मध्यकालीन तथा आधुनिक भारतीय ध्वनिविज्ञान की एक प्रमुख विशेषता है। पालि तथा प्राकृत की उत्पत्ति का सर्वथा यही कारण है। हिन्दी तथा मराठी भाषाओं में बहुत अंशों तक इसका व्यवहार होता है और बंगला भी इसके प्रभाव से मुक्त नहीं।

"(ख)—गाथा की प्रान्तीयताओं के अन्तर्गत लिङ्ग, वचन, और कारक-रूपों का संकोचन या लोप, सर्वनामों की भ्रष्टता, तथा काल-प्रक्रियाओं के नवीन रूप, आते हैं।

(१) "लिङ्ग, वचन, तथा कारक की उपेक्षा के लिये निम्न उदाहरण दिये जा सकते है : 'विशुद्धनिर्मलान्' के लिये 'विशुद्धनिर्मलम्' (बहु० के लिये एक०), 'बुद्धक्षेत्राणि' के लिये 'बुद्धक्षेत्रम्' (बहु० के लिये एक०), 'आसनात्' के लिये 'आसनिना' (अपादान के लिये करण), 'बोधिसुवटात्' के लिये 'बोधिसुवट' (अपादान के लिये कर्म), 'ऊर्द्धौ हस्तौ' के लिये 'ऊर्द्ध हस्ता' (द्वि० के लिये बहु०), 'केचिद् एकपादेन' के लिये 'केचिद् एकपादे' (करण के लिये अधिकरण), 'त्रिलोकी' के लिये 'त्रिलोकम्' (स्त्री० के लिये क्ली०), 'कारणानि' के लिये 'कारण' (बहु० क्ली० के लिये एक० स्त्री०), 'नक्षत्राणि' के लिये 'णक्षत्रा.' (क्ली० के लिये पु०), 'पृथवः' के लिये 'पृथु'; 'इमानि कर्माणि' के लिये 'इमे कर्म'।

[१४१] अन्य उदाहरण ये है—व्यूह के लिये वियूह, रत्न के लिये रतन, शाक्यानाम् के लिये शाकियानाम् ; नार्या के लिये नारिया; वज्रकाय के लिये वजिरिकाय, शक्तम् के लिये शक्कितम् , शुक्ल के लिये शुकुल, न्यस्य के लिये न्यसिय, आभुज्य के लिये आभुजिय, अकम्प्य के लिये आकम्पियो, इत्यादि—लेखक।

(२) "कारक रूपों के संकोचन और लोप के अन्तर्गत जो सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता लक्षित होती है वह है सभी प्रत्यय रूपों के स्थान पर 'उ' का प्रयोग, जैसे 'रत्नम' के लिये 'रतनु', 'अहम' के लिये 'अहु'। निष्ठित 'अ' के स्थान पर भी केवल 'उ' का प्रयोग किया जाता है, जैसा कि निम्न उदाहरणों से स्पष्ट होगा 'वयसंस्कृत' के लिये 'वयुसस्कृतु', 'निष्क्रान्त' के लिये 'निष्क्रान्तु', 'परिवारित.' के लिये 'परिवारितु'। आगे ऐसे उदाहरण दिये जा रहे हैं जिनमें कारक विभक्तियों का लोप हो गया है : 'लौकिक', 'चित्र-कर्माण' के लिये 'चित्रकर्म', और ऐसे उदाहरण नित्य ही मिलते हैं।

(३) "निम्नलिखित उदाहरण भ्रष्ट सर्वनामों के हैं जो ललित विस्तर में अक्सर मिलते हैं। प्रत्यक्षतः ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होंने ही आधुनिक देशबोलियों में सर्वनामों के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया होगा :—

'मम' और 'मत्तः' के लिये 'मह्य', 'त्वया', 'त्वा' और 'तव' के लिये 'तुभ्य'"[८२]; 'एषः' के लिये 'अयु', 'ता' के लिये 'ते', 'कुत्र' और 'केन' के लिये 'कहिं'।

(४) "गाथा में रूपरचना के जो नवीन उदाहरण मिलते हैं उनके लिये उच्चारण की भ्रष्टता को एकमात्र कारण कहा जा सकता है। ये किसी निश्चित नियम का अनुसरण नहीं करते, और सकोचन की उस स्वाभाविक प्रवृत्ति के परिणाम हैं जिससे अंग्रेजी में 'विल नॉट' के लिये 'वोण्ट', और 'शैल नोट' के लिये 'शैण्ट' का प्रयोग प्रचलित हो गया है। नीचे कुछ थोड़े उदाहरण प्रस्तुत हैं .

'ददामि' के लिये 'ददमि' तथा 'देमि', 'भवमि' के लिये 'भोमि', 'भवति' के लिये 'भोति', 'भवन्ति' के लिये 'भोन्ति', 'रंस्यसे' के लिये, 'रमिष्यसि', 'आरोहत्' के लिये 'आरुहि', 'अरत्' के लिये 'अरणि' या 'रणि'; 'उत्तिष्ठ' के लिये 'उत्थि', 'ददस्व' के लिये 'दद', 'शृणु', के लिये 'शुणोहि' और शुण', 'अमुख' के लिये 'मुखमी'; 'भविष्यामि-व्-म-ति-त -अन्ति-सि-थः-थ' के लिये 'भेष्यि',[१४३] 'परिकथय' के लिये 'परिकथ', 'निदधु.' के लिये 'न्यसी', 'शृण्वन्ति'

[१८२] [मैंने 'मह्यम' और मया' के लिये 'मि'; 'त्वया' के लिये 'ति' (ललि पृ० २५६, ३५८, ३८० ३९९), 'तस्य' के लिये 'तसा' (पृ० १२५), 'एभिः' के लिये 'अनाभि.' (पृ० ३०४)। जैसे उदाहरण भी देखें हैं।—लेखक]

[१८३] ['भू' क्रिया के मुझे कुछ और अनियमित रूप मिले हैं जो इस प्रकार हैं 'भवति के लिये भवीति, अभूत के लिये अभूपि, अभू (?) के लिये अभूपी, अभूवन् के लिये अवभूवन, भविष्यसि और भवानि के लिये भवि, भवेत् के लिये

के लिये 'शृणुवन्ती', 'श्रुत्वा' के लिये 'शुणित्वा, श्रुणित्वा, शुणित्य, और श्रुत्य', 'श्रोष्यति' के लिये 'शुणिष्यति'; 'श्रान्यान्' के लिये 'शून्य', 'अवरुह्य' के लिये 'ओरुहित्वा'; 'ग्लापयामासु.' के लिये 'ग्लपयिसु', 'हित्वा' के लिये 'जहित्वा; 'बुद्ध्वा' के लिये 'बुद्धित्वा'।

"यहाँ यह कहा जा सकता है कि उपरोद्धृत अष्टतायें, अनेक दशाओं में, अन्य सम्बद्ध बोलियों द्वारा ग्रहण कर लिये गये रूपों की अग्रवर्ती हैं। संस्कृत की एकवचन अन्य पुरुष क्रिया 'भवति' को, गाथा में 'व्' का 'ओ' में परिवर्तन और इसके पूर्व तथा पश्चात् के 'अ्' का लोप करके 'भोति' (बहुवचन मे 'भोन्ति', तथा मध्यम पुरुष एकवचन 'भोसि') के रूप में परिणत कर दिया गया है। और इसी से हमें मागधी में 'होति', 'होसि', और 'होन्ति' रूप मिलते हैं। बगला में 'शुनिया' के निर्माण का प्रथम चरण 'श्रुत्वा' के लिये 'शुणित्वा' का यप्रोग है, जबकि 'सुनो' के रूप में 'शुणोहि' की परिणति केवल विभक्ति के लोप मात्र द्वारा ही पूरी हो गई है।

"(ग)—वाक्यांशों और शब्दों की व्यवस्था में गाथा में संस्कृत वाक्य-विन्यास के नियमों का ही पालन किया गया है, परन्तु समस्त या सयुक्त पदों के निर्माण में ऐसी विधियों का अनुसरण किया गया है जो पाणिनी और वोपदेव के सूत्रों के अत्यधिक विरुद्ध है। फिर भी, जल्दीबाजी तथा ध्यान के अभाव के कारण ही ऐसा हुआ है, अतः इसे बोलीगत किसी विशेषता के रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिये।"

फिर भी, गाथा बोली में कुछ ऐसे अन्य रूप भी मिलते हैं जिन्हें बाबू राजेन्द्रलाल मित्र ने या तो छोड दिया है अथवा उनका अत्यन्त संक्षेप में उल्लेख किया है, परन्तु जो आज भी कुछ उल्लेखनीय बातें प्रस्तुत करते है। इस प्रकार बहुवचन करण 'एभि.', जो वेदों में इतने सामान्य रूप से मिलता है, गाथाओं में भी नित्य प्रयोग में आता है। यह 'शाकियेभि.', 'सत्वेभि., 'गुणेभिः' 'सिंहासनेभि.', 'दारकेभि ', चेटकेभि.' के उदाहरणों से स्पष्ट है जो आधुनिक सस्कृत में व्यवहृत 'शाक्यैः', 'सत्वै.' आदि के स्थान पर प्रयुक्त मिलते हैं। इसी प्राचीन 'एभिः' रूप से ही इस कारक के पालि में 'एभि' अथवा 'एहि' रूप व्युत्पन्न हुये हैं, जैसा कि 'बुद्धेभि' अथवा 'बुद्धेहि' शब्दों से स्पष्ट होता है

भविय और भवेया (इसी काल के एक पालि रूप के समान), भव के लिये भोहि, भूत्वा के लिये भविया और भविअ, अनुभूय के लिये अनुभविया, प्रभवामि और प्रभवाम के लिये प्रभामि और प्रभाम। स्मः के लिये अस्मः, तथा अस्ति अथवा असीत् के लिये आसि रूप भी आते हैं।—लेखक]

(क्लाउ, पालि व्याकरण, पृ० १९)। पुनः, गाथाओं में हमें उपर्युल्लिखित उदाहरणों के अतिरिक्त भी अन्य अनेक रूप मिलते हैं जिनकी दशा में अकारान्त कारक विभक्ति के स्थान पर, व्यञ्जनों से अन्त होनेवाले शब्दों में इन्हीं की रूपरचना प्रणाली का अनुसरण किया गया है। इस प्रकार 'जगतः' और 'जगति' ('जगत्' के षष्ठी और सप्तमी रूप) के स्थान पर हमें 'जगस्य' और 'जगे' मिलते हैं। ऐसे ही, 'नाम्ना' ('नामन्' का करण) के लिये 'नामेन'; 'महात्मानम' के लिये 'महात्मम्', 'अनन्तयशसम' के लिये 'अनन्तयशम'; 'कर्मण.' ('कर्मन्' का सम्बन्ध) के लिये 'कर्मस्य', और 'दुहितृ' शब्द के द्वितीया रूप 'दुहितरम' के लिये 'दुहिताम' (आकारान्त स्त्रीलिङ्ग सज्ञा का द्वितीया रूप) मिलते हैं। यह परिवर्तन ऐसा है जिसे पालि ने ग्रहण किया है (जैसे 'ब्रह्मन्' के षष्ठी रूप में 'ब्रह्मस्स'), और जिसके प्रति और अधिक झुकाव प्राकृत में लक्षित होता है (देखिये कोवेल का प्राकृत ग्रामर, इन्ट्रो० पृ० xxiii, xxiv)। दूसरी ओर, हमें गाथाओं में एक सर्वथा भिन्न प्रकार का परिवर्तन, अधिकरण में 'ए' के 'इ' में परिवर्तन, के भी उदाहरण मिलते हैं, जैसे 'लोके, गेहे, उदरे', के शुद्ध रूपों के स्वरूप में 'लोकि गेहि, उदरि।' निपात 'अपि' का भी प्राकृत के ही समान 'पि' में संकोचन कर दिया गया है जिससे हमें 'अहम् अपि' के लिये 'अहम्पि', 'तुभ्यम् अपि' के लिये 'तुभ्यम्पि', 'वयम अपि' के लिये 'वयम्पि', 'नापि' के लिये 'नपि', 'तथापि' के लिये 'तथपि', 'पुनर् अपि' के लिये 'पुनोपि' रूप मिलते हैं। इसी प्रकार 'इति' का भी 'ति' के रूप में सकोचन कर दिया है, जैसे 'अहम् इति के लिये 'अहन्ति'। पुन', हमें कुछ विचित्र रूप भी मिलते हैं, जैसे 'यथा' के लिये 'जिह्नि', 'जिह्न', तथा 'जह', 'यथैव'[१८८] के लिये 'यथरिव' (ठीक वैसे ही जैसे पालि में है, क्लाउ का ग्रामर, पृ० ११), 'स्मृति' के लिये 'साति', 'पथेषु' के लिये 'पठे', और 'यष्टिधारकान्' के लिये 'इष्टिकान्'।

गाथा क्रियाओं के परिवर्तनों में से अनेक अशत' वही हैं जो हमें पालि में भी मिलते हैं। इस प्रकार 'चोदयन्ति', 'तर्पयिष्यन्ति', 'निवर्त्तयति', और 'धारयन्ती' जैसे शुद्ध सस्कृत रूपों के लिये हमें 'चोदेन्ति', 'तर्पेष्यति', 'निवर्त्तेति', तथा 'धरेन्ती, मिलते हैं, जो पालि में 'चोदेन्ति' 'तप्पेस्सति', 'निवत्तेति', और 'धरेन्ती' होंगे। पुन', 'अवलम्बते' के लिये हमें 'ओलम्बते' मिलता है जिसका पालि में भी यही रूप होगा। 'अवोचत्' के लिये 'अवचि', 'असुञ्चत्' के लिये 'मुञ्चि', 'अगच्छत्' के लिये 'गच्छि', 'अध्यायत्' के लिये

[१८८] ऊपर उल्लिखित अक्षरों के अन्तःक्षेपण के और उदाहरणों के लिये देखिये पृ० ९८ की टिप्पणी।

'ध्यायि' जैसे परिवर्तन कुछ अंशों तक पालि के इन रूपों के अनुरूप हैं : 'अकार्षीत्' के लिये 'अकासि', 'अहार्षीत्' के लिये 'अहासि', 'अदात' के लिये 'अदासि', 'अभूत्' के लिये 'अहोसि', 'अस्थात्' के लिये 'अट्ठासि', 'अवधीत्' के लिये 'अवधि', इत्यादि : और 'स्नापयामसु.'° अथवा 'असिस्नपन्' के लिये 'स्नपिन्सुं' वहुत कुछ वैसा ही है जैसा सामान्यभूत के अन्य पुरुष वहुवचन का पालिरूप 'अपचिन्सु'। 'द्रक्ष्यसि' के लिये 'दर्शिष्यति', 'श्रोष्यति' के लिये 'सुणिष्यति', 'क्षेप्स्यति' के लिये 'क्षिपिष्यति' और 'स्पर्द्धयति अथवा स्प्रक्ष्यति' के लिये 'स्पृशिष्यति' जैसे गाथा-रूप, 'वेत्स्यामि' के लिये 'वेदिस्सामि', 'भोक्ष्यामि' के लिये 'भुञ्जिस्सामि', और 'देक्ष्यामि' के लिये 'देस्सिस्सामि' जैसे पालि रूपों के ही सामान हैं। गाथा के भूतकालीन अविकारी निपात भी, जैसे 'भूत्वा, मन्त्वा, हत्वा, लब्ध्वा, स्तुत्वा, मत्वा, वि + हित्वा, श्रुत्वा और स्पृष्ट्वा' के लिये प्रयुक्त 'भवित्वा, रमित्वा, हनित्वा, लभित्वा, स्तुवित्वा, मनित्वा, विजिहित्वा, शुणित्वा, स्पृशित्वा', भी उसी सिद्धान्त के अनुसार बने है, जिसके अनुसार 'प्र + वेष्ट्वा, ज्ञात्वा और भुक्त्वा' के लिये 'पविसित्वा, जानित्वा और भूञ्जित्वा' जेसे समान पालि शब्द बने हैं। 'कृत्वा' के लिये आनेवाले 'करित्य' तथा 'करियान' में से यह बादवाला शब्द विभक्ति की दृष्टि से 'श्रुत्वा और दृष्ट्वा' के लिये प्रयुक्त पालि रूप 'सुत्वान' और 'दिस्वान' के समान है। पुन., हमें 'कम्पयन्' इत्यादि के लिये 'कम्पयन्तो, वारयन्तो, विनिष्क्रमन्तो, वीर्यवन्तो' आदि रूप मिलते है जो पालि और प्राकृत रूपों के समान है। 'प्रक्षसे' के लिये 'पेक्षसि', 'तावत्' के लिये 'ताव', 'स्मर, कुरु, भण और वस' के लिये क्रमशः 'स्मराहि, कुर्वहि, भणाहि और वसाहि', 'देव्या.' के लिये 'देविये और देवीये', 'तपसि' के लिये 'तपस्मि', 'तले' के लिये 'तलस्मिन्', 'अर्हद्भि.' के लिये 'अर्हन्तेभिः', 'प्रभया' के लिये 'प्रभाय', और 'वाचा' के लिये 'वाचाय' जैसे प्रयोगों के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। 'त्यक्त्वा' के लिये मुझे 'छोरयित्वा' शब्द मिला है जो संस्कृत में वहुत अधिक प्रयुक्त हुआ प्रतीत नहीं होता, यद्यपि विलसन ने अपने कोश में 'छोड़ने' के आशय में 'छोरण' शब्द दिया है। मैं यहाँ अनियमित शब्द-रूपों के कुछ और उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ, यथा . 'पिष्टा' के लिये 'पिथिता', 'प्रथितानि' के लिये 'पिथितानि', 'व्यस्नापयद्' के लिये 'विस्नपी', 'स्नापयित्वा' के लिये 'स्नपित', 'क्षिपन्ती' के लिये 'क्षिपिण्सु', 'भवेत्' के लिये 'भविय', 'प्रतिष्ठाय' के लिये 'प्रतिष्ठिहित्वा', 'ददति' के लिये 'दत्ति', 'ददाति' के लिये 'देति', 'दास्यामि' के लिये 'दास्मि', 'दयिताम्' के लिये 'दीयतु', 'ददतः' के लिये 'दर्थि', 'दातुम्' के लिये 'ददितु', 'दत्वा' के लिये 'देती, ददिअ और ददिय', 'करोमि' के लिये 'कुरुमि',

'कुर्वन्ति अथवा करिष्यन्ति' के लिये 'करोन्ति', 'करिष्यामः' के लिये 'करोम', 'कुर्युः' के लिये 'करेय', 'कृत्वा' के लिये 'करित्य, करिये और करिया', 'प्रकुरु' के लिय 'प्रकरोहि', 'गृहीत्वा' के लिये 'गृहीत्य और ग्रहिय', 'भिनद्मि' के लिये 'भिनन्मि', 'वदामि' के लिये 'वदेमि', 'व्युत्थाय', के लिये 'व्युस्थाय', 'स्थित्वा' के लिये 'स्थिहित्य', 'उत्थाय' के लिये 'उत्थिहित्वा', 'आरुह्य' के लिये 'आरुहित्य', 'पराहत्य' के लिये 'पराहनिय', 'उत्तिष्ठेत्' के लिये 'उत्थिहेत्', 'चरति' के लिये 'चरोति', 'मत्वा' के लिये 'मिणित्वा,, 'शक्तम्' के लिये 'शक्तितम' और 'शक्तितम्', 'उत्क्षेपय' के लिये 'उत्क्षेपय', 'म्रियते' के लिये 'मियति', 'पूर्व' के लिये 'पुरिम', 'विद्वान्' के लिये 'विदु, विद्वद्भिः', 'लाभाय' के लिये 'लाभसे', 'सस्कृतात् अथवा संस्कृततः' के लिये 'संस्कृतात्तः', 'जानामि' के लिये 'जानमी', 'भापते' के लिये 'भासी', 'विनेष्यति' के लिये 'विनेन्ति', 'जनयिष्यति' के लिये 'जनेपि १ अथवा जनैपी', 'अद्राक्षु' के लिये 'अद्दशुः', 'दृश्यते' के लिये 'पश्येत', 'अध्येतुम' के लिये 'अध्येपु', 'चिन्तयित्या' के लिये 'चिन्त्या', 'वदामि' के लिये 'वदेमि', 'वन्दामहे' के लिये 'वन्दिम', 'अतिक्रमितुम' के लिये 'अतिक्रमेतुम्'। (मैं यहाँ यह उल्लेख कर दूँ कि मैंने इन सभी दिशाओं में समानान्तर संस्कृत शब्दों को ललित विस्तर के मुद्रित संस्करण की टिप्पणियों के अनुसार ही दिया है)। संज्ञाओं और कृदन्तों का 'क' अक्षर जोड़कर अक्सर विस्तार कर दिया गया है, जैसे 'रुदन' (अथवा सम्भवत रोदन्तो), गच्छमाने, भापमाणा', ददत्य., रोदितव्यः, आगताः, दासिका.' के लिये 'रोदन्तको, गच्छमानकं, भापमाणिका., ददन्तिकाः, रोदिव्यक , आगतिकाः, दासिनिका.'। वाजसनेयि सहिता (२३-२२ और वाद) के कुछ मत्रों में भी बीच में 'क' अक्षर रख देने के उदाहरण मिलते है जहाँ 'या', 'य ' तथा 'असौ' के लिये यका' और 'असकौ', 'यकः' तथा 'असक्कौ' आते है।

'मा जणय' के लिये 'अजनेहि' में अभावार्थक 'अ' का प्रयोग अत्यन्त विचित्र है।

'लप्स्यसे' अथवा 'लब्ध.' के लिये 'लभि', 'अगच्छत्' के लिये 'गच्चि', 'चलिता' के लिये 'चलि', 'अमुञ्चत्' के लिये 'मुञ्चि', 'अवोचत्' के लिये 'अवचि' 'निवेशिता' के लिये 'निवेशयि', 'छादयति' के लिये 'छादयि', 'पर्यचर.' और 'परिचारिणी' के लिये 'परिचरि', वराचरणम्' के लिये 'वरिचरि', 'त्यक्ता, 'त्यक्त्वा' और 'त्यक्तवान्' के लिये 'त्यजि', 'स्मृतम्' और 'स्मरणम्' के लिये 'स्मरि', 'वर्पित्वा' के लिये 'वर्पि', 'अव्रजत्' के लिये 'व्रजि', स्प्रष्टुम्' के लिये 'स्पर्शि'; 'उतिष्ठ' और 'उत्थाय' के लिये 'उत्थि' जैसे संक्षिप्त अथवा अनियमित शब्द रूपों का प्रयोग अत्यन्त साधारण रूप से मिलता है, और जैसा कि प्रत्येक

शब्द के साथ दिये समानान्तर शब्दों से प्रगट होगा, इन रूपों की व्याख्याकारों ने अत्यन्त भिन्न प्रकारों से व्याख्यायें करते हुये इन्हें वर्तमान, भूत, और भविष्यत् कालों में क्रियाओं, आज्ञार्थक, कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य कृदन्तों, और यहाँ तक कि संज्ञाओं तक के रूप में ग्रहण किया है। क्रियाओं के उपान्त्य अक्षर को, अक्सर, वैदिक 'लेट्' रूप की ही भाँति, विस्तृत कर दिया गया है, जैसे 'मोचयति' इत्यादि के लिये 'मोचयाति, धर्षयाति, सहाति, लभाति, दशासि, व्रजासि' इत्यादि, जिन सब को टीकाकार सामान्यतया वर्तमान काल, किन्तु कभी कभी भूत और भविष्यत् कालों तक में ग्रहण करते हैं। यह रूप 'आदशासि' में आगम के साथ तक मिलता है जिसका टीकाकार 'पश्यति' अथवा 'अद्राक्षीत्' अनुवाद करता है।

अब मैं बाबू राजेन्द्रलाल के निबन्ध से कुछ उद्धरण देता हुआ आगे बढ़ूँगा।

"गाथा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात प्रतीत नहीं होता। एम्० बर्नफ इसे अज्ञानता के कारण उत्पन्न मानते हुये यह कहते हैं:—'यह तथ्य (वैपुल्य सूत्र के विभिन्न अंशों की भाषा का अन्तर) स्पष्टतम रूप से इस बात को व्यक्त करता है कि एक अन्य संग्रह भी था (तीन संगीतियों के समय तैयार किये गये संग्रहों के अतिरिक्त बौद्ध साहित्य का संग्रह), और जिनमें ये अनियमिततायें आती हैं उन पद्यात्मक स्थलों के विकास के सम्बन्ध में यह व्यक्त करने के लिये कि ये पद्यात्मक स्थल उन्हीं रचयिताओं की कृतियाँ नहीं हैं जिन्होंने सरल सूत्रों की रचना की, यह तथ्य अनुकूल सिद्ध होता है। ग्रन्थों में भाषा के इस भिन्नत्व से युक्त कुछ नहीं, अतः इससे इनकी उत्पत्ति पर कदाचित ही प्रकाश पड़ता है। क्या हम इसे एक ऐसी प्रचलित शैली का प्रयोग माने जो शाक्य के उपदेशों के बाद विकसित हुई, और जो, इस प्रकार, नियमित संस्कृत तथा पालि—सर्वथा संस्कृत से व्युत्पन्न और इसलिये संस्कृत के बाद की बोली—के बीच की एक माध्यमिक भाषा हो सकती है ? अथवा हम इसे ऐसे लेखकों की भोंडी रचनायें माने जिनके लिये अब संस्कृत बोधगम्य नहीं रह गई, और जो इस पाण्डित्यपूर्ण भाषा (संस्कृत) को भली भाँति न समझते हुये भी उस स्वतन्त्रता के साथ लिखने का प्रयास करते रहे जो किसी प्रचलित परन्तु अपूर्णरूप से निर्धारित बोली के अभ्यासगत प्रयोग द्वारा उपलब्ध होती है ? इतिहास ही इस बात का निर्णय करेगा कि इन दोनों समाधानों में से कौन उचित है। मेरी दृष्टि में तो द्वितीय समाधान ही अधिक सम्भाव्य प्रतीत होता है, परन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव में हमारा निष्कर्ष अब तक ज्ञात अत्यन्त अल्प तथ्यों पर ही आधारित है। पुनः, ये सभी

तथ्य नेपाली संग्रह में नहीं मिलते।' समस्या को सभी पक्षों की पृष्ठभूमि में समझने के लिये हमें सिंहली संग्रह और दक्षिण के बौद्धों की परम्पराओं के अनिवार्य अध्ययन की आवश्यकता है। वहाँ से हमें जो पता लगता है वह यह है कि वहाँ के पवित्र ग्रन्थ पालि में रचित हैं: अर्थात् एक ऐसी बोली में जो ब्राह्मणों की पाण्डित्यपूर्ण भाषा से सीधे व्युत्पन्न है और जो भारत के प्राचीन बौद्ध चैत्यों-विहारों में मिलनेवाली बोली से बहुत थोड़ी ही भिन्न है। तो क्या महान सूत्रों के पद्यात्मक भागों की रचना इसी बोली में हुई है? कदापि नहीं, इन स्थलों की शैली एक वर्णनातीत मिश्रण है जिसमें अशुद्ध संस्कृत का ऐसे रूपों के साथ प्रयोग किया गया है जिनमें से कुछ सर्वथा पालि हैं, और अन्य अत्यन्त प्रचलित या लोकभाषीय। इस प्रकार की भाषा के लिये कोई भौगोलिक नाम नहीं है, परन्तु, साथ ही साथ, यह बात मेरे समझ में नहीं आती कि उन स्थानों पर जहाँ संस्कृत का नियमित रूप से अध्ययन नहीं होता था, और ऐसे लोगों के बीच जिन्होंने संस्कृत का या तो कभी व्यवहार ही नहीं किया अथवा ऐसी बोलियों के ही ज्ञाता थे जो न्यूनाधिक मात्रा में इसी प्राचीन स्रोत से उद्भूत थीं, किस प्रकार ऐसे असंस्कृत-वाच की उत्पत्ति हुई। अत, मैं यह विश्वास करता हूँ कि महान सूत्रों के इस भाग की भारत के बाहर रचना हुई होगी, अथवा अपने को और अधिक ठीक ठीक व्यक्त करने के लिये, उन देशों में जो सिन्धु नदी के पश्चिम में अथवा काश्मीर में स्थित थे। ये ऐसे देश थे जहाँ ब्राह्मणों तथा बौद्धों की भाषाओं का मध्य भारत की अपेक्षा कम सफलतापूर्वक अध्ययन किया जाता रहा होगा। मुझे यह सर्वथा असम्भव प्रतीत होता है कि इन पद्यों में असंस्कृतवाच् की उत्पत्ति उस समय हुई होगी जब हिन्दुस्तान में बौद्धधर्म पूरी तरह प्रचलित था। उस समय, धर्म पुरोहितों के सामने इन दो भाषाओं के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं रहा हो सकता, अर्थात् संस्कृत (वह भाषा जो नेपाल से प्राप्त संग्रहों में मिलती है), अथवा पालि या वह बोली जो भारत के प्राचीन बौद्ध अभिलेखों में मिलती है, और जिसे लंका के बौद्धों ने ग्रहण किया था।[१४५]

---

[१४५] लबु० पृ० १०५। [मैंने बर्नफ के इस अनुवाद मे बहुत थोडे से शाब्दिक हेर-फेर कर दिये हैं। लासन (इआ० २, पृ० ९) इन शब्दो मे बर्नफ से सहमति प्रकट करते हैं. "महायान सूत्रो (बौद्धो का) की रचना ऐसे गद्य मे हुई है जो अनियमित संस्कृत, पालि तथा ग्राम्यबोलियो मे गृहीत शब्दो का मिश्रण है। वृत्तान्तो को पद्य मे दोहराया गया है। जैसा कि विदित होता है शब्दो का इस प्रकार का मिश्रण केवल ऐसे ही देश मे सम्भव हुआ होगा जहाँ शास्त्रीय भाषा अपने शुद्ध रूप में व्यवहृत नही होती होगी; फलस्वरूप इन ग्रन्थो

बाबू राजेन्द्रलाल आगे कहते है : "हम यह विचार करने का साहस करते हैं कि यह मत संस्कृत शैली के एक भ्रामक अनुमान पर आधारित है। गाथा-पद्य में पर्याप्त कलात्मक परिष्कार लक्षित होता है जो तत्काल यह संकेत कर देता है कि यह ऐसे लोगों की कृति नहीं है जो व्याकरण के सिद्धान्तों से अनभिज्ञ थे। इसके लेखक पर्याप्त पाण्डित्य प्रदर्शित करते हैं और तर्कशास्त्र तथा तत्त्वमीमांसा की सूक्ष्मतम समस्याओं तक की कुशलता तथा विद्वतापूर्ण रूप से विवेचना करते हैं। अतः यह मान लेना कठिन है कि ऐसे व्यक्ति, जो संस्कृत तर्कशास्त्र के अत्यन्त जटिल रूपों से सर्वथा परिचित थे, जिन्होंने तत्त्वमीमासा के दुर्बोध विचारों तक को निश्चित तथा अक्सर सुन्दर भाषा में व्यक्त किया है, और जिन्होंने आर्य, तोटक तथा अन्य कठिन छन्दों में सुगमता और कुशलतापूर्वक रचनाये की है, अपने लिखने की भाषा के मूलतत्त्वों से अनभिज्ञ तथा साधारण क्रिया शब्दों का भी रूप चलाने में असमर्थ रहे होंगे। उस समय यह कठिनाई और भी बढ़ जाती है जब हम यह ध्यान रखें कि वैपुल्य सूत्रों का गद्यभाग पूर्णतया विशुद्ध संस्कृत मे लिखा गया है, और उसमें उस प्रान्तीयताओं तथा ग्राम्यरूपों का कोई चिह्न नहीं है जो हमें पद्यभाग में इतनी प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यदि ये सूत्र सिन्धुनदी के उसपार निवास करनेवाले ऐसे लोगों द्वारा रचे गये हैं जिनका सस्कृत का ज्ञान पूर्ण नहीं था, तब ऐसा कैसे हुआ कि इनका एक अश तो सभी प्रकार से पूर्ण परन्तु दूसरा अश इतना अपूर्ण रह गया? एक ही पुस्तक में एक ही बात को दो बार—एक बार शुद्ध गद्य में और फिर अशुद्ध पद्य मे—लिखने का क्या प्रयोजन था?

"यह माना जा सकता है—और सर्वसम्भाव्य स्थिति भी यही है—कि गद्य तथा पद्य दोनों दो भिन्न कालों की रचनाये है। परन्तु तब प्रश्न यह उठता है कि ये दोनों फिर एक दूसरे से सम्बद्ध कैसे हो गये? गद्य-भाग के लेखकों को सिन्धुपार रचित अशुद्ध रचनाओं को सम्मिलित कर लेने के लिए किस बात ने प्रेरित किया? उन वृत्तान्तों की सत्यता तथा प्रामाणिकता के अतिरिक्त अन्य कोई भी बात उनके ग्रहण किये जाने का कारण नहीं हो सकती। परन्तु यह मान लेना कैसे सम्भव हो सकता है कि शाक्य की मृत्यु के तीन सौ वर्ष के भीतर उनके जीवन से सम्बद्ध सर्वाधिक प्रामाणिक विवरण केवल ऐसे ही देशों

की रचना सम्भवत सिन्धु के तटवर्ती देशो मे, तथा अधिक सम्भवतः उस काश्मीर मे हुई होगी जिसका बौद्धमत के बाद के इतिहास मे महत्त्वपूर्ण स्थान है।" (देखिये उसी ग्रन्थ के पृ० ४९१, ४९२, ११५३)—लेखक]

से प्राप्त हो सकते थे जो उनकी जन्मभूमि तथा उपदेश भूमि से सैकड़ों मील दूर स्थित थे ? इन महान सूत्रों को तीसरी संगीति (३०९ ई० पू०) के समय रचित माना गया है, जिस समय यह सम्भव नहीं प्रतीत होता कि मध्य भारत के ऋषिगण काश्मीर तक ऐसे विवरणों को एकत्र करने चले गये होंगे जो उन्हें अपने ही घर में उपलब्ध हो सकते थे ।

"अधिक तर्कसंगत अनुमान यह प्रतीत होता है कि गाथा ऐसे चारणों की कृतियाँ हैं जो शाक्य के समसामयिक अथवा उनके ठीक बाद हुये और जिन्होंने मगध के इस देवदूत के उपदेशों तथा कृत्यों का लोकप्रचलित तथा सुबोध पद्यों में श्रोताओं के समक्ष गायन किया। कालान्तर में इन्हीं पद्यात्मक गीतों को बौद्ध मत के संस्थापक से सम्बन्द्ध विवरणों का सर्वाधिक प्रामाणिक स्रोत माना जाने लगा। भारत में, तथा विशेष रूप से बौद्ध ग्रन्थों में इन चारणों के गीतों तथा तुकबन्दियों को जितने सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है वह इस तथ्य की पुष्टि करता है। साथ ही यह स्थिति कि गद्यात्मक वृत्तान्तों की पुष्टि में पद्यात्मक स्थलों को सामान्य रूप से जिन 'तत्रेदम् उच्यते' शब्दों के साथ आरम्भ किया गया है वे भी उक्त मान्यता के लिये एक प्रबल प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।"

बर्नफ के 'लोटस' की एक समालोचना में प्रो० वेबर (इण्डिशे स्टूडियन, ३,१३९,१४०) ने बर्नफ के गाथा सम्बन्धी उपरोद्धृत मतों पर इस प्रकार टिप्पणी की है .—

"अन्तिम तर्क (अर्थात् यह कि मध्य भारत की अपेक्षा काश्मीर में संस्कृत का अभ्यास कम था) ठीक नहीं है, क्योंकि, इसके विपरीत, यह स्पष्ट है कि भारतीय व्याकरण के पाण्डित्यपूर्ण अध्ययन का क्षेत्र भारत का उत्तर-पश्चिमी भाग ही रहा प्रतीत होता है। जहाँ तक तथ्य का प्रश्न है, बर्नफ ठीक हो सकते हैं, और उन पद्यभागों का असंस्कृत वाच् वास्तव में एक समय काश्मीर की स्थानीय बोली रहा हो सकता है जिसमें प्राचीन बोली के रूप के साथ ठीक-ठीक सभ्यता के चिह्न उन पालि तथा प्राकृत बोलियों की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में सुरक्षित रहे हो सकते हैं, जो एक भिन्न भाषा बोलनेवाली पूर्वग जाति के प्रभाव के अन्तर्गत भारत में विकसित हुई। परन्तु जैसा कि बर्नफ ने अन्यत्र यह आग्रह किया है कि कोई बौद्ध ग्रन्थ जितना ही हाल का है उसकी भाषा भी उतनी ही शुद्ध और निर्विकार है, उसके आधार पर मुझे यह मानना अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है कि ये पद्यभाग अपेक्षतया प्राचीनतर परम्पराओं के अवशेष हैं, क्योंकि यदि ये मूल ग्रन्थ के शेष भाग की अपेक्षा अधिक हाल के हों, तो हमें भाषा की दृष्टि से इनकी परस्पर भिन्नता

के कारण का समाधान करने के लिये कोई आधार नही मिलेगा, और यदि भिन्नता के तथ्य को स्वीकार ही कर लिया जाय तो हमे यह आशा करनी होगी कि गद्यभाग की अपेक्षा पद्यभाग अधिक शुद्ध होगा। वास्तव में जएसो० (१८५१, पृ० २८३) में इसी दृष्टिकोण को ग्रहण किया गया है जहाँ ललित विस्तर को 'ईसा की छठवीं शताब्दी के अन्त में संस्कृत में इस भाषा के एक अप्रचलित प्राकृत-रूप में चारणों द्वारा अपेक्षतया प्राचीन समय में रचित गीतों से संग्रहीत किया गया है।"

एम० वर्नफ के जिन मतों की बाबू राजेन्द्रलाल विवेचना कर रहे हैं उसके सम्बन्ध में मैं कोई मत व्यक्त नहीं करूँगा। गाथा-बोली की विचित्रतायें इतनी अनियमित हैं कि उनकी व्याख्या करना अत्यन्त कठिन है। जो कुछ भी हो, इतना स्पष्ट है कि यदि यह बोलीजानेवाली भाषा न भी रही हो तो भी एक प्राचीन समय में यह कम-से-कम लिखित भाषा अवश्य थी। अतः यह हमें उस प्रक्रिया के कुछ अशों का उदाहरण प्रस्तुत करती है जिसके अनुसार संस्कृत ने भ्रष्ट तथा विघटित होकर उन भाषाओं के उद्भव को सम्भव बनाया जो उससे उत्पन्न हुईं।

मैं यहाँ बाबू राजेन्द्रलाल के निबन्ध के अन्तिम अश को उद्धृत करता हूँ जिसमें उन्होंने उन विभिन्न कालों के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त किया है जिनमें संस्कृत से उत्तरोत्तर परिवर्तित भाषायें भारत में बोली जाती थीं।

"एम० बर्नफ गाथा की भाषा को पालि और विशुद्ध संस्कृत की मध्यवर्ती भाषा मानते हैं। अब, जब शाक्य की मृत्यु के तीन सौ वर्षों के भीतर ही पालि कटक से लेकर कर्पुद्गढ़ी तक भारत की एक देशबोली हो गई तब यह मानना अनुचित नहीं होगा कि गाथा, जो इसकी (पालि की) पूर्वगामी थी, शाक्य के उद्भव के समय करोड़ों लोगों को बोली अवश्य रही होगी। इस विषय मे यदि हमारा अनुमान सत्य है, तो यह निष्कर्ष निकलेगा कि ईसवी सन् के लगभग ६ सौ वर्ष पूर्व के आस-पास संस्कृत भाषा गाथा के रूप में, तथा उसके तीन सौ वर्ष बाद पालि के रूप मे परिवर्तित हो गई होगी, जहाँ से और दो सौ वर्षो में इसने प्राकृत, तथा उसके साथ की उन अन्य बोलियों, जैसे शौर-सेनी, द्राविडी[१४६] और पञ्चाली को जन्म दिया होगा जो भारत की वर्तमान देश-भाषाओं के रूप में परिणत हो गईं।"

---

[१४६] [यदि 'द्राविडी' से तेलुगु अथवा उसकी अन्य किसी सजातीय भाषा से तात्पर्य हो तो उसे उत्तरी प्राकृतो के साथ वर्गीकृत करना गलत होगा। लेखक]

इस प्रकार मैंने (जैसा मैंने खण्ड १ में मूलतः प्रस्तावित भी किया था) उत्तर भारत की देशबोलियों के उन विभिन्न क्रमिक स्तरों की समीक्षा प्रस्तुत की, जिनसे, अपनी मूल भाषा संस्कृत से पृथक होने के समय से लेकर अबतक ये होकर गुजरी है। अपने वर्तमान समय की प्रान्तीय बोलियों, जैसे हिन्दी, मराठी, बंगला, इत्यादि जो अपनी मूल भाषा से अत्यन्त भिन्न हो गई हैं, से आरम्भ करके मैंने उत्तरोत्तर ऊपर बढ़ते हुये अपेक्षाकृत हाल की देशबोलियों से अधिक प्राचीनतर बोलियों, और फिर उनके पीछे की भी भाषाओं के वेद की भाषा के आकार और रूप के निकट पहुँचने की क्रमिक प्रक्रिया का अध्ययन करने का प्रयास किया है। खण्ड १ में आधुनिक देशभाषाओं पर विचार किया गया है। खण्ड २—४ में प्राकृत-सञ्ज्ञक बोलियों का वर्णन करते हुये यह सिद्ध किया गया है कि ये या तो स्वयं बोलीजानेवाली भाषायें थीं, अथवा, कम-से कम, आधुनिक देशबोलियों के उद्भव के पूर्व उत्तर भारत का बोलीजानेवाली भाषाओं के अत्यन्त समान थीं। अनेक उदाहरणों द्वारा वहीं यह भी दिखाया गया है कि उक्त प्रथम वर्ग की बोलियाँ (अर्थात् देशबोलियों के उद्भव के पूर्व की बोलियाँ) बाद के वर्ग (देशबोलियों) की अपेक्षा संस्कृत के अधिक निकट थीं। खण्ड ५ में पालि का विवरण प्रस्तुत करते हुये विस्तारपूर्वक यह दिखाया गया है कि यह व्याकरणिक रूपों की दृष्टि से प्राकृतों की अपेक्षा अधिक प्राचीन है, तथा प्राकृतों की अपेक्षा संस्कृत से भिन्नता की मात्रा भी इसमें कम है। खण्ड ६ में मैंने 'प्रियदर्शी' के शिलालेखों में व्यवहृत भाषा का कुछ वर्णन किया है जिससे निर्विवाद रूप से यह स्थापित हो जाता है कि पालि से मिलती-जुलती अनेक भाषायें तृतीय शताब्दी ई० पू० में उत्तर भारत में देशबोलियों के रूप में प्रयुक्त होती थीं। और अन्ततः, खण्ड ७ में, मैंने प्रत्यक्षतः ईसवी सन् के पूर्व रचित बुद्ध के क्रिया-कलापों का वर्णन करनेवाली गाथाओं और वृत्तान्तात्मक पद्यों में प्रयुक्त भ्रष्ट संस्कृत के एक रूप का वर्णन किया है।

यह आवश्यक नहीं कि मैं पालि, अभिलेखों की भाषा, तथा गाथाओं की भाषा की सापेक्षिक प्राचीनता का भी ठीक-ठीक निर्धारण कर सकूँ। हम देख चुके हैं (पृ० ७६) कि पालि में कुछ ऐसे व्याकरणिक रूप मिलते हैं जो अभिलेखों की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं, साथ ही स्थिति इसके विपरीत भी है। इतना ही कहना पर्याप्त है कि ये तीनों परस्पर भिन्न बोलियाँ किसी भारतीय बोली के ऐसे रूप को व्यक्त करती हैं जो नाटकीय काव्यों की प्राकृतों से और अधिक प्राचीन है। इस प्रकार ये हमें उस प्रक्रिया के आरम्भिकतम स्तरों का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं जिसके अनुसार भारत की मूलतः बोलीजानेवाली भाषा, अर्थात् आरम्भिक संस्कृत, विघटित और भ्रष्ट हुई।

खण्ड ८—एक देशबोली के रूप में संस्कृत के मूलतः प्रयोग की विवेचना; संस्कृत से प्राकृतों के उत्पन्न होने की प्रक्रिया तथा इनके निर्माण के समय के सम्बन्ध की विवेचना : वेबर, ऑफरेख्त, लासन तथा बेनफे के इस सम्बन्ध में विचार।

आधुनिक देशबोलियों से आरम्भ करके प्रकृतों तथा पालि तक भारत की बोलीजानेवाली भाषाओं के उपरोक्त पर्यवेक्षण से हमें यह पता चलता है कि, जैसा कि बार-बार कहा भी जा चुका है, इन बोलियों में से जो जितनी ही प्राचीन है उतनी ही वह शब्द-रूपों तथा कारक-प्रक्रिया की दृष्टि से संस्कृत के समान है। आधुनिक भारतीय भाषाओं और प्राचीनतम देशबोलियों के रूपों में भिन्नता के आधार पर, तथा उस क्रमिक अन्तर के आधार जिसके द्वारा प्राचीनतम बोलियाँ आधुनिक बोलियों में परिणत हो गईं, निर्णय करते हुये हमें यह निष्कर्ष निकालने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि प्राकृतों के अत्यन्त प्राचीनतम रूपों में भी, आरम्भिक समयों में, इसी प्रकार के परिवर्तन हुये होंगे और ये भाषायें किसी समय उन भाषाओं से भिन्न अवश्य रही होंगी जो आज इनके रूप में हमारे लिये उपलब्ध हैं, और इन भाषाओं की संस्कृत के प्राचीनतम स्वरूप के साथ समानता की मात्रा में इनकी प्राचीनता के अनुपात में वृद्धि होती गई होगी, तथा अन्ततः ये अपनी मूल भाषा में विलीन या उसके सर्वथा समान हो गई होंगी। और यतः इस बात में कोई संदेह नहीं कि ये प्राकृत बोलियाँ, अपने जिन प्राचीनतम रूपों में आज हमें उपलब्ध हैं, कभी बोलीजानेवाली भाषायें थीं, अतः हम यह भी निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि स्वयं संस्कृत भी, एक समय, अर्थात् प्राकृतों के इससे पृथक हो गये होने के पूर्व किसी समय, एक देशबोली के रूप में प्रयुक्त होती रही होगी।

फिर भी, इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करने के पूर्व, सर्वप्रथम, मैं उन प्राचीन तत्वों के जिनसे प्राकृतों (इस शब्द के अन्तर्गत मैं सस्कृत से उद्भूत सभी देशभाषाओं को रखता हूँ) का विकास हुआ, तथा इनके निर्माण को प्रभावित करनेवाली प्रक्रिया के सम्बन्ध में प्रोफेसर वेबर, लासन, बेनफे, और ऑफरेख्त के सामान्य अनुमानों को प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

नीचे उस प्रणाली का विवरण प्रस्तुत है जिसके अनुसार प्रोफेसर वेबर प्राकृतों को उत्पन्न हुआ मानते हैं[१४७] :—

"यहाँ मैं एक बार फिर अपने को सामान्यतया की गई एक त्रुटि के स्पष्टतः विरुद्ध घोषित कर देना चाहता हूँ। ईसवीसन् के ठीक पूर्व की कुछ शताब्दियों

---

[१४७] इण्डिशे स्टूडियन, २, पृ० ८७, नोट।

में प्राकृत बोलियों के अस्तित्व (अभिलेखों में) के आधार पर यह निष्कर्ष (रॉथ के विरुद्ध स्पीगल द्वारा) निकाला गया है कि इन बोलियों के निर्माण के पूर्व संस्कृत मृत हो चुकी थी, जब कि इसके विपरीत, हमें संस्कृत तथा प्राकृतों, दोनों को किसी एक ही स्रोत अर्थात् इण्डो-एरियन भाषा से ही विकसित तथा सर्वथा समसामयिक मानना चाहिये। ' इस दृष्टिकोण के और विस्तृत विवरण के लिये मैं अपने वाजसनेयि संहिता स्पेसीमेन २, पृ० २०४–६, का सन्दर्भसंकेत करूँगा। वहाँ मैंने जो कुछ कहा है उसके प्रमाणस्वरूप इस तथ्य को प्रस्तुत करता हूँ कि प्राकृत बोली के प्रमुख नियम, जैसे संमिश्रण, विच्छेदीकरण, तथा मूर्धन्य और महाप्राण व्यञ्जनों के प्रति अनुरक्ति, वेदों में भी प्रमुख रूप से मिलते हैं, जिनमें ये उदाहरण प्रस्तुत हैं कुट = कृत (ऋग्वेद १.४६,४), काट = कर्त (ऊपर पृ० ४५), गेह = गृह (ऊपर पृ० ५६), गुग्गुलु = गुल्गुलु (कात्या० ५.४,१७), विविट्यै = विविष्ट्यै (तैत्तिआर० १०.५८), यावत्सः = यावत्यः (शतब्रा० २.२,३,४), कृकलास (बृह० आर० १.३,२२) = कृकदाशु (ऋग्वेद १.२९,७), पुरोडाश = पुरोलाश, पड्भि॰ = पद्भि॰, क्षुल्लक = क्षुद्रक, भल्लाक्ष = भद्राक्ष (छान्दो० ६.१ पर भाष्य), विकिरिड = विकिरिद्र (ऊपर पृ० ४६), गभस्ति=ग्रभस्ति, अथवा गर्भस्ति, निघण्टु = निग्रन्थु; घस् = ग्रस्, भञ्ज् = भ्रञ्ज् (अथवा भ्रञ्ज), भुज् = भ्रुज, भन्द = लन्दम्, भस् = ब्रस्। इस बाद के उदाहरण में पिछले व्यञ्जन को महाप्राणित करने के बाद 'र्' लुप्त हो गया है ''। एक दूसरे के साथ तुलना करने पर तुलनात्मक भाषा–विज्ञान द्वारा इण्डो-जर्मनिक भाषाओं के वर्ग के अन्तर्गत भी इसी समान ध्वन्यात्मक प्राकृतीकरण के उदाहरण मिलते हैं।" इसी लेखक ने अपने 'वाजसनेयि संहिता स्पेसीमेन (२,२०३ और बाद)[१८८] में इस प्रकार कहा है : "मैं उन लोगों के मत से सहमत हूँ जो यह नहीं मानते कि संस्कृत भाषा कभी भी सम्पूर्ण आर्य जाति की बोलीजानेवाली भाषा थी, और इसे केवल विद्वद्वर्ग की भाषा तक ही सीमित मानते हैं। जिस प्रकार जर्मनों की प्राचीन बोलियों से उत्पन्न होकर हमारी आज की उच्च जर्मन भाषा ने उन बोलियों में समान रूप से उपस्थित बातों को सार्वभौमिक नियमों और विधानों में परिणत, और तुलनात्मकता की शक्ति द्वारा विभिन्नता के समस्त चिह्नों को समाप्त कर दिया, और जिस प्रकार, दूसरी ओर, क्रमशः भ्रष्ट होते हुये इन बोलियों ने अक्सर पूर्ण और अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन रूपों को भी सुरक्षित रक्खा, उसी प्रकार एक ओर तो वैदिक बोलियाँ अंशत. एक ऐसी धारा के साथ मिल गईं जिसमें उनका वैयक्तिक

[१८८] इण्डिशे स्टूडियन, २, पृ० ११०-१११ में पुन मुद्रित।

अस्तित्व लुप्त होकर नियमित संस्कृत भाषा में परिणत हो गया, और दूसरी ओर अंशतः अपने मूल (प्राकृत) अनियमित शक्ति से प्रवाहित होती हुई विभिन्न प्रान्तों की बोलियों के रूप में प्रचलित तथा उनकी भ्रष्टता में भी सम्मिलित रहीं। अतः संस्कृत भाषा तथा प्राकृत भाषाओं की एक ही स्रोत से और साथ ही साथ उत्पत्ति हुई : प्राकृतें संस्कृत से उद्भूत नहीं हुईं, बल्कि एक स्वाभाविक रूप से प्राचीन भाषा से सम्बद्ध होने के कारण इनमें अक्सर संस्कृत की अपेक्षा अधिक प्राचीन रूप मिलते हैं, जब कि इनके विपरीत, वैयाकरणों के नियमों में आबद्ध होकर संस्कृत को समानता के सत्य का नियमितता के लिये परित्याग कर देना पड़ा। प्राकृत बोलियाँ एक पतनोन्मुख दशा में प्राचीन वैदिक बोलियों से अधिक कुछ नहीं, जब कि संस्कृत (अथवा महाकाव्यों की) भाषा वैयाकरणों के परिश्रम तथा निष्ठा से निर्मित तथा विद्वद्वर्ग के पाण्डित्य से परिष्कृत वैदिक बोलियों का योग है। इस प्रकार, हमें दो तथ्यों की व्याख्या प्राप्त होती है. पहली यह कि वैयाकरणों ने वैदिक भाषा (छन्दों) के लिये जिन अपवादों को स्वीकार किया है वही अक्सर प्राकृत बोलियों में भी मिलते हैं, जो वास्तव में मूलरूपों के अतिरिक्त और कुछ नहीं, और दूसरी यह कि वैदिक कृतियों में ऐसे रूप और शब्द मिलते हैं जो उससे कहीं अधिक अनियमित हैं जितने संस्कृत शब्द कभी रहे हो सकते हैं, क्योंकि उस समय तक समस्वरता, सम्यग्वर्ण-विन्यास और रूप आदि से सम्बद्ध नियम अभी बने नहीं थे—ऐसे नियम, जो अन्ततः उन्हीं अनियमितताओं द्वारा ही अवगमित हुये। प्राकृत बोलियों में प्रचलित सभी अनियमित रूप वेदों में सर्वत्र देखे जा सकते हैं। वेदों में, उस गुण को जो भाषा का निर्माण करता है, अपनी पूर्ण शक्ति के साथ देखा जा सकता है, जब कि प्राकृतों में इसे पूर्ण सामर्थ्य के पतनोन्मुख अथवा सुसमृद्ध उच्छृङ्खल रूप के बाद अन्ततः एक जराजीर्ण रूप में देखा जा सकता है। सम्मिश्रण, विच्छेद, और मूर्धन्य तथा महाप्राणों के प्रति अनुराग का वेदों के यजुर्वेद (जो वैदिक से महाकाव्यीय काल में संक्रमण की अवधि को, अथवा स्वयं ही महाकाव्य काल के आरम्भ को व्यक्त करनेवाले के रूप में, अपेक्षाकृत आधिक आधुनिक और व्याकरण के नियमों के अनुकूल भाषाशैली में रचित है) के अन्तर्गत आनेवाले भागों में उतना महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है जितना ऋग्वेद के ऐसे प्राचीन रूपों और शब्दों में जिनमें से अधिकाश को ऐतरेय तथा शतपथ ब्राह्मणों ('परोक्षवृत्तय', तुलना, रॉथ : निघण्टवः, पृ० li) के समय में समझना कठिन हो गया था। साथ ही, महाकाव्यों में अनेक शब्द ऐसे भी मिलते हैं जिन्हें, चाहे वे जितने भी भ्रष्ट हो गये हों, अक्सर अधिकांश

लोगों द्वारा व्यवहृत प्राकृत भाषाओं से कभी बिना किसी परिवर्तन के और कभी थोड़े ही परिवर्तन के साथ संस्कृत में ग्रहण कर लिया गया है। इस प्रकार के शब्दों के लिये 'गोविन्द' शब्द एक स्पष्ट उदाहरण है, जो गिल्डेमीस्टर के उनके अपने अनुमान के अनुसार 'गोपेन्द्र' से व्युत्पन्न 'गोविन्द' के अतिरिक्त और कुछ नहीं।"

उक्त स्थल के सम्बन्ध में प्रोफेसर ऑफरेख्त ने मुझे अपनी निम्नलिखित टिप्पणी से अनुगृहीत किया है :—"मेरा विचार है कि प्राकृत बोलियों की उत्पत्ति के अपने विवरण में प्रो० वेबर का उन्हें वैदिक बोली का समसामयिक मानना एक अत्युक्तिपूर्ण कथन है। मैं समझता हूँ कि जो उदाहरण उन्होंने दिये हैं उनमें से कुछ अंशतः गलत हैं तथा कुछ का बहुत बाद के ग्रन्थों से संग्रह किया गया है, अतः वे सब उनके कथन की सत्यता को प्रमाणित करने के लिये उपयुक्त नहीं हैं। मेरा यह विचार है कि ऋग्वेद की भाषा किसी समय, न केवल सम्पूर्ण भारत में ही, वरन् आर्यों के मूल निवासस्थान, पंजाब, में भी सार्वभौमिक रूप से बोली जाती थी। इससे, एक ओर, इसलिये अन्य बोलियों की उत्पत्ति हुई कि अधिकांश भागों के लोग अनार्य थे और इस कारण उन्होंने अपने ऊपर लादी गई भाषा को स्वभावतः भ्रष्ट कर दिया। दूसरी ओर, यह भी सम्भव है कि विजेताओं को शूद्र स्त्रियों से विवाह करने के लिये विवश होना पड़ा हो (इसीलिये मनुस्मृति में ऐसे विवाहों का निषेध किया गया है) जिसके कारण ग्राम्यबोलियों का परिवार में प्रवेश हो गया। अन्ततः, मेरा यह विश्वास है कि, एक राजनीतिक आन्दोलन द्वारा मूल-जातियों ने शासन को पुनः अपने हाथ में कर लिया और उस समय लोक-भाषा का ही प्रचलन आरम्भ हो गया। यह मानने में मैं प्रोफेसर वेबर से सहमत हूँ कि मुख्य संस्कृत, अर्थात् महाकाव्यों, स्मृतियों तथा यहाँ तक कि ब्राह्मणों की भाषा, विद्यालयों अथवा विद्वानों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी बोली नहीं जाती थी।"

यदि उचित भी हो, तो भी, प्रो० वेबर के उक्त सिद्धान्त की, अन्ततः मैं जिस निष्कर्ष की स्थापना करना चाहता हूँ—अर्थात यह कि जिस भाषा से प्राकृतों का उद्भव हुआ वह स्वयं भी इनके उद्भव के पूर्व किसी न किसी प्रकार विभक्त अवश्य हुई होगी—उसके साथ असंगति नहीं है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वैदिक युग में संस्कृत नामधारी किसी एक भाषा का अस्तित्व नहीं था, बल्कि उस समय अनेक ऐसी बोलियाँ इसका प्रतिनिधित्व करती थीं जिन्हें (प्राकृतों से विभेद करने की दृष्टि से) 'संस्कृतिक बोलियाँ' नाम देना चाहता हूँ। परिवर्तनात्मक प्रक्रियाओं के सतत प्रभाव के कारण इन बोलियों ने

एक ओर तो, उन बोलियों का रूप ग्रहण कर लिया जिन्हें प्राकृत कहा जाता है, जबकि दूसरी ओर, समुच्चय तथा निर्माण की एक विपरीत प्रक्रिया द्वारा, इनसे एक भिन्न प्रकृति की ऐसी भाषा का निर्माण हो गया जिसका पहले अस्तित्व नही था, और इसे ही सस्कृत नाम दिया गया।

फिर भी, वेबर का सिद्धान्त, सम्पूर्ण रूप से देखने पर मुझे इस तथ्य द्वारा अप्रमाणित प्रतीत होता है कि अपने स्वरूप में वैदिक संस्कृत (कुछ पुरातन प्रयोगों को छोडकर) बहुत कुछ महाकाव्य के समान है, जबकि प्राचीनतम प्राकृत रूप से यह अत्यन्त भिन्न है। मात्र इतना इसका उत्तर नहीं कि कुछ प्राचीन वैदिक रूप, जैसे करण 'एभिस्' प्राकृतों में पुनः प्रकट होते हैं, क्योंकि इस वाद के तथ्य के समर्थन की आवश्यकता नहीं कि आरम्भिकतम समय में जब प्राकृतों का निर्माण होना आरम्भ हुआ, तब संस्कृत में उसके वैदिक स्वरूपों के अधिकाश रूप सुरक्षित नहीं रह गये थे।

अब मैं उत्तर भारत की भाषाओं के इतिहास विषयक लासन के इण्डियन ऐण्टीक्विटीज (भाग २, पृ० ११४७–११४९, और ११५१-११५३) से दो काफी बडे-बड़े उद्धरण दूँगा जिनमे लेखक ने वेबर के उक्त मतों का उत्तर दिया है।

"सिंह राजा रुद्रदामन् का अभिलेख, जिसका समय ८५ ई० पू० है, लम्बे समस्त शब्दों से युक्त एक कृत्रिम स्वरूपवाले संस्कृत गद्य में लिखा है। इस तथ्य से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि इसके समय संस्कृत सर्वसाधारण द्वारा नहीं वरन् केवल ब्राह्मणों और उच्चवर्गीय व्यक्तियों द्वारा ही बोली जाती थी।"

"पहले यह दिखाया जा चुका है (पृ० ४८६) कि अशोक के समय मे साधारण लोग पवित्र भाषा से उद्भूत बोलियाँ बोलते थे, और उस समय इस प्रकार की कम से कम तीन बोलियाँ वर्तमान थीं। इनमे से एक पूर्वी भारत में, दूसरी गुजराज मे, तथा तीसरी पूर्वी काबुल में प्रचलित थी। एक चौथी के अस्तित्व की, जिसका क्षेत्र सम्भवतः उत्तरी राजस्थान था, मेघवाहन के अभिलेख से पुष्टि होती है। यह भी सर्वथा सम्भव है कि इन लोकप्रचलित भारतीय बोलियों का और भी पहले से अस्तित्व रहा हो [अशोक का समय २६३-२२६ ई० पू०, और मेघवाहन का ११० ई० माना गया है][१४९]; क्योंकि बुद्ध

[१४९] लासन, परिशिष्ट, पृ० x, xxiii। मैं सस्कृत के उत्परिवर्तन तथा उसके समय के विषय पर लासन के ही ग्रन्थ (पृ० ५९२ और बाद, द्वितीय सस्करण) से एक अन्य स्थल उद्धृत करता हूँ. "अब प्रमाणित यह तथ्य कि अशोक के समय तक सस्कृत एक देशबोली के रूप में वर्तमान नही रह गई थी, अपेक्षा-

के उपदेशों और कृत्यों का विवरण दो रूपों में वर्तमान प्रतीत होता है, अर्थात देशबोलियों तथा संस्कृत दोनों में। मैं यह मानने का साहस नहीं करता

कृत प्राचीनतर साहित्य के निर्णय के लिये बहुत अधिक महत्त्व रखता है। यतः अशोक ने अपने अध्यादेशों को, जो सर्वसाधारण के लिये उद्दिष्ट थे संस्कृत में नहीं वरन् न्यूनाधिक एक दूसरे से भिन्न तीन देशबोलियों में घोषित किया है, अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन मातृभाषा उस समय तक जनसंख्या के एक छोटे से वर्ग तक ही सीमित हो चुकी थी। परन्तु किसी भाषा की उस प्रकार की भ्रष्टता केवल कुछ वर्षों का कार्य नहीं है। प्रचलित बोलियों में परिणत होने के शताब्दियों पूर्व संस्कृत का आरम्भ हो चुका होगा, मैं यहाँ इस परम्परा का विवेचन नहीं करूँगा कि बौद्धों ने आरम्भ में अपने सिद्धान्तों की प्राकृत में घोषणा की। महाकाव्यों में कहीं भी इस बात का संकेत नहीं कि श्रोताओं के ऐसे भी वर्ग थे जो एक दूसरे को समझ सकने में असमर्थ थे और न मुझे इसी बात का कोई सन्दर्भ मिल सका है कि आर्यों में भी बोलियों की दृष्टि से विभिन्नता थी। महाकाव्य की भाषा प्रत्यक्षतः एक सर्वथा नवीन, परिवर्तनशील तथा सर्वसाधारण द्वारा बोलीजानेवाली भाषा से ही उत्पन्न है। हम महाकाव्य-शैली और श्लोक-रचना के प्रथम आरम्भ के लिये उपनिषदों तथा वेदों के सूक्तों का संकेत कर सकते हैं, और इस प्रकार इस शैली की अत्यधिक प्राचीनता की स्थापना कर सकते हैं। अशोक के समय के बाद के संस्कृत साहित्य, यहाँ तक कि प्राचीनतम अभिलेखों में भी, हमें बाद के युग में एक कृत्रिम भाषा ही उपलब्ध होती है। और नाटकों की दशा में भी वही स्थिति है जो इस बाद के युग के ही हैं तथा इनमें ही निम्न वर्ग के लिये हमें देशबोलियों के उदाहरण मिलते हैं। यद्यपि इस बाद के समय में भी महाकालीय शैली को सुरक्षित रखा गया है, तथापि सरलता से यह देखा जा सकता है, और जैसा पुराणों में भी है, कि यहाँ एक जीवित बोली के प्रवाह का अस्तित्व नहीं है, वैसे ही जैसे अपोलोनियस तथा कैलिमेकस की दशा में हम यह देखते हैं कि इन लोगों ने अपनी धायों से होमर की बोली को नहीं सीखा, बल्कि इनकी भाषा एक विद्वत्तापूर्ण, यद्यपि अक्सर एक चतुर, अनुकरण मात्र है। ये तथ्य मुझे यह विश्वास दिला देते हैं कि महाकाव्य-शैली का अशोक के समय से पहले, यहाँ तक कि बहुत पहले ही, निर्माण हो चुका था, और यह हमें आज अपने मूलतः प्रामाणिक रूप में उपलब्ध है। अतः मैं यह भी विश्वास करता हूँ कि भाषा के विषय में इस स्थिति के विरुद्ध कोई प्रामाणिक आपत्ति नहीं की जा सकती कि बाद के तत्वों के विवेचनात्मक पृथक्करण के बाद हमें महाकाव्यों में प्राचीन तथा प्रामाणिक परम्परा का वास्तविक भण्डार मिलता है।"

चाहता कि देशबोलियों का उद्भव और बहुत पहले हो चुका था। वास्तव में यह सच है कि वैदिक सूक्तों मे हमें उन भ्रष्टताओं के एकाकी चिह्न मिलते हैं जो प्राकृत में नियम तथा उसकी विशिष्टता बन गये है। परन्तु इन यत्र-तत्र प्रयोगों तथा इनके पूर्ण विकास, जैसा कि विशेष स्थानीय बोलियों से प्रगट होता है, के बीच एक दीर्घ अवधि के व्यवधान को स्वीकार करना होगा। अतः मैं इण्डो-आर्यन जैसी स्रोत-भाषा से संस्कृत और प्राकृत बोलियों के एक साथ और सम-सामयिक रूप से विकसित हुये होने के तथ्य मे विश्वास नहीं करता, किन्तु मैं यह मानता हूँ कि इण्डो-आर्यों के आप्रवास के बहुत समय बाद ही भारत के अनेक प्रान्तों में प्राकृतों का निर्माण हुआ होगा। मैं इसे भी असम्भाव्य मानता हूँ कि प्राकृते संस्कृत की किसी एक बोली विशेष से उत्पन्न हुई, क्योंकि अभी तक संस्कृत के किन्हीं बोली-रूपों का कोई उदाहरण नहीं दिया जा सका है। यह सत्य है कि एक प्राचीन विवरण मिलता है जिसके अनुसार अन्यत्र की अपेक्षा उत्तरी देशों में संस्कृत अपने अधिक विशुद्ध रूप में सुरक्षित रही, तथा टीकाकारों ने इस प्रकार के देशों के रूप में काश्मीर और गङ्गा के स्रोत के निकट स्थित बदर' का उल्लेख किया है। फिर भी, यह इस बात को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त नहीं है कि भारत के विभिन्न प्रांतों मे उस समय पवित्र भाषा के अन्तर्गत आधारभूत अन्तर भी थे।

"संस्कृत के अन्तर्गत बोलीगत विभिन्नताओं के अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष इस तथ्य के आधार पर नहीं निकाला जा सकता कि सभी प्राकृत बोलियों ने अकारान्त शब्दों में करण बहुवचन 'हि' ('भिस' से व्युत्पन्न) सुरक्षित रक्खा है, जब कि आधुनिक संस्कृत में यह रूप लुप्त हो गया है, क्योंकि 'एभिस्' जैसा प्राचीन रूप किसी वैदिक कृतिविशेष की विशिष्टता नहीं है। इस रूप का सुरक्षित रहना केवल इतना ही सिद्ध करता है कि प्राकृत बोलियों का निर्माण ऐसे पुराने समय से ही आरम्भ हो गया था जब इस विभक्तिरूप का प्रयोग बहु-प्रचलित था। प्राकृत बोलियों के नियमों के अनुसार परिवर्तित शब्दों के संस्कृत में बहुत पहले ही गृहीत हो जाना एक दूसरे से बहुत भिन्न देशबोलियों के बहुत आरम्भिक सृजन को उतना अधिक सिद्ध नहीं करता जितना इनके मात्र आरम्भ को। भारतीय बोलियों की विभिन्नताओं का हमें दो कारण मानना चाहिये। पहला एक सर्व-सामान्य कारण है जो अन्य भाषाओं की दशा में भी क्रियाशील है, और जो वास्तव मे प्रमुख भी है . यथा, किसी एक जाति से विभक्त जातियों के आवास और चरित्र से सम्बद्ध विशेषतायें। ये (विशेषतायें) इस प्रकार क्रियाशील क्यों होती हैं, जैसी कि इनकी वास्तविक क्रियाशीलता देखी जाती है, उसके

अलग-अलग वैयक्तिक उदाहरणों की व्याख्या कठिन ही नहीं, असम्भव है। इस प्रकार लैटिन से पाँच प्रमुख आधुनिक भाषाओं, प्रावेन्शल, फ्रेञ्च, पोर्चुगीज़, स्पेनिश, तथा इटालियन, की उत्पत्ति हुई है। इन भाषाओं में से दूसरी, चौथी और पाँचवीं बोलियों की दृष्टि से सम्पन्न हैं। दूसरा कारण (जैसा कि पहले ही देखा जा चुका है) एक विशेष कारण है—मेरा तात्पर्य भारतीय राजनीतिक पद्धति में गृहीत उन आदिवासी जातियों की भाषाओं द्वारा प्राकृत बोलियों पर डाले गये प्रभाव से है, जिन्होंने अपनी बोली का परित्याग करके अपने-अपने प्रान्त की इण्डो-आर्यन भाषा को ग्रहण कर लिया। कुछ दशाओं में इन आदिवासी जातियों ने प्राकृत बोलियों में कुछ विशिष्ट विभेदों को भी सम्मिलित कर दिया। जब ये आदिवासी विशेष रूप से असभ्य और अशिक्षित थे, तब इण्डो-आर्यन भाषाओं में उच्चारण तथा रूपजन्य बहुत अधिक भ्रष्टतायें ला देना भी इनके लिये स्वाभाविक ही रहा होगा।"

दूसरा स्थल इस प्रकार है :—

"इस समय हम जिस काल का विवेचन कर रहे हैं (अर्थात् विक्रमादित्य तथा बाद के गुप्तवंशीय राजाओं के बीच का काल) वही वह समय है जब अभिजात भाषा को संस्कृत, और उससे उत्पन्न बोलियों के रूपों को प्राकृत नाम दिये गये होंगे, क्योंकि यही वह समय है जब अभिजात भाषा (जो ब्राह्मणों तथा उच्चतम वर्ग के लोगों के अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा बोली के रूप में प्रयुक्त नहीं होती थी) तथा प्रचलित बोलियों के बीच विभेद निश्चित रूप से स्पष्ट हो गया। यह माना गया है कि संस्कृत कभी भी आर्य-भारतीयों की साधारणतया बोलीजानेवाली भाषा नहीं बल्कि केवल विद्वानों की भाषा थी, और यह भी कि एक ओर वैदिक बोलियों ने एक भाषा के रूप में एकीभूत होकर नियमित संस्कृत की सृष्टि की और फिर वे सब उसी में विलीन तथा दूसरी ओर अपनी अन्तर्निहित प्रकृति के कारण भ्रष्ट और अनियमित हो गईं और उनका यह भ्रष्ट रूप विभिन्न प्रान्तों की देशबोलियों के रूप में चलता रहा। मैं इस मत से इन आधारों पर अपनी असहमति प्रगट करता हूँ : १ ला—अभी तक यह सिद्ध नहीं किया जा सका है (पृ० ११४८ पर मैं पहले ही उल्लेख कर चुका हूँ) कि वैदिक भाषा के अन्तर्गत भी विभिन्न बोलियों का अस्तित्व था। ऐसा सिद्ध करने के लिये यह दिखाना आवश्यक है कि समसामयिक वैदिक कृतियों में ऐसे आधारभूत विभेद मिलते हैं जो विभिन्न बोलियों के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिये पर्याप्त हैं अलग-अलग समयों के विभेद केवल इतना ही दिखाते हैं कि भाषा का एक आरम्भिक स्थिति से उत्तरोत्तर विचलन होता गया है। २ रा—यह आवश्यक है कि हम इस बात पर सहमत

हों कि भाषा से हमारा क्या अर्थ है। यदि इससे हमारा तात्पर्य अभिव्यक्ति की एक शैली है तब अनेक ऐसी भाषाओं के सम्बन्ध में, जिन्होंने साहित्य अथवा सार्वजनिक परिषदों में व्यवहृत होने के कारण पूर्णता का एक उच्चतर स्तर प्राप्त कर लिया है, यह कहा जा सकता है कि वे प्रचलित भाषायें नही हैं। एथेनियन और रोमन लोग निश्चित रूप से अपने दैनिक जीवन में कभी उस शैली में अपने को व्यक्त नही करते थे जिसमें उनके अनेक वक्ता बोलते थे, और हम जर्मन लोग अभिव्यक्ति के अनेक ऐसे तोड़-मोड़ के व्यवहार करते है जिन्हें हम पुस्तकों में प्रयोग में नहीं लाते। इसी प्रकार, हम यह मान सकते है कि आरम्भिकतम युग में भारतीय भी साधारणतया उसी भाषा मे नही बोलते थे जिसका उनके कवि व्यवहार करते थे। दूसरी ओर, यदि भाषा से हमारा तात्पर्य व्याकरणिक रूप है, तब मै इस बात का कोई कारण नहीं देख पाता कि आरम्भिकतम युग में भारतीय भी उसी भाषा का व्यवहार क्यों न करते रहे होंगे जिसका समसामयिक कवियों ने प्रयोग किया है। बाद के समयों में भी निश्चित रूप से स्थिति ऐसी ही थी। इस तथ्य के साथ इतना और भी कह देना चाहिये कि ऋषि कहे गये तीन वैयाकरणों मे से प्राचीनतम, पाणिनि, ने 'भाषा' शब्द का वैदिक भाषा से विभेद करते हुये लौकिक भाषा के लिये प्रयोग, और 'भाषायाम्' के पर्याय के रूप में 'लोके' का व्यवहार किया है। अतः, संस्कृत-भाषी भारतीय उस समय जो भाषा बोलते थे वह इस 'भाषा' अथवा बोली के प्रचलित रूप से भिन्न नहीं रही होगी। इसकी पुत्रियों की तुलना में स्वयं इसका भाग्य कुछ विचित्र रहा है। जहाँ यूनानियों में ऐटिक बोली गद्य-रचनाओं की सामान्य भाषा बनी.. .. तथा अन्य बोलियाँ धीरे धीरे कम महत्त्वपूर्ण होती गईं.. और जहाँ जर्मनी में साहित्य तथा शिक्षा में प्रयुक्त होने के कारण नवीन उच्च-जर्मन लोकबोलियों पर उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रमुखता प्राप्त करती गई, वहीं, दूसरी ओर, ब्राह्मणों के पवित्र भाषा स्थानीय विस्तार में तो उतना नहीं, जितना एक ही देश के विभिन्न वर्गों की जनता द्वारा व्यवहृत होने के रूप में उत्तरोत्तर अप्रचलित हो गई। यह माना जा सकता है कि अशोक के समय में जिन देशों में आर्य भारतीय रहते थे वहाँ के अधिकांश लोग स्थानीय बोलियाँ ही बोलते थे, और केवल ब्राह्मण अथवा प्रमुख व्यक्ति ही सस्कृत का व्यवहार करते थे। नाटकों में बोलियों का वितरण इसी परिस्थिति पर आधारित है। यत' राजाओं ने, जो बौद्ध धर्म की ओर झुके हुये थे, अपने सिक्कों तथा अभिलेखों में केवल प्रचलित बोलियों को ही मान्यता दी, अत. यह सम्भाव्य हो जाता है कि ये लोग अपने निर्णयों तथा अन्य कार्यों मे भी इन्ही बोलियों का व्यवहार करते रहे होंगे।"

देशबोली के रूप में संस्कृत के आरम्भिक विस्तार और व्यवहार, एक बोलीजानेवाली भाषा के रूप में इसके बाद के अप्रचलन, तथा अन्तत. एक परिष्कृत तथा पवित्र बोली के रूप में अन्ततः इसके कुछ परिवर्तित रूप में पुनरुत्थान, के विषय में निम्नलिखित विचारों को 'भारत' पर प्रो० बेनफे के निबन्ध (जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है) के पृ० २४५ और बाद से अनूदित किया गया है:— "अब हम जिस भाषा को संस्कृत कहते हैं वह, जैसा कि इससे उद्भूत प्राचीन तथा आधुनिक दोनों ही प्रकार की बोलियाँ स्पष्टत रूप से व्यक्त करती हैं, एक समय भारत के अधिकाश भाग की प्रचलित और व्यवहृत बोली थी। इसके साथ ही साथ प्राचीनतम समय में भारत के आदिवासियों की एक या एकाधिक भाषाओं की अनेक बोलियों का भी अस्तित्व था, जिनका आरम्भ में तो विस्तृत प्रचार था परन्तु बाद के समय में वह उत्तरोत्तर कम होता गया। जो लोग सस्कृत का व्यवहार करते थे उनके आप्रवासन के युग के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार भारत में सस्कृत के प्रचार के समय को निश्चित नहीं किया जा सकता। हम केवल निम्नलिखित बातों का ही निर्धारण कर सकते हैं . प्रथम, विस्तार के विषय में : (१) एक समय सस्कृत का सिन्धु के पश्चिम के काफी बड़े भूभाग में प्रचार था, जैसा कि इन भागों के भौगोलिक नामों, चीनी यात्रियों के विवरणों, तथा इन भागों की वर्तमान भाषाओं से व्यक्त होता है, (२) उत्तर की ओर सस्कृत अथवा इसके बोली-रूपों का सुदूर हिमालय तथा भारतीय काकेशस तक प्रसार था, (३) पूर्व की ओर, अशोक के समय में, इसका ब्रह्मपुत्र के क्षेत्र तक में प्रसार था यद्यपि यह क्षेत्र सर्वथा सस्कृत भाषी ही नहीं था, (४) दक्षिण में महाराष्ट्र की दक्षिणी सीमा तक सस्कृत का पूर्ण प्रसार था . यह इस बात से सिद्ध हो जाता है कि सस्कृत से निश्चित रूप से उद्भूत बोलियों, अर्थात प्रकृतों, में से एक को महाराष्ट्री कहते हैं और यह प्रत्यक्ष रूप से आधुनिक मराठी की जनक है, (५) संस्कृत का दक्षिण में और दूर तक भी प्रसार था जहाँ यह शिक्षित वर्ग की भाषा थी : परन्तु ऐसा उस समय था जब सस्कृतभाषी जाति में अभी इतनी शक्ति नहीं आ पायी थी कि वह स्थानीय भाषा को पूर्णतया बहिष्कृत कर सके, जैसा कि अत्यन्त अल्प अपवादों के अतिरिक्त उसने उत्तर भारत में कर दिया था।

"द्वितीय, सस्कृत कब सर्वसाधारण की भाषा थी, इसके सम्बन्ध में हम इन बातों का निर्धारण कर सकते हैं : अशोक के समय में हमें दो ऐसी देश बोलियाँ, एक गुजरात में और दूसरी मगध में, मिलती है जिनका, जैसा कि उनका सम्पूर्ण ढाँचा बताता है, सस्कृत के साथ साथ, अथवा समसामयिक

अस्तित्व नहीं रहा हो सकता, परन्तु इन प्रान्तों में इनका और विकास उस समय के बाद ही हुआ होगा जब संस्कृत यहाँ प्रचलित रह चुकी होगी : फलस्वरूप इन प्रान्तों में संस्कृत अशोक के, जो तीसरी शताब्दी ई० पू० में हुये थे, पूर्व ही मृत हो चुकी होगी। इसलिये हम कह सकते है कि बौद्धधर्म के आविर्भाव के तीन शताब्दी बाद के समय मे संस्कृत मृत हो चुकी थी। आगे, हमें प्रथम बौद्धों के सम्बन्ध में यह बताया गया है कि उन लोगों ने अपने ग्रन्थों की रचना संस्कृत मे नहीं बल्कि देशबोलियों में की थी। बौद्धधर्म की पवित्र भाषा पालि है, और उसका, यद्यपि यह अनेक दृष्टियों से मगध की भाषा से भिन्न तथा प्रधान प्राकृत (महाराष्ट्री) के बहुत निकट है, संस्कृत के साथ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा संस्कृत का अशोक के अभिलेखों की दो बोलियों के साथ है। अतः यह अत्यन्त सम्भाव्य हो जाता है कि उस समय, जब बौद्धधर्म का आविर्भाव हुआ, अर्थात् ई० पू० छठवीं शताब्दी के समय, संस्कृत सर्वसाधारण के बोलने की भाषा नहीं रह गई थी। संस्कृत की सम्पूर्ण प्रकृति इस बात की द्योतक है कि अपने वैभव की पराकाष्ठा के समय यह साहित्य से मिलते जुलते ढाँचे में आबद्ध हो चुकी थी, और इसी मान्यता के आधार पर हम यह जान सकते हैं कि किस प्रकार भारत के सुदूर उत्तर और उत्तर-पश्चिम, तथा मराठों के देश तक में, यह उन बोलियों के एक पूर्णतया समान आधार के रूप में मिलती है जो इसी से उद्भूत हुई। परन्तु जो भाषा इस प्रकार सुदृढ़ हो जाती है वह शीघ्र मृत नहीं होती। यदि हम इसके क्रमिक लोप के लिये तीन शताब्दियों का समय स्वीकार कर लें तो सर्वसाधारण की भाषा के रूप में संस्कृत के प्रचलन का समय ईसा के प्राय. नौ शताब्दी पूर्व तक पीछे चला जायगा। इस तथा इसके ठीक पूर्व के समय में, जैसा कि हम अनुमान करते हैं, भारतीय साम्राज्य एक राजनीतिक संघ में आबद्ध था, और अब जब हम यह जान लेते हैं कि इस समय मराठों के देश मे भी संस्कृत ही वास्तविक बोली जानेवाली भाषा थी, तब हम यह अनुमान कर सकते है कि इस राजनीतिक संघ का हिमालय से लेकर महाराष्ट्र के दक्षिण तक प्रसार रहा होगा। इस राजनीतिक ऐक्य के भग हो जाने के बाद (और चन्द्रगुप्त द्वारा इसके पुनः प्रतिष्ठित होने तक) भारतीय जीवन के विभिन्न तत्व विभिन्न प्रान्तों में पृथक्-पृथक् रूप से विकसित होते रहे। और संस्कृत के साथ भी यही स्थिति हुई, जो अब तक समान रूप से सर्वत्र प्रचलित थी। इन स्थानीय विकासों की जिस विभिन्नता से होकर संस्कृत को गुजरना पड़ा, उससे ही इससे उद्भूत उन विभिन्न भाषाओं का जन्म हुआ और उनके आरम्भिक रूप का संस्कृत के

साथ वही सम्बन्ध रहा जो रोमनिक बोलियों का लैटिन के साथ।

"परन्तु जब सार्वजनिक प्रयोग द्वारा संस्कृत इस प्रकार नवीन देशबोलियों के रूप में परिवर्तित और विकसित हो रही थी, तो उस समय एक जीवित भाषा होने के समय में सृजित इसका साहित्य ब्राह्मणों के सम्प्रदायों में सुरक्षित रहा और इसके साथ-साथ स्वयं संस्कृत भी संस्कृति तथा शास्त्रों की पवित्र भाषा के रूप में बनी रही।[150] जब बौद्धों ने ब्राह्मणों के सम्प्रदायों पर आक्षेप आरम्भ किया तब एक नवीन स्फूर्ति के साथ इस पवित्र भाषा में रचित कुछ ग्रन्थों को लेकर ब्राह्मण पुनः सामने आये। इन्हीं ग्रन्थों में से एक आरम्भिकतम ग्रन्थ मनुस्मृति है, और इसके बाद रामायण आता है। परन्तु बहिर्साक्ष्य तथा साथ ही साथ इनमें उल्लिखित यवनों (यूनानियों) का सन्दर्भ, दोनों इस बात को सिद्ध करते हैं कि ये ग्रन्थ उस समय से बहुत बाद के लिये उद्दिष्ट हैं जो ब्राह्मणों ने इनके लिये घोषित किया। इसी प्रकार इन ग्रन्थों का तथा इनसे भी अधिक इनके बाद के इनसे सम्बद्ध संस्कृत साहित्य की भाषा का स्वरूप यह व्यक्त करता है कि ये किसी सार्वजनिक बोली से उत्पन्न भाषा में नहीं, बल्कि, इसके विपरीत, एक ऐसी पाण्डित्यपूर्ण अथवा पवित्र भाषा में रचित हैं जो सर्वसाधारण के बीच लुप्त हो जाने पर भी शिक्षित पुरोहित समाज में देवों के साथ संसर्ग, तथा पवित्र शास्त्रों के प्रतिपादन के माध्यम के रूप में सुरक्षित रही, तथा अत्यन्त सजीव उत्साह और आस्था के साथ इसका पठन-पाठन होता रहा। इस वर्ग के बीच से, संस्कृत पुनः ऐसे लोगों के बीच में पहुँची जिनका पुरोहितों के साथ सम्बन्ध था और जो उन्हीं जैसी प्रशासनिक जाति के सदस्य थे। जब ब्राह्मणों ने अपना प्रभुत्व पुनः प्राप्त कर लिया तब कुछ समय के लिये संस्कृत न्यायालयों और सामान्य प्रशासनिक वर्ग के शिक्षित लोगों की भाषा बन गई।[151]

---

[150] "यद्यपि हमारे पास ऐसे कोई बाह्य और स्पष्ट प्रमाण नहीं है जो यह सिद्ध कर सके कि इतने आरम्भिक समय में भी ऐसे सम्प्रदाय थे, तथापि हम भारतीय जीवन के सम्पूर्ण बौद्धिक विकास के इस रूप को इस प्रकार के प्रमाण के रूप में ग्रहण कर सकते हैं जो बौद्ध धर्म के उद्भव के पूर्व वर्तमान था।"

[151] हमारे समक्ष फारसी भाषा का भी एक अन्य ऐसा उदाहरण है जो भारत की कभी भी देशबोली नहीं थी, और जो अधिकांश जनसमूह के लिये अबोधगम्य थी, परन्तु जिसका मुसलमान लोग प्रशासनिक कार्यों में व्यवहार करते थे, और उनके बाद बहुत वर्षों तक (आज से प्राय २० वर्ष पूर्व तक) न्यायालयों तथा शासन कार्यालयों की भाषा के रूप में अंग्रेज भी प्रयोग करते रहे। —लेखक।

और यहाँ तक कि साहित्योत्पादन के इतने बहुमूल्य माध्यम के व्यवहार से बौद्ध लोग भी अपने को पृथक् नहीं रख सके। स्पष्ट रूप से यह जानने के लिये कि संस्कृत भी, जो यद्यपि ई० पू० नवीं और छठवीं शताब्दियों के बीच ही एक देशबोली के रूप में मृत हो चुकी थी, किस प्रकार उच्चतम वर्गों के बीच बनी रही और उनमें इस सीमा तक प्रयुक्त होती रही कि अब भी उच्चतम विषयों से सम्बद्ध विचारों की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में सुरक्षित रह सकी, हमें केवल उस प्रक्रिया मात्र का स्मरण कर लेना पर्याप्त होगा जिसके अनुसार लैटिन, जो यद्यपि बहुत पहले ही मृत भाषा बन चुकी थी, सम्पूर्ण मध्यकालों और यहाँ तक कि हमारे समय में भी प्रयुक्त होती रही। फिर भी, इस दिशा में लैटिन की तुलना में संस्कृत को एक महत्त्वपूर्ण सुविधा यह थी कि जहाँ भी ब्राह्मण धर्म का प्रसार था वहाँ इसे एक पवित्र भाषा माना जाता था क्योंकि इस धर्म के सभी पवित्र ग्रन्थ इसी भाषा में रचित थे। इस दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप, इस भाषा से परिचित मात्र होने तक को एक धार्मिक गुण समझा जाता था, और संस्कृत व्याकरण अथवा इस भाषा का ज्ञान प्रदान करने वाले किसी भी अन्य ग्रन्थ को एक पवित्र कृति के रूप में देखा जाता था। आज भी स्थिति ऐसी ही है। इसी प्रकार यहूदियों में हिब्रू का ज्ञान भी बहुत दिनों तक सुरक्षित रहा, और यहाँ तक कि सम्भवतः साठ वर्ष पूर्व जैसे बाद के समय में भी किसी भी यहूदी को तब तक विद्वान नही माना जाता था जब तक कि वह अपनी इस 'पवित्र भाषा' का ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेता था।"

"जब नाट्य साहित्य ने अपना एक नियत स्वरूप ग्रहण कर लिया उस समय (उस समय का अभी ठीक-ठीक निर्धारण नहीं किया जा सकता, परन्तु उसे अनुमानतः ईसा की छठवी अथवा सातवीं शताब्दी के आस पास निश्चित किया जा सकता है) संस्कृत के ज्ञान का, एक ओर तो उन सब लोगों के बीच प्रसार रहा होगा जो शिक्षित मनुष्य कहे जाने के अधिकारी थे, क्योंकि अन्यथा नाट्यकारों ने सर्वसाधारण के सम्मुख प्रस्तुत किये जानेवाले नाटकों के प्रमुख भागों की रचना संस्कृत में न की होती; और दूसरी ओर सार्वजनिक कागज-पत्रों, धर्म, तथा विद्वद्वर्ग की भाषा के रूप में भी इसका निश्चित रूप से उपयोग होता रहा होगा, क्योंकि अन्यथा देवताओं, राजाओं तथा पुरोहितों से कदाचित ही इसे बोलवाया गया होता। उस समय संस्कृत दरबारों की भाषा थी या नहीं, इसका मैं निर्धारण नहीं कर सकता, परन्तु मेरे विचार से यह कदाचित ही दरबारी भाषा रही होगी क्योंकि राज्य के अधिकारी-वर्ग, यदि वे ब्राह्मण नहीं हैं तो, इसका व्यवहार नहीं करते।"

तदनन्तर प्रो० बेनफे संस्कृत के उस प्राचीन रूप के, जब यह अभी एक देशबोली थी, तथा इसके उस बाद के रूप के, जब यह एक पवित्र तथा विद्व-द्वर्ग की भाषा के रूप में पुनः प्रतिष्ठित हो गई, बीच यथासाध्य उस समय (१८४० में) विभेद का निर्धारण करने का प्रयास करते हैं जब अभी उन्हें उन वेदों का एक अल्पांश ही उपलब्ध था जो हमारे लिये आज इस बात का निश्चय करने के लिये कि पहले की भाषा का स्वरूप कैसा था, एकमात्र माध्यम हैं।[१५२] वह यह टिप्पणी करते हैं—"बाद की संस्कृत का वैदिक से अत्यधिक लम्बे समासों के आधार पर विभेद किया जा सकता है। यदि मुझे ज्ञात वेदों और उपनिषदों के उदाहरणों ने यह न भी दिखाया होता कि मैं जिन दो समयों की संस्कृत का उल्लेख कर रहा हूँ उनमें इस दृष्टि से कोई अनिवार्य अन्तर है, तो भी इन समासों की प्रकृति तथा लम्बाई के आधार पर निश्चयपूर्वक यह निष्कर्ष निकाला जा सकता था कि इस प्रकार की दीर्घ जटि-लताओं का उस समय सृजन नहीं हुआ हो सकता जब भाषा का अभी एक देशबोली के रूप में व्यवहार होता था। यत्र-तत्र ऐसे समस्त पदों का प्रभा-वोत्पादक रूप से प्रयोग किया गया हो सकता है, परन्तु एक जीवित भाषा इन रूपों के उन असमर्यादित प्रयोगों को, जो इनकी सरल बोधगम्यता को असम्भव बना देते हैं, सशक्त रूप से अस्वीकार कर देगी। दूसरी ओर, इस प्रकार के समासों के प्रयोग का प्रयास ऐसी पाण्डित्यपूर्ण भाषा तथा काव्य के लिये सर्वथा उपयुक्त था, जो सर्वसाधारण के वास्तविक जीवन से बहुत अधिक दूर थी। इसी प्रकार सधि के नियम, जैसा कि इनका बाद की संस्कृत में अधिकतम और विस्तृत स्तर पर प्रयोग हुआ है, प्राचीन देशबोली के रूप में व्यवहृत संस्कृत में सर्वथा अज्ञात रहे होंगे। बाद की संस्कृत में किसी वाक्य के सभी शब्दों को उनके प्रथम और अन्तिम अक्षरों के विलयन या सम्बन्धन

---

[१५२] यदि इन विचारो को आज लिखा गया होता तो भी प्रोफेसर बेनफे ने सम्भवत: अपने प्रमुख निष्कर्षों को परिवर्तित करने का कोई कारण नही देखा होता, तथा वह अपने को और आधिकारिकता तथा शुद्धता से व्यक्त करने की स्थिति मे होते [१८६० के प्रथम स० मे टिप्पणी]। प्रस्तुत कृति के प्रथम सस्करण की गोगेऐ० मे समालोचना करते हुये प्रो० बेनफे ने (पृ० १३५) इस प्रकार लिखा है—"अब जब कि वैदिक भाषा, तथा सस्कृत, जो कि पुन: प्रतिष्ठित होने की प्रक्रिया से निर्मित हुई, के बीच का अन्तर अधिक ठीक-ठीक ज्ञात हो चुका है, मैं उसे संस्कृत की अपेक्षा वैदिक अथवा प्राचीन [—संस्कृत] कहूँगा।" देखिये ऊपर पृ० ८६ पर वेबर की टिप्पणी।

के आधार पर मिला कर एक बृहदाकार शब्द के रूप में परिणत कर देने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। यह नियम, सामान्य रूप से वेदों में नहीं मिलता, और यद्यपि यह सुविदित है कि वास्तविक बोलचाल के समय शब्दों के आरम्भिक तथा अन्तिम अक्षर एक दूसरे पर कुछ परिवर्तनात्मक प्रभाव डालते हैं, तथापि प्रत्येक ऐसे व्यक्ति ने, जिसने एक देशबोली, तथा यहाँ तक कि उसमें रचित साहित्यिक कृति द्वारा इस नियम के अनुसरण के सीमित प्रयोग पर विचार किया है, और, साथ ही साथ, जो यह भी जानता है कि आधुनिक संस्कृत में इस नियम का किसी सीमा तक प्रयोग होता है, इस बात की सत्यता से सहमत होगा कि सन्धि का अत्यधिक प्रयोग सार्वजनिक व्यवहार का नहीं बल्कि व्याकरण के किसी ऐसे सूक्त का, जो अपने में शुद्ध रहा हो सकता है, मनमाने ढंग से खींच-तान का ही परिणाम हो सकता है।

"साथ ही, बाद की संस्कृत का अधिक यथातथ्य परीक्षण करने पर हमें यह पता चलता है कि यह एक अत्यधिक सीमा तक अपेक्षाकृत और प्राचीन संस्कृत से निष्कृष्ट लौकिक बोलियों से प्रभावित है। अपनी व्याकरण, अथवा सामान्य रूप से भाषाविज्ञान की प्रतिभा के कारण भारतीय साधारण रूप से उन परिवर्तनों से भली-भाँति परिचित थे जो प्राचीन भाषा में उससे ही निष्कृष्ट बोलियों के प्रभाव के कारण उत्पन्न हो गये थे : उन लोगों ने उन ध्वनिशास्त्रीय नियमों का भी अनुसन्धान कर लिया था जिनके अनुसार ये बोलियाँ अपनी पितृभाषा से निष्कृष्ट हुईं और जिनके अनुसार इनके शब्दों को पुनः मूल भाषा के शब्दों के रूप में परिणत किया जा सकता था। इस सुविधा ने ही उनकी स्थिति को विचलित कर दिया, और फलस्वरूप हमारे लिये स्पष्टता के उस अंश तक—जिसकी संस्कृत ग्रन्थकारों में से कोई भी, इस बात का विश्वास करते हुये भी कि वे शुद्ध प्राचीन संस्कृत लिख रहे हैं, कल्पना भी नहीं कर सकते—यह दिखाना सम्भव है कि मनुस्मृति के बाद के सम्पूर्ण भारतीय साहित्य की संस्कृत अपने सभी रूपों में सर्वसाधारण की प्राचीन भाषा नहीं है। यहाँ मैं अपने को इस प्रमाण के प्रमुख तत्वों के विवेचन तक सीमित रक्खूँगा। इसे दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : (१) हमें यह मानना होगा कि नवीन संस्कृत ने ऐसा बहुत कुछ खो[१५३] दिया जो प्राचीन संस्कृत में था;

---

[१५३] "संस्कृत ने अनेक धातुओं को खो दिया है, और अनेक जो आज प्रचलित हैं उनके मूल अर्थ मे भी अक्सर परिवर्तन कर दिया है"—आफरेक्त : उणादिसूत्र, भूमिका पृ० VIII। "कालान्तर मे साहित्य की कुछ शाखायें लुप्त हो गईं, अनेक शब्द अप्रचलित हो गये, तथा उनकी अर्थ-परम्परा भी या तो

और इसने वह सब कुछ इसी कारण खो दिया क्योंकि बीच के समय में यह मृत हो चुकी थी, तथा बाद के समय में, यथाशक्ति जितनी बोधगम्य हो सकती थी उसी रूप में इसका पुनरुद्धार करना आवश्यक था। इस वर्ग के अन्तर्गत अनेक ऐसी धातुयें तथा शब्द-रूप आते हैं जिन्हें वैयाकरण मान्यता प्रदान करते हुये अंशत प्रचलित तथा अंशतः अप्रचलित मानते है, परन्तु जिनका बाद की संस्कृत में प्राय. नहीं सा ही प्रयोग हुआ है। इसका कारण यह है कि ऐसी धातुयें, तथा ऐसे शब्द-रूप, जिस समय नवीन संस्कृत का निर्माण हुआ उस समय, वर्तमान देशबोलियों में या तो सर्वथा विलीन हो चुके थे, अथवा इतने विकृत हो चुके थे कि उनके संस्कृत रूप को सरलता से ढूँढ़ा या समझा नहीं जा सकता था। (२) नवीन संस्कृत में ऐसा भी बहुत कुछ है जो प्राचीन संस्कृत में नहीं रहा हो सकता। इस वर्ग के अन्तर्गत अनेक ऐसे धातु-रूप आते हैं जो किसी देशबोली विशेष के नियमों के अनुसार परिवर्ति हो गये हैं और जिनका उसी रूप में नवीन संस्कृत में व्यवहार हुआ है, परन्तु ऐसे रूपों को वैयाकरण या तो पहचान नहीं सके हैं अथवा उन्होंने उनके शुद्ध संस्कृत रूप का उल्लेख करने में संकोच किया है। फिर भी, इसका वह प्रत्येक उदाहरण, जो दिया जा सकता है, विकास की विस्तृत प्रक्रिया के विश्लेषण और प्रमाण की अपेक्षा रखता है, परन्तु इसके लिये इतने अधिक स्थान की आवश्यकता है कि यहाँ उसका समावेश सम्भव नहीं।

"अतः, मैं यहाँ अपने को उन प्रमुख परिणामों की पुनरुक्ति तक ही सीमित रक्खूँगा जिनका केवल उल्लेखमात्र किया गया है और जिनके अधिकाश के सम्बन्ध में अभी बहुत कुछ करना है। वे परिणाम ये हैं उस समय से, जब संस्कृत-भाषी जाति भारत में आकर बसी, और सम्भवत' ई० पू० नवीं शताब्दी तक, संस्कृत दक्षिण में मराठों के देश की सीमा के उत्तर सम्पूर्ण भारत में एक प्रचलित देशबोली के रूप में व्याप्त रही। और दक्षिण में यह एक देशबोली के रूप में नहीं बल्कि एक शैक्षणिक भाषा के रूप में ही प्रवेश कर सकी,

---

सर्वथा लुप्त अथवा भ्रष्ट हो गई। जब उणादिसूत्रो,"—जिन्हे प्रो० आफरेक्ट (पृ० IX) पाणिनि से बहुत प्राचीन मानते हैं—"की व्याख्या करनेवाले भाष्यकारो का उदय हुआ तो उन लोगो ने इनमे निहित अधिकाश शब्दो को या तो अपने समय के साहित्य मे प्रयुक्त अथवा प्राचीन कोशो मे उल्लिखित देखा। किन्तु ऐसे शब्दो के सम्बन्ध मे बहुत कुछ अज्ञात रहा जिसके कारण, जहाँ परम्परागत अर्थ उपलब्ध नही हो सका वहाँ, उन लोगो ने साहस करके सर्वथा कल्पना के आधार पर अर्थ नियत कर दिया।" वही, पृ० VI, XII।

तथा ऐसा भी प्रत्यक्षतः बाद के समय में ही हुआ। नवीं शताब्दी ई० पू० से संस्कृत मृत होने लगी, इससे व्युत्पन्न बोलियों का विकास हुआ, और ई० पू० छठीं शताब्दी तक एक देशबोली के रूप में यह सर्वथा समाप्त हो गई। दूसरी ओर, ब्राह्मण सम्प्रदायों में इसने अपने को सुरक्षित रक्खा। ई० पू० तीसरी शताब्दी के लगभग, कन्नोज में ब्राह्मणधर्म के पुनरुत्थान के फलस्वरूप इसे एक पवित्र भाषा के रूप में पुन. सार्वजनिक जीवन में लाया गया, और उच्चतर बौद्धिक विकास के माध्यम क रूप में धीरे-धीरे इसका महत्त्व बढ़ता गया। ईसा की पाँचवीं शताब्दी आते-आते यह इस रूप में सम्पूर्ण भारत में व्याप्त हो गई। जब तक हिन्दू साम्राज्य बना रहा इसका महत्त्व बढ़ता गया, और मुसलमानों के भारत में बसने के बहुत समय बाद तक भी उच्चतम बौद्धिक प्रयासों की अभिव्यक्ति के लिये यही भाषा एकमात्र माध्यम रही।"

मैं जएसो० (१८७०, भाग ५, नवीन सिरीज़, पृ० १४९ और बाद) में प्रकाशित श्री बीम्स के एक लेख से उद्धरण देकर इस खण्ड को समाप्त करूँगा। 'प्राचीन आर्यभाषा' तथा प्राकृतों के सम्बन्ध में श्री बीम्स ने इस प्रकार टिप्पणी की है :—

"यह मानते हुये कि प्रथम काल की भाषाये (प्राकृतें और पालि) संस्कृत के बाद की हैं, मैंने इस तथ्य को दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया है कि ऐतिहासिक दृष्टि से ये सस्कृत की समकालीन थीं। परन्तु मैं इन्हें 'नव-आर्य' इसलिये कहता हूँ क्योंकि इनके अधिकाश शब्दरूप अपेक्षाकृत एक अधिक पूर्णता की स्थिति से पतन की अवस्था को व्यक्त करते हैं। यह सत्य है कि न केवल अभिजात वरन् वैदिक संस्कृत तक में ऐसे रूप मिलते हैं जो एक पूर्ण प्राकृत आकार को व्यक्त करते हैं, किन्तु यह तथ्य सामान्य प्राकृत को उन लक्षणों को प्रगट करने से वंचित नहीं रख सकता जो उसे एक ऐसी शुद्धतर तथा अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली प्राचीन भाषा से, जिसे हम संस्कृत नहीं कह सकते, पतित हुये होने के तथ्य को निर्विवाद रूप से व्यक्त करते हैं, क्योंकि वह प्राचीनतर भाषा आज भी वेदों तक की भाषा से भी प्राचीन है और इसीलिये उसे, जहाँ आवश्यक हो, 'प्राचीन आर्यभाषा' कहा जा सकता है।

"यह एक अत्यन्त सम्भाव्य सिद्धान्त है कि अन्य भाषाओं के ही समान 'प्राचीन आर्यभाषा' में, लोगों द्वारा बोले जाने के साथ ही साथ, वैदिक काल में ही परिवर्तन होने आरम्भ हो गये; तथा एक बाद के समय में ब्राह्मणों ने अपनी भाषा को और अधिक भ्रष्ट होने से रोकने के लिये अभिजात संस्कृत के रूप में उसे परिष्कृत, विस्तृत और दृढ़ीकृत कर दिया। फिर भी, हम यह नहीं मान सकते कि उन लोगों ने भाषा में कुछ नवीन सामग्री का भी समावेश कर

दिया। उन्होंने केवल उस समय तक जो अस्पष्ट और अनियमित था उसे नियमबद्ध कर दिया, और सम्पूर्ण भाषा में उन सुस्वरता के नियमों का विस्तार कर दिया जो अभी तक केवल आंशिक रूप से ही व्यवहृत होते थे। फिर भी, इन समस्त कार्यों में वे केवल पहले से ही उपलब्ध सामग्री को लेकर कार्य करते रहे। अत यह पाण्डित्यपूर्ण संस्कृत तथा प्रचलित प्राकृतों के माने हुए समसामयिक अस्तित्व के इस रूप से विपरीत नहीं होगा कि प्रथम को सामान्य रूप से मूल 'प्राचीन आर्यभाषा' का सामान्य प्रतिनिधि तथा इसके फलस्वरूप उसे प्राकृत से प्राचीनतर मानने में कोई बाधा पड़े; क्योंकि परिकल्पना के अनुसार संस्कृत में उस सबका अधिकांश जो प्राचीन आर्यभाषा में था, न केवल सुरक्षित ही रहा वरन् उसमें और परिष्कार तथा वृद्धि हुई, जब कि, दूसरी ओर, प्राकृत में न केवल उसका अधिकांश लुप्त हो गया वरन् जो कुछ बचा रहा वह भी भ्रष्ट और पतित हो गया। इसके अतिरिक्त, यतः प्राचीन आर्यभाषा का न तो कुछ नाम को भी सुरक्षित रहा और न तो ऐसे किसी तत्त्व की खोज ही सम्भव है (यद्यपि तुलना के आधार पर बहुत कुछ अनुमान किया गया अथवा किया जा सकता है), अत, चाहे हम इसे चाहें अथवा नहीं, हम संस्कृत को ही प्राचीनतम विद्यमान भाषा-रूप में देखने के लिये बाध्य हैं, और निःसन्देह हमें प्राकृत तथा पालि की तुलना में इसमें ऐसे प्राचीनता के लक्षण मिलते भी हैं।"[१५८]

खण्ड ९—यह मानने के आधार कि संस्कृत मूलतः एक बोली जानेवाली भाषा थी

प्रो० लासन तथा बेनफे की कृतियों से उद्धृत स्थलों से ऐसा प्रतीत होता है कि ये विशिष्ट विद्वान यह मानते हैं कि संस्कृत (जिससे, इसमें सन्देह नहीं कि, एक ऐसी भाषा का बोध करना चाहिये जो कुछ दृष्टियों से बाद की संस्कृत से भिन्न और अपेक्षाकृत वैदिक बोली के अधिक समान है) एक समय बोली जानेवाली भाषा थी, और इस तथ्य को ये लोग ऐसा मानते हैं जिसपर

[१५८] पूर्वविवेचित (देखिये पृ० ४६ और बाद) एक प्रश्न के सन्दर्भ में मैं श्री बीम्स के लेख (पृ० १५०) से ये पंक्तियाँ और जोड़ रहा हूँ —"द्वितीय काल की भाषाओं के सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मैं इस अस्पष्ट प्रश्न पर कि इनमें रचित कृतियों में किस सीमा तक अनार्य तत्त्वों का प्रवेश हुआ है, विचार नहीं करना चाहता। इनमें बहुत कुछ ऐसा है जो आज भी सन्दिग्ध है, किन्तु सबने यह स्वीकार किया है कि इनके विभिन्न संयोजक अंशों का अधिकांश आर्य स्रोत से ही गृहीत है।"

सन्देह करने का कोई स्थान नहीं है। इसके विपरीत प्रोफेसर वेवर का यह मत है कि, जिस आरम्भिक काल से मेरा तात्पर्य है, उस समय जिस भारतीय-आर्यबोली का अस्तित्व था उसका अभी संस्कृत के रूप में विकास नहीं हुआ था, वल्कि वह अभी एक देशबोली मात्र थी।[१५५] फिर भी, यत: एक योरोपीय विद्वान के लिये जो बात—अर्थात् यह कि अपने आरम्भिकतर रूप में संस्कृत एक बोली जानेवाली भाषा थी—इतनी स्पष्ट है वह भारतीय पाठक के लिये उतनी ही स्पष्ट नहीं हो सकती, अतः मेरे लिये यह आवश्यक हो जाता है कि मैं इस तथ्य के सम्बन्ध में ऐसे स्पष्टतम प्रमाण प्रस्तुत करूँ जो मैं ढूँढ़ सका हूँ।

प्रथम :—यदि हम यह मान लें, जैसा कि मानना भी चाहिये, कि आरम्भिकतम समय से ही संस्कृत के अतिरिक्त भी बोली जानेवाली भाषाओं के अन्य रूप भारत में प्रचलित थे, फिर भी, ये दस्युओं अथवा अनार्यजातियों की ही भाषायें रही होंगी, जब कि आर्यजाति के उच्चतरवर्ग के लोग—ये वही लोग थे जो बाद के समय में प्राकृत बोलने लगे—कुछ काल पूर्व तक संस्कृत (जिससे उस समय प्रचलित प्राचीन आर्यभाषा के एक अथवा एकाधिक रूपों का तात्पर्य समझना चाहिये) बोलने के अभ्यस्त रहे होंगे, क्योंकि, वास्तव में, उस समय भारत में किसी अन्य ऐसी आर्य-भाषा का अस्तित्व नहीं था जिसका वे व्यवहार करते। यदि पालि और प्राकृतों जैसी जटिल आकार की भाषाओं का साधारण वार्तालाप में व्यवहार किया जा सकता था, तो यह मानने में कोई कठिनाई नहीं कि संस्कृत भी, जो उनसे अधिक जटिल नहीं थी, सर्वसाधारण द्वारा बोली जाती रही होगी। निःसन्देह हमें यह कल्पना नहीं कर लेनी चाहिये (जैसा कि प्रोफेसर बोनफे ने भी ऊपर टिप्पणी की है, पृ० १९६ और बाद) कि अक्षरों के परिवर्तन के उन सब नियमों का, जिनका कि बाद की संस्कृत रचनाओं में व्यवहार हुआ है, दैनिक वार्तालाप में भी व्यवहार होता था, यद्यपि कुछ का व्यवहार हुआ हो सकता है, क्योंकि भाषा की बोधगम्यता अथवा व्याकरणिक व्यवहार के लिये इन नियमों का प्रयोग किसी भी प्रकार आवश्यक नहीं है। और जिस काल से मेरा तात्पर्य है, उसमें ये नियम

---

१५५ इण्डि०, पृ० १। अनुवाद करने पर उनके शब्द इस प्रकार है — 'अपने आरम्भिकतम काल मे भारतीय-आर्य बोली अभी संस्कृत, अर्थात् विद्वानो की भाषा, नही बन सकी थी और केवल एक देशबोली मात्र थी, जब कि अपने द्वितीयकाल मे सर्वसाधारण संस्कृत नही वरन् ऐसी प्राकृत बोलियाँ बोलने लगे जो संस्कृत की समसामयिक के रूप मे ही प्राचीन भारतीय-आर्य देशबोली से ही उत्पन्न हो गई थी।

विकसित और व्यवस्थित भी नहीं हो पाये थे। इसी प्रकार संस्कृत क्रियाओं के भी अनेक रूप वार्तालाप में बहुत कम प्रयुक्त होते रहे होंगे, जैसे कि, वास्तव में, अधिकांश साहित्यिक रचनाओं में भी इनके अपेक्षतया कम ही प्रयोग मिलते हैं।"[१७६]

---

[१७६] इस अन्तिम वाक्य मे निहित टिप्पणी सम्भवत समाज के आरम्भिकतर स्तरो मे मनुष्यो द्वारा देशबोली के रूप मे व्यवहृत भाषा की प्रकृति के मिथ्याग्रहण पर आधारित है। परन्तु मैं इसे जैसे का तैसा छोड देता हूँ जिससे इसकी समालोचना के रूप मे व्यक्त बेनफे की निम्न टिप्पणी अधिक बोधगम्य हो सके। वे इस प्रकार लिखते है (पृ० १२५):—"यहाँ मैं अन्यथा अधिक बोधगम्य देखना चाहूँगा। इस प्रकार पृ० १५४ पर यह कहा गया है: 'इसी प्रकार, संस्कृत क्रियाओ के अपेक्षाकृत अधिक जटिल रूप भी उस समय (जब सस्कृत एक बोली जानेवाली भाषा थी) बोलचाल मे बहुत कम व्यवहृत होते रहे होगे'; जो, जैसा कि मुझे प्रतीत होता है, एक त्रुटिपूर्ण तथ्य की ओर अग्रसर करता है। वस्तुतः पुनरुज्जीवित सस्कृत के अनेक रूपो की कमियाँ ही, जैसे उदाहरण के लिये, विभिन्न कालो के लकारो मे सयोजक का सामान्य अभाव, वैदिक सस्कृत की तुलना मे लुङ् लकार का कही-कहीं ही प्रयोग, अनेक द्वित्व रूपो का अप्रचलन, जैसे अकारान्त संज्ञाओ के करण रूप मे 'ऐस्' और 'एभिस्' के स्थान पर 'ऐस्' के अद्वितीय रूप का प्रतिनिधान, सबल कारक-रूपो का, जिनका वेदो मे अत्यन्त अनियमितता के साथ व्यवहार हुआ है, सीमित कर दिया जाना, द्विरावृत्ति का नियमन, तथा इसी प्रकार के वैदिक और पुनरुज्जीवित सस्कृत के बीच के अनेक अन्य अन्तर—ऐसे तथ्य है जो हमे देशबोलियो के प्रसुत्व के बीच भी आधुनिक सस्कृत की व्याख्या का आधार प्रदान करते हैं: जिन लोगो ने पुनरुज्जीवित सस्कृत लिखा है वे इन देशबोलियो मे इतने अधिक अभ्यस्त थे कि उन्होंने अपनी परिचित बोली को ज्ञात नियमो के आधार पर संस्कृत मे परिवर्तित करने की कदाचित् ही चेष्टा की होगी। वास्तविक बोली जानेवाली संस्कृत के प्राचीन अवशेषो तथा उन्ही मे घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रचनाओं के मनन और गहन अध्ययन ने ही उसकी आरम्भ मे उपेक्षित विशेषताओं का पुनरुज्जीवित सस्कृत मे समावेश सम्भव बनाया होगा। यह एक ऐसा तथ्य है जिसको द्विरावृत्तिक पूर्णभूत कृदन्तो के सन्दर्भ मे स्वय पाणिनि के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है (तुलना कीजिये पाणिनि ३,२,१०८, और मेरा संपूर्ण सस्कृत व्याकरण पृ० ४१३, नोट १३, और सक्षिप्त व्याकरण

यह सत्य है कि सबसे बाद के जिस समय संस्कृत एक बोली जानेवाली भाषा के रूप में व्यवहृत होती थी उस समय के सभी संस्कृत शब्दों के ठीक-ठीक रूपों का हम निर्धारण नहीं कर सकते, विशेषतः इसलिये कि बोलचाल की भाषा कुछ सीमा तक किसी औपचारिक रचना या पुस्तक की भाषा से सदैव भिन्न होती है, और बोली जानेवाली संस्कृत में, प्राकृत में विलीन होने तक, निःसन्देह सतत परिवर्तन होते रहे।

द्वितीयः—यहाँ प्रतिपादित मेरी यह मान्यता कि संस्कृत एक समय बोली जानेवाली भाषा थी, और कालान्तर में साधारण बोलचाल के लिये इसका प्रचलन सर्वथा समाप्त हो गया, जबकि इससे उत्पन्न तथा कालान्तर में इससे तथा परस्पर एक दूसरे से भी भिन्न होती हुई प्रान्तीय बोलियों ने सर्वसाधारण के बोलचाल की भाषाओं का स्थान ले लिया, किसी भी प्रकार भाषा के इतिहास में एकमात्र घटना नहीं है। इसके विपरीत, जिस प्रकार इटालियन, फ्रेञ्च, और स्पेनिश भाषाओं (जिसके सम्बन्ध में ऊपर पृ० ८७ पर उद्धृत एक स्थल पर बर्नफ और लासन ने सङ्केत किया है) की लैटिन से उत्पत्ति हुई, वह उस प्रक्रिया के अत्यन्त समानान्तर है जिसके अनुसार प्राकृत भाषायें (जिन्होंने स्वयं भी बाद में आधुनिक बँगला, हिन्दी, मराठी इत्यादि को जन्म दिया) संस्कृत से उत्पन्न हुईं। रोमन साम्राज्य के अस्तित्वकाल में, जैसा कि सुविज्ञात है, लैटिन इटली तथा योरप के अन्य पश्चिमी भागों की बोली जानेवाली भाषा थी। अब प्रायः इन समस्त देशों में यह एक मृत भाषा है और कुछ ऐसे ही विद्वानों को ज्ञात है जो लैटिन दार्शनिकों, कवियों तथा इतिहासकारों की कृतियों का अध्ययन करते हैं। ठीक इसी तरह भारत में भी केवल पण्डितगण तथा अन्य विद्वान ही संस्कृत शास्त्रों को समझ सकते हैं। किन्तु जहाँ स्वयं लैटिन लगभग आठ सौ या एक हज़ार वर्षों से एक बोली जानेवाली भाषा नहीं रह गई, वहीं अनेक देशबोलियाँ (जैसा कि मैं कह चुका हूँ), जैसे इटालियन तथा अन्य आधुनिक बोलियाँ, उसी से विकसित हुईं। इन भाषाओं के शब्दभण्डार के अधिकांश शब्द, जो लैटिन है, विभिन्न प्रकार से परिवर्तित हो गये हैं तथा प्राचीन लैटिन रूपरचना या तो भ्रष्ट अथवा लुप्त हो गई है और उसका स्थान निपातों और सहायक क्रियाओं ने ले लिया है। इन निष्पन्न बोलियों में से इटालियन ने, जो इटली में बोली जाती है, अपनी मातृ-भाषा से घनिष्टतम साम्य सुरक्षित रखा है। इटालियन में लैटिन शब्दों के जो परिवर्तन हुये है उनमें से अनेक का पालि में तथा प्राकृत में हुए संस्कृत शब्दों के परिवर्तन के साथ, जैसा कि ऊपर पृ० ८७ पर बर्नफ और लासन के 'एसे ऑन दि पालि' से उद्धृत स्थल पर कहा जा चुका है, अत्यन्त घनिष्ट साम्य है।

ये दो प्राचीन भाषायें, संस्कृत तथा लैटिन, जिन प्रक्रियाओं के अनुसार अपने से निष्पन्न आधुनिक भाषाओं के रूप में परिवर्तित हुईं उनके आश्चर्यजनक साम्य को व्यक्त करने के लिये मैं आमने-सामने उन अत्यन्त उल्लेखनीय उदाहरणों को प्रस्तुत कर रहा हूँ जो मुझे मिल सके हैं।[१५७]

१—ध्वन्यात्मक परिवर्तन

(१) ऐसे शब्द जिनमें संयुक्ताक्षर 'क्ट', 'क्त' अथवा 'न्क्त' में 'क' का लोप हो गया है, जबकि 'ट' अथवा 'त' के स्थान पर 'ट्ट' अथवा 'त्त' हो गया है।

लैटिन रूप, जैसे वे इटालियन में परिवर्तित हो गये हैं		संस्कृत रूप, जैसे वे पालि और प्राकृत में परिवर्तित हो गये हैं	
लैटिन	इटालियन	संस्कृत	पालि और प्राकृत
पर्फेक्टुस	पर्फेट्टो	मुक्तस्	मुत्तो
डिक्टुस	डेट्टो	युक्तस्	जुत्तो
यन्कटुस[१५८]	जुन्टो[१५९]	भक्तस्	भत्तो
फ्रुक्टुस	फ्रुट्टो	सिक्थक	सित्थओ
पक्टुम	पट्टो	परित्यक्तस्	परिच्चत्तो
ट्रक्टुस	ट्रट्टो	भुक्तस्	भुत्तो
फक्टुस	फट्टो	सक्तस्	सत्तो
अक्टुस	अट्टो		
ओक्टो	ओट्टे		
डोक्टुस	डोट्टो		

(२) ऐसे शब्द जिनमें 'प्ट' अथवा 'प्त' में से 'प्' काल से और 'ट' अथवा 'त' के स्थान पर 'ट्ट' अथवा 'त्त' हो गया है।

रप्टुस	रोट्टो	उप्तस्	उत्तो
अप्टुस	अट्टो	सुप्तस्	सुत्तो

[१५७] इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण के प्रकाशन के बाद इस विषय का विवेचन एक ६८ पृष्ठ की निबन्ध-पुस्तिका मे भी हुआ है जो सन् १८६९ में वहा० शीर्षक से प्रकाशित हुई। इस पुस्तिका की मई १४, १८७०, की 'लिट० सेन्ट्रलब्लैट', पृ० ५९४ और बाद, मे हुई समालोचना मे इसमे एक तालिका होने का भी उल्लेख है परन्तु मेरी प्रति मे वह तालिका नही है।

[१५८] लैटिन c का संस्कृत 'क' के समान उच्चारण होता है।

[१५९] लैटिन giu का सस्कृत 'जु' के समान उच्चारण होता है।

इन्सेप्टुस	इन्सेट्टो	गुप्तस्	गुत्तो
सेप्टेम	सेट्टे	लुप्तस्	लुत्तो
केप्टिवुस	केट्टिवो	तृप्तिस्	तित्ति
एसुम्प्टुम	एसुन्टो	तप्तस्	तत्तो
सुब्दुस	सोट्टो	सप्तमस्	सत्तमो
		नप्ता	नत्ता
		प्राप्तस्	पत्तो
		पर्याप्तस	पजत्तो
		क्षिप्तस्	खित्तो
		लिप्तस्	लित्तो
		दीप्तस्	दीत्तो

(३) ऐसे शब्द जिनमें 'प्ल' अथवा 'क्ल' संयुक्ताक्षरों में से 'ल्' का लोप हो गया है।[१६०]

लैटिन रूप, जैसे वे इटालियन में परिवर्तित हो गये हैं		संस्कृत रूप, जैसे वे पालि और प्राकृत में परिवर्तित हो गये हैं	
लैटिन	इटालियन	संस्कृत	पालि और प्राकृत
प्लैन्कटुस	पिआन्टो	विक्लवस्	विक्कवो
प्लेनुस	पिआनो		

(४) ऐसे शब्द जिनमें 'ब्ज' संयुक्ताक्षर में से 'ब्' का लोप हो गया है।

सब्जेक्टुस	सोज्जेट्टो	कुब्जस्	खुज्जो[१६१]
ऑब्जेक्टुस	ओज्जेट्टो[१६२]	अब्जस्	अज्जो

(५) ऐसे शब्द जिनमें त्यक्त अथवा परिवर्तित अक्षर इटालियन और प्राकृत में वही तो नहीं हैं, परन्तु जिनकी दशा में इन दोनों भाषाओं में सरलीकरण की समान प्रवृत्ति लक्षित होती है।

---

[१६०] फिर भी, प्राकृत मे, ऐसे सयुक्ताक्षर को, जिसके अन्तिम अंश मे 'ल्' होता है, सामान्यत दो अक्षरो के रूप मे परिवर्तित कर दिया जाता है, जैसे 'ग्लान' 'गिलान' बन जाता है।

[१६१] वर० २ ३४।

[१६२] लैटिन के °gge° का अंग्रेजी '°jje°' के रूप मे उच्चारण किया जाता है।

ऐब्जॉर्प्टुस	एसॉर्टो	उत्पलम्	उप्पलम्
ऐब्सर्डुस	ऐसुर्डो	स्कन्धस्	खन्धो
एक्सटर्नुस	एस्टर्नो	धर्मम्	धम्मो
मिक्सटुस	मिस्टो	दुष्करस्	दुक्करो
सेक्सटुस	सेस्टो	क्षमा	खमा
टेक्सटुस	टेस्टो	मुग्धस्	मुद्धो
सैक्सुम	सस्सो	मुद्गम्	मुग्गो
सोम्नुस	सोन्नो	लब्धस्	लद्धो
डैम्नुम	डैन्नो	शब्दम्	सद्दो
ऑटम्नुस	ऑटुन्नो	निम्नस्	निम्मो [६३]
डोमिना	डोन्ना	आम्नायस्	आम्मायो
		प्रद्युम्नस्	पज्जुम्मो
		जन्मन्	जम्मो
		राज्ञा	रन्ञा

पालि और प्राकृत में सरलीकरण के एक बहुत अधिक अंश का किसी अन्य व्यञ्जन के पूर्व अथवा पश्चात् प्रयुक्त होने पर 'र्' के लोप द्वारा निर्माण हुआ है, जैसा इन शब्दों में देखा जा सकता है . 'कर्ण' के लिये 'कण्ण', 'सर्व्व' के लिये 'सव्व', 'मित्र' के लिये 'मित्त', 'पुत्र' के लिये 'पुत्त', इत्यादि। 'र्' का यह लोप इटालियन मे सामान्यतया नहीं मिलता।

२—मैं यह दिखाने के लिये दो-एक उदाहरण दूँगा कि किस प्रकार लैटिन कारक विभक्तियों को इटालियन में छोड़ दिया गया है। लैटिन में 'एन्नुस' शब्द का इस प्रकार रूप चलता है :—

एकवचन		बहुवचन	
प्रथमा	एन्नुस	प्रथमा	एन्नि
षष्ठी	एन्नि	षष्ठी	एन्नोरुम
चतुर्थी और पंचमी	एन्नो	चतुर्थी और पंचमी	एन्निस
द्वितीया	एन्नुम	द्वितीया	एन्नोस

इसके विपरीत, इटालियन में इस शब्द का केवल एक एकवचन रूप 'एन्नो'

---

[१६३] वर० ३.२ के नियम के अनुसार मैं केवल यही निष्कर्ष निकाल सकता हूँ कि इस तथा बाद के दो शब्दो मे 'न्' का त्याग तथा 'म' का 'म्म' कर दिया गया है।

तथा एक बहुवचन रूप 'एन्नि' मिलता है जिसमें कारक विभक्ति के लिये 'उपपद' के साथ या बिना ही उपसर्ग का व्यवहार किया गया है, जैसे :

एकवचन		बहुवचन	
प्रथमा और द्वितीया	ल' एन्नो	प्रथमा और द्वितीया	गिल एन्नि
षष्ठी	डेल' एन्नो	षष्ठी	डेगिल एन्नि
चतुर्थी	आल' एन्नो	चतुर्थी	एगिल एन्नि
पंचमी	डाल' एन्नो	पंचमी	डागिल एन्नि

३—इटालिय क्रियाओं में, लैटिन रूपों के कर्तृवाच्य एक परिवर्तित रूप में सुरक्षित रहते हैं, जैसा कि निम्न उदाहरणों से स्पष्ट होगा :—

वर्तमान काल		अनद्यतन भूत	
लैटिन	इटालियन	लैटिन	इटालियन
१. वेण्डो	वेण्डो	१. वेण्डेवम	वेण्डेव
२. वेण्डिस	वेण्डि	२. वेण्डेवस	वेण्डेवि
३. वेण्डिट	वेण्डे	३. वेण्डेवट	वेण्डेव
४. वेण्डिमुस	वेण्डिआमो	४. वेण्डेबेमुस	वेण्डेवामो
५. वेण्डिटिस	वेण्डेटे	५. वेण्डेबेटिस	वेण्डेवाटे
६. वेण्डुण्ट	वेण्डोनो	६ वेण्डेवेण्ट	वेण्डेवानो

परोक्षभूत		पूर्णभूत	
१. वेण्डिडि	वेण्डेइ	१. वेण्डिडिस्सेम	वेण्डेस्सि
२. वेण्डिडिस्टि	वेण्डेस्टि	२. वेण्डिडिस्सेस	वेण्डेस्सि
३. वेण्डिडिट	वेण्डे	३. वेण्डिडिस्सेट	वेण्डेस्से
४. वेण्डिडिमुस	वेण्डेम्मो	४. वेण्डिडिस्सेमुस	वेण्डेस्सिमो
५. वेण्डिडिटिस	वेण्डेस्टे	५. वेण्डिडिस्सेटिस	वेण्डेस्टे
६. वेण्डिडेरुण्ट	वेण्डेरोनो	६. वेण्डिडिस्सेण्ट	वेण्डेस्सेरो

परन्तु (४) कर्मवाच्य में इटालियन भाषा ने लैटिन रूप-संचालन प्रक्रिया को सर्वथा खो दिया है। इस प्रकार लैटिन रूप 'एगो लाउडोर' (मेरी प्रशंसा हुई), 'एगो लाउडवर' (मेरी प्रशंसा हुई थी), 'एगो लाउडरेर' (मेरी प्रशंसा होनी चाहिये), इत्यादि के स्थान पर इटालियन लोग सभी कालों में (जैसा कि लैटिन ने भी कुछ दशाओं में किया है) भूतकालिक कृदन्त के साथ सहायक क्रिया का व्यवहार करते हुये 'इओ सोनो लोडेटो', 'इओ एरा-

लोडेटो', 'इओ सरेइ लोडेटो', अर्थात् 'मेरी प्रशंसा हुई', 'मेरी प्रशंसा हुई थी', 'मेरी प्रशंसा होनी चाहिये', का प्रयोग करते हैं।

ये कुछ उदाहरण इटालियन पाठक को यह दिखाने के लिये पर्याप्त हैं कि लैटिन शब्द तथा विभक्तियाँ इटालियन में किस प्रकार परिवर्तित हो जाती हैं।

प्राचीन तथा आधुनिक कालों के इटली के इतिहास से यह स्पष्ट है कि इस देश के लोग एक समय लैटिन बोलते थे, परन्तु अब इटालियन बोलने लगे हैं जो लैटिन से ही व्युत्पन्न एक देशबोली होते हुए उससे कई दृष्टियों से वैसे ही भिन्न है जैसे संस्कृत से भारतीय प्राकृतें, जब कि संस्कृत के ही समान लैटिन भी उन सभी देशों में, जहाँ यह प्रचलित भाषा थी, आज मृत हो चुकी है, और इटली तथा अन्य देशों में केवल प्राचीन ग्रन्थों, रोमन कैथोलिक गिरजाघरों में सार्वजनिक प्रार्थनाओं, अथवा आधुनिक विद्वानों द्वारा अपनी कृतियों अथवा शास्त्रार्थों में व्यवहार के आधार पर ही ज्ञात होती है। परन्तु यदि यह सत्य है कि अपनी अनेक तथा विभिन्न रूप-रचनाओं सहित लैटिन जैसी भाषा एक समय समस्त रोमन लोगों की साधारण बोलचाल की भाषा थी, तब हमें यह मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये कि, यद्यपि आधुनिक हिन्दू (कुछ पंडितों को छोड़कर) केवल बंगला, हिन्दी, मराठी इत्यादि ही बोल सकते हैं, और यद्यपि इनके पूर्वज उन विभिन्न प्राकृत बोलियों का व्यवहार करते थे जो आधुनिक देशबोलियों की जनक हैं, तथापि अपेक्षाकृत और पूर्व के समय के हिन्दू, संस्कृत अर्थात् उस प्राचीन आर्य-भाषा का व्यवहार करते रहे होंगे जिससे ही, इसमें सन्देह नहीं कि, प्राकृतों के अपेक्षाकृत प्राचीनतर रूप निष्कृष्ट हुए होंगे। यदि हमलोगों के आज के युग में पण्डित लोग संस्कृत में बोल सकते हैं, तो एक पूर्वयुग में सरल तथा स्वाभाविक शैली में देशबोली के रूप में न केवल ब्राह्मणों द्वारा ही वरन् समाज के विभिन्न वर्गों के सभी लोगों द्वारा इसका व्यवहार क्यों नहीं प्रचलित रहा हो सकता? भाषा का जटिल आकार, अर्थात उसमें विभक्ति और रूप रचना की बहुलता, उनके लिये जो बोली के एक अपेक्षाकृत सरलतर रूप के अभ्यस्त हैं, इस बात का सन्देह व्यक्त करने का आधार प्रदान कर सकती है कि अपने जटिल रूप में यह भाषा कदाचित ही कभी देशबोली के रूप में प्रयुक्त होनेवाली भाषा रही होगी। परन्तु यह तथ्य हमारी उक्त मान्यता का समर्थन करनेवाला ही एक तर्क है, क्योंकि आकार की इस प्रकार की जटिलता भाषा के उस रूप की एक विशेषता होती है, जिससे ही उससे निर्मित बोलियाँ, अपने रूप में सरलतर होती देखी जाती हैं। लैटिन तथा उससे उत्पन्न भाषाओं की दशा में भी यही प्रक्रिया देखी जा सकती है।

तृतीयः—यह तथ्य कि नाटककार ब्राह्मणों तथा अन्य उच्चस्थ लोगों को ही संस्कृतभाषी के रूप में प्रस्तुत करते हैं, इस बात का एक पर्याप्त शक्तिशाली प्रमाण प्रस्तुत करता है कि एक समय सम्पूर्ण समाज और बहुत समय बाद तक केवल उच्चवर्ग, संस्कृत ही बोलता रहा (देखिये ऊपर पृ० १९६), और आज के समय तक भी अपने विद्यालयों और शास्त्रार्थों में विद्वान पण्डितों द्वारा इस भाषा का सामान्य व्यवहार एक अपेक्षाकृत पूर्व समय में एक देशबोली के रूप में इसके साधारण प्रचलन को बहुत अंशों तक सिद्ध करता प्रतीत होता है। क्योंकि, यदि किसी समय ब्राह्मण लोग इसका अपनी साधारण बोलचाल के लिये प्रयोग नहीं करते थे, तो वे इसे इतने निष्प्रयास तथा धाराप्रवाह रूप से बोलने के अभ्यस्त कैसे हो सकते थे? परन्तु यदि एक समय ब्राह्मण लोग साधारण रूप से संस्कृत बोलते रहे होंगे तो इसका व्यवहार विद्वानों की पीढ़ी-दर-पीढ़ी अत्यन्त सरलतापूर्वक संचारित हुआ हो सकता है।

चतुर्थः—मनु प्राचीन भारतीय दस्युओं अथवा अनार्य जातियों की भिन्न भाषा होने का उल्लेख करते हैं। इनमें से कुछ आर्यों की ही भाषा बोलते थे जब कि अन्य म्लेच्छों की भाषा का व्यवहार करते थे।[१५४] मनु ने आर्यों की जिस भाषा का उल्लेख किया है वह संस्कृत से निष्कृष्ट अथवा स्वयं प्राचीन-संस्कृत ही रही होगी: वह इन दोनों में से क्या थी यह उस काल पर निर्भर करता है जिसमें हम मनुस्मृति के उक्त स्थल को रचित मानते है। जो कुछ भी हो, यह स्थल ऐसा प्रभाव छोड़ता है कि उस समय आर्य-भाषा तथा उन स्थानीय बोलियों में अन्तर था जिनके साथ संस्कृत का विभेद किया गया है; और यदि स्वयं संस्कृत के अन्तर्गत भी कुछ विभिन्न भाषा-रूपों का अस्तित्व था भी तो वह अपेक्षाकृत नगण्य था।

पञ्चमः—भारत के कुछ प्राचीनतम वैयाकरण, जैसे यास्क और पाणिनि, की रचनाओं में हमें वेदों की भाषा तथा लौकिक संस्कृत के बीच विभेद का उल्लेख मिलता है। प्रथम को 'अन्वध्यायम्', 'छन्दस्', अथवा 'आर्ष' इत्यादि

---

[१५४] मनु, १०.४५. यद्यपि इस श्लोक का अनुवाद प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग मे उद्धृत है, तथापि सन्दर्भ की सुविधा के लिये मैं यहाँ पुन उद्धृत करता हूँ: मुख बाहूरु-पज्-जाना याः लोके जातयो वहिः। म्लेच्छवाचश् चार्य-वाचः सर्वे ते दस्यव स्मृता ॥ "(ब्रह्मा के) मुख, भुजाओ, ऊरुओ और पाँव से उत्पन्न जातियो (अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र) से बाह्य जातियाँ, चाहे वे म्लेच्छो की भाषा बोलती हो या आर्यो की, 'दस्यु' कही जाती हैं।"

शब्दों से व्यक्त किया गया है, जब कि समसामयिक संस्कृत को 'भाषा' कहा गया है। इसीलिये निरुक्त के प्राचीन लेखक, यास्क, ने अपनी कृति के आरम्भिक अंश (१.४) में निपातों की चर्चा करते हुए इस प्रकार कहा है: तेषाम एते चत्वार उपमार्थे भवन्ति इति। "इव" इति भाषायां च अन्वध्याय च "अग्निर् इव" "इन्द्र इव" इति। "न" इति। प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम उभयम् अन्वध्यायम्। "न इन्द्र देवम् अमसत" इति प्रतिषेधार्थीय इत्यादि। "इनमें से ये चार उपमार्थक हैं। 'इव' का 'भाषा' और 'अन्वध्यायम' दोनों में एक ही आशय है: इस प्रकार 'अग्निर् इव, इन्द्र इव' अर्थात 'अग्नि के समान, इन्द्र के समान।' भाषा में 'न' का आशय प्रतिषेधार्थक तथा उपमार्थक दोनों ही होता है। इस प्रकार 'न इन्द्रम देवम् अमसत' अर्थात् 'वे इन्द्र को एक देवता नहीं मानते' में इसका प्रतिषेधार्थक अर्थ है, इत्यादि।" पुनः, दूसरे खंड (१.५) में वे इसी प्रकार कहते हैं: "नूनन्" इति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम। उभयन् अन्वध्यायां विचिकित्सार्थीय. पदपूरणश् च॥ "'नूनम' निपात का भाषा में अनिश्चितता व्यक्त करने के लिये प्रयोग होता है, वेदों में भी इसका यही आशय होता है, परन्तु वहां यह केवल एक पादपूरक के रूप में भी प्रयुक्त होता है।" पुन, यास्क (निरुक्त २.२) यह कहते हैं अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते "दमूना:" "क्षेत्रसाधा:" इति। अथापि नैगमेभ्यो भाषिका. "उष्णम्" "घृतम्" इति। अथापि प्रकृतयः एव एकेषु भाष्यन्ते विकृतयः एकेषु। "शवतिर्" गति-कर्मा कम्बोजेष्व् एव भाष्यते। विकारम् अस्य आर्येषु भाषन्ते "शव:" इति। "दातिर्" लवनार्थे प्राच्येषु दात्रम् उदीच्येषु। "पुन, वैदिक (नैगम) सज्ञायें भी हैं (जैसे 'दमूना' और 'क्षेत्रसाधा.') जो भाषा की धातुओं से व्युत्पन्न है। इसी प्रकार भाषा के शब्द, जैसे 'उष्णम्', 'घृतम्', वैदिक धातुओं से व्युत्पन्न हैं। इनके अतिरिक्त, कुछ की भाषा में धातुओं का, और कुछ अन्य की भाषा में व्युत्पन्न रूपों का, व्यवहार मिलता है। 'जाने' क्रिया के अर्थ में 'शवति' का प्रयोग केवल काम्बोजों की भाषा में मिलता है, इससे उत्पन्न 'शव' आर्यों की भाषा में प्रयुक्त होता है। काटने के अर्थ में 'दाति' क्रिया का पूर्व के लोग प्रयोग करते हैं, जब कि 'दात्रम्' सज्ञा का प्रयोग केवल उत्तर के लोगों को ही ज्ञात है।" यहाँ यह द्रष्टव्य है कि विशुद्ध संस्कृत शब्दों के न केवल आर्यों की ही वरन् उन काम्बोजों की भी भाषा में प्रयुक्त होने का उल्लेख है जो उत्तर-पश्चिम में निवास करते थे और जिनका आर्यों से विभेद किया गया है।

पाणिनि के सूत्रों (१.२,३६) में वैदिक भाषा का इस प्रकार उल्लेख है:

विभाषा छन्दसि। "छन्दस् (वेद) में एक विभाषा है।" १.४,२०: अयस्मयादीनि छन्दसि। "छन्दस में हमें 'अयस्मय' [अयोमय के स्थान पर] जैसे रूप मिलते हैं।" इसी प्रकार अनेक अन्य सूत्रों में भी उल्लेख है। वेद के लिये 'मन्त्र' शब्द का प्रयोग इन सूत्रों में मिलता है: २४,८०, ६.१,१५१, १,२१०, ३,१३१, ४,५३, ४,१४१। इसी अर्थ में 'नैगम' शब्द का प्रयोग इन सूत्रों में मिलता है: ६.३, ११३, ४,९, ७.२, ६४, ४,७४। 'ऋचौ' और 'ऋचि' शब्दों का इसी अर्थ में इन सूत्रों में प्रयोग किया गया है: ४.४, ९६; ६.३, १३०, ३,१३३। दूसरी ओर, वैदिक भाषा के साथ विभेद करते हुये पाणिनि ने प्रचलित संस्कृत के लिये 'भाषा' का इन सूत्रों में प्रयोग किया है: ३.२, १०८: भाषायाम् सद्वसश्रुवः "भाषा मे 'सद्', 'वस्' और 'श्रु' धातुयें।" ६.३,२०: स्थे चा भाषायाम्। "और भाषा में 'स्थ' की दशा मे।" इस शब्द का इसी अर्थ में इन सूत्रों में भी प्रयोग मिलता है: ६.१, १८१, ७.२, ८८, ८.२, ९८।[165]

---

[165] तुलना कीजिये वेबर इ लि०, पृ० ५६, १३९ और १६७ (नोट सहित), तथा इण्डिशे स्टूडियन ४७६। वासवदत्ता के अपने सस्करण की भूमिका मे डा० एफ० हॉल ने पृ० २४ पर टिप्पणी मे इस प्रकार लिखा है: "वेदो की पुरातनता अथवा विभिन्न प्राकृतो के विपरीत, 'भाषा' शब्द लौकिक संस्कृत का द्योतक है।" प्रोफेसर वेबर का भाषा सम्बन्धी निम्नोद्धृत विवरण ऊपर (पृ० १८३) उद्धृत उन्ही के विचारो के सर्वथा अनुरूप है "अनेक भारतीय आर्यजातियो के भारत मे आकर बस जाने के बाद इस नवीन आवासगृह मे आपस मे अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध तथा अन्तर्मिश्रण, तथा उन सबके मिलकर एक अपेक्षाकृत बृहत्तर समाज बन जाने के कारण कालान्तर मे उनकी अलग-अलग बोलियो मे अधिक एकता स्थापित होती गई; जब कि दूसरी ओर, व्याकरण के अध्ययन ने, जो प्राचीन ग्रन्थो की व्याख्या के लिये उत्तरोत्तर आवश्यक हो रहा था और इस कारण जिसका प्रसार भी होने लगा, भाषीय प्रयोगो को दृढ कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप एक अन्य सामान्य रूप से मान्य बोली का 'भाषा' के नाम से प्रादुर्भाव हुआ, जिसमे ब्राह्मणो और सूत्रो की रचना की गई।" इलि०, पृ०, १६७.

इस शब्द के विषय पर मैं वेबर के हिस्ट० ऑफ इण्डि० लिट० की प्रोफेसर रॉथ की समालोचना से कुछ विचार उद्धृत करता हूँ जो जजओसो०, १८५३, पृ० ६०५ मे प्रकाशित हुआ था: "इन प्राकृत बोलियो से स्पष्टत. पृथक और मूलतः नामविहीन एक अन्य बोली का 'भाषा' के नाम से अस्तित्व था जिसके

यास्क और पाणिनि किस-किस समय हुये, अथवा दोनों में से कौन अधिक प्राचीन है, इस विषय पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। प्रोफेसर मूलर यास्क को पाँचवी शताब्दी ई० पू० का मानते हैं (चिप्स, प्रथम सं०, पृ० ७४, १८६७ में मुद्रित),[१६६]—और, अपने हिस्ट्री ऑफ एन्शेण्ट संस्कृत लिटरेचर (१८५९ में मुद्रित संस्करण का पृ० १६३) के एक स्थल पर, जैसा कि उसे गोल्डस्टूकर (सन् १८६१ में मुद्रित पाणिनि, पृ० २२१) ने समझा है, उन्होंने यास्क को पाणिनि के बाद का माना है। प्रोफेसर लासन अपने इण्डियन ऐन्टीक्विटीज़ (भाग १, प्रथम सं०, पृ० ७३९, ८६४, तथा द्वितीय सं० पृ० ८६६; भाग २, पृ० ४७६) में यह विचार करते हैं कि यतः यास्क पाणिनि की अत्यन्त कृत्रिम शब्दावली से सर्वथा अनभिज्ञ हैं, और पाणिनि ने उनका उल्लेख किया है, अत. वह अपेक्षाकृत प्राचीन हैं, और इन दोनों की व्याकरणिक प्रणालियों में भी इतना अधिक अन्तर है कि दोनों के बीच केवल पचास वर्ष का व्यवधान इस अन्तर की व्याख्या करने के लिये पर्याप्त नहीं है। प्रो० गोल्डस्टूकर (पाणिनि, पृ० २२१) इस बात पर लासन से सहमत हैं कि यास्क की अपेक्षा पाणिनि बाद के हैं, किन्तु वे पाणिनि को बहुत सम्भवतः बुद्ध के पूर्व हुआ मानते हैं (पाणिनि, पृ० २२७), जिनकी मृत्यु के समय को वे लासन द्वारा ई० पू० ५४३ निश्चित करने से सहमत हैं। फिर भी, पाणिनि को बुद्ध के पूर्व हुआ मानने के गोल्डस्टूकर के विचार से (इण्ड० ऐ० १, द्वितीय सं० पृ० ८६४) लासन सहमत नहीं हैं। प्रोफेसर वेबर ने भी (इण्ड० स्टू० ५.१२६ और बाद) पाणिनि के बुद्ध के पूर्व हुये होने के विचार को अस्वीकृत कर दिया

बाद मे रक्खे गये नाम 'संस्कृत' को हमे प्राकृत से विभेद करने के लिये रक्खा गया नाम मानना चाहिये। अत. उस समय इस शब्द मे बहुत अधिक अर्थ का समावेश कर दिया गया प्रतीत होता है जब इसकी एक संस्कृत या परिष्कृत भाषा के रूपमे व्याख्या की गई है। वेबर भी ऐसा ही करते हैं। अन्यत्र इस शब्द का प्रयोग इस व्याख्या का औचित्य सिद्ध नही करता। मेरा विश्वास है कि हम उस समय सत्य के और निकट आ जायेंगे यदि हम इस काल्पनिक रूप से चयन की गई धातुओ को, जो प्राकृत मे भी मिलती हैं, एक पहले से वर्तमान ऐसी बोली मान लें जिसके ही एक भिन्न रूप का उल्लेख किया गया है।"

[१६६] उसी निबन्ध मे, जो बुनसेन के 'आउटलाइन ऑफ फिल० युनि० हिस्ट्री, १.१३७ (१८५४ ई० मे प्रकाशित)मे 'लास्ट रेज़ल्ट्स ऑफ संस्कृत रिसर्चेज' शीर्षक से मुद्रित हुआ है, प्रो० मूलर ने यास्क को ई० पू० चौथी शताब्दी मे हुआ माना है।

है।[१६७] यदि हम बॉटलिङ्क और लासन के इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर ले कि पाणिनि ३३० ई० पू० में हुये थे (लासन, भाग १, द्वितीय सं०, पृ० ८६४), और यह कि यास्क इससे ५० वर्ष से कुछ अधिक पूर्व हो चुके थे, तब यास्क को ४०० ई० पू० के लगभग हुआ माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त, यदि हम प्रोफ़ेसर बेनफे द्वारा व्यक्त इस मत (देखिये पिछला खण्ड, ऊपर पृ० १९३, १९७) को ग्रहण करें कि बुद्ध के समय, अर्थात ई० पू० छठवीं शताब्दी, मे एक देशबोली के रूप में सस्कृत का अस्तित्व समाप्त हो चुका था, तब इस भाषा का व्यावहारिक रूप यास्क के समय से कुछ शताब्दियों पूर्व तथा पाणिनि के समय से तो और भी अधिक पूर्व समाप्त हो चुका होगा। इस दशा में ये लेखक सार्वभौमिक रूप से बोली जानेवाली समसमायिक भाषा के आशय में संस्कृत के लिये 'भाषा' शब्द का प्रयोग नहीं कर सके होंगे, क्योंकि उस समय सामान्यतया प्रयुक्त भाषा का स्वरूप पालि का कोई प्रकार अथवा प्राकृत के ही आरम्भिक प्रकारों में से कुछ रहा होगा। किन्तु उस समय भी बोली जानेवाली भाषा संस्कृत से उतनी अधिक पृथक नहीं पाई होगी, और एक पितृभाषा के रूप में उसके साथ सम्बन्ध अथवा एक मानक भाषा के रूप उसके प्रति आदर का भाव प्रत्येक विद्वान के लिये स्पष्ट रहा होगा। इस प्रकार, उस समय भी सस्कृत को 'भाषा' संज्ञा से सम्बोधित किया जाना सम्भव था। फलस्वरूप, इस शब्द के सतत प्रयोग में हमें यह दिखाने के लिये पर्याप्त शक्तिशाली तर्क उपलब्ध होता है कि सस्कृत एक समय बोली जानेवाली भाषा अवश्य थी।

पुनः, महाभाष्य (डा० बैलनटाइन के स० का पृ० २२ और ६९) में हमें निम्नलिखित स्थल मिलता है:—

भूयासोऽपशब्दाः अल्पीयासः शब्दाः। एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद् यथा "गौर्" इत्य् अस्य शब्दस्य "गावी" "गोणी" "गोता" "गोपोतलिका" इत्य् एवम्-आदयो बहवोऽपभ्रशाः।

"अपशब्द बहुत और शब्द अल्प है, क्योंकि प्रत्येक शब्द के अनेक अपभ्रंश रूप हैं। इस प्रकार एक 'गो.' शब्द के अनेक भ्रष्टरूप हैं, जैसे 'गावी', 'गोणी', 'गोता', 'गोपोतलिका' इत्यादि।" अशुद्ध रूपों का यह उल्लेख, जैसे 'गो' शब्द के अशुद्ध रूप, जो प्राकृत[१६८] प्रतीत होते हैं, यह व्यक्त करता है कि संस्कृत को,

---

[१६७] तुलना कीजिये इस विषय पर इसी लेखक के विचार जो जजओसो०, XIX, ६५३ मे उन्होने ड' आल्विस के 'काच्चायन' की समालोचना मे व्यक्त किये हैं।

[१६८] मृच्छकटिक, पृ० ९८,९९, मे 'गोणा' शब्द 'वृषभ' के अर्थ मे आता है।

अब चाहे वह बहुसंख्यक लोगों द्वारा बोली न जाती रही हो, कम से कम सभी बोली जानेवाली भाषाओं का मानक तथा उससे समस्त विचलनों को केवल भ्रष्ट मात्र माना जाता था। क्योंकि, अन्यथा विभिन्न भाषाओं के शब्दों की तुलना की इस प्रणाली का कोई औचित्य न होता, और केवल रूप-वैविध्य के कारण ही 'गो' के प्राकृत पर्याय गलत न कहे जाते।

षष्ट—ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १६४ वें सूक्त में यह श्लोक (४५ वाँ) आता है : चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर् ब्राह्मणाः ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्याः वदन्ति। "भाषा के चार परिमित पद होते हैं : विद्वान इसके ज्ञाता हैं। इसके तीन पद गुह्य हैं जो कुछ भी व्यक्त नहीं करते। वाणी के चौथे पद को मनुष्य बोलते हैं।" मैं इस श्लोक के भाष्य के अंश को उद्धृत कर रहा हूँ जो निरुक्त १.९ की परिशिष्ट में दिया हुआ है : कतमानि तानि चत्वारि पदानि। "ओंकारो व्याहृतयश् च" इत्य् आर्षम्। "नामाख्याते च उपसर्ग-निपाताश् च" इति वैयाकरणाः। "मन्त्रः कल्पो ब्राह्मण चतुर्थी व्यावहारिकी" इति याज्ञिकाः। "ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकी" इति नैरुक्ताः। "सर्पाणां वाग् वयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यावहारिकी" इत्य् एके। "पशुषु तूणवेषु मृगेषु आत्मनि च" इत्य् आत्मप्रवादाः। अथापि ब्राह्मणम् भवति "सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवद्। एष्व् एव लोकेषु त्रीणि पशुषु तुरीयम्। या पृथिव्यां सा अग्नौ सा रथन्तरे। या अन्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये। या दिवि सा आदित्ये सा बृहति सा स्तनयित्नाव् अथ पशुषु। ततो या वाग् अत्यरिच्यत ताम् ब्राह्मणेष्व् अदधुः। तस्माद् ब्राह्मणाः उभयीं वदन्ति या च देवाना या च मनुष्याणाम्" इति।

"ये चार पद क्या हैं? ऋषियों के अनुसार ये 'ओम, भूः, भुव, और स्वर' नामक चार व्याहृतियाँ हैं।' वैयाकरण[१६९] कहते हैं कि ये 'चार प्रकार के शब्द : सञ्ज्ञा, क्रिया, उपसर्ग और निपात, हैं।' याज्ञिक इन्हें '(१) मन्त्र, (२) कल्प, (३) ब्राह्मण, और (४) व्यावहारिक भाषा, कहते हैं।'[१७०]

[१६९] देखिये महाभाष्य, पृ० २८,२९।

[१७०] देखिये ऋग्वेद १ १६४, ४५ पर सायणभाष्य। वहाँ सायण ने 'व्यावहारिकी वाक्' शब्दो की इस प्रकार व्याख्या की है 'भोग-विषया "गाम् आनय" इत्यादि–रूपा व्यावाहारिकी।' "साधारण भाषा वह है जो 'गाम आनय' अर्थात् 'गाय को लाओ' जैसे भोग्य विषयो को व्यक्त करती है।" ये शब्द, निःसन्देह, संस्कृत हैं।

नैरुक्त इनकी '(१) ऋक्, (२) यजुः, और (३) साम, तथा (४) व्यावहारिक भाषा के रूप में व्याख्या कहते हैं।' अन्य का विचार है कि ये (१) सर्पों, (२) पक्षियों और (३) क्षुद्र सरीसृपों की भाषाओं, तथा (४) व्यावहारिक भाषा के द्योतक हैं।' दार्शनिक सम्प्रदाय इन चार पदों की 'पशु, वाद्ययन्त्र, जंगली पशु, और आत्मा के सन्दर्भ में व्याख्या करते हैं।' इस विषय पर हमें एक ब्राह्मण में यह उक्ति मिलती है : 'जब वाच् की सृष्टि हुई तो वह चार भागों में विभक्त हो गया जिनमें से तीन भाग इन लोकों (पृथ्वी, अन्तरिक्ष, और आकाश) में निहित हैं और चौथा पशुओं में। पार्थिव वाच् अग्नि और रथन्तर सामों में निहित है, अन्तरिक्षीय वाच् वायु तथा वामदेव्य-स्तुतियों में निहित है, दिव्य वाच् सूर्य, बृहती छन्द तथा गर्जन में निहित है। चौथा अंश पशुओं में निहित है। जो वाच् सर्वश्रेष्ठ[१७१] था उसे ब्राह्मणों में रक्खा गया अत. ब्राह्मण दो प्रकार की, देवों की और मनुष्यों की भी, भाषायें बोलते हैं।"

निरुक्त में दी हुई परिशिष्ट यास्क की अपेक्षा बहुत बाद की है, यद्यपि भाष्यकार दुर्ग ने, जो निरुक्त को १४ भागों से युक्त मानते हैं, इसे यासक की कृति का ही एक अंग माना है (देखिये निरुक्त १ २०, पर उनका भाष्य जो आगे उद्धृत है)। परन्तु, यद्यपि उक्त स्थल स्वयं निरुक्त के समय के बाद का है, तथापि वह अनेक प्राचीन लेखकों के विचारों को व्यक्त करता है, इसलिये हम उसे काफी प्राचीन समय की स्थिति को व्यक्त करनेवाला मान सकते हैं। जिन प्राचीन विचार-सम्प्रदायों को उद्धृत किया गया है उनमें से तीन ने 'व्यावहारिकी वाक्' को चतुर्थ श्रेणी के अन्तर्गत रखते हुये वेदों के अनुसार मनुष्यों द्वारा व्यवहृत भाषा कहा है। इससे, सम्भवतः, हमें प्राचीन संस्कृत का तात्पर्य समझना चाहिये। यह सत्य है कि उस ब्राह्मण में, जिसका परिशिष्टकार ने उद्धरण दिया है, यह टिप्पणी (जो पूर्व विषय से सम्बद्ध है) की गई है कि ब्राह्मण दो, देवों की तथा मनुष्यों की भी, भाषायें बोलते हैं, और यह इस बात को सिद्ध करता प्रतीत हो सकता है कि, जैसा कि बाद के समय में था (देखिये ऊपर पृ०), ब्राह्मणों की रचना के समय देवों की भाषा संस्कृत, तथा मनुष्यों की भाषा प्राकृत, के बीच विभेद किया जाता था। परन्तु यहाँ वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृत का भी सन्दर्भ हो सकता है, अथवा इससे परिष्कृत भाषा और भ्रष्ट भाषा अथवा किसी प्रकार के रहस्यवाद का ही तात्पर्य

---

[१७१] बेनफे (गोगेऐ०, १८६१, पृ० १३४) ने इसका "सर्वप्रथम" के रूप मे अनुवाद किया है।

हो सकता है।[१७२] और, किसी भी दशा में, हम इस स्थल से वैदिक युग में संस्कृत के देशबोली के रूप में प्रयुक्त होने के तथ्य के विपरीत कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सकते क्योंकि हम उस ब्राह्मण के समय से अनभिज्ञ हैं जिससे यह उद्धरण लिया गया है।

सप्तम—रामायण में अनेक ऐसे स्थल आते हैं जिनमें संस्कृत के बोलचाल की भाषा के रूप में प्रयुक्त हुये होने का उल्लेख है। ऐसे स्थल ये हैं :[१७३]

वानर-प्रमुख, हनुमान को राक्षसराज रावण के प्रासाद में प्रवेश करके इस बात पर विचार व्यक्त करते हुए दिखाया गया है कि वे वहाँ बन्दी सीता को किस प्रकार सम्बोधित करें। वह कहते हैं कि (सुन्दरकाण्ड ३०.१७) :

---

[१७२] गोपथ ब्राह्मण, १ १,१, और शतपथ ब्राह्मण १४ ६ ११.२, में यह कहा गया है : "परोक्ष-प्रिया इव हि देवा प्रत्यक्ष-द्विष" अर्थात "देवगण परोक्षप्रिय तथा प्रत्यक्षद्वेषी होते हैं।" इस मन्त्र का प्रथम अंश ब्राह्मणों में अक्सर आता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण १ ५ ९, २, पर जहां यह आता है भाष्यकार यह टीका करता है "इसीलिये साधारण जीवन में भी आचार्यगण 'देवदत्त' आदि नाम को परित्याज्य समझते हैं और 'उपाध्याय, मिश्र' आदि जैसे नामों से पूजित होना चाहते हैं।" (अत एव लोकेऽपि देवदत्तादि नाम परित्यज्य आचार्याः उपाध्यायाः मिश्राः इत्यादि-नामभि. पूज्या परितुष्यन्ति)। यह सुविज्ञात है कि भारती प्रचलन के अनुसार शिष्यगण अपने आचार्यों का नाम न लेकर उन्हें अपने गुरु, इत्यादि, के रूप में व्यक्त करते हैं।

इलियद २ ८१३ और बाद, में एक विशिष्ट स्थान का उल्लेख है जिसे मनुष्य 'बेटीआ' और देवगण 'मिरीन का मकबरा' कहते थे। इस स्थल पर अपनी टीका में फायेसी ने यह कहा है कि प्रथम सामान्य और द्वितीय अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन किन्तु अधिक विशिष्ट तथा महत्वपूर्ण नाम है। (तुलना इलियड १ ४०३, १४ २९१, २० ७४)। इलियड २.८१३ पर प्रोफेसर ब्लैकी ने यह टीका की है (होमर, ४ ११४). 'दो नामों, मानव और दिव्य, के सम्बन्ध में, जिनसे यह स्थान ज्ञात था, मुझे कदाचित ही सन्देह है कि लोबेक (एग्लाओ, पृ० ८५८) नित्श (ओड० १०.३०५) और गोटलिङ्ग (हेस० इण्ट्रो० XXX) यह मानते हुये ठीक हैं कि ऐसी दशाओं में मनुष्यों की भाषा से प्रचलित या ग्राम्य नाम का तात्पर्य समझना चाहिये, और देवों की भाषा से पवित्र, प्रमाणभूत, अथवा काव्यात्मक नाम का।"

[१७३] यहाँ उद्धृत अधिकांश मूल स्थलों के लिये मैं वेबर, त्सीगे०, १८५८, पृ० ८५१ नोट का आभारी हूँ।

अहं ह्य् अतितनुश् चैव वानरश् च विशेषतः। वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीम् इह संस्कृताम्॥[१७४] १८ : यदि वाचम् प्रदास्यामि द्विजातिर् इव संस्कृताम्। रावणम् मन्यमाना मा सीता भीता भविष्यति॥ १९ : अवश्यम् एव वक्तव्यम् मानुष वाक्यम् अर्थवत्। मया सान्त्वयितुं शक्या नान्यथेयम् अनिन्दिता॥ "यतः मैं बहुत छोटा और विशेषतः एक वानर हूँ, अतः मैं अब मनुष्यों की संस्कृत बोली का व्यवहार करूँगा। परन्तु यदि मैं एक द्विज के समान संस्कृत बोली बोलूँगा तो सीता मुझे रावण समझेंगी और भयभीत हो जायँगी। अतः मुझे अवश्य ही साधारण जनता द्वारा बोली जानेवाली सार्थक भाषा का प्रयोग करना चाहिये, अन्यथा मैं अनिन्द्य सीता को उचित आश्वासन नहीं दे सकूँगा।"

गोरेसियो के संस्करण के सुन्दरकाण्ड २९. १६ में उपरोक्त की अपेक्षा कुछ भिन्न तथा इस प्रकार पाठ है : अनेनाश्वासयिष्यामि शोकेनापहितेन्द्रियाम्। अहं ह्य् अविदितश् चैव वानरश् च विशेषतः॥ १७॥ यदि वाचं वदिष्यामि द्विजातिर् इव संस्कृताम्। सेयम् आलक्ष्य रूपं च जानकी भाषितं च मे। रावणम् मन्यमाना माम् पुनस् त्रासम् गमिष्यति। ततो जातपरित्रासा शब्द कुर्याद् मनस्विनी॥ "मैं उन्हें सान्त्वना दूँगा जिनकी इन्द्रियाँ शोक से व्याप्त हैं। परन्तु मै उन्हें अविदित तथा विशेष रूप से एक वानर हूँ। यदि मै एक द्विज की भाँति संस्कृत बोली बोलूंगा तो मेरे रूप को देख कर तथा मेरे शब्दों को सुन कर जानकी मुझे रावण समझेंगी और पुनः भयभीत हो जायँगी तथा इस भय के कारण चीख उठेंगी।" यह समझकर कि इस प्रकार लोगों को उनका पता चल जायगा, वह (इसी अध्याय के ३३ वें और ३४ वें श्लोकों में) यह निश्चय करते है : रामम् अक्लिष्टकर्माण निमित्तैर् अनुकीर्तयन्। तस्माद् वक्ष्याम्य् अहं वाक्यम् मनुष्यः इव संस्कृतम्। नैनाम् उद्वेजयिष्यामि तद्-बुद्धि-गत-मानसाम्। "अनायास ही महान कार्य कर डालनेवाले श्रीराम का गुणगान करते हुये मैं उन्हें ऐसी संस्कृत भाषा में सम्बोधित करूँगा जैसी मनुष्य बोलते हैं। इस प्रकार मैं कोई उद्विग्नता का अवसर नहीं दूँगा और उनकी बुद्धि भी अपने पति पर केन्द्रित रहेगी।"

यत. इन स्थलों पर सीता को ऐसी संस्कृत में, जैसी द्विज बोलते हैं, सम्बोधित न करने का कारण यह नहीं कि सीता उसे समझ नहीं सकती वल्कि यह है कि उससे वह सशंक हो उठेंगी, तथा वह वक्ता के लिये भी अनुपयुक्त होगी,

---

[१७४] इन शब्दो की भाष्यकार ने इस प्रकार व्याख्या की है 'मानुषीम् मनुष्य-शरीर-साध्याम्। "संस्कृताम्" व्याकरण-संस्कारवतीम्।'

अतः हम यह मान सकते हैं कि रामायण की रचना के समय (यह समय कुछ भी हो[175]), यद्यपि उच्चवर्ग की स्त्रियाँ संस्कृत न भी बोलती रही हों, तथापि वे उसे समझती अवश्य थीं[176], और पुरोहित तथा अन्य शिक्षित वर्ग के लोग सामान्यतया इसी को बोलते थे। उक्त द्वितीय स्थल पर उद्दिष्ट एक साधारण मनुष्य द्वारा प्रयुक्त संस्कृत से किसी ऐसी भाषा का तात्पर्य नहीं समझना चाहिये जिसमें ब्राह्मणीय संस्कृत से भिन्न शब्दों का प्रयोग किया जाता था। वहाँ एक ऐसी भाषा का तात्पर्य है जिसमें यद्यपि शुद्ध शैली का तो व्यवहार रहा होगा परन्तु जो न तो औपचारिक तथा विस्तृत थी, और न परिचित तथा ग्राम्य। ऐसे लोगों के लिये भी, जो शुद्ध संस्कृत नहीं बोल सकते थे, बोली जाने पर इस प्रकार की भाषा को वहाँ उद्दिष्ट उस प्राचीन समय में भी समझना सरल था, जब समसामयिक देशबोली का, यदि वह संस्कृत से भिन्न थी, संस्कृत से उतना अधिक विचलन नहीं हो सका था जितना आज की आधुनिक भारतीय देशबोलियों की दशा में हो गया है।

पुनः, अरण्यकाण्ड, ११.५६, में भी एक उक्ति है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत बोली ब्राह्मणों की ही विशेषता थी, और इसमें संदेह नहीं कि वे ही लोग प्रमुख रूप से इसे बोलते थे : धारयन् ब्राह्मणं रूपम् इल्वलः संस्कृत वदन्। आमन्त्रयति विप्रान् स श्राद्धम् उद्दिश्य निर्घृणः ॥[177]

---

[175] लासन (इण्ड० आल्ट०, भाग १, पृ० ४८४) इसके समय का निर्धारण नहीं करते।

[176] फिर भी, सम्भवत बाद मे रचित एक ग्रन्थ, मृच्छकटिक (देखिये ऊपर पृ० १४, नोट) मे संस्कृत बोलते अथवा दोहराते समय स्त्री के उच्चरण को हास्यास्पद माना गया है (स्टेन्जलर का स०, पृ० ४४) 'मम दाव दुवेहिं ज्जेव हस्स जाअदि इत्थिआए सक्कदम् पढन्तीए मनुस्सेण अ काअलि गाअन्तेण। इत्थिआ दाव सक्कदम् पढन्ती दिण्णणवणस्सा विअ गिट्टी अधिअम सुसुआअदि।' इसका प्रोफेसर विलसन ने (थियेटर ऑफ हिन्दूज, १.६०) मे इस प्रकार अनुवाद किया है—"मेरे लिये दो ऐसी वस्तुयें हैं जिन पर मैं हसने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता एक स्त्री द्वारा संस्कृत पढने, तथा एक पुरुष द्वारा गाना गाने पर, स्त्री एक ऐसी बछिया के समान आनुनासिक उच्चारण करती है मानो अभी अभी सर्वप्रथम बार उसकी नाक नाथी गई हो।"

[177] भाष्यकार ने प्रथम पक्ति की इस प्रकार व्याख्या की है "ब्राह्मण-रूप" ब्राह्मण-सदृश-वेष। "संस्कृत वदन्" ब्राह्मण-वद् इति शेष।

"ब्राह्मण का रूप धारण करके और संस्कृत बोलते हुये क्रूर राक्षस इल्वल ने ब्राह्मणों को श्राद्ध के उद्देश्य से आमन्त्रित किया ॥"

सुन्दरकाण्ड, ८२.३ (गोरेसियो सं०) में एक राक्षस, प्रहस्त, के वार्तालाप को 'सस्कृतं हेतुसम्पन्नम् अथवच् च' अर्थात् 'संस्कृत, तर्कयुक्त तथा अर्थ-गर्भित वचन' कहा गया है। युद्धकाण्ड (१०४.२) में भी ऐसा कहा गया है कि ब्रह्मा ने राम को ऐसा उपदेश दिया जो 'सस्कृतम् मधुरं श्लक्ष्णम् अर्थवद् धर्म-संहितम्', अर्थात् 'संस्कृत, मधुर,श्लक्ष्ण, अर्थपूर्ण और धर्मसंहत' था। परन्तु इन दोनों स्थलों में से किसी में भी 'संस्कृत' शब्द के किसी विशेष अर्थ का कोई सन्दर्भ प्रतीत नहीं होता।

नीचे उद्धृत की जा रही पंक्तियों में (सुन्दरकाण्ड, १८.१८, और बाद) 'संस्कार' शब्द का, यदि किसी पारिभाषक अर्थ में नहीं, तो भी 'संस्कृत' के समकक्ष इस रूप में प्रयोग हुआ है जिससे (जैसा कि वेबर कहते हैं) यह स्पष्ट हो जाता है कि इस शब्द के पारिभाषिक आशय की किस प्रकार उत्पत्ति हुई : दुःखेन बुबुधे चैनाम् हनुमान् मरुतात्मजः। सस्कारेण यथा हीनाम् वाचम् अर्थान्तरं गताम्[१७८]। तिष्ठन्तीम् अनलङ्कारम् दीप्यमाना स्व-

[१७८] बम्बई सस्करण मे भी १५ ३९ मे इस पक्ति का पाठ प्राय समान है, और वहाँ भाष्यकार ने यह टीका की है 'स्नानानुलेपनादि९ अङ्ग-सस्कार। वाचो व्याकरण-ज्ञानादि-ज सस्कार। देव्या अर्थान्तिर-गतत्व देशान्तर गतत्वम्। वाचस् तु विवक्षितार्थाद् अन्यार्थ-वोधकत्वम्। वाचोऽर्थो यथा व्याकरणाद्य्-अभ्यास-दु खेन व्युत्पत्ति सम्पाद्य बुध्यते तद्-वत् सीता कष्टेन बुबुधे।" "स्नान तथा अनुलेपन आदि अङ्गसस्कार है। [वाणी का सस्कार (शुद्धता) व्याकरण के ज्ञान आदि से उत्पन्न होता है। 'अर्थान्तिरगतत्व' शब्द, सीता के लिये व्यवहृत होने पर, उनके देशान्तर चले जाने का द्योतक है, परन्तु वाणी के लिये व्यवहृत होने पर यह वाछित अर्थ की अपेक्षा अन्य अर्थ का द्योतक है। जिस प्रकार कष्टपूर्वक व्याकरणादि का अभ्यास करने से ही वाणी का आशय समझ मे आता है, उसी प्रकार हनुमान् भी कठिनाई से ही सीता को पहचान सके।" प्रोफेसर आफ्रेख्त ने सस्कृत के एक समय वोली जानेवाली भाषा होने के सम्वन्ध मे मुझे निम्नलिखित स्थल से अनुगृहीत किया है। उन्होने मुझे सूचित किया है कि "द्वितीय अध्याय के आरम्भ मे सरस्वती कण्ठाभरण काव्य मे ग्राम्यवोली के प्रयोग की चर्चा है और फिर श्लोक १६ मे यह कथन है 'केऽभूवन्न् आद्य-राजस्य राज्ये प्राकृत-भाषिण। काले श्री-साहसाङ्कस्य के न सस्कृतवादिन ॥' लेखक के अनुसार साहसाङ्क के, जिन्हे

तेजसा ॥ "मरुतात्मज हनुमान ने अत्यन्त कठिनाई से सीता को पहचाना जो अलङ्कार-विहीन केवल आपने तेज से ही देदीप्यमान थी, और व्याकरणादि जनित संस्कार से शून्य होने के कारण अर्थान्तर को प्राप्त हुई वाणी के समान पहचानी नहीं जा रही थी।"

अष्टम—प्रोफेसर कुन[179] और बेनफे[180] के अनुसन्धानों से ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक शब्दों को, जो आधुनिक संस्कृत में एक, या दो, या तीन, इत्यादि, अक्षरों के हैं, वेदों में क्रमश: दो, या तीन, या चार, इत्यादि, अक्षरों, अर्थात् एक अक्षर बढ़ा कर पढ़ना चाहिये जिससे वैदिक कवियों द्वारा प्रयुक्त छन्द की आवश्यकता के अनुसार पंक्तियों की लम्बाई को पूरा किया जा सके। इस प्रकार 'त्वम' को 'तुअम्', 'व्युष्टौ' को 'विउष्टौ', 'तुर्यम' को 'तुरियम्', 'मर्त्याय' को 'मर्तिआय', 'वरेण्यम' को 'वरेणिअम', 'अमात्यम' को 'अमातिअम्' 'स्वध्वरम' को 'सुअध्वरम्'; और 'स्वस्तिभिः' को 'सुअस्तिभि:' पढ़ना चाहिये। यत: शब्दों के दीर्घीकरण की यह प्रणाली प्राकृत में साधारण रूप से मिलती है, अत ऐसा प्रतीत होता है कि इस दृष्टि से प्राकृत उच्चारण, अधिक आधुनिक संस्कृत के विपरीत, प्राचीन संस्कृत के समान हैं। किन्तु, यतः प्राकृत उच्चारणों को निश्चित रूप से किसी पूर्वप्रचलित उच्चारणों से ही, जो वही थे जिनका वैदिक कवि व्यवहार करते थे, ग्रहण किया गया होगा, अत. हमें यह निष्कर्ष निकालने के लिये एक अन्य आधार मिलता है कि भारत की प्राचीन बोली जानेवाली भाषा तथा वेदों की संस्कृत दोनों ही एक समय समान थीं।[181]

हम एक संवत्-प्रवर्तक के रूप में जानते हैं, समय में संस्कृत सार्वभौमिक रूप से बोली जाती थी। यह एक व्यक्तिगत विचार है, परन्तु इसलिये उल्लेखनीय है कि इसे ईसा के १०५९ वर्ष बाद हुये एक हिन्दू ने व्यक्त किया है।" प्रोफेसर आफ्रेख्त द्वारा उद्धृत श्लोक का आशय इस प्रकार है "क्या उस प्रथम राजा के शासनकाल में जो प्राकृत बोलता था? क्या उस साहसाङ्क (विक्रमादित्य) के समय में जो संस्कृत नहीं बोलता था?"

[179] त्सीमा० ३ ८०।

[180] सामवेद, इन्ट्रोडक्शन, पृ० liii और बाद। देखिये ओरियन्ट उन्ट ऑक्सीडेण्ट, २.४५७ और बाद, तथा त्सीगे० २२ ५६९ और बाद, में डा० बेलण्टाइन के निबन्ध, और मैक्समूलर का ऋग्वेद का अनुवाद, भाग १, भूमिका पृ० lxxviii और बाद।

[181] मैं बेनफे के सामवेद की प्रस्तावना (पृ० liii) से कुछ विचार उद्धृत करता हूँ: "कोमल 'य्' और 'व्' को क्रमश 'इ' और 'उ' स्वरों में अक्सर परिवर्तित कर देने की आवश्यकता का भारतीय छन्दशास्त्रियों ने उल्लेख करते

खण्ड १०—संस्कृत साहित्य के विभिन्न स्तर, और वे विभिन्न रूप जिनमें ये स्तर संस्कृत भाषा को व्यक्त करते हैं : बाद के वैदिक भाष्यकार : पहले के विवेचक : निरुक्त : ब्राह्मण : वैदिक सूक्त · भाषा में परिवर्तन के कारण बाद के समय इनका अपूर्ण बोध : सूक्तों की अपने समय की देशबोली में रचना हुई है।[१८२]

गत खण्ड में मैं यह दिखा चुका हूँ कि यतः एक समय संस्कृत बोली जानेवाली भाषा थी, अतः अपने उस आरम्भिक स्तर पर यह उन परिवर्तनों के

हुये कहा है कि जहाँ छन्द के लिये आवश्यक हो वहाँ 'य्' और 'व्' के स्थान पर 'इ+य्' और 'उ+व्' पढना चाहिये। अनेक शब्दो की दशा मे लिखने की उक्त पूर्व प्रणाली ही प्रचलित रही, जिसकी सामवेद और ऋग्वेद के पाठ-भेदो के कारण सम्भावना प्रतीत होती है। उदाहरण के लिये सामवेद मे 'तुग्रिय, सुभुव., सुद्रुवम्' पाठ है, जबकि ऋग्वेद मे 'तुग्र्य, सुभ्व', सुद्र्वम्' मिलता है। दूसरी ओर ऋग्वेद मे 'समुद्रिय' परन्तु सामवेद मे 'समुद्रय' पाठ है।'' '''परन्तु छन्द के अनुकूल पाठ प्राप्त करने के लिये परिवर्तन की आवश्यकता इतनी सामान्य रूप से प्रयुक्त मिलती है कि हम शीघ्र ही इस निष्कर्ष की ओर अग्रसर हो जाते हैं कि वेदो के रचनाकाल के समय 'कोमल' ('य्' और 'व्') अक्षरो का, जो आज उपलब्ध सहिताओ मे आते हैं, अधिकाशतः उच्चारण अभी आरम्भ नहीं हुआ था, परन्तु इनके स्थान पर 'इ' और 'उ' स्वरो का व्यवहार होता था।'' दूसरी ओर, कभी-कभी 'इ+य्' और 'उ+व्' के स्थान पर 'य्' और 'व्' को ही पढना चाहिये (पृ० lvi)। पुरुष सूक्त (प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग मे उद्धृत) के पन्द्रह मन्त्रो मे, जो अनुष्टुप छन्द मे रचित हैं, यदि हम गत टिप्पणियो पर ध्यान दें तो, सामान्य रूप से मात्राओ की संख्या ठीक-ठीक ही मिलती है। इस प्रकार पहले मन्त्र की द्वितीय पक्ति मे 'वृत्वा' और 'अत्यतिष्ठत्' शब्दो को अलग-अलग ही पढना चाहिये, सन्धि करके नही। 'भाव्यम' (दूसरे मन्त्र की प्रथम पक्ति मे) को 'भावियम्' के रूप मे; 'व्यक्रामत्' (चौथा मंत्र, दूसरी पंक्ति) को 'विअक्रामत्' के रूप मे, 'आज्यम्' (आठवाँ मन्त्र, प्रथम पक्ति, यद्यपि छठवे मन्त्र की दूसरी पक्ति मे नही) को 'आजिअम्' के रूप मे, 'ग्राम्याश्च' (आठवाँ मंत्र, दूसरी पंक्ति) को 'ग्रामिआश्च' के रूप मे : 'व्यदधु.' और 'व्यकल्पयन्' (ग्यारहवे मन्त्र की पहली पक्ति) को 'विअदधु' और 'विअकल्पयन्' के रूप मे, और 'राजन्य' (बारहवाँ मन्त्र, पहली पक्ति) को 'राजनिअः' के रूप मे दीर्घ कर देना चाहिये।

[१८२] इस खण्ड को प्रेस के लिये सशोधित करते समय (जो मूलत १८५८

लिये खुली रही होगी जो स्वयं अपनी प्रकृति के कारण ही सभी बोली जाने वाली भाषाओं में होते रहते हैं। कालान्तर में, संस्कृत उससे कहीं अधिक भिन्न हो गई होगी जैसी वह मूलत: थी।[१८३] और, वास्तव में, भारतीय साहित्य के विवरणों से हमें पता चलता है कि संस्कृति, जैसी की वह विभिन्न शास्त्रों द्वारा हमें उपलब्ध है, अनेक स्तरों से होकर गुजर चुकी है। इसका सबसे आधुनिक रूप वह है जो हमें इतिहास-पुराण और स्मृतियों में मिलता है। यह निश्चित है कि इतिहास और पुराण को प्राचीनतम संस्कृत कृतियों के साथ वर्गीकृत नहीं करना चाहिये, क्योंकि इन सब में यह बात निहित है कि इनकी रचना के समय हिन्दुओं की प्राचीनता के अनेक अन्य प्राचीन विवरण भी थे जिनसे ही इनमें अनेक प्राचीन श्लोक उद्धृत भी किये गये हैं।[१८४] महा-

---

मे लिखा गया था) मुझे प्रो० मूलर के ऐन्शेण्ट संस्कृत लिटरेचर नामक ग्रन्थ की सहायता मिली है, जिसके कारण मैं कुछ विपयो की वृद्धि तथा अपनी पिछली उक्तियो मे परिवर्तन कर सका हूँ। (प्रथम स० की टिप्पणी)।

[१८३] मुझे भय है कि यहाँ मेरे विरुद्ध पतञ्जलि (महाभाष्य, पृ० १०४) को उद्धृत किया जा सकता है—"नित्याश् च शब्दा । नित्येपु च शब्देपु कूटस्थैर अविचालिभिर वर्णैर भवितव्यम् अनपायोपजन-विकारिभिः।" "शब्द नित्य है, और नित्य शब्दो की दशा मे अक्षरो को भी अपरिवर्तनशील तथा अविचल होना चाहिये जो किसी भी ह्रास, वृद्धि या परिवर्तन से मुक्त हो।" परन्तु भास्कराचार्य ने ज्योतिप के लिये जिन शब्दो का व्यवहार किया है वे समान रूप से व्याकरण के लिये भी व्यवहृत हो सकते हैं—'अत्र गणित-स्कन्धे उपपत्तिमान् एव आगम प्रमाणम्।" "ज्योतिप के क्षेत्र मे शास्त्र उसी समय प्रमाण हो सकता है जब वह उपपत्ति से पुष्ट हो।" यह उन अन्य सभी विपयो की दशा मे भी सत्य है, जो, व्याकरण के समान, विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं।

[१८४] ये सब के सब एक ही समय के नही है, इस बात को प्रसिद्ध भारतीय पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने भी अपनी बँगला पुस्तक ऋजुपाठ की भूमिका मे इन शब्दो मे स्वीकार किया है, "अन्य सब पुराणो की अपेक्षा विष्णु पुराण की रचना सबसे प्राचीन प्रतीत होती है। साधारणतया यह कहा जाता है कि सभी पुराणो की वेद व्यास ने रचना की थी। परन्तु विभिन्न पुराणो की शैलियो मे इतनी अधिक भिन्नता है कि उन्हे एक ही व्यक्ति की रचना नही

भारत में अक्सर ही 'अत्राप्य् उदाहरन्तीमम् इतिहासम् पुरातनम्' अर्थात् 'यहाँ इस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया गया है' शब्दों के साथ, जिनका अक्सर कोई भी अर्थ नहीं हो सकता, प्राचीन कथाओं का समावेश किया गया है। इन सभी विभिन्न वर्ग की कृतियों में, जो अपने वर्तमान रूप मे भारतीय साहित्य के अपेक्षाकृत हाल के अंश हैं, संस्कृत भाषा वस्तुतः एक ही है। इनमें से प्राचीनतम ग्रन्थों को भी जिस समय उनके वर्तमान रूप में रचा गया, उस समय भी हमें यह मानना चाहिये कि संस्कृत एक बोली जानेवाली भाषा के रूप में समाप्त होकर क्रमश. पाणिनि के पूर्ववर्ती वैयाकरणों तथा स्वयं पाणिनि और उनके उत्तराधिकारियों के सिद्धान्तों के अनुसार परिष्कृत और दृढ़ीकृत होकर केवल विद्वानों की भाषा रह गई थी।[१८५] यतः वैयाकरणों के सूक्ष्म नियमों द्वारा परिष्कृत, परिमार्जित, तथा दृढ़ीकृत इस भाषा की बोले जाने के रूप में समाप्ति हो गई, अतः यह किसी भी भावी परिवर्तन से रक्षित रही। इस प्रकार, संस्कृत भाषा लगभग २००० वर्षों से प्रायः अपरिवर्तित रही, और इसने प्रायः अपरिवर्तनशीलता का स्वरूप ही ग्रहण कर लिया, जब कि इसकी प्राचीनता, तथा अन्ततः इसने स्वरूप की जो पूर्णता प्राप्त करके उसे इतने दीर्घकाल से सुरक्षित रक्खा उसने, इसकी उत्पत्ति को दिव्य माने जाने का आधार प्रस्तुत कर दिया:–ठीक उसी प्रकार जैसे वह प्रत्येक शास्त्र जो अत्यन्त प्राचीन काल से अथवा अपेक्षाकृत बाद के समय से ही चला आ रहा है, भारत के लोगों द्वारा अलौकिक माना जाता है।[१८६] फिर भी, इस समय के पूर्व, तथा जब तक उच्च अथवा निम्न वर्ग के लोग साधारणतया संस्कृत

माना जा सकता। विष्णु पुराण का एक अश, भागवत पुराण का दूसरा अश, तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण का एक तीसरा अश पढने के बाद यह मानना नितान्त कठिन हो जाता है कि ये सभी अश एक ही लेखक की लेखनी से लिखे गये हैं। इसी प्रकार महाभारत, तथा विष्णु पुराण और उपरोक्त अन्य ग्रन्थो की शैलियो मे इतना अधिक अन्तर है कि यह कल्पना नही की जा सकती कि ये सब एक ही व्यक्ति की रचनायें है।"

[१८५] फिर भी, देखिये लासन द्वारा महाकाव्यो (इतिहास) और पुराणो मे किया गया विभेद जिसे ऊपर नोट १४९ मे उद्धृत किया गया है।

[१८६] दार्शनिक रामानुज और माधवाचार्य को क्रमश शेष और वायु का अवतार कहा गया है (विलसन हिन्दू सेक्ट, पृ० २४ और ८७)। वृहद्धर्म-पुराण मे शङ्कराचार्य को विष्णु का अवतार बताया गया है (कोलब्रुक एसेज् १.१०३, १०४)।

बोलते थे, इसके विभक्ति रूपों में सदैव परिवर्तन होते रहे। फलस्वरूप, उन कृतियों में, जो स्मृतियों और इतिहासों से अधिक प्राचीन हैं, हमें व्याकरणिक रूप में विभिन्न प्रकार के अन्तर मिलते हैं, और उनकी सम्पूर्ण शैली ही अपेक्षाकृत अधिक पुरातन है। ब्राह्मणों और उपनिषदों में भी कुछ सीमा तक स्थिति ऐसी ही है, जहाँ हमें वाक्यविन्यास की सरलता और शैली में पुनरुक्ति, तथ साथ ही साथ, अनेक ऐसे निपात और रूप-रचना की ऐसी प्रणालियाँ मिलती हैं जो बाद की कृतियों में अप्राप्य है।[१८७] फिर भी, ब्रह्मणों को वैदिक सूक्तों तथा अपेक्षाकृत अधिक आधुनिक सस्कृत का एक मध्यवर्ती स्तर ही मानना चाहिये। अतः यदि हमें संस्कृत के प्राचीनतम ज्ञात रूप तथा उसके आधुनिकतम स्वरूप के बीच के अन्तर के विस्तर को जानना है तो हमे ऋग्वदे के सूक्तों का, जिनमें से अनेक एक दूसरे तथा ब्राह्मणों से भी शताब्दियों के व्यवधान से पृथक हैं, आश्रय लेना होगा। इन सूक्तों में हमें विभक्ति तथा रूप-रचना के अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जो अपेक्षाकृत आधुनिक कृतियों मे नहीं मिल पाते, अथवा अनेक ऐसे भी शब्द मिलते हैं जो आधुनिक लेखकों की रचनाओं में या तो लुप्त हो गये हैं अथवा उनका एक भिन्न आशय में प्रयोग हुआ है। वास्तव में ये सूक्त निर्विवाद रूप से भारतीय साहित्य के प्राचीनतम अंग हैं। स्थिति ऐसी ही है, यह उस साहित्य की सम्पूर्ण प्रकृति तथा विषय-वस्तु से सिद्ध हो जाता है जो इन सूक्तों से सम्बद्ध है। ये सूक्त वेद के अनिवार्य अंग है, अन्य सब कृतियाँ जो वेद कही जाती है, सूक्तों पर आधारित तथा उनकी व्याख्या अथवा स्तुति-विषयक प्रयोग के व्याख्यान मात्र है। तैत्तिरीय संहिता (पृ० ९) के भाष्य, वेदार्थप्रकाश, में इस प्रकार कहा गया है : यद्यपि मन्त्र-ब्राह्मणात्मको वेदस् तथापि ब्राह्मणस्य मन्त्र-व्याख्यान-रूपत्वाद् मन्त्रा' एव आदौ समाम्नाताः। "यद्यपि वेद, मन्त्र और ब्राह्मण से मिल कर बना है, तथापि, ब्राह्मणों के मन्त्र-व्याख्यात्मक स्वरूप के कारण मन्त्र ही पहले संग्रहीत हुये।" और बृहदारण्यक उपनिषद् (बिबइ० सं० २.८५५) पर शङ्कराचार्य के भाष्य में उद्धृत

[१८७] इस प्रकार उदाहरण के लिये, कोई भी, जो आधुनिक सस्कृत से परिचित है, कौपीतकि ब्राह्मण से इस ग्रन्थ के प्रथम भाग मे उद्धृत स्थल की तुलना मे शैली की असमानता को देख सकता है। 'अभि सौदासान् अभवत्' अर्थात् 'वह सौदासो से श्रेष्ठ बन गया', मे 'अभवत्' क्रिया से 'अभि' निपात का पृथक्त्व वैदिक प्रयोग का अवशेष है। आधुनिक सस्कृत मे उपसर्ग को क्रिया से इस प्रकार पृथक् नही किया जायगा। शतपथ ब्राह्मण, ११ ५, १, १० और १२ मे यह प्राचीन रूप आता है 'तस्मात्' के लिये 'तात्'।

एक श्लोक में इस प्रकार कहा गया है : ब्राह्मण-प्रभवाः मन्त्राः। "मन्त्र ही ब्राह्मणों के स्रोत हैं।" यदि हम वेदों से सम्बद्ध साहित्य के सार्वाधिक हाल के अंशों से आरम्भ करके उत्तरोत्तर प्राचीनतम अंशों के अध्ययन की ओर अग्रसर हों तो यह बात और अधिक स्पष्ट हो जायगी।

प्रथम.—वेदों के दो सर्वाधिक हाल के भाष्यकारों में से एक सायण हैं जो ईसा की चौदहवीं शताब्दी[१८८] में हुये और जिन्होंने सम्पूर्ण ऋग्वेद पर वेदार्थ-प्रकाश नामक एक विस्तृत भाष्य की रचना की। दूसरे महीधर हैं जिन्होंने यजुर्वेद की वाजसनेयि संहिता पर वेददीप नामक भाष्य की रचना की।

द्वितीयः—इस प्रकार की कृतियों में वेद के प्राचीनतम विवेचकों, जैसे बृहद्देवता के लेखक शौनक, निरुक्तकार यास्क, तथा अनेक अन्य का, उनकी कृतियों से उद्धरण देते हुये उल्लेख मिलता है।

प्रोफेसर मूलर[१८९] वैदिक साहित्य को चार कालों में विभक्त करते हैं जो नीचे से ऊपर के क्रम में सूत्रकाल, ब्राह्मणकाल, मन्त्रकाल, और छन्दस्काल हैं। छन्दस् काल को, जिसमें ऋग्वेद संहिता में सुरक्षित प्राचीनतम सूक्तों की रचना हुई, मूलर ई० पू० १२०० से १००० के बीच रखते हैं। इसके पश्चात् ई० पू० १००० से ८०० तक मन्त्रकाल आता है जिसमे अपेक्षाकृत बाद के वैदिक सूक्तों की रचना हुई और सब को एक संहिता के अन्तर्गत एकत्र कर दिया गया। इस क्रम में ई० पू० ८०० से ६०० तक ब्राह्मणकाल आता है जिसमें प्रमुख ब्राह्मणसंज्ञक अंशों का सृजन तथा संग्रह हुआ।[१९०] और

---

[१८८] विलसन का ऋग्वेद संहिता, भाग १, प्रस्तावना, पृ० xlviii। मूलर. चिप्स (प्रथम सं०), पृ० २४। रॉथ (निरुक्त की प्रस्तावना, पृ० liii) महीधर को (यदि सायण को भी नहीं) सोलहवीं शताब्दी मे हुआ मानते है।

[१८९] देखिये उनका हिस्ट्री ऑफ ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ० ७०, २४४, २४९, ३१३, ४४५, ४९७, ५७२।

[१९०] प्रोफेसर हॉग का विचार है कि ये कृतियाँ और प्राचीन है। अपने ऐतरेय ब्राह्मण के संस्करण के प्रथम भाग की भूमिका (पृ० ४७) मे उन्होने इस प्रकार लिखा है "अत हमे अधिकांश ब्राह्मणो का रचना काल ई० पू० १४००–१२०० मानने मे संकोच नही करना चाहिये। संहिता के लिये हमे कम से कम ५००–६०० वर्षों की आवश्यकता है, और इसके अतिरिक्त ब्राह्मण काल तथा संहिताओ के बीच के समय मे लगभग २०० वर्षों का व्यवधान भी चाहिये। इस प्रकार हमे अधिकांश संहिताओ के लिये १४०० से २००० ई० पू० का समय उपलब्ध होता है। कुछ प्राचीनतम सूक्त तथा यज्ञीय

अन्त में, ई० पू० ६०० से २०० तक, सूत्रकाल आता है जिसमें एक अपेक्षाकृत पहले की परम्परा के सांस्कारिक सूत्रों को (ऐसे व्यक्तियों द्वारा, जो अपने पूर्वगामियों की ही भाँति प्रेरित नहीं माने जाते थे) पहले की अपेक्षा एक अधिक स्पष्ट, निश्चित, और व्यवस्थित रूप प्रदान किया गया। इस काल की कृतियों की सूत्रों के संक्षिप्त रूप में कदापि रचना नहीं की गई, और इनमें से कुछ श्लोकों में रचित थे और अन्य गद्य में।

अन्तिम वर्ग के अन्तर्गत यास्क की कृति भी आती है, जिन्हें (जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं) प्रोफेसर मूलर (चिप्स, पृ० ७४) ई० पू० पाँचवीं शताब्दी में हुआ मानते हैं। यास्क को अपने समय में निघण्टु नामक एक और पहले की कृति मिली जिसमें वैदिक तथा अज्ञात. अप्रचलित शब्दों की वर्गीकृत सूची थी। यास्क ने अपनी कृति के आरम्भ (१.१) में ही निघण्टु के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है : समाम्नायः समाम्नातः। स व्याख्यातव्य.। तम इमं समाम्नाय "निघण्टव" इत्य् आचक्षते। "एक समाम्नाय संकलित हुआ है जिसकी व्याख्या करनी चाहिये। इस संग्रह को निघण्टु कहते हैं।"[१९१]

पुन (१ २० में) इस प्रकार कथन है : साक्षात्कृत-धर्माणः ऋषय बभूवु.। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृत-धर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्राद्धुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्म-ग्रहणाय[१९२] इम ग्रन्थं समाम्नासिपुर् वेदं च वेदाङ्गानि च। [बिल्मम् भिल्मम् भासनम् इति वा]।[१९३]

मन्त्र इससे भी और पूर्व के हो सकते हैं। अत हमे वैदिक साहित्य के आविर्भाव का समय २४००–२००० ई० पू० के बीच मानना चाहिये।" इस ग्रन्थ के प्रथम भाग का पृ० २ और बाद देखिये।

[१९१] इस पर भाष्यकार दुर्गाचार्य ने इस प्रकार टीका है "स च [समाम्नाय] ऋषिभिर् मन्त्रार्थ–परिज्ञानाय उदाहरणभूत पञ्चाध्यायी शास्त्र-सग्रह-भावेन एकस्मिन् आम्नाये ग्रन्थीकृत इत्य् अर्थ।" "आशय यह है है कि यह समाम्नाय, जिसे ऋषियो ने मन्त्रो के आशय की व्याख्या करने की प्रणाली के उदाहरण के रूप मे ग्रथित किया है, पाँच अध्यायो के एक सग्रह मे उपलब्ध हुआ है।"

[१९२] "दास स्प्लिटरवीस फासेन," वी० और आर०।

[१९३] कोष्ठ मे दिये शब्दो को प्रो० रॉथ ने कृत्रिम माना है (निरुक्त, पृ० १४)। फिर भी, मैंने इन्हे उद्धृत किया है, क्योकि दुर्ग ने इनपर टीका की है।

"ऋषिगण धर्म का साक्षात्कार किये हुये थे। उन्होंने धर्म का साक्षात्कार न किये हुये अन्य लोगों को उपदेश द्वारा मन्त्र दिये। उपदेश में कष्ट पाते हुये इन अन्य लोगों ने वर्गीकरण के लिये यह ग्रन्थ, वेद और वेदाङ्ग बनाये: विल्म = भिल्म या भासन से।" यह स्थल तत्काल ही निरुक्त से निघण्टु की प्राचीनता तथा इससे भी अधिक उन सूक्तों की प्राचीनता सिद्ध कर देता है जो इन दोनों की ही व्याख्या के विषय हैं।'[१४]

इस स्थल (निरुक्त १ २०) पर भाष्यकार दुर्गाचार्य की टीका इस प्रकार है :—

साक्षात्कृतो यैर् धर्मः साक्षाद् दृष्टो प्रतिविशिष्टेन तपसा ते इमे "साक्षात्कृत-धर्माण."। के पुनस् ते इति। उच्यते। "ऋषयः" ऋषन्ति अमुष्मात् कर्मणः एवम्-अर्थवता मन्त्रेण संयुक्ताद् अमुना प्रकारेण एव-लक्षण-फल-विपरिणामो भवति इति ऋषय.। "ऋषिर् दर्शनाद्" इति वक्ष्यति। तद् एतत् कर्मणः फल-विपरिणाम-दर्शणम् औपचारिक्या वृत्त्या उक्त "साक्षात्कृत-धर्माणः" इति। न हि धर्मस्य दर्शनम् अस्ति। अत्यन्तापूर्वो हि धर्मः। आह। किं तेषाम् इति। उच्यते। "तेऽवरे-

[१४] अपने निरुक्त के स० की प्रस्तावना (पृ० xiii) मे प्रोफेसर रॉथ इस स्थल पर इस प्रकार टीका करते है —"यहाँ यास्क शब्दो तथा नामो के एक छोटे से सग्रह को, जो उनकी व्याख्या का आधार है, एक अपारिभाषित रूप से किसी ऐसी प्राचीन परम्परा से उद्भूत बताते है, जो वास्तव मे उस आरम्भिकतम समय से तो आरम्भ नही होती जब विश्वास तथा मतवाद बिना किसी कृत्रिम साधन के ही पुष्पित-पल्लवित होते थे, बल्कि उस युग के बाद की पीढियो से उद्भूत है जो उत्तराधिकार के रूप मे प्राप्त विधियो को व्यवस्थित और लिपिबद्ध करके सुरक्षित रखने का प्रयास कर रही थी। आगे, वह नैघण्टुक को वेदो तथा वेदाङ्गो के वर्ग मे रखते हैं। वेदो की रचना से, जिन्हे यास्क यहाँ भारतीय इतिहास के द्वितीय काल के अन्तर्गत रखते है, उनका ऋषियो से प्राप्त सूक्तो के सृजन से तात्पर्य नही हो सकता क्योकि सूक्तो को भारत मे सदैव से वेदो का अनिवार्य अग माना जाता रहा है, तथा हमारे सामने जो स्थल है उसमे यास्क ने भी उन्हे ऐसा ही माना है। अत बाद की पीढियाँ अधिक से अधिक जो कर सकती थी वह इन सूक्तो को व्यवस्थित करके लिपि-बद्ध करना मात्र था। हमे यहाँ आरम्भिक युगो के मानसिक सृजनो के अपेक्षाकृत एक बाद के समय मे लिपिबद्ध किये जाने का उल्लेख मिलता है, और यह एक ऐसी घटना है जिसके भारतीय साहित्य के इतिहास पर प्रभाव के सम्बन्ध मे अभी पर्याप्त ध्यान नही दिया गया है।"

भ्योऽसाक्षात्कृत-धर्मभ्यः उपदेशेन मन्त्रः सम्प्राद्ुः" । ते ये साक्षात्कृत-धर्माणस् तेऽवरेभ्योऽवर-कालीनेभ्यः शक्ति-हीनेभ्यः श्रुतर्षिभ्यः । तेषां हि श्रुत्वा ततः पश्चाद् ऋषित्वम् उपजायते न यथा पूर्वेषां साक्षात्कृत धर्माणां श्रवणम् अन्तरा एव । आह । किं तेभ्यः इति । तेऽवरेभ्यः "उपदेशेन" शिष्योपाध्यायिकया वृत्त्या मन्त्रान् ग्रन्थतोऽर्थतश् च "सम्प्राद्ु"सम्प्रत्तवन्तः । तेऽपि च उपदेशेन एव जगृहुः । अथ तेऽप्य् "उपदेशाय ग्लायन्तः अवरे बिल्म-ग्रहणाय इम ग्रन्थं समाम्नासिपुर् वेदं च वेदाङ्गानि च" इति । "उपदेशाय" उपदेशार्थम् । कथ नाम उपदिश्यमानम् एते शक्नुयुर् गृहीतुम् इत्य् एवम् अर्थम् अधिकृत्य ग्लायन्तः खिद्यमानाः तेष्व् [?] अगृह्णत्सु तद्-अनुकम्पया तेषाम आयुषः सङ्कोचम् अवेक्ष्य कालानुरूपा च ग्रहण-शक्तिम् "बिल्मग्रहणाय इम ग्रन्थम्" गवादि-देवपत्न्य्-अन्त समाम्नातवन्तः । किम् मतम् एतेन इति । उच्यते । "वेद च वेदाङ्गानि च" इतराणि इति । कथम् पुनः समाम्नासिपुर इति । आह । शृणु । वेदं तावद् एक सन्तम् अतिमहत्त्वाद् दुरध्येयम् अनेक-शाखा-भेदेन समाम्नासिपु' सुख-ग्रहणाय व्यासेन समाम्नातवन्तः । ते ते एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् एकशतधा आध्वर्यव सहस्रधा सामवेदं नवधा आथर्वणम् । वेदाङ्गान्य् अपि । तद् यथा । व्याकरणम् अष्टधा निरुक्तं चतुर्दशधा इत्येवम्-आदि । एवं समाम्नासिपुर् भेदेन ग्रहणार्थम् । कथम् नाम । भिन्नान्य् एनानि शाखान्तराणि लघूनि सुखं गृह्णीयुर् एते शक्तिहीनाः अल्पायुषो मनुष्याः इत्य् एवम्-अर्थम् समाम्नासिपुः । बिल्म शब्दम् भाष्य-वाक्य-प्रसक्तं निर्ब्रवीति । यद् एतद् बिल्मम् इत्य् उक्तम् एतद् भिल्मम् वेदानाम् भेदनम् । भेदो व्यासः इत्य् अर्थः । "भासनम् इति वा" । अथवा भासनम् एवम् बिल्म-शब्देण उच्यते । वेदाङ्ग-विज्ञानेन भासते प्रकाशते वेदार्थः इति । अतः इदम् उक्तम् बिल्मम् इति । एवम् भिदेर् भासतेर् वा बिल्मशब्दः । एवम् इदम् ऋषिभ्यो निरुक्तशास्त्रम् आयातम् इतराणि च अङ्गाणि इति परिशोधितः आगमः ।

"साक्षात्कृत धर्माण.' शब्दों से उन लोगों को व्यक्त किया गया है जो धर्म का साक्षात्कार किये हुये थे, अर्थात् जो लोग विशिष्ट तप द्वारा धर्म का साक्षात्कार किये हुये थे । पुनः, वे कौन थे ? ऋषिगण[५०५] जिन्हें इसलिये इस

[५०५] ऋषियो के विभिन्न प्रकारो तथा वशो के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम और तृतीय भाग, तथा प्रोफेसर आफरेख्त का कैटलॉग, पृ० ४१, कालम २, देखिये ।

नाम से पुकारते हैं क्योंकि वे ऋपते (प्रवाहित होते) हैं; क्योंकि किसी अर्थ-पूर्ण मंत्र से संयुक्त किसी कर्म विशेष को किसी विशेष प्रकार से सम्पन्न करने पर उसके परिणामस्वरूप विशेष फल प्राप्त होते हैं। और ग्रन्थकार बाद में यह स्पष्ट करेगा कि 'ऋषि' शब्द 'दर्शन करने' से उत्पन्न हुआ है। यहाँ जिन्हें धर्म का साक्षात् दर्शन हो चुका है उन्हे औपचारिक रूप से ऐसा देखनेवाला कहा गया है जैसे किसी कर्म से फल निकलता है, क्योंकि धर्म को देखा नहीं जा सकता, यह ऐसा है जो सर्वथा अदृश्य होता है। ग्रन्थकार कहता है। परन्तु इन ऋषियों का क्या? आगे कहता है: "उन लोगों (ऋषियों) ने मौखिक उपदेश द्वारा उत्तरवर्ती ऐसे लोगों को मन्त्र प्रदान किये जो उनके समान धर्म का साक्षात्कार नहीं किये हुये थे, अर्थात् ऐसे ऋषियों ने, जो धर्म का साक्षात्कार किये हुये थे, उत्तरवर्ती लोगों को मन्त्रों का उपदेश दिया—ऐसे लोगों को जो एक उत्तरवर्ती समय के शक्तिहीन 'श्रुतर्षि' थे: ऐसे 'ऋषि' जिनका ऋषित्व उससे उत्पन्न हुआ जो उन्होंने दूसरों से श्रवण किया, अर्थात् वह बिना श्रवण किये उत्पन्न नहीं हुआ, जैसा कि, इसके विपरीत, उन प्राचीन ऋषियों की दशा में था जो धर्म का साक्षात्कार किये हुये थे। वह आगे कहता है। उन प्राचीन ऋषियों ने इन उत्तरवर्ती ऋषियों के लिये क्या किया? उन लोगों ने उपाध्याय-शिष्य वृत्ति के रूप में ग्रन्थ तथा अर्थ के अनुसार[१९६] मन्त्रों को दान किया, तथा शिष्यों ने उन्हें उपदेश के रूप में ग्रहण किया। तदनन्तर इन उत्तरवर्ती लोगों ने दुखी होकर[१९७] उपदेशार्थ इस वेद तथा वेदाङ्गों को सरल उपाय से ग्रहण के लिये ग्रथित किया। उपदेश के लिये वे इस कारण दुखित हुये कि उनके शिष्य मौखिक उपदेश से उपदिष्ट विषय को समझ नहीं सकेंगे। और जब वे इन्हें ग्रहण नही कर सके तब उन पर अनुकम्पा करने की दृष्टि से, और कालानुरूप उनके अल्पायुष्य तथा उनकी ग्रहणशक्ति में ह्रास को देखकर उन लोगों ने 'गौ' से आरम्भ तथा 'देवपत्न्यस्' से अन्त होने वाले इस ग्रन्थ (निघण्टु) को, ग्रहण करने की सुविधा की दृष्टि से विषयवस्तु का विभाजन

---

[१९६] मूलर (ऐसलि०, पृ० ५२२) ने भी 'ग्रन्थतो अर्थतश्च' का इसी प्रकार अनुवाद करते हुये 'ग्रन्थ' शब्द से 'लिखित ग्रन्थ' का आशय नही माना है। प्रोफेसर गोल्डस्टूकर ने भी इस अनुवाद को स्वीकार किया है (पाणिनि, पृ० ३२), यद्यपि उनका विचार है कि 'ग्रन्थ' शब्द का उपयुक्त अर्थ 'लिखित पुस्तक' है (वही पृ० २७)।

[१९७] ऊपर पृ० पर यह देखा जा सकता है, कि मैंने 'ग्लायन्त' शब्द को 'रूप चलाने' के अर्थ मे ग्रहण किया है।

उनके ग्रथित किया। ग्रन्थकार अब बताता है कि वेदों तथा वेदाङ्गों से क्या तात्पर्य है। परन्तु उन लोगों ने इन ग्रन्थों का किस प्रकार ग्रथन किया? वह कहता है: सुनो! विभाजन के द्वारा उन्होंने वेद को (जो अब तक एक होने से अपने विस्तार के कारण दुर्ग्राह्य था) सरलता से ग्रहण के लिये अनेक शाखाओं में व्यवस्थित कर दिया। ऋग्वेद को २१ शाखाओं में, यजुर्वेद को १०१ में, सामवेद को १,००० में, अथर्ववेद को ९ में विभक्त किया गया। इसी प्रकार वेदाङ्गों को भी विभक्त किया गया। व्याकरण को ८ में, निरुक्त को १४ में, इत्यादि, जिससे वे विभाजित विषयवस्तु के कारण इन्हें सरलता से ग्रहण कर सकें क्योंकि वे शक्तिहीन और अल्पायु मनुष्य विभिन्न शाखाओं में विभाजित तथा विस्तार में सीमित कर दिये जाने के कारण इन्हें ग्रहण कर सकें। अब 'विल्म' शब्द की व्याख्या करते हैं। विल्म=भिल्म, जिसका अर्थ है वेदों का भेदन और यह भेदन पृथक् पृथक् व्यवस्था का द्योतक है। अथवा इसका अर्थ 'भासनम्' या प्रकाशन है; अर्थात वेदों के आशय का वेदाङ्गों के ज्ञान से अधिक स्पष्टीकरण हो जाता है। इस प्रकार 'विल्म' 'भिद्' अथवा 'भास्' धातु से बनता है। इस प्रकार यह निरुक्तशास्त्र तथा अन्य वेदाङ्ग ऋषियों से प्राप्त हुआ है। इस प्रकार शास्त्र का स्पष्टीकरण हो गया।"

निघण्टु अथवा शब्दों की उस सूची को, जो उपरोक्त व्याख्या का विषय-वस्तु है, यास्क ने अपने ग्रन्थ, निरुक्त, के आरम्भ में रक्खा है, और उन पर टीका करने के पश्चात वह वेदों की जटिलता का स्पष्टीकरण करते हैं।[१८] जब यास्क के इस ग्रन्थ की रचना हुई, अथवा उससे भी बहुत पहले के समय में,

यह स्पष्ट है कि अनेक वैदिक शब्दों के आशय सामान्यतया विस्मृत हो चुके थे। यह तथ्य स्वयं निघण्टु और निरुक्त जैसे ग्रन्थों की रचना मात्र से स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि यदि वेदों के अध्येता इन शब्दों के आशय से परिचित होते तो वैदिक शब्दों के संग्रह की आवश्यकता ही क्या थी? अपने ग्रन्थ जैसी कृतियों की आवश्यकता का यास्क ने निम्नोद्धृत स्थल (निरुक्त १ १५) पर स्पष्टीकरण किया है:

अथापि इदम् अन्तरेण मन्त्रेष्व् अर्थ-प्रत्ययो न विद्यते। अर्थम् अप्रतियतो नात्यन्त स्वर सस्कारोद्देशः। तद् इद विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थ-साधक च।

"इस (निरुक्त) के विना मन्त्रों में अर्थ का बोध नहीं होता। अर्थ का ज्ञान नहीं रखनेवाला निश्चित रूपों से स्वर तथा व्याकरणिक रूप का निर्णय नहीं कर सकता, अतः यह (निरुक्त) एक विद्या स्थान है, व्याकरण का पूरक तथा अपने कार्य का भी साधक है।"[199]

उनके (यास्क के) अनेक अन्य स्थलों से भी यही बात स्पष्ट होती है जहाँ उन्होंने निरुक्ति[200] (जो एक अनुभवार्थक विधि है, और यदि शब्दार्थ

---

[199] इस स्थल का रॉथ ने अपने निरुक्त मे पृ० ११ पर अनुवाद किया है सायण अपनी ऋग्वेदभाष्यभूमिका (भाग १, पृ० ३९) मे इस प्रकार कहते हैं "तस्माद् वेदार्थावबोधाय उपयुक्त निरुक्तम्।" "वेदार्थ के बोध के लिये निरुक्त उपयुक्त है।"

[200] देखिये रॉथ निरुक्त, पृ० २१९ और वाद "वैदिक व्याख्या यह कल्पना करने के अतिरिक्त अपने लिये इससे अधिक और किसी भी वाधा का सृजन नही कर सकी है कि भारतीय भाष्यकार त्रुटिरहित थे और उन्होने ऐसी परम्पराओ को उत्तराधिकार मे प्राप्त किया था जो एकमात्र महत्व रखते थे। एक मामूली परीक्षण भी यह दिखा देता है कि उनकी व्याख्या की योजना परम्परा के ठीक विपरीत है, अर्थात् वह व्याकरणिक और निरुक्तिमूलक योजना है जो परम्परा से केवल इसी त्रुटिपूर्ण विधि मे सहमत है कि प्रत्येक श्लोक, प्रत्येक पक्ति, और प्रत्येक शब्द की व्याख्या करनी चाहिये, और इस वात का कही भी अनुसन्धान नही किया गया है कि इस प्रकार प्राप्त निष्कर्ष अन्य क्षेत्रो द्वारा प्राप्त या निष्कृष्ट परिणामो के अनुकूल है या नही। यदि इस तथ्य को, कि किसी भी भाष्यकार को किसी देवता विशेष के कार्य से अथवा उन सूक्तो से जिनका वे सदैव अपनी व्याख्या मे समावेश करते हैं, सम्बद्ध सरल धारणाओं के अतिरिक्त और कोई सामग्री उपलब्ध नही होती, इस वात का प्रमाण मान

पूरी तरह ज्ञात होते तो इसकी आवश्यकता न पड़ती) के अनुसार वैदिक शब्दों की व्याख्या करने का प्रयास किया है अथवा अपने पूर्वगामी व्याख्या-कारों के उन विभिन्न वर्गों के मतों का उद्धारण दिया है जिन्हीं अलग अलग

लेना चाहिये कि उन लोगों ने एक परम्परा को उत्तराधिकार में प्राप्त किया है, तो कम से कम यह स्वीकार ही करना होगा कि विचारों की यह विपन्नता कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसके लिये लालायित रहा जाय। यह सत्य है कि धारणाओं के इस समूह में वे विद्वत्तापूर्ण विचार सम्मिलित हैं जिन्हें एक बहुत पहले के समय में ही इनमें समाविष्ट कर लिया गया था, परन्तु यह कार्य भी उस समय हुआ जब सूक्तों का अध्ययन विद्वानों का विषय बन गया, और धार्मिक दृष्टिकोण तथा ऐसी सामाजिक परिस्थितियाँ जिनपर ये धार्मिक दृष्टिकोण आधारित थे, अपनी समस्त जीवित वास्तविकता खो चुके थे। ..... सायण अथवा बाद के किसी भी अन्य भाष्यकार के सम्बन्ध में जो बात सत्य है, वही यास्क के लिये भी समान रूप से कही जा सकती है। ये (यास्क) भी एक विद्वान् व्याख्याकार हैं जो अपने पूर्वगामियों द्वारा एकत्र सामग्री के आधार पर कार्य करते हैं। फिर भी, समय की दृष्टि से उन्हें विस्तृत तथा क्रमिक भाष्यों के उन पूर्वगामी संग्राहकों की अपेक्षा असीम सुविधा प्राप्त थी, और ये स्वयं भी एक भिन्न साहित्यिक काल में हुये थे, अर्थात् ऐसे काल में जब संस्कृत अभी भी एक स्वाभाविक विकास की अवस्था से होकर गुजर रही थी।" तुलना कीजिये बेनफे की टीका जो उन्होंने अपने सामवेद की प्रस्तावना' पृ० lxv और बाद में व्यक्त की है। वहाँ वे इस प्रकार विचार प्रगट करते हैं "वेदों की प्राचीनतम व्याकरणिक अथवा भाष्यात्मक रचनाओं की जो भी प्राचीनता स्थापित की जाय, इतना स्पष्ट है कि इनमें तथा सूक्तों के एक अधिकांश भाग की रचना के बीच एक दीर्घ अवधि का व्यवधान निश्चित प्रतीत होता है, जिस अवधि में वेदों के अर्थ की विशिष्टता का बहुत कुछ विस्मृत हो गया। अत उनकी व्याख्या प्रमुखत (जैसा कि न केवल उन भाष्यों से ही, जिन्हें यास्क ने उद्धृत किया है, वरन् स्वयं उनके निरुक्त से भी प्रगट होता है) व्युत्पत्ति या निरुक्ति, प्रसंग से निष्कृष्ट परिणामों तथा समान स्थलों की तुलना पर ही आधारित है। व्याख्या के आरम्भिकतम प्रयास ब्राह्मणों के निगमों में, निघण्टु में, तथा निरुक्त में ही निहित प्रतीत होते हैं, जिनमें से सायण ने (ऋग्वेद, भाग १, पृ० ४४, पंक्ति १६ और १८) में यास्क के अतिरिक्त अन्य दो, एक शाकपूणि के और दूसरे स्थौलाष्ठीवि के, निरुक्तों का भी उल्लेख किया है।"

विभिन्न व्याख्यायें की है। इससे यह भी पता चलता है कि यास्क के समय में भी मन्त्रार्थ का अनुसन्धान बहुत पहले से ही विभिन्न मतप्रवर्तक सम्प्रदायों के विद्वानों का विषय बन चुका था। निम्नोद्धृत स्थल इस बात का उदाहरण तो प्रस्तुत करेगा ही, साथ ही, यास्क के समय प्रचलित शास्त्रार्थों की विधि तथा उनके विषयवस्तु के प्रति भी कुछ अन्तर्दृष्टि प्रदान करेगा। निरुक्त १. १५, १६ में वे (पिछले स्थल के क्रम में ही) वेदार्थ की व्याख्या के सम्बन्ध में अपने एक पूर्वगामी, कौत्स [२०१], के विचारों का उल्लेख करते हैं :

"यदि मन्त्रार्थ-प्रत्ययाय अनर्थकम् भवति" इति कौत्सः। "अनर्थकाः हि मन्त्राः। तद् एतेन अपेक्षितव्यम्। नियत-वाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्याः भवन्ति। अथापि ब्राह्मणेन रूप-सम्पन्नाः विधीयन्ते। 'उरु प्रथस्व' इति प्रथयति। 'प्रोहाणि' इति प्रोहति। अथापि अनुपपन्नार्था भवन्ति। 'ओषधे त्रायस्व एनम्'। 'स्वधिते मा एनं हिंसीर्' [तैत्ति०सं० १. २, १] इत्य् आह हिंसन्। अथापि प्रतिषिद्धार्थाः भवन्ति। 'एकः एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः'। 'असंख्याता सहस्राणि ये रुद्राः अधि भूम्याम्'। 'अशत्रुर् इन्द्र जज्ञिषे'। 'शत सेनाः अजयत् साकम् इन्द्र"। इति। अथापि जानन्तम् सम्प्रेष्यति 'अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि' इति। अथाप्य् आह 'अदितिः सर्वम्' इति 'अदितिर् द्यौर् अदितिर् अन्तरिक्षम्' इति"। तद् उपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः। "अथाप्य् अविस्पष्टार्थाः भवन्ति। 'अम्यक्'। 'यादृश्मिन्'। 'जारयायि'। 'काणुका' इति"। अर्थवन्त : शब्द-सामान्यात्। "एतद् वै यज्ञस्य समृद्धम् यद् रूप समृद्धम् यत् कर्म क्रियमाणम् ऋग् यजुर् वाऽभिवदति" (ऐतरेय ब्राह्मण १.४) इति च ब्राह्मणम्। "क्रीळन्तौ पुत्रैर् नप्तृभिर्" इति। यथो एतद् "नियतवाचो युक्तयो नियतनुपूर्व्याः भवन्ति" इति लौकिकेष्व् अप्य् एतद् यथा "इन्द्राग्नी" "पितापुत्राव्"इति। यथो एतद् "ब्राह्मणेन रूप-सम्पन्ना विधीयन्ते" इत्य् उदितानुवादः स भवति। यथो एतज् "अनुपपन्नार्थाः भवन्ति" इत्य् आम्नायवचनाद् अहिंसा प्रतीयेत। यथो एतद् "विप्रतिषिद्धार्थाः भवन्ति" इति। लौकिकेष्व् अप्य् एतद् यथा "असपत्नोऽयम् ब्राह्मणः" "अनमित्रोऽयं राजा" इति। यथो एतज् "जानन्त सम्प्रेष्यति" इति जानन्तम् अभिवादयते जानते मधुपर्कम् प्राह इति। यथो एतद्

---

[२०१] देखिये रॉथ तसुवे० पृ० २१ और बाद, जहाँ वे इस प्रकार लिखते हैं. युक्तिवादी कौत्स वेद को निरर्थक तथा ब्राह्मणो को मिथ्या व्याख्या करनेवाले मानने का प्रयास करते हैं।"

"अदितिः सर्वम्" इति लौकिकेष्व् अप्य एतद् यथा सर्वरय् साः अनुप्राप्ताः पाणीयम्" इति । यथो एतद् 'अविस्पष्टार्थाः भवन्ति" इति । न एष स्थाणोर् अपराधो यद् एनम् अन्धो न पश्यति पुरुष-पराधः स भवति । यथा जानपदीपु विद्यातः पुरुप विशेपो भवति । पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृपु भूयो-विद्य प्रशस्तो भवति ।

इस स्थल के अपने अनुवाद में मैं कौत्स की आपत्तियों के सामने ही यास्क के समाधानों को रख रहा हूँ (यद्यपि मूल में ये दोनों पृथक् और एक के बाद दूसरे हैं)। इस व्यवस्था से स्थान की भी बचत होगी और इस शास्त्रार्थ का विषय भी अधिक स्पष्ट हो जायगा ।[202]

कौत्स की शंकायें	यास्क के समाधान
१. "यदि (निरुक्त) मन्त्र का अर्थबोध कराने के लिये है तो व्यर्थ है क्योंकि मन्त्र स्वयं अर्थ से रहित हैं । इस (निरुक्त) के द्वारा निर्णय देखें ।"	१. "(लौकिक और वैदिक वाक्यों में) शब्द की समानता होने के कारण वे (मंत्र) अर्थयुक्त हैं । एक ब्राह्मण (ऐतरेय १.४) में ऐसा कहा गया है : 'यज्ञ की पूर्णता यही है कि प्रयोजन बतलाये जाने पर पूर्ण होते हैं, तथा किये जानेवाले कर्म का वर्णन ऋग् या यजु' करते हैं ।'[203] लौकिक और वैदिक शब्दों की समानता का एक उदाहरण यह भी है : 'बेटे और पोतों के साथ तुम दोनों खेलते हुये' इत्यादि ।'
२. "ये मन्त्र निश्चित शब्द रचनावाले और निश्चित क्रमवाले होते हैं ।"	२. "यह बात तो लौकिक शब्दों में भी होती है, जैसे 'इन्द्राग्नी,' 'पितापुत्रौ' ।"

[202] देखिये इस स्थल का डा० रॉय का अनुवाद उनके अमण्डलुञ्जेनो में से प्रथम के पृ० २१ तथा निरुक्त के एरलाटरुञ्जेम् के पृ० ११-१३ में । फिर भी, इस स्थल के कुछ अंश ऐसे हैं जिनके आशय को मैं स्पष्ट रूप से समझ नहीं सका हूँ ।

[203] इस पाठ को प्रो० हॉग के अनुवाद (पृ० ११) से लिया गया है । निरुक्त में उद्धृत शब्द, यजुर् वा' के अतिरिक्त, ऐत० ब्रा० १ ४ में आते हैं ।

कौत्स की शंकायें

३. ब्राह्मणों के द्वारा मन्त्रों के प्रयोजन निश्चित किये जाते हैं : इस प्रकार 'चारों ओर फैलाओ' [वाज० सं० १.२२] तो फैलाता है, 'ठेलू', तो ठेलता है।"

४. "मन्त्रों के अर्थ असंगत है—'हे ओषधि ! इसे बचाओ।' 'मारते हुये कहता है कि 'हे कुल्हाडी, इसे मारो मत" [तैत्ति० सं० १.२, १, देखिये वाज० सं० ४.१; ६.१५ भी]।

५. "ये मन्त्र परस्पर विरुद्ध अर्थवाले होते हैं : जैसे 'एक रुद्र था दूसरा नही' और पुनः 'जो असंख्य, सहस्रों रुद्र पृथिवी पर हैं' [वाज० सं० १६.५४], और 'हे इन्द्र, तुम शत्रुहीन उत्पन्न हुये हो' [ऋग्वेद, १०.१३३,१]। और पुनः 'इन्द्र ने सैकडों शत्रु-सेनायें एक साथ जीत लीं [ऋग्वेद १०,१०३, १]।"

६. "पुन', जानकार को ही विधि बतलाते है, जैसे [अध्वर्यु सर्वज्ञ होता से कहता है कि (शत० ब्रा० १.३, ५, २] 'अग्नि के लिये सामधेनि ऋचायें पढ़ो'।"[२०४]

७. "पुनः, यह कहा है कि अदिति सब कुछ है—आदिति स्वर्ग है, अदिति अन्तरिक्ष है" [ऋग्वेद, १.८९, १०]।

यास्क के समाधान

३. "यह, जो कहा जा चुका है, उसी की आवृत्ति मात्र है [अतः इसके और अधिक उत्तर की आवश्यकता नहीं]।"

४. "(यह जो कहा कि 'मन्त्रों के अर्थ असगत हैं') इसमें वेद के वाक्य से अहिंसा का ज्ञान हो सकता है।"

५. "ऐसा तो लौकिक वाक्यों में भी है, जैसे 'यह ब्राह्मण शत्रुहीन है,' 'यह राजा शत्रुहीन है'।"

६. "यह कहा कि 'जानकार को ही विधि बतलाते हैं' यह जानकार का अभिवादन है। जाननेवाले के सामने ही 'मधुपर्क' कहा जाता है।"

७. "इसकी व्याख्या बाद में करेंगे [देखिये निरुक्त, ४.२३]। ऐसा लौकिक वाक्यों मे भी है, जैसे 'पानी में सब रस प्राप्त है'।"[२०५]

---

२०४ देखिये मूलर, ऐसलि०, पृ० ४७२, नोट १।

२०५ तुकी० रघुवंश १०-१६ : 'रसान्तराण्य् ऐकरस यथा दिव्यम् पयोऽ-

कौत्स की शंकायें	यास्क के समाधान
८. "वे (मन्त्र) अस्पष्ट अर्थवाले हैं, जैसे अम्यक् [ऋग्वेद १.१६९,३], यादृश्मिन् [ऋग्वेद, ५.५४, ८], 'जारयायि' [ऋग्वेद ६.१२,४], 'काणुका' [ऋग्वेद ८.६६,४]'[१०८]	८. "यह सूर्ये वृक्ष का दोष नहीं कि उसे अन्धा नहीं देख पाता। यह उस व्यक्ति का ही दोष है। जैसे मनुष्यों के साधारण कामों में ज्ञान के कारण मनुष्यों में अन्तर होता है, वैसे परम्परा में ज्ञान पानेवाले लोगों में तो अधिक विद्यावाला ही प्रशंसनीय होता है।"

भाष्यकार दुर्ग इस स्थल की व्याख्या नहीं करते। उन्होंने इसके सम्बन्ध में बस इतना ही कहा है:—

अथापि इदम् अन्तरेण-पद-विभागो न विद्यते। शास्त्रारम्भप्रयोजनाधिकारे-वर्त्तमाने अथ इदम् अन्तरेण मन्त्रेष्व् अर्थावधारण नास्ति इत्य् उक्ते यदि मन्त्रेत्यादिना आनर्थक्य-हेतुभिर् बहुभिर् आनर्थक्ये उपपादिते निरुक्त-शास्त्रस्य कौत्सेन मन्त्राणाम् अर्थवत्तं स्थापयित्वा पर-पक्ष-हेतवः प्रत्युक्ताः। तेषु स्थितम् अर्थवत्वम् मन्त्राणाम्। तेषाम् अर्थनिर्वचनाय इदम् आरभ्यमाणम् अर्थवद् इत्य उपपन्नम् अर्थवत्त्व निरुक्त-शास्त्रस्य। तद् एतत् सर्वम् अपि चोदक-शास्त्रकार—व्याजेन प्रसक्तानुप्रसक्तम् उक्तम् प्रज्ञायाः विवृद्धये-शिष्यस्य। कथ नाम असाव् अविवृद्ध-प्रज्ञः शब्दार्थ न्याय-संकटेषु हेतु-समयानभिज्ञ पर. प्रतिवध्यमानोऽपि पदार्थान् वाक्यार्थांश् च असम्मोहेन निर्ब्रूयाद् इति।

"इस शास्त्र के प्रयोजन तथा अध्ययन सम्बन्धी विद्यार्थी के अधिकार को स्वीकार करते हुये, तथा इस विधान के कारण कि निरुक्तशास्त्र के विना मन्त्रों का अर्थज्ञान नहीं होता, कौत्स ने मन्त्रों के अर्थविहीन होने के सम्बन्ध में अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैं, और इन्हीं पर वे अपनी इस उक्ति को आधारित करते हैं

श्नुते।' "जैसे वर्षाजल में केवल एक ही रस होता है, परन्तु (भूमि पर गिरने के बाद) अन्य रसो से युक्त हो जाता है।"

[१०८] देखिये जएसो०, भाग २, न्यू सिरीज, पृ० ३२९, ३३४, ३३७, में वेद की व्याख्या से सम्बद्ध मेरा लेख। देखिये रॉथ और वॉटलिङ्क के कोश में 'भ्यक्ष,' 'यादृश,' (३) 'गर,' और 'काणुका', तथा अथर्ववेद, पृ० २१, पर रॉथ का शोधनिवन्ध भी।

कि निरुक्तशास्त्र व्यर्थ है। दूसरी ओर यास्क ने मन्त्रों के अर्थयुक्त होने की पुष्टि करते हुये अनेक तर्क दिये हैं, और उन्होंने तदनुसार अपने पक्ष की स्थापना भी की है। और यतः यह ग्रन्थ (निरुक्त), जिसका आरम्भ किया जा रहा है, मन्त्रों के अर्थ की व्याख्या करने के लिये उपयोगी है, अतः इसका प्रयोजन स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार एक आपत्तिकर्त्ता[२०७] [जिसकी शंकाओं का निरुक्तकार ने समाधान किया है] के बहाने, विद्यार्थी की बुद्धि में वृद्धि करने की दृष्टि से प्रश्न के दोनों पक्षों के तर्कों को प्रस्तुत करने का अवसर प्रस्तुत किया गया है। क्योंकि, एक अपरिपक्व-प्रज्ञ विद्यार्थी, जो शब्दार्थों के निर्णय की कठिनाई उत्पन्न होने पर, यदि वह तर्कों और निष्कर्षों से भी अनभिज्ञ है, तथा यदि उसके मार्ग में अन्य लोग भी बाधा उत्पन्न कर रहे है, किस प्रकार शब्दों और वाक्यों की बिना सम्मोहित हुये व्याख्या कर सकता ?"

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि दुर्गाचार्य ने कौत्स को केवल एक ऐसा काल्पनिक व्यक्ति माना है जिसके द्वारा यास्क ने वेदार्थ के महत्व के विरुद्ध कुछ शंकायें प्रस्तुत कराकर स्वयं उनका प्रतिवाद किया है। फिर भी, कौत्स को, जिसका नाम एक ब्राह्मण (मूलरः ऐसंलि, पृ० १८१, ४४२) में आचार्यों की वंश-तालिका में भी आता है, एक काल्पनिक 'देवदत्त' नाम की ही भाँति, तथा निरुक्त में ही उल्लिखित अनेक पूर्वगामियों के नामों की ही भाँति, एक काल्पनिक व्यक्तित्व के रूप में ही क्यों न देखा जाय? इसके अतिरिक्त इस बात के लिये कोई अन्य कारण नहीं प्रतीत होता कि दुर्गाचार्य, सम्भवतः, यह नहीं चाहते थे कि उनके समकालीन इस बात का विश्वास करें कि पूर्वसमय में कुछ ऐसे प्राचीन वैयाकरण हो चुके थे जो या तो वेद के प्रामण्य को अस्वीकार करते थे अथवा वेदार्थ की व्याख्या करने के सम्बन्ध में परम्परागत विधियों से उनका कोई मतभेद था।

निरुक्त २.१६ में यास्क ने 'वृत्र' शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में अनेक पूर्वगामी मतसम्प्रदायों के विचारों का उल्लेख किया है.—

तत् को वृत्रः। "मेघः" इति नैरुक्ताः। "त्वाष्ट्रोऽसुरः" इत्य् ऐतिहासिकाः। अपां च ज्योतिषश् च मिश्रीभाव-कर्मणो वर्ष-कर्म जायते। तत्र उपमार्थेन युद्ध-वर्णाः भवन्ति। अहि-वत् तु खलु मन्त्र-वर्णाः ब्राह्मण-वादाश् च। विवृद्ध्या शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाञ्चकार। तस्मिन् हते प्रसस्यन्दिरे आपः।

---

२०७ मैंने पहले 'चोदक' शब्द का जो आशय माना था उसमे संशोधन के लिये डा० बैलण्टाइन तथा प्रोफेसर कोवेल का आभारी हूँ।

"यह वृत्र कौन है ? निरुक्तकारों के मत से 'मेघ' है। 'त्वष्टा का अपत्य असुर है' ऐसा ऐतिहासिकों का कहना है। जल और प्रकाश का मिश्रण होने पर वर्षा होती है, ऐसा होने पर रूपक के द्वारा युद्ध का वर्णन होता है। किन्तु मन्त्रों के वर्णनों और ब्राह्मणों की कथाओं में उसे सर्प माना गया है। (उसने) शरीर के फैलाव से जल-प्रवाह रोक लिया। उसके मारे जाने पर जल प्रवाहित हुये।"

निरुक्त ३.८ में उन्होंने वैदिक शब्द 'पञ्चजन' के सम्बन्ध में प्राचीन लेखकों के दृष्टिकोणों का उल्लेख किया है—"पञ्चजना. मम होत्र जुषध्वम्" (ऋग्वेद १०.५३,४)। "गन्धर्वा पितरो देवा. असुरा' रक्षांसि" इत्य् एके। "चत्वारो वर्णा' निषाद. पञ्चम:" इत्य् औपमन्यव:। " 'हे पाँच-जनों ? मेरे यज्ञ की सेवा करो।'। कुछ का कथन है कि 'गन्धर्व, पितृगण, देवता, असुर और राक्षस' ये पाँचजन हैं। औपमन्यव के अनुसार 'चारों वर्ण और पाँचवा निषाद' है।"

निरुक्त ८ २१ और बाद, में यास्क ने 'प्रयाज' और 'अनुयाज' का अग्नि के अतिरिक्त अन्य देवताओं का वाचक मानने की अपने पूर्वगामियों की भावना पर इस प्रकार विचार व्यक्त किया है:—

'अथ कि-देवता: प्रयाजानुयाजा: । आग्नेया." इत्य् एके । "आग्नेया: वै प्रयाजा' आग्नेया: अनुयाजा:" इति च ब्राह्मणम्। "छन्दो-देवता:" इत्य् अपरम्। "छन्दांसि वै प्रयाजाश् छन्दास्य् अनुयाजा." इति च ब्राह्मणम्। "ऋतु देवता." इत्य् अपरम्। "ऋतवो वै प्रयाजा. ऋत-वोऽनुयाजा." इति च ब्राह्मणम्। "पशु-देवता:" इत्य् अपरम्। "पशवो वै प्रयाजा: पशवोऽनुयाजा:" इति च ब्राह्मणम्। "प्राण-देवता:" इत्य् अपरम्। "प्राणा: वै प्रयाजा' प्राणा. वै अनुयाजा." इति च ब्राह्मणम्। "आत्म-देवता." इत्य् अपरम्। "आत्मा वै प्रयाजा' आत्मा वै अनु-याजा" इति च ब्राह्मणम्। आग्नेया: इति तु स्थिति:। भक्तिमात्रम् इतरत्। किमर्थम् पुनर् इति। उच्यते। यस्यै देवतायै हविर् गृहीत स्यात ताम् मनसा ध्यायेद् वषट्करिष्यन्न् इति ह विज्ञायते।

"अब इस बात पर विचार करते हैं कि ये प्रयाज और अनुयाज किस देवता के वाचक हैं। कुछ कहते हैं कि ये 'अग्नि' के वाचक हैं। क्योंकि एक ब्राह्मण कहता है कि 'प्रयाज और अनुयाज अग्नि के वाचक हैं।' यह एक और मत है कि 'ये प्रयाज और अनुयाज छन्ददेवता के हैं।' क्योंकि एक ब्राह्मण कहता है कि 'प्रयाज और अनुयाज छन्दोदेवता हैं।' एक और मत यह है कि

'ये प्रयाज और अनुयाज ऋतुदेवता के हैं।' क्योंकि एक ब्राह्मण कहता है कि 'प्रयाज और अनुयाज ऋतुयें हैं।' एक अन्य मत के अनुसार 'ये पशु-देवताक हैं।' क्योंकि एक ब्राह्मण कहता है कि 'प्रयाज और अनुयाज पशु हैं।' कोई कहता है कि 'ये प्रयाज और अनुयाज प्राण देवताक है।' क्योंकि एक ब्राह्मण कहता है कि 'प्रयाज और अनुयाज प्राण हैं।' एक मत यह भी है कि 'ये प्रयाज और अनुयाज आत्मदेवतापरक हैं।' क्योंकि एक ब्राह्मण कहता है कि 'प्रयाज और अनुयाज आत्मा है।' मेरा विचार है कि ये प्रयाज और अनुयाज अग्निदेवतावाले ही हैं। अन्य सब सिद्धान्त भाक्त मात्र है। परन्तु फिर यह विचार यहाँ चलाया क्यों है? बात यह है कि जिस देवता को देने के लिये हवि ली हो उसी देवता का मन में ध्यान करे।"

निरुक्त १२.१ में उन्होंने अश्विनों के सम्बन्ध में प्रस्तुत विभिन्न दृष्टिकोणों का उल्लेख किया है:—अश्वैर् अश्विनाव् इत्य् और्णवाभः। तत् काव् अश्विनौ। "द्यावा-पृथिव्याव्" इत्य् एके। "अहोरात्राव्" इत्य् एके। "सूर्य-चन्द्रमसाव्" इत्य् एके। "राजानौ पुण्यकृताव्" इत्य् ऐतिहासिकाः। "और्णवाभ कहते हैं कि अश्वों से अश्वि कहलाते हैं। ये अश्वि कौन है? 'ये अश्वि द्युलोक और पृथिवीलोक हैं' ऐसा कुछ मानते हैं। 'ये अश्वि दिन और रात हैं' ऐसा कुछ मानते हैं। 'ये अश्वि सूर्य और चन्द्र हैं' ऐसा कई मानते हैं। 'पुण्यकर्मा राजा ही हैं' ऐसा ऐतिहासिकों का कथन है।"[२०८]

---

[२०८] देखिये रॉय का अरलाटु० पृ० २२०-२२१, वेद के इन प्राचीन व्याख्याताओ पर टिप्पणी के लिये। रॉय का कथन है कि "वेदो के प्राचीन व्याख्याकारो को यास्क ने केवल 'नैरुक्त' मात्र कहा है। और जब उन्हे वैदिक देवताओ की धारणा मे कुछ अन्तर मिलता है तब वे ऐसे दृष्टिकोणो को ऐतिहासिको का मत कहते हैं। एक सीमित आशय मे वेदो की व्याख्या के अतिरिक्त, उस समय सामाजिकपूजा-परक व्याख्याये भी थी, जैसी हमे अनेक ब्राह्मणो तथा उसी प्रकार के ग्रन्थो मे मिलती हैं जिनमे श्रुति के शब्दार्थ का वर्तमान संस्कारो या यज्ञ-विधियो के साथ अनुकूलन कर दिया गया है। यास्क ने इस प्रकार की सामाजिकपूजा-परक व्याख्याओ को 'याज्ञिको की व्याख्या' की संज्ञा प्रदान की है। इसी से मिलती-जुलती नैदानिको की भी व्याख्या पद्धति को रखना चाहिये जो व्याकरणिक निरुक्तियो से असहमत होते हुये शब्दो और धारणाओ को ऐसे अवसरो या घटनाओ से सम्बद्ध करते थे जो किसी न किसी आशय मे ऐतिहासिक थी। ब्राह्मण और उपनिषदो मे इस प्रकार की ऐतिहासिक अथवा पुराकथाशास्त्रीय निरुक्तियाँ प्रचुर मात्रा मे भरी पडी हैं,

निरुक्त १२.१९ में उन्होंने 'विष्णु' से सम्बन्धित एक स्थल की विभिन्न व्याख्याओं का उल्लेख किया है :—यद् इदं किञ्च तद् विचक्रमे विष्णुः। त्रिधा निधत्ते पदं त्रेधाभावाय पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवि इति शाकपूणिः। समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसि इत्य् और्णवाभः। "शाकपूणि का कथन है कि जो कुछ यह जगत है उसपर तीन प्रकार से विष्णु पैर रक्खे हुये हैं : तीन प्रकार का होने के लिये पृथिवी पर, अन्तरिक्ष में, और द्युलोक में। उदयगिरि पर उदय होता हुआ वह एक पद रखता है, अन्तरिक्ष में मध्याह्नकाल में दूसरा पद रखता है, और अस्त होते समय अस्तङ्गिरि पर तीसरा पद रखता है, ऐसा और्णवाभ का मत है।"

निरुक्त १२.४१ में हमें ब्राह्मणों के सम्बन्ध में एक अन्य हम सन्दर्भ मिलता है :—अग्निना अग्निम् अयजन्त देवाः। "अग्निः पशुर् आसीत्। तम् आलभन्त तेन अयजन्त" इति च ब्राह्मणम्। "अग्नि से अग्नि का यजन करते हैं देव लोग। 'अग्नि पशु है। उस अग्नि से आहवनीयाग्नि में यजन करते हैं,' ऐसा ब्राह्मण का प्रमाण है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपनी कृति के अनेक स्थलों पर यास्क ने ब्राह्मणों का भी उल्लेख किया है, अतः ये (ब्राह्मण) उनके समय से पहले से वर्तमान रहे होंगे।

यास्क ने अपने पूर्वगामी जिन वेद व्याख्याताओं का उद्धरण दिया है उनकी सूची इस प्रकार है :—अग्रायण, औदुम्बरायण, और्णवाभ, कात्थक्य, क्रौष्टुकि, गार्ग्य, गालव, चर्मशिरस्, तैटीकि, वार्ष्यायणि, शतबलाक्ष, शाकटायन, शाकपूणि, शाकल्य, और स्थौलाष्ठीवि।[१०]

निरुक्त के प्रथम परिशिष्ट के बारहवें खण्ड से उद्धृत निम्न स्थल (जिसे रोथ, निरुक्त २, पृ० २०८, यास्क के बाद हुये किसी लेखक की कृति मानते हैं), जो मन्त्रों की प्राचीनता तथा उनकी व्याख्या करने के लिये आवश्यक योग्यताओं से सम्बद्ध है, बहुत उल्लेखनीय है :—

अयं मन्त्रार्थ-चिन्ताभ्यूहो अभ्यूढोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतः। न तु पृथक्त्वेन मन्त्राः निर्वक्तव्याः प्रकरणशः एव निर्वक्तव्याः। न ह्य् एषु

प्रत्यक्षम् अस्त्य् अनृषेर अतपसो वा। "पारोवर्य-वित्सु तु खलु वेदितृषु भूयो-विद्यः प्रशस्यो भवति," इत्य् उक्तम् पुरस्तात्। मनुष्याः वै ऋषिषु उत्क्रामत्सु देवान् अब्रुवन् "को नः ऋषिर भविष्यति," इति। तेभ्यः एतं तर्कम् ऋषिम् प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहम् अभ्यूढम्। तस्माद् यद् एव किञ्च अनूचानोऽभ्यूहत्य् आर्षं तद् भवति।

"मन्त्रार्थों का यह चिन्तनजन्य अनुमान तर्क तथा श्रुति पर आधारित है। मन्त्रों की पृथक् रूप से नहीं बल्कि प्रकरण के अनुसार ही व्याख्या करनी चाहिये। क्योंकि ऐसे व्यक्ति को, जो एक ऋषि अथवा तपस्वी नहीं है, मन्त्रार्थों का प्रत्यक्ष[२१०] नहीं हो सकता। हम लोग पहले कह चुके हैं कि 'जो लोग परम्पराओं के ज्ञाता हैं उनमें से सर्वाधिक विद्वान् विशेष रूप से प्रशस्ति के योग्य है।' जब ऋषि लोग उत्क्रमण कर रहे थे तब मनुष्यों ने देवों से पूछा कि 'हमारा ऋषि कौन होगा?' तब देवों ने उन्हें ऋषि के रूप में यह तर्क-शास्त्र प्रदान किया जिसके आधार पर चिन्तन करके मन्त्रार्थ का अनुमान किया जा सकता है। अतः विद्वान लोग तर्क का चाहे जो भी अर्थ लगायें, इसका प्रामाण्य एक ऋषि के बराबर ही है।"

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि किसी धार्मिक सत्य अथवा यज्ञ की परिभाषा का निर्धारण करने के लिये तर्क को भी एक प्रमुख तत्त्व माना गया है। उस सांख्य मत की सम्पूर्ण परम्परा की इससे तुलना की जा सकती है जो यदि सर्वशः नहीं तो भी स्पष्टतः तर्क पर ही आधारित है, तथा भास्कर का यह कथन भी (देखिये ऊपर पृ० २२२, नोट १८३) 'अत्र गणितस्कन्धे उपपत्ति-मान् एव आगमः प्रमाणम्' द्रष्टव्य है।

एक अन्य स्थान पर इन महत्वपूर्ण शब्दों में भास्कर ने मानव बुद्धि की निहित शक्ति में पुनः इसी प्रकार का विश्वास प्रगट किया है:—यदा पुनर् महता कालेन महद् अन्तरम् भविष्यति तदा मतिमन्तो ब्रह्मगुप्तादीनां समान-धर्मिणः एव उत्पत्स्यन्ते। ये तद्-उपलब्ध्य्-अनुसारिणीं गतिम् उररीकृत्य शास्त्राणि व्याकरिष्यन्ति। अत एव गणित-स्कन्धो महामति-मद्भिर् धृतः सन्न् अनाद्य्-अनन्तेऽपि काले खिलत्व न याति। "जब बहुत काल के बाद, पुनः बहुत अधिक दूरी हो जायगी (नक्षत्रों की स्थितियों के बीच), तब ब्रह्मगुप्त आदि के समान बुद्धिमान उत्पन्न होंगे जो निरीक्षण के अनुसार गतियों को स्वीकार करके तदनुसार शास्त्र का निर्माण करेंगे। अतः

---

[२१०] देखिये निरुक्त १२० में ऊपर उद्धृत स्थल, और प्रस्तुत कृति का तृतीय भाग भी।

ज्योतिषशास्त्र, जो महामति लोगों द्वारा सुरक्षित है, काल की दृष्टि से कभी भी असफल नहीं होगा, यद्यपि वह स्वयं अनादि और अनन्त है।" देखिये काल-ब्रुक, मिस० एसेज, २.३८१।

प्रस्तुत कृति के प्रथम भाग में कुछ वैदिक सूक्तों की उत्पत्ति से सम्बद्ध यास्क के ऐसे उद्धरण दिये जा चुके हैं जिनमें उन्होंने इन सूक्तों के मन्त्रों की व्याख्या की है। उन उद्धृत स्थलों में से एक स्थल ऋषि विश्वामित्र से और दूसरा ऋषि देवापि से सम्बद्ध है।

तृतीय.—अब मैं ब्राह्मणों पर आता हूँ जो अपेक्षाकृत अधिक काल की कृतियों की तुलना में आरोहक्रम से वैदिक सूक्तों की व्याख्या करने वाली प्राचीनतम रचनायें हैं। फलस्वरूप ये भारतीय साहित्य की प्राचीनतम रचनाओं, स्वयं वैदिक सूक्तों, के बाद आनेवाली कृतियाँ हैं। किन्तु जहाँ वेदों से सम्बद्ध अन्य व्याख्यात्मक या आदेशात्मक ग्रन्थों, जैसे व्याकरण या संस्कारिक सूत्रों आदि, को स्वतन्त्र और दिव्य प्रमाण नहीं माना गया है, वहीं, दूसरी ओर, ब्राह्मणों को स्वयं वेदों का ही एक अंश कहा गया है। ऋग्वेद पर सायण के भाष्य से उद्धृत इस स्थल से यह बात स्पष्ट है : मन्त्र-ब्राह्मणात्मकं तावद् अदुष्ट लक्षणम्। अतः एव आपस्तम्बो यज्ञ-परिभाषायाम् एव आह "मन्त्र-ब्राह्मणयोर् वेद-नामधेयम्" इति।[२११] "मन्त्र और ब्राह्मणात्मक होने के रूप में वेद की परिभाषा आपत्तिरहित है। अतः यज्ञपरिभाषा में आपस्तम्ब ने कहा है कि 'मन्त्र तथा ब्राह्मण के लिये वेद नाम का व्यवहार होता है'।" पुनः—मन्त्र ब्राह्मण-रूपौ द्वाव् एव वेद-भागाव् इत्य् अङ्गीकाराद् मन्त्र-लक्षणस्य पूर्वम् अभिहितत्वाद् अवशिष्टो वेद-भागो ब्राह्मणम् इत्य् एतल् लक्षणम् भविष्यति।[२१२] "यह अङ्गीकार कर लिया गया है कि वेद के दो भाग होते हैं, यथा, मन्त्र और ब्राह्मण। यतः मन्त्र की पहले ही परिभाषा की जा चुकी है, अतः ब्राह्मण की परिभाषा यह है कि 'यह वेद का अवशिष्ट भाग है।'"

सूत्रों तथा स्मृतियों के सम्बन्ध में न्यायमालाविस्तर का लेखक इस प्रकार कहता है (१.३,२४):—

बौधायनापस्तम्बाश्वलायन-कात्यायनादि-नामाङ्किताः कल्प-सूत्रादि-ग्रन्थाः निगम-निरुक्त-षडङ्ग-ग्रन्थाः मन्व्-आदि-स्मृतयश् च अपौरुषेयाः धर्म-बुद्धि-जनकत्वाद् वेद-वत्। न च मूल-प्रमाण-सापेक्षत्वेन

---

[२११] ऋग्वेद, मूलर संस्करण, भाग १, पृ० ४।

[२१२] ऋग्वेद, मूलर संस्करण, भाग १, पृ० २२।

वेद–वैषम्यम् इति शङ्कनीयम्। उत्पन्नायाः बुद्धेः स्वतः प्रामाण्याङ्गीकारेण निरपेक्षत्वात्। मा एवम्। उक्तानुमानस्य कालत्ययापदिष्टत्वात्। बौधायन–सूत्रम् आपस्तम्ब–सूत्रम् इत्य् एवम् पुरुष–नाम्ना ते ग्रन्थाः उच्यन्ते। न च काठकादि–समाख्या–वत् प्रवचन–निमित्तत्वं युक्तं तद्–ग्रन्थ–निर्माण–काले तदानीन्तनैः कैश्चिद् उपलब्धत्वात्। तच् च अविच्छिन्न–पारम्पर्येण अनुवर्त्तते। ततः कालिदासादि–ग्रन्थ–वत् पौरुषेयाः। तथापि वेद–मूलत्वात् प्रमाणम्।''' सैवम्। कल्पस्य वेदत्वं न अद्यापि सिद्धम्। किन्तु प्रयत्नेन साधनीयम्। न च तत् साधयितु शक्यम् पौरुषेयत्वस्य समाख्यया तत्–कर्तुर् उपलम्भेन च साधितत्वात्।

"कुछ लोगों ने कहा है कि बौधायन, आपस्तम्ब, आश्वलायन, कात्यायन, आदि कल्पसूत्र, और निगम, निरुक्त आदि षड्-वेदाङ्ग, तथा मनुस्मृति आदि ग्रन्थ अपौरुषेय हैं क्योंकि ये भी वेदों के ही समान मनुष्यों को धर्मबुद्धि प्रदान करते हैं। वेद-प्रमाण-सापेक्षत्व के आधार पर इनका वेद से वैषम्य नही करना चाहिये क्योंकि इनके द्वारा प्रतिपादित धर्म-बुद्धि को निरपेक्ष तथा स्वतः प्रमाण माना गया है। परन्तु यह दृष्टिकोण ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त अनुमान मिथ्या धारणा पर अधारित है।[213] इन ग्रन्थों को मनुष्यों के नाम से पुकारा जाता है, जैसे 'बौधायन का सूत्र', 'आपस्तम्ब का सूत्र', इत्यादि, और ये नाम इस तथ्य द्वारा निष्कृष्ट नही हो सकते कि इन कृतियों का इनसे सम्बद्ध लोगों ने अध्ययन किया था, जैसा कि काठकादि वेद के अन्य विभागों की दशा से है, क्योंकि इन सूत्रों और स्मृतियों के रचनाकाल के समय के कुछ लोगों को इस बात का ज्ञान था कि इनकी रचना हो रही है. और यह ज्ञान अविच्छिन्न परम्परा से प्राप्त होता है। अतः कालिदासादि के ग्रन्थों के समान ये ग्रन्थ भी पौरुषेय है। फिर भी, वेद-मूलक होने के कारण ये प्रामाणिक है।" "और पुन. "अभी यह भी सिद्ध नही है कि कल्प-सूत्र वेद के अंग है और इस बात को सिद्ध करना न केवल परिश्रम-साध्य ही है वरन् असम्भव भी है, क्योंकि इनके नाम से और इनके कर्त्ता के उपलब्धत्व से इनका पोरुषेयत्व सिद्ध हो जाता है।"[214]

फिर भी, जैसा कि मै कह चुका हूँ, अपनी प्राचीनता तथा वेद के अग के रूप मे प्रमाण्य कहे जाने के विपरीत भी ब्राह्मणग्रन्थ वैदिक सूक्तों की तुलना में

---

[213] इस ग्रन्थ का तृतीय भाग देखिये।

[214] ब्राह्मणो और सूत्रो इत्यादि की प्रामाण्य सम्बन्धी विभिन्नताओ के लिये देखिये मूलर ऐसलि० पृ० ७६–१०७।

बहुत बाद के हैं। इन ग्रन्थों के विषय के सम्बन्ध में प्रोफेसर रॉथ ने अपने निरुक्त की प्रस्तावना, पृ० XXIV और बाद, में कुछ टीका की है जिसका मैं थोड़े संक्षेप में अनुवाद करके नीचे दे रहा हूँ।[१]"

"यदि कुछ स्थलों के आधार पर निर्णय किया जाय तो ब्राह्मणों और कल्पसूत्रों के विषय वस्तु में बहुत कम और प्रायः अनिर्णायक अन्तर ही प्रतीत होगा, यद्यपि प्रथम दृष्टि से सम्पूर्ण धार्मिक साहित्य के अन्तर्गत इन दोनों वर्गों की कृतियों का स्थान तथा महत्व सरलतापूर्वक विभेदनीय प्रतीत हो सकता है। वास्तव में इनका अन्तर अत्यन्त अनिवार्य है। यद्यपि दोनों ही दिव्य पूजन का उसके विस्तृततम आशय में विवेचन करते हैं, तथापि कल्पशास्त्र की अपेक्षा ब्राह्मणों में इस विषय का एक सर्वथा भिन्न आशय में वर्णन किया गया है। कल्पशास्त्र का उद्देश्य पूजन आदि के किसी भी विभाग में कुछ भी महत्व रखनेवाले समस्त सांस्कारिक कृत्यों की सम्पूर्ण प्रक्रिया का वर्णन करना है, अर्थात् इनमें इस बात का विधान किया गया है कि किसी संस्कार-विशेष के प्रत्येक पग पर किसी पुरोहित को क्या क्या कार्य करना चाहिये। भारतीय यज्ञों में यह एक अत्यन्त आवश्यक विषय है। इसके अतिरिक्त इन कृतियों में इस बात का भी विधान है कि किन सूक्तों का और किस प्रकार उच्चारण किया जाना चाहिये। फिर भी, इस प्रकार के सूक्तों का नियमित रूप से केवल प्रथम शब्द के द्वारा प्रतीक के रूप में उल्लेख मिलता है, और यह मान लिया गया है कि अन्य ऐसे संग्रह भी रहे होंगे जिनमें यज्ञ में व्यवहार के क्रम में उनको व्यवस्थित किया जा चुका था। ' "अन्ततः, इन कृतियों में यज्ञ या पूजन के समय, स्थान, तथा स्वरूप के विधान के साथ साथ यज्ञ या पूजन के पूर्व और पश्चात् के समस्त कर्मों का भी वर्णन है। संक्षेप में, कल्पसूत्र सांस्कारिक कृत्यों की पूर्ण प्रणाली का विधान करनेवाले ग्रन्थ हैं, जिनमें देवों की उपस्थिति अथवा उनके सम्मान में किये गये समस्त कार्यों के लिये आवश्यक समस्त सांस्कारिक कृत्यों के शुद्ध रूप तथा उनकी सम्पूर्ण प्रक्रिया का वर्णन किया गया है।

"ब्राह्मणों का उद्देश्य इससे प्रायः बहुत भिन्न है। जैसा कि इनके नाम से ही व्यक्त होता है, इनका विषय स्वयं संस्कार नहीं बल्कि किसी संस्कार के पवित्र तत्व, अर्थात् 'ब्रह्म' का विवेचन करना है। किसी भी कृत्य की पृष्ठभूमि में कुछ पवित्र और दिव्य धारणा निहित होती है। वही दिव्य धारणा यज्ञ के समय एक बोधगम्य स्वरूप धारण कर लेती है, परन्तु जो उस धारणा से

---

[१] इस विषय पर और अधिक सूचना के लिये मैं मूलर · ऐसलि० के ब्राह्मणों से सम्बद्ध खण्ड का संकेत करूँगा, जहाँ विशेषरूप से पृ० ३४२ और बाद, ३८९, ४२८ और बाद, ४३१–४३५ देखिये।

परिचित नहीं है, उसके लिये वह एक रहस्य ही बनी रहती है। जो देवता को जानता है, जो उसके स्वरूप और मनुष्यों के साथ उसके सम्बन्ध को जानता है केवल वही यज्ञ रूपी प्रतीक के महत्त्व की व्याख्या कर सकता है। ब्राह्मण इसी बात की व्याख्या करते हैं। ये प्राचीन काल से चले आ रहे सनातन यज्ञों की प्रक्रिया में निहित धर्मशास्त्रीय तत्त्व का उद्घाटन करने का प्रयास करते हैं। इनकी भाषा शैली की गूढ़ता, रहस्यवादिता, संक्षिप्तता, और अक्सर उसकी सर्वथा अबोधगम्यता का यही कारण है। इसमें सन्देह नहीं कि ये भारतीय साहित्य के प्राचीनतम गद्यांश हैं जो हमें आज उपलब्ध हैं।

"यहाँ मैं ऐतरेय ब्राह्मण से इस प्रकार की प्रतीकात्मक व्याख्या का एक उदाहरण दे रहा हूँ :—किसी यज्ञ के आरम्भ में ग्यारह स्थालियों में अग्नि और विष्णु को घृत समर्पित किया जाता है। ब्राह्मण की व्याख्या के अनुसार यह कार्य इन दोनों देवताओं के लिये ही करना चाहिये क्योंकि इनके अन्तर्गत सम्पूर्ण देवमण्डल आ जाता है। देवों में निम्नतम अग्नि (अग्निवेदिका की अग्नि) और उच्चतम विष्णु (मध्याह्न के सूर्य) को ही पूजा समर्पित कर देने से वह सभी देवों को प्राप्त हो जाती है। यद्यपि दो ही देवता होते है, तथापि ग्यारह स्थालियाँ समर्पित की जाती हैं इनमें से आठ अग्नि के लिये होती हैं क्योंकि अग्नि के लिये उद्दिष्ट गायत्री मन्त्र में आठ अक्षर होते हैं, तीन स्थालियाँ विष्णु के लिये होती हैं क्योंकि वे तीन पगों से आकाश को नापते हैं (तीन पगों से सूर्योदय, मध्याह्न और अस्त होने के तीन स्थानों से तात्पर्य है)।

'इस प्रकार की व्याख्यायें प्रायः ऐसे धार्मिक दर्शन के केवल आविष्कार मात्र (जो यहाँ हमें अपने प्राचीनतम रूप मे उपलब्ध होते है) हो सकते हैं जो आडम्बरप्रिय भाष्यों तथा प्रगल्भ समानताओं के सृजन में अभिरुचि रखता है। साथ ही, इनमें समान रूप से स्तुति और पूजा आदि के अरम्भ की वास्तविक स्मृति भी हो सकती है। दिव्य वस्तुओं के संबंध में विचार के आरभ का पता लगाने की दिशा में इन ग्रन्थों का हमारे लिये सदैव महत्त्व बना रहेगा। साथ ही, ये ऐसे स्रोत है जिनके द्वारा हम उन धारणाओं के संबंध में विविध प्रकार के विवरण प्राप्त कर सकते हैं जिन पर यज्ञ-पूजन की सम्पूर्ण पद्धति और भारत की सामाजिक तथा आचार्याधिपत्यीय व्यवस्था आधारित है। इसके प्रमाण मे मैं जातियों तथा राजकीय और पुरोहित वर्ग के लोगों की स्थिति के सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण की सातवीं और आठवीं पञ्चिकाओं में उपलब्ध कुछ तथ्यों की ओर सकेत मात्र करूँगा। ब्राह्मण-ग्रन्थ ब्राह्मण सम्प्रदाय के वैधिक ग्रन्थ हैं जिनमें वैज्ञानिक दृष्टि से संयोजित मतवादी पद्धतियाँ नहीं हैं। इसके विपरीत, इनमें धार्मिक व्यवहारों के परिणामस्वरूप उपलब्ध तत्त्वों

का संग्रह है। आस्था के सिद्धान्तों के पूर्ण उद्घाटन के लिये ये अत्यन्त अनिवार्य है, क्योंकि यज्ञ-पूजन से सम्बद्ध सम्पूर्ण सांस्कारिक कृत्यों की व्याख्या तथा स्थापना ही इनकी रचना का उद्देश्य है।

"इस बात को कि ब्राह्मण-ग्रन्थ पूजन की एक पूर्वस्थित, विभिन्न शाखाओं प्रशाखाओं से युक्त, और अत्यन्त विकसित पद्धति पर आधारित है, न मानना असम्भव है। कोई पवित्र सम्प्रदाय जितना ही विकसित होता जाता है उसके अनुयायी उसके अर्थ अथवा प्रयोजन से उतने ही अनभिज्ञ होते जाते हैं। धीरे-धीरे, किसी कृत्य के केन्द्रीय भाग में, जो मूल रूप में पूर्णतया बोधगम्य और पारदर्शी रहा होगा, अनेक ऐसे गौण कृत्यों का भी विकास हो जाता है जिनका, ज्यों-ज्यों वे और विकसित होते हैं आधारभूत विचारों से सम्बन्ध शिथिल होता जाता है। अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्र हो जाने से किसी भी कृत्य का प्रतीकात्मक प्रयोजन लुप्त हो जाता है। जब ब्राह्मणों में व्यक्त धार्मिक धारणाओं का प्रभाव आरम्भ हुआ उसके पूर्व भारतीय पूजा विधि भी इसी स्तर पर पहुँच चुकी थी। यहाँ, जैसा कि प्राचीन काल की अन्य सभी धार्मिक पद्धतियों की दशा में भी, यह देखा जा सकता है कि धार्मिक मतवाद तथा उनपर चिन्तन, पूजन की धारणा का जनक नहीं होता, बल्कि धार्मिक पूजा ही स्वयं (जो स्वयं देवता की धारणा से प्रेरित और उसी के अधीनस्थ धार्मिक भावना से उत्पन्न होती है) अपेक्षाकृत अधिक विकसित और निश्चयात्मक रूप से पारिभाषित धर्मशास्त्र की जनक होती है। प्रचलित पूजा के स्वरूप के साथ ब्राह्मणों का ऐसा ही सम्बन्ध था। ब्राह्मण पवित्र सूक्तों को अपने प्रथम और तात्कालिक स्रोत के रूप में व्यक्त नहीं करते, बल्कि ये 'प्रचलित संस्कारों तथा उनके अपेक्षाकृत पूर्व-स्वरूपों पर आधारित हैं। उदाहरण के लिये, ऐतरेय ब्राह्मण, जिससे मैंने कुछ विवरण लिये हैं, केवल ऐसे ही स्रोतों का (जिन्हें कभी भी किसी लिखित कृति का सर्जक नहीं कहा गया है) जैसे ऋषि श्रौत (७.१), अराळ का पुत्र सौजात (७.२२), भृगु का पुत्र राम (७.३४), कुपारु का पुत्र मैत्रेय (८.३८), इत्यादि, अथवा एक ही प्रकार के किसी पहले के यज्ञीय कर्म का उल्लेख नहीं करता, बल्कि इसकी अभिव्यक्ति का सम्पूर्ण रूप ही किसी और आरम्भिक प्रचलन-परम्परा पर आधारित प्रतीत होता है। इसके प्रत्येक नवीन स्थल के आरम्भ में सदैव आने वाला सूत्र 'तदाऽऽहुम्' अथवा 'अथो खल्व् आहुम्' है तथा अक्सर मतभेदों का भी उल्लेख है जैसे, 'कुछ लोग इस प्रकार कहते या करते हैं, और अन्य दूसरी तरह।' परन्तु इसमें किसी प्राचीनतर रचना के नाम का कोई उल्लेख मुझे नहीं मिला है।

"इन सब बातों को ध्यान में रखने पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं

कि ब्राह्मण भारत के धार्मिक विकास के उस स्तर की रचनायें हैं जब ब्राह्मण-धर्म पूर्णतया विकसित हो चुका था। ऐसी धार्मिक धारणायें और धार्मिक प्रचलन, जिन्हें हम ऋग्वेद के सूक्तों तक में एक सरल और असम्बद्ध रूप से अधिक सुसहत और बहुपक्षीय स्वरूप में विकसित होते देख सकते हैं, अब लोगों के सम्पूर्ण जीवन में व्याप्त हो चुके थे तथा पुरोहितों की सत्ता ने अन्य सभी पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया था।"

इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि, यद्यपि ब्राह्मणों को वेद का अंग माना जाने लगा, तथापि समय की दृष्टि से ये सूक्तों के बहुत बाद के हैं जिन्हें प्रकृति की दृष्टि से सर्वथा तथा भाषा की दृष्टि से बहुत अंशों तक भिन्न होते हुये भी ये सदैव अपना पूर्वगामी मानकर प्राय. प्रत्येक पृष्ठ पर उद्धरण देते है। इस प्रकार, ब्राह्मणों में ऐसी उक्तियाँ नित्य ही मिलती हैं जैसे "यह ऋषि ने कहा है"[216], "इसलिये ऋषि ने ऐसा कहा है"[217], "ऋग्वेद के ऋषियों ने पन्द्रह ऋचाओं के इस सूक्त का उच्चारण किया है।"[218] और ऋग्वेद-भाष्यभूमिका में सायण ने इस प्रकार कहा है : तथा च सर्व-वेद-गतानि ब्राह्मणानि स्वाभिहितेऽर्थे विश्वास-दार्ढ्याय "तद् एतद् ऋचाऽभ्यनूक्तम्" इति ऋचम् एव उदाहरन्ति। "समस्त वेदों के ब्राह्मण भाग अपने वक्तव्य के सम्बन्ध में विश्वास को दृढ करने के लिये कहते है कि 'ऋक् ने भी इस प्रकार कहा है'।"

वेबर के संस्करण के पृ० १०५२ पर शतपथब्राह्मण का एक स्थल (जो बृहदारण्यक उपनिषद् के एक स्थल के समानान्तर है) ऋग्वेद के चौथे मण्डल के एक वामदेव–सूक्त का इस प्रकार उल्लेख करता है : तद् ह एतत् पश्यन् ऋषिर् वामदेवः प्रतिपेदे "अहम् मनुर् अभवं सूर्यश् च" इति। "यतः ऋषि वामदेव ने 'मैं मनु और सूर्य था' इस मन्त्र का दर्शन किया।" पुनः, तैत्तिरीय संहिता, तथा कौषीतकि, शाट्यायन और ताण्डक ब्राह्मणों में विभिन्न स्थलों पर वसिष्ठ का उल्लेख है। यहाँ यतः वसिष्ठ एक वैदिक ऋषि तथा अनेक सूक्तों के द्रष्टा हैं, अत ये ब्राह्मण इनके सूक्तों के बाद के ही हो सकते हैं।

ब्राह्मणों मे सूक्तों को जिस प्रकार उद्धृत किया गया है उसका उदाहरण देने के लिए मै ऐतरेय ब्राह्मण (७ १३-१८) के शुनःशेप के आख्यान से एक

---

२१६ 'इति ह स्म आह ऋषि।'

२१७ 'तस्माद् एतद् ऋषिणा अभ्यनूक्तम्', शत० ब्रा० १३.५,४५।

२१८ वेबर हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, पृ० ११८। बॉटलिङ्क और रॉथ के कोश मे 'ऋषि' शब्द के अन्तर्गत 'तद् एतद् बह्वृच. पञ्चदशर्चम् प्राहुः।'

स्थल उद्धृत करूँगा जिसे सर्वप्रथम प्रो० म्यूर ने ऐसंलि० की परिशिष्ट में दिया था, और बाद में प्रो० हॉग के इस ब्राह्मण के संस्करण में भी आ गया :—अथ ह शुनःशेपः ईक्षाचक्रे "अमानुषम् इव वै मा विशसिष्यन्ति । हन्त अहम् देवता उपधावामि" इति । स प्रजापतिम् एव प्रथमं देवतानाम् उपससार "कस्य नूनं कतमस्य अमृतानाम्" इत्य् एतया ऋचा । तम् प्रजापतिर् उवाच "अग्निर् वै देवाना नेदिष्ठ । तम् एव उपधाव" इति । सोऽग्निम् उपससार "अग्नेर् वयम् प्रथमस्य अमृतानाम्" इत्य् एतया ऋचा । [जब उसने अपने बलिदान की तैयारियों को देखा तब] "शुनःशेप ने यह विचार किया : 'ये लोग अब मेरा वध करना चाहते हैं, जैसे मैं मनुष्य नहीं हूँ। मैं देवों की शरण में जाऊँगा।' तदनुसार उसने देवों में प्रथम, प्रजापति, का इस ऋचा (ऋग्वेद १.२४, १) से आवाहन किया : 'मैं किसका, अमरों (देवताओं) में से किसके नाम का उच्चारण करूँ' इत्यादि । प्रजापति ने उससे कहा : 'अग्नि ही देवताओं में से सबसे निकट है, उनकी शरण में जाओ।' उसने इस ऋचा से अग्नि का आवाहन किया : 'अमरत्व प्राप्त देवताओं में सर्वप्रथम, अग्नि' इत्यादि।" इसी प्रकार उसे (शुनःशेप को) इस सूक्त की शेष ऋचाओं, तथा इसी मण्डल के २५ वे, २६ वें, और २७ वें सूक्तों की समस्त ऋचाओं द्वारा एक के बाद दूसरे अनेक देवताओं का आवाहन करते हुये दिखाया गया है। अन्त में २७ वें सूक्त की अन्तिम ऋचा में वह विश्वेदेवों को सम्बोधित करते हुये इन वचनों के साथ अपनी स्तुति समाप्त करता है : "अपने से बड़ों को नमस्कार ! अपने से छोटों को नमस्कार !"[२१९]

अभी-अभी उद्धृत प्रो० रॉथ के स्थल में निहित अनेक तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणग्रन्थ वैदिक सूक्तों से एक पर्याप्त समय-व्यवधान द्वारा पृथक हैं। उदाहरण के लिये, प्रो० रॉथ हमें सूचित करते हैं कि सूक्तों का उद्धरण देने के अतिरिक्त ब्राह्मणग्रन्थ सांस्कारिक कृत्यों के सम्बन्ध में अनेक अलिखित प्रमाणों का भी उल्लेख करते हैं। तदनन्तर प्रो० रॉथ इन शब्दों में अपना मत व्यक्त करते हैं : "ब्राह्मणग्रन्थ भारत के धार्मिक विकास के उस स्तर की कृतियाँ हैं जब ब्राह्मण-धर्म पूर्ण पराकाष्ठा पर था", और यह कि "ऐसी धार्मिक धारणाओं ने भी, जिन्हें ऋग्वेद के सूक्तों तक में एक सरल और असम्बद्ध रूप

---

[२१९] 'नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्य' । देखिये म्यूर ऐसंलि० पृ० ४१३ और बाद, वेबर इण्ड०स्टू० १ ४६१ में प्रो० रॉथ का लेख, जएसो० १३, पृ० १०० में प्रो० विलसन का लेख और ऋग्वेद का उन्हीं का अनुवाद, १ पृ० ५९६–१; ऐतरेय ब्राह्मण, पृ० ४६० और बाद, का प्रो० हॉग का अनुवाद ।

से सुसंहत और विविध रूपों में विकसित होते देखा जा सकता है, अब (ब्राह्मणों में) सर्वसाधारण के सम्पूर्ण जीवन पर अपने को विस्तृत कर लिया है।" इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रक्रिया ने अपने इस प्रकार विस्तार को पूर्ण करने में अनेक शताब्दियों का समय लिया होगा।

और प्रो० मूलर (ऐसंलि० पृ० ४३२, ४३४) यह कहते हैं : "ब्राह्मणों में सर्वत्र वैदिक सूक्तों के मूल उद्देश्य के प्रति इतनी पूर्ण मिथ्याधारणा है कि, यदि किसी न किसी समय परम्परागत शृंखला में कोई आकस्मिक और तीव्र व्यवच्छेद नहीं हुआ तो, किस प्रकार ऐसी विशृङ्खलता उत्पन्न हो सकी इसको समझ पाना हमारे लिये अत्यन्त कठिन है।" और पुनः "ब्राह्मणों के प्रत्येक पृष्ठ में इस बात का स्पष्टतम प्रमाण निहित है कि प्राचीन वैदिक काव्य की भावना और मूल वैदिक यज्ञों के उद्देश्य, दोनों ही ब्राह्मणों के रचयिताओं की समझ के बाहर थे। .... इस प्रकार हमें ब्राह्मणकाल और उसके पूर्व के काल के बीच के विस्तृत गर्त का पता लग जाता है।" हम पहले ही देख चुके हैं (ऊपर पृ० २२५) कि ब्राह्मण काल को उन्होंने (मूलर ने) द्वितीय वैदिक काल, अर्थात् मन्त्रों के काल के २०० वर्षों के बाद स्थिर किया है।

ज्यों-ज्यों और समय व्यतीत होता गया, तथा भाषा और सम्प्रदायों में और विकास हुआ, वैदिक सूक्त उत्तरोत्तर कम बोधगम्य होते गये। साथ ही, औपचारिक और सूक्ष्म कर्मकाण्डीय विधान के विकास के कारण सार्वजनिक यज्ञों और उपासनाओं के लिये पवित्र मन्त्रों की व्यावहारिकता कठिनतर होती गई। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि मन्त्रों की व्याख्या, उनके आदेशों, और उनके सास्कारिक उपयोगों की व्याख्या से सम्बद्ध साहित्य में वृद्धि होने लगी। इसी समय विभिन्न व्याकरणिक प्रातिशाख्य-सूत्र, श्रौत और गृह्य सूत्र, निघण्टु, तथा निरुक्त की रचना हुई। जैसा कि हम देख चुके हैं, ये कृतियाँ, प्राचीनतम ब्राह्मणों के समय के बाद के अनेक उत्तरोत्तर युगों के विकास का परिणाम हैं।[२०]

---

[२०] इस विषय पर प्रो० रॉथ (निरुक्त की प्रस्तावना, पृ० (lii) ने इस प्रकार मत व्यक्त किया है : "यूनान मे भी वस्तुस्थिति ऐसी ही थी। हेसिओड (जिसका समान रूप से विवेचन नही किया गया है) के अपवाद के अतिरिक्त एकमात्र होमर ही उच्चतम ज्ञान के एकमात्र स्रोत और प्रमुखरूप से विद्यालयो मे प्रयुक्त होते थे। इनका ही ग्रन्थ ऐसा था जिसने व्याकरणिक तथा प्राय अन्य समस्त प्रकार के विज्ञानो को विकसित होने का प्रथम अवसर दिया। भारत मे वेद का वही स्थान है जो यूनान मे होमर का था। ब्राह्मणधर्मावलम्बी

चतुर्थ '—जब हम ब्राह्मणों में से प्राचीनतम के भी ऊपर चढ़कर अपेक्षाकृत और प्राचीन, स्वयं वैदिक सूक्तों, के संग्रहों ('संहिताओं' जो इनका संस्कृत नाम है) पर आते हैं तब हमें यहाँ भी न केवल अलग-अलग नामों से पुकारे

लोग वेद को ही बौद्धिक संस्कृति का एकमात्र आश्रय मानते थे। एक पवित्र ग्रन्थ के रूप में यह स्वाभाविक रूप से विद्वानों के अध्ययन-अनुसन्धान का विषय बन गया। उस समय का शिक्षित या विद्वान ही पुरोहित भी होता था। अत उसके लिये वेद ही सर्वप्रथम व्याकरण द्वारा समाधान का विषय बना। व्याकरण एक ऐसा शस्त्र है जिसका भारत में अपेक्षाकृत कहीं अधिक अध्ययन किया जाता था, और एक अत्यन्त प्राचीन समय से ही भारत में इस शास्त्र ने विकास का यूनान की अपेक्षा कहीं अधिक उच्च स्तर प्राप्त कर लिया था। साथ ही साथ, अपनी भाषा तथा अपने विषय-वस्तु दोनों की दृष्टि से वेद का बुद्ध के आविर्भाव के लगभग दो शताब्दी पूर्व (७०० और ६०० ई० पू०)—जिस समय यज्ञीय प्रणाली अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी—साधारण भारतीयों से उससे कहीं अधिक पृथक्त्व हो चुका था, जितना पेरिक्लियन युग में यूनानियों का होमर से था। उसी समय, अथवा उससे भी कुछ पहले ही होमर द्वारा प्रयुक्त ऐसे शब्दों का संग्रह—ग्लोसे (γλωσσαι)—बन चुका था जो अब अप्रचलित हो चले थे। दूसरी ओर, इसी समय वेदों की व्याख्या के लिये भारत में 'निघण्टवस्' (यह एक ऐसा शब्द है जिसे मैं अर्थ में γλωσσαι के समान मानता हूँ) की रचना हुई। दोनों ही दशाओं इन संग्रहों की एक ही प्रकार उत्पत्ति हुई, परन्तु पेरिक्लीज से लेकर सिकन्दर के युग के अन्त तक की अल्प अवधि में यूनानियों ने होमर की व्याख्या के लिये जो कुछ किया वह उस समय से लेकर १६ वीं शताब्दी में सायण तथा महीधर के होने तक की दीर्घ अवधि में वेदों को समझने के लिये भारतीयों द्वारा किये गये प्रयासों से कहीं अधिक था। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीयों के सम्मुख कहीं अधिक कठिन समस्या थी। ब्राह्मण सम्प्रदाय के लिये यह आवश्यक था कि वह इतिहास के तथ्यों को अस्वीकृत करते हुये इन प्राचीन धरोहरों में केवल वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप तथ्यों को ही ढूँढें, क्योंकि वर्तमान में एक प्राचीन युग की परम्पराओं के अतिरिक्त अन्य किसी भी बात को अपने आधार के रूप में स्वीकार करने की न तो क्षमता थी और न इच्छा। साथ ही ये प्राचीन परम्परायें जहाँ एक पवित्र वैभव से युक्त मानी जाती थीं, वहीं ये प्राय अव-बोधगम्य ही रह गई थी। पुरोहितों ने इनकी वह प्रामाणिक व्याख्या प्रस्तुत की जिसके अभाव में इन प्राचीन ग्रन्थों में एक भारतीय वह सब कुछ

जानेवाले संग्रहों के ही वरन् एक ही नाम के संग्रह के अलग-अलग अंशों तक के बीच कालगत अन्तरों के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद नामक चार संहिताओं में से ऋग्वेद निश्चितरूप से सर्वाधिक पूर्ण और महत्वपूर्ण संग्रह है। फिर भी, इसके विषयवस्तु का कुछ विवरण प्रस्तुत करने के पूर्व अन्य संहिताओं के सम्बन्ध में भी कुछ कहना आवश्यक है।

(१) यद्यपि एक समय वेदों की संख्या केवल तीन ही मानी जाती थी, और अथर्ववेद को सदा वेद के नाम से नहीं पुकारा जाता था, तथापि अथर्ववेद के अनेक सूक्त अथवा अभिचारमन्त्र, जिनसे यह युक्त है, अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होते है।[२२१]

इन तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट होगा कि अथर्वन् को वेद की संज्ञा प्रदान किया जाना उतना अखण्डनीय नहीं है जितना अन्य तीन को। भारतीय धर्मग्रन्थों के ज्ञान को अक्सर "त्रयी विद्या"[२२१a] नाम दिया गया है और इन शब्दों की बॉटलिङ्क तथा रॉथ के कोश में इस प्रकार व्याख्या की गई है. "मूलतः सूक्त, यज्ञीय मन्त्र, और सामगान के रूप में पवित्र शब्द के त्रिविध ज्ञान को त्रयी विद्या कहते थे : इसी आशय से बाद में अन्य, अर्थात् 'वेद' के आशय का विकास हुआ जो उक्त त्रिविध रूप को व्यक्त करता है।" इस व्याख्या को स्पष्ट करने की दृष्टि से उक्त लेखक शतपथ तथा ऐतरेय इत्यादि ब्राह्मणों से निम्नलिखित उद्धरण देते हैं : शतपथ ब्राह्मण (४. ६, ७, १): त्रयी वै विद्या ऋचो यजूंषि सामानि

कदापि प्राप्त नही कर पाता जो उसने 'इन व्याख्याओ की सहायता से प्राप्त किया। राष्ट्रीय आत्मा, जिसके प्रति इस प्रकार का अन्याय किया गया, पुरोहितो के बन्धनो से अपने को मुक्त नही कर सकी और उसी पथ पर अग्रसर होती गई जो उसके लिये निर्धारित कर दिया गया था। इस प्रकार मनुष्यो की ऐतिहासिक भावना प्राय सर्वथा नष्ट हो गई और उन्होने व्याकरणिक समस्याओ के समाधान मे आनन्द लेने तक ही अपने को सन्तुष्ट कर लिया। अत, कम से कम एक क्षतिपूर्ति के रूप मे हम भारतीयो की ओर से इस बात का गर्वोल्लेख कर सकते है कि उन्होने व्याकरण के क्षेत्र मे यूनानियो से कही अधिक उन्नति कर ली थी।"

[२२१] इस वेद के विषय मे देखिये मूरर. ऐमलि० पृ० ३८४४६ और बाद; वेबर. हिस्ट्री ऑफ इण्डि० लिट० पृ० १०, तथा जअओसो० ३ ३०५ और बाद, और ४ २५४ और बाद मे ह्विटने के लेख।

[२२१a] देखिये परिशिष्ट, नोट A।

इयम् एव । "ऋच-, यजुष्, और सामन् यही त्रयी विद्या है ।" शतपथ ब्राह्मण (६,३, १, १०, १०.४, २, २१; ११.५, ४, १८, ऐतरेय ब्राह्मण ५. ६३): तेभ्योऽभितप्तेभ्यो त्रयो वेदाः अजायन्त ऋग्वेद. एव अग्नेर् अजायत यजुर्वेदो वायो. सामवेदः आदित्यात् । तान् वेदान् अभ्यतपत् । तेभ्योऽभितप्तेभ्यस् त्रीणि शुक्राण्य् अजायन्त भूर् इत्य् एव ऋग्वेदाद् अजायत. भुव. इति यजुर्वेदात् स्वर् इति सामवेदात् ।. स प्रजापतिर् यज्ञम् अतनुत । तम् आहरत् तेन अयजत । स ऋचा एव होत्रम् अकरोद् यजुषा आध्वर्यवं साम्ना उद्गीथम् । यद् एतत् त्रय्यै विद्यायै शुक्रं तेन ब्रह्मत्वम् अकरोत् । "अभितप्त होने पर इनसे (ज्योतियों से) तीन वेद उत्पन्न हुये : अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, और आदित्य से सामवेद । उसने इन वेदों को अभितप्त किया । इस प्रकार अभितप्त होने पर तीन सारतत्त्व उत्पन्न हुये : ऋग्वेद से 'भूर्', यजुर्वेद से 'भुव', और सामवेद से 'स्वर्' । ... उस प्रजापति ने यज्ञ किया । उसने इसे ग्रहण किया और इससे यजन किया । ऋचा से उसने होतृ का कार्य किया, यजुर्वेद से अध्वर्यु का, तथा साम से उद्गातृ का, और इस त्रयी विद्या के सारतत्त्व से उसने ब्रह्म का कार्य किया ।" इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् (४ १७,१)[२२०] के इस स्थल पर भी केवल तीन वेदों का ही उल्लेख है :—प्रजापतिर् लोकान् अभ्यतपत् । तेषा तप्यमानाना रसान् प्रावृहद् अग्निम् पृथिव्याः वायुम् अन्तरिक्षाद् आदित्यं दिवः । स एतास् तिस्रो देवता. अभ्यतपत् । तासा तप्यमानाना रसान् प्रावृहद् अग्नेर् ऋचो वायोर् यजूंषि साम आदित्यात् । स एतां त्रयीं विद्या अभ्यतपत् । तस्यास् तप्यमानायाः रसान् प्रावृहद् भूर् इत्य् ऋग्भ्यो भुवर् इतियजुर्भ्य' स्वर् इति सामभ्य' । "प्रजापति ने लोकों को अभितप्त किया, और उन तप्त किये हुये लोकों में से उनके साररूप रसों को ग्रहण किया . पृथिवी से अग्नि को, अन्तरिक्ष से वायु को, और स्वर्ग से सूर्य को । उसने इन तीन देवताओं को अभितप्त किया और इस प्रकार तप्त होने पर उनके सार को निकाला : अग्नि से ऋग्वेद को, वायु से यजुर्वेद को, और सूर्य से सामवेद को । उसने त्रयी विद्या (तीन वेदों) को अभितप्त किया । इस प्रकार तप्त हुये इनसे उसने सार निकाला . भू' व्याहृति को ऋग्वेद से, भुव' को यजुर्वेद से, और स्वर् को सामवेद से ।"

[२२०] देखिये विवड० भाग ३ (१८५०) पृ० २८८ । प्रस्तुत ग्रन्थ के तृतीय भाग मे भी यह स्थल उद्धृत है । उसी भाग मे उद्धृत शतपथ ब्राह्मण ११ ५,८, १ और बाद, को भी देखिये जहाँ इसी प्रकार तीन वेदों का ही उल्लेख है ।

निम्नोद्धृत श्लोक (१.२३) में मनु ने ब्राह्मणों तथा छान्दोग्य उपनिषद् के विवरण को पुनः दोहराया है : अग्नि-वायु-रविभ्यस् तुत्र यम् ब्रह्म सनातनम् । दुदोह यज्ञ-सिद्ध्य्-अर्थम् ऋग यगु:-सामलक्षणम् । "अग्नि, वायु- और सूर्य (रवि) से उसने यज्ञ-सिद्धि के लिये सनातन त्रयी, ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद, का दोहन किया ।"

फिर भी, सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश के संकेतों के आधार पर अथर्ववेद को इन स्थलों पर 'छन्दस्' संज्ञा के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है । इस कोश से 'छन्दस्' के द्वितीय आशय की इन शब्दों में परिभाषा दी गई है : "एक पवित्र सूक्त, और आगे उद्धृत किये जा रहे स्थलों में से प्रथम तीन के अनुसार ऐसा सूक्त जो ऋच् , सामन् , और यजुष् जैसा नहीं, और सम्भवतः मूलरूप से एक अभिचार मन्त्र मात्र है ।" यहाँ जिन स्थलों का उल्लेख है वे ये है : अथर्ववेद ११.७, २४ ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणम् यजुषा सह । उच्छिष्टाज् जज्ञिरे । "यजुष् सहित ऋच्–, सामन्–, और छन्दस् , तथा पुराण उच्छिष्ट से उत्पन्न हुये ।" ऋग्वेद १०.९०, ९ · तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे । छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस् तस्माद् अजायत । "उस सर्वहुत यज्ञ से ऋच्–, सामन्–, और छन्दस् उत्पन्न हुये, उसी से यजुष् भी उत्पन्न हुआ ।" तृतीय स्थल हरिवंश (५.९४९१) से है : ऋचो यजूंषि सामानि छन्दांस्य् आथर्वणानि च । चत्वारो सखिला· वेदाः सरहस्याः सविस्तरा· । "ऋच् , यजुष् , सामन् और अथर्वण-छन्दस, ये चारों वेद, अपने खिलों, रहस्यों और विस्तारों सहित (हमारी रक्षा करें) ।"

स्वय अथर्ववेद (१०.७, २०) मे भी इसे अथर्वणों और अङ्गिरसों के नाम से प्रख्यात एक वेद कहा गया है : यस्माद् ऋचो अपातक्षन् यजुर् यस्माद् अपाकषन् । सामानि यस्यो लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम् । स्कम्भ तम् ब्रूहि कतमः स्विद् एव सः । "हमें बताओ कि वह स्कम्भ कौन है जिससे उन्होंने ऋचाओं को काटा, जिससे उन्होंने यजुर् मन्त्रों को काटा, जिसके ये सामन् लोम हैं, और अथर्वाङ्गिरस जिसके मुख हैं ।"[२२३]

शतपथ ब्राह्मण (१३ ४, ३,७) में भी अथर्वन् का इसी प्रकार उल्लेख है . तान् उपदिशति "अथर्वाणो वेदःसोऽयम्" इति · .... । द अङ्गिरसो वेदः सोऽयम्" इति । "वह इन्हे इस प्रकार उपदेश देता है · 'अथर्वण एक

[२२३] फिर भी, इसी सूक्त के चौदहवे मन्त्र मे केवल अन्य तीन वेदो का ही उल्लेख है ।

वेद है, वह यह है' अभिग्म् एक वेद है, वह यह है।"[२८] प्रस्थानभेद के रचयिता, मधुसूदन सरस्वती, इसे एक वेद रहते हुये भी अन्य तीन के साथ इन शब्दों में इसका विभेद करते हैं : स च (वेदः) प्रयाग-त्रयेण यज्ञ निर्वाहार्थे ऋग्-यजुः-साम-भेदेन भिन्नः।..... अथर्व-वेदस् तु यज्ञानुपयुक्तः शान्ति-पौष्टिकाभिचारादि-कर्म-प्रतिपादकत्वेन अत्यन्त विलक्षणः एव। "यज्ञ के त्रिविध निर्वाहार्थ वेद के ऋग्, यजुः और साम, ये तीन भेद किये गये हैं। .. .. इसके विपरीत अथर्ववेद सर्वथा भिन्न है। यह यज्ञ के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है, और केवल शान्ति, आशीर्वाद, तथा शापादि कर्मों मात्र का प्रतिपादन करता है।" (मूलरः ऐसंलि० पृ० ४४५)। इस वेद के सम्बन्ध में प्रोफेसर व्हिट्नी यह मत व्यक्त करते हैं : "ऋग्वेद के समान ही, अथर्ववेद भी स्तुति विषयक नहीं बल्कि एक ऐतिहासिक संग्रह है।" आपका विचार है कि मूलत इसमें अट्ठारह काण्ड थे। इस समस्त सामग्री का कम से कम छठवाँ हिस्सा छन्दबद्ध नहीं है। "शेष, अथवा छन्दबद्ध अंश का भी कम से कम छठवाँ अंश ऋग्वेद में, मुख्यत दसवें मण्डल में, भी मिलता है। इसके अतिरिक्त शेष अंश केवल अथर्ववेद की अपनी विशेषता है।... इसका अधिकांश भाग, भाषा तथा आन्तरिक प्रकृति, दोनों ही दृष्टियों से दूसरे ऐतिहासिक वेद (ऋग्वेद) के सामान्य विषय वस्तु की अपेक्षा बहुत बाद का है। यहाँ तक कि यह ऋग्वेद के दसवें मण्डल से भी, जिससे यह उद्देश्य तथा उत्पत्ति की दृष्टि से सम्बद्ध है, बाद का है। ऐसे स्थलों की भी, जो समान रूप से ऋग्वेद में मिलते हैं, स्थिति उतनी ही स्पष्टता से अर्वाचीन काल की ओर संकेत करती है जितनी इनके संग्रह की स्थिति। फिर भी, इससे अनिवार्यतः यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि जब ऋग्वेद का संकलन हुआ उस समय अथर्ववेद के प्रमुख अंशों का अस्तित्व नहीं था। किन्तु इनकी प्रकृति इन्हें अस्वीकृत करने तथा मूल वेद से पृथक रखने के लिये पर्याप्त थी। कालान्तर में जब कुछ कम छिद्रान्वेषियों का हाथ इन पर पड़ा तब उन्होंने इन अंशों को एक पृथक संग्रह के रूप में संकलित कर दिया। उन्नीसवें काण्ड की सामग्री इसी प्रकार की है जिसे या तो पहले छोड़ दिया गया था, अथवा जिसकी ऋग्वेद के संकलन के बाद रचना हुई है।" (जअओसो० ४.२५२, २५५)। अथर्ववेद की अपेक्षा ऋग्वेद की प्राथमिकता को इस तर्क के आधार पर भी स्थापित किया जा सकता है कि ऋग्वेद के सूक्तों के ऋषियों का अथर्ववेद में पूर्वकाल के लोगों के रूप में उल्लेख है। इस बात के प्रमाण में मैं प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग में उल्लिखित स्थलों के अवलोकन का परामर्श

[२२४] देखिये मूलर ऐसलि० पृ० ३८।

दूँगा। यह सत्य है कि स्वयं ऋग्वेद में भी कुछ अंश तक ऐसी ही बात मिलती है, जहाँ कुछ बाद के सूक्तों में पहले के सूक्तों के ऋषियों का नाम से उल्लेख किया गया है। फिर भी, अथर्ववेद में इस प्रकार उल्लिखित नाम प्रमुखत अपेक्षाकृत अधिक अर्वाचीन ऋषियों के है, जब कि ऋग्वेद में उल्लिखित अनेक व्यक्तित्व अधिक पुरातन काल के प्रतीत होते है। (देखिये रौथ : लिट० उण्ट गेश० देस वेद, पृ० १३)। अथर्ववेद में ऋग्वेद की अपेक्षा भारतीय संस्थाओं का भी कुछ विकसित रूप मिलता है। कम से कम एक विषय ऐसा है जिसमें यह विकास स्पष्ट लक्षित होता है, अर्थात् वर्ण-व्यवस्था में (इस ग्रन्थ का प्रथम भाग देखिये)। वेबर के हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, पृ० १० से आगे उद्धृत स्थल ऋग्वेद और अथर्ववेद के सामान्य अन्तर के सम्बन्ध में उनका विचार प्रस्तुत करेगा : "अथर्ववेद का आरम्भ उस काल में हुआ जब ब्राह्मणधर्म प्रमुख हो गया।" इसके अनेक सूक्त ऋग्वेद में भी मिलते है, किन्तु वहाँ इन्हें अर्वाचीन प्रक्षिप्त स्थल ही मानना चाहिये जिन्हें ऋग्वेद के सकलन के समय सम्मिलित कर लिया गया, जब कि अथर्ववेद में ऐसे स्थल उस समय की वर्तमान स्थिति के यथातथ्य स्वरूप को व्यक्त करते है। इन दोनों ही संहिताओं की प्रकृति सर्वथा भिन्न है। ऋग्वेद एक सजीव स्वाभाविक भावना तथा प्रकृति के प्रति एक गहन अनुरक्ति से ओतप्रोत है, जब कि दूसरी ओर अथर्ववेद मे दुष्टात्माओं और उनकी अभिचारीय शक्ति के प्रति एक सशक चेतना प्रायः सर्वत्र व्याप्त है। ऋग्वेद में हम लोगों को पूर्णतया स्वतन्त्र और स्वेच्छया जीवन व्यतीत करनेवाला पाते है, जब कि अथर्ववेद मे हम उन्हें अन्धविश्वासों और आचार्याधिपत्यीय शृंखलाओं में जकड़ा हुआ पाते हैं।"[२२४]

(२) सामवेद ऐसे सामनों का सकलन है जिनका यज्ञ के अलग-अलग स्तरों पर गायन किया जाता है।[२२५] कुछ अपवादों के अतिरिक्त इसके समस्त सामन ऋग्वेद के विभिन्न भागों, और मुख्यतः आठवें तथा नवे मण्डलों मे मिल जाते है। ऋग्वेद में हमें सभी सूक्त मिलते हैं : सामवेद के प्रथम अंश मे हमें इन्हीं सूक्तों के कुछ पृथक् किये हुए मन्त्र मिलते है जिन्हे उनकी स्वाभाविक शृङ्खला से स्थानान्तरित कर दिया गया है, यद्यपि द्वितीय अंश में ये अवतरण सम्बद्ध तथा आकार में भी बडे है। फिर भी, यह सर्वथा स्पष्ट नहीं है कि साम-संकलन पहले का है अथवा ऋक्-संकलन। वेबर का विचार है (हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट०, पृ० ९,६२) कि सामवेद के मूल स्थलों में अक्सर

---

२२४ देखिये परिशिष्ट, नोट बी०।

२२५ देखिये मूलर, पृ० ४७२–३।

ऋग्वेद की अपेक्षा अधिक प्राचीन व्याकरणिक रूप मिलते हैं। आप यह मत व्यक्त करते हैं कि यत: सामवेद में ऋग्वेद के अपेक्षतया बाद के सूक्तों से कोई अवतरण नहीं हैं, अत: इसका सकलन ऋग्वेद के इन बाद के सूक्तों के पूर्व ही हुआ होगा। परन्तु आपका यह भी कहना है कि इस विषय का अभी पर्याप्त अनुसन्धान नहीं किया जा सका है।[२२६] ह्विट्ने भी इस प्रश्न को अनिर्णीत ही छोड़ देते हैं (जअओसो० ४.२५३–२५४)।

---

[२२६] अपने इण्डि० स्टू० १ ६३ और बाद, मे यही लेखक इस प्रकार लिखता है—"जहाँ तक ऋग्वेद के साथ सामवेद के सम्बन्ध का प्रश्न है, हमे स्पष्ट रूप मे यह समझ लेना चाहिये कि सामान्य रूप से ये सूक्त किस प्रकार उत्पन्न हुये, तदनन्तर किस प्रकार एक ऐसी जाति द्वारा और आगे देशान्तर गमन के साथ दूरस्थ देश मे लाये गये और वहाँ पवित्र माने जाने लगे, जब कि उस देश मे, जहाँ इनकी उत्पत्ति हुई थी, या तो इनमे सर्वसाधारण की तात्कालिक स्मृति मे रहते हुये परिवर्तन हो गये, अथवा नवीन सूक्तो द्वारा स्थानान्तरित होकर ये विस्मृति के गर्भ मे चले गये। विदेश मे हम स्वदेश मे रचित वस्तु को पवित्र मानने लगते हैं। ये प्रवासी एक प्राचीन स्तर पर बने रहे और उन्होंने अपनी प्राचीन वस्तुओ को प्राय कट्टरता के साथ सुरक्षित रखा, जब कि उनके मूल गृह के जीवन मे अनेक नवीन बाते उत्पन्न हो गई। उन पुराने प्रवासियो के पदचिह्नो पर चलते हुये नये प्रवासी भी आये और इस नवीन आवास मे पहले से बसे अपने लोगो से मिल गये। इस स्तर पर पुराने और नये गायन तथा सस्कार आपस मे मिलजुल गये और इस प्रकार विविधतापूर्ण गायनो का सृजन हुआ (इस विषय को स्पष्ट करने मे बृहदारण्यक उपनिषद् की अनेक कथाओ मे विशेष रूप मे सहायता मिलती है)। इन प्रवासियो मे से अनेक भ्रमणकारियो ने तो इन गायनो को यथावत् स्मरण कर लिया परन्तु कुछ अन्य ने, जो अपेक्षाकृत अधिक विद्वान् रहे होंगे, इनमे व्यवस्था लाने का प्रयास किया, समान सामग्री को एक साथ रखा, और उससे भिन्न को पृथक् किया। इस प्रकार एक धर्मशास्त्रीय असहिष्णुता की उत्पत्ति हुई जिसके बिना किसी श्रुति या नियम का दृढीकरण असम्भव होता है। इस प्रक्रिया पर राजदरबारो के प्रभाव की भी हम उपेक्षा नही कर सकते, जैसे विदेहराज राजा जनक का, जिन्होने याज्ञवल्क्य के व्यक्तित्व मे मानो अपना होमर पा लिया। विभिन्न मतसम्प्रदायो के परस्पर सम्बन्ध के प्रति अन्तर्दृष्टि के लिये न तो पुराणो से सहायता मिलती है और न चरणव्यूह से। ऐसी अन्तर्दृष्टि ब्राह्मणो और सूत्रो मे उल्लिखित आचार्यों की तुलना, तथा साथ ही साथ

पाणिनि के सूत्रों, गणपाठ और इनके टीकाकारों के अध्ययन से ही प्राप्त हो सकती है।'''सामवेद और ऋग्वेद के बीच का सम्बन्ध हमें शुक्ल और कृष्ण यजुर्वेद के बीच के सम्बन्ध के निर्धारण के लिये तुलनात्मक आधार प्रदान करता है। और यतः कृष्ण यजुर्वेद में उल्लिखित आचार्यों पर शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मणों मे अक्सर आक्षेप किया गया है, अतः यदि कौषीतकि (ऋग्वेद से सम्बद्ध आचार्य), आदि, के प्रति सामवेद ब्राह्मण भी इसी समान व्यवहार करते हैं तो उस पर हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिये।

दूसरी ओर, मूलर यह कहते है (ऐसंलि० पृ० ४५६):—"अधिक सम्भवतः अन्य दो संहितायें ब्राह्मण काल की रचनायें हैं। ये दो वेद, यजुर्वेद और सामवेद, वास्तव में, जैसा कि इन्हें कौषीतकि ब्राह्मण में भी कहा गया है, ऋग्वेद के परिचारक मात्र हैं।"[२२७] आपकी मान्यता है कि तीनों वेदों में उपलब्ध सूक्त "तीन कालों में तीन स्वतंत्र संग्राहकों द्वारा संगृहीत नहीं हैं। यदि ऐसा होता तो इनका परस्पर अन्तर उससे कहीं अधिक होता जितना आज लक्षित होता है।" आपका विचार है कि इनका वास्तविक अन्तर स्वतंत्र संहिताओं अथवा संग्रहों की अपेक्षा केवल शाखागत है।

(३) यजुर्वेद की दोनों ही संहितायें गद्य में रचित यज्ञीय सूत्रों, तथा साथ ही साथ, ऐसे मन्त्रों के सग्रह है जिन्हे अंशतः ऋग्वेद से लिया गया है। फिर भी, यजुर्वेद की शुक्ल अथवा वाजसनेयि और कृष्ण अथवा तैत्तिरीय संहिताओं मे यह अन्तर है कि कृष्ण यजुर्वेद की प्रकृति बहुत कुछ ब्राह्मणों जैसी है, यद्यपि एक पृथक् तैत्तिरीय ब्राह्मण, भी मिलता है। यजुर्वेद के अनेक भागों में धार्मिक संस्थाओं और विधानों का ऋग्वेद की अपेक्षा एक अधिक विकसित रूप मिलता है। इस वेद के सम्पादक, प्रोफेसर वेबर[२२८] का विचार (हिस्ट्री

---

[२२७] 'तत्–परिचरणाव्–इतरौ वेदौ', ६.११।

[२२८] अपने हिस्ट्री आफ इण्डि० लिट० (पृ० १४०) मे वेवर हमे यह वताते है कि "यजुर्वेद की वाजसनेयि सहिता की कात्यायन की अनुक्रमणी मे विभिन्न ऋचाओ के द्रष्टा ऋषियो का जो वर्णन है उसका ऋग्वेद की अनुक्रमणी मे उन्ही मन्त्रो के ऋषियो के वर्णन के साथ सर्वथा साम्य है। विशेष रूप से (जैसा कि ऋग्–अनुक्रमणी मे भी है) ऋषि का नाम मन्त्र मे आनेवाले किसी शब्द से ही गृहीत होता है, और वाजसनेयि सहिता का कोई मन्त्र जहाँ कही इसी सहिता के किसी अन्य भाग मे पुन आता है (जैसा कि अक्सर हुआ है) तो वहाँ अक्सर उस मन्त्र का पहले की अपेक्षा दूसरा ही ऋषि वताया गया है। यहाँ उल्लिखित अनेक ऋषि ऋग्वेद के मन्त्रो मे नही आते और ऋग्वेद से किसी

पर पहुँच चुकी थी। प्रोफेसर मूलर का विचार है कि "इस बात को सिद्ध करने के लिये कुछ भी आधार नहीं है कि वाजसनेयि संहिता वाजसनेयि ब्राह्मणों [शतपथ] की अपेक्षा पहले से विद्यमान थी (ऐसंलि० पृ० ३६०)।

(४) अब हम ऋग्वेद संहिता पर आते है—जिसमें अपने पूर्ण रूप में प्राचीनतम वैदिक सूक्तों के सर्वाधिक विस्तृत संग्रह निहित हैं। यह १० मण्डलों में विभक्त है और इसमें कुल १०१७ सूक्त हैं (मूलर . पृ० ४९७)। श्री व्हिट्ने का कहना है (जअओसो० ३.२९५) कि "वेदों में, हिन्दू जाति के प्रथम पूर्वजों द्वारा, अभी जब वे उस महान देश के, जिसे उन्होंने बाद में अपनी सभ्यता से आप्लावित किया, सीमावर्ती क्षेत्र में ही और एक पृथक राष्ट्र बन जाने की आरम्भिक अवस्था में ही थे, की गई देवों की स्तुतियाँ, उनके महान कार्यों की प्रशस्तियाँ और अनेक अन्य ऐसी बातें निहित हैं जो उनकी काव्यात्मक प्रतिमा को जागृत कर सके।[230] यह सामग्री, जैसी आज हमें उपलब्ध है, सर्वथा धार्मिक प्रकृति से ओतप्रोत है। इसका कारण अंशत: वह उद्देश्य हो सकता है जिसकी सिद्धि के लिये बाद में इन संग्रहों का प्रयोग किया जाने लगा, परन्तु इससे भी कहीं अधिक यह स्वयं इस जाति की प्रकृति को ही व्यक्त करता है, जो न केवल इसके आरम्भिक स्तर पर ही, वरन् इसके सम्पूर्ण इतिहास में ही अनिवार्यतः धार्मिक बनी रही।...एक सर्वथा भिन्न प्रकार के सूत्रों का बिलकुल अभाव भी नहीं है, और यह इस बात का द्योतक है कि यदि इनकी संख्या अधिक रही होती तो ये अधिक मात्रा मे हमारे लिये सुरक्षित भी रहे होते।"[231] बाद के भारतीय लेखकों ने कहा है कि "प्राचीन ऋषियों ने इन सूक्तों का "दर्शन" किया था। निरुक्त इस प्रकार कहता है (२.११) ऋषिर् दर्शनात्। "स्तोमान् ददर्श" इत्य् औपमन्यवः। तद् यद् एनास् 'तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्व् अभ्य् आनर्षत् ते ऋषयोऽभवन्। तद् ऋषीणाम् ऋषित्वम्" इति

[230] सूक्तो के विषयवस्तु के विवरण के सम्बन्ध मे प्रो० विलसन के उनके ऋग्वेद के अनुवाद की प्रस्तावना, पृ० xxiv और बाद, भी देखिये। अनेक उदाहरणो के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ के विभिन्न भागो मे प्राय सर्वत्र देखिये।

[231] देखिये जएसो० भाग २ (नवीन सिरीज) पृ० २६ मे प्रकाशित "मिसलेनियस हिम्स फ्राम ऋग् ऐण्ड अथर्ववेद" शीर्षक मेरा लेख, और प्रस्तुत ग्रन्थ का पाँचवाँ भाग। प्रो० आफरेक्ट (इण्ड० स्टू० ४.८) का मत है कि "वैदिक काव्यो का केवल एक थोडा-सा अश हमे आज ऋग्वेद मे सुरक्षित मिलता है।"

विज्ञायते। "दर्शन करने से ऋषि कहलाता है। औपमन्यव के मत के 'वह स्तोम को देखनेवाला है'। 'ऋषियों का ऋषित्व उसी में है कि तपस्या करते समय उनके पास स्वयं उत्पन्न होनेवाला ब्रह्म आया' यह मालूम होता है।" फिर भी, इसमें सन्देह नहीं है कि ऋषि स्वयं ही इन प्राचीन गायनों के रचयिता थे जिनसे उन लोगों ने (ऋषियों ने) आशीर्वाद प्राप्त करने के लिये देवों को सम्बोधित किया, अथवा अन्य किसी अवसर पर ही उनकी रचना की। कोलब्रुक (मिस० एसेज १, पृ० २७) द्वारा ऋग्वेद की अनुक्रमणी से उद्धृत निम्नलिखित स्थल में सूक्तों अथवा मन्त्रों का अभिप्राय भली-भाँति व्यक्त हुआ है: अर्थेप्सवः ऋषयो देवताश् छन्दोभिर् अभ्यधावन्। "विभिन्न अर्थों की इच्छा से छन्दों के साथ ऋषिगण देवताओं के पास दौड़कर आये।" निरुक्त (१०.१) में भी इस प्रकार कहा गया है. यत्-कामः ऋषिर् यस्यां देवतायाम् अर्थपत्यन् इच्छन् स्तुतिम् प्रयुक्ते तद्-देवतः स मन्त्रो भर्वात। "कोई कामना लेकर, कोई ऋषि जिस देवता का प्रधान अर्थ चाहता हुआ स्तुति करता है उसी देवता का वह मन्त्र होता है।" एक ऋषि, परुच्छेप,[२३२] की रचनाओं की यह विशेषता है उनकी पंक्तियों के अन्त में पिछले कुछ शब्दों को दोहराया गया है। निरुक्त (१०.४२) में इस विशेषता का इस प्रकार उल्लेख है: अभ्यासे भूयांसम् अर्थम् मन्यन्ते यथा "अहो दर्शनीय अहो दर्शनीय"। तत् परुच्छेपस्य शीलम्: परुच्छेपः ऋषि। "कुछ किसी बात को दोहराने में बात को अधिक पुष्ट किया हुआ समझा करते हैं, जैसे 'यह कैसी सुन्दर है, यह कैसी सुन्दर है'। यह परुच्छेप का स्वभाव है। यह परुच्छेप एक ऋषि हैं।" यहाँ निरुक्तकार, यास्क, रचना की एक विशेष शैली को एक वैदिक ऋषि, परुच्छेप, की विशेषता बताते हैं। परन्तु यदि रचनाशैली स्वयं ऋषि का विशेष स्वभाव (शील) थी तो उसने मन्त्र 'दर्शन' करने के अतिरिक्त अवश्य कुछ अधिक किया होगा. उसने स्वयं ही मन्त्र के स्वरूप का निर्धारण किया होगा। अतः अपने वर्तमान शब्दों में व्यक्त मन्त्र सनातन नहीं हो सकता।[२३३] अतः उस समय यास्क स्वयं अपने कथन के साथ असंगत हो जाते हैं जब कि एक अन्य स्थल, जैसे १०. ४६, पर वह यह कहते है कि 'ऋषेर् दृष्टार्थस्य प्रीतिर् आख्यान-संयुक्ता.' अर्थात् यह कि "यहाँ ऋषि, अर्थ का दर्शन कर लेने के बाद, आख्यान में अपनी अनुरक्ति को व्यक्त करता है"। यदि हमें 'अर्थ' शब्द से यह समझना है कि

[२३२] देखिये प्रस्तुत कृति का तीसरा भाग।

[२३३] देखिये इस कृति का तीसरा भाग भी।

शब्दों की अपेक्षा केवल मन्त्र का अर्थ प्रगट हुआ तब कोई असंगति नहीं होगी। यहाँ उद्धृत स्थल के अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थ के तीसरे भाग में उल्लिखित स्थलों को भी देखिये।

अनेक युगों तक इन प्राचीन ऋषियों की उत्तरोत्तर पीढ़ियाँ सूक्तों के भण्डार में नवीन रचनायें जोड़ती गईं, किन्तु साथ ही साथ उन्होंने अपने पूर्वजों से प्राप्त सूक्तों को भी सतर्कतापूर्वक सुरक्षित रक्खा।[२३४] सूक्तों

---

[२३४] "अपने स्वाभाविक चरित्र तथा मनुस्मृति के नियमो के कारण भारतीय आर्य धर्मप्रिय थे। उनकी इन भावनाओ को कुछ ऐसे वश-प्रमुखो ने प्रोत्साहित रखने मे सहायता की जिनमे उनकी धार्मिक परम्पराये विशेष रूप से सुरक्षित थी। उन पुरातन युगो मे राजनीतिक प्रणाली बिलकुल वैसी ही थी जैसी होमर व्यक्त करते है —राजा अपनी प्रजा के मानो वास्तविक मेषपाल थे, कृपक अथवा पशुपालक अपने प्रधानो के चतुर्दिक सगठित थे, और अवसर आने पर योद्धाओ के रूप मे सन्नद्ध होकर युद्ध के लिये प्रस्तुत रहते थे, पशुधन और ग्रामीण सम्पत्ति की प्रचुरता थी, नगर केवल बडे ग्रामो जैसे थे। इनमे से कुछ ग्राम ऐसे प्रसिद्ध ऋषियो के निवासस्थल होते थे जो—जब कि उनके अन्य आश्रित पशुओ तथा खेतो की देख-भाल करते थे—स्वय अपने पुत्रो अथवा शिष्यो के साथ धर्मप्रवर्तन मे रत रहते थे और अपने पास-पडोस मे भारतीय अगामेम्ननो अथवा इडिपस के लिये कलचो अथवा तिरेसियो के समान कार्य करते थे। यज्ञ सम्पन्न कराने के लिये प्रधानो के आमन्त्रण पर ये अपने पूज्य दल के साथ उपस्थित होते थे। इस समय वे ऐसे पर्वतो पर अनुष्ठान आरम्भ करते थे जहाँ बाँसो आदि से घेरा तथा मण्डप आदि बना दिया जाता था, क्योकि उस समय आज जैसे मन्दिर अज्ञात थे। वहाँ आकाशीय छत्र के नीचे, वे अपने परम्परागत अथवा नवरचित सूक्तो का उच्चारण करते थे। खेतो मे कार्य करनेवाले कृषको की सफलता, पशुधन मे वृद्धि, तथा साहसिक और सदाचारी वशजो की परम्परा के लिये वे प्रकृति के महान तत्वो का आह्वान करते थे, अपने देवो की स्तुति करते थे, उन्हे धमकाते थे, और पवित्र कृत्य जब दक्षतापूर्वक सम्पन्न हो जाते थे तो वे दक्षिणा से भरपूर, गायो, अश्वो, और सुवर्ण तथा अन्य बहुमूल्य उपहारो से लदी गाड़ियो के साथ अपने आश्रमो मे लौट आते थे। इस प्रकार हम देखते है कितने ऐश्वर्य के द्वारा इन सूक्तो की रक्षा की गई है। कुछ परिवारो के तो ये पितृधन थे, एक प्रकार के ऐसे उत्पादक मूलधन, जिनका सर्वोत्कृष्ट उपयोग स्वयं उन लोगो के ही हित मे था। कुछ मान्य और पूज्य विषयो पर रचित, और कभी कभी किसी नवीन ऋषि की कल्पना द्वारा

की इन उत्तरोत्तर रचनाओं का तथ्य सायण के भाष्य में ऋग्वेद की अनुक्रमणी के सतत उद्धरणों से सिद्ध हो जाता है जो यह दिखाता है कि किसी एक ही वंश की विभिन्न पीढ़ियों को इन रचनाओं का 'द्रष्टा' माना गया है। उदाहरण के लिये तीसरे मण्डल के कुछ सूक्तों का विश्वामित्र के पिता, गाथिन को द्रष्टा कहा गया है, जबकि कुछ अन्य का स्वय विश्वामित्र को, कुछ का उनके पुत्र ऋषभ को, पुनः कुछ अन्य का उनके वंशज कट को, और अन्य का कट के वंश के ही उत्किल को। यहाँ हमें सूक्त-द्रष्टाओं का पाँच अथवा इससे भी अधिक पीढ़ियों तक विस्तार मिलता है। यही तथ्य, अर्थात यह कि विभिन्न सूक्तों की रचनाओं के बीच लम्बी अवधियों का व्यवधान है, स्वयं इन रचनाओं के ही विभिन्न स्थलों से प्रगट होता है।[२३५] इस प्रकार ऋग्वेद के प्रथम सूक्त का द्वितीय मन्त्र इस विषय से सम्बद्ध है : अग्निः पूर्वेभिर् ऋषिभिर् ईड्यो नूतनैर् उत। स देवान् आ इह वक्षति। "पूर्वकाल में जिसकी ऋषियों ने उपासना की थी तथा नूतन ऋषिगण भी जिसकी स्तुति करते हैं, वह अग्नि देवों को यहाँ लायें।"[२३६] सूक्तों तथा उनके रचयिताओं की प्राचीनता के अन्तर का उल्लेख करनेवाले अनेक अन्य मन्त्र उपलब्ध हैं जिनमें से कुछ उदाहरण इस प्रकार है· (ऋग्वेद १.४८,१४) : ये चिद् हि त्वाम् ऋषयः पूर्वे

परिमार्जित अथवा रूपान्तरित होकर एक युग से दूसरे युग मे सचरित होते हुये ये सूक्त प्राचीन होते गये। कभी-कभी इनकी रचना का समय भी इनमें निहित किसी ऋषि के अथवा किसी उदार राजा के नाम से व्यक्त हो जाता है।" लैङ्गलोड ऋग्वेद का फ्रेञ्च अनुवाद, भाग १, भूमिका पृ० x, xi। देखिये जअओसो० ४ २४६ मे प्रो० ह्विट्ने की टिप्पणी भी।

[२३५] इस विषय का प्रस्तुत ग्रन्थ के तीसरे भाग मे अधिक पूर्ण विवेचन किया गया है।

[२३६] इस स्थल पर यास्क की टीका (निरुक्त ७ १६) इस प्रकार है· "अग्निर् य पूर्वैर् ऋषिभिर् ईलितव्यो वन्दितव्य अस्माभिश् नवतरैः स देवान् इह आवहत्व् इति।" "अग्नि, जो पूर्वकालिक ऋषियो के ईडितव्य = वन्दनीय है, और हम जैसे नवीन के भी, वे देवताओ को यहाँ लाये।" सायण इस स्थल पर इस प्रकार भाष्य करते हैं "अयम् अग्नि" "पूर्वेभि" पुरातनैर् भृग्व्-अङ्गिर –प्रभृतिभिर् "ईड्य" स्तुत्यो "नूतनैर् उत" इदानीन्तनैर् अस्माभिर् अपि स्तुत्य।" "यह अग्नि, जिसकी स्तुति करना है, अर्थात्, पूर्वकाल के प्राचीन ऋषियो, जैसे भृगु, अङ्गिरा तथा अन्य, और नवीन अर्थात् वर्तमान हम लोग भी जिसकी स्तुति करते है।"

ऊतये जुहूरे "पूर्वकाल के ऋषि, जिन्होंने अन्न और रक्षा के लिये आहूत किया" इत्यादि। (ऋग्वेद १.६२,१३): सनायते गोतम इन्द्र नव्यम् अतक्षद् ब्रह्म हरि-योजनाय। "गोतमों ने इस अभिनव स्तोत्र की रचना की है। अतः हे इन्द्र, पुरातन पुरुष! तुम रथ में घोड़ों को सन्नद्ध करो।" इत्यादि।[२३७] (ऋग्वेद ३.३२,१३): यः स्तोमेभिर् ववृधे पूर्व्येभिर् यो मध्यमेभिर् उत नूतनेभिः। "पुरातन, मध्यकालीन तथा नवीन स्तोमों से जो इन्द्र बढ़ते हैं।"[२३८] (ऋग्वेद ६.४४,१३) यः पूर्व्याभिर् उत नूतनाभिर् गीर्भिर् ववृधे गृणताम् ऋषीणाम्। "वह इन्द्र जो स्तुति करनेवाले ऋषियों की पुरातन और नूतन स्तुतियों से वृद्धि को प्राप्त हुआ है।" (ऋग्वेद ७.२२,९). ये च पूर्व ऋषियो ये चनूत्नाः इन्द्र ब्रह्माणि जनयन्त विप्राः। "हे इन्द्र! "हे इन्द्र! पुरातन और नूतन दोनों ही प्रकार के ऋषियों ने स्तुतियों का जनयन किया है।" (ऋग्वेद १०.२२,६) स्तोमं ते इन्द्र विमदाः अजीजनन् अपूर्व्यम् पुरुतम सुदानवे। "हे इन्द्र! तुम्हें श्रेष्ठ दानी मानकर ही ही विमदों ने तुम्हारे लिये अपूर्व और विस्तृत स्तोम की रचना[२३९] की।"

यजुर्वेद की वाजसनेयि संहिता (१७.५२) में हमें निम्नलिखित स्थल मिलता है: इमौ तु पक्षाव् अजरौ पतत्रिणौ याभ्या रक्षांसि अपहंसि अग्ने ताभ्याम् पतेम सुकृताम् उ लोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः। "हे अग्ने! तुम्हारे यह दोनों पंख जरा-रहित और उडनशील हैं; इनसे ही तुम राक्षसों को नष्ट करते हो—इन पखों के द्वारा ही हम भी पुण्यात्माओं के उस लोक को प्राप्त हों जिस लोक में हमारे पूर्व-पुरुष, ऋषिगण, जा

---

[२३७] "नव्यम्" नूतनम् "ब्रह्म" एतत् सूक्त-रूप स्तोत्र "नो" अस्मदर्थम् "अतक्षद्" अकरोत्।" सायण। "बनाया गया, अर्थात् हमारे लिये इस नूतन स्तुति को सूक्त के रूप मे बनाया।" ऋग्वेद १ १०९, १, २ १८, ८, और ६ ३२, १, मे भी सूक्तो की रचना को व्यक्त करने के लिये इसी 'तक्ष्' शब्द का प्रयोग किया गया है।

[२३८] पुरातनैः। मध्ये भवैः। अस्माभि क्रियमाणैर् अधुनातनैः स्तोत्रैः।" "पुरातन, मध्यकालीन तथा वर्तमान मे हम लोगो द्वारा निर्मित स्तुतियाँ,।" मूलर (पृ० ४८२) ने भी इस मन्त्र का सन्दर्भ दिया है।

[२३९] 'अजीजनम्' क्रिया सूक्तो के प्रणयन के अर्थ मे ऋग्वेद ८ ७७,४ और ८ ८४,५ मे भी मिलती है। सामवेद २ १०८,१०९ और १०५९ और इसका वेनफे का अनुवाद तथा नोट, पृ० २४५, भी देखिये।

चुके हैं।"[२४०] इस मन्त्र का लेखक स्वयं भी एक ऋषि था, और उसके वक्तव्य के अनुसार यह स्पष्ट है कि उसके समय के बहुत पूर्व भी अन्य ऋषिगण पुण्यात्माओं के लोक में जा चुके थे।

और ऋग्वेद हमें अनेक सूक्तों में पूर्वकाल के ऐसे ऋषियों का (जिन्हें बाद के लेखक इसी वेद के अनेक सूक्तों का रचयिता बताते हैं) सन्दर्भ मिलता है जो प्राचीन समय में देवों की कृपा से मुक्त हो चुके थे। इस प्रकार अनेक वैदिक सूक्तों (पाँचवें मण्डल के ३७,३८,३९,४०,४३,८७ और ८६) के रचयिता अत्रि, कण्व (प्रथम मण्डल के ३७–४३ सूक्तों के रचयिता), और वसिष्ठ (सप्तम मण्डल के अधिकांश सूक्तों के रचयिता) का अनेक सूक्तों, जैसे १.११२, ७.९१६, १.१२०, ३.८; २.११८, ७, में इस प्रकार उल्लेख है मानो ये सब एक पूर्वयुग में हो चुके हों।

इसमें सन्देह नहीं कि सर्वाधिक प्रख्यात ऋषियों के वंशज ऐसे सूक्तों के एक सम्पूर्ण संग्रह को व्यक्त करते हैं जो उनके अपने-अपने पूर्वजों द्वारा रचित है। इस प्रकार, प्राय बिना किसी परिवर्तन के ही, अनेक शताब्दियों तक, जिस अवधि में ये सदैव धार्मिक उपासना के लिये ही व्यवहृत होते रहे, मूल लेखकों के परिवारों में सचरित होनेवाले इन सूक्तों को, जो इस समस्त अवधि में निरन्तर पवित्रता भी अर्जित करते गये, ऋग्वेद नामक एक संहिता जैसे विशाल एवं पवित्र साहित्य के रूप में संकलित कर दिया गया। यह एक ऐसी कृति है जिसे पुराणों में वेदव्यास और उनके एक शिष्य की रचना कहा गया है।[२४१]

---

[२४०] ५ ५८ के अन्तिम शब्दो पर भाष्यकार इस प्रकार टीका करता है "प्रथमजा" पूर्वोत्पन्ना। "पुराणा." पुराऽपि नवा। अजरामरा ऋषयो यत्र लोके जग्मु। "वह लोक, जहाँ प्रथमज ऋषिगण, अर्थात पूर्वोत्पन्न और पुरातन, अर्थात् पूर्वसमय मे उत्पन्न ऋषिगण, और युवा, अजर और अमर ऋषिगण गये है।"

[२४१] मैं यह मानता हूँ कि विभिन्न तथा अज्ञात युगो मे, किसी राजा के आमन्त्रण पर, विद्वान और पुण्यात्मा लोगो को, अनेक पवित्र-वशो के उपयोगार्थ लिये रचित सूक्तो को सकलित करने तथा सम्पूर्ण विषयवस्तु के अनुसार उन्हे किसी सगत क्रम मे व्यवस्थित करने का कार्य सौंपा गया होगा। जब हम उस भावना का निरीक्षण करते हैं जिससे ये सग्राहक प्रेरित हुये थे, तब हमे यह बोध हो जाता है कि शब्दो तथा विचारो की इतनी अधिक आवृत्तियाँ कैसे हुईं। प्राचीन ऋषियो ने एक दूसरे से अनेक ऐसे विचारो को ग्रहण किया था जो अलग-अलग

अनेक शताब्दियों तक, सूक्त रचना की यह प्रक्रिया ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती रही, यह भी सम्भावना बढ़ती गई कि अन्ततः पूर्ण होने पर संकलन में अनेक अपेक्षतया ऐसी नवीन रचनायें भी सम्मिलित हो गई होंगी जिनकी इस प्रक्रिया के ठीक पूर्व के समय में रचना की गई होगी। इस घटना के बाद भी, हम यह देखते है कि कुछ ऐसे सूक्तों की रचना हुई जो पवित्र प्रकृति से समान होते हुये भी पाण्डुलिपियों के मूल भाग में स्थान नहीं प्राप्त कर सके, तथापि इस ग्रन्थ, ऋग्वेद, के खिल-भागों में सम्मिलित हो गये। और जैसा कि प्रोफेसर मूलर मुझे सूचित करते है, इनमें कुछ स्थलों को अन्य तीन वेदों में सम्मिलित कर दिया गया है, तथा आश्वलायन ने यज्ञ के विशेष अवसरों पर इनके प्रयोग का विधान भी किया है। ये खिलभाग, वैदिक संग्रहों में सम्मिलित सूक्तों के बाद की प्राचीनतम विद्यमान रचनायें हों या नहीं (और इनकी शैली से विदित होता है कि इनमें से सभी ऐसे नहीं हैं), कम से कम उस स्थान के कारण जो इन्होंने वैदिक प्रमाणों के अन्तर्गत प्राप्त कर लिया है, इन्हें वैदिक सूक्तों तथा बाद के भारतीय साहित्य के बीच की संयोजक शृङ्खला के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

ऋक्-संहिता के जिन सूक्तों की प्रकृति आधुनिकतम है और अपने समय की दृष्टि से जिनका ऊपर उल्लिखित खिलों से निकटतम कालक्रमगत सम्बन्ध है, वह (प्रोफेसर मूलर, पृ० ४८४, के अनुसार) ऐसे है जिनमें या तो जटिल कर्णकाण्ड तथा अनेक प्रकार के नामों से युक्त और विभिन्न कार्य करनेवाले पुरोहितों का उल्लेख, अथवा संरक्षक राजाओं की पुरोहितवर्ग के प्रति उदारता की प्रशस्ति है। एक रचना, जिसकी आधुनिक प्रकृति को अधिकांश समालोचकों ने स्वीकार किया है,[२४२] दसवें मण्डल का ९० वाँ सूक्त है जिसे पुरुष सूक्त कहते हैं। श्री कोलब्रुक[२४३] ने इसके सम्बन्ध में ये विचार व्यक्त किये हैं :—

"भाषा, छन्द, और शैली की दृष्टि से यह उल्लेखनीय सूक्त उन अन्य स्तुतियों से बहुत अधिक भिन्न है जिनसे इसका सम्बन्ध है। इसका निश्चित रूप से अपेक्षाकृत आधुनिक स्वर है, और इसकी रचना उसी समय हुई होगी जब संस्कृत भाषा में अधिक परिष्कार हो चुका होगा और उसके व्याकरण और

युगों के सकलनकर्ताओ द्वारा दक्षतापूर्वक मृजित हुये थे।" लैङ्ग्लोइ ऋग्वेद का फ्रेंच अनुवाद, भाग १, भूमिका पृ० xiii।

२४२ प्रो० हॉग इसके अवपाद हैं।

२४३ मिस० एसे० १ ३०९, नोट।

छन्द आदि अधिक पूर्णता प्राप्त कर चुके होंगे। इसमें उपलब्ध अन्तर्साक्ष्य इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को व्यक्त करने में सहायक है कि वर्तमान क्रम के अनुरूप वेदों का सङ्कलन उस समय के बाद हुआ जब संस्कृत भाषा ने वेदों के अनेक सूक्तों की एक अनियमित और ग्राम्य बोली से विकसित हो कर वह परिष्कृत और ध्वनियुक्त स्वरूप ग्रहण कर लिया जिसमें पुराणों और काव्यों की रचना हुई है।" (देखिये इस सूक्त के सम्बन्ध में प्रोफेसर मूलर की टिप्पणी, ऐसंलि० पृ० ५७१)। प्रो० मूलर का यह मत है कि केवल दार्शनिक विचारों की उपस्थिति के आधार पर ही किसी सूक्त को आधुनिक मान लेना एक त्रुटि है। परन्तु इस विषय पर उनके विचारों के लिये मैं उन्हीं के ग्रन्थ के पृ० ५५६ और बाद, का सन्दर्भ सङ्केत करना चाहूँगा।

संस्कृत साहित्य की जो रूपरेखा मैंने अभी प्रस्तुत की है उससे यह विदित होगा कि हम लोग प्रायः एक क्रमिक शृङ्खला के आधार पर उसके वर्तमान रूप से लेकर उसके आरम्भ के समय तक के स्वरूप का निर्धारण कर सकते हैं।[२४८] यदि वैदिक सूक्तों को तत्काल उस साहित्य से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता जो उनके बाद मिलता है, तो भी वे उस साहित्य से किसी बहुत अधिक समय-व्यवधान से पृथक् नहीं हैं। साथ ही वे प्रत्यक्षतः उसी उर्वर भारतीय मस्तिष्क की स्वाभाविक रचनायें हैं जिसने बाद में ब्राह्मणों, उपनिषदों, और दर्शनों, तथा विभिन्न महाकाव्यों और पौराणिक काव्यों का सृजन किया।

ऋग्वेद में यद्यपि, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, हमें ऐसे सूक्तों का संग्रह मिलता है जो उत्तरोत्तर अनेक पीढ़ियों द्वारा रचे गये थे तथापि इस ग्रन्थ के प्राचीनतम स्थल भारत के प्राचीनतम लेखकों की आज अवशिष्ट रचनाओं के उदाहरण हैं। ये हमारे सम्मुख न केवल उस प्राचीनतम रूप में, जो आज हमें एकमात्र उपलब्ध है, संस्कृत भाषा को प्रस्तुत करते हैं, वरन् हमें कुछ ऐसी सर्वाधिक प्रामाणिक सामग्री भी प्रदान करते हैं जो भारतीय जाति के

[२४८] सम्भवतः यह विचार किया जा सकता है यहाँ उस दृष्टिकोण के अनुपात से, जो मेरा तात्कालिक अभीष्ट है, इस विषय का विवेचन अधिक विस्तार से किया गया है। मेरा उद्देश्य संस्कृत भाषा के विभाजनों का अध्ययन करना था। परन्तु वैदिकसूक्तों की प्रकृति और प्राचीनता की एक पूर्ण अभिव्यञ्जना, और उस सम्बन्ध का अध्ययन जो इनका भारतीय साहित्य के अन्य अंगों से है, उन अन्यान्य विवेचनों का एक अनिवार्य आधार है जो प्रस्तुत कृति के अगले खण्डों का विषय है। अतः मैंने इस कार्य के लिये इसी को अधिक सुविधाजनक अवसर मान लिया है।

प्राचीनतम धार्मिक तथा राजनीतिक इतिहास, और भारोपीय परिवार की अन्य शाखाओं के साथ उनके प्रागैतिहासिक सम्बन्धों के अनुसन्धान के लिये मात्र उपलब्ध है।

पंचमः – यदि हिन्दुओं द्वारा न्यूनाधिक पवित्र माने गये अन्य ग्रन्थों, उदाहरण के लिये महाकाव्य तथा पुराण, की तुलना में वैदिक सूक्तों की प्राचीनता के लिये और अधिक प्रमाण की आवश्यकता हो तो उसे हम क्रमशः इन दोनों वर्गों की रचनाओं मे उपलब्ध पुराकथाशास्त्रीय पद्धतियों के अत्यधिक अन्तर में ढूंढ सकते हैं। यतः मैं प्रस्तुत कृति के एक अन्य भाग (चतुर्थ) में इस विषय का विवेचन करूँगा, अतः यहाँ मैं इसके एक अत्यन्त संक्षिप्त उल्लेख तक ही अपने को सीमित रखूँगा। प्रो० एच० एच० विलसन के उनके ऋग्वेद के अनुवाद की प्रस्तावना (पृ० XXIV, XXVII) उद्धृत निम्नलिखित स्थल उस अन्तर के सम्बन्ध पर कुछ प्रकाश डालेगा जिसकी मैंने ऊपर चर्चा की है:—

"दूसरा प्रश्न यह है कि देवता कौन है जिन्हें [ऋग्वेद में] प्रशस्तियों और स्तुतियों से सम्बन्धित किया गया है? और यहाँ हमें ऋग्वेद, तथा महाकाव्यों और पुराणों के पुराकथाशास्त्र में उल्लेखनीय, अन्तर मिलता है। जिन देवों की स्तुति की गई है वे वाद की पद्धतियों मे अज्ञात नहीं है, किन्तु यहाँ उनका अत्यन्त गौण स्थान हो गया है, जब कि वे देवता जो परवर्ती काल में अत्यन्त महान बन गये हैं उनका वेदों में या तो नाम ही नहीं है अथवा एक हीन और भिन्न रूप से ही उल्लेख है। जहाँ तक हम परिचित हैं, शिव, महादेव, दुर्गा, काली, राम, कृष्ण, आदि के नाम वेदों मे कहीं नहीं आते। हमें एक रुद्र मिलते हैं जिन्हें वाद के समय में शिव के साथ समीकृत कर दिया गया है, किन्तु पुराणों तक में इस देवता की उत्पत्ति या समीकरण अत्यन्त सदिग्ध है, जब कि वेद में इन्हें वायु देवताओं का पिता, कहा गया है, और ये प्रत्यक्षतः या तो अग्नि अथवा इन्द्र के रूप हैं। इनके लिये व्यवहृत उपाधि, कपर्दिन्,[२४५] का वास्तव में शिव की एक चारित्रिक विशेपता से सम्ब-

---

[२४५] [यह उपाधि प्रथममण्डल के ११४ वे सूक्त के प्रथम मत्र मे आती है जो इस प्रकार है "इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्रभरामहे मती। यथा शम् असद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वम् पुष्ट ग्रामे अस्मिन्न् अनातुरम्।" "हम कपर्दिन, योद्धाओ के विनाशक तथा शक्तिशाली रुद्र की इसलिसे स्तुति करते हैं कि द्विपाद और चतुष्पाद जीव स्वास्थ्यलाभ करें, और इस ग्राम के समस्त जीव व्याधियो से मुक्त होकर पुष्ट रहे।" ऋग्वेद ६.५५.२ ओर ९.६७,११ मे

न्ध है—उनके द्वारा एक विशेष प्रकार की जटा रखने से, किन्तु वेद में सम्भवतः इस शब्द का एक भिन्न अर्थ है जो अब विस्मृत हो गया है, यद्यपि बाद में इसी ने इस प्रकार की जटा से युक्त शिव के अग्नि के साथ समीकृत किये गये होने के विचार को जन्म दिया हो सकता है। उदाहरण के लिये कपर्दिन्, चारों ओर फैल रही ज्वालाओं से घिरे मस्तक को व्यक्त कर सकता है, अथवा यह शब्द केवल प्रक्षिप्त मात्र भी हो सकता है। जो कुछ भी हो, इसके अतिरिक्त शिव की अन्य कोई भी उपाधि वेद में नहीं मिलती, और कम से कम उस रूप का तो लेशमात्र भी संकेत नहीं है जिसमें प्रायः गत दस शताब्दियों से भारतीय इनकी पूजा करते हैं—अर्थात् लिङ्ग रूप की। हिन्दु धर्म की एक बाद की अन्य महत्त्वपूर्ण विशिष्टता, अर्थात् रहस्यवादी व्याहृति 'ओम्' द्वारा व्यक्त ब्रह्मा, विष्णु, और शिव की त्रिमूर्त्ति, का भी लेशमात्र संकेत नहीं मिलता, यद्यपि धर्मों की प्राचीनता का विवेचन करनेवाले एक उच्च और आधिकारिक विद्वान, क्र्यूजर (रिलीजन्स दि ल' ऐन्टिके, भाग १, अध्या १, पृ० १४०) के अनुसार हिन्दू धर्म का प्रथम तत्व त्रिमूर्ति ही है, और लिङ्गम् द्वितीय।"

शतपथ ब्राह्मण की रचना जैसे बाद के समय तक में वे नाम, जो बाद में महादेव के लिये व्यहृत होने लगे, अग्नि के लिये प्रयुक्त हुये हैं। यह इस ग्रन्थ से लिये गये निम्न उद्धरणों से स्पष्ट हो जायगा (१.७,२,८)—अग्निर् वै देवः। तस्य एतानि नामानि "शर्वः" इति यथा प्राच्या आचक्षते "भवः" इति यथा बाहीकाः "पशूनाम् पतिः" "रुद्रः" "अग्निर्" इति। तान्य् अस्य अशान्तान्य् एव इतराणि नामानि। "अग्निर्" इत्य् एव शान्ततमन्। "अग्नि एक देवता हैं। उनके नाम ये हैं. 'शर्व' जैसा कि उन्हें प्राच्य लोग पुकारते हैं, 'भव' जैसा कि बाहीकगण कहते हैं; 'पशुओं के पति', 'रुद्र' और 'अग्नि। ये अन्य उनके अशुभ नाम हैं। अग्नि उनका शान्ततम नाम है।" (देखिये वेबर का इण्डिशे स्टूडियन, १.१८९; २,१९–२२, ३७, ३०२, शतपथ ब्राह्मण ६.१,३,१०–१७, ९.१,१, २ जो प्रस्तुत ग्रन्थ के चौथे भाग में उद्धृत है, और जअओसो० ३.३१९)।[२४८]

यही उपाधि, कपर्दिन्, पूषा के लिये व्यवहृत हुई है। प्रस्तुत ग्रथ का पाँचवाँ भाग भी देखिये—लेखक]।

[२४८] मैं यहाँ कुछ ऐसे स्थल भी उद्धृत कर रहा हूँ जिनका मेरे इस ग्रन्थ के चौथे भाग में उल्लेख नही है। तैत्तिरीय संहिता (१.५, १,१) मे यह आख्यायिका मिलती है : 'देवासुरा संयत्ता आसन्। ते देवाः विजयम् उपयन्तोऽग्नौ वाम वसु सन्न्यदधत "इदम् उ नो भविष्यति यदि नो जेष्यन्ति" इति।

पुनः, अपनी प्रस्तावना के पृष्ठ XXIV पर प्रोफेसर विलसन विष्णु के सम्बन्ध में इस प्रकार कहते हैं :—"विष्णु के लिये कोई पृथक सूक्त तो नहीं है किन्तु उनका त्रिविक्रम के नाम से उल्लेख है जिससे उनका तात्पर्य है जिन्होंने तीन पग रक्खे। कोलब्रुक के विचार से इसी उल्लेख ने बाद के वामन अवतार सम्बन्धी पौराणिक आख्यान को पृष्ठभूमि प्रदान किया हो सकता है। इससे वामन-अवतार का संकेत मिला हो सकता है, किन्तु वेद में अवतार की धारणा का कोई संकेत नहीं है, और इस बात में भी कोई सन्देह नहीं है कि यहाँ उल्लिखित तीन पगों से सूर्य के पथ के तीन कालों का, अर्थात् उनके उदय, मध्याह्न तथा अस्त का ही तात्पर्य हो सकता है।"[२४७] प्रोफेसर विलसन द्वारा उद्दिष्ट स्थल यह है : ऋग्वेद १,२२, १६–२१,—१६. अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर् विचक्रमे। पृथिव्याः सप्त धामभिः[२४८] । १७. इदं विष्णुर् विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूलहम् अस्य पांसुरे। १८. त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर् गोपाः अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्।

तद् अग्निर् न्यकामयत। तेन अपाक्रामत्। तद् देवा विजित्य अवरुरुत्समानाः अन्वायन्. तद् अस्य सहसा आदित्सन्त। सोऽरोदीत् यद् अरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्।" "देवो और असुरो ने युद्ध किया। विजयप्राप्ति के निकट पहुँचकर देवो ने अपनी वाञ्छित सम्पत्ति को इसलिये अग्नि के पास रख दिया कि यदि उनके शत्रु उन्हे पराजित भी कर दें तब भी वह सम्पत्ति उनके ही पास बनी रहे। उस सम्पत्ति की इच्छा से अग्नि उसके साथ भाग गये। तब अपने शत्रुओ को पराजित करके अपनी सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिये देवो ने अग्नि का पीछा किया और शक्तिपूर्वक उसे छीन लेना चाहा। तब वह (अग्नि) रुदन करने लगे। 'रुदन' करने से ('रुद्' धातु से 'अरोदीत्') उन्होने 'रुद्र' की प्रकृति और नाम प्राप्त किया।" इसी सहिता के ५ वें खण्ड मे हमे ये शब्द मिलते है : "रुद्रो वै एष यद् अग्नि.।" "यह अग्नि ही रुद्र है।" ५ ५, ७ ३ मे भी ये शब्द मिलते है . "रुद्रो वै ऐष यद् अग्निः। स यथा व्याघ्र. क्रुद्धस् तिष्ठत्य् एव वै एष। तर्हि सचितम् एतैर् उपतिष्ठते नमस्कारैर् एव त शमयति।" "यह अग्नि ही रुद्र है। यह व्याघ्र के समान क्रुद्ध होते हैं। तदनन्तर प्रज्वलित होने पर वह उनके पास जाता है और इन स्तुतियो से उन्हे शान्त करता है।"

[२४७] निरुक्त के भाष्य मे दुर्गाचार्य ने स्पष्ट रूप से ऐसा कहा है। देखिये भागवतपुराण के तृतीय भाग पर बर्नफ की प्रस्तावना, पृ० XXII।

[२४८] 'सप्तधामभिस' के स्थान पर सामवेद ३,१०२४ मे 'अधि सानवि' पाठ है।

आकाश में,' ऐसा शाकपूणि का कथन है। पार्थिव अग्नि बनकर वह थोड़ी मात्रा में पृथिवी पर रहते हैं, विद्युत के रूप में अन्तरिक्ष में रहते हैं, और सूर्य के रूप में आकाश में। यह कहा गया है कि 'उन लोगों ने उन्हें (अग्नि को) त्रिगुणात्मक रूप में उत्पन्न किया' (ऋग्वेद १०.८८,१०)। आचार्य और्णवाभ के विचार से यह अर्थ है : वह एक पग समारोहण के स्थान पर रखते हैं जब वे उदयाचल पर उदित होते हैं, दूसरा पद अन्तरिक्ष में मध्याह्न के समय विष्णु पद पर, और तीसरा अस्ताचल के नीचे गयशिरस् पर।"

जो बाद के हिन्दू पुराकथाशास्त्र से थोडा सा भी परिचित है वह तत्काल यह देख सकता है कि शिव और विष्णु सम्बन्धी पुराण के वर्णनों से यह वैदिक विवरण कितना भिन्न है।[२५०] देवों से सम्बद्ध धारणाओं में इस प्रकार का परिवर्तन कालगत है। अतः यहाँ भारतीय साहित्य के अन्य अंशों की अपेक्षा वैदिक सूक्तों की प्राचीनता का हमें एक और प्रमाण मिलता है।

षष्ठ :—बाद के शास्त्रों की तुलना में वैदिक सूक्तों की अपेक्षाकृत अधिक प्राचीनता का एक अन्य प्रमाण इस तथ्य में मिलता है कि बाद के कालों के प्रचलनों की तुलना में वेद अपनी रचना के समय के भारतीयों की धार्मिक संस्थाओं का एक सर्वथा भिन्न चित्र उपस्थित करते हैं। इस विषय से सम्बद्ध विवरणों के लिये मैं प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग के प्रायः सभी अंशों के अवलोकन परामर्श दूँगा।

सप्तमः—बाद की संस्कृत ने जो रूप ग्रहण किया, उससे वैदिक युग की संस्कृत अपने अनेक रूपों सहित कितनी भिन्न थी, और आज भी कितनी भिन्न है वह ऋग्वेद से लिये गये निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा :—

नीचे मैं ऋग्वेद के उदाहरण तथा उनके नीचे उनके सम्भाव्य आधुनिक संस्कृत रूपों को दे रहा हूँ।

ऋग्वेद १ २,१ :

वैदिक	वायव् आयाहि दर्शत इमे सोमाः अरंकृताः । तेषाम् पाहि श्रुधि हवम् ।	हे वायु ! यहाँ आओ, यह सोम बना हुआ है,[२५१] इसे पीओ, हमारे वचनों पर ध्यान दो।
आधुनिक	वायव् आयाहि दर्शनीय इमे सोमः अलंकृता.। तेषाम् पिब शृणु हवम् ।	

---

[२५०] इन दो देवताओं की धारणाओं मे जो परिवर्तन हुये है उनको मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ के चौथे भाग मे पूरी तरह दिखाया है। अत और अधिक विवरण के लिये पाठक उसी भाग को देखें।

[२५१] प्रो० आफरेख्त का विचार है कि आधुनिक संस्कृत मे 'अलंकृत' का

यहाँ यह देखा जा सकता है कि चार वैदिक शब्द, 'दर्शत', 'अरंकृता', 'पाहि', और 'श्रुधि' आधुनिक संस्कृत रूपों से भिन्न है।

ऋग्वेद १.३, ७ :

वैदिक	ओमासश् चर्पणीधृतो विश्वे देवासः आगत । दाश्वांसो दशुषः सुतम् ।	हे विश्वेदेवो ! तुम रक्षक, धारक, और दाता हो; अतः जो तुम्हें हवि देता है उसे प्राप्त होओ।
आधुनिक	ओमाः [रक्षकाः] चर्पणिधृतो विश्वे- देवाः आगच्छत । दातारो दातुः सुतम् ।	

यहाँ वैदिक रूप 'ओमासः,' 'देवासः,' और 'आगत,' लौकिक 'ओमाः,' 'देवाः,' और 'आगच्छत' के लिये प्रयुक्त हुये हैं।

ऋग्वेद ७.३३, ५ ,

वैदिक	वसिष्ठस्य स्तुवतः इन्द्रो अश्रोद् उरुं तृत्सुभ्यो अकृणोद् उ लोकम्	वसिष्ठ की स्तुति इन्द्र ने सुनी और तृत्सुओं को विस्तृत स्थान दिया।
आधुनिक	वसिष्ठस्य स्तुवत इन्द्रो अशृणोद् उरुम् तृत्सुभ्यो अकरोद् उ लोकम् ।	

यहाँ हमें आधुनिक 'अशृणोत्' और 'अकरोत्' के लिये वैदिक रूप 'अश्रोत्' और 'अकृणोत्' मिलते हैं।

वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के बीच के इस बहुधा मिलनेवाले तथ्य को महान् वैयाकरण, पाणिनि, ने अपनी कृति के प्रायः प्रत्येक पृष्ठ पर स्वीकार किया है। मैं यहाँ इस सम्बन्ध में उनके सूत्र तथा वार्तिक में दिये गये उदाहरण को उद्धृत कर रहा हूँ (७.२, ६४):—बभूथ आततन्थ जगृभ्म ववर्थ इति निगमे। इत्य् एतानि वेदे निपात्यन्ते। भू। "होता प्रथमो बभूथ"। "बभूविथ" इति लोके। तनु। "येन अन्तरिक्षम् उरु आततन्थ"। "आतेनिथ" इति लोके। ग्रह। "जगृभ्म ते दक्षिणम् इन्द्र हस्तम्"। "जगृहिम" इति लोके। वृञ्। "ववर्थ त्वं हि ज्योतिषा"। "ववरिथ" इति लोके। "साधारण शब्दरूपों, 'बभूविथ,' 'आतेनिथ,' 'जगृहिम' और 'ववरिथ,' के स्थान पर असाधारण रूपों जैसे 'बभूथ,' 'आततन्थ,' 'जगृम्भ,' और 'ववर्थ' का वेद में व्यवहार होता है, जैसे कि इन वाक्यों में 'तुम प्रथम होते थे,' 'तुमने इस विस्तृत अन्तरिक्ष को कहाँ से ताना,' 'हे

अर्थ 'बनाया गया' नहीं है, इसी प्रकार 'तेपाम् पिब' रूप भी बाद की संस्कृत में अनुपयुक्त होगा; और 'चर्पणिधृत्' को तो आधुनिक समय में समझा ही नहीं जा सकता।

इन्द्र ! हमने तुम्हारे दाहिने हाथ को पकड़ा है,' 'तुमने ज्योति से आवृत्त किया'।"

सूत्र ६.४, १०२ में भी ऐसे अन्य रूपों का उदाहरण दिया गया है जो वेद की ही विशेषता हैं, जैसे ये आज्ञार्थक रूप : 'शृणु' के लिये 'श्रुधि' (सुनो); 'कुरु' के लिये 'कृधि' (करो); 'वृणु'के लिये 'वृधि' (ढाँको), 'पृणीहि' के लिये 'पूर्धि' (भरो) ।

महाभाष्य पर नागेशभट्ट के विवर्ण में कुछ ऐसे रूपों का सन्दर्भ मिलता है जो केवल वेद में ही व्यवहृत हुये हैं : एवं च वेद-मात्रान्तर्गत-"कर्णेभिर्-देवासो-गृभ्णामि"-इत्याद्य-अतिरिक्त-परता लौकिक-शब्दस्य तेस् तद्-व्यवहारादर्शनात् । "लौकिक" शब्द से ऐसे शब्दों का तात्पर्य है जो, जैसे 'कर्णेभिः' ('कर्णैः' के लिये), 'देवासः ('देवाः' के लिये), और 'गृभ्णामि' ('गृह्णामि' के लिये) आदि केवल वेद में ही मिलनेवाले शब्दों से भिन्न होते हैं, क्योंकि हम लौकिकों को इन (वैदिक) शब्दों का व्यवहार करते नहीं देखते।"

'ई' तथा 'आ' से अन्त होनेवाले क्लीव बहुवचन भी वैदिक सूक्तों में अक्सर आते हैं, जैसे 'त्री' और 'पूर्णा' (क्रमशः 'त्रीणि' और 'पूर्णानि' के लिये) । इसी प्रकार 'न'कारान्त सञ्ज्ञाओं के अन्तिम 'इ'कार को भी अधिकरण में अक्सर छोड़ दिया जाता है, जैसे 'अश्मन्,' 'अध्वन्,' 'कर्मन्,' 'चर्मन,' 'जन्मन्,' 'धन्वन्,' 'शर्मन्,' 'व्योमन्' (क्रमशः 'अश्मनि,' 'अध्वनि' इत्यादि के लिये) में। इसी प्रकार कर्त्ता और कर्म द्विवचन में 'औ' के स्थान पर 'आ' का प्रयोग होता है, जैसे 'या सुरथा' ('यौ सुरथौ' के लिये), इत्यादि।

इकारान्त संज्ञाओं में करण बनाने के लिये अक्सर 'या' के स्थान पर 'ई' का, जैसे 'शक्त्या' के लिये 'शक्ती,' और अधिकरण बनाने के लिये 'औ' के स्थान 'आ' का जैसे 'नाभौ' के लिये 'नाभा'। 'उकारान्त' संज्ञाओं का, करण रूप बनाने के लिये 'उना' की अपेक्षा 'वा' का प्रयोग होता है, जैसे 'क्रत्वा,' 'मध्वा,' 'शर्वा,' ('क्रतुना' इत्यादि के लिये); सम्प्रदान बनाने के लिये 'अवे' की अपेक्षा 'वे' का, जैसे 'क्रत्वे,' 'शिश्वे,' ('क्रतवे' आदि के लिये), षष्ठी रूप बनाने के लिये 'ओः' अथवा 'उनः' की अपेक्षा 'वः' का, जैसे 'पशोः' के लिये 'पश्वः', 'मधुनः' के लिये 'मध्वः'; और अधिकरण बनाने के लिये 'औ' की अपेक्षा 'अवि' का, जैसे, 'अनवि, त्रसदस्यवि, दस्यवि, द्रुह्यवि, सानवि', ('अनौ' इत्यादि के लिये), प्रयोग मिलता है। 'ईकारान्त, शब्द कर्ता एकवचन में 'ई' की अपेक्षा 'ई.' बन जाते हैं, जैसे

इसी प्रकार, सूक्तों में वैयाकरणों द्वारा 'लेट्' कहा गया लकार भी कहीं कहीं मिलता है, जिसमें, प्रो० विलसन (व्याकरण, द्वि० सं०, पृ० ४६३) के अनुसार 'लिङ्', 'लोट्', तथा साथ ही साथ, सोपाधिक तथा अकर्तृक, सभी आशय निहित हैं। ऐसे रूप ये हैः 'पताति' आवहासि, जीवाति, वधान्, यजाति, पच्छाति, वनाति, ब्रवाम, असत्, भुवत्, सुनवत्, दशत्, शृणवत्, श्रवत्, निन्दात्, निनित्सात्, यजातै, पृणैथे'। कुछ क्रियाओं में द्वितीय पुरुष बहुवचन लोट् में 'न' अक्षर जोड दिया गया है, जैसे 'पिपर्तन' विवक्तन, तिरेतन; दिदिष्टन', इत्यादि। 'त्वया' में लुङ् भविष्यत्कालिक कृदन्त अक्सर कुछ क्रियाओं में 'त्व' के रूप में आता है, जैसे 'कर्त्वं, जन्त्व, और सोत्व' (ऋग्वेद १० १६०,२)।

बहुधा आनेवाली विभिन्न क्रियाओं के कारक रूपों में उपलब्ध कुछ विचलन इस प्रकार हैं: लोट् में 'अव' के स्थान पर 'अव्', 'अविड्ढि' बनता हैं; 'कृ' वर्तमान काल में 'करोषि' के लिये 'कर्षि, करसि, और कृणोषि' हो जाता है, 'अकरोः' के लिये 'अकर्' अकरः, और अकृणोः' होता है, 'अकुर्वन्' के लिये 'अक्रन् और अकृण्वन्' होता है, 'अकुरुत' के लिये 'अकृनुत, और अकृनोतण' होता है; 'कुरु' इत्यादि 'कृधि, कर, कृणु, और कृणुहि हो जाते हैं; 'गच्छति' के स्थान पर 'गम्' का 'गमति, गन्ति, जगन्ति' रूप हो जाता है, 'गच्छेयम' का 'गमेयम्, और जगम्याम्' हो आता है। 'आगच्छेत्' के लिये 'आगम्यात्' का, 'आगच्छथ' के लिये 'आगथ' का, 'अगच्छत्' के लिये 'अगन्' और 'गन्' का, 'अगच्छाम्' के लिये 'अगन्म' का, 'अगच्छन्' के लिये 'अग्मन्' और 'ग्मन्' का, 'आगच्छ' और 'आगच्छतु' के लिये 'आगहि' और 'आगन्तु' का, गच्छत' के लिये 'गन्त' और 'गन्तन' का प्रयोग मिलता है। द्विरावृत्तिक लिट् में 'त्यज्' धातु 'तत्याज' की अपेक्षा 'तित्याज', तथा लुङ् 'तन' का 'अतानीत्' के स्थान पर 'अतान्' होता है। 'दृश्' का 'अद्राक्षीत्' के स्थान पर 'अद्राक्' होता है और जहाँ लौकिक संस्कृत में 'पश्येयम्' है वहीं यहाँ 'दृशेयम' मिलता है। इसी प्रकार 'अपश्यन्' के लिये 'अदृश्रन्', तथा 'ददृशिरे' के लिये 'ददृश्रे' मिलता है। उपसर्ग लगाने पर 'तर्' धातु अक्सर 'तिर्' हो जाती है, जैसे 'अतिरत्, प्रतिर, वितिरन्ति' आदि में। 'अदुहत' के स्थान पर 'दुह्' का 'अदुह्र' हो जाता है। 'हित' के स्थान पर 'धा' का 'धित' हो जाता है (यद्यपि इसी पुरातन रूप का एक उदाहरण बॉटलिङ्क तथा रॉथ ने हरिवंश ७७९९ से दिया है, और शतपथ ब्राह्मण में भी 'धित्वा' मिलता है। 'दह्' का लुङ् में 'अधाक्षीत्' के स्थान पर 'अधाक्' और 'धाक्' हो जाता है। 'दा' का 'ददाति और ददातु' के स्थान पर 'दाति और दातु', तथा 'देहि' का 'दद्धि' हो जाता है। 'भू' धातु का

लोट् में 'भवतु' के स्थान पर 'भूतु' होता है; और 'भृ' का द्विरावृत्तिक लिट् 'बभार' के स्थान पर 'जभार' होता है। 'मुच्' का 'मुञ्च और मुञ्चतु' के स्थान पर 'मुमुग्धि और मुमोक्तु' हो जाता है। 'यम्' का 'यच्छति, यच्छामि, यच्छ, यच्छत', के स्थान पर 'यमति, यंसि, यन्धि, यन्त' होता है। 'वृत्' का 'आवर्त्तत' (ऋग्वेद ७.५९, ४) के स्थान पर 'अवर्त + आ' = आवर्त्' और यङन्त के लिये 'आववर्त्तति' (ऋग्वेद ८.७७,४) होता है। 'विद्' का 'विद्धु' (?) के स्थान पर 'विद्रे' (ऋग्वेद ७.५६,२), और 'विद्धि' (?) के स्थान पर 'विविड्ढि' हो जाता है। 'श्रु' का लोट् में ('श्रुधि' के अतिरिक्त) 'शृणु' के स्थान पर 'शृणुहि' और 'शृणुधि', तथा 'शृणुत' के स्थान पर 'शृणोत और श्रोत', (ऋग्वेद ५.८७,८) होता है। 'स्पर्ध्' का 'पस्पृधिरे' के स्थान पर 'पस्पृध्रे' होता है। 'हु' का 'जुह्विरे' के स्थान पर 'जुहुरे' होता है। ऋग्वेद १० १२५,४ में एक 'श्रद्धिवम्' रूप, मिलता है जो केवल ऋग्वेद की ही विशेषता प्रतीत होता है (अथर्ववेद ४.३०,४ में इसके स्थान पर 'श्रद्धेयम्' आता है)। भविष्यत्कालिक कृदन्तों की दशा में ऋग्वेद में अक्सर 'अनीय' के लिये 'एन्य', जैसे 'ईडनीय' इत्यादि के लिये 'ईडेन्य, कीर्तेन्य, दर्शेन्य, युधेन्य, वरेण्य, इत्यादि आते हैं। केवल वेद की ही विशेषतावाले कुछ अन्य रूप 'गृह्णाति' इत्यादि के लिये 'गृभायति' ('गृभ्णाति' भी), दभायति, मथायति, मुषायति, स्तभायति' इत्यादि हैं। और लिट् से उत्पन्न ये रूप भी, जैसे 'वस्' से 'जचीयात्' 'पपत्यात्', 'ममन्यात्', तथा लोट् के प्रथम पुरुष के संक्षिप्त रूप, जैसे 'निरया' (ऋग्वेद ४.१८,२), 'प्रचरा' (ऋग्वेद ८.२७,६), और 'प्रनवा' (ऋग्वेद १०.३९,५) ('निरयानि' इत्यादि के लिये)।

अन्य वैदिक विशिष्टतायें ये हैं: (क) वह प्रणाली जिसके अनुसार विशेषणों का, कर्म के विशेषक के रूप का, उन क्रियाओं के साथ जिनके साथ ये सम्बद्ध होते हैं, स्वयं क्रिया के रूप में प्रयोग, जैसे 'यं यज्ञम् परिभूर् असि' (ऋग्वेद १.१,४), 'वीळु चिद् आरुजत्नुभिः' (ऋग्वेद १.६,५), 'ता सोमं सोमपातमा' (ऋग्वेद १.२१,१), 'चक्रिर् यो विश्वा' (ऋग्वेद ३.१६,४), 'वभ्रिर् वज्रम पपिः सोमं ददिर् गा' (ऋग्वेद ६.२३,४); 'ददिः रेक्नस् तन्वे ददिर् वसु' (ऋग्वेद ८.४६, १५, २.१४,१, ६.७२,३)। (ख) वर्तमान कालिक कृदन्तों से बने समास, जैसे 'आभरद्-वसु', 'ऋधद् रि', 'धारयत्-कवि', 'क्षयद्-वीर', 'अवयत्-सखा', और (ग) क्रियाओं से उपसर्गों का पृथक्त्व, जो बहुधा ही मिलता है, जैसे 'उप त्वा एमसि' (ऋग्वेद १.१,७), 'गमद् वाजेभिर् आ स नः' (ऋग्वेद १.५,३), 'आ त्वा विशन्तु आशवः सोमासः'

(ऋग्वेद १.५,७); 'आ त्वा वहन्तु' (ऋग्वेद १.१६,२); 'नि च धीमहि' (ऋग्वेद १.१७,६)।

फिर भी, वैदिक और बाद की संस्कृत में मिलनेवाली इन विभिन्नताओं के आधार पर यह कदापि नहीं मान लेना चाहिये कि ये दोनों भाषायें अनिवार्यतः एक समान नहीं हैं। विषय-वस्तु का अधिकांश, तथा भाषा के रूप का भी बहुत कुछ दोनों ही कालों मे समान था, वैदिक धातुओं और संज्ञाओं में से केवल कुछ ही बाद के समयों में अप्रचलित हो गईं; और रूपरचना के विभिन्न वैदिक प्रकार केवल रूप-रचना की उस प्राचीन प्रणाली को व्यक्त करते हैं जो सूक्तों की रचना के समय प्रचलित थी किन्तु कालान्तर में धीरे-धीरे अप्रचलित हो गई।[२५४] फिर भी इनमें से कुछ बहुत समय तक लौकिक

---

[२५४] वैदिक और लौकिक सस्कृत के अन्तर के सम्बन्ध मे प्रो० व्हिट्ने का विवरण इस प्रकार है:—

"वेदो की भाषा एक अपेक्षतया प्राचीन बोली है जो व्याकरणिक और शाब्दिक दोनों ही दृष्टियो से लौकिक संस्कृत से बहुत अधिक भिन्न है। इसकी व्याकरणिक विशेषतायें सभी क्षेत्रो, जैसे सुस्वरता के नियम, शब्द-रचना और वाक्य-रचना, कारक तथा विभक्ति रूप, आदि मे लक्षित होती हैं। [ये विशेषताये] अशत ऐसी हैं जो एक ऐसी प्राचीनतर भाषा की प्रकृति को व्यक्त करती है जो अभी पूर्णतया पुष्पित और सजीव है, जिसकी स्वतन्त्रता सामान्य प्रचलन के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के नियम से आवद्ध नही है, और जो सस्कृत के समान, अभी एक वोली जानेवाली भाषा के रूप मे अतीत के गर्त मे विलीन होकर केवल विद्वानो के बीच औपचारिक सचार की एक ऐसी भाषा के रूप मे सीमित नही हो गई है जिसे दीर्घकालीन तथा प्रायः उकता देनेवाले व्याकरणिक नियमो मे जकड दिया गया है।...इन दोनो ही भाषाओ के शब्दो के बीच की इस असमानता को न देखना कुछ न देखने के बराबर है। न केवल एकाकी शब्दो का, वरन् व्युत्पन्न रूपो और धातुओ के सम्पूर्ण वर्ग तथा उनसे बने ऐसे शब्दो का जो वेद मे बहुधा मिलते है, लौकिक सस्कृत मे कोई क्षीण चिह्न भी वर्तमान नही है। और यह विभेद इस सीमा तक लक्षित होता है कि इन दोनो को एक दूसरे की माता तथा पुत्री मानने के लिये दोनो के बीच उससे कही दीर्घ अवधि के व्यवधान की आवश्यकता पडेगी जितनी साधारण रूप से स्वीकृत की गई है क्योकि इनके व्याकरणिक तथा अधिक विशेष रूप से ध्वनिशास्त्रीय अन्तरो की व्याख्या के लिये ऐसा ही आवश्यक है।" (जअओसो०, ३.२९६, २९७)।

प्रयोग में आते रहे, जैसा कि हमें 'ऐसु' के लिये उस करण बहुवचन 'एभिस्' के प्रयोग से विदित होता है जो गाथा तथा ललितविस्तर (देखिये ऊपर पृ० १७४ पर दिये उदाहरण) में प्रायः अपरिवर्तित रूप से प्रयुक्त होता रहा, और कुछ परिवर्तित 'एहि' तथा 'एभि' जैसे रूपों में पालि में भी मिलता है।

वैदिक सूक्तों की प्राचीनता का एक और प्रमाण उस तथ्य में उपलब्ध है जिसकी ऊपर पृ० २३० पर चर्चा की जा चुकी है, अर्थात् यह कि वेद में प्रयुक्त अनेक शब्द बाद में अप्रचलित हो गये क्योंकि बाद के संस्कृत साहित्य में वे नहीं आते। ऐसे शब्दों के अर्थ का निर्धारण अक्सर अत्यन्त कठिन होता है क्योंकि उनके अर्थ से सम्बद्ध कोई परम्परा सुरक्षित प्रतीत नहीं होती। यहाँ तक कि यास्क जैसे प्राचीनतम व्याख्याकार भी इनके अर्थ के लिये व्युत्पत्तिशास्त्र का आश्रय लेने के लिये विवश हैं। (इस विषय पर देखिये जएसा० २, पृ० ३०३, में प्रकाशित मेरा 'ऑन दि इन्टरप्रिटेशन ऑफ दि वेद' शीर्षक लेख)।

यतः वेद के सूक्त ऐसे प्राचीन भारतीय ऋषियों की रचनायें हैं जो, जैसा कि हम देख चुके हैं, अक्सर अपने को इनका निर्माता, रचनाकार अथवा उत्पन्न-कर्त्ता कहते हैं,[१५५] अतः इनकी रचना उससे भिन्न किसी भाषा में हुई नहीं हो सकती जिसका ऋषिगण तथा उनके समसामयिक लोग अपने दैनिक वार्तालाप में प्रयोग करते थे।

इसमें सन्देह नहीं कि सूक्तों में इस विचार के भी प्रत्यक्ष चिह्न मिलते हैं कि इनके ऋषियों ने इनका दर्शन किया था,[१५६] जैसा कि इस उदाहरण से

---

[१५५] प्रस्तुत ग्रन्थ के तीसरे भाग मे इस विषय से सम्बद्ध अनेक उद्धरण देखे जा सकते है।

[१५६] प्रस्तुत ग्रन्थ के तीसरे भाग मे इस विषय की अधिक विस्तृत व्याख्या की गई है। निरुक्त के अपने उदाहरणो मे रॉथ ने ऋग्वेद के चौथे मण्डल के पाँचवे सूक्त के सम्बन्ध मे यह मत व्यक्त किया है . "सूक्त का ऋषि, वामदेव, स्वय अपने को एक ऐसे गुह्य और दुरूह विद्या का ज्ञाता कहता है जिसे अग्नि ने उसे प्रदान किया था (मंत्र ३ और ६)।" तीसरा मन्त्र इस प्रकार है "साम द्विबर्हा महि तिग्मभृष्टिः सहस्ररेता. वृषभस् तुविष्मान्। पदम् न गोर् अपगूलहम् विविद्वान् अग्निर् मह्यम् प्रेदु वोचद् मनीषाम् ॥ "अग्नि, जो अति-श्रेष्ठ, शक्तिशाली, तीक्ष्ण तेज से युक्त, सम्पन्न, अभीष्टों की वर्षा करने वाले, बलवान, पवित्र सूक्त के ज्ञाता, और पर्वत मे छिपे गोष्ठ के समान रहस्यपूर्ण हैं, उन्होंने मुझे इसका ज्ञान प्रदान किया है।"

प्रगट होता है: ऋग्वेद १. ३७, ४:—देवत्तम् ब्रह्म गायत।"देव-प्रदत्त स्तुति का गायन करो।" ऋग्वेद १०.७१, ३, में वाग्-देवी के लिये यह कहा गया है: यज्ञेन वाचः पदवीयम् आयन् ताम् अन्वविन्दन्न ऋषिषु प्रविष्टाम्। "यज्ञ द्वारा उन्होंने वाच् के पद का अनुसरण किया: उन्होंने उसे ऋषियों में निवास करते हुए पाया।"

ऋग्वेद १०. १२५, ५, में पुनः वाच्[२५७] से यह कहलाया गया है: यं कामये त तम् उग्र कृणोमि तम् ब्रह्माणम् तम् ऋषि तं सुमेधाम्। "उस प्रत्येक व्यक्ति को, जिससे मैं प्रेम करती हूँ, [मैं उसे] पुरोहित, ऋषि, मेधावी [बना देती हूँ]।[२५८]

एक वालखिल्य में, जो कुछ अन्य के साथ ऋग्वेद के आठवें मण्डल के ४८ वें और ४९ वे सूक्तों के बीच आता है, यह मन्त्र (११. ६) मिलता है:—

इन्द्रा-वरुणा यद् ऋषिभ्यो मनीषा वाचो मतिं श्रुतम् अदत्तम् अग्रे।
यानि स्थानान्य् असृजन्त धीराः यज्ञं तन्वानास् तपसाऽभ्यपश्यम्।

इस मन्त्र के पूर्ण पाठ के लिये मैं पहले प्रो० मूलर का आभारी था, जिन्होंने मुझे इसके इस अनुवाद से भी अनुगृहीत किया: "इन्द्र और वरुण, मैंने तपस्या के द्वारा उसे देखा है, जिसे, आरम्भ में सुने जाने के बाद, आपने ऋषियों को दिया, अर्थात वैदग्ध्य तुल्य वाच् को समझने की क्षमता, और मैंने उन (पवित्र) स्थानों को भी देखा है-जिनका ऋषियों ने यज्ञ के लिये सृजन किया।"[२५९]

फिर भी, यद्यपि इस विचार के कुछ चिन्ह कि ऋषिगण देवों, वाच्, अथवा इन्द्र और अग्नि, अथवा इन्द्र और वरुण (परन्तु जिन स्थलों को मैंने यहाँ उद्धृत किया है उनमें से किसी में भी उस ब्रह्म से नहीं जिसे बाद में प्रेरणा-स्रोत माना जाने लगा . देखिये ऊपर पृ० २६०) द्वारा प्रेरित थे, ऋग्वेद में ढूँढ़ा जा सकता है, तथापि इस बात में कोई सन्देह नहीं कि, दूसरी ओर, ये प्राचीन

---

२५७ फिर भी, देखिये इस ग्रन्थ का तीसरा भाग।

२५८ इस प्रकार पूर्णतः तो नही किन्तु अशत वाच् की प्रकृति 'म्यूज' जैसी है। तुलना कीजिये जो होमर ने ओडेसी, ८.६३, ६४ मे डेमोडोकस के सम्बन्ध मे कहा है।

२५९ प्रस्तुत ग्रन्थ के तीसरे भाग मे इस मन्त्र का इस प्रकार अनुवाद किया गया है : "इन्द्र–वरुण, हमने तपस्या के द्वारा, यह देख लिया है कि तुमने ऋषियो को पूर्वकाल मे बुद्धि, वाच्-बल, श्रुति और वह सब स्थान प्रदान किये जिन्हे यज्ञ करते हुये ऋषियो ने सृजित किया।"

ऋषि अक्सर या सामान्य रूप से इन सूक्तों को स्वयं अपनी बुद्धि की रचना कहते हैं, और ये सूक्त इसके अतिरिक्त भी कुछ और हो सकते है यह मानने का कोई भी आधार नहीं है। किन्तु यतः एक प्रेरित रचना को भी, सामान्य रूप से बोधगम्य होने के लिये उसी भाषा में प्रस्तुत होना चाहिये जो उन लोगों के बीच प्रचलित थी जिन्हें ये रचनायें सर्वप्रथम प्रदान की गईं, अतः यह मानने के लिये कोई बहाना नहीं है कि वेदों का संस्कृत, उस काल में जब उनके सूक्तों का सर्वप्रथम उच्चारण किया गया, एक देशबोली नहीं थी।

उस प्राचीन समय में वैदिक संस्कृत के अतिरिक्त आर्यों के बीच कोई अन्य भाषा प्रचलित नहीं रही हो सकती। बोली जानेवाली भाषा से भिन्न, एक पाण्डित्यपूर्ण भाषा उस समय अज्ञात थी, और व्याकरण के परिष्कारों का भी कोई अस्तित्व नहीं था। यह मत एक प्राचीन ब्राह्मण[२९०] के निम्नलिखित उस स्थल के प्रयोजन के भी अनुकूल है जिसका सायण ने अपने ऋग्वेद के भाष्य की भूमिका में उल्लेख किया है : व्याकरणम् अपि प्रकृति प्रत्ययाद्य्-उपदेशेन पद-स्वरूप-तद्-अर्थ-निश्चयाय उपयुज्यते। तथा च ऐन्द्र-वायव-ग्रह-ब्राह्मणे समाम्नायते। "वाग् वै पराची अव्याकृताऽवदत्। ते देवाः इन्द्रम् अब्रुवन् 'इमां नो वाचं व्याकुरु' इति। सोऽब्रवीद् 'वरं वृणै। मह्यं च एव एष वायवे च सह गृह्यातै' इति। तस्माद् ऐन्द्रवायवः सह प्रगृह्यते[२९१]। ताम् इन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्। तस्माद् इयं व्याकृता वाग् उद्यते" इति। "अग्निम् ईळे पुरोहितम्" इत्यादि-वाक् पूर्वस्मिन् काले पराची समुद्रादि-ध्वनि-वद् एकात्मिका सती अव्याकृता प्रकृतिः प्रत्ययः पद वाक्यम् इत्यादि-विभाग-कारि-ग्रन्थ-रहित आसीत्। तदानीं देवैः प्रार्थितः इन्द्रः एकस्मिन्न् एव पात्रे वायोः स्वस्य च सोम-रसस्य ग्रहण-रूपेण वरेण तुष्टस् ताम् अखण्डां वाचम् मध्ये विच्छिद्य प्रकृति प्रत्ययादि-भाग सर्वत्र अकरोत्। तस्माद् इयं वाग् इदानीम् अपि पाणिन्यादि-महर्षिभिर् व्याकृता सर्वैः पठ्यते इत्य अर्थः। "प्रकृति, प्रत्यय, आदि के उपदेश के द्वारा पद के स्वरूप और अर्थ के निश्चय के लिये व्याकरण का उपयोग है। अतः ऐन्द्र-वायव-ग्रह ब्राह्मण (इस नाम के तैत्तिरीय संहिता के एक अंश, अथवा किसी अन्य ब्राह्मण के अंग) में इस

---

[२९०] यह स्थल तैत्त० सं० ६ ४,७,३ में प्रायः इन्हीं शब्दों में मिलता है, जहाँ 'उद्यते' के बाद इतना और जोड दिया गया है "तस्मात् सकृद् इन्द्राय मध्यते गृह्यते द्विर् वायवे द्वौ हि स वराव् अवृणीत।"

[२९१] तैत्त० सं० में 'प्र' छोड़ दिया गया है।

प्रकार कहा गया है : 'प्राचीन काल में वाक् अव्याकृत और अस्पष्ट रही। तब देवताओं ने इन्द्र से कहा कि इस वाक् को हमारे लिये व्याकृत करो। इन्द्र ने कहा . 'मुझे एक वर दो, मुझे और वायु को साथ-साथ सोम दिया जाय।' अतः इन्द्र और वायु के लिये एक साथ सोम ग्रहण किया जाता है। तब इन्द्र ने वाक् को मध्य से विच्छेद करके उसे व्याकृत कर दिया। उसी समय से व्याकृत वाक् का उदय हुआ। सायण कहते हैं कि इस उद्धरण का आशय यह ह : 'अग्निम् ईले पुरोहितम्' इत्यादि (ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र) वाक् प्राचीनकाल में समुद्र आदि की ध्वनि की भाँति एकरूप होने के कारण अव्याकृत रहे। तब ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं था जिसमें प्रकृति, प्रत्यय, पद और वाक्य का विभाग किया गया हो। उस समय देवताओं ने इन्द्र से प्रार्थना की। तब एक ही पात्र में स्वयं और वायु द्वारा सोमरस ग्रहण करने के वर से प्रसन्न होकर इन्द्र ने उस अखण्ड वाणी को बीच-बीच में विच्छेद करके प्रकृति, प्रत्यय आदि के रूप में सर्वत्र विभक्त कर दिया। उससे यह वाणी आज भी पाणिनि आदि महर्षियों द्वारा प्रकृति-प्रत्ययों में विभक्त या व्याकृत हुई और लोग उसे पढ़न लगे।"

फिर भी, यह प्रश्न किया जा सकता है कि—यदि वैदिक संस्कृत एक समय भारत की बोली जानेवाली भाषा थी, तब उसका प्रचलन समाप्त क्यों हो गया ? इसका मैं इस प्रकार उत्तर दूँगा :—

वैदिक सूक्तों के संग्रहीत होने के समय तक, ऋषियों और उनके वंशजों की देशबोली, संस्कृत, में पर्याप्त परिवर्तन हो चुके थे, जो, जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, परिवर्तन के उन सामान्य नियमों का, जिससे सभी भाषायें प्रभावित होती हैं (जैसा कि अनेक अन्य प्राचीन भाषाओं से भी सिद्ध होता है) तथा ऐसे स्थानीय कारणों, जैसे संस्कृतभाषी आर्यों का एक भिन्न भाषा-भाषी दस्युयों अथवा म्लेच्छों के साथ सम्पर्क, इन दोनों का परिणाम था। इस प्रकार, जो शब्द पहले संस्कृत में सामान्य रूप से व्यवहृत होते थे वे अप्रचलित हो गये अथवा उन्होंने नवीन अर्थ अर्जित कर लिया, जब कि म्लेच्छों की बोलियों से गृहीत अन्य नवीन शब्द भी प्रचलन में आ गये। इसी प्रकार विभक्तिरूप भी, जो कभी प्रचलित थे, क्रमशः अप्रचलित हो गये और नवीन पद्धतियों ने उनका स्थान ग्रहण कर लिया। इस प्रकार प्राचीन भारतीय भाषा (वेदों की संस्कृत) में द्विविध परिवर्तन हुये। प्रथम तो इससे पालि और प्राकृत, अथवा देशबोलियों का उस विधि से निर्माण हुआ जिसका ऊपर (पृ. ४८, ८७ इत्यादि) उल्लेख किया जा चुका है, और द्वितीय, इससे वेदों की संस्कृत पर आधारित, परन्तु विभिन्न प्रकार से परिमार्जित और परिष्कृत एक पाण्डित्यपूर्ण भाषा का

क्रमशः वैयाकरणों द्वारा निर्माण हुआ, जो सर्वसाधारण द्वारा व्यवहृत होने के अधोन्मुख प्रभाव से दूर हटकर अपरिवर्तित रूप से आगे भी बनी रही।

परिवर्तन की यह प्रक्रिया जब अनेक पीढ़ियों तक चलती रही, तब वैदिक सूक्तों को समझना अत्यन्त कठिन हो गया। भाषागत इन माध्यमिक परिवर्तनों से उत्पन्न बोधगम्यता में बाधक तत्त्वों में उस अध्याहार्य शैली के कारण और वृद्धि हो गई जिसमें मूलतः वैदिक सूक्तों की रचना हुई थी, क्योंकि बाद के युगों के लोगों के लिये इन सूक्तों में प्रचुरता से विद्यमान प्राचीन विचारों, व्यवहारों, और घटनाओं के संक्षिप्त उल्लेख को समझ पाना कठिनतर होता गया।

बाद के युगों में वैदिक सूक्तों को समझ पाने में अनुभूत कठिनाइयों का उक्त तथ्यों द्वारा पर्याप्त समाधान हो जाता है, और यह मानने की लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं कि सूक्तों की रचना उस भाषा से सर्वथा भिन्न भाषा में हुई थी जो उनकी रचना के समय भारतीय आर्यों के बीच सामान्यरूप से प्रचलित थी।

अध्याय २

पर्शियनों, यूनानियों, और रोमनों के साथ आर्यों का सम्बन्ध, और इन सभी राष्ट्रों की मध्य एशिया से उत्पत्ति

पिछले पर्यवेक्षण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि संस्कृत भाषा में, प्राचीनतम काल से लेकर जहाँ तक हम उसके विकासक्रम का निर्धारण कर सकते हैं, संतत परिवर्तन होता रहा है। परन्तु यदि स्थिति ऐसी है, तो यह मानना समस्त तुलनात्मकता के विपरीत होगा कि यह भाषा वेदों की रचना के पूर्व के आरम्भिकतर समयों मे अपरिवर्तित रही होगी। अतः अब मेरे लिये इस बात का अनुसन्धान आवश्यक हो जाता है कि इसकी उत्पत्ति तक के पिछले स्वरूप की खोज कर सकने का भी कोई साधन है अथवा नहीं। यह मानना होगा कि हम इस कार्य को तर्क और अनुमान के अतिरिक्त और किसी भी प्रकार नहीं कर सकते, क्योंकि वेदों से पूर्व के किसी संस्कृत ग्रन्थ की अनुपस्थिति में संस्कृत भाषा के इतिहास तथा सूक्तों की रचना के समय से पूर्व हुये उसके किसी भी विभाजन का अध्ययन करने के लिये हमें कोई प्रत्यक्ष साधन उपलब्ध नहीं है। फिर भी, एक अन्य मार्ग है जिसका अनुसरण करते हुये हम उस वेद-पूर्व भाषा के इतिहास के सम्बन्ध में कुछ धारणा बना सकते हैं। ऐसे तथ्यों के आधार पर, जो स्थापित और प्रमाणित हैं, हम तर्क द्वारा उन कारणों का निर्धारण कर सकते हैं जो इन तथ्यों के पूर्वगृहीत पक्ष को व्यक्त करते हैं, और जिनसे ही ये तथ्य उत्पन्न हुये हैं।[1]

विद्वानों ने यह कहा है कि संस्कृत तथा अन्य भाषाओं में अत्यधिक साम्य है, और इन भाषाओं में से कुछ, संस्कृत की ही भाँति अब बोली नहीं जातीं किन्तु पूर्वसमय में प्राचीन राष्ट्रों की प्रचलित और सार्वजनिक बोलियाँ थीं तथा उन लिखित रचनाओं में भी सुरक्षित हैं जो एक सुदूर अतीत से हम तक पहुँच सकी हैं। इनमें से प्रथम के अन्तर्गत ज़ेण्ड तथा प्राचीन पर्सिक के अन्य प्रकार,

---

[1] हिरोडोटस् (२.३३) कहता है कि "ज्ञात बातो से अज्ञात बातो के निष्कर्ष का मैं अनुमान करता हूँ।" तुलना कीजिये, फोनिक्स का फ्रैगमेण्ट ५. "अप्रत्यक्ष विषयो के सम्बन्ध मे एक सम्भाव्य निष्कर्ष प्रमाणो के आधार पर निकाला जा सकता है।"

द्वितीय के अन्तर्गत यूनानी, तथा तृतीय के अन्तर्गत लैटिन आती हैं।[२] ज़ेण्ड भाषा उस ज़ेण्डावेस्ता में सुरक्षित है जो पर्शिया के प्राचीन धर्म से सम्बद्ध कृतियों का संग्रह है। होमर की कविताओं को, जो प्राचीन यूनान के विस्तृत साहित्य के प्राचीनतम अवशेष हैं, आज से लगभग २७०० वर्ष पूर्व लिखा गया माना जाता है। और अनेक लैटिन भाषा के भी ग्रन्थ ऐसे हैं जो लगभग २,००० वर्ष पुराने हो सकते सकते हैं। इन भाषाओं तथा संस्कृत में जो अत्यधिक समानता है और जिसके सम्बन्ध में मैं यहाँ प्रमाण तथा उदाहरण उपस्थित करूँगा उसके आधार पर विद्वानों ने ये निष्कर्ष निकाले हैं. (१) बोलियों के ये सभी प्रकार एक ही स्रोत से उद्भूत है, अर्थात् संस्कृत, ज़ेण्ड, यूनानी और लैटिन, ये सब मानों बहनें हैं,[३] अर्थात् एक ही और ऐसी माता की पुत्रियाँ (जिनमें से कुछ प्राचीन हैं कुछ अपेक्षाकृत बाद की, परन्तु हैं सब पुत्रियाँ) हैं जिसकी, इन्हें जन्म देने के बाद, मृत्यु हो गई; अथवा लक्षणा का प्रयोग न करते हुये हम यह कह सकते हैं कि ये सब किसी एक ऐसी प्राचीनतर भाषा से उद्भूत और उसकी विद्यमान प्रतिनिधि हैं जिसका अब अस्तित्व नहीं है,[४] और (२) मनुष्यों की वे जातियाँ भी जो इन अनेक भाषाओं को

---

[२] ऊपर उल्लिखित भाषाओं के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा के साथ संस्कृत के सम्बन्ध पर जोर देना यहाँ मेरा उद्देश्य नहीं है।

[३] Facies non omnibus una, nec diversa tamen, qualem decet esse sororum.

[४] विभिन्न व्युत्पन्न बोलियों में एक समान अर्थ वाले शब्दों ने जो विभिन्न रूप ग्रहण कर लिये हैं उनकी तुलना से, तथा उनमें से प्रत्येक की दशा में उन परिवर्तनों को जो उनमें हो गये हैं, नियमित करनेवाले नियमों के आधार पर, अनेक दशाओं में प्रायः निश्चयपूर्वक, अथवा अत्यधिक सम्भावना के साथ उन शब्दों के उस मूल रूप का निर्धारण सम्भव हो जाता है जो उनका मूल मातृ-भाषा अथवा भारोपीय बोली में रहा होगा। स्वर्गीय ऑगस्ट श्लीचर की कृति कास्रा० (तृतीय सं०, १८७१) में उक्त मातृ-भाषा के उन अक्षरों के रूप का जो व्युत्पन्न भाषाओं में अपरिवर्तित रूप से वर्तमान हैं, तथा उनका भी जिनका अन्य ने स्थान ग्रहण कर लिया है, उल्लेख किया गया है। साथ ही, विभक्तियों और गणों के रूप तथा अनेक शब्दों का भी उल्लेख है। आगस्ट फिक की पुस्तक वस्रा० (द्वि० सं०, १८७०) में लेखक की धारणा के अनुसार मूल भाषा के शब्दों को प्रस्तुत किया गया है। फिर भी, सामान्य रूप से, ये लेखक शब्दों के मूल रूप को प्रस्तुत करने में एक समान नहीं हैं। श्लीचर का विचार

बोलती थीं, एक ही मूल जाति से अवतरित हुई हैं, और एक अत्यन्त आरम्भिक काल में इन सब के पूर्वज एक साथ ही किसी एक देश (जो हिन्दुस्तान के कहीं बाहर स्थित था) में निवास करती और एक ही भाषा बोलती थीं, किन्तु बाद में विभिन्न समयों में विभिन्न दिशाओं से अपने आदि आवासगृह से यात्रा करने के लिये निकल पड़ीं। इनमें से हिन्दुओं के पूर्वज दक्षिण अथवा दक्षिण-पूर्व की ओर यात्रा करते हुये भारत आये, पर्शियनों के पूर्वजों ने दक्षिण की ओर की यात्रा की; और यूनानियों तथा रोमनों के पूर्वज पश्चिम की ओर चले गये।[५] इस महान भारोपीय जाति की उन शाखाओं की भाषाओं में, जो सर्वाधिक दीर्घ अवधि तक अपने मूल आवास में एक साथ रहे, अर्थात् पर्शियनों और भारतीयों की भाषाओं में, निकटतम साम्य बना रहा; जब कि वे जातियाँ जो अपनी मूल जाति से सबसे पहले पृथक् हो गईं, उनमें बाद के समय में इस साम्य की मात्रा अत्यन्त कम हो गई, और उनके पृथक्त्व के समय की अवधि की दीर्घता के अनुपात में ही उनकी बोली के बीच का अन्तर भी विस्तृत से विस्तृतर होता गया।[६]

है कि 'पाँच' के लिये 'कन्कन्' शब्द व्यवहृत होता था, जब कि फिक इसके स्थान पर 'पन्कन्' शब्द देते हैं। इसी प्रकार प्रथम लेखक बहन के लिये 'स्वस्तर्म' को प्रथम शब्द मानते हैं, जब कि द्वितीय इसे 'स्वसर' बताते है।

[५] यूनानियो तथा रोमनो के विवरण के लिये मैं भारतीय विद्यार्थी को इतिहास की कोई भी हस्तपुस्तिका देखने का परामर्श दूँगा।

[६] "संस्कृत के और विशेषत वेद मे व्यक्त उसके प्राचीनतम रूप के व्याकरणिक आकार की केल्टिक, यूनानी, लैटिन, जर्मन, लेट्टो-स्लेवोनियन, और पर्शियन इत्यादि के साथ तुलना से हमे यह पता लगता है कि इन सभी भाषाओ का आधार एक ही है, अथवा दूसरे शब्दो मे ये सब किसी एक ही मूल बोली से उद्भूत हैं, और ध्वनियो तथा रूपो का वर्गीकरण इस बात का सकेत करता है कि सस्कृत ही वह भाषा है जिसमे सर्वाधिक मौलिक रूप सामान्य रूप से आज भी सुरक्षित हैं और यह भाषा मूल बोली से कम से कम विचलित हुई है। मूलत एक ही समान भाषा का अस्तित्व हमे इस निष्कर्ष की ओर अग्रसर करता है कि उस समय, जब यह भाषा अभी जीवित तथा बोली जाती थी, वह लोग भी जो इसका व्यवहार कहते थे, एक ही राष्ट्र थे; और इससे यह परिणाम निकलता है कि वैयक्तिक राष्ट्रो तथा उनकी भाषाओ का भारोपीय जाति और उसकी भाषा से क्रमिक पृथक्त्व के आधार पर निर्माण हुआ। इसके अतिरिक्त अनेक भाषाओ की परस्पर, तथा विशेष रूप से सस्कृत के सन्दर्भ

खण्ड १—तुलनात्मक भाषाविज्ञान पर परिचयात्मक टिप्पणी; संस्कृत तथा पर्शियन का परस्पर सम्बन्ध

अब मैं, सर्वप्रथम तुलनात्मक भाषाविज्ञान की सामान्य प्रकृति पर सरल टिप्पणी देने के पश्चात् संस्कृत की ज़ेण्ड, यूनानी और लैटिन के साथ समानता सम्बन्धी अपनी मान्यता की स्थापना करूँगा।

योरप और एशिया के विभिन्न देशों में बोली जानेवाली विविध भाषाओं की तुलना ने इस तथ्य को प्रकाशित किया है कि ये सब भाषायें विभिन्न वर्गों अथवा परिवारों के अन्तर्गत आती हैं, और यह कि एक ही परिवार के अलग-अलग सदस्यों का, परस्पर घनिष्ठ साम्य होते हुये भी, अन्य परिवारों की भाषाओं के साथ या तो बिलकुल ही नहीं अथवा बहुत दूर का साम्य लक्षित होता है। उदाहरण के लिये स्पष्टतः पृथक् होने के रूप में सार्वभौमिक रूप से मान्य बोलियों के दो महान् परिवारों, आरोपीय, तथा सेमिटिक, का नामोल्लेख मात्र ही पर्याप्त होगा। सेमिटिक शाखा के अन्तर्गत आनेवाली भाषायें अरबिक, हिब्रू तथा सीरियक, इत्यादि हैं। अब जिन लोगों ने भी इन भाषाओं का अध्ययन किया है, वे इस बात से भलीभाँति परिचित हैं कि धातुओं तथा सामान्य प्रकृति की दृष्टि से इन भाषाओं का एक दूसरे के साथ घनिष्ठ साम्य है; जब कि आरोपीय शाखा के अन्तर्गत सम्मिलित, संस्कृत, ज़ेण्ड, शुद्ध पर्शियन के बाद के रूप, यूनानी, लैटिन तथा ट्यूटनिक और स्लेवोनिक भाषाओं के साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। कोई भी व्यक्ति, जो अरबिक तथा संस्कृत दोनों से परिचित है, इस बात से पूर्णतया विज्ञ है कि न तो क्रियात्मक धातुओं अथवा संज्ञाओं की दृष्टि से इनमें परस्पर कोई साम्य है और न दोनों के कारक अथवा विभक्ति रूपों में ही कोई विशेष समानता मिलती है।[७]

मे, अधिक या कम समानता हमे यह निष्कर्ष निकालने का आधार प्रस्तुत करती है कि प्रत्येक दशा मे मूल भाषा से यह पृथक्त्व पूर्व अथवा पश्चात्, किस समय हुआ।" वेबर इण्डियन स्केचेज, पृ० ७।

[७] आरोपीय तथा सेमिटिक भाषाओ के बीच आकार सम्बन्धी अन्तर तथा धातुओ की दृष्टि से दोनो के बीच आंशिक समानता के प्रश्न का रेनन (हिसे०, द्वि० स०, पृ० ४३४ और बाद) ने अत्यन्त विद्वत्ता के साथ विवेचन किया है। उनका कहना है कि भाषाओ के परिवारो मे भिन्नता का आधार एक को दूसरे से व्युत्पन्न सिद्ध करने की असम्भाव्यता मे निहित है। इस प्रकार, उनका कहना है कि, यह सर्वथा बोधगम्य है कि विभिन्नताओ के विपरीत भी, सब आरोपीय बोलियो को एक ही प्रकार के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है, और

अब, यहाँ हमें इस अत्यन्त उल्लेखनीय तथ्य का पता लगता है कि दो ऐसी भाषायें, जिनके रूप तथा आकार अत्यन्त पूर्ण तथा परिष्कृत हैं और जिनमें से दोनों को ही भारत के नगरों में साथ-साथ रहते हुये क्रमश' हिन्दू तथा मुसलमान धर्मावलम्बियों में से केवल विद्वान ही बोलते हैं, उन सभी दृष्टियों से परस्पर भिन्न हैं जिनके आधार पर एक ही प्रकृति की दो विस्तृत तथा जटिल भाषाओं का एक दूसरे से विभेद किया जा सकता है। प्रथम दृष्टि में

ये सब किसी एक ही पूर्वग बोली से उत्पन्न हुई है, जब कि भ्रष्टता के किसी भी क्रम के अनुसार यह दिखाना असम्भव है कि जेण्ड अथवा सस्कृत भाषायें कैसे हिब्रू बन गईं, अथवा हिब्रू ही कैसे परिवर्तित होकर सस्कृत अथवा चीनी भाषा बन गई (५० ४३४)। यह सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है कि सेमिटिक भाषाओ तथा भारोपीय बोलियो की व्याकरणिक प्रणाली मे एक विस्तृत अन्तर है, तथा तुलनात्मक भाषाविज्ञान की किसी भी ज्ञात पद्धति के आधार पर भी एक प्रणाली दूसरे से निष्कृष्ट या व्युत्पन्न नही हो सकती। यदि हम सभी, अथवा अधिकाश भाषाओ मे लक्षित होनेवाले, सिद्धान्तो (जो मानव बुद्धि द्वारा व्यक्त सिद्धान्तो के अतिरिक्त और कुछ नही है) को स्वीकार कर लें तो भी हमे इन दो परिवारों मे समान रूप से उपलब्ध कोई महत्वपूर्ण व्याकरणिक प्रक्रिया कदाचित ही लक्षित होगी (पृ० ४४४)। किन्तु भाषाओ के वर्गीकरण मे शब्दविषयक तथ्यो की अपेक्षा व्याकरणिक तथ्यो का कही अधिक महत्व होता है (अर्थात्, किसी भाषा के विभक्तिरूपो का उसके शब्दो की अपेक्षा कही अधिक महत्व होता है)। ऐसी अनेक भाषाओ को उद्धृत किया जा सकता है जिन्होने अपने शब्दभाण्डार को समृद्ध अथवा उसका पुनर्नवीनीकरण किया है, किन्तु ऐसी भाषायें बहुत कम मिलेगी जिन्होने अपने व्याकरण को ही शुद्ध किया हो। अत व्याकरण ही किसी भाषा का अनिवार्य और ऐसा रूप होता है जिससे उसकी विशिष्टता का निर्माण होता है (पृ० ४४७, ४४८)। दूसरी ओर, रेनन ने यह स्वीकार किया है कि सेमिटिक तथा भारोपीय भाषाओ मे ऐसी धातुओ की भी सख्या पर्याप्त है जो दोनो मे समान रूप से मिलती है, और ये धातुयें उनसे भिन्न हैं जो इन भाषाओ ने ऐतिहासिक काल मे एक दूसरे से ग्रहण कर लिया है। परन्तु आप इस वात पर सन्देह प्रगट करते है कि यह स्थिति इन दोनो परिवारो के किसी पूर्वग ऐक्य को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त भी है या नही। आपका विचार है कि इस विपय पर कालान्तर मे किसी उदाहरणात्मक परिणाम की आशा भी नही प्रतीत होती। आपके विचार से इन दोनो परिवारो मे समान रूप से उपलब्ध धातुओ का अधिकाश प्राकृतिक

इतनी आश्चर्यजनक घटना की किस प्रकार व्याख्या की जा सकती है ? समाधान यही है कि अरबिक (जैसा कि इस नाम से ही स्पष्ट है) उन अरबों की भाषा है जो सेमिटिक जाति के थे, और भारत में उन मुसलमान आक्रमणकारियों ने इसका प्रवेश कराया जो यद्यपि वंशपरम्परा के अनुसार अरेबियन नहीं थे, तथापि अरेबियन विजेता, मुहम्मद, द्वारा इस धर्म में परिवर्तित किये गये लोग थे, और इन लोगों ने उस भाषा को सीखा था जिसमें उनके धर्म-ग्रन्थ, कुरान, की रचना हुई थी। इसके विपरीत संस्कृत उन ब्राह्मणों की भाषा है जो एक ऐसी जाति के न्यूनाधिक शुद्ध वशज हैं जिसका सेमिटिक लोगों से कोई सम्बन्ध नहीं रहा है। अत. यह आश्चर्यजनक नहीं है कि संस्कृत तथा अरबी भाषायें, यद्यपि इनका भारत में परस्पर मिलन हुआ तथापि जो दो सर्वथा भिन्न वर्गों द्वारा भारत में लाई गई थीं, परस्पर एक दूसरे से इतनी अधिक भिन्न हैं।

कारणो से ही सम्भव हुआ है, क्योंकि ये सभी ध्वन्यानुकरणात्मक शब्द हैं। वह पूछते हैं कि क्या यह किसी प्रकार आश्चर्यजनक है कि वाह्य क्रियाओ को व्यक्त करने के लिये पूर्वग मनुष्य ने, जिसकी अभी भी प्रकृति के साथ इतनी अधिक सहानुभूति थी, और जो अभी प्रकृति से कदाचित ही पृथक हो सका था, प्रकृति का अनुकरण किया हो और एक प्रकार की वस्तु को सार्वभौमिक रूप से उसी से मिलती-जुलती ध्वनि से व्यक्त किया हो ? (पृ० ४४९, ४५०)। रेनन ने इन विचारो की अनेक उदाहरणो द्वारा व्याख्या की है, किन्तु वह यह स्वीकार करते हैं कि जो धातुयें सेमिटिक तथा भारोपीय दोनो भाषाओ मे समान रूप से मिलती हैं, उनमे कुछ ऐसी भी हैं जिनमे ध्वन्यानुकरणत्व के तर्क को ढूँढ पाना कही अधिक कठिन है (पृ० ४५२)। वह यह निष्कर्ष निकालते हैं कि भाषाविज्ञान की वर्तमान स्थिति मे सैद्धान्तीकरण की एक समीचीन पद्धति के लिये यह आवश्यक है कि हम भारोपीय तथा सेमिटिक परिवारो को परस्पर पृथक माने (पृ० ४५७)। साथ ही वह यह भी कहते हैं कि जो कुछ भी उन्होने कहा है उससे यह मान्यता अप्रमाणित नही होती कि सेमिटिक तथा भारोपीय भाषाओ को बोलनेवाली जातियो मे किसी पूर्वसमय मे परस्पर सम्बन्ध अवश्य रहा होगा (पृ० ४५१)। अधिक विवरण के लिये मैं स्वय उनकी कृति के अवलोकन का परामर्श दूँगा। इसी विषय पर अनेक अन्य विद्वानो द्वारा भी वहुत-कुछ कहा गया है, जिसका उल्लेख यहाँ अनावश्यक है। मैं केवल वेनफे के ओरियण्ट उण्ट ऑक्सिडेण्ट (भाग २, पृ० ३७५ और वाद) मे प्रकाशित डा० नोल्डेके के लेख मात्र का ही सकेत करूँगा।

किन्तु भारत के मुसलमान न केवल अरबी से ही वरन् उस फारसी से भी परिचित हैं जो अरब और भारत के बीच में स्थित एक देश, पर्शिया, की प्रचलित बोली है। वह फारसी बोली जिसे पर्शियन लोग आज बोलते और भारत के विद्वान् मुसलमान लिखते हैं, एक संहत, अर्थात् ऐसी भाषा है जो प्रमुखतः उस प्राचीन पर्सिक तथा अरबी के मिश्रण से बनी है जो मूलतः अरबी शब्दों से सर्वथा रहित थी। अब आधुनिक पर्शियन भाषा के उस अंश में, जो अरबी से गृहीत नहीं बल्कि प्राचीन पर्सिक से उद्भूत है, हमें अनेक ऐसे शब्द मिलते हैं जिनकी प्रत्यक्षतः उसी स्रोत से उत्पत्ति हुई है जिससे समान अर्थोंवाले संस्कृत क्रिया तथा संज्ञा शब्दों की।

शब्दों की अधोलिखित सूची ऊपर कहे गये इस विचार को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त होगी कि अपने विशुद्ध पर्सिक तत्वों में पर्शियन भाषा का जहाँ संस्कृत के साथ साम्य है वहीं अरबी का ऐसा कोई साम्य नहीं मिलता।

तालिका ६

संस्कृत, पर्शियन तथा अरबी शब्दों की तुलनात्मक तालिका

संस्कृत	पर्शियन	अरबी	अंग्रेज़ी
पितर	पदर[c]	अबू	फादर
मातर	मादर	अम्म	मदर
दुहितर	दुख्तर	बिन्त	डॉटर
जामातर	दामाद	हाफिद	सन-इन-लॉ
युवन्	जवान	शाब्ब	यङ्गमैन
नर	नर	जहकर	मेल
घर्म	गर्भ	हार्र	हीट
अश्व	अस्प	फरस	हॉर्स
अप्	आब	मा	वाटर
नामन्	नाम	इस्म	नेम
शुष्क	खुश्क	याबिस्	ड्राइ
पाद	पा	क़दम	फूट
बाहु	बाहू, बाज़ू	साइद	आर्म
नव	नौ	जदीद	न्यू

[c] देखिये पृ०, २३ नोट २३।

संस्कृत	पर्शियन	अरबी	अंग्रेजी
एक	यक	अहद	वन
द्वि	दो	इस्नन	टू
चतुर	चहार	अर्बअ	फोर
पञ्चन्	पञ्ज	खम्स	फाइव
षट्	शश	सत्त[१]	सिक्स
सप्तन्	हफ्त	सबअ	सेवेन
अष्टन्	हश्त	थमानियत	एट
नवन्	नुह	तस्अ	नाइन
दशन्	दह	अशर	टेन
विंशति	बिस्त	अश्रून	टेवन्टी
शतम्	सद , सद्	मायत्	हण्ड्रेड
सहस्र	हाज़ार	अलफ़	थाउज़ेण्ड

नीचे मैं पर्शियन और संस्कृत शब्दों के साम्य के अनेक अन्य उदाहरण दे रहा हूँ जिनके साथ मैंने ईरानियन भाषा के एक प्राचीनतम रूप, ज़ेण्ड, के समानार्थी शब्दों को भी जोड किन्तु अरबी के समस्त संदर्भों को छोड दिया है।[१०]

१. क्रियायें और कृदन्त

संस्कृत	ज़ेण्ड	पर्शियन	अंग्रेजी
दर्	—	दरीदन	टु टीयर
कर्	कर्	कर्दन	टु डू

[१] इन दशा में अरबी शब्द भी संस्कृत है।

[१०] इन तालिकाओं के निर्माण मे मैंने डा०जे०ए० वूलर्स के इटिमोलॉजिकल पर्शियन ऐण्ड लैटिन लेक्सिकन, तथा इसी ग्रन्थ के परिशिष्ट की भी सहायता ली है जिसमे लेखक ने प्राचीन पर्सिक बोलियो तथा संस्कृत इत्यादि से लिये गये सन्दर्भों द्वारा पर्शियन धातुओं की व्याख्या की है। मुझे इसी लेखक के पर्शियन ग्रामर, प्रथम सस्करण १८२०, द्विती० स० १८७०, और डा० जुस्ति के ज़ेण्ड डिक्शनरी से भी सहायता मिली है। डा० वूलर्स के व्याकरण का, जिसमे उन्होंने पर्शियन की प्राचीन पर्सिक बोलियों तथा संस्कृत के साथ तुलना की है, यदि लैटिन से अंग्रेजी मे अनुवाद कर दिया जाय तो पर्शियन भाषा के इतिहास तथा सम्बन्धो का अध्ययन करनेवाले भारतीय विद्यार्थियो को उससे बहुत सहायता मिलेगी।

संस्कृत	ज़ेण्ड	पर्शियन	अंग्रेज़ी
कृणु (वैदिक लोट्)	—	कुन्	टु डाउ
दा	दा	दादन	टु गिव
ग्रभ् (वैदिक)[11]	गरेव्, गरेफ्श	गिरिफ़्तन	टु टेक
भर्	वर	बुर्दन	टु वीयर
बन्ध्	बन्द	बस्तन, बन्दद	टु बाइण्ड
आप्	अप्, आफ्	याफ्तन	टु ऑब्टेन
श्रु (शृणोति)	श्रु	शनूदन	टु हीयर
स्था	श्ता	इस्तादन	टु स्टैण्ड
जीव्	जि, जिश्, जीव्	जीस्तन	टु लिव्
मर्	मर	मुर्दन	टु डाई
स्वप्	क्ऱप्, क्ऱफ्श्	ख़ुफ्तन	टु स्लीप
स्वप्न	क्ऱफ्न	ख्वाब	स्लीप
चर्	चर	चरीदन	टु वाण्डर, ग्रेज
धाव्		दवीदन	टु रन
पच्	पच	पुख्तन	टु कुक
दुह्		दोख्तन, दोशीदन	टु मिल्क
ज्ञा	ज़ा	दानिस्तन	टु नो
जानाति		[मी] दानद	ही नोज़
जानामि		[मी] दानम	आइ नो
सृज्		सिरिश्तन	टु क्रियेट
सृष्टि		सिरिश्त	क्रियेशन
हन्	जन	ज़दन (ज़नद)	टु स्ट्राइक
त्रस्	तरेश	तर्सीदन	टु फीयर
त्रास	तरस्ति	तर्स	फीयर
मिह्	मिज	मेख्तन	टु मेक वाटर
जज्, जञ्ज्		जंगीदन	टु फाइट
तपस्	तफ्नु	तप, ताब	हीट, फीवर
रुह्	रुद्	रुस्तन, रोयीदन	टु ग्रो
प्रच्छ्, पृच्छति	परेश	पुर्सीदन	टु आस्क

[11] बाद का रूप 'ग्रह' उसी प्रकिया का एक आरम्भिक उदाहरण है जिसके अनुसार ख, घ, थ, ध, फ, और भ के लिए प्राकृत 'ह' का प्रयोग होने लगा।

संस्कृत	जेण्ड	पर्शियन	अंग्रेज़ी
वे, वभ्[12]		वाफ्तन	टु वीव्
खन्	...	कन्दन	टु डिग
कर्ष	करेश, कश्	कशीदन	टु ड्रॉ
क्री	..	ख़रीदन	टु बाइ
धम्	दम	दमीदन	टु ब्लो
जन्	ज़न	जादन	बिगेट
जात	ज़ात	जाद'	बॉर्न
तन् (तनोति)	तन	तनीदन, तनूदन	टु एक्सटेण्ड
शुच्	शुच्	सोख्तन	टु शाइन
वर्ष, वार् , वारि	वार	वारीदन	टु रेन
नि + धा	नि + दा	निहादन	टु प्लेस
गम्	..	चमीदन	टु गो, वाक
जम्		जमीदन्	टु ईट
चि	.	चीदन्	टु कलेक्ट
प्र + स्था	फ्र + श्ता	फेरिस्तादन	टु सेण्ड
नम्	नम्	नमीदन	टु बेण्ड
पत्	पट्	उफ्तादन, फितादन	टु फौल
धि (वैदिक)	दी	दीदन	टु पर्सीव
भू	बू	बूदन	टु बी
भवामि		[मी] बुवन	आइ ऐम
भवति		[मी] बुवद	ही इज़्
अभूवम		बूदम	आइ वाज़्
अभूत्	.	बूद्	ही वाज़
अभूवन्	..	बूदन्द	दे वेयर
अस्मि	अह्मि	अम, हस्तम	आइ ऐम
अस्ति	अश्ति	हस्त, अस्त	ही इज़
सन्ति	हेन्ति	अन्द	दे आर
स्तु	श्तु	सितूदन	टु प्रेज़

---

[12] इस धातु के अस्तित्व का अनुमान 'ऊर्णवाभि' शब्द मे इसके एक व्युत्पन्न रूप की उपस्थित के आधार पर किया जा सकता है।

संस्कृत	ज़ेण्ड	पर्शियन	अंग्रेज़ी
शुध्	शुद्	शुस्तन	टु क्लीन्स
मृद्	मरेद	मालीदन[13]	टु ग्राइण्ड
नृद्		नालीदन	टु साउन्ड,
धेर्	दर	दाश्तन, दार	टु होल्ड
कृष	करेश	कारतन, कार्	टु कल्टीवेट
तप्	तप्	तपीदन, ताफ्तन	टु बी हॉट
वह	वज़्	वज़ीदन	टु कैरी
भ्रज्		बिरिश्तन	टु रोस्ट
क्षर्	क्षर्	शारीदन	टु फ्लो
छिद्	श्केन्द, श्चिन्द	शिकस्तन	टु कट
शक् (शक्तुम्)	शच्	साख्तन, साज़	टु बी एब्ल
कुष्		कुश्तन	टु किल

२. संज्ञायें, विशेषण, सर्वनाम, निपात, इत्यादि[14]

भ्रातर्	ब्रातर	बिरादर	ब्रदर
स्वसर्	क़्न्हर	ख्वाहर	सिस्टर
पुत्र	पुथ्र	पिसर, पुसर	सन
श्वसुर	क़्शुर	खुस्र	फादर-इन-लॉ
श्वश्रू		खुस्रू, खुस्रह	मदर-इन-लॉ
विधवा		वेवः	विडो
जनि, ग्ना	जेनि, घेन	ज़न	वूमन
मर्त्य	मरेत	मर्द	मैन
वत्स		वच.[15]	चाइल्ड
जीव, जीवित	जीति, जीस्ति	ज़ी, ज़ीस्त, ज़िन्दगी	लाइफ
तनु	तनु, तनुस्	तनु	बॉडी

[13] देखिये ऊपर पृ० ३३, नोट ४१।

[14] यह सम्भव है कि यहाँ उल्लिखित समानताओं के कुछ उदाहरणों में एक पर्शियन शब्द अपेक्षतया हाल के समय में संस्कृत से गृहीत हुआ हो, अथवा स्थिति इसके विपरीत रही हो, किन्तु जहाँ एक प्राचीन ज़ेन्ड पर्याय भी उपलब्ध है वहाँ स्थिति ऐसी नहीं हो सकती।

[15] देखिये ऊपर पृ० १९, नोट १०।

संस्कृत	जेण्ड	पर्शियन	अंग्रेजी
मज्जा	मज्ग	मग़्ज़	ब्रेन
शिरस	शर	सर	हेढ
अस्थि	अश्ति, अश्त	अस्तः, उस्तुखान	बोन
पार्ष्णि	पाश्न	पाश्नः	हील
चक्षु	चश्मन	चश्म	आई
अश्रु	अश्रु	अर्स	टीयर
दन्त्	दन्तन्	दन्दान	टूथ
जिह्वा	हिज्व	ज़ुबान	टङ्ग
दोस्	...	दोश	शोल्डर
अरत्नि	..	आरञ्ज	एल्बो
हस्त[१६]	ज़श्त	दस्त	हैण्ड
मुष्टि	मुस्ति	मुश्त	फिस्ट,
अङ्गुष्ठ	अंगुश्त	अगुश्त	थम्ब
नख	...	नाखून	नेल
रोम्	...	रोमन्	हेयर
स्तन	फस्तान	पस्तान	फीमेल ब्रेस्ट
यकृत	..	जिगर	लिवर
जानु	ज्हनु	ज़ानु	नी
पाद्	पाध	पा	फ़ुट
केश	...	गेस, गेसो	हेयर
पृष्ठ	पर्स्ति	पुश्त	बैक
उष्ट्र	उस्त्र	उश्तर, शुत्र	कैमेल
कपि		कवी, कपी	एप
गो	गाओ	गाओ	ऑक्स, काउ
शूकर	हु	खुक	बोर
खर	खर	ख़र	आस
अश्वतर		अस्तर	म्यूल
मेष	मएश	मेश	शीप
मूष		मूश	माउस
पर्ण	परेन	पर	फेदर

[१६] क्या इस शब्द का मूल रूप 'धस्त' रहा हो सकता है ?

संस्कृत	ज़ेण्ड	पर्शियन	अंग्रेज़ी
पर्णिन्	पेरेनिन्	परिन्दः	ए बर्ड
चञ्चु		चंग	बीक ऑफ ए बर्ड
कपोत		कबूतर	पीजन
गृध्र		गीद	वल्चर
शृगाल		शग़ाल	जैकाल
कुरङ्कर		कुलंग	क्रेन
मक्षिका	मक्षि	मगस्	फ्लाइ
कृमि	केरेम	किर्म	वर्म
कश्यप, कच्छप	कश्यप	कशफ	टॉर्टाइज़
कर्क		कर्क, खर्चङ्ग	क्रैब
गूथ		गूः	एक्सक्रीमेंट
मत्स्य	मश्य	माही	फिश
क्षीर	क्षीर	शीर	मिल्क
हिरण्य	ज़रन्य	ज़र	गोल्ड
अयस्	अयण्ह	आहन	आयरन
चर्मन्		चर्म	स्किन
आहार		आहार	फूड
निराहार, अनाहार		नाहार	फास्टिङ्ग
कृषि (कृष्ट)	कर्श्ति	किश्त	कल्टीवेशन
व्रीहि	बेरेज्य[१७]	विरिञ्ज्	राइस
गोधूम		गन्दुम	व्हीट
यव	यव	जौ	बार्ली
धान्य	दान	दानः	ग्रेन
जङ्गल		जंगल	थिकेट
क्षुप		चोब	ए ब्रुश
दारु	दाउरु	दरोद	वुड
शाखा		शाख़, शाख्चः	ब्राञ्च
आरा		अरः	सॉ

[१७] देखिये बूलर का पर्शियन ग्रामर, द्वि० स०, पृ० ५०, ५६। जुस्ति के लेक्सिकन में 'बेरेज्य' को फसल की रक्षा करनेवाले एक देवता का नाम कहा गया है।

संस्कृत	ज़ेण्ड	पर्शियन	अंग्रेज़ी
युग		जुग़	योक
जाल		जाल	नेट
भार		वार	वेट
वार		वार	टाइम
एकवार		यक्वार	वन्स
द्वार	द्वार	दर	डोर
पंजर		पिंजरः, पञ्जरः	केज
दामन्		दाम	नेट
चक्र	चख्	चर्ख	व्हील
देव	दएव	देव	गॉड, डेमन
अश्मन्	अश्मन	आस्मान	स्टोन, हेवेन
जगत्		जहान	दि वर्ल्ड
भूमि	बूमि	बूम	ग्राउण्ड, अर्थ
ज्मा, क्ष्मा	ज़ेम	ज़मीन	अर्थ
स्वर, सूर्य	ह्वरे	खूर	हेवेन, सन
मित्र, मिहिर[१८]	मिथ्	मिह्र	नेम ऑफ ए गॉड, फ्रेण्ड
वसिष्ठ	अंहु वहिस्त	वेहिश्त	बेस्ट, पैराडाइज़
मास्	माओन्ह	माह	मून, मन्थ
स्तर (वैदिक)	श्तरे	सितारह	स्टार
अभ्र	अब्र	अब्र	क्लाउड
मेघ	मएघ	मेग़	,,
क्षपा	क्षप	शब	नाइट
घर्म	गरेम	गर्मा	हीट, समर
हिम	ज़िम	ज़म	विन्टर
वात	वात	वाद	विण्ड
छाया		साय	शेड
छत्र		छतर	अम्ब्रेला

---

१८ बॉटलिङ्क और रॉथ ने उल्लेख किया है कि 'मिहिर' शब्द महाभारत ३. १९१ में सूर्य के एक नाम के रूप में आता है। इसी पंक्ति में इसी अर्थ में 'मित्र' भी आता है।

संस्कृत	ज़ेण्ड	पर्शियन	अंग्रेज़ी
रङ्ग		रंग	कलर
गन्ध	गइन्ति	गन्द	स्मेल
कर्पूर		काफ़ूर	कैम्फर
सोम	हओम	होम	सोम प्लाण्ट
अथर्वन्	आथर्वन्	आतुर्बान	प्रीस्ट
नमस्	नेमव्ह	नमाज़	प्रेयर्स
मनस्	मनव्ह	मन्श	माइण्ड
गुण	गओन	गूनह	क्वालिटी, कलर
द्रुग्ध	द्रओघ	दरोग़	इन्जुरी
तृष्णा	तर्श्न	तिश्नगी	थर्स्ट
तृषित, तृष्णज्		तिश्नः	थर्स्टी
शोक		सोग	ग्रीफ
भी, भीम		बीम	फीयर, टेरिवल
काम		काम	विश, डिज़ायर
रहस		राज़	सीक्रेट
कार्य	कार	कार	वर्क
भिषज्	भएशज़	बचश्क, बिजिश्क	फिज़ीशियन
कुलाल		कुलाल	पॉटर
इष्टिका (?)	इस्त्य	ख़िश्त	ब्रिक
यातु	यातु	जादू	सॉसेरर
गोल		गोलः	ए बॉल
तार		तार	वायर
ज्या		जि', ज़ेह	ए बाउ-स्ट्रिङ्ग
तीर		तीर	ऐरो
विस्तर		विस्तर	बेड
पर्यङ्क, पल्यङ्क		पलङ्ग[19]	बेड
रथ्या	रैथ्य	राह	रोड
कुम्भ		खुम्ब	जार
स्थूणा		सितून	पिलर
स्थान	श्तान	आस्तान	प्लेस

[19] देखिये पृ० २७ नोट २६।

सस्कृत	ज़ेण्ड	पर्शियन	अंग्रेज़ी
दाह	दाघ	दाग़	बर्निङ्ग, ए मार्क फ्राम बर्निङ्ग
आराम	रामन	आराम	रेस्ट
कुञ्ज		कुञ्ज	कॉर्नर, आर्बर
द्रप्स	द्रपश	दिरफ्श	ड्राप, स्पार्क
तोक्मन	तओख्मन	तुख्म	सीड
सङ्गम	हञ्जमन	अञ्जुमन	ऐन एसेम्ब्लेज
प्रताप		पर्तो	लस्चर
शकुन		शगून	बर्ड, ओमेन
चतुरङ्ग		शत्रङ्ग	चेस
दूर	दूर	दूर	फार
नेदिष्ठ	नज़्द	निज़्द	नीयर
महत्	मज, मजन्त	मिह	ग्रेट
महत्तर		मिह्तर	ग्रेटर, चीफ
गुरु, गरीयस		गिरान	हेवी
तनु		तनुक	स्लेण्डर
सम		हमः	ऑल
सम्र		हम	टुगेदर
सर्व	हौर्व	हर	ऑल
नेम	नएम	नीम	हाफ
शुक्र	शुख	सुर्ख़	रेड
शुभ		ख़ूब	फेयर
सव्य	हव्य	चप	लेफ्ट
रजिष्ठ	रज़िस्त	रास्त	स्ट्रेट
श्वेत	श्पएत	सपेद, सफ़ेद	व्हाइट
श्याम, श्याव	श्याव	सियाह	ब्लैक
पूर्ण	पेरेन	पुर	फुल
तिग्म, तीक्ष्ण, तेजस्, तिज	तिघ्र, तिज्हिन	तेज	शार्प
दीर्घ	दरेघ	दराज़	लॉङ्ग
राम	राम	राम	प्लेज़ेण्ट

संस्कृत	जेण्ड	पर्शियन	अंग्रेजी
नष्ट		नशत	डेस्ट्राएड
स्थावर	श्तव्र	उस्तुवार	फर्म
मत्त		मस्त	इन्टॉक्सिकेटेड
दुर्नामन्		दुश्नाम	बैड नेम
दुर्मनस्		दुज्मनिश, दुश्मन	होस्टाइल
क्व, कुत्र, कु|इ (वैदिक) कुथ्र,		कु [जा]	व्हेयर ?
न	न	नः	नॉट
त्वम्	तूम	तू	दाउ
युष्मत्		शुमा	यू
स्व	क्व, हव, ह्व	खूद	यू , ओन, सेल्फ
कतम		कदाम	हू ?
तर	तर	तर	साइन ऑफ कम्प० डिग्री
अन्तर्	अन्तरे	अन्दर	विदिन
उपरि	उपैरि	वर	एबव
पश्चात् , पश्च	पश्कात, पश्च	पस्	आफ्टर
इदानीम्		ईदून	नाउ
विंशति	वीशैति	वीस्त	ट्वेन्टी
पञ्चाशत्		पञ्जाह	फिफ्टी
षष्टि	ख्शस्ति	शस्त	सिक्सटी
सप्तति	हप्ताइति	हफ्ताद	सेवेन्टी
अशीति	अस्ताइति	हश्ताद	एट्टी
नवति	नवैति	नवद्	नाइन्टी
शत	शत	पद्	ए हन्ड्रेड
सहस्र	हज़न्र्	हज़ोर	ए थाउज़ेण्ड
दुर्वार		दुश्वार[२०]	डिफिकल्ट

नोटः—दूसरी और 'आफत्' (अरबी) और 'आपद्' (संस्कृत) के

---

[२०] 'वार' एक पर्शियन प्रत्यय है जो सम्भवत संस्कृत 'वार' से सम्बद्ध नही है, किन्तु पर्शियन निपात 'दुश्' तथा संस्कृत 'दुस्' के समीकरण के सम्बन्ध में कोई सन्देह नही है।

उदाहरण दे सकता हूँ। प्रायः समान ध्वनिवाले इन दोनों शब्दों का संस्कृत और अरबी दोनों में 'विपत्ति' अर्थ है।

अब, बैक्ट्रिया अथवा पर्शिया की प्राचीन भाषा, जिससे ऊपर की तालिका में शब्द दिये गये हैं, और जो अभी भी आधुनिक पर्शियन के एक अंश का निर्माण करती है, एक ऐसी भाषा थी जिसका संस्कृत से घनिष्ठ सम्बन्ध था। उसी भाषा की एक शाखा, और उसकी प्रगति के एक स्तर की भाषा का नाम ज़ेण्ड था, जिसको हम ज़ेण्ड-अवेस्ता अथवा पारसियों के उस पवित्र ग्रन्थ में व्यहृत पाते हैं जो आज भी उपलब्ध है तथा जिसका योरोपीय विद्वान उत्तरोत्तर अधिक सफलतापूर्वक अध्ययन कर रहे हैं।

इसी प्रकार, यदि हम संस्कृत की उन प्राचीन यूनानियों की भाषा से तुलना करें जो पर्शिया के उत्तर पश्चिम में एजियन सागर के पूर्वी तथा पश्चिमी तटों पर निवास करते थे, तो हमें दोनों में एक घनिष्ट समानता का पता लगेगा, तथा अक्सर तो धातुओं और विभक्तियों, दोनों की दृष्टि से अनेक शब्दों में पूर्ण समीकरण तक दृष्टिगत होगा।

भाषाओं के बीच समानतायें द्विविध हो सकती हैं। प्रथम, शब्दों की धातुओं की दृष्टि से उदाहरण के लिये सम्कृत में हमें 'नाम' के लिये 'नामन्' शब्द मिलता है, तथा पर्शियन और हिन्दी दोनों मे ही यही 'नाम' शब्द इसी आशय मे आता है। दूसरी समानता विभक्तियों की दृष्टि से हो सकती है। यहाँ हमें उस पद्धति में कोई साम्य नहीं मिलता जिसके अनुसार इस 'नामन्' शब्द का सस्कृत, पर्शियन या हिन्दी भाषाओं में रूप चलाया जाता है। संस्कृत में तीन वचन (एकवचन, द्विवचन, और बहुवचन) और प्रत्येक वचन मे सात-सात कारक (सबोधन के अतिरिक्त) होते हैं, जब कि पर्शियन तथा हिन्दी में से दोनों में केवल दो-दो वचन, एकवचन और बहुवचन, होते हैं, तथा कारकों का निर्माण सस्कृत की अपेक्षा एक सर्वथा भिन्न रूप से किया जाता है। इस बात को सिद्ध करने के लिये इस शब्द ('नामन्') के इन भाषाओं में से प्रत्येक में एकवचन मे विभिन्न कारक रूपों का उदाहरण दे देना ही पर्याप्त होगा।

	सस्कृत	पर्शियन	हिन्दी
कर्त्ता	नाम	नाम	नाम
कर्म	नाम	नाम्रा	नाम को

	संस्कृत	पर्शियन	हिन्दी
करण	नाम्ना	नहीं है, उपसर्गों से बनता है	नामसे, नाम करके
संप्रदान	नाम्ने		नामको
अपादान	नाम्नस्		नाम से
सम्बन्ध	नाम्नस्		नाम का
अधिकरण	नाम्नि		नाम में
संवोधन	नाम		नाम

अब, यदि हम 'नाम' के लिये व्यवहृत लैटिन शब्द की संस्कृत के साथ तुलना करें तो हम देखेंगे कि न केवल धातु ही समान है, वरन् रूप चलाने की प्रक्रिया भी बहुत कुछ समान है। उदाहरण के लिये :—

	एकवचन		बहुवचन	
	संस्कृत	लैटिन	संस्कृत	लैटिन
कर्ता	नाम	नोमेन्	नामानि	नोमिना
कर्म	नाम	नोमेन्	नामानि	नोमिना
करण	नाम्ना	नोमिने	नामभिस्	नोमिनिबस
सम्प्र०	नाम्मे	नोमिनि	नामभ्यस्	नोमिनिबस
अपा०	नाम्नस्	नोमिने	नामभ्यस्	नोमिनिबस
सम्ब०	नाम्नस्	नोमिनिस	नाम्नाम्	नोमिनम
अधि०	नाम्नि	नोमिने	नामासु	नोमिनिबस
सम्बो०	नाम	नोमेन	नामानि	नोमिना

लैटिन भाषा में द्विवचन नहीं होता।

यहाँ हम देखते हैं कि जहाँ 'नाम' शब्द को व्यक्त करनेवाली धातु इन सभी भाषाओं में समान है, वहीं पर्शियन और हिन्दी में रूप-रचना के प्राचीन स्वरूप लुप्त हो गये हैं जब कि लैटिन और संस्कृत में सुरक्षित है। इस प्रकार संस्कृत और लैटिन में दोहरा साम्य है, अर्थात् 'प्रथम धातुओं का, और द्वितीय रूप-रचना का, तथा यूनानी और ज़ेण्ड के लिये समान रूपसे यही कहा जा सकता है।

अब, जब हम यह देखते हैं कि किन्हीं दो ऐसी भाषाओं में बहुसंख्यक धातुयें समान हैं और इनमें से कोई एक भाषा इन धातुओं को दूसरे से ग्रहण नहीं करती, तब हम इस बात का विश्वास कर सकते हैं (चाहे एक में रूप-रचना की जटिल प्रक्रिया हो और दूसरे मे नहीं) कि ऐसी दोनों भाषाओं का उत्पत्तिस्रोत समान रहा होगा, विशेषकर जब हम यह भी दिखा सकते हों कि उस भाषा में, जो रूपरचना की प्रणाली से रहित है, परिवर्तन की एक ऐसी प्रक्रिया विशेष के अनुसार इस प्रणाली का क्रमिक ह्रास हुआ है जिसे हम अब

भी ढूँढ़ सकते हैं। किन्तु यदि किन्हीं दो भाषाओं में धातुओं तथा धातुरूपों दोनों ही दृष्टियों से साम्य है तो उनके सम्बन्ध का तथ्य बहुत अधिक सशक्त हो सकता है।

खण्ड २—जेण्ड, यूनानी तथा लैटिन भाषाओं के साथ संस्कृत के सम्बन्ध के विस्तृत उदाहरण

अब मैं प्रथमतः तो कुछ ऐसे शब्दों के उदाहरण प्रस्तुत करूँगा जिनका धातुओं की दृष्टि से संस्कृत, ज़ेण्ड, यूनानी, तथा लैटिन में परस्पर साम्य है, और उसके बाद यह दिखाने का प्रयास करूँगा कि इन चार भाषाओं में रूप चलाने की प्रक्रिया की दृष्टि से भी परस्पर साम्य है।

नीचे कुछ ऐसे शब्दों (जिन्हें बॉप, बेनफे, आफरेख्त, कर्टिअस, फिक, जुष्टि, तथा अन्य की रचनाओं से लिया गया है) की सूची दी जा रही है जो ध्वनि तथा आशय दोनों ही दृष्टियों से संस्कृत, ज़ेण्ड, यूनानी तथा लैटिन में समान हैं।

इनमें से अनेक शब्दों में यह साम्य इतना घनिष्ट है कि इस तथ्य के सम्बन्ध कोई सन्देह किया ही नहीं जा सकता कि ये सभी (न्यूनाधिक परिवर्तित रूप में) किसी एक ऐसी मूल भाषा के शब्दों के प्रतिनिधि हैं जिससे इन्हें मूलतः ग्रहण किया गया है। अन्य दशाओं में भी, जहाँ साम्य इतना प्रत्यक्ष नहीं है, सम्बन्ध को इस तथ्य के आधार पर संतोषपूर्वक सिद्ध किया जा सकता है कि अलग-अलग भाषाओं में एक ही आशय के शब्दों के एक या अधिक अक्षर सदैव अथवा सामान्य रूप से इन विभिन्न भाषाओं में परस्पर समान रूप से भिन्न है। इस बात का और विस्तार से विवेचन करना आवश्यक है।

सर्वप्रथम मैं कह देना चाहता हूँ कि इन सजातीय शब्दों के उस मूल रूप का जो इनका अपनी परिकल्पित मातृभाषा में था, प्रत्येक दशा में तो निश्चित रूप से निर्धारण नहीं किया जा सकता, किन्तु अधिकांश दशाओं में बहुत कुछ ठीक-ठीक निश्चित करना सम्भव है। इस प्रकार, संस्कृत 'एहि' की यूनानी 'एखिस' और लेटिन 'एंग्विस्' के साथ तुलना करने पर हम इस सम्भावना का निश्चय कर सकते हैं कि इन शब्दों का मूल रूप 'अघि' अथवा 'अह्वि' रहा हो सकता है। इसी प्रकार प्रकार संस्कृत 'दुहितर' तथा यूनानी 'थुगतेर' सम्भवत 'दुघतर' अथवा 'धुघतर' से, 'अश्व' और 'एकुअस' 'अक्व' से, 'श्वन्' और 'कुओन' 'क्वन्' से, 'जानु' और 'गोनु' 'गानु' से, 'ज्ञा' 'गिग्नोस्को', और 'नोस्को' (कौग्नोस्को) 'ग्ना' से, इत्यादि, आये हो सकते हैं। संस्कृत में मिलनेवाले कुछ व्यञ्जन मूल भारोपीय भाषा में

वर्तमान नहीं प्रतीत होते, जैसे 'च', 'छ', 'ज', 'झ', जिन्हें 'क' और 'ग' से विकसित माना जाता है। विभिन्न सजातीय शब्दों की तुलना से यह निष्कर्ष निकलता है कि मूल भाषा के कुछ व्यञ्जन तो सभी उद्भूत बोलियों में समान रूप से मिलते हैं, जब कि कुछ अन्य के इन बोलियों मे भिन्न भिन्न स्वरूप हो गये हैं। निम्नलिखित तालिका में इस बात को दिखाया गया है। इसे मैंने श्लीचर के कम्प्रा० (तृतीय सं०), पृ० २२, से संक्षिप्त रूप में लिया है :—

भारोपीय	संस्कृत, या प्राचीन भारतीय	ज़ेण्ड, या प्राचीन बैक्ट्रियन	यूनानी	लैटिन
क	क (ख), च	क (ख), च	क (κ), ग (γ)	क,
	श, प	श, प	प (π), त (τ)	
ग	ग, ज	ग (घ), ज ज़	ग (γ), व (β)	ग,
घ	घ, ह	ग, घ, ज़	ख (χ)	ग,ख,व,ह,फ
त	त, थ	त (थ, ट)	त (τ)	त
द	द	द (ध)	द (δ)	द, ल
ध	ध	द (ध)	थ (θ)	द, फ, व
प	प, फ	प (फ़)	प (π)	प
व[21]	व	व	व (β)	व
भ	भ	व (व)	फ (φ)	व, फ
न	न	न	न (ν)	न
म	म	म	म (μ)	म
र	र, ल, (र, ऋ, और ल, स्वर के रूप में)	र	र(ρ), ल (λ)	र, ल,
य	य	य	इ (ι), ए (ε), द्स (ζ), ह (ʽ)	ज, इ
स	स, ष	स,श,प,ह,अः नः, कः	स (σ), ह (ʽ)	स, र
व	व	व (व), प, व	उ, (υ)	व़, उ
स्क	च्छ			
स्व		क़ः		

[21] श्लीचर ने 'ब' के बाद प्रश्नवाचक चिह्न (?) लगाया है और जेण्ड के खाने मे भी 'व' न रखकर उसके स्थान पर केवल प्रश्नवाचक चिह्न ही लगा दिया है।

संस्कृत में कुछ ध्वनिशास्त्रीय नियमों के परिणामस्वरूप दंत्य अक्षर (त, थ, द, ध, न) कभी कभी जिह्वक (अथवा मूर्धन्य ट, ड इत्यादि), तथा आनुनासिक 'न' और 'म' 'ञ', 'ज' और 'ण' बन जाते हैं। यूनानी में क्य, ख्य, त्य, थ्य = स्स, त्र, ग्य = ς (द्स)। इन नियमों तथा विचलनों का निम्न शब्दों में उदाहरण देखा जा सकता है:—

(क) जहाँ संस्कृत, यूनानी, और लैटिन, तीनों में 'क' समान रूप से वर्तमान रहता है, जैसे 'अक्ष, ऐक्सोन, एक्सिस, अथवा दक्षिण, देक्सियोस, डक्स्टर, अथवा क्षुर = क्षुरोन।

(ख) जहाँ यूनानी और लैटिन 'क' संस्कृत में 'श' से व्यक्त होते हैं, जैसे देक, डेकेम = दशन, एकतोन, केन्तुम = शतम, कुओन, केनिस = श्वन्, देर्क = दर्श। बॉप के अनुसार (देखिये उनका कम्प० ग्रा०, द्वितीय सं०) संस्कृत 'श' प्रायः सदैव ही मूल 'क' का भ्रष्ट रूप है। श्लीचर (पृ० १६५) कहते हैं कि मूलत यह 'क' था और अधिक उपयुक्ततः इसका जर्मन 'ख़' के रूप में उच्चारण किया जाना चाहिये जो ध्वनि में पर्शियन तथा अरबी 'ख़' से भिन्न नहीं है।

(ग) यूनानी और लैटिन 'ग' को संस्कृत में अक्सर 'ज' से व्यक्त किया जाता है, जैसे एगो, एगो = अजामि, गिग्नोस्को, नोस्को = जानामि; गेन्नाओ, गिग्नो = ज = जन्मि, एग्रोस, एजेर = अज्र।

(घ) यूनानी 'ख' (χ) को संस्कृत में 'घ' और 'ह' से, तथा लैटिन में 'ह' और 'ग' से व्यक्त किया जाता है, जैसे 'एलखुस = लघुस, एखिस = अहि, तथा एंगुइस, खेमा = हिम और हेम्स।

(ङ) यूनानी 'थ' (θ) को संस्कृत 'ध' और लैटिन 'फ' अथवा 'द' से व्यक्त करते हैं जैसे तिथेमि = दधामि, मेथु = मधु, थुमोस = धूम, फुमुस।

(च) यूनानी 'फ' (φ) को संस्कृत में 'भ' और लैटिन में 'फ' और 'व्' से व्यक्त करते हैं, जैसे 'फुओ = भवामि और फुइ, ओफ्रुस = भ्रू, फेरो = भरामि और फेरो; फ्रत्रिअ = भ्रतार, फ्रतेर।

(छ) संस्कृत 'ग' को कभी कभी यूनानी और लैटिन में 'व' से व्यक्त करते हैं, जैसे 'गो' = वूस, वोस।

अनेक अन्य उदाहरण नीचे दी जा रही तालिकाओं में मिलेंगे।

तालिका १०

१. संज्ञायें और विशेषण

संस्कृत	ज़ेण्ड	यूनानी	लैटिन	अंग्रेज़ी
पितर	पतर	पटेर	पटेर	फादर
मातर	मातर	मेटेर	मटेर	मदर
तात		तेत्ता	टट	फादर
नना		नन्ना		मदर, ऑण्ट
भ्रातर	ब्रातर	फ्रत्रिअ	फ्रटेर	ब्रदर
स्वसर	क़्व्हर		सोरोर	सिस्टर
दुहितर	दुग्धर	थुगाठेर		डॉटर
नप्तर, नपा त	नप	अनेप्सिओस	नेपोस	ग्रैण्ड सन,
नप्तृ	नप्ति	·	नेप्तिस	ग्रैण्ड-डॉटर
देवर्, देवर	दएर			हस्बैण्ड्स ब्रदर
स्नुषा		नुओस	नुरुस	डॉटर-इन-लॉ
जामातर	ज़ामातर	गम्ब्रोस	गेनेर	सन-इन-लॉ
श्वशुर	क्शुर	हेकुरोस	सोसेर	फादर-इन-लॉ
श्वश्रू		हेकुर	सोक्रुस	मदर-इन-लॉ
पितृव्य		पत्रोस	पत्रुउस	फादर्स ब्रदर
सूनु	हुनु	हुइओस		सन
विधवा			विडुअ	विडो
नर	नर	अनेर		मैन
जनि, ग्ना	जेनि	गुने		वूमन
वीर		हेरोस ?	विर	हीरो, मैन
वीरता			विर्तुस	वेलर
शूर	शूर		कुरिओस	स्ट्रॉङ्ग, हीरो
राजन्			रेक्स	किङ्ग
राज्ञी			रेजिनऽ	क्वीन
जरस्	ज़उर्व	गेरस		ओल्ड एज
जरन्	जओरुर	गेरोन		ओल्ड मैन
युवन्	यवन्		जुवेनिस	यङ्ग मैन
पति	पैति	पोसिस	पोतिस, पोतेन्स	लॉर्ड, हस्बैण्ड
पत्नी		पोत्निअ		मिस्ट्रेस

संस्कृत	जेण्ड	यूनानी	लैटिन	अँग्रेजी
आत्मन्		अत्मोस, अउत्मेन		ब्रेथ, सोल, वेपर
अन्		आनेमोस	एनिमुस	विण्ड
कृप्	केरेफ्स		कार्पुस	बॉडी
हृदय	जरेधय	कर्दिअ	कोर	हार्ट
शिरस्	शर	कर	केरेब्रुम	हेड, ब्रेन
कपाल		केफाले	कपुट	हेड
अक्षि	अषि	ओप्स, ओकोस,	ओकुलुस	आइ
नास्, नासा, नासिका	नाओंह		नासुस, नोरस	नोज
भ्रू	ब्रवट	ओफ्रुस		आइ-ब्राउ
आस्, आस्य	आओंह		ओस	फेस
दत्, दन्तम्	दन्तन्	ओदोन्ट	देन्टेम	टूथ
हनु		गेनुस	गेन	जॉ, चिन, चीक
नख		ओनुक्स, ओनुखोस	उन्गुइस	नेल
जम्भ		गोम्फोस		टूथ
गिर		गेरुस		स्पीच
बाहु	बाजु	पेखुस		आर्म
अस्थि	अस्ति	ओस्थ्योन	ओस	बोन
क्रव्य, क्रविस्		करेअस	करो	रॉ फ्लेश
पद, पाद	पाध	पूस, पोदोस	पेस पेदिस	फूट
जानु	ज्ञ्नु	गोनु	गेनु	नी
पदाति		पेज़ोस	पेदेस	फूटमन
पद		पेदोन		फील्ड
उदर	उदर		युटेरस	बेली
जठर		गस्तेर		बेली
अन्त्र		एन्तेरोन	वेन्टेर	एन्ट्रेल्स
यकृत		हेपार	जेकुर	लिवर
नाभि		ओम्फेलोस	अम्बिलिकस	नेवेल
श्रोणि	श्रओनि	क्लोनिस	क्लूनिस	हिप
कुक्षि		कखोने	कौक्स	बेली
प्लीहन		स्प्लेन	लियेन	स्प्लीन

संस्कृत	ज़ेण्ड	यूनानी	लैटिन	अंग्रेज़ी
केश, केस			केसेरीज़	हेयर ऑफ हेड
केशर, केसर				
ऊधस्		ऊथर	ऊबेर	अडर
सकृत		स्कोर	स्टर्कुस	डङ्ग
आयुस		आयोन	आइवुम	लाइफ
तोक, तक्मन्		तेकोस, तेक्नोन		चाइल्ड
पशु	पशु	पोउ ?	पेकु	कैटल
गो	गाओ	बुस	बोस	ऑक्स
स्थूर	श्तओर	ताउरोस	तॉरुस	बुल
अश्व	अस्प	हिप्पोस	एकुअस	हॉर्स
अवि		ओइस	ओविस	शीप
अज		ऐज़		गोट
श्वन	श्पा, शूनि	कुओन	केनिस	डॉग
श्वानस्	श्पानेस	कुन	कनेम	डॉग
शूकर	हु	सुस, हुस	सुस	हॉग
वृक	वेह्रक	लुकोस	लुपुस	उल्फ
ऋक्ष		अर्कोस	उर्सुस	बीयर
लोपाशक		अलोपेक्स		जैकाल
मूष		मूस	मुस	माउस
वि	वि	ओइओनोस	अविस	बर्ड
वर्तिका		ओर्टुक्स		क्वेल
हंस		खेन	अन्सेर	गूज़
कुहुक, कोकिल		कोक्कुक्स	कुकुलुस	कक्कू
कारव		कोरक्स	कोर्वुस	क्रो
उलूक			उलुल	आउल
तित्तिर		तेत्रिक्स		पार्टरिज
पिक		पीच		इण्डियन कक्कू
उद्र, उद्रं		हुद्रोस, एनुद्रिस		ऑटर
अहि	अज़्हि	ऐखिस	एगुइस	सर्पेण्ट
कर्क		कर्किनोस	कैन्सर	क्रैब
शरभ		करबोस		लोकस्ट, बीटल

संस्कृत	ज़ेण्ड	यूनानी	लैटिन	अंग्रेज़ी
पुलक		प्सुल्ल, प्सुल्लेस	पूलेक्स	इन्सेक्ट
मक्षिका	मक्षि	मुइआ	मुस्का	फ्लाइ
वरुण		उरेनोस		वरुण
द्यौस्		ज़्यूस		स्काइ, ज़्यूस
दिव्य		दीओस	दीवुस्	सेलेस्टियल
द्यौस्-पिता		ज़्यूस पाटेर	दीसपिटेर, जुपिटर	द्यौस्
देव	दएव	थेओस ?	देउस	गॉड
दिवस, दिवा			दिएस	डे
नक्तम्, नक्ता		नुक्त	नोक्टेम	नाइट
उषस्	उस	एओस	आरोरा	डॉन
अग्नि			इग्निस	फायर
मास, मास	माओंह	मेन, मेने	मेन्सिस्	मून, मथ
स्तर, तार	स्तरे	अस्तेर, अस्त्रोन	अस्ट्रुम	स्टार
शरु		केरॉनोस		थण्डरबोल्ट
नभस्		नेफोस	नूबेस	स्काई
अभ्र	अब्र	ओम्ब्रोस, एफ्रोस	इम्बर	क्लाउड
उद, उदक		हुडोर	उण्डा	वाटर
अप्, आपस्	अप्		एकुआ	वाटर
शङ्ख		कोंखोस	कोञ्च	शेल
हिम	ज़िम	खिओन	हिएम्स	विण्टर स्नो
छाया		स्किआ		शैडो
गो, ग्मा		गे		अर्थ
क्षमा	ज़ेम	खमै		अर्थ
क्षोणि		क्थोन		अर्थ
ककुद, ककुद्मत			ककुमेन	पीक
अज्र		अग्रोस	अगेर	फील्ड
द्रु, द्रुम	द्रु	द्रु, द्रुमोस		ट्री, वुड
दारु	दाउरु	दोरु		वुड, स्पीयर
मधु	मधु	मेथु		हनी, वाइन
यव	यव	ज़ेअ		बार्ली
अन्धस्		अन्थोस		प्लाण्ट

संस्कृत	ज़ेण्ड	यूनानी	लैटिन	अंग्रेज़ी
अयस्			अएस	आयरन
रजत	एरेज़त	अर्गुरोस	अर्गेन्टुम	सिलवर
अपस्			ओपुस	वर्क
अप्नस्		एफेनोस	ओपेस	वेल्थ
पुर्, पुरी		पोलिस्		सिटी
दम	देमान	दोमोस	दोमुस	हाउस
वेश (ओकस्?)		फोइकोस	वाइकुस	,,
द्वार्		थुर	फोरेस	डोर
रै			रेस	थिङ्ग, पज़ेशन
स्वप्न (स्वप्)	गफ्न	हुप्नोस	सोपोर्, सोम्नुस	स्लीप
अश्मन	अश्मन	अक्मोन		स्टोन
शर्करा, कर्कर			कल्क्स	लाइमस्टोन
नौ		नौस	नविस	शिप
अरित्र		एरेत्मोस		ओर
अरितर		एरेतेस		रोवर
अक्ष		ऐक्सोन	ऐक्सिस	ऐक्सल
क्षुर		क्सुरोन		रेज़र
परशु		पेलेकुस		ऐक्स
असि			एन्सिस	सोर्ड
क्रतु	ख्रतु	क्रतोस		स्ट्रेन्थ
वनस्, वन्	वन		वेनुस, वेनुस्तुस	ब्यूटी, वीनस
पथिन्	पथन्	पतोस		रोड
आगस्		एगोस		सिन, गिल्ट
धूम		थुमोस	फुमुस	स्मोक
बुध्न	बुन	पुथमेन	फुन्डुस	बॉटम
चक्र	चख्र	कुक्लोस	किर्कुस	व्हील
धूप		तुफोस		इन्सेन्स
कलम		कलमोस	कलमुस	रीड
स्थूणा, स्थूल	स्तून	स्तुलोस		पिलर
कुम्भ		कुम्बे, कुम्बोस		वेसेल
स्वर		सुरिंक्स	सुसुर्रुस	साउण्ड

संस्कृत	ज़ेण्ड	यूनानी	लैटिन	अंग्रेज़ी
मर्मर		मोर्मुरो	मुर्मुर	मर्मर
खलीन, खलिन		खलीनोस		ब्रिडिल
अंहस्	अज़न्ह	अंग्गो	अंगो	स्ट्रेट्स्
ऊर्जा, ऊर्जस्		ओर्गे		मैंप, पावर
ओजस्		ऑगे		विजिएन्स
मख		मख़े, मखैर	मक्टर	सैक्रिफाइस
सन	हन	हेनोस	सेनेक्स	ओल्ड
मण्ड			मुण्डुस	ऑर्नामेण्ट
कोण		गोनिअ		कार्नर
रस		द्रोसोस	रोस	लिक्विड
कूप		कुपे, गुपे		होल, वेल
स्तूप		तुम्बोस	टुमुलुस	माउण्ड
फुल्ल		फुल्लोन	फोलिउम	फ्लावर
अर्जन		एर्गोन		अर्निङ्ग
पुरु, पुलु		पोलुस	प्लुस	मच
उरु, पृथु		एउरुस, प्लेटुस		ब्रॉड
गुरु		वेरुस		हेवी
गरीयस			ग्रविउस	हेवियर
गरिष्ठ			ग्रविस्सिमुस	हेवियेस्ट
वरिष्ठ		अरिस्टोस ?		वेस्ट
लघु		एलखुस	लेविस	लाइट, स्मॉल
लघिष्ठ		एलखिस्टोस	लेविस्सिमुस	लाइटेस्ट
महान		मेगस	मेग्नुस	ग्रेट
महीयान		मेज़ोन	मेजर	ग्रेटर
महिष्ठ		मेगिस्टोस	मैक्सिमुस	ग्रेटेस्ट
बहु		पखुस		ग्रेट, थिक
आशु		ओकुस	ओकिओर	स्विफ्ट
मृदु		ब्रदुस		सॉफ्ट
तनु			तेनुइस	स्लेण्डर
रुधिर		एरुथ्रोस	रुबेर	ब्लड, रेड
घर्म		थेर्मेस	फोर्मुस	हीट, हॉट
शुष्क	हिस्कु, हुस्क		सिक्कुस	ड्राइ

संस्कृत	ज़ेण्ड	यूनानी	लैटिन	अंग्रेज़ी
पूर्ण		प्लेओस	प्लेनुस	फ़ुल
दीर्घ		देलिखोस		लॉङ्ग
वर्बर, वर्वर		वर्वरोस	वर्वरुस	वार्बरस
सम	हम	होमोस	सिमिलिस	लाइक
स्थिर		स्टेरिओस		फर्म
वल			वलिदुत	स्ट्रॉङ्ग
दक्षिण	दषिन	डेक्सिओस	डेक्स्टेर	राइट
नव	नव	नेओस	नोवुस	न्यू
सामि		हेमि	सेमि	हाफ
मध्य	मैध्य	मेसोस	मेडिउस	मिडिल
एकतर		हेकटेरोस		वन ऑफ टू
सत्य		एटेओस		ट्रू
स्वादु		हेदुस	स्वविस	स्वीट
आम		ओमोस		रॉ
उत्तर		हुस्टेरोस		सब्सीक्वेण्ट
पीवन, पीन		पिओन		फैट
धृष्ट		थ्रसुस		बोल्ड
आर्द्र		अद्रो		मॉएस्ट
पृश्नि		पेक्नोस		स्पेक्ल्ड
कल्य, कल्याण		कलोस		ऐग्रीएब्ल
पलित		पोलिओस	पल्लिडुस	होरी
मल, मलिन		मेलस	मेलुस	डर्टी
काल		केलैनोस	कलिगो	ब्लैक
तुमुल, तुमल			टुमुल्टुस	नॉएज़ी

२. उपसर्ग, निपात, और सर्वनाम

सम्	हम	सुन	कोन	विथ
परि	पैरि	पेरि	पेर	राउण्ड
उपरि	उपैरि	हुपेर	सुपेर	एबव्
उप		हुपो	सुब	नीयर
प्रति	पैति	प्रोस, प्रोति		टुवर्ड्स
प्र	फ्र	प्रो	प्रो	बिफोर
अन्तर	अन्तरे	एण्टोस	इन्टर, इन्टुस	विदिन

संस्कृत	ज़ेण्ड	यूनान	लैटिन	अंग्रेज़ी
अप	अप	अपो	अब	अवे
अपि	अपि	एपि		टुवर्ड्स, ऑन
अभि	ऐबि, ऐवि	अम्फि		,,
सम	समथा	हम		टुगेदर
परम, पार	पार	पेरा		अदर साइड
परा		पर		पास्ट
पुरस्, पुरा	परो	परोस		बिफोर
तर्, तिरस्	तरो	तेर्म	त्रन्स	एक्रॉस
सु	हु	एउ		वेल
दुस्	दुष्	दुस्		इल
सुमनस्	हुमनन्ह	यूमेनेस		काइण्डली माइण्डेड
नूनम	नू	नून	नुन्क	नाऊ
अ, अन्	अ, अन्	अ, अन्	इन	प्राइवेटिव पार्टिकिल
न	न	ने	ने, नॉन	नेगेटिव
ननु			नोन्ने	इज़ नॉट
कस्, किस्	को, चिस्	तिस	क्विस	हू ?
नकिस्,	मा + चिस	ऊतिस, मेतिस	नेमो, नेक्विस	नो वन
किम, कद्	कट	ति	क्विद्	व्हाट
कतरस्	कतारो	पोतेरोस	युटेर	व्हिच ऑफ टू ?
इतरस्		हेतेरोस	ऑल्टर	अदर
उभ	उब	अम्फो	अम्बो	बोथ
अन्य	अन्य	एनिओइ		अदर, सम
क्व, कुह, कुत्र	क, कथ, कुत्र	पू, कू	को	व्हेयर
कुतः		पोथेन		व्हेन्स
कति	चैति, चवन्ट	पौसोइ, कोसोइ	कोट, को ओटुस	हाउ मेनी ?
तति		तोसोइ	टोट	सो मेनी
कदा	कध	पोटे, कोटे	कन्डो	व्हेन ?
तदा	तध	तोते		देन
यदा	यदा	होते		व्हेन
ततस्		तोथेन		देन्स
यतस्		होथेन		व्हेन्स

संस्कृत	ज़ेण्ड	यूनानी	लैटिन	अंग्रेज़ी
इत्थम्, इत्था	उइति, अचथ		इटेम, इट	दस
पश्चात्, पश्च	पश्कात, पश्ने	ओपिस्थेन	पोस्ट	आफ्टर
मक्षु			मोक्स	क्विक्ली
अन्ति		अन्ति	अन्टे	ऑपोज़िट
अति		एति		बियॉण्ड
मिथस्		मेत		म्यूचुअल
च	च	कै	क्वे	ऐण्ड

३. संख्यायें

द्वि	द्व	द्वुओ	दुओ	टू
त्रयस्, तिस्रस	थ्रायो, तिशारो	ट्रेस	ट्रेस	थ्री
चत्वारस्	चथ्वारो	तेस्सरेस	क्वाटुओर	फोर
पञ्चन्	पञ्चन्	पेन्टे	क्विंक्वे	फाइव
षट्	ख्श्वस	हेक्स	सेक्स	सिक्स
सप्तन्	हप्तन	हेप्टा	सेप्टेम	सेवेन
अष्टन्	अश्तन	ऑक्टो	ऑक्टो	एट
नवन्	नवन	हेन्नेअ	नोवेम	नाइन
दशन्	दशन्	देक	देकेम	टेन
विंशति	विसैति	ऐकोसि	विगिन्ति	ट्वेन्टी
शतम्	शटेम	हेकटोन	केन्टुम	हण्ड्रेड
प्रथमस्	फ्रटेमो	प्रोटोस	प्रिमुस	फर्स्ट
द्वितीयस्	दैवित्यो, वित्यो	ड्यूटरोस	सेकण्डस	सेकेण्ड
तृतीयस्	थ्रित्यो	त्रितोस	टर्टियस	थर्ड
चतुर्थस्, तुर्यस्	तूइर्यो	टेटर्टोस	क्वार्टुस	फोर्थ
पञ्चथम, पञ्चमस	पुख्धो	पेम्पटोस	क्विन्टुस	फिफ्थ
षष्ठस्	ख्स्त्वो	हेक्टोस	सेक्स्टुस	सिक्स्थ
सप्तमस	हप्तथो	हेब्डोमोस	सेप्टिमुस	सेवेन्थ
अष्टमस्	अश्टेमो	ओग्डोस	ऑक्टेवुस	एट्थ
नवमस्	नओमो, नाउमो	हेब्नटोस	नोनुस	नाइन्थ

संस्कृत	ज़ेण्ड	यूनानी	लैटिन	अंग्रेज़ी
दशमस्	दशेमो	डेक्टोस	टेकिमुस	टेन्थ
द्विस्	बिज़्ह्वट, बिस	डिस	बिस	ट्वाइस
त्रिस्	थ्रिज्झ्वट, थ्रिस	ट्रिस	टेर	थ्राइस
द्विधा		डिख		इन टू वेज़
त्रिधा		ट्रिख		इन थ्री वेज़
चतुर्धा		टेट्रख		इन फोर वेज़
पञ्चधा		पेन्टख		इन फाइव वेज़
परुत्		पेरुसि		लास्ट ईयर
परुत्न		पेरुसिनोस		आफ लास्ट ईयर
ह्यस्		खेस	हेरि	यस्टर्डे
ह्यस्तन			हस्टर्नुस	आफ यस्टर्डे

४. क्रियायें और कृदन्त

दर्	दर्	डेरो		टु टीयर
दा, ददामि	दधामि	डिडोमि	डु	टु गिव्
दातर्	दातर	डोटेर	डटोर	गिवर (पु०)
दात्री		डोटीर	डेट्रिक्स	गिवर (स्त्री०)
दान	दात, दाथ्र	डोरोन	डोनुम	गिफ्ट
धा, दधामि		टिथेमि		टु प्लेस
स्था, तिष्ठामि	स्ता, हिस्तामि	हिस्टेमि	स्टो	टु स्टैण्ड
अस्थाम्		एस्टोन		आई स्टुड
स्थामन्			स्टमेन	स्ट्रेंग्थ
मिश्रयामि, मिक्षामि		मिग्नुमि	मिस्केओ	टु मिक्स
स्तर्, स्तृणोमि	स्तर	स्टोर्नुमि, स्ट्रोन्नुमि	स्टेर्नो	टु स्प्रेड
स्तरिमन्	स्तरेम	स्ट्रोम	स्ट्रमेन	बेड, लिटर
भर्	बर	फेरो	फ़ेरो	टु बीयर
भार		फोरोस, फोर्शन		लोड
भू	बू	फुओ	फुइ	टु वी, आइ वाज़
लिह्, लेह्मि		लीखो	लिङ्गो	टु लिक
तन्, तनोमि	थन्ज्	टनुओ, टीनो	टेण्डो	टु स्ट्रेच

संस्कृत	ज़ेण्ड	यूनानी	लैटिन	अंग्रेजी
ततान			टेटेण्डि	आइ स्ट्रेच्ड
जन्, जजन्मि	ज़न	गेन्नओ	गिग्नो	टु बिगेट
जनितर्	ज़ाथर	गेनेटोर	गेनिटोर	फादर
जनितृ		गेनेटीर	गेनेट्रिक्स	मदर
जात	ज़ात		ग्नटुस	बार्न, सन
जनुस्	गओन	गेनोस	गेनुस	वर्थ, काइण्ड
प्रजा, प्रजाति			प्रोगेनीस	प्रोजेनी
ज्ञा, जानामि	ज़ा	गिग्नोस्को	ग्नोस्को	टु नो
ज्ञात		ग्नोटोस	ग्नोटुस	नोन
अज्ञात		अग्नोटोस	इग्नोटुस	अननोन
नामन्	नामन्	ओनोम	ग्नोमेन, कोग्नोमेन	नेम, सरनेम
तुदामि			टुण्डो	टु ऊण्ड
तुतोद			टुटुडि	आइ हैव बीटेन
सेव्, सप्[22]		सेबोमै		टु रेवरेन्स
लुभ्यति		लिप्टोमै	लुबेट	ही डिज़ायर्स
तुप्		टुप्टो		टु हर्ट, बीट
अद्	अद	एडो	एडो	टु ईट
अदन, अन्न		एडानोस,	एडेटुस	फूड
वह्, वहामि	वज़, वज़ामि	ओक्योमै	वेहो	टु कैरी
अवाक्षीत्			वेक्सिट	ही कैरीड
स्कन्द्			स्कन्डो	टु गो, एसेण्ड
लिप् लिम्पामि		अलेफो		टु एनॉएन्ट
सर्प		हैर्पो	सेर्पो	टु क्रीप
वास्तु, वस्		फस्टु		हेबिटेशन
वस्	वंह	हैन्नुमि	वेस्टिओ	टु क्लोद
वस्त्र	वश्त्र	हेस्थेस	वस्टिस	क्लोदिङ्ग
वा	वा	अओ, अएमि		टु ब्लो
वात	वात		वेन्टुस	विण्ड
पत्, पतामि		पेटोमै	पेटो	टु फॉल

[22] देखिये बेनफे की सामवेद की ग्लॉसरी तथा ऋग्वेद ७ ८३, ८ में 'असपन्त'। कर्टिस के पृ० ४७४ तथा ५१९ भी देखिये।

संस्कृत	ज़ेण्ड	यूनानी	लैटिन	अंग्रेज़ी
अपतम्		एपिप्टोन		आइ फेल्
अपप्तत्		एपिप्टे		ही फेल्
पतत्रि		पेर्टानोस		विङ्गेड
शद्	शद्		कडो	टु फॉल
सद्, सीदामि	हद्	हेज़ोमै	सेडेओ	टु सिट
सदस्		हेडोस	सेडेस	सीट
छिद्, छिनद्मि		स्किज़ो	स्किन्डो	टु कट
छिन्दन्ति			स्किन्डुन्ट	दे कट
भिद्, भिनद्मि			फिन्डो	टु क्लीव
भिन्दन्ति			फिन्डुन्ट	दे क्लीव
तर्प्		टेर्पो		टु बी प्लीज्ड
दम्		दमओ, दम्नेमि	डोमो	टु सब्ड्यू
अरिन्दम		हप्पोडमोस		सब्ड्यूअर
लभ्		लम्बनो		टु टेक
लप्स्ये		लेप्सोमै		आइ विल टेक
अञ्ज	अञ्ज		उङ्गो	टु एनॉएन्ट
प्लु		प्लेओ	फ्लुओ, प्लुओ	टु स्विम
मन्, मन्ये, म्ना, मनामि		म्नओमै	मेमिनि	आइ थिङ्क
मनस्	मनव्ह	मेनोस	मेन्स	माइण्ड
हु, जुहोमि		खेओ		टु पोर आउट
हुत		खुटोस		पोर्ड आउट
दश्	दश	दक्नो		टु बाइट
दष्ट		डेक्टोस		बिटेन
कर्, करोमि	कर	क्रैनो	क्रेओ	टु डू
आस्, आसे	आह	हेमै		टु सिट
आस्ते		हेस्टै		ही सिट्स
वम्	वम्	एमेओ	वोमो	टु वॉमिट
पर्द्		पेर्डोमै	पेडो	वेन्ट्रिस क्रेपिटुम
स्विद्		हिड्रोओ	सुडो	टु स्वेट
स्वेद		हिड्रोस	सुडोर	स्वेट
अर्द्			अर्डेओ	टु एफ्लिक्ट

संस्कृत	ज़ेण्ड	यूनानी	लैटिन	अंग्रेजी
स्वन्			सोनो	साउण्ड
स्तन्		स्टेनो	टोनो	ग्रोन
स्तनयित्नु			टोनिट्रु	थण्डर
लु		लुओ	लुओ	टु कट
वर्त्			वेर्टो	टु बी, टर्न
वर्त्तते			वर्टिट	ही टर्न्स
मिह्	मिज़्	ओमिखेओ	मिङ्गो	टु मेक वाटर
एमि		ऐमि	एओ	आइ गो
मर्	मर		मोरिओर	टु डाइ
मृत्यु	मेरेथ्यु		मोर्स	डेथ
मृत	[अव] मेरेत		मोर्टुउम	डेड
मर्त्य	मारेत	ब्रोटोस	मोर्टेलिस	मॉर्टल
अमृत	अमहक	अम्ब्रोटोस	इम्मॉर्टेलिस	इम्मार्टल
अमृतम्		अम्ब्रोसिआ	अम्ब्रोसिया	फूड आफ गाड्स
दर्श्		डेर्कोमै		टु सी
विद्, वेद्मि	विद्	फीडो	विडेओ	टु नो, सी
वेद		फोइड		आइ नो
विद्म		फिड्मेन	विडिमुस	वी नो, सी
वेत्थ		ओइस्थ		दाउ नोएस्ट
चि, चिकेति			स्किओ	टु पर्सीव, नो
पू, पुनामि			पुटो, पूरुस	टु क्लीन्स
तप्	तफ्श		टेपेओ	टु बी हॉट
प्रच्छ्, पृच्छामि	परेश		प्रेकोर	टु आस्क
स्पश्	श्पश	स्केप्टोमै	स्पेकिओ	टु सी, ऑब्जर्व
त्रस्	तरेश	त्रेओ	टेर्रेओ	टु फीयर
नश्		नेकुस	नेकरे, नेक्स	टु पेरिश
स्पर्श्			स्पर्गो	टु टच
मस्ज्, मज्जासि			मेर्गो	टु मिङ्क
लग्		लेगो	लेगो	टु टच, ले
पृच् (पर्च)		प्लेको	प्लेक्टो	,,
पृक्त		प्लेक्टोस	प्लेक्सुस	टच्ड
अर्च्	अरेज्	अर्खो		टु बी वर्दी

संस्कृत	जेण्ड	यूनानी	लैटिन	अंग्रेजी
लोच्, लोक		ल्यूस्सो		टु लुक
आलोक		ल्यूकोस	लुक्स	लाइट
रुच्	रुच	ल्यूकोस	लुकेओ, लुक्स	टु शाइन
वच्, वचिम	वच		वोको	टु स्पीक
वाच्	वाच	ओप्स	वोक्स	वॉयस
तक्ष्[33]	तश	तिक्तो, त्यूग्सो	टेक्सो	टु फैब्रिकेट
तक्षन		टेक्टोन	टेक्स्टोर	कार्पेन्टर
तुध्		पुन्थनोमै	पुटो	टु स्ट्राइक
वप्[34]	वप	हुफैनो		टु वीव
वृष्, वर्ष	वार	हेर्से, एर्से		रेन, ड्यू
भञ्ज्, भनज्मि		फग्नुमि	फ्रेंगो	टु ब्रेक
भुज्			फ्रुओर	टु एन्ज्वाय
भुक्त			फ्रुक्टुस	एन्ज्वाएड
क्लृप्, कल्प्			कर्पो	टु कट
भज्, भज्		फगो		टु ऑब्टेन
कुप्			कुपिओ	ऍंग्री
श्रु, शृणोमि	श्रु	क्लुओ	क्लुओ	टु हीयर
जीव्[35]	जीव	बिओओ	विवो	टु लिव
वन्[36]	वन		वेनेरो	टु लव, वर्शिप
घन्		क्टेनो,[37] क्टिन्नुमि		टु किल

[33] तुलना कीजिये संज्ञाओं की तालिका के ये शब्द तोक, तक्षन्, तक्नोन।

[34] प्रो० आफ़ेक्ट 'ऊर्णवाभि' शब्द में एक प्राचीन धातु, 'वभ्', का चिह्न पाते हैं, जो अभी भी यूनानी रूप के निकटतर है। देखिये बॉटलिङ्क और रॉथ के कोश में 'ऊर्णवाभि' शब्द।

[35] मूल धातु 'गीव्' मानी गई है, जो बाद में बढ़कर 'ग्वीव्' हो गई और इसमें ही यूनानी 'बिओस', बिओओ, इत्यादि और लैटिन 'विवो' का 'ग' के लुप्त हो जाने से विकास हुआ। देखिये कर्टिअस, पृ० ४१८।

[36] देखिये ऊपर 'वनस' और 'वेनुस'।

[37] 'तक्षन्' और 'टेक्टोन' की तुलना कीजिये जिनमें भी संस्कृत 'क्ष्', यूनानी 'क्ट' के बराबर है।

संस्कृत	ज़ेण्ड	यूनानी	लैटिन	अंग्रेज़ी
क्षि		यु-क्ति-मेनोस		टु ड्वेल
		पेरि-क्ति-ओनेस		ड्वेलर्स
गुह्, गुध्, गूढ		क्यूथो		टु हाइड
किर्		क्रिनो	केर्नो	आइ स्कैटर
पा, पिबामि	पा	पिनो	बिबो, पोटरे	आइ ड्रिङ्क
पपौ		पेपोक		आइ हैव ड्रङ्क
पातुम्		पोटोस	पोटुस	ड्रङ्क
गर्, जागर्मि		एगेर, एगीरो		आइ वेक
अजीगर्		एग्रेगोर		ही एवोक
पिष्, पिनष्मि			पिन्सो	आइ पाउण्ड
पिष्ट			पिस्टुस	पाउण्डेड
कम्प		कम्प्टो ?		टु बेण्ड
(नि)धन		थनटोस		डेथ
भणामि		फोनेओ		आइ स्पीक
सिव्, सीव्यामि		(कस्) सुओ	सुओ	आइ स्यू
स्यूत			सुटुस	स्यून
नह्			नेक्टो	आइ बाइण्ड
द्रामि		(अपो) द्रानै		आइ रन
अद्रामम्		एड्रमोन		आइ वेण्ट
अपाद्रान्		एपेद्रन्		दे रैन
दिश्	दिश	दीक्नुमि	डिको	आइ शो, टेल
अदिक्षम्		एडीक्सा	डिक्सि	आइ शोड
अदिक्षत्		एडीक्सेटे	डिक्सिस्टिस	यी शोड
मा, मामि, मिमे	मा	मेट्रेओ	मेटिओर	आइ मेज़र
मात्र		मेट्रोन	मेट्रुन	ए मेज़र
त्रप्[२८]		ट्रेपो[२८]		आइ ऐम अशेम्ड
त्रुप्, त्रुफ्, त्रुम्प्		थ्रुप्टो		टु हर्ट

[२८] दोनो धातुओ का आशय भिन्न है और सम्भवत इनमे कोई साम्य भी नही है।

संस्कृत	जेण्ड	यूनानी	लैटिन	अंग्रेजी
यत्		ज़ेटो		टु स्ट्राइव
मर्द्			मोर्डेओ	टु रब, क्रश
ममर्द			मोमोर्डि	आइ रब्ड, क्रश्ड
मेध्		मेडोमै		टु अण्डरस्टैण्ड
निज्		निज़ो		टु क्लीन्स
आप्	अप्	हप्तो	(अड)-इपिकिस्कोर	टु ऑब्टेन
आप्त			आप्टुस	फिट
बन्ध्	बन्द्			बाइण्ड
युज्, युनज्मि	युज	ज्युग्नुमि	जुङ्गो	टु योक
युक्तस्	युक्तो	ज्युक्तोस	जंक्टुस	ज्वाइण्ड
युग		ज़ुगोन	जुगम	योक
लुप्, लुम्पामि			रुम्पो	टु कट
लुप्तस्			रुप्टुस	डिसमॉल्व्ड
सच्		हेपोमै	सीकुओर	टु फॉलो
भ्रज्		फलेगो	फुलगेओ	टु शाइन
भृज्ज्		फ्रुगो	फ्रिगो	टु रोस्ट
धाव्		थिओ		टु रन
पच्	पच	पेप्टो	कोकुओ	टु कुक
पक्व		पेपोन, पेप्टोस	कोक्टुस	कुक्ड
लम्ब, रम्ब			लाबोर	टु फॉल
यज्	यज्	हज़ोमै		टु वेनरेट
याज्य		हगिओस		वेनरेबल
स्रु, स्रवामि		रेओ		टु फ्लो
स्नु, स्नौमि		नेओ, नओ		,,
स्तम्भ्		स्टेम्बो		टु स्टॉप
स्तम्भ्		एटफोन		टु बी स्टूपीफाइड
स्तम्भ		थम्बोस		स्टूपीफैक्शन
त्रा, त्रै		टेरेओ	टहो	टु डिलीवर
मि, मिनामि, मिनोमि		मिनुथो	मिनुस	टु डेस्ट्राय

संस्कृत	ज़ेण्ड	यूनानी	लैटिन	अंग्रेज़ी
लप्		लकेओ	लोक्वि	टु स्पीक
श्रद्धा			क्रेडो	टु बिलीव
शि, शेते	शी, शाइति, शएते	कीटै		ही लाइज़्
शंक्			कुंक्टोर	टु डाउट
अन्च्, अङ्क	अन्कु	अकुलोस	उन्कुस	टु बेण्ड
पिश्		पोइकिल्लो	पिङ्गो	टु पेण्ट
गुञ्ज्		गोङ्गुजो		टु मर्मर
अज्	अज़	अगो	अगो	टु लीड, ड्राइव्
मृज्, (मर्ज्)	मरेज़्	ओमोर्ग्नुमि		टु वाइप
वृज् (वर्ज्)		इर्गो		टु एक्सक्लूड
स्थग्		स्टेगो	टेगो	टु कवर
स्पृह् (स्पर्ह्)		स्पेर्खोमै		टु हेस्ट
हर्य्		खैरो		टु रिज्वाएस
नश्	नश्	•	नंकिस्कोर	टु ऑब्टेन
घर्, घरामि जिघर्मि		ख्रिओ		एनॉएण्ट
तिज्	तिज	स्टिज़ो	(डि) स्टिन्गुओ	टु बी शार्प
तिग्म		स्टिग्मे		शार्प
तृप्, (तर्ष)	तरेश	टेर्सोमै	टोर्रेओ	टु थर्स्ट
दा, द्यामि		डेओ, डिडेमि		टु बाइण्ड
दामन्		डेस्मोस्		बॉण्ड
दी		डीमै, डिओमै		टु फ्लाइ
स्खद्, स्खन्द्		स्केडन्नुमि		टु शेड्, स्पिल
पर्, पिपर्मि	पर	पेरओ		टु क्रॉस
पर्, पिपर्मि	पर	पिम्प्लेमि	(इम्)प्लेओ	टु फिल
पू	पू	पुथो	पुटेओ	टुबी प्यूट्रिड
भा		फैनो		टु एपीयर
भास्		फओस		लाइट
भी, बिभेमि		फेबोमै		टु फीयर
इध्		ऐथो		टु बर्न

संस्कृत	ज़ेण्ड	यूनानी	लैटिन	अंग्रेज़ी
स्मर्	मरेद्		मेमोर्	टु रिकलेक्ट
स्फलामि		स्फल्लो	फल्लो	टु हेज़िटेट
वच्	वच	औक्सो	ऑगेओ	टु इन्क्रीज़
गा, जिगामि	गा	ब्रैनो		टु गो
अगाम्		एवेन		आइ वेण्ट
रच्		अलेक्सो		टु प्रोटेक्ट
क्वण्		केनेज़ो	केनो	टु साउण्ड, सिङ्ग
मुच्, मुञ्चामि		अपो (मुस्सो)	मुगो	टु रिमूव
स्तिघ्		स्टीखो		टु असेण्ड
ह्लाद्		केल्लाद		टु रिजॉएस
स्फर्, स्फुर्		एस्पैरो, स्पैरो		टु क्विवर
मृ, मृणामि		मर्नमै		टु किल, फाइट
ऋणोमि	अर्	ओर्नुमि	ओरिरि	टु गो, राइज़
आर्त		ओर्टो	ओर्टुम	ही रोज
शिञ्ज्		सिज़ो		टु हिस
स्फुर्ज्, स्फूर्ज्		स्फरगी		टु थण्डर
कृत्	करेट	केर्टोमेओस		टु कट
निद्		ओनीडिज़ो		टु रिप्रोच
रद्			राडेरे, रोडेरे	टु स्क्रैच
मन्यु		मैनोमै		ऐन्गर
शम्, श्रम्		कम्नो		टु बी टायर्ड
दाय्	दा	डैओ		टु डिवाइड
भर्व		फेर्बो		टु ईट

उपरोक्त तालिका में जहाँ ज़ेण्ड शब्द को छोड़ दिया गया है वहाँ मुझे उस अर्थ वाला कोई ज़ेण्ड शब्द तत्काल उपलब्ध नहीं हो सका है। इस तालिका से यह विदित होगा कि अनेक दशाओं में जहाँ यूनानी भाषा में कुछ ऐसे शब्द उपलब्ध हैं जो ध्वनि और आशय की दृष्टि से संस्कृत शब्दों के समान हैं, वहीं, लैटिन में, जैसी कि वह आज हमें उपलब्ध है, तदनुरूप कोई शब्द नहीं है। इसके विपरीत, कभी कभी लैटिन में तो संस्कृत के समान शब्द-रूप मिलते हैं किन्तु यूनानी में नहीं। मैंने जितने भी उदाहरण प्रस्तुत किये हैं उन सब में, निःसन्देह, सम्बन्ध समान रूप से निश्चित नहीं कहा जा सकता।

मैंने स्वयं भी संदिग्धता की दशा में शब्दों के आगे प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है।

द्वितीयतः, अब मैं कारक-रूपों और विभक्ति-रूपों, तथा, साथ ही साथ, नामिक और क्रियार्थक धातुओं से शब्दों के निर्माण की दृष्टि से संस्कृत, ज़ेण्ड, यूनानी और लैटिन शब्दों में उपलब्ध समानता को दिखाने का प्रयास करूँगा।

सर्वप्रथम, मैं इस समानता के उदाहरण के रूप में प्रथम और द्वितीय पुरुषवाचक सर्वनामों को प्रस्तुत करूँगा।

पुरुषवाचक सर्वनाम

एकवचन

कर्ता	अहम्	अज़ेम	एगो	एगो	आइ
कर्म	माम्	मम्, मा	मे	मे	मी
करण	मया				वाइ मी
सम्प्र०	मह्यम्, मे	मैब्यो, मे, मोइ	एमोइ, मोइ	मिहि	टु मी
अपा०	मत्				फ्रॉम मी
संप्र०	मम, मे	मन, मे, मोइ	एमोउ, मोउ	मेइ	ऑफ मी
अधि०	मयि		एमोइ, मोइ	मे	इन मी

बहुवचन

कर्ता	वयम्, अस्मे	वएम	हेमेस	नोस	वी
कर्म	अस्मान्, नस्	अह्म, नो	हेमस		अस
करण	अस्माभिस्	एह्मा			वाइ अस
संप्र०	अस्माभ्याम्	अह्मैब्य, अह्माइ	हेमिन	नोबिस	टु अस
अपा०	अस्मात्				फ्रॉम अस
संब०	अस्साकम्	अह्माकेम	हेमोन	नोस्ट्रुम	ऑफ अस
अधि०	अस्मासु		हेमिन	नोबिस	इन अस

एकवचन

कर्ता	त्वम्	तूम	सु	टु	दाउ
कर्म	त्वाद्	थ्वम्, थ्वा, ते	से	टे	दी
करण	त्वया	थ्व			वाइ दी

संप्र०	तुभ्यम् , ते	तैब्यो, तोइ, ते	सोई	टिबि	टु दी
अपा०	त्वत्	थ्वट			फ्रॉम दी
संब०	तव, ते	तव, तोइ, ते	सोउ	टुइ	ऑफ दी
अधि०	त्वयि	थोइ	सोइ	टे	इन दी

बहुवचन

कर्ता	यूयम्, युष्मे	यूज़्हेम, यूस	हुमीस	वोस	यू
कर्म	युष्मान् , वस्	वाओ, वो	हुमस	वोस	यू
करण	युष्माभिस	ख्श्मा, वाओ			वाइ यू
संप्र०	युष्मभ्यम् , वस्	युस्मैव्या, वो	हुमिन	वोबिस	टु यू
अपा०	युष्मत्	युष्मट			फ्रॉम यू
संब०	युष्माकम्	यूष्माकेम, वो, वाओ	हुमोन	वेस्ट्रुम	ऑफ यू
अधि०	युष्मासु		हुमिन	वोबिस	इन यू

नीचे उक्त चार भाषाओं के बीच संज्ञाओं के कारकरूपों की समानता के उदाहरण दिये जा रहे हैं :—

संज्ञायें, पुल्लिङ्ग (अकारान्त)

एकवचन

	संस्कृत	ज़ेण्ड	यूनानी	लैटिन
कर्ता	वृकस्	वेह्र्को	लुकोस	लुपुस
कर्म	वृकम्	वेह्र्केम	लुकोन	लुपुम
करण	वृकेण	वेह्र्क, वेह्र्का	लुको	लुपो
संप्र०	वृकाय	वेह्र्काइ	लुको	लुपो
अपा०	वृकात्	वेह्र्काट	लुको	लुपो
सम्ब०	वृकस्य	वेह्र्कहे	लुकोउ	लुपि
अधि०	वृके	वेह्र्के	लुको	लुपो
संबो०	वृक	वेह्र्क	लुके	लुपे

द्विवचन

कर्ता कर्म सम्बो०	वृकौ	वेह्र्क	लुको	

संब० अधि०	वृकयोस्	वेह्रकयाओ	लुकोइन	द्विवचन नही होते
करण संप्र० अपा०	वृकाभ्याम्	वेह्रकैइब्य	लुकोइन	

बहुवचन

कर्ता,सम्बो०	वृकास्	वेह्रकाओन्हो	लुकोइ	लुपी
कर्म	वृकान्	वेह्रकन	लुकोउस	लुपोस
करण	वृकैस्	वेह्रकैस	लुकोइस	लुपिस
संप्र०	वृकेभ्यस्	वेह्रकैइब्यो	लुकोइस	लुपिस
अपा०	वृकेभ्यस्		लुकोइस	लुपिस
संब०	वृकाणाम्	वेह्रकनम्	लुकोन	लुपोरुम
अधि०	वृकेषु	वेह्रकएष्व	लुकोइस	लुपिस

संज्ञायें, स्त्रीलिङ्ग

'जिह्वा'

एकवचन

कर्ता	जिह्वा	हिज्वा	ग्लोस्सा	लिङ्गुअ
कर्म	जिह्वाम्	हिज्वम्	ग्लोस्सान	लिङ्गुअम
करण	जिह्वया	हिज्वय	ग्लोस्से	लिङ्गुआ
संप्र०	जिह्वायै	हिज़्वयै	ग्लोस्से	लिङ्गुये
अपा०	जिह्वायाः	हिज्वयाट	ग्लोस्से	लिङ्गुआ
संब०	जिह्वायाः	हिज्वयाओ	ग्लोस्सेस	लिङ्गुये
अधि	जिह्वायाम्	हिज्वाय	ग्लोस्से	लिङ्गुअ
सम्बो०	जिह्वे	हिज़्वे, हिज़्व	ग्लोसा	लिङ्गुअ

संज्ञायें, पुल्लिङ्ग (ऋकारान्त)

एकवचन

'पितृ' (पिता), और ज़ेण्ड के खाने से 'भ्रातृ' (भ्राता)

	सस्कृत	ज़ेण्ड	यूनानी	लैटिन
कर्ता	पिता	ब्रात	पटेर	पटेर
कर्म	पितरम्	ब्रातरेम	पटेर	पट्रेम
करण	पित्रा	ब्राथ्र	पटेरि, पट्रि	पट्रे

	संस्कृत	जेण्ड	यूनानी	लैटिन
संप्र०	पित्रे	थ्राथ्रे	पटेरि, पट्रि	पट्रि
अपा०	पितुस्	थ्राथ्रट	पटेरि, पट्रि	पट्रे
संब०	पितुस्	थ्राथ्रो	पट्रोस	पट्रिस
अधि०	पितरि	थ्राथ्रि ?	पटेरि, पट्रि	पट्रे
संबो०	पितः	थ्रातरे	पटेर	पटेर

बहुवचन

कर्ता	पितरस्	थ्राथ्रो	पटेरेस	पट्रेस
कर्म	पितॄन्	थ्राथ्रो	पटेरेस	पट्रेस
करण	पितृभिस्	थ्रायरेबिस	पट्रसि	पट्रिबुस
संप्र०	पितृभ्यस्	थ्रातरेब्यो	पट्रसि	पट्रिबुस
अपा०	पितृभ्यस्	थ्रातरेब्यो	पट्रसि	पट्रिबुस
संब०	पितृणाम्	थ्राथ्रम्	पटेरोन, पट्रोन	पट्रिउम
अधि०	पितृपु	थ्रातरेप्व ?	पट्रसि	पट्रिबुस

ऋकारान्त पुल्लिङ्ग संज्ञा का एक अन्य रूप

एकवचन

	सस्कृत	जे ण्ड	यूनानी	लैटिन
कर्ता	दाता	दात	डोटेर	डटोर
कर्म	दातारम्	दातारेम	डोटेर	डटोरेम
करण	दात्रा	दाथ्र	डोटेरि	डटोरे
संप्र०	दात्रे	दाथ्रे	डोटेरि	डटोरि
अपा०	दातुस्	दाथ्रट	डोटेरि	डटोरे
संब०	दातुस	दाथ्रो	डोटेरोस	डटोरिस
अधि	दातरि	दाथ्रि	डोटेरि	डटोरे

बहुवचन

कर्ता	दातारस	दातारो	डोटेरेस	डटोरेस
कर्म	दातॄन्	दातारो	डोटेरस	डटोरेस
करण	दातृभिस्	दातरेबिस्	डोटेर्सि	डटोरिबुस
संप्र०	दातृभ्यस्	दातरेभ्यो	डोटेर्सि	डटोरिबुस
अपा०	दातृभ्यस्		डोटेर्सि	डेटारिबुस
संब०	दातॄणाण्	दाथ्रणम	डोटेरोन	डटोरुम
अधि०	दातृपु		डोटेर्सि	डटोरिबुस

वर्तमानकालिक कृदन्त कर्तृवाचक
'भरत'
एकवचन

	संस्कृत	ज़ेण्ड	यूनानी	लैटिन
कर्ता	भरन्	बरश	फेरोन	फेरेन्स
कर्म	भरन्तम्	बरेन्तेम	फेरोन्टा	फ़ेरेन्टेम
करण	भरता	बरत	फेरोन्टि	फ़ेरेन्टे
संप्र०	भरते	बरेन्ते	फेरोन्टि	फ़ेरेन्टि
अपा०	भरतस्	बरन्तट	फेरोन्टि	फ़रेन्टे
संब०	भरतस्	बरेन्तो	फेरोन्टोस	फेरेन्टिस
अधि०	भरति	बरेन्ति ?	फेरोन्टि	फेरेन्टे
संबो०	भरन्		फेरोन	फेरेन्स

क्लीव संज्ञायें
'दान', 'दात' (ज़ेण्ड)
एकवचन

कर्ता	दानम्	दातेम	डोरोन	डोनुम
कर्म	दानम्	दातेम	डोरोन	डोनुम
करण	दानेन	दात	डोरो	डोनो
सप्र०	दानाय	दाताइ	डोरो	डोनो
अप०	दानात्	दाताट	डोरो	डोनो
संब०	दानस्य	दातहे	डोरोन	डोनि
अधि०	दाने	दाते	डोरो	डोनो
संबो०	दान	दात	डोरोन	डोनुम

व्यञ्जन से अन्त होने वाली क्लीव संज्ञा
'नामन्'
एकवचन

	संस्कृत	जेण्ड	यूनानी	लैटिन
कर्ता	नाम	नाम	ओनोम	नोमेन
कर्म	नाम	नाम	ओनोम	नोमेन
करण	नाम्ना	नामन	ओनोमटि	नोमिने
संप्र०	नाम्ने	नामैने	ओनोमटि	नोमिनि
अपा०	नाम्नस्	नामनट	ओनोमटि	नोमिने

	संस्कृत	ज़ेण्ड	यूनानी	लैटिन
संब०	नाम्नस्	नामनो	ओनोमटोस	नोमिनिस
अधि०	नाम्नि	नमैनि	ओनोमटि	नोमिने
संबो०	नामन्	नाम	ओनोम	नोमेन

बहुवचन

कर्ता	नामानि	नामेनि	ओनोमट	नोमिना
कर्म	नामानि	नामान, नामेनि	ओनोमट	नोमिना
करण	नामभिस्	नमेनीस	ओनोमसि	नोमिनिबुस
संप्र०	नामभ्यस्	नामब्यो	ओनोमसि	नोमिनिब्रुस
अपा०	नामभ्यस्		ओनोमसि	नोमिनिबुस
संब०	नाम्नाम्	नामनाम	ओनोमेटोन	नोमिनुम
अधि०	नामसु	नामह्व	ओनोमसि	नोमिनिबुस

सस्कृत और यूनानी में क्रियाओं के विभक्ति-रूपों में उल्लेखनीय साम्य दृष्टिगत होता है, विशेषतः उन यूनानी क्रियाओं में जो 'मि' से अन्त होती हैं। इस प्रकार की क्रियाओं में धातु के व्यञ्जन का वर्तमान और अपूर्ण कालों में द्वित्व हो जाता है। सर्वाधिक उल्लेखनीय साम्य सम्भवतः 'दा' अथवा 'दो' धातुओं में मिलता है, जिसका मैं अनेक अन्य के साथ नीचे उदाहरण दे रहा हूँ। ज़ेण्ड तथा लैटिन रूप जहाँ सरलता से उपलब्ध हो सके हैं वहाँ उन्हें भी दे दिया गया है।

'देना' क्रिया

वर्तमानकाल

	सस्कृत	ज़ेण्ड	यूनानी	लैटिन
	ददामि	ददाह्मि	डिडोमि	डो
एक०	ददासि	दधाहि	डिडोस	डस
	ददाति	दधैति	डिडोसि	डट
	दद्वस्			
द्वि०	दत्थस्		डिडोटोन	
	दत्तस्		डिडोटोन	
	दद्मस्	ददेमहि	डिडोमेन	डेमुस
बहु०	दत्थ		डिडोटे	डेटिस
	ददति	ददेन्ति ?	डिडौसि	डेन्ट

अपूर्ण

	अददाम्	एडिडोन	डवम
एक०	अददास्	एडिडोस	डवस
	अददात्	एडिडो	डवट
	अदद्व		
द्वि०	अदत्तम्	एडिडोटोन	
	अदत्ताम्	एडिडोटेन	
	अदद्म	एडिडोमेन	डबेमुस
बहु०	अदत्त	एडिडोटे	डबेटिस

अन्यभूत

	अदाम्	एडोन
एक०	अदास्	एडोस
	अदात्	एडो
	अदाव	
द्वि०	अदातम्	एडोटोन
	अदाताम्	एडोटेन
	अदाम	एडोमेन
बहु०	अदात	एडोटे
	अदुस	एडोसन

द्विरावृत्तिक भूत

	ददौ	डेडोक	डेडि
एक०	ददिथ	डेडोकस	डेडिस्टि
	ददौ	डेडोके	डेडिट
	ददिव		
द्वि०	ददथुस्	डेडोकटोन	
	ददतुस्	डेडोकटेन	
	ददिम	डेडोकमेन	डेडिमुस
बहु०	दद	डेडोकटे	डेडिस्टिस
	दादुस्	डेडौकसि	डेडेकन्ट

संस्कृत के लेट् और आशीर्लिङ् प्राय' यूनानी में वर्तमानकालिक इच्छा-सूचक क्रियार्थ और सामान्यत भूत के वहुत निकट आते हैं: जैसे,

लेट्

	संस्कृत	यूनानी		संस्कृत	यूनानी
	दद्याम्	डिडोएन		दद्याम	डिडोएमेन
एक०	दद्यास्	डिडोएस	बहु०	दद्यात	डिडोएटे
	दद्यात्	डिडोए		दद्युम्	डिडोएसन्

आशीर्लिङ्

	संस्कृत	यूनानी
	देयासम्	डोएन
एक०	देयास्	डोएस
	देयात्	डोए, इत्यादि

यूनानी के भविष्यत्वाची 'दासो' और भविष्यत्वाची निपात 'डोसोन' का भी संस्कृत 'दास्यामि' ओर 'दास्यन्' के साथ साम्य मिलता है। इसी प्रकार लैटिन सज्ञार्थक क्रिया 'डेटुम' का संस्कृत 'दातुम्' से पूर्ण साम्य उपलब्ध होता है। संस्कृत रूप ('दातृ' जो बहुवचन में 'दातारस्' हो जाता है) और लैटिन भविष्यत्कालिक निपात 'डाटुरुस' का साम्य भी उल्लेखनीय है।

'रखना' क्रिया

	संस्कृत	यूनानी		संस्कृत	यूनानी
	दधामि	टिथेमि		अदधाम्	एटिथेन
एक०	दधासि	टिथेस	एक०	अदधास्	एटिथेस
	दधाति	टिथेसि		अदधात्	एटिथे
	दध्वस्			अदध्व	
द्वि०	धत्थस्	टिथेटोन	द्वि०	अधत्तम्	एटिथेटोन
	धत्तस्	टिथेटोन		अधत्ताम्	एटिथेटेन
	दध्मस्	टिथेमेन		अदध्म	एटिथेमेन
बहु०	धत्थ	टिथेटे	बहु०	अधत्त	एटिथेटे
	दधति	टिथीसि		अदधुस्	एटिथेसन्

अन्य भूत

	संस्कृत	यूनानी
	अधाम्	एथेन
एक०	अधास्	एथेस
	अधात्	एथे

	संस्कृत	यूनानी
	अधाव	
द्वि०	अधातम्	एथेटोन
	अधाताम्	एथेटेन
	अधाम	एथेमेन
बहु०	अधात	एथेटे
	अधुस्	एथेसन

'फैलाना' क्रिया

वर्तमानकाल

	संस्कृत	यूनानी	लैटिन
	स्तृणोमि	स्ट्रोन्नूमि	स्टेर्नो
एक	स्तृणोषि	स्ट्रोन्नुस	स्टेर्निस
	स्तृणोति	स्ट्रोन्नूसि	स्टेर्निट
	स्तृणुवस्		
द्वि०	स्तृणुथस्	स्ट्रोन्नुटोन	
	स्तृणुतस्	स्ट्रोन्नुटोन	
	स्तृतृणुमस्	स्ट्रोन्नुमेन	स्टेर्निमुस
बहु०	स्तृणुथ	स्ट्रोन्लुटे	स्टेर्निटिस
	स्तृण्वन्ति	स्ट्रोन्लुसि	स्टेर्नुन्ट

अपूर्ण

	अस्तृणवम्	एस्ट्रोन्नुन	स्टर्नेवम
एक०	अस्तृणोस्	एस्ट्रोन्नुस	स्टर्नेवस
	अस्तृणोत्	एस्ट्रोन्नु	स्टर्नेवट
	अस्तृणुव		
द्वि०	अस्तृणुतम्	एस्ट्रोन्नुटोन	
	अस्तृणुताम्	स्स्ट्रोन्नुटेन	
	अस्तृणुम	एस्ट्रोन्नुमेन	स्टर्नेबेमुस
बहु०	अस्तृणुत	एस्ट्रोन्नुते	स्टर्णेबेटिस
	अस्तृण्वन्	एस्ट्रोन्नुसन	स्टर्नेवेन्ट

'रेंगना' क्रिया

वर्तमान काल

	सर्पामि	हेर्पो	सेर्पो
एक०	सर्पसि	हेर्पीस	सेर्पिस
	सर्पति	हेर्पी	सेर्पिट
	सर्पावस्		
द्वि०	सर्पथस्	हेर्पेटोन	
	सर्पतस्	हेर्पेटोन	
	सर्पामस्	हेर्पोमेन	सेर्पिमुस
बहु०	सर्पथ	हेर्पेटे	सेर्पिटिस
	सर्पन्ति	हेर्पोउसि	सेर्पुन्ट

अपूर्ण

	असर्पम्	हीर्पोन	सेर्पेवम
एक०	असर्पस्	हीर्पेस	सेर्पेवस
	असर्पत्	हीर्पे	सेर्पेवट
	असर्पाव		
द्वि०	असर्पतम्	हीर्पेटोन	
	असर्पताम्	हीर्पेटेन	
	असर्पाम	हीर्पोमेन	सेर्पेवेमुस
बहु०	असर्पत	हीर्पेटे	सेर्पेवेटिस
	असर्पन्	हीर्पोन	सेर्पेवेन्ट

लेट्, इच्छासूचक, और भविष्यत् (लैटिन)

	सर्पेयम्	हेर्पोइमि	सेपेम
एक०	सर्पेस्	हेर्पेइस	सेर्पेस
	सर्पेत्	हेर्पोइ	सेर्पेट
	सर्पेम	हेर्पोइमेन	सेर्पेमुस
बहु०	सर्पेत	हेर्पोइटे	सेर्पेटिस
	सर्पेयुस्	होर्पोइएन	सेर्पेन्ट

पूर्ण

	ससर्प	हेर्प	सेर्प्सि

कृदन्त

एकवचन

कर्ता	सर्पन्	हेर्पोन	सर्पेन्स
कर्म	सर्पन्तम्	हेर्पोन्ट	सर्पेन्टेम
सम्प्र०	सर्पते	हेर्पोन्टि	सर्पेन्टि

वहुवचन

कहा०	सर्पन्तस्	हेर्पोन्टेस	सेर्पेन्टेस
सम्प्र०	सर्पद्भयस्	हेर्पोउसि	सेर्पेन्टिवुस

'होना' क्रिया

वर्तमान

	संस्कृत	ज़ेण्ड	यूनानी	लैटिन
	अस्मि	अह्मि	एमि, एम्मि	सुम
एक०	असि	अहि	एसि, एस्सि	एस
	अस्ति	अश्ति	एस्टि	एस्ट
	स्वस्			
द्वि०	स्थस्		एस्टोन	
	स्तस्		एस्टोन	
	स्मस्	महि	एस्मेन	सुमुस
वहु०	स्थ	श्त	एस्टे	एस्टिस
	सन्ति	हेन्ति	एसि	सुन्ट

आज्ञार्थक

एक०	अस्तु		एस्टो	एस्टो
वहु०	सन्तु		एस्टोसन	सुन्टो

अपूर्ण

	आसम्		एन	एरम
एक०	आसीस्		एस, एस्थ	एरस
	आसीत्		एन	एरट
	आस्व			
द्वि०	आस्तम्		एटोन	
	आस्ताम्		एटेन	

	संस्कृत	ज़ेण्ड	यूनानी	लैटिन
	आस्म		एमेन	एरमुस
बहु०	आस्थ		एटे	एरटिस
	आसन्		एसन	एरन्ट

'खड़ा होना' क्रिया

वर्तमान

	संस्कृत	ज़ेण्ड	यूनानी	लैटिन
	तिष्ठामि		हिस्टेमि	स्टो
एक	तिष्ठसि	हिस्तहि	हिस्टेस	स्टस
	तिष्ठति	हिस्तैति	हिस्टेसि	स्टट
	तिष्ठामस्		हिस्टमेन	स्टमुस
बहु०	तिष्ठथ		हिस्टटे	स्टटिस
	तिष्ठन्ति	हिस्तेन्ति	हिस्टासि	स्टन्ट

'दिखाना' अथवा 'कहना' क्रिया

भूत

	संस्कृत	यूनानी	लैटिन
	अदिक्षम्	एडीक्स	डिक्सि
एक०	अदिक्षस्	एडीक्सस	डिक्सिस्टिस
	अदिक्षत्	एडीक्से	डिक्सिट
	अदिक्षाम	एडीक्समेन	डिक्सिमुत
बहु०	अदिक्षत	एडीक्सेट	डिक्सिस्टिस
	अदिक्षन्	एडीक्सन	डिक्सरुन्ट

नीचे कुछ और ऐसे उदाहरण दिये जा रहे हैं जिनके भूतकालिक रूपों में, तथा अधिकांश दशाओं में आशयों में भी साम्य है।

संस्कृत	यूनानी	लैटिन	अँग्रेजी
अवाक्षीत्		वेक्सिट	ही कैरीड
अक्षिप्सि		स्क्रिप्सि	आइ रोट
अपप्तम्	एपिप्टोन		आइ फेल
अपतम्	एपेसोन		आइ फेल
अस्थाम्	एस्टेन		आइ स्टुड

नीचे कुछ ऐसे उदाहरण दिये जा रहे हैं जिनमें संस्कृत और यूनानी दोनों में द्विरावृत्तिक पूर्ण' के निर्माण में साम्य है।

संस्कृत			यूनानी		
धातु	पूर्ण	अँग्रेज़ी	वर्तमान	पूर्ण	अँग्रेज़ी
लिप्	लिलेप	आइ एनॉएन्टेड	लीपो	लेलोइप	आइ लेफ्ट
शक्	शशाक	आइ वाज़ एब्ल	डेर्को	डेडोर्क	आइ सॉ
तुप् / तुफ्	तुतोप / तुतोफ	आइ इन्ज्योर्ड	टुप्टो	टेटुफ	आइ स्ट्रक
तप्	तताप	आइ हीटेड	थप्टो	टेटफ	आइ वरीड

नीचे मैं संस्कृत तुमन्त और लैटिन क्रियार्थक संज्ञाओं के साम्य के कुछ उदाहरण दे रहा हूँ—

संस्कृत	लैटिन	अंग्रेज़ी	संस्कृत	लैटिन	अंग्रेज़ी
स्थातुम्	स्टेटुम	टु स्टैण्ड	जनितुम्	गेनिटुम	टु बिगेट
अंक्तुम्	अंक्टुम	टु एनॉएण्ट	एतुम्	इटुम	टु गो
वमितुम्	वोमिटुम	टु वॉमिट	स्वनितुम्	सोनिटुम	टु साउण्ड
ज्ञातुम्	नोटुम	टु नो	स्तर्तुम्	स्ट्राटुम	टु स्प्रेड
योक्तुम्	जंक्टुम	टु ज्वायन	सर्पतुम्	सर्प्टुम	टु क्रीप
पेष्टुम्	पिस्टुम	टु पाउण्ड			

यद्यपि आशय तो नहीं तथापि संस्कृत सन्नन्त के रूप यूनानी और लैटिन में मिलते हैं · जैसे 'जिज्ञासामि' के समान 'गिग्नोस्को' (यूनानी), और 'नोस्को' (लैटिन), 'मिम्नासामि' के समान 'मिम्नेस्को' और '[रे] मिनिस्कोर'।

पुनः, 'पैपल्लो', 'डेडल्लो', 'पैफस्सो', 'पिम्प्लेमि', 'पिम्प्रेमि' इत्यादि जैसे यूनानी शब्द यद्यपि अर्थरहित हैं, तथापि इनका रूप 'वीभु, वम्भ्रम्' आदि संस्कृत तीव्रताबोधक शब्दों जैसा ही है।

कृदन्तों की दशा में भी, संस्कृत और यूनानी में उल्लेखनीय साम्य है। कुछ कर्तृवाच्य कृदन्तों के उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। नीचे कुछ अन्य उदाहरण प्रस्तुत हैं।

कर्त्तवाच्य परोक्षभूत कृदन्त

यूनानी			सस्कृत		
पुल्लिङ्ग	स्त्री०	क्लीव	पु०	स्त्री०	क्ली०
टेटुफोस	टेटुफुइआ	टेटुफोस	तेतुपिवान्	तेतुपुषी	तुतुपिवत्

'मन्' में संस्कृत धातु (क्लीव और पुल्लिङ्ग) लैटिन के 'मेन' के समान है: जैसे स्थामन् = स्टामेन ; स्तरिमन् = स्ट्रमेन। 'त्र' से अन्त होनेवाले संज्ञा रूप सस्कृत, यूनानी, और लैटिन, तीनों मे समान रूप से मिलते है. जैसे संस्कृत 'अरित्रम् , नेत्रम , श्रोत्रम् , मात्रम् , गात्रम्, वक्त्रम् , खनित्रम् , वादित्रम् , वरुत्रम्' रूप में यूनानी 'निप्ट्रोन, प्लेक्ट्रोन, लेक्ट्रोन, फेरेट्रोन, लुट्रोन, अरोट्रोन,' और लैटिन 'सुलक्ट्रुम, स्पेक्ट्रुम, अरट्रुम' के समाम है।

'नस' के संज्ञारूप यूनानी और संस्कृत दोनों में समान हैं: जैसे हुप्नोस = स्वप्नस्।

'त' से अन्त होने वाले कर्मवाचक भूतकालिक कृदन्त भी संस्कृत के साथ अन्य भाषाओं में समान हैं.

सस्कृत	जे़ण्ड	यूनानी	लैटिन
ज्ञातस्		ग्नोटोस	(ग्) नोटुस
अज्ञातस्		अग्नोटोस	इग्नोटुस
दत्तस्	दातो	डोटोस	डाटुस
युक्तस्	युख्तो	ज्यूक्टोस	जंक्टुस
लब्धम्		लेप्टोस	

संस्कृत 'भग्नस' की यूनानी 'स्टुग्नोस, टप्नोंस्' से तुलना कीजिये।

'ता, तात् , तेस् , तस्' से अन्त होनेवाले अमूर्त अथवा अन्य विशेष्य भी इन सभी भाषाओं में मिलते हैं :—

सस्कृत	जेण्ड	यूनानी	लैटिन
नव–ता	अमेरेतट	नियो–टेस	नोवि–टस
सम–ता	उपरताट	होमो–टेस	फेकिलि–टस
लघु–ता	इपरेस्तट	प्लटु–टेस	लेवि–टस

'तिस' से अन्त होनेवाले रूप सस्कृत और यूनानी दोनों में आते है, किन्तु अन्तर इतना है कि यूनानी में 'तिस' के स्थान पर अधिकांशतः 'सिस' है :—

संस्कृत	यूनानी
म–तिस्	मे–टिस
उक्–तिस्	फ–टिस
तृप्–तिस्	टेर्प–सिस
युक्–तिस्	ज्यूक्–सिस

इसी प्रकार बने विशेषणों के उदाहरण इस प्रकार हैं :—

संस्कृत	यूनानी	लैटिन
मलिनस्	पेडिनोस	मेरीनुस
कुलीनस्	स्कोटीनोस	फेरीनुस
दिव्यस्	हेलिओस	एग्रेगिउस
पित्र्यस्	पेट्रिओस	पेट्रिउस
यशस्यस्	थौमेसिओस	केन्सोरिउस

'लस्' और 'रस्' के रूप :—

चपलस्	एकेलोस	ट्रेमेलुस
तरलस्	ट्रपेलोस	स्ट्रिडुलुस
मधुरस्	फोबेरोस	
सुभ्रस्	प्सुखोस	ग्नेरुस
भद्रस्	लम्प्रोस	पुरुस

स्त्रीलिङ्ग संज्ञायें भी इसी प्रकार बनी हैं, जैसे :—

इन्द्राणी	थेऐन	मेट्रोन
वरुणाणी	लुकैन	पेट्रोन
रुद्राणी	डेस्पोइन	—

संस्कृत की ही भाँति यूनानी में भी धातु के स्वर को परिवर्तित करके भाववाचक संज्ञाओं का निर्माण किया जाता है। जैसे संस्कृत 'भिद्, क्रुध्, और 'लुभ्' धातुओं से 'भेद, क्रोध, और लोभ' जैसी संज्ञाये बनती हैं उसी प्रकार यूनानी में भी हमें 'ट्रैसो, फेबोमै, ट्रेखो, नेमो, और लीपो' से बने 'ट्रोमोस, फोबोस, ट्रोखोस, नोमोस, लोइपोस', जैसे रूप मिलते हैं।

'य' से अन्त होनेवाली संस्कृत संज्ञाओं के समान हमें लैटिन और यूनानी में भी उदाहरण मिलते हैं, जैसे :—

संस्कृत	लैटिन	यूनानी
माधुर्यम्	मेन्डेकिअम	थिओप्रोपिओन
नैपुण्यम्	प्रिन्सिपिअम	मोनोमेकिओन

सरल मूल शब्दों, अथवा कुछ परिवर्तित मूलशब्दों का इन सभी भाषाओं में संयुक्त संज्ञाओं तथा विशेषणों के अन्त में प्रयोग होता है :

संस्कृत	यूनानी	लैटिन
धर्म-विद्	पेडो-ट्रिप्स	आर्टीफेक्स
नेत्र-मुष्	प्रोस-फुक्स	इण्डेक्स
ब्रह्म-द्विष्	ब्रोउ-प्लेक्स	प्रिन्सेप्स

यूनानी में 'यू' और 'डुस' का प्रयोग संस्कृत के 'सु' और दुस्' के प्रयोग के समान है, जैसे :

संस्कृत	यूनानी
सुकरस्	यूफोरोस
सुलभस्	यूड्रोफोस
दुस्तरस्	डुस्ट्रोपोस
दुस्सहस्	डुस्फोरोस

नीचे इन तीन भाषाओं में 'अ', 'अन्', 'इ', अथवा 'इन' स्वार्थिकों के प्रयोग के उदाहरण दिये जा रहे हैं ।

संस्कृत	यूनानी	लैटिन
अज्ञात	अग्नोटोस	इग्नोटुस
अन्-इष्टस्	अन-ओस्मिओस	इनइफेविलिस

नीचे दिये जा रहे विशेषणों का संस्कृत और लैटिन दोनों में ही समान रूप से कालवाचक क्रियाविशेषणों से निर्माण हुआ है :

संस्कृत	लैटिन	संस्कृत	लैटिन
ह्यस्तनस्	हेस्टर्नुस	सायन्तनस्	वेस्पेटिनुस
श्वस्तनस्	केरिटनुस	सनातनस्	सेम्पिटर्नुस

विभिन्न प्रकार के समस्त-शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से भी संस्कृत, यूनानी और लैटिन में समानता लक्षित होती है ; उदाहरण के लिये .

संस्कृत	यूनानी	लैटिन
त्रिरात्रम्	ट्रिणुक्टिओन	ट्रिनोक्टिउम
स्वप्नकरस्	हुप्नोफोरोस	सोम्निफेर
सदाभ्रमस्	पेइप्लेनोस	
अरिन्दमस्	इप्पोटेमोस	
देवदत्तस्	थिओडोटोस	
महामतिस्	मेगालोमेटिस	मेग्नेनिमुस
भूरिधनम्	पोलुख्रुसोस	
बहुमूर्त्तिस्	पोलुमोर्फोस	मुल्टिफॉर्मिस
चतुष्पाद्	टेट्रपोडस	क्वाड्रूपेस
सरूपस्	सुम्मोर्फोस	कॉन्फॉर्मिस

'अन्' में संज्ञाओं और विशेषणों के रूप :

संस्कृत	यूनानी
दर्पणम्	ड्रेपनोन
वहनम्	ऑर्गेनोन
शोभनस्	हिकेनोस

'अक' अथवा 'इक' के रूप

संस्कृत	यूनानी	लैटिन
नायकस्	पोलेमिकोस	मेडिकुस
धार्मिकस्	रेटोरिकोस	बेल्लिकुस

'अन्त्' के रूप :

संस्कृत	यूनानी
धनवान्	डोलोएइस
धनवन्तस्	डोलोएन्ट

'अस्' से अन्त होनेवाली ऐसी संस्कृत संज्ञायें, जो यूनानी और लैटिन संज्ञाओं के समान हैं।

संस्कृत	यूनानी	लैटिन
अयस्	स्यूडोस	फॉएडुस
यशस्	मेडोस	स्केलुस
अपस्	केडोस	ओपुस

यूनानी और लैटिन में 'तर' और 'तम' कोटियों का बहुत कुछ संस्कृत के ही समान निर्माण होता है। फिर भी यूनानी के दो तथा लैटिन का केवल एक ही रूप संस्कृत के साथ साम्य रखता है :

सस्कृत	ज़ेण्ड	यूनानी	लैटिन	अँग्रेजी
भद्र	हुस्को	क्लीनोम्म	लांगुस	अलग-अलग अर्थ है
भद्र–तर	हुस्को–तर	क्लीनी–टेरोस	लांग–इओर	
भद्र–तम	स्पेन्तोतेम	क्लीनो–टटोस	लागिस–सिसुम्म	
स्वादुस्		हेडुस	सुआविस	स्वीट
स्वादीयान्		हेडीओन	सुआविओर	स्वीटर
स्वादिष्ठस्		हेडिस्टोस	सुआविस्सिमुस	स्वीटेस्ट

संस्कृत के ही समान, यूनानी और लैटिन में भी क्रियाओं को उपसर्गों के साथ संयुक्त किया गया है।

संस्कृत	यूनानी	लैटिन
अप-गच्छति	अप-एर्खेटै	एक्स केडो
स-गच्छति	सुन-एर्खेट	कॉन-वेनिट
उप-दधाति	हुपो-टिथेमि	सुप-पोनिट
परि-भ्राम्यति	पेरि-एर्खेटै	चिर्कु इट
प्र-सर्पति	प्रो वैनेइ	प्रो-केडिट

संस्कृत के ही समान लैटिन में भी क्रियाओं को संज्ञाओं अथवा विशेषणों के साथ संयुक्त किया जाता है :

संस्कृत	लैटिन
परिखीकरोति	मिग्निफिकेट
कृष्णीकरोति	मेग्निफिकेट

संस्कृत की ही भाँति, यूनानी तथा लैटिन में भी लिङ्ग और वचन की दृष्टि से विशेषण और संज्ञा के रूपों में समानता मिलती है, जैसे

	संस्कृत	यूनानी	लैटिन
कर्ता एक०	स्वादुस् स्वप्नस्	हेडुस हुप्नोस	सुएविस सोम्नुस
कर्म एक०	स्वादुम् स्वप्नम्	हेडुम हुप्नोन	सुएवम सोम्नुम
कर्त्ता बहु०	स्वादवस् स्वप्नास्	हेडुएस हुप्नोइ	सुएवेस सोम्नि
कर्त्ता एक०	नवो दाता	निओस टोटेर	नोवुस डेटोर
कर्म बहु०	नवम् दातारम्	निओन डेटेर	नोवुम डेटोरेम

अतः संस्कृत, ज़ेण्ड, यूनानी, और लैटिन में धातुओं तथा शब्द रूपों के साम्य के जो ऊपर उदाहरण दिये गये हैं (जिन्हें संस्कृत तथा अन्य भाषाओं, जैसे अरबी, के बीच समानता की प्रायः सर्वथा अनुपस्थिति की तुलना में देखने पर) हमें यही निष्कर्ष निकालना चाहिये कि प्रथम वर्ग की विभिन्न भाषाओं के बीच परस्पर निकट साम्य है, और वास्तव में ये सब किसी एक ही मूल स्रोत से उद्भूत हैं।

फिर भी, यह आपत्ति की जा सकती है कि संस्कृत, यूनानी, और लैटिन के बीच जिस साम्य को मैं सिद्ध करना चाहता हूँ वह इस तथ्य से (जब कि इन भाषाओं के शब्दों का एक अंश एक दूसरे के समान अथवा निकट है) अप्रमाणित हो जाता है कि अधिकांश शब्द एक दूसरे से भिन्न हैं। यदि वास्तव में इन भाषाओं का एक समान स्रोत होता तो यह कहा जा सकता था कि इनके शब्दभण्डार भी सर्वथा अथवा प्रायः एक समान होते, अर्थात् कुछ अपवादों को छोड़कर शब्दों का पूर्ण समीकरण सम्भव होता : ठीक उसी

तरह जैसे बॅगला, हिन्दी और मराठी में है जिन्हें सम्बन्धित भाषायें मान लिया गया है। इस आपत्ति के उत्तर में मैं, सर्वप्रथम, यह कहूँगा कि समान शब्दों का इतना अल्प अनुपात भी आकार और शब्द-रूपों में अत्यधिक साम्य रखने के कारण किन्हीं दो भाषाओं के समान स्रोत होने के तथ्य को उस समय प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है जब हम यह दिखा सकें (जैसा कि वर्तमान दशा में निश्चित रूप से दिखाया जाना सम्भव है) कि इनमें से किसी भाषा ने न तो शब्दों को और न धातु-रूपों को ही एक दूसरे से ग्रहण किया है। अन्यथा किसी भी दो भाषा में इतने अल्प अनुपात में भी उपलब्ध शब्दों की उपस्थिति का क्या समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है? शब्दों का यह समुदाय आकस्मिक नहीं हो सकता, क्योंकि इस दशा में यदि आकस्मिकता का कोई स्थान होता तो हमें निःसन्देह अन्य भाषाओं, जैसे संस्कृत और अरबी, या यूनानी और अरबी के बीच भी उसी प्रकार साम्य के कुछ चिह्न मिलते जैसे हमें संस्कृत तथा यूनानी के बीच मिले हैं। वस्तु-स्थिति तो यह है कि ऐसा कोई साम्य (संस्कृत और अरबी के बीच, या यूनानी और अरबी के बीच) नहीं मिलता। संस्कृत, यूनानी और लैटिन के शब्दभण्डारों के अधिकांश शब्दों की परस्पर भिन्नता की सरलता से व्याख्या की जा सकती है। प्रत्येक महान मानव जाति की विभिन्न शाखाओं की बोली में अनेक कारणों से मूलस्वरूप से अधिकाधिक दूर हटते जाने की एक अनिवार्य प्रवृत्ति लक्षित होती है (इसे मैं ऊपर पृ० ४७ पर दिखा चुका हूँ) यह प्रवृत्ति स्वयं भारत में, आर्यों की एक ही शाखा के विभिन्न लोगों में भी दृष्टिगत होती है। वेदों का शब्दभण्डार कुछ सीमा तक बाद की संस्कृत रचनाओं से भिन्न है। वेदों में साधारण रूप से मिलनेवाले बहुत से शब्द बाद के समयों में सर्वथा अप्रचलित हो गये हैं, जब कि नवीन शब्द, जो वेदों में सर्वथा अज्ञात है, निर्मित और प्रचलित हो गये हैं। यदि हम निघण्टुओं की अमरकोश (जिसमें बाद की संस्कृत के सर्वाधिक प्रचलित शब्दों का संग्रह है) से तुलना करें तो हम देखेंगे कि प्रथम में अनेक ऐसी संज्ञायें हैं, जो द्वितीय में तथा अपेक्षाकृत और अर्वाचीन कोशों में नहीं हैं। उदाहरण के लिये, मैं 'तुवि', 'नपात्', 'ग्मा और ज्मा', 'केतस्', 'आकेनिप', 'तदमन्', आदि शब्दों का उल्लेख कर सकता हूँ जो निघण्टुओं में तो आते है परन्तु अमरकोश[30]

[30] नीचे मैं कुछ और ऐसे शब्दो का उदाहरण दे रहा हूँ जो वेद के सूक्तो मे ही मिलते हैं अक्ष्णयावन् , अथर्यु, अन्तर्विस् , अनानुद, अप्तुर् , अप्रायु, अम्भृण, अलातृण, असश्चत् , अस्क्रधोयु, अस्रिघ् , आशुशुक्षणि, ईवत् , ऋजी-

में इन्हें ढूँढ़ना निरर्थक होगा। वास्तव में अनेक शब्दों के निघण्टुओं में सम्मिलित कर लिये जाने का कारण ही यह है कि वे बाद के समयों में अप्रचलित हो गये थे। पुनः, कोई भी, जो आधुनिक भारत की अनेक देश-बोलियों से परिचित है, इस बात से अवश्य अवगत होगा कि इनमें न केवल व्याकरणिक रूपों की ही भिन्नता है वरन् अक्सर किसी वस्तु-विशेष के द्योतक शब्दों में भी अन्तर मिलता है। अब, जैसा कि हम पहले ही (पृ० ५८) पर देख चुके हैं, ये सभी बोलियाँ किसी न किसी समय एक ही पितृभाषा से उत्पन्न हुई होंगी। किन्तु यदि एक ही देश में, प्रायः एक ही धरती और जल-वायु के प्रभाव तथा एक धर्म के लोगों की विभिन्न शाखाओं में बोली जानेवाली भाषाओं में वास्तव में इतना अधिक अन्तर हो सकता है, तो क्या सहस्रों वर्षों से पृथक् रहनेवाली, एक दूसरे से सुदूर प्रदेशों में एक भिन्न भौतिक स्थिति, तथा भिन्न सामाजिक, राजनीतिक, और धार्मिक संस्थाओं के प्रभाव के अन्तर्गत निवास करनेवाली जातियों के बीच भाषागत और अधिक विस्तृत भिन्नता नहीं उत्पन्न हो सकती?

एक ही स्रोत से उद्भूत दो या अधिक राष्ट्रों के बीच भाषाओं का यह अन्तर, जैसा मैं पहले ही कह चुका हूँ, एक अनिवार्य प्रवृत्ति है। कम से कम समाज के आरम्भिक स्तरों पर तो यह अन्तर और अधिक प्रखर हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में, आरम्भ में एक ही मूल बोली से उद्भूत भाषायें, चाहे उनका आरम्भ में अन्तर अत्यन्त कम रहा हो, अपनी पितृभाषा से जितने ही अधिक समय से दूर रहती है, उत्तरोत्तर एक दूसरे से अधिकाधिक असमान होती जाती हैं।

विशेष परिस्थितियाँ, जैसे सतत सम्पर्क, एक समान धर्म तथा साहित्य, वास्तव में दो राष्ट्रों के बीच भाषा के इस पृथक्त्व को न्यूनाधिक अवधि तक रोक रख सकती हैं। इस परिस्थिति का उदाहरण हमें अभी अमेरिका तथा इङ्गलैण्ड की दशा में उपलब्ध होता है। परन्तु ये दो राष्ट्र अभी बहुत थोड़े समय से ही एक दूसरे से पृथक् हुये हैं, और यह कह सकना कठिन है कि इनकी भाषाओं की यह समानता कितने समय तक टिकी रह सकती है। फिर

पिन्, एवयावन्, काणुका, कियेधस्, कुणारु, कुण्ड्रणाची, जातुभर्मन्, जेन्य, नभन्य, निचुम्पुण, निष्पिध्, निष्षिध्वन्, अपश, प्रनिवम्या, वीरिट, मेहना, रेणुककाट, शुरुध्, सक्षणि, सललूक, शुन्ध्यु, सुमज्जानि, स्मद्दिष्टि, स्वात्र, इत्यादि। देखिये मेरा लेख 'ऑन इण्टरप्रिटेशन आफ वेद', जएसो० भाग २, न्यूसि० पृ० ३२५ और बाद मे प्रकाशित है।

भी, इस दशा में, भाषा के एक सर्वथा तादात्म्य को सुरक्षित रखनेवाले तत्व इतने अधिक शक्तिशाली है कि (अमेरिका में कुछ नूतन शब्दों तथा इङ्गलैण्ड में सर्वथा अज्ञात अनेक वाग्पदों के ग्रहण कर लिए जाने के विपरीत भी) ये दो राष्ट्र, अभी अनेक युगों तक प्रायः एक ही भाषा का व्यवहार करते रहेंगे। फिर भी, सम्भवतः अंग्रेज़ी भाषा मे इन दोनों देशों में परिवर्तन के एक समानान्तर प्रभाव के कारण ही ऐसा परिणाम होगा, दोनों ही देशों में अंग्रेजी के सर्वथा अपरिवर्तित बने रहने का नहीं।

किन्तु हमें संस्कृत, यूनानी, लैटिन तथा इसी परिवार की अन्य पाश्चात्य भाषाओं की धातुओं और शब्दों के बीच आधारभूत साम्य के परिमाण का न्यूनाङ्कन करने के विरुद्ध सतर्क रहना चाहिये। प्रो० बेनफे के 'ग्रीक रैडिकल लेक्सिकन,'[31] कर्टियस के 'आउटलाइन ऑफ ग्रीक इटीमॉलोजी,'[32] अथवा फिक के 'कम्परेटिव डिक्शनरी ऑफ दि इण्डो-जर्मनिक लैंग्वेजेज़,'[33] जैसे ग्रन्थों का एक सरसरा परीक्षण ही यह दिखाने के लिये पर्याप्त है कि इन भाषाओं मे परस्पर साम्य उससे कहीं अधिक है जितना प्रथम दृष्टि में प्रतीत होता है, और इन विभिन्न भाषाओं के शब्दों में हुए परिवर्तनों का अपर्याप्त अध्ययन ही हमें इस बात को निश्चयपूर्वक व्यक्त करने से वंचित रखता है कि इनके शब्द-भण्डार का कितना अंश अनिवार्यतः एक दूसरे के साथ समानता रखता है।

किन्तु, द्वितीयतः, संस्कृत, यूनानी, और लैटिन के मूल सम्बन्ध, तथा इन सभी के एक ही पितृ-स्रोत से उद्भूत हुये होने का तथ्य एक और परिस्थिति द्वारा सिद्ध हो जाता है। वह परिस्थिति यह है कि ऐसे ही शब्द, जो इनमें समान रूप से सम्बद्ध मिलते है, सर्वाधिक पूर्वग, सर्वाधिक आधारभूत, तथा इन भाषाओं के सर्वाधिक अनिवार्य अंश का निर्माण करते है। मेरा तात्पर्य, पहले, तो ऐसे शब्दों से है जो माता, पिता, जैसे स्वाभाविक तथा अन्य सम्बन्धों को व्यक्त करते हैं, दूसरे सर्वनामों से, तीसरे उपसर्गों और निपातों से, चौथे संख्याओं को व्यक्त करनेवाले शब्दों से, और पाँचवें, कारकरूपों से। इस प्रकार, संस्कृत के वे शब्द जो समान रूप से लैटिन, यूनानी, तथा भारोपीय परिवार की अन्य भाषाओं में मिलते हैं, वह वही हैं जो समाज के उस आरम्भिक स्तर में प्रयुक्त होते रहे होंगे जब मनुष्य अपने विचारों और आदतों में सरल तथा समान रहे होंगे, जब उनकी आवश्यकतायें थोड़ी रही होंगी, और उनके पास कला-

---

[31] बर्लिन मे सन १८३९ और १८४२ मे दो भागो मे प्रकाशित।

[32] द्वि० संस्करण, १८६६।

[33] द्वि० संस्करण, १७५०।

कौशल, ज्ञान विज्ञान, दर्शन तथा जटिल संस्थाओं की मात्रा अपेक्षाकृत कम रही होगी। किन्तु भारोपीय परिवार की विभिन्न जातियाँ अपने पूर्व आवास से जब अलग-अलग दिशाओं में जाकर बँट गईं, तब वे कालान्तर में धर्म, रीत-रवाजों, तथा अपने जीवन के सम्पूर्ण रूप की दृष्टि से एक दूसरे से अधिकाधिक भिन्न हो गईं। जिन प्रदेशों में ये जातियाँ निवास करने लगीं उनके जलवायु भिन्न थे : कुछ गर्म देशों में चली आईं थीं, कुछ समशीतोष्ण कटिबन्धु में तथा कुछ बिलकुल हिमाच्छादित प्रदेशों की ओर चली गईं। इन विभिन्न क्षेत्रों की प्राकृतिक स्थितियाँ भी एक दूसरे से सर्वथा भिन्न थीं। कुछ प्रदेश सागर के तट पर स्थित थे और कुछ सागर से बहुत दूर। इन भिन्न क्षेत्रों में प्राकृतिक उपज तथा पशुधन की भी एक दूसरे से सर्वथा भिन्नता थी। उदाहरण के लिये, इनमें से कुछ देशों में चावल तथा ईख पैदा होती थी और वहाँ हाथी, ऊँट, सिंह, और चीते आदि पशु निवास करते थे; जबकि अन्य देशों में न तो ऐसी उपज होती थी और न ऐसे पशु ही मिलते थे। इन सभी स्थानीय प्रभावों के फलस्वरूप विभिन्न राष्ट्रों के मनुष्यों की आदतें तथा प्रवृत्तियाँ एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हो गईं। समतल और उपजाऊ देशों में, जहाँ का जलवायु गरम था, मनुष्य उष्णता के प्रभाव से तथा अधिक परिश्रम की आवश्यकता न पड़ने से अपेक्षाकृत आलसी और अपरिश्रमशील हो गये, जब कि ऐसे लोगों का, जो शीतल प्रदेशों में बसे, जलवायु की तीव्रता तथा कम उपजाऊ भूमि से अपनी आवश्यकता की सामग्री उत्पन्न करने के लिये आवश्यक अधिक परिश्रम के कारण, शारीरिक गठन अधिक स्वस्थ और आदतें अधिक परिश्रमशील हो गईं। सागरतटों पर बसे लोग स्वभावतः समुद्री यातायात और व्यवसाय में लग गये जिससे भीतर के स्थलीय प्रदेशों के लोग वंचित रह गये। इस प्रकार विभिन्न कलाओं का उदय, विभिन्न विज्ञानों का विकास, तथा विभिन्न सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ। कुछ देशों में जनता की सक्रिय शक्तियों को सरकार के एक स्वतन्त्र स्वरूप से बल मिला, कुछ अन्य में स्वतन्त्रता की भावना को, जो सम्भवतः मूल रूप से ही क्षीण थी, अनियतशासन ने दमित कर दिया, जब कि, दूसरी ओर, इस जाति में निहित विचारशील प्रवृत्तियों को वैज्ञानिक कार्यों अथवा दार्शनिक और धार्मिक साधनाओं के क्षेत्र में विकास का पूर्ण अवसर प्राप्त हुआ। जीवन की सभी स्थितियों में इन महान तथा विविध परिवर्तनों के साथ, नवीन विचारों और वस्तुओं को व्यक्त करने के लिये भाषा में भी अनिवार्यरूप से परिवर्तन लाने पड़े और ये परिवर्तन, ज्यों-ज्यों शताब्दियाँ व्यतीत होती गईं, और भी विस्तृत

और निश्चित होते गये।[34] मैं इस प्रक्रिया के जिन विभिन्न स्तरों का वर्णन कर रहा हूँ उनका उन विभिन्न भाषाओं द्वारा उदाहरण मिलता है जिन्हें संस्कृत से समानता के आधार पर सम्बद्ध कहा गया है। इन भाषाओं में से ज़ेण्ड (अथवा जेण्डावेस्ता की भाषा) एक ऐसी भाषा है जो अल्पतम काल तक ही संस्कृत से पृथक् रही, और आज विद्यमान ज़ोरोआस्ट्रियन कृतियों में से सर्वाधिक प्राचीन की रचना के समय तक इस पर परिवर्तनात्मक तत्वों का कम से कम प्रभाव पड़ा था। फलस्वरूप संस्कृत के साथ यूनानी अथवा लैटिन की अपेक्षा इसका कहीं अधिक घनिष्ट साम्य है। ऊपर दिये गये प्रमाणों द्वारा इसे पहले ही पूर्णतया स्पष्ट किया जा चुका है। दूसरी ओर यूनानी तथा लैटिन भाषायें संस्कृत से अपेक्षाकृत कहीं अधिक दीर्घ अवधि तक पृथक् रहीं और आज विद्यमान कृतियों की रचना के समय तक इन पर कहीं अधिक शक्तिशाली परिवर्तनात्मक तत्वों का प्रभाव पड़ चुका था। फलस्वरूप अनेक दृष्टियों से इनका संस्कृत से ज़ेण्ड की अपेक्षा कहीं अधिक विभेद लक्षित होता है।

अतः, उक्त तथ्यों के आधार पर मैं यह निष्कर्ष निकालता हूँ कि संस्कृत, यूनानी, तथा लैटिन भाषाओं में, जैसा कि हम इन्हें बाद के स्तरों पर पाते हैं, मिलनेवाले अन्तर इस बात पर सन्देह करने के लिये कोई आधार प्रदान नहीं करते कि एक आरम्भिकतर स्तर पर वास्तव में इनमें और अधिक निकट साम्य रहा होगा तथा मूलतः ये सब एक ही भाषा रही होंगी।

फिर भी, भारतीय दृष्टिकोण से देखने पर कुछ लोगों द्वारा सम्भवतः एक अन्य आपत्ति भी प्रस्तुत की जा सकती है। यह सर्वथा सत्य है कि ऐसे लोग यह कह सकते हैं कि संस्कृत, ज़ेण्ड, यूनानी, और लैटिन में साम्य और सम्बन्ध हो सकता है, किन्तु यह तो हमारे शास्त्रों (मनु १०.४३, ४४, विष्णु पुराण ४.३)[35] के इस कथन के ही सर्वथा अनुकूल है कि यवन (यूनानी) पह्लव (पारसी), और काम्बोज मूलतः क्षत्रिय जाति के ही लोग थे जो ब्राह्मणों तथा ब्राह्मण धर्म से पृथक् हो जाने के कारण च्युत हो गये, तथा पवित्र भाषा संस्कृत और इन भाषाओं के बीच सम्बन्ध के जो यहाँ प्रमाण दिये गये हैं

---

[34] "परिवर्तन, समय के व्यवधान से उत्पन्न ह्रास, इन लुप्त हुये रूपो को स्थानान्तरित करने का भाषा का सहज प्रयास, तथा अनेक राष्ट्रो के क्रमिक विकासक्रम का अनुसरण ही आर्य भाषाओ मे लक्षित होनेवाली प्रत्यक्ष अथवा वास्तविक विभिन्नताओ का कारण है।" पिक्टेट ओयो०, पृ० ५। देखिये आगे परिशिष्ट ३ भी।

[35] प्रस्तुत कृति का प्रथम भाग देखिये।

उनसे भी यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि ये संस्कृत से ही उद्भूत केवल प्राकृत या अपभ्रंश भाषायें मात्र हैं। ऐसे लोग मुझ से यह कह सकते हैं कि किसी मूल भाषा से ही, जो अब वर्तमान नहीं है, इन सभी भाषाओं और संस्कृत के भी उत्पन्न हुये होने की मेरी परिकल्पना भी निर्मूल है, क्योंकि नास्तिक बौद्ध अपनी अपभ्रंश भाषा के, जिसे वे पालि के नाम से पुकारते हैं, सम्बन्ध में जो कुछ कहते है वही संस्कृत के सम्बन्ध मे भी शब्दशः सत्य है : अर्थात् यह कि यही वह देवभाषा है जो प्रथम तथा नित्य है, और इसी से अन्य सब भाषायें उत्पन्न हुई है।[३६]

इन तर्कों के उत्तर में मै यह कहूँगा कि, यदि संस्कृत के साथ सम्बन्ध अथवा समानता के आधार पर यह दिखा भी दिया जाय कि ज़ेण्ड, यूनानी तथा लेटिन संस्कृत से ही उत्पन्न हुई है, तो भी आपत्तिकर्त्ता के लिये उसी आधार पर यह सिद्ध करना प्रायः असम्भव होगा कि संस्कृत उन सभी बोलियों की पितृ-भाषा थी जो भारत तथा उसके आस पास के देशों मे निवास करने वाली जातियाँ बोलती थीं। यह दिखाया जा चुका है कि अरबी भाषा संस्कृत से सर्वथा भिन्न है और इन दोनों मे कदाचित ही कोई सम्बन्ध या साम्य रहा हो सकता है। और दक्षिण भारत में प्रचलित भाषाओं, तेलुगू, कन्नड़, मलयालम (द्राविड, तैलङ्गाना तथा कर्णाट आदि प्रदेशों के निवासियों की भाषाओं) के सम्बन्ध मे भी स्थिति ऐसी ही है, क्योंकि स्वयं मनु भी (जैसा हम ऊपर देख चुके हैं) भारतीयों की विभिन्न भाषाओं मे विभेद करते हैं, जिससे यह व्यक्त होता है कि अधिकाश जनसंख्या अनार्य, अर्थात् संस्कृतेतर, भाषायें ही बोलती थी। अत उक्त आपत्तिकर्ता सम्भवतः जिस बात को सिद्ध करना चाहता है, अर्थात् इस बात को कि आर्य भारतीय ही समस्त समीपवर्ती देशों[३७] के पूर्वज हैं और उनकी भाषा, संस्कृत, ही समस्त अन्य भाषाओं की जननी है, कभी सिद्ध नहीं किया जा सकता। फिर भी, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि, जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ, यूनानी और लैटिन वास्तव में संस्कृत से उद्भूत भाषायें है। इस मान्यता के पक्ष में

---

[३६] ऊपर पृ० २२२ पर नोट १८३ मे उद्धृत महाभाष्य के स्थल को देखिये।

[३७] तुकी महाभारत १ ३५३३ 'यदोस् तु यादवा जातास् तुर्वसोर् यवना स्मृता। द्रुह्यो सुतास् तु वैभोजा अनोस् तु म्लेच्छ–जातय।' "यादव यदु से उत्पन्न हुये। यवन तुर्वसो की सन्तान कहे गये हैं, वैभोज द्रुह्य से और म्लेच्छ अनु से उत्पन्न हुये है।" ये चारो पूर्वज और पूरु भी, क्षत्रिय राजा ययाति के पुत्र थे।

कोई प्रमाण नहीं मिलता और जो प्रमाण मिलता भी है वह इसके विपक्ष में ही है। यूनानी और लैटिन की सम्पूर्ण व्याकरणिक प्रकृति स्वतन्त्र भाषाओं जैसी है, और जो कोई भी इनके आकार और रचना की भारतीय प्राकृतों से, जिन्हें सभी संस्कृत से उत्पन्न मानते हैं, तुलना करेगा उसे दोनों ही दशाओं के बीच अन्तर का तत्काल प्रत्यक्षीकरण हो जायगा।

प्रथम—प्राकृतों के व्याकरणिक रूप प्रत्यक्षतः प्राचीनतर संस्कृत रूपों के ही पतन और सरलीकरण के परिणाम है। इस प्रकार (जैसा कि गत पृष्ठों की तुलनात्मक तालिकाओं में हम देख चुके हैं) संस्कृत शब्द 'मुक्त, गुप्त, सूत्र, मार्ग, अर्थ, श्रेष्ठ, दृष्टि, पुष्प, दक्षिण, मध्य, सत्य, तुष्णीम्, लघु, साधु, सभा', प्राकृत में कोमल होकर 'मुत्त, गुत्त, सुत्त, मग्ग, अत्थ, सेट्ठ, दिट्ठि, पुप्फ, दक्खिण, दाहिण, मज्झ, सच्च, तुण्हीम्, लहु, साहु, और सह हो गये हैं। प्राकृत रूपों को हम जितने पीछे ढूँढ़ते हैं उतने वे सस्कृत के निकट आते जाते हैं, और अन्ततः दोनों प्रायः समान हो जाते हैं। इसके विपरीत प्राकृत के व्याकरणिक रूप जितने ही आधुनिक है उतने ही वे संस्कृत के समानरूपों से भिन्न हो गये है। यूनानी और लैटिन के साथ स्थिति सर्वथा भिन्न है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ उदाहरण ऐसे खोजे जा सकते हैं जहाँ यूनानी अथवा लैटिन रूप जिस पद्धति से सस्कृत से भिन्न मिलते हैं वह कुछ अशों तक कोमलता और सरलीकरण[३८] की उसी परिवर्तन-पद्धति के समान है जिसके अनुसार सस्कुत रूप प्राकृत हो गये हैं। इस प्रकार यूनानी 'डोलिखोस' सस्कृत 'दीर्घ' से बहुत कुछ उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार प्राकृत 'सिरी' और 'हिरी', 'सस्कृत श्री' और 'ह्री' से भिन्न हैं। इसी प्रकार यूनानी 'हुप्नोस' भी संस्कृत

[३८] प्राकृत मे ऐसे रूपो की मात्रा अत्यन्त अल्प है जिन्हे सस्कृत का सरलीकरण न कहा जा सके। यहाँ तक कि 'इत्थी' अथवा 'इश्थिया' ('स्त्री' से) जैसी दशाओ मे भी परिवर्तन एक दृष्टि से सरलीकरण ही है, क्योकि एक या अधिक व्यजन्नो को छोड दिया गया है और उच्चारण को सरल वनाने के लिये 'इ' को शब्द के आरम्भ मे रख दिया गया है। किन्तु यौगिक व्यञ्जनो से आरम्भ होनेवाले अधिकाश सस्कृत शब्दो को प्राकृत मे 'इकार' से आरम्भ करके नही वल्कि या तो यौगिक व्यञ्जनो मे से एक को छोडकर अथवा दोनो के वीच मे स्वर लगाकर परिवर्तित किया गया है। इस प्रकार सस्कृत शब्द 'स्था' प्राकृत मे 'ठा' हो जाता है। इसी प्रकार सस्कृत 'स्थल' प्राकृत 'थल', सस्कृत 'स्कन्ध' प्राकृत 'कन्ध', स० 'स्पृश्' प्रा० 'फस', स० 'क्षमा' प्रा० 'खमा', स० 'स्नान' प्रा० 'ण्हान', स० स्नेह' प्रा० 'सनेह', स० 'म्लान' प्रा० 'मिलान' वन जाते हैं।

'स्वप्न' का बहुत कुछ उसी प्रणाली के अनुसार सरलीकरण प्रतीत होता है जिस प्रकार प्राकृत ने संस्कृत 'स्थान' को 'थाण' के रूप में परिणत कर दिया है। किन्तु इस प्रकार के जो थोड़े से उदाहरण दिये जा सकते हैं वे इस बात को प्रमाणित करने के लिये सर्वथा अपर्याप्त हैं कि इन दशाओं में यूनानी अथवा लैटिन शब्द संस्कृत से गृहीत है।[३२] ये समान सम्भावना के साथ किसी और ऐसी आरम्भिक भाषा से ही उत्पन्न हुये हो सकते हैं, जिससे ही संस्कृत का भी आविर्भाव हुआ। यूनानी और लैटिन शब्दों में ऐसा कुछ भी नहीं जिसे संस्कृत से परिवर्तित हुआ कहा जा सके : क्योंकि, यद्यपि इनमें अनेक ऐसे रूप हैं जिनका संस्कृत से निकट साम्य है, तथापि इनमें अधिकतर ऐसे ही रूप हैं जिन्हें सर्वथा इनकी अपनी मौलिकता कहा जा सकता है। कुछ शब्द तो संस्कृत से इतने अधिक भिन्न और विचित्र हैं कि उन्हें भाषावैज्ञानिकों द्वारा स्वीकृत परिवर्तन के किसी भी नियम के अनुसार संस्कृत से व्युत्पन्न नहीं कहा

---

[३२] फिर भी, यह भी आपत्ति की जा सकती है कि मेरा तर्क अपूर्ण है क्योंकि सभी प्राकृत या उद्भूत बोलियाँ मूल भाषा को एक ही प्रणाली के अनुसार परिवर्तित नही करती। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि फ्रेंच और स्पेनिश भाषायें लैटिन को उसी प्रकार भ्रष्ट नही करती जिस प्रकार इटालियन करती है। अब, जैसा कि ऊपर यह कहा जा चुका है कि भारतीय प्राकृतो ने संस्कृत को बहुत कुछ उसी प्रकार भ्रष्ट किया जिस प्रकार इटालियन ने लैटिन को किया है, अत (आपत्तिकर्ता कह सकता है) जेण्ड, और यूनानी तथा लैटिन ने संस्कृत को उसी प्रकार एक भिन्न रूप से परिवर्तित कर लिया जिस प्रकार फ्रेन्च और स्पेनिश ने लैटिन को किया। इसके उत्तर मे मैं कहूँगा कि लैटिन से उद्भूत इन सभी भाषाओ, जैसे इटालियन, फ्रेंच और स्पेनिश, की दशा मे यह दिखाया जा सकता है कि (१) जो लोग इन भाषाओ को बोलते थे वे सर्वथा अथवा अंशत रोमनो के ही वंशज थे, अथवा यह कि कम से कम इन लोगो ने अपनी भाषा को उन रोमनो से प्राप्त किया जिन्होने इनके देशो को विजित करके अपने साम्राज्य मे मिला लिया, किन्तु यह नही दिखाया जा सकता कि यूनानियो या रोमनो मे से कोई भी भारतीयो के वंशज थे, अथवा इन लोगो ने किसी प्रकार अपनी भाषाओ को हिन्दुस्तान से प्राप्त किया। (२) फ्रेन्च तथा स्पेनिश, और साथ ही साथ, इटालियन भाषाओ की दशाओ मे उन स्तरो का सर्वथा शुद्ध रूप से संकेत किया जा सकता है जिनसे होकर इन सब ने लैटिन रूपो को परिवर्तित किया, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह नही दिखाया जा सकता कि यूनानी अथवा लैटिन भाषा के शब्द किसी प्रकार संस्कृत मूल शब्दो के भ्रष्ट रूप हैं।

जा सकता। अतः, यूनानी और लैटिन रूपों को किसी दूसरे ऐसे प्राचीन स्रोत से ही उद्भूत मानना होगा जिससे ही ये तथा, साथ ही साथ, संस्कृत रूप भी प्रस्रवित हुये हैं। इसके अतिरिक्त, विशिष्ट तुलनात्मक भाषावैज्ञानिकों का यह भी मत है कि लैटिन तथा यूनानी में रूपरचना के कुछ ऐसे भी रूप सुरक्षित है जो सस्कृत में सुरक्षित रूपों से भी अधिक प्राचीन, और कल्पित प्राचीन पितृभाषा के मूल रूपों को अधिक शुद्धता के साथ व्यक्त करते हैं। उदाहरण के लिये, लैटिन में 'एन्स्' से अन्त होनेवाले वर्तमानकालिक कृदन्त के कर्त्तारूप सुरक्षित हैं, जैसे, 'फरेन्स', किन्तु संस्कृत में केवल 'अत्' रूप ही है, जैसे 'भरत्' शब्द, जो मूलत' 'भरन्स्' अथवा 'भरन्त्' रहा प्रतीत होता है।[४०] विभिन्न नामिक और क्रियार्थक धातुओं की दशाओं मे भी स्थिति ऐसी ही है जिनसें ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत में शब्द का मूलरूप नष्ट हो गया है जब कि यूनानी अथवा लैटिन, या इन दोनों में ही सुरक्षित है। इस प्रकार 'तारे' के लिये प्रयुक्त शब्द मूलतः 'स्तर' रहा प्रतीत होता है जो रूप ऋग्वेद में और यूनानी 'अस्टेर' और 'अस्ट्रोन' के रूप में तथा लैटिन में 'अस्ट्रुम' के रूप में, और साथ ही साथ ज़ेण्ड 'श्तारे' तथा पर्शियन 'सितारः' के रूप में सुरक्षित है, जब कि बाद की संस्कृत में यह लुप्त होकर 'तार' बन गया है। पुनः, इस मान्यता के आधार पर कि संस्कृत के 'ह्', 'ज्' और 'छ्' आरम्भिक भाषा के 'क' अथवा 'घ', 'ग', और 'स्क' के भ्रष्ट रूप हैं, निम्नलिखित संस्कृत शब्द मूलरूपों से उसकी अपेक्षा कहीं अधिक दूर हट गये है जितने इनके समकक्ष यूनानी और लैटिन शब्द हटे हैं। उदाहरण के लिये स० हृदय=यू० कर्डिअ, लै० कोर, सं० हनु = यू० गेनुस, सं० मिह् = यू० ओमिखेओ; सं० बाहु=यू० पेखुस; सं० जानामि = यू० गिनोस्को, लै० ग्नोस्को, सं० जजन्मि = यू० गेन्नओ, लै० गिग्नो, सं० अज्र = यू० अग्रोस, लै० अगेर, सं० रजत = यू० अर्गुरोस, लै० अर्गेन्टुम, सं० जम्भ = यू० गोम्फोस, सं० जरस = यू० गेरस, स० जानु = यू० गोनु, स० छाया = यू० स्किआ, स० छिद् (छिनद्मि) = यू० स्खिज़ो, लै० स्किन्डो, और स० अष्टौ = यू० ओक्तो।

द्वितीयः—किन्तु इस तथ्य को कि यूनानी और लैटिन भाषायें उत्पत्ति की दृष्टि से संस्कृत से स्वतंत्र हैं, निम्नलिखित कुछ अन्य तर्कों के आधार पर भी दिखाया जा सकता है।[४१]

*(१) धातुपाठों में निहित धातुओं के सतर्क परीक्षण से यह विदित

[४०] बॉप, तुलनात्मक व्याकरण, पैरा १२९।

[४१] तारे (*) से चिह्नित सामग्री के लिये मैं प्रो० गोल्डस्टूकर की अनुकम्पा का आभारी हूँ जो ऐसे स्थलो के ठीक पूर्व आनेवाले स्थलो मे प्रतिपादित

होगा कि इन क्रियार्थ धातुओं में से अनेक को संश्लिष्ट या सरलतर रूपों में परिणत कर दिया गया है। किन्तु यतः इनके सश्लिष्ट रूपों के विपरीत भी भारतीत वैयाकरण इन धातुओं को मूल शब्द ही मानते हैं, अतः यह स्पष्ट है कि इन वैयाकरणों को वे सरल रूप विस्मृत हो गये हैं जिनसे अन्य रूप व्युत्पन्न हुये हैं। इस उक्ति के लिये मैं इन धातुओं को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करता हूँ: व्यञ्ज्, व्यय्, वी, व्यध्, प्युष् अथवा व्युष्, प्रुष्, वेष्ट्, और उज्झ्, जो प्रत्यक्षतः यद्यपि 'वि + अञ्ज्, वि + अय्, वि + इ, वि + अध्, पि अथवा वि + उष्, प्र + उष्, अव + ईष्ट्, उत् + हा (जहाति) से समस्त किये गये हैं, तथापि भारतीय वैयाकरण इन्हें सरल धातुयें ही मानते हैं।

(२) संकृत में वैसे ही परिवर्तन नहीं हुये हैं जिनकी ओर ऊपर संकेत किया गया है, बल्कि आधुनिक भाषा में धातुओं के कुछ ऐसे पूर्णतर रूप लुप्त हो गये हैं जिन्हें हम वैदिक सूक्तों में अब भी ढूंढ सकते हैं। इसके उदाहरण के रूप में 'ग्रभ्' (देखिये ऊपर पृ० २९१) धातु का उल्लेख किया जा सकता है जिसका आधुनिक संस्कृत में 'ग्रह्' के रूप में प्राकृतीकरण हो गया है। अन्य उदाहरण आधुनिक 'ह्वृ' की तुलना में वैदिक 'धुव्' और 'ध्वृ', तथा आधुनिक 'शुध्' की तुलना में वैदिक 'शुन्ध्' हैं। निम्नलिखित वैदिक धातुयें आधुनिक संस्कृत में बिल्कुल ही नहीं मिलतीं :[२] कन्, इङ्ख, उब्ज्, शव्, वेण्, सच्, स्यच्, त्सर्, ध्रज्, मन्द, वेस्, वच्, तुर्व, भर्व्, इत्यादि।

(३) किन्तु यही केवल एक तथ्य नहीं है कि आधुनिक संस्कृत से कुछ प्राचीनतम क्रियार्थ धातुयें लुप्त हो गई हैं, बल्कि अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन वैदिक संस्कृत की दशा में भी स्थित ऐसी ही प्रतीत होती है जिसमें भी कुछ पूर्वग मूल रूप पहले ही लुप्त हो चुके हैं। यह इस स्थिति से व्यक्त होता है कि कुछ ऐसी संस्कृत संज्ञायें मिलती हैं जो उन मूल धातुओं से व्युत्पन्न हैं जो

सिद्धान्तों से असन्तुष्ट हुये क्योंकि वे अब तक भाषावैज्ञानिकों द्वारा मान्य इस सिद्धान्त को अस्वीकृत करते हैं कि पूर्णतम रूप ही प्राचीनतम रूप हैं।

वर्तमान सस्करण में उसी सामग्री को प्रो० गोल्डस्टूकर की स्वीकृति से पुन प्रकाशित किया जा रहा है। (१) पैरा में दी गई धातुओं के लिये तुकी० प्रो० बेनफे का 'कम्प्लीट सस्कृत ग्रामर, पृ० ७३ और बाद।

[४] इस परिकल्पना पर कि पूर्णतररूप ही अधिक प्राचीन हैं, मैं वैदिक रूप 'श्चम्' (आधुनिक 'चम्' की तुलना में), और 'श्चन्द्' (आधुनिक 'चन्द्' की तुलना में) का उद्धरण दे सकता हूँ जिनको प्रो० बेनफे ने अपने कम्प्लीट ग्रामर, पृ० ७३ में दिया है।

अपने मूल क्रियार्थ रूप में वेदों तक में नहीं मिलती। उदाहरण के लिये 'वीरुध्' और 'न्यग्रोध' शब्दों के अस्तित्व से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि एक समय 'रुध्' धातु का भी अस्तित्व रहा होगा जो इस आशय में (क्योंकि आधुनिक संस्कृत में 'रुध्' का अब भी आशय रोकना या अवरुद्ध करना है) अब केवल एक दुर्बल 'रुह्' रूप में ही वर्तमान है।[43] इसी प्रकार 'धनुस्', प्र+घन, और नि+धन संज्ञाओं से भी ऐसा प्रतीत होता है कि 'हन्' (मारना) का एक अधिक सशक्त 'धन्' = यू० 'थन' के रूप में पहले कभी अवश्य अस्तित्व रहा होगा।

(४) कुछ ऐसी क्रियार्थक धातुओं को, जो आधुनिक और वैदिक दोनों ही प्रकार की संस्कृत में लुप्त हो चुकी है और जिनको अवशिष्ट व्युत्पन्न रूपों के आधार पर भी ढूँढा नहीं जा सकता, अभी भी यूनानी अथवा लैटिन की सहायता से विस्मृत के गर्त से प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिये संस्कृत 'हु' का मूलत एक अधिक सशक्त 'धु' रूप रहा होगा, जैसा कि हम 'थुओ' के आधार पर अनुमान कर सकते है। इसी तरह संस्कृत 'गुह्' का आरम्भिकतम रूप सम्भवतः 'गुध्' था, जैसा कि यूनानी 'क्युथो' के आधार पर हम मान सकते हैं। इसी प्रकार 'नेथो', और 'लीखो' जैसे यूनानी रूपों के आधार पर हम यह तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं कि संस्कृत 'नह्' और 'लिह्' के मूलरूप 'नध्' और 'लिघ्' रहे हो सकते है।[44] संज्ञाओं के अनेक ऐसे रूपों तथा

---

[43] देखिये पिक्टेट का 'ओरिजिनेस इण्डो योरोपीन्नेस', पृ० १४५।

[44] इसी प्रकार 'दुह' धातु एक समय अवश्य 'दुघ्' रही होगी, जैसा कि न केवल इसके 'दुग्ध' रूप से ही वरन् ज़ेण्ड 'दुघ्धर' तथा यूनानी 'थुगटेर' (इसे अधिकाश भाषावैज्ञानिक मूलतः 'दोहन करनेवाले' का द्योतक मानते हैं) से भी सिद्ध हो जाता है। प्रो० गोल्डस्टूकर का यह मत है कि 'सभी संस्कृत 'धातुओ मे 'ह' की ध्वनि घोष महाप्राण का अथवा, यद्यपि अधिक दुर्लभ रूप से, अघोप महाप्राण का, अथवा इसी प्रकार दुर्लभ रूप से ऊष्मवर्ण का ही निर्बल रूप है। अत उनका विचार है कि, उदाहरण के लिये 'गाह' वृह, स्पृह', मूलत 'गाध्, वृध्, और स्पृध्' थे, 'वह' मूलत 'वध्' (तुलना कीजिये 'ऊढा' और 'वधू'), 'तृह' 'तृफ्'; 'सुह्' सुख्', 'माह्' 'मास्', 'मिह' 'मीप्'; 'हुल्' 'शल् अथवा श्वल्' इत्यादि थे। उनके विचार से 'दह' 'दध्' था जैसा कि 'अन्तर्दधन' से व्यक्त होता है। और यत उनके मत से 'दह्' का अधिक मूल रूप 'अह' (जिससे 'अहन्' बना है) है, अत उनका विश्वास है कि 'दध्' सम्बन्धी यह दृष्टिकोण उस यूनानी 'एथ' (मूलत 'अथ', जिससे 'अथेने' बना

अन्य शब्दों को दिखाया जा सकता है जिनमें संस्कृत की अपेक्षा यूनानी रूप अधिक सशक्त हैं। इस प्रकार संस्कृत 'हिम,' 'अहि,' 'ह्यस्' आदि के स्थान पर हमें 'खीमोन,' 'एख्सिस' अथवा 'ओफिस,' 'ख्थेस,' अथवा 'एख्थेस' जैसे अधिक सशक्त यूनानी रूप मिलते है।

गत पैराओं में प्रस्तुत सामग्री से, जो यह सिद्ध करती है कि भारतीय वैयाकरणों ने सयुक्त धातुओं को सरल के रूप में ग्रहण किया है, और यह कि प्राचीन रूप आधुनिक अथवा वैदिक संस्कृत तक मे या तो परिवर्तित अथवा लुप्त हो गये है, यह स्पष्ट है कि सस्कृत भाषा को (विशेषतः उसके आधुनिक रूप में) सदैव एक ऐसा निश्चित मानक नहीं माना जा सकता जिसके अनुसार लैटिन और यूनानी रूपों की मौलिकता का मूल्यांकन किया जा सके।

है) पुष्ट होता है जो सस्कृत 'अघ्' का सकेत करता है। 'दह्' से 'निदाघ' तथा अन्य समान रूपो के व्युत्पन्न हुये होने का तथ्य एक मूलरूप 'दघ्' के होने को अप्रमाणित नही करता, क्योकि जब दह्' एक नवीन धातु के रूप मे अवस्थित हो गया तब इसका अन्तिम 'ह्' स्वभावत एक कठ्य ध्वनि बन गया। इस प्रकार, यद्यपि 'हन्' निश्चित रूप से 'धन्' था, तथापि बाद के 'हन्' से बने हमे 'घ्नत्', 'जघान', 'जेघ्नीय्', 'घात' आदि शब्द मिलते हैं। और न केवल ध्वनियो पर ही वरन् अर्थों पर भी एक ऐसी अस्तव्यस्त स्मृति का प्रभाव लक्षित होता है जिसे हम मूलरूप कह सकते है उदाहरण के लिये 'हृ' एक अधिक प्राचीन 'धृ', भृ', और 'घृ' को व्यक्त करता है, फिर भी 'धर' के कुछ अर्थ 'घृ' को नही, वल्कि 'हृ' के प्रभाव के माध्यम से घृ' को व्यक्त करते है।"

इसी प्रकार हम कभी-कभी धातु के महाप्राणित व्यञ्जन को 'ह्' मे परिवर्तित हो गया पाते है, जैसा कि 'धा' धातु से व्युत्पन्न 'हित' (वि + हित, 'नि + हित' इत्यादि) कृदन्त मे व्यक्त होता है। 'सस्कृत मे आरम्भ इस निर्वलात्मक प्रक्रिया की प्राकृत मे और वृद्धि हो गई है जहाँ सस्कृत के महाप्राणित व्यञ्जन कोमल होकर 'ह्' हो गये हैं, जैसे 'कथ्' धातु 'कह' बन गई है। देखिये वररुचि २ २७। देखिये वेनफे कम्प्लीट सस्कृत ग्रामर, पृ० २०, जहाँ यह कहा गया है "सस्कृत मे 'ह्' कभी भी मौलिक नही प्रतीत होता। यहाँ यह निर्वल महाप्राण 'घ्', 'ध्' और 'भ्' से उत्पन्न हुआ हो सकता है। इस व्युत्पत्ति की वेदो तथा अन्य सजातीय भाषाओं के अनेक उदाहरणो के आधार पर व्याख्या की जा सकती है। तुलना कीजिये 'दुह्' से व्युत्पन्न 'वैदिक 'दुघान', दिह्' से 'सन्देघ', 'सह' के लिये 'सध', 'ग्रह्' के लिये 'ग्रभ्'।"

और यह मान्यता कि यूनानी अथवा लैटिन के कोई भी शब्द[45] प्राकृतीकरण की प्रक्रिया के अनुसार संस्कृत से गृहीत हैं, इस तथ्य द्वारा पर्याप्त रूप से अप्रमाणित हो जाती है कि अनेक इसके सर्वथा विपरीत स्थिति के ऐसे उदाहरण दिये जा चुके हैं जहाँ यूनानी और लैटिन रूप, प्राकृतों की भाँति संस्कृत से निर्बल अथवा अधिक सरल होने की अपेक्षा, अधिक सशक्त और जटिल हैं, क्योंकि यूनानी और लैटिन में इन सशक्त अथवा अधिक जटिल रूपों की उपस्थिति चाहे इस बात को सिद्ध करे या नहीं कि संस्कृत में भी एक समय ऐसे ही रूप वर्तमान थे जो अब लुप्त हो गये हैं, किन्तु यह तथ्य कम से कम इस तर्क—यूनानी और लैटिन की संस्कृत में कुछ समकक्ष शब्दों के अधिक सशक्त और जटिल रूपों की उपस्थिति पर आधारित तर्क—को अप्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है कि ये भाषायें संस्कृत से उत्पन्न हुई है। क्योंकि तर्क की समानता के आधार पर संस्कृत के समकक्ष शब्दों की तुलना में यूनानी और लैटिन में मिलनेवाले अधिक सशक्त अथवा जटिल रूपों की उपस्थिनि (जिनके अस्तित्व को हम पहले ही देख चुके है) यह सिद्ध करेगी कि ये निर्बल संस्कृत रूप यूनानी और लैटिन शब्दों के भ्रष्ट रूप मात्र है।

तृतीयः—भारतीय प्राकृतों ने कहीं अधिक मात्रा में सस्कृत से अपने भण्डार को समृद्ध किया है। थोड़े से ऐसे शब्द, जो सस्कृत नही हैं, आर्यों के आने के पूर्व उत्तर भारत की देशीय जातियों की भाषाओं से व्युत्पन्न हैं। दूसरी ओर, जैसा कि हम देख चुके हैं, यूनानी और लैटिन शब्द-भण्डार के बहुत थोड़े से शब्द ही संस्कृत के साथ प्राकृतों में मिलते है। अब, यदि यूनानी अथवा लैटिन आधुनिक या वैदिक सस्कृत से ही उद्भूत होती तो इन तीनों ही भाषाओं में समान रूप से मिलनेवाले शब्दों की सख्या कहीं अधिक होती। यह सत्य है कि ज़ेण्ड के सस्कृत से उत्पन्न हुये होने की परिकल्पना के

---

[45] नि सन्देह, मैं यह मानता हूँ कि बहुत से ऐसे शब्द, जो सस्कृत से यूनानी मे चले आये, अपेक्षाकृत आधुनिक समय के हैं, जैसे 'कर्पास' से यूनानी 'कर्पसोस', तथा अन्य इसी प्रकार के शब्द। किन्तु, दूसरी ओर, यह दिखाया जा सकता है कि गत दो सहस्र वर्षो मे अनेक यूनानी शब्दो ने सस्कृत के ज्योतिष-साहित्य मे प्रवेश प्राप्त कर लिया है, जैसे यूनानी 'ओरा, केन्ट्रोन, लेप्टा, गेकानोम, अनाफे, सुनाफे, अपोक्लिमा, एपानाफोरा, डिआमेट्रोस, नेसूरानेमा, और डिफे', से व्युत्पन्न संस्कृत के 'होरा, केन्द्र, लिप्ता, द्रकाण, अनफा, सुनफा, अपोक्लिम, पणफर, जामित्र, मेपूरण, और रिफ। कोलमिसए०, २ ५२६ और बाद, वेबर इन्डि० स्टू० २ २५४।

पक्ष में और अधिक कहा जा सकता है; किन्तु यह मानने के लिये पर्याप्त आधार हैं कि ज़ेण्ड भाषा संस्कृत की पुत्री नहीं भगिनी है; और फलस्वरूप इन दोनों की कोई और पूर्वग एक ही माता थी।

अतः मैं यह निष्कर्ष निकालता हूँ कि यूनानी और लैटिन, तथा साथ ही साथ ज़ेण्ड भी, संस्कृत से उत्पन्न नहीं बल्कि उसके साथ ही ये सब भी किसी ऐसी प्राचीन पितृ-भाषा[४८] से उत्पन्न हुई है जिसका उसकी इन पुत्रियों ने स्थान ले लिया और वह स्वयं इसलिये लुप्त हो गई क्योंकि एक बोलीजानेवाली भाषा के रूप में उसका व्यवहार अप्रचलित हो गया और वह (समाज के एक अत्यन्त आरम्भिक स्तर की भाषा होने के कारण) किसी साहित्यिक कृति में भी सुरक्षित नहीं रह सकी। इस मान्यता को बोधगम्य बनाने की दृष्टि से मैं यह कहूँगा कि यदि स्वयं संस्कृत तथा लैटिन उस कल्पित पूर्वग भाषा के अस्तित्व के समय की अपेक्षा सभ्यता के कहीं अधिक विकसित कालों में पुष्पित-पल्लवित न हुई होतीं, तथा यदि लौकिक और पवित्र अनेक उन कृतियों द्वारा, जिनकी ये वाहक है, इन्हें समृद्ध न किया गया होता तो इनको भी उस समय इसी प्रकार के दुर्भाग्य—अप्रचलन—का सामना करना पड़ा होता जब इन दोनों ने प्रायः समान रूप से उन विभिन्न बोलियों को जन्म

---

[४८] आर्य बोलियो के सम्बन्ध मे इधर किये गये अनुसन्धानो का एक असन्दिग्ध परिणाम यह निकला है कि, इनमे हुये विभिन्न परिवर्तनो के विपरीत भी, इन सब मे किसी एक समान प्रकार के स्पष्ट चिह्न लक्षित होते हैं। फलस्वरूप ये सब एक किसी ऐसी वास्तविक, जीवित, और स्वयं मे पूर्ण, पूर्वग भाषा से उद्भूत हैं जिसका एक सम्पूर्ण राष्ट्र सामान्य वार्तालाप तथा सचार-साधन के रूप मे व्यवहार करता था। यह केवल इन भाषाओ के उस सम्बन्ध की व्याख्या करने मात्र के लिये, जिससे ये परस्पर सम्बद्ध हैं, एक परिकल्पना मात्र नही है यह एक ऐसा निष्कर्ष है जो हमारे विश्वास को अनिवार्य रूप से विवश कर देता है और इसके पक्ष की स्थापना के लिये हर प्रकार की प्रामाणिकता उपलब्ध है। जब हम इतनी अधिक सख्या मे ऐसी भाषाओ को देखते हैं जिनकी प्रकृति तथा समस्त गठन और विवरण इतने स्पष्ट रूप से किसी ऐसे समान केन्द्र की ओर सकेत करते हैं जिसमे प्रत्येक तथ्यविशेष का कोई न कोई कारण उपलब्ध है, तब यह स्वीकार करना असम्भव हो जाता है कि उस केन्द्र का कभी केवल एक काल्पनिक अस्तित्व ही रहा होगा, और उल्लेखनीय साम्य किसी जाति विशेष के प्रवृत्त्यात्मक आवेग मात्र के ही परिणाम हैं।" ओयो० पृ० ४३।

दिया जिन्होंने बोलीजानेवाली जन-भाषाओं के रूप में इनका स्थान ग्रहण कर लिया।

उस पूर्वग भाषा का, जिसकी ओर मैंने अभी संकेत किया है, श्री पिक्टेट ने अपने उपरोद्धृत ग्रन्थ में इस प्रकार वर्णन किया है :—"इस प्रकार जनसंख्या और समृद्धि की प्रचुरता प्राप्त करते हुये वह प्रभूत जाति अपने लिये विकास के एक शक्तिशाली माध्यम के रूप में एक ऐसी भाषा का सृजन कर रही थी जो अपनी शक्ति, समवेतता, और अपने रूपों की पूर्णता की दृष्टि से उल्लेखनीय थी। यह एक ऐसी भाषा थी जिसमें उस जाति की समस्त भावनायें स्वाभाविक रूप से प्रतिविम्बित थीं। इसमें उस जाति की न केवल चीण भावनायें और सरल प्रशस्तियाँ ही वरन् एक उच्चतर संसार की प्राप्ति की एक प्रादुर्भावोन्मुख आकांक्षा भी निहित थी। यह भाषा प्रतिमाओं तथा कल्पनाओं से प्रभूत थी और इसमें एक उच्च काव्य तथा अत्यन्त गहन चिन्तन की भावी प्रचुरता के सभी बीज वर्तमान थे। आरम्भ में एक ही तथा समवेत यह भाषा, जो पूर्णता का एक उच्च स्तर प्राप्त कर चुकी थी, उस समय तक उस पूर्वग जाति की अभिव्यक्ति का समान माध्यम बनी रही जब तक वह जाति अपने मूल स्थान में ही निवास करती रही।"

खण्ड ३—भाषा का साम्य जाति-साम्य की ओर भी संकेत करता है; एक जाति के लोगों की विभिन्न शाखाओं में भाषाओं तथा संस्थाओं की अधिक या कम विभिन्नता कैसे उत्पन्न हो जाती है : आर्यों का जन्मस्थान मध्य एशिया था

मेरे विचार से गत खण्ड में उल्लिखित तथ्य तथा मान्यतायें इस बात को निश्चित रूप से प्रमाणित कर चुकी हैं कि संस्कृत भाषा का ज़ेण्ड, यूनानी, तथा लैटिन के साथ-साथ एक ही समान स्रोत है, और यह कि ये सभी भाषायें एक ही मूल से उत्पन्न विभिन्न शाखाओं की भाँति किसी एक ऐसी पितृभाषा से उत्पन्न हुई हैं जो अब लुप्त हो गई है। इस निष्कर्ष की स्थापना से, अनिवार्य पूरक के रूप में, यह निष्कर्ष निकलता है कि (१) भारतीय, पर्शियन, यूनानी, और रोमन लोग, अर्थात् उन राष्ट्रों के लोग जो उस कल्पित स्रोत से उद्भूत भाषायें बोलते थे, स्वयं भी अंशतः या पूर्णरूप से किसी एक ही जाति के सदस्य थे, अर्थात् इन सब की समान पूर्वज वही प्राचीन जाति थी जो उस अब लुप्त भाषा का व्यवहार करती थी जिसका मैंने ऊपर उल्लेख किया

है,[८७] यद्यपि अपने पूर्वजों से पृथक हो जाने के बाद किसी समय इन लोगों का अन्य जातियों से भी अन्तर्मिश्रण हो गया हो सकता है, (२) यह कि ऊपर उल्लिखित चार राष्ट्रों के पूर्वज भी, उस मूल पितृभाषा के भिन्न बोलियों के रूप में विभक्त हो जाने के पूर्व एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आ चुके होंगे; अथवा (३) यह कि उनके पूर्वजों ने अपनी-अपनी भाषाओं को ऐसे लोगों के वंशजों से प्राप्त किया होगा जो मूलतः उन बोलियों को बोलते थे। अतः, जब तक हम इस तृतीय विकल्प को नहीं मान लेते तब तक, गत वाक्य में कही गई बात को ध्यान में रख कर, इस बात को एक प्रामाणिक तथ्य के रूप में स्वीकार करना होगा कि या तो भारतीयों के पूर्वज किसी समय एक ही देश में, एक राष्ट्र के रूप में पर्शियनों, यूनानियों, और रोमनों के पूर्वजों के साथ-साथ निवास करते थे, अथवा इन सभी राष्ट्रों के पूर्वज अपने इतिहास के एक आरम्भिक स्तर पर दीर्घकाल तक एक दूसरे के निकट सम्पर्क में रह चुके थे। यह सत्य है कि उस पूर्वग काल का हमारे पास कोई इतिहास नहीं है, अतः हम अनिवार्यतः एक ऐसी ही स्थिति की कल्पना करने के लिये विवश हैं जिसकी मैं ऊपर चर्चा कर चुका हूँ, क्योंकि अन्यथा बाद के इतिहास में उपलब्ध भाषाशास्त्रीय घटनाओं का समाधान करने के लिये और कोई मान्यता पर्याप्त ही नहीं होगी। परिणामों के आधार पर हमें तर्क द्वारा इनकी उत्पत्ति के

---

[८७] जैसा कि हम देख चुके हैं "सभी आर्यभाषाओं की मूलभूत समानता हमें अनिवार्य रूप से उनके एक ही पूर्वग भाषा से उद्भूत हुये होने के तथ्य को स्वीकार करने के लिये प्रेरित करती है। और यतः किसी भी भाषा का अस्तित्व इस बात का साक्षी है कि उसे बोलनेवाले लोग भी होंगे, अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि सभी आर्य-राष्ट्र किसी एक ही स्रोत से उत्पन्न हुये हैं, यद्यपि एक बाद के समय में इनमें विदेशी तत्वों का समावेश हो गया होना भी असम्भव नहीं है। अतः हम पर्याप्त निश्चितता के साथ यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि एक प्रागैतिहासिक काल में एक ऐसी आर्य-जाति का अस्तित्व रहा होगा जो मूलतः समस्त विदेशी अन्तर्मिश्रणों से मुक्त तथा इतनी पर्याप्त जनसंख्या में विद्यमान रही होगी कि उसी के गर्भ से वे सब जातियाँ समय-समय पर फूट कर प्रगट हो सकी होंगी। उस मूल आर्य-जाति को प्रकृति ने प्रचुर मात्रा में वह प्रतिभा भी प्रदान की होगी जिससे वह, सम्भवतः, सभी भाषाओं में श्रेष्ठ, अपनी एक भाषा का भी सृजन करने में सफल हो सकी। यद्यपि वह मूल आर्यजाति किसी भी परम्परा को अज्ञात है, तथापि भाषाविज्ञान द्वारा हमें उसके अस्तित्व का पर्याप्त अंशों तक प्रमाण मिलता है।" पिक्टेट, पृ० ५६।

कारण की कल्पना करने का पूर्ण अधिकार है। हमें इस तथ्य की व्याख्या करनी है कि संसार के ऐसे विभिन्न क्षेत्रों मे, जो एक दूसरे से बहुत दूर स्थित थे, ऐसी भाषाओं को बोलनेवाले राष्ट्र विद्यमान थे जिनमें परस्पर निर्विवाद रूप से साम्य लक्षित होता है। इस स्थिति की व्याख्या करने के लिये इस मान्यता के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है कि इन राष्ट्रों ने, अथवा कम से कम इन जातियों ने, अपने उन वंशजों को अपनी-अपनी भाषायें प्रदान की जो किसी ऐसे केन्द्रीय देश से विभिन्न दिशाओं में चले गये, जो इन सबका समान रूप से जन्मस्थान या आवासगृह था, और जहाँ ये सब पहले एक ही प्रकार की भाषा बोलते थे।

यदि हम अपने अनुसन्धान में और अग्रसर हों तो हम देखेंगे कि कुछ ऐसे भी तथ्य हैं जिनके आधार पर हम बहुत कुछ सम्भावना के साथ उस कालक्रम की भी खोज कर सकते हैं जिसके अनुसार इन विभिन्न राष्ट्रों के पूर्वज एक मूल जाति से पृथक हुये अथवा अपने सामूहिक निवासस्थान से उन नूतन देशों की ओर गये जहाँ हम इन्हें बाद के समयों में बसा पाते हैं।

आइये हम यह कल्पना करें कि एक विस्तृत क्षेत्र के, जो अभी बहुत घना आबाद नहीं है, मध्य में एक बहुसंख्यक और शक्तिशाली राष्ट्र का पृथक् अस्तित्व है। इसके बाद हम इस प्रकार के समाज की सम्भाव्य स्थिति तथा गतिविधि की कल्पना करे और फिर इस काल्पनिक चित्र की वास्तविक घटनाओं के उपलब्ध चिह्नों के साथ तुलना करें। ऐसी स्थिति में हमें सर्वप्रथम इस मूल जाति अथवा दो से अधिक जातियों के ऐसे संघ की कल्पना करनी होगी जो बौद्धिक तथा शारीरिक दोनों ही दृष्टियों से पर्याप्त सम्पन्न[४८] और अभी अपने पूर्वग आवसक्षेत्र में ही निवास करती थीं। जब घटनाओं के एक स्वाभाविक क्रमके अनुसार यह सक्रिय तथा प्रतिभासम्पन्न जाति बढ़ने लगी, तो वह देश, जहाँ चाहे गडेरियों अथवा कृषकों के रूप में यह पहले निवास करती थी, इनकी बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये पर्याप्त नहीं रह गया होगा।[४९] ऐसी स्थिति में यदि निकटस्थ प्रदेशों में चरागाहों के लिये कृषि-

[४८] फिर भी, एम० ई० रेनन का विचार है कि आर्य जाति मूलत सेमिटिक, हेसिटिक, तथा अन्य जातियो से बौद्धिक दृष्टि से श्रेष्ठ नही बल्कि हीन थी। हिसे० पृ० ४८७।

[४९] "किन्तु जनसख्या मे एक नित्य तथा द्रुत वृद्धि के कारण क्रमिक देशान्तरगमन मे भी तीव्रता आ गई जिसके फलस्वरूप लोग क्रमश दूरतर देशो की ओर अग्रसर होने लगे। उस समय के बाद से स्पष्टत. पृथक जातियो

योग्य भूमि उपलब्ध रही तो ऐसे लोगों ने आवश्यकतानुसार अपनी सीमाओं का विस्तार किया होगा। परन्तु यदि निकटस्थ क्षेत्रों में इनकी आवश्यकता की पूर्ति करने के लिये ऐसी भूमि उपलब्ध न रही तो इनमें से अधिक स्फूर्तिमान तथा साहसी सदस्य छोटे या बड़े समूहों में नवीन आवासों की खोज में निकल पड़े होंगे। इस प्रकार देशान्तरगमन की प्रक्रिया, एक बार आरम्भ हो जाने के बाद, फिर निर्बाध गति से सतत चलने लगी होगी। प्रथम दु साहसी लोगों का शीघ्र ही उत्तरोत्तर बाद के समूह अनुसरण करने लगे होंगे और अन्ततोगत्वा मूल देश से निकट अथवा दूर नवीन राष्ट्रों का सृजन हो गया होगा।

अपने मूल आवासगृह से इस प्रकार निकले आरम्भिकतम प्रवासियों ने, अवसर मूल आवास से भिन्न जलवायु तथा उपजवाले देशों से होते हुए, नवीन तथा विचित्र वस्तुओं का अवलोकन करते हुये, तथा नवीन कार्यों मे लिप्त होते हुये क्रमशः अपने प्राचीन प्रचलनों का बहुत कुछ खो दिया और परिवर्तन में अनेक नवीन आदतों तथा उनके साथ ही बोली की नवीन पद्धतियों को सीख लिया। इसके विपरीत मूल जनसंख्या के उन अंशों ने, जो अभी अपने प्राचीन आवासस्थान पर ही रहते थे, अथवा उत्तरोत्तर निकटस्थ क्षेत्रों तक ही बढ़ पाये थे, अपने मौलिक प्रचलनों, धर्म तथा भाषा को प्रायः मूल रूप मे सुरक्षित रक्खा। किन्तु कुछ समय के बाद ऐसा अवसर अवश्य आया होगा जब उसी कारण ने, जिसने पहले के प्रवासियों को अपना मूल निवास छोड़ने के लिए विवश किया था, अथवा किसी अन्य प्राकृतिक कारण ने ही, इन अवशिष्ट लोगों के जीवन में भी अस्तव्यस्तता उत्पन्न कर दी होगी। फलस्वरूप ये लोग भी विभिन्न खण्डों में विभक्त हो गये होंगे। परन्तु ऐसे लोग एक दूसरे से पृथक् होकर भी अलग-अलग, किन्तु निकटस्थ देशों मे ही, बस गये हो सकते हैं जिससे परस्पर इनके धर्म, संस्थाओं, और सामान्य चरित्रों में उतनी अधिक विभिन्नता नहीं आ पाई जितनी अपेक्षाकृत दूर देशों में बसे इनसे पहले के प्रवासियों के जीवन मे आ गई।

के रूप मे राष्ट्रो का पृथक्करण, सचार मे उत्तरोत्तर कमी, तथा उनकी जीवन-पद्धति मे परिवर्तन ने उनकी मूल भाषा से अनेक बोलियो को विकसित होने का अवसर प्रदान किया, यद्यपि अभी इस स्तर पर ये बोलियाँ अपने पूर्वग स्रोत से सर्वथा पृथक नही हो सकीं। साथ ही साथ, जाति के मौलिक चरित्र मे परि-स्थितियो के कारण अनेक परिवर्तन होने लगे जिनसे अनेक प्रकार के ऐसे गौण राष्ट्रीय चरित्रो का भी विकास हुआ जिन्होने बाद के समय मे और भी विकसित होकर मानवजाति के महान नाटक में अपनी महत्वपूर्ण भूमिकाओ का निर्वाह किया।" पिक्टेट, पृ० २।

ऊपर मैंने जिस प्रथम स्थिति की परिकल्पना प्रस्तुत की है वह यूनानियों और रोमनों[५०] के सम्बन्ध में है जो आर्य राष्ट्र से एक आरम्भिक समय में पृथक होकर नवीन आवास की खोज में पश्चिम की ओर चले आये। इन देशों, अर्थात् यूनान और इटली तथा इनके आस-पास के स्थानों की जहाँ ये आकर वसे, आर्य जाति के निवासस्थान से दूरी, तथा इसी जाति की पूर्वी शाखा के लोगों से इनके धर्म और भाषा का विस्तृत अन्तर, दोनों ही इस बात को प्रमाणित करते हैं कि ये आर्यों से एक बहुत पूर्वकाल में ही पृथक् हो गये थे। दूसरी ओर, रोमनों द्वारा अधिकृत क्षेत्र के साथ यूनानियों के क्षेत्र की निकटता इस बात की द्योतक है कि ये दोनों राष्ट्र पूर्व से प्रायः एक ही समय पश्चिम की ओर चले होंगे, यद्यपि इन दोनों की भाषा तथा इनके धर्म के बीच मिलनेवाला अन्तर हमें यह मानने के लिये विवश करता है कि बाद में ये दोनों भी एक दूसरे से पृथक् हो गये तथा इनमें से प्रत्येक का स्वतन्त्र विकास होने लगा।

ऊपर मैंने जिस द्वितीय स्थिति की कल्पना की है वह उन पर्शो-आर्यन तथा इण्डो-आर्यों से सम्बद्ध है जो अन्य शाखाओं के मूल आर्य-जाति से पृथक् हो जाने के बहुत समय बाद तक एक साथ ही रहते रहे। पर्शियन तथा भारतीय अन्ततः जिन देशों में बस गये उनकी, अर्थात् उत्तर-पूर्वी पर्शिया तथा उत्तर-पश्चिमी भारत की एक दूसरे से परस्पर समीपता, तथा यूनानियों और रोमनों की पुराकथाओं और भाषाओं की अपेक्षा इन दोनों की भाषा में जो निकट समानता लक्षित होती है, इन दोनों ही तथ्यों के आधार पर हम यह विश्वास करने के लिये प्रेरित होते हैं कि आर्य जाति की अन्य शाखाओं की अपेक्षा भारतीयों और पर्शियनों के पूर्वज या तो अपने मूल आवासक्षेत्र में अथवा उसके कुछ दक्षिण के क्षेत्र में बहुत बाद के समय तक साथ-साथ रहे थे।

[इस तथा अगले खण्ड के विवेच्य विषय के सम्बन्ध में मैं कुछ समय पूर्व लिखे अपने एक लेख से थोड़े और विचार प्रस्तुत कर रहा हूँ। यह लेख मैंने भारतीयों तथा पश्चिम के देशों की भाषाओं के बीच समानता के प्रमाणों की प्रामाणिकता के विरुद्ध उठाई गई कुछ आपत्तियों का प्रतिवाद करने के लिये लिखा था :—

"इन भाषाओं की एक ही स्रोत से इस प्रकार उत्पत्ति, तथा उन स्थानों की परस्पर दूरी जिनमें ये बोली जाती रही हैं, मेरे विचार से एक अनिवार्य

---

[५०] इस समस्या को सरल बनाने की दृष्टि से मैंने इस महान परिवार की अन्य शाखाओ तथा जर्मनो आदि का, तथा उस समय का जब ये पश्चिम की ओर आये, जानबूझ कर उल्लेख नही किया है।

तथ्य के रूप में उन जातियों के, जो एक दूसरे से अपने आरम्भिकतर पृथक्त्व के समय इन बोलियों का व्यवहार करती थीं, बीच सम्बन्ध की तथा इस बात की द्योतक हैं कि मूलतः ये जातियाँ एक ही स्थान या देश में निवास करती थीं। धीरे-धीरे ये जातियाँ एक दूसरे से पृथक् हुई और अपने मूल आवास से उन देशों की ओर चली गई जहाँ हम एक बाद के समय में इन विभिन्न भाषाओं को बोलनेवाले लोगों को अन्ततोगत्वा बसा हुआ पाते हैं। यह सत्य है कि इस मान्यता का भी प्रतिवाद किया जा सकता है और यह कहा जा सकता है कि वह मूल देश, जहाँ से इन सजातीय बोलियों को साथ लेकर विभिन्न कबीले चले थे, वंश की दृष्टि से सर्वथा असम्बद्ध विविध प्रकार की जातियों का समान आवासगृह रहा हो, यद्यपि (१) इन लोगों ने एक ही भाषा का व्यवहार करना स्वीकार कर लिया हो क्योंकि इनमें से अधिक बर्बर तथा निर्बल जाति के लोगों ने अपनी बोलियों का परित्याग कर दिया, अथवा (२) पहले सर्वथा अलग अनेक बोलियाँ क्रमशः परस्पर विलीन हो कर एक ही बोली बन गई। किन्तु यह परिकल्पना, उक्त किसी भी विकल्प के अन्तर्गत, असम्भाव्य प्रतीत होती है क्योंकि बिना किसी तीव्र आवश्यकता के राष्ट्र स्वेच्छया अपनी पैतृक बोलियों का परित्याग नहीं करते। किन्तु यदि हम यह मान भी लें कि, मध्य एशिया की, जहाँ से तथाकथित भारोपीय जाति की विभिन्न जातियों के अलग-अलग दिशाओं में चले जाने की कल्पना की गई है, जनसंख्या मूलतः समरूप नहीं बल्कि अनेक जातियों के मिश्रण से बनी थी, तो भी ये जातियाँ, उस अवधि में जिसमें इनकी एक समान भाषा का निर्माण चल रहा था, घनिष्ठता और एकता के साथ निवास करती हुई अलग-अलग शाखाओं[५१] के अन्तर्विवाह के फलस्वरूप एक समुदाय बन चुकी थीं। किसी भी अन्य स्थिति के आधार पर एक सर्वभौमिक भाषा का निर्माण तथा ग्रहण सम्भव नहीं है। अतः, जब कालान्तर में यह समुदाय विघटित हुआ और इसकी विभिन्न शाखायें नवीन आवासों की खोज में मूल आवास से अलग-अलग दिशाओं के लिये चल पड़ीं तब इस घटना को हमें इनकी कल्पित मौलिक एकबद्धता के कई पीढ़ियों के बाद घटित मानना चाहिये। ये विभिन्न शाखायें, दीर्घकालीन अवधि तक साथ-साथ निवास करने तथा अपने रक्त के नित्य अन्तर्मिश्रण के कारण अधिकांशतः समान तत्त्वों से ही निर्मित थीं।

[५१] जब तक हम यह न मान लें कि इस आरम्भिक काल मे भी ये सभी अलग-अलग जातियो (वर्णों) मे विभक्त थी। फिर भी, यह एक असम्भाव्य मान्यता है।

फिर भी, हमें इस आपत्ति को छोड़ देना चाहिये और यह मानना चाहिये कि वे जातियाँ, जो कई सहस्र वर्ष पूर्व मध्यएशिया के कल्पित मूल क्षेत्र से इधर-उधर चल पड़ी थीं, मौलिक रूप से समरूप तथा सजातीय थीं। यदि इस मान्यता को स्वीकार कर लिया जाय तो इसे अस्वीकार करना कदाचित ही सम्भव होगा कि, कम से कम थोड़े समय के लिये ही सही, ये अनेक जातियाँ, ज्यों-ज्यों एक-एक करके केन्द्रीय स्थान से विभिन्न दिशाओं की ओर चलीं, अपने रक्त की शुद्धता को सुरक्षित रखने में सफल रहीं। किन्तु हम यह कह सकते हैं कि ऐसी स्थिति बहुत दिनों तक नहीं रही होगी। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि 'यह मानकर कि आपने इस बात के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उसे स्वीकार कर लिया गया, इस बात को दिखाने के लिये क्या प्रमाण है कि वे जातियाँ, जैसा आपने कहा है, जो अपने साथ एक से अधिक ऐसी बोलियाँ लेकर चली थीं जो भारत, पर्शिया, यूनान, और इटली में क्रमशः संस्कृत, प्राचीन पर्शियन, यूनानी, तथा लैटिन भाषाओं के रूप में विकसित हुईं, वास्तव में उन्हीं जातियों की वंशज थीं जिनके आपने एक अज्ञात समय में कल्पित केन्द्रसे विभिन्न दिशाओं में चले जाने की कल्पना की है? वाद-विवाद के लिये हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि आपकी भारोपीय जाति के कुछ अंश नवीन आवासों की खोज में विभिन्न दिशाओं में चले और फिर विलीन हो गये। किन्तु इस बात की अब कोई सम्भावना नहीं है कि हम उन जातियों के अभीष्ट देशों की ओर अग्रसर होने के किसी चिह्न को कभी ढूँढ भी सकेंगे।[५२] जनसंख्या की कल्पित धारायें न तो आगे बढ़ती दिखाई पड़ती हैं और न तो भूमिगत होती ही, और उन अनेक राष्ट्रों को, जो बहुत समय के बाद पृथिवी के दूरस्थ देशों में प्रकाश में आते हैं, आप उसी मौलिक जनधारा का ही विशुद्ध प्रवाह कैसे कह सकते हैं। आपकी पास इस बात को सिद्ध करने के लिये कोई प्रमाण इतना शक्तिशाली नहीं है कि जनसंख्या के वह दोनों तत्त्व—एक वह जो केन्द्र से चला, तथा दूसरा वह जो परिधि के विभिन्न स्थानों तक पहुँचा—सभी दृष्टियों से समरूप थे। आप उन मार्गों तथा स्तरों के सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकते जिनसे होकर ये प्रवासी जातियाँ अग्रसर हुईं। आप न तो उन परिस्थितियों के सम्बन्ध में कुछ कह सकते हैं जिनसे होकर इन्हें गुजरना पड़ा, और न इनके उन अन्य जातियों के साथ साक्षात्कार के ही सम्बन्ध में कुछ कह सकते हैं जिनका इनकी बोलियों तथा समस्त भविष्य पर निर्णायक और

---

[५२] फिर भी देखिये पिक्टेट, भाग १, पृ० ५४–८८, और पृ० ५३६ जिसे आगे उद्धृत किया गया है।

महत्त्वपूर्ण प्रतीत न हुआ होगा। आपने जिन जातियों के मध्य एशिया से बाहर निष्क्रमण की चर्चा की है वे, इस क्षेत्र तथा उस स्थान के, जहाँ आपने उनके स्थानों के पाये जाने की कल्पना की है, बीच में भी किसी अनुकूल आवासयोग्य स्थान पर बस गये हो सकते हैं। उन लोगों ने इस मध्यवर्ती स्थान पर अपनी भाषा को अपने सम्पर्क में आनेवाली एक सर्वथा भिन्न जाति के लोगों को प्रदान कर दिया हो, सकता है। तदनन्तर सम्भव है कि इन विदेशी जातियों के वंशज अथवा इस मिश्रित जाति के ही लोग उन भाषाओं को और आगे के देशों में ले गये हों जहाँ हम उन्हें इतिहास के उषाकाल में प्रचलित पाते हैं। उक्त स्थिति की परिकल्पना के आधार पर यही प्रतीत होता है कि उत्तरी भारत, पर्शिया, यूनान, अथवा इटली में अन्ततोगत्वा बसे लोग उन लोगों के वास्तविक वंशज नहीं थे जो आपकी कल्पना के अनुसार सहस्रों वर्ष पूर्व एक कल्पित केन्द्र से चले थे। यह भी कहा जा सकता है कि इन तर्कों की इस तथ्य से भी पुष्टि होती है कि, संस्कृत, यूनानी तथा लैटिन भाषाओं के बीच कुछ उल्लेखनीय साम्य के विद्यमान भी, इन भाषाओं में समान रूप से मिलनेवाले शब्दों की संख्या इनके परस्पर भिन्न शब्दों की संख्या की तुलना में बहुत कम है। इसके अतिरिक्त यह भी तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि इस तथ्य की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या यह स्वीकार की जा सकती है कि इन भाषाओं का क्रमिक रूप से ऐसे सर्वांश शब्दों के उपचयन से निर्माण हुआ जो समय-समय पर इनमें आकर मिलनेवाली परवर्ती विदेशी जातियाँ अपने साथ लाती रहीं। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इन चारों भाषाओं में अन्ततोगत्वा लक्षित होनेवाले विस्तृत अन्तर की व्याख्या करने के लिए जनसंख्या के कुछ इसी प्रकार के सम्मिश्रण की कल्पना आवश्यक है।'

अब मैं एक-एक कर के इन आपत्तियों की व्याख्या करूँगा।

'यह मानकर कि भारत, पर्शिया, यूनान, और इटली में इतिहास के उषाकाल के समय बोली जानेवाली भाषाओं के बीच साम्य की जो बात कही गई है वह वास्तविक है, हमें इस घटना की सर्वाधिक स्वाभाविक व्याख्या की खोज करनी है। जैसा हम कह चुके हैं, ये सम्बद्ध भाषाएँ एक ही स्रोत से उद्भूत हैं, और जहाँ वे मिलती हैं वहाँ इन्हें या तो (१) उस मूल जाति के वंशज ले गए होंगे जो अपने मूल आवासक्षेत्र से इन्हें अलग-अलग बोलते थे, अथवा (२) वे दूसरी जाति द्वारा ले जाई गई होंगी जो अपने इतिहास के किसी समय उस मूल जाति के निकट सम्पर्क में आ चुकी होगी।'

[illegible] भाषाएँ सर्वप्रथम मिलती हैं

"अतः जिस प्रश्न का उत्तर देना है वह यह है : क्या यह अत्यधिक सम्भाव्य है कि भारत, पर्शिया, यूनान, और इटली में जो प्रवासी उन भाषाओं को लाये जो उनके बाद से इन देशों में प्रचलित मिलती है, उन्होंने (१) अपने साथ ले आई इन भाषाओं को अपने प्राचीनतम पूर्वजों से सीधे उत्तराधिकार में प्राप्त किया था, अथवा (२) अपने इतिहास के किसी मध्यवर्ती काल में उनके पूर्वजों ने अंशतः अथवा पूर्णतः किसी विदेशी जाति की भाषा को ग्रहण कर लिया था ? मेरी समझ में इन प्रश्नों का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दिया जा सकता। केवल एक सम्भाव्य समाधान ही प्रस्तुत किया जा सकता है। इसे सभी स्वीकार करते हैं कि कल्पित देशान्तरगमन के समय, पथ और अवधि के निर्धारण में, अथवा उन घटनाओं की कल्पना करने में, जो उन लोगों के समक्ष घटित हुई होंगी, हम सर्वथा असमर्थ हैं। किन्तु यदि इसके विपरीत कोई ऐतिहासिक प्रमाण अथवा अन्य संकेत नहीं है तो मान्यता सदैव इसी निष्कर्ष के पक्ष में उचित प्रतीत होती है कि कोई भी जाति अपने पूर्वजों की ही भाषा को अपने साथ सुरक्षित रखती है। ऊपर कहे जा चुके आधारों पर जिन भाषाओं के दीर्घकाल तक सतत अस्तित्व बने रहने की बात कही गई है, वे भाषायें, किसी लिखित कृति के अभाव में, किसी न किसी जाति के लोगों द्वारा मौखिक रूप से ही संचरित होती रही होंगी। किन्तु यह मानने के लिये कोई सम्भाव्य कारण नहीं प्रस्तुत किया जा सकता कि आरम्भ में इनको बोलने वाले लोगों के वंशज लुप्त हो गये। यदि हम यह मान भी लें कि अपने इतिहास के किसी स्तर पर एक जाति अपनी वंशानुगत भाषा को दूसरी जाती के लोगों को दे देती है तो इससे यह निश्चित या सम्भाव्य नहीं हो जाता कि जिन लोगों ने उस भाषा को वंशाधिकार में प्राप्त किया है वे उसे दूसरों को प्रदान करने के बाद स्वय उसे खो देंगे। अतः सम्भावना के आधार पर तर्क करते हुये भाषा के सम्बन्ध में अधिक से अधिक जो कुछ स्वीकार किया जा सकता है वह यह है कि अपने इतिहास के किसी न किसी समय उसे विदेशी जातियाँ भी वंशाधिकार में प्राप्त जातियों से ग्रहण करके व्यवहार में लाने लग सकती हैं, जब कि ये वंशाधिकार में प्राप्त करनेवाली जातियाँ भी उसी भाषा का व्यवहार करती रहती हैं।"[५४] अतः मेरे विचार से, हमारा यह निष्कर्ष उचित है कि

उनमे इन्हे लानेवाली जातियो ने इन्हे किसी अन्य जाति को स्थानान्तरित कर दिया हो और स्वय विलीन हो गई हो। किन्तु यह परिकल्पना इतनी असम्भाव्य प्रतीत होती है कि इस पर विचार करना तक उपयुक्त नही।

[५४] अब, मैं यह नही पाता कि सस्कृत, अथवा पर्शियन, अथवा यूनानी,

उन लोगों के, जो आरम्भिकतम ऐतिहासिक कालों में इन भाषाओं का अलग-अलग व्यवहार करते थे, कुछ अंश उस जाति के वंशज थे जिसके एक अज्ञात समय में मध्यएशिया से देशान्तरगमन का पहले उल्लेख किया जा चुका है। किन्तु इस निष्कर्ष को ग्रहण कर लेने के लिये कुछ अन्य कारण भी हैं। यह निःसन्देह सत्य है, और इसे स्वीकार भी किया जा चुका है, कि एक ही वंश के लोग किसी विदेशी जाति से भी अपनी भाषा प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु ऐसी दशा में इस प्रकार भाषा को ग्रहण करनेवाली जाति यदि सदैव नहीं तो भी सामान्यतः बौद्धिक तथा नैतिक दृष्टि से उस जाति से हीन होती है जिसकी भाषा वह ग्रहण करती है। इसके विपरीत स्थिति कदाचित ही सम्भव है। अतः, जब हम एक उच्च बौद्धिक प्रतिभा से सम्पन्न जाति को एक भाषा बोलते पाते हैं तो हमारा यह मान लेना उचित ही है कि वह अपने पूर्वजों की भाषा का ही व्यवहार कर रही है। किन्तु प्राचीनतम ज्ञात अथवा वैदिक भारतीय, और प्राचीनतम ज्ञात यूनानी, दोनों ही बौद्धिक दृष्टि से श्रेष्ठ थे, जब कि युद्धशक्ति की दृष्टि से भी ये उन अन्य राष्ट्रों के बराबर थे जो इनके सम्पर्क में आये। अतः यह नितान्त असम्भव है कि इन लोगों पर किसी विजेता जाति ने अपनी भाषा लादी होगी अथवा इन लोगों ने ही स्वेच्छा से किसी की भाषा को ग्रहण किया होगा। मैं एक अन्य आधार भी प्रस्तुत करूँगा जिसकी प्रकृति भाषाशास्त्रीय नहीं है बल्कि उसे भारतीयों और यूनानियों के बाद के इतिहास से ग्रहण किया गया है। इसके आधार पर हम यह विश्वास कर सकते हैं कि ये दोनों राष्ट्र एक ही स्रोत से उद्भूत हुये थे। मेरा तात्पर्य इन दोनों की बौद्धिक क्षमता तथा दक्षता में उल्लेखनीय साम्य से है जो इनके द्वारा प्राप्त श्रेष्ठता के स्तर तथा इन दोनों के साहित्य, विज्ञान तथा चिन्तन की मौलिकता से स्पष्ट हो जाता है। यतः इस साम्य को सामान्यरूप से सब ने स्वीकार किया है, अतः मेरे लिये इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है।

"जहाँ तक मेरे द्वारा कल्पित इस आपत्ति का सम्बन्ध है कि संस्कृत, यूनानी, और लैटिन में उल्लेखनीय साम्य के प्रमाणों के साथ-साथ ही इन सब के शब्दभण्डारों में इतने अधिक विभेद भी हैं कि उनकी केवल इसी मान्यता के आधार पर व्याख्या की जा सकती है कि जिन जातियों ने इन भाषाओं को अपने पूर्वजों से प्राप्त किया उनमें समय-समय पर पर्याप्त मात्रा में रक्त का

अथवा लैटिन भाषाओ का मूलत पृथिवी के भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे रहनेवाली भिन्न-भिन्न जातियाँ व्यवहार करती थी। इसके विपरीन, स्थिति यह थी कि इन सभी भाषाओ को आरम्भ मे एक ही राष्ट्र के लोग बोलते थे।

अन्तर्मिश्रण भी हुआ होगा—क्योंकि अन्यथा बोली के इन भिन्न रूपों के बीच उपलब्ध विस्तृत अन्तर का समाधान असम्भव होगा—मैं पुनः यह दुहराता हूँ कि विवेच्य घटना की एक और व्याख्या सम्भव है। अपने केन्द्रीय आवास-क्षेत्र से विभिन्न दिशाओं में चले जाने के बाद विभिन्न जातियों की मातृभाषा की विभिन्न बोलियों में हुये 'उत्तरोत्तर' परिवर्तन की (यह मान लेने पर भी कि ये जातियाँ रक्त के अन्तर्मिश्रण से सर्वथा मुक्त रहीं) एक प्रादुर्भावोन्मुख सभ्यता की अनिवार्य अवस्थाओं, तथा साथ ही साथ, देशान्तरगमन के साथ अनिवार्यतः संयुक्त उतार-चढ़ाव की परिस्थितियों के आधार पर व्याख्या की जा सकती है। उस आरम्भिक स्तर पर, जब इन जातियों की कला और संस्कृत के क्षेत्र में प्रगति प्रायः नगण्य थी, और इनके पास अपनी बोली के दृढ़ीकरण के लिये कोई साहित्य भी नहीं था, स्वभावतः सतत परिवर्तन होते रहे होंगे: अर्थात् प्राचीन शब्द परिवर्तित अथवा अप्रचलित हो गये होंगे, जब कि भौतिक, सामाजिक, तथा राजनीतिक परिस्थितियों से, जिनसे होकर ये जातियाँ गुजर रही थीं, प्रभावित होकर नवीन शब्दों को भी सम्मिलित कर लिया गया होगा। परिवर्तन की यह क्रमिक प्रक्रिया, उन नियमों का एक अनिवार्य परिणाम होती है जो समाज के आरम्भिक कालों में विचार तथा भाषा के विकास का नियन्त्रण करते हैं। अतः इसको बोधगम्य बहाने के लिये जनसंख्या के विदेशी तत्वों के अन्तर्मिश्रण की परिकल्पना आवश्यक नहीं है। साथ ही, इसे भी अस्वीकार करने की आवश्यकता नहीं कि संस्कृत, यूनानी, तथा लैटिन में आज मिलनेवाले अनेक शब्दों को अन्य जाति के लोगों से ग्रहण कर लिया गया है।

"किन्तु यह मान लेने पर भी कि किसी जाति के परीक्षण के लिये भाषा के महत्व से सम्बद्ध उक्त निष्कर्ष इतने अधिक अनिश्चित तथा अनुमानात्मक है कि उनका कोई महत्व नहीं है, इस बात में कोई संदेह नहीं कि संस्कृत, पर्शियन, यूनानी, तथा लैटिन की परस्पर समानता से इतना तो सिद्ध ही हो जाता है कि प्राचीनतम ज्ञात भारतीयों, पर्शियनों, यूनानियों, और रोमनों के पूर्वजों ने तत्काल या और प्राचीन काल में अपनी-अपनी भाषाओं को उन जातियों के लोगों से प्राप्त किया था जो किसी समय एक ही समुदाय के अंगों के रूप में एक दूसरे के निकटतम सम्पर्क में रहते और एक ही संस्था द्वारा नियन्त्रित थे। इतना ही नहीं, वे एक ही धर्म और उपासना-पद्धति के भी अनुयायी थे (देखिये ट्रांज़ैक्शन्स ऑफ दि ब्रिटिश एसोसियेशन, १८५८,

पृ० १५० में प्रकाशित रेवरेण्ड जी० सी० गेल्डार्ट का 'लैंग्वेज नो टेस्ट ऑफ रेस' शीर्षक निबन्ध)।[५५]

"आइये देखें कि हिन्दुओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस मान्यता से क्या निष्कर्ष निकलता है। यह एक ऐसी समस्या है जिस पर विचार करने के लिये ही मुझे प्रस्तुत शोधनिबन्ध में विवेचित समस्याओं का अध्ययन करना पड़ा। वैदिक-काल के हिन्दू या तो उन लोगों के प्रत्यक्ष वंशज हैं जो पहले संस्कृत को उसके प्राचीनतम रूप में बोलते थे, अथवा ये उनके वंशज नहीं है। यदि ये (हिन्दू) उन लोगों के वंशज नहीं हैं तब इन लोगों ने अपनी भाषा को (जिसे अब पवित्र तथा दिव्य माना जाता है) किसी ऐसी विदेशी जाति से प्राप्त किया होगा जिसने उसे इनके पूर्वजों को प्रदान कर दिया था। किन्तु यतः स्वयं इनके पवित्र ग्रन्थों में निहित परम्परायें इस प्रकार की कोई चर्चा नहीं करतीं, अतः इस परिकल्पना के आधार पर इन्हें (परम्पराओं को) इस जाति की उत्पत्ति और इतिहास का विश्वसनीय विवरण प्रदान करनेवाला नहीं माना जा सकता। दूसरी ओर, यदि आरम्भिक भारतीयों ने संस्कृत भाषा को उन लोगों से प्रत्यक्ष वंशाधिकार के रूप में प्राप्त किया जो पहले इसे बोलते थे, तब इनके पूर्वज, किसी न किसी समय या तो पर्शियनों, यूनानियों, और रोमनों के पूर्वजों के, अथवा किसी अन्य ऐसी जाति के ही, निकट सम्पर्क में रहे होंगे जिसके साथ किसी न किसी समय पर्शियनों, यूनानियों, और रोमनों के पूर्वज भी सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से सम्बद्ध रहे होंगे। दोनों में से किसी भी दशा में हिन्दुओं के पूर्वज एक ऐसे प्राचीन समुदाय के अंग रहे होंगे जिसके अन्तर्गत ही उन अन्य जातियों के पूर्वज भी आ जाते हैं जिन्होंने अन्ततोगत्वा अपने को उस समुदाय से पृथक् कर लिया। अतः हिन्दुओं की उस प्रकार की स्पष्ट तथा विशिष्ट उत्पत्ति नहीं हुई हो सकती जिसकी अनेक धर्मग्रन्थों में चर्चा मिलती है। तब उक्त पृथक्त्व की घटना कहाँ घटित हुई ? भारत में या भारत से बाहर ? इस प्रश्न का मैं यह उत्तर दूँगा कि, संस्कृत की सजातीय विभिन्न भाषाओं को बोलनेवाले भिन्न-भिन्न राष्ट्र जिन क्षेत्रों में बसे मिलते हैं उनकी भौगोलिक स्थितियों को देखते हुये सम्भावना यही है कि वह पृथक्त्व, जिसका मैंने ऊपर उल्लेख किया है, उन देशों के, जहाँ ये अलग-अलग जातियाँ निवास करती हैं, किसी मध्यवर्ती क्षेत्र में ही हुआ होगा : अर्थात् सिन्धु नदी के उत्तर या उत्तर-पश्चिम में स्थित किसी क्षेत्र में चाहे यहाँ सम्बद्ध विभिन्न राष्ट्रों का निर्माण करनेवाली जनसंख्यायें स्वयं उन जातियों की वंशज रही हों

[५५] देखिये परिशिष्ट 'घ'।

जो कल्पित पितृजाति से पृथक हुई थीं, अथवा इनमें से एक या अधिक ने अपनी-अपनी भाषाओं को उक्त वंशजों से प्राप्त किया हो। हमें इन दोनों ही दशाओं में यह मानना चाहिये कि उस देशान्तरगमन का, जो अन्ततोगत्वा भारतीय, पर्शियन, यूनानी, और रोमन राष्ट्रीयताओं के निर्माण में समाप्त हुआ, सुदूर पूर्व की अपेक्षा किसी मध्यवर्ती क्षेत्र से ही आरम्भ हुआ होगा।

"अब इसे एक स्थापित अथवा सम्भाव्य तथ्य मान लेने पर कि भारोपीय वंश की एक जाति एक आरम्भिक काल में ही उत्तर पश्चिम से भारत में आकर बस गई—किन्तु इस मान्यता के विरुद्ध यह अकाट्य दैहिक कठिनाई सामने आती है कि उनके वंशजों का वर्ण केवल जलवायु के कारण ही धीरे-धीरे वर्तमान श्यामता में परिणत हो गया—हमें इस परिकल्पना का आश्रय लेना ही होगा कि उन मूल प्रवासियों अथवा उनके वंशजों ने भारत में पहले से बसी अधिक श्यामवर्ण जातियों के साथ अन्तर्विवाह किये थे, और यह कि इन अन्तर्विवाहों से उत्पन्न सन्तान का वर्ण उनके भारोपीय पूर्वजों की अपेक्षा अधिक श्याम था। यदि इस तथ्य की यही वास्तविक व्याख्या हो तो इस बात को स्वीकार करना होगा कि ब्राह्मणधर्मी, अथवा संस्कृत-भाषी भारतीय विशुद्ध भारोपीय रक्त के लोग नहीं हैं, यद्यपि इनमें अंशतः भारोपीयों का रक्त भी सम्मिलित है। जो कुछ भी हो, इन लोगों ने उस भारोपीय जाति की उच्च मानसिक विशिष्टताओं को अवश्य प्राप्त कर लिया।"]

मैं जिन बातों को या तो सिद्ध कर चुका हूँ अथवा अब सिद्ध करने का प्रयास कर रहा हूँ वे इस प्रकार हैं :—

प्रथम :—यह कि भारतीय-आर्य, अर्थात् उत्तर भारत के उच्चतर वर्ग, अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, तथा वैश्य, या तो पूर्णतः अथवा अंशतः उसी आर्य जाति से आविर्भूत हैं जिससे पर्शियन, यूनानी, अथवा रोमन।

द्वितीय :—यह कि इस मूल आर्यजाति का पूर्वग आवास मध्य एशिया के किसी ऐसे क्षेत्र में था जो भारत के बाहर और उसके उत्तर पश्चिम में स्थित था।

तृतीय :—यह कि इस पितृजाति से धीरे-धीरे पृथक् होकर विभिन्न शाखायें अपने मूल आवास से पश्चिम, दक्षिण, अथवा पूर्व में स्थित देशों में जाकर बस गईं।

चतुर्थ :—यह कि भारतीयों और पर्शियनों के पूर्वज, आर्यजाति की अन्य शाखाओं की अपेक्षा अधिक बाद के समय तक एक राष्ट्र के रूप में ही निवास करते रहे प्रतीत होते हैं, किन्तु अन्ततोगत्वा पृथक् होने पर इनमें से भारतीय—

आर्य भारत चले आये, जब कि पर्शो-आर्य बैक्ट्रिया तथा उसके आस-पास के क्षेत्रों में जाकर बस गये।

इस विषय के विवेचन में मैं इस बात को आवश्यक नहीं मानूँगा कि इनमें से प्रत्येक मान्यता पर उसी क्रम से विचार किया जाय जिसमें उसका ऊपर उल्लेख है। इसके विपरीत, मैं प्रमाण की प्रक्रिया के लिये आवश्यक सुविधाजनक क्रम से ही इन विभिन्न बातों का विवेचन करूँगा।

खण्ड ४—क्या भारतीयों को भारोपियनों के अन्तर्गत वर्गीकृत करने में दैहिक तथ्यों पर आधारित कोई आपत्ति बाधक है?

यह प्रमाणित करने में, जैसा कि मैं पहले ही कर चुका हूँ, कि यूनानी तथा लैटिन भाषाओं की भी उसी स्रोत से उत्पत्ति हुई है जिससे संस्कृत की, मैंने प्रमाण का जो प्रमुख अंश प्रस्तुत किया है वह उन राष्ट्रों की भी एक ही स्रोत से उत्पत्ति से सम्बद्ध है जो इन बोलियों को बोलते थे। और भाषा ही एक ऐसा क्षेत्र नहीं है जिसमें भारतीयों, ईरानियों, यूनानियों, और रोमनों में साम्य लक्षित होता है, बल्कि इनकी पुराकथायें भी सम्पर्क के अनेक प्रमाण प्रस्तुत करती है। जहाँ तक भारतीयों और ईरानियों का सम्बन्ध है उसे आगे के एक खण्ड में दिखाया जायगा। इस बात को व्यक्त करनेवाले प्रमाण के लिये कि बाद में एक दूसरे से बहुत अधिक विभेद उत्पन्न हो जाने के विपरीत भी भारतीयों और यूनानियों की पुराकथाओं का एक ही स्रोत है, मैं प्रस्तुत कृति के पाँचवें भाग को देखने का आग्रह करूँगा जहाँ मैंने द्यौस् और ज़्यूस, तथा वरुण और यूरेनोस के तादात्म्यों का उल्लेख किया है। कुछ अन्य दशाओं में भी यूनानी और भारतीय पुराकथाशास्त्र में समानता दिखाई गई है। उदाहरण के लिये, यूनानियों के इरिन्नीज़ का वेदों की सरण्यू से, केण्टॉरों का गन्धर्वों से, मिनोस का मनु से, ऋभु का ओर्फ्यूज़ से, हर्मीस का सारमेय से, प्लेगीज़ का भृगु से, इत्यादि, साम्य दिखाया गया है,[७८] किन्तु यदि इस विषय पर प्रस्तुत सामग्री का मैं यहाँ विवेचन आरम्भ करूँ तो मैं अपने विषय से बहुत दूर हट जाऊँगा, अतः अब मैं विस्तार से इस बात को ही दिखाने की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करूँगा कि पर्शियनों और भारतीयों के एक ही पूर्वजों से अविर्भूत हुये होने की मान्यता के क्या आधार उपलब्ध हैं। मैं यह भी

[७८] देखिये कुगो०, और मूलर का 'कम्परेटिव माइथॉलोजी' शीर्षक निबन्ध जो आक्सफोर्ड एसेज, १५६ में प्रकाशित हुआ है, तथा इन्ही का चिप्स, भाग २, पृ० १८१ भी।

दिखाऊँगा कि इसी वर्ग की अन्य शाखाओं के पश्चिम की ओर चले जाने के बाद भी ये लोग एक ही राष्ट्र के पूरक अंशों के रूप में कुछ काल बाद तक साथ-साथ संगठित रूप में रहे, और फिर अन्ततः परिस्थितियों से प्रेरित होकर दो राष्ट्रों में विभक्त तो हुये किन्तु आस-पास के ही दो क्षेत्रों-में बस गये। तदनन्तर मैं उन परवर्ती आधारों की समालोचना करूँगा जो इस मान्यता की पुष्टि करते हैं कि आर्य भारत में उत्तर-पश्चिम दिशा की ओर से आकर बस गये थे।

फिर भी, यहाँ व्यक्त उद्देश्य को पूर्ण करने का प्रयास आरम्भ करने के पूर्व सक्षेप में इस बात का विवेचन कर लेना सुविधाजनक होगा कि क्य दैहिक आधारों पर भारतीयों के उसी स्रोत से उद्भूत हुये होने के तथ्य को अस्वीकृत किया जा सकता है जिससे योरप के विभिन्न राष्ट्र उत्पन्न हुए है।[५७] दैहिक गुणों की दृष्टि से ब्राह्मण तथा उच्चवर्गीय भारतीय, और अभी-अभी उल्लिखित अन्य राष्ट्रों के लोग [तथाकथित काकेशियन प्रकार के अन्तर्गत आते हैं। वास्तव में, प्रथम दृष्टि में, यह माना जा सकता है कि श्यामवर्ण हिन्दू सम्भवतः उसी जाति के नहीं हो सकते जिसके इङ्गलैण्ड अथवा जर्मनी के श्वेत-वर्ण लोग हैं; किन्तु भाषावैज्ञानिक आधारों पर हम जिन विभिन्न राष्ट्रों को एक ही स्रोत से उद्भूत मानते है उनके निकट परीक्षण द्वारा यह प्रगट होगा कि उनकी त्वचा के वर्ण में, उन देशों के, जहाँ वे बसे और युगों से रहते आ रहे हैं, जलवायुजन्य प्रभावों के कारण ही अत्यधिक अन्तर मिलता है। यदि हम केवल उसी विस्तृत क्षेत्र के, जहाँ भारोपीय जातियाँ बसी है, दक्षिण-पूर्वी तथा उत्तर-पश्चिमी सीमाओं के लोगों मात्र को देखें तो निश्चित रूप से हमें पता लगेगा कि इन दूरस्थ क्षेत्रों के निवासियों की त्वचा के वर्ण में सर्वथा अन्तर है। किन्तु इन्हीं क्षेत्रों के अन्तर्गत दो निकटस्थ स्थानों के निवासियों के बीच वैसा अन्तर नहीं मिलेगा। भारतीय पर्शियनों से, पर्शियन यूनानियों से, यूनानी इटालियनों से, इटालियन जर्मनों अथवा ऐंग्लो-सैक्सनों से रंग में बहुत भिन्न नहीं हैं। इन विभिन्न राष्ट्रों के लोगों का रंग दक्षिण-पूर्व से उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़ते समय इतने धीरे-धीरे परिवर्तित होता है कि उसे स्पष्ट रूप से देखा नहीं जा सकता। जहाँ भारतीयों में

[५७] [मैं यहाँ उसे प्राय उसके मूल रूप मे प्रकाशित कर रहा हूँ, यद्यपि मैंने उन स्थलो को इनवर्टेड कामा के अन्तर्गत रक्खा है जिनमे मैंने इस कृति के प्रथभ सस्करण मे इस प्रश्न का उत्तर दिया है। मैंने इस दृष्टिकोण के विरुद्ध आधारो पर प्रस्तुत आपत्तियो के सन्दर्भों का भी उल्लेख किया है।]

श्यामता की प्रमुखता है, वहीं पर्शियन कुछ पीले और यूनानी उनसे भी कुछ साफ और लालिमा लिये हुये हैं। इनके बाद इटली के लोगों का वर्ण और साफ तथा ट्यूटनिक जातियों के निकटतर है। अतः इन विभिन्न राष्ट्रों के निवासियों की त्वचा के अन्तर का कारण जलवायुज प्रभावों का अन्तर ही है। भारतीय सूर्य की प्रखर किरणें, भारतीय जलवायु का उच्च तापमान, और भारतीय भूमि द्वारा प्रदत्त विशेष प्रकार के आहार, इन सब तत्वों ने प्रथम बार हिन्दुस्तान में बसने से लेकर आज तक लगभग ३,००० वर्षों की दीर्घ अवधि तक आर्यों पर सतत् प्रभाव डाला है, तथा ये रंग, रूप, और उस शारीरिक गठन की विशेषताओं का समाधान करने के लिये पर्याप्त हैं जो इन्हें भारोपीय परिवार के पश्चिम में बसे सदस्यों से पृथक करते हैं। वास्तव में इन कारणों का प्रभाव स्वयं भारत में ही अत्यन्त स्पष्ट लक्षित होता है। बंगाल के निवासियों की, जो उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों के रहनेवालों की ही जातिके हैं, अपनी जलवायु की अपेक्षाकृत अधिक नमी के कारण और उस शक्तिवर्धक तापमान के अभाव में जिसका वे केवल वर्ष के तीन चार महीनों तक ही आनन्द ले सकते हैं, त्वचा का रंग उत्तरोत्तर काला और शारीरिक गठन अपेक्षतया दुर्बल हो गया है। पुनः, कोई भी, जो उत्तर भारत में रह चुका है, इस बात से भली भाँति परिचित है कि काश्मीर के समशीतोष्ण प्रदेश का ब्राह्मण मथुरा या बनारस के ब्राह्मण से कहीं अधिक गोरा होता है—इतना अधिक गोरा कि कभी कभी वह बहुत कुछ विदेशी-सा प्रतीत होता है। यह भी देखा गया है कि एक एंग्लोइण्डियन—अंशतः भारतीय तथा अंशतः अँग्रेजी पैतृकता वाला व्यक्ति—योरप के शीतल प्रदेश में रहते हुये अधिक गोरा हो जाता है किन्तु भारत के उष्ण प्रदेशों में आकर उसका रंग पुनः दब जाता है। इस विषय का और अधिक विवेचन आवश्यक नहीं है क्योंकि त्वचा के रंग के आधार पर यदि भारतीयों और योरपवासियों की एक ही आनुवंशिकता पर कोई सन्देह हो तो उसके निवारण के लिये ऊपर का थोड़ा सा विवेचन भी पर्याप्त है।[५८] मैं केवल इतना ही कहूँगा कि यदि यहाँ प्रस्तुत तथ्यों में कुछ

---

[५८] इस विषय का एक अधिक विस्तृत विवेचन लासन के इआ०, द्वि० सं०, १.४७८–४८७ में मिल सकता है। [उनका निष्कर्ष इस प्रकार है. "अपनी भाषा तथा दैहिक गठन के आधार पर भारतीय आर्य काकेशियन जाति के अन्तर्गत आते हैं इनकी त्वचा का रंग इतना अधिक काला नहीं है कि उनका जलवायुज प्रभावों के आधार पर समाधान न किया जा सके। उष्ण जलवायु के सतत प्रभाव, और अन्तर्मिश्रण के प्रभाव से काकेशियन जाति के

सभ्यता है तो भारतीय आर्य भारत में प्रथम आगमन के समय, जब वे अभी उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में ही रह रहे थे, उससे कहीं अधिक गोरे रहे होंगे जितने वे दक्षिण-पूर्व में और अन्दर आने के बाद भारतीय सूर्य की प्रखरता के कारण रह गये। साथ ही, हम यह भी देखते हैं कि यह मान्यता उन वैदिक सूक्तों की कुछ उक्तियों के अनुकूल है, जिनमें से प्राचीनतम सूक्तों का समय अत्यन्त प्राचीन है। इस प्रकार ऋग्वेद ३.३४,९ में हमें भारत में बसे आर्यों की त्वचा के वर्ण के सम्बन्ध में यह कथन मिलता है : हत्वी दस्यून प्र आर्यं वर्णम् आवत्। "उसने दस्युओं का विनाश किया और आर्यों के वर्ण की रक्षा की।" और ऋग्वेद २.१२,४ में इसी शब्द का दस्यु जाति को व्यक्त करने के लिये व्यवहार किया गया है : यो दासं वर्णम् अधरं गुहा कः। "वह जिसने अधम दास वर्ण को गुहा में बसाया।" यद्यपि "वर्ण' शब्द, जिसका यहाँ व्यवहार किया गया है, बाद में जाति का द्योतक बन गया, तथापि यह मानने के लिये कुछ आधार हैं कि मूलतः काले रंगवाले मूलनिवासियों से आर्यों का विभेद करने के लिये इसका प्रयोग किया जाता था। किन्तु इस प्रकार के विभेदक शब्द द्वारा, यदि इसका आज व्यवहार किया जाय तो, उसका आधा अर्थ भी व्यक्त नहीं होगा जितना इसके उस समय व्यवहार से व्यक्त होता रहा होगा जब आर्यों ने सर्वप्रथम मूलनिवासियों का साक्षात्कर किया था, क्योंकि उस समय दोनों की त्वचा के रंगों में आज की अपेक्षा कहीं अधिक अन्तर था।"

फिर भी, उक्त मतों का अनेक विद्वानों ने, जैसे श्री जॉन क्राफर्ड, प्रो० हक्सले, तथा ऐसे अनेक अन्य जिनके नामों का बाद में उल्लेख किया जायगा,

---

लोगो की त्वचा का अत्यन्त सरलता से रग दब जाता है। भारत के ऐसे पोर्चुगीज़ जो भारतीयो की सन्तान हैं नीग्रो लोगो की भाँति काले हो गये है। दूसरी ओर पश्चिमी एशिया के वह लोग जो कई शताब्दियो से भारत मे रह रहे हैं, स्थानीय लोगो के साथ अन्तर्विवाह आदि के बिना भी उतने ही दबे पीले वर्ण के हो गये हैं जितने भारतीय होते हैं।" यहाँ यह देखा जा सकता है कि लासन आर्यो द्वारा अन्य लोगो के साथ अन्तर्विवाह का उल्लेख करते हैं जो उनकी दृष्टि से आर्यों के बाद के दबे वर्ण का कारण है। देखिये ए० डब्लू० फॉन श्लेगेल एसेज, पृ० ४६६ और बाद, और मूलर लास्ट रेज़ल्ट्स ऑफ सस्कृत रिसर्चेज़ जो बुनसेन के आउटलाइन्स ऑफ दि फिल० ऑफ युनि० हिस्ट्री, भाग ३, पृ० १२९ मे प्रकाशित हुआ था और बाद मे उनके चिप्स, १ ६३ और बाद, मे सम्मिलित हो गया। बुनसेन के उक्त ग्रन्थ मे प्रकाशित मूलर का लास्ट रेजल्ट्स ऑफ दि तूरानियन रिसर्चेज़, भी देखिये।

दैहिक आधारों पर विरोध किया है। इस प्रकार 'लैंग्वेज ऐज़ ए टेस्ट ऑफ दि रेमेज़ ऑफ मैन'[५१] में श्री क्राफर्ड ने इस प्रकार लिखा है "ध्वन्यात्मक प्रकृति, व्याकरणिक गठन और कुछ दशाओं में शब्दों तक में, भारत की दक्षिण की तो नहीं किन्तु उत्तर की कुछ भाषाओं और योरप की सभी तो नहीं किन्तु अधिकांश के बीच प्रायः साम्य लक्षित होता है। इस तथ्य के कारण कुछ जातिविज्ञानशास्त्रियों ने शीघ्रतापूर्वक यह निष्कर्ष निकाल लिया है कि पूर्वी तथा पाश्चात्य देशों के वे लोग जिनकी भाषाओं में इस प्रकार की समानता मिलती है, निश्चित रूप से एक ही रक्त के हैं, अर्थात्, दूसरे शब्दों में, दोनों ही योरोप के लोगों की भाँति श्वेतवर्णवाली जाति के लोग हैं। किन्तु हिन्दुओं जैसे काले आदमी न तो योरप में आज हैं और न इस बात की किसी परम्परा का ही अस्तित्व है कि ऐसी स्थिति पहले भी कभी थी। अतः जब इस तथ्य का पूरी तरह निर्णय किया जा चुका है कि न तो समय, न जलवायु, और न स्थान किसी जाति में कोई वास्तविक परिवर्तन कर सकते हैं, और इस प्रकार का तो कदापि नहीं कि किसी काले व्यक्ति को गोरा या गोरे को काला कर दें, तब हमें इसी अनिवार्य निष्कर्ष का आश्रय लेना चाहिये कि वह सिद्धान्त, जो, कम से कम इस दशा में, जाति और भाषा को समानार्थक मानता है, एक जातिवैज्ञानिक मिथ्यत्व मात्र है।" और इसी भाग में (पृ० ३३६ और बाद) यही लेखक एक अन्य लेख 'अर्ली माईग्रेशन ऑफ मैन' में उस मत का प्रतिवाद करते हैं जो "भारत और योरप के निवासियों को मध्य एशिया के किसी पठार से आकर बसा मानता है।" प्रो० क्राफर्ड ने मैक्समूलर के ऐसंलि०, पृ० १२, से एक स्थल उद्धृत किया है जिसमें इसी मत को ग्रहण किया गया है, और तदनन्तर यह टिप्पणी करते हैं : "अभी अभी उद्धृत स्थल में विकसित सम्पूर्ण सिद्धान्त भाषाविज्ञान पर ही आधारित है, और वह उन सुप्रमाणित दैहिक और बौद्धिक गुणों की उपेक्षा करता है जिन्होंने प्रामाणिक इतिहास के उषा काल से लेकर आज तक मनुष्यों की अनेक जातियों के विभेद का आधार प्रदान किया है।" आगे श्री क्राफर्ड पुनः इस प्रकार कहते हैं. "इस तथ्य के विपरीत भी, कि इतिहास में कोई भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जहाँ गोरा काला, अथवा गेहुयें रंग से ही गोरा या काला हो गया हो, उक्त लेखक ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है • ऐसा कहीं भी ज्ञात नहीं कि योरप में कभी कोई काली और भारत में कोई गोरी जाति रहती थी, अथवा उस कल्पित मूल जाति के अन्तर्गत ही गोरे और काले दोनों ही प्रकार के लोग

---

[५१] ट्राल०, १८६५, भाग ३, पृ० २ प्र।

थे।" फार्टनाइट्ली रिव्यू, न० ३, १५ जून १८६५, पृ० २५७ और बाद, में प्रकाशित एक लेख में प्रो० हक्सले जातिवैज्ञानिक विधियों और परिणामों का विवेचन करते हुये इस बात का अनुसन्धान करते हैं कि क्या प्राणिशास्त्र, अथवा भाषाविज्ञान, अथवा इतिहास, उन अनेक अन्य विधियों के (जिनका उन्होंने उल्लेख किया है) आधार पर जातिविज्ञान की किसी समस्या का कोई निर्धारण कर सकते हैं। भाषाविज्ञान की ओर से प्रस्तुत किये गये आधारों का उल्लेख करने के बाद स्व० श्लीचर[60] के एक लेख से, जिसमें इस लेखक ने यह माना है कि भाषा का एक स्वाभाविक वर्गीकरण मानव जाति का भी एक स्वाभाविक वर्गीकरण है, उद्धरण देकर प्रो० हक्सले (पृ० २६०) यह टिप्पणी करते हैं: "जातिविज्ञान के सहायक के रूप में भाषाविज्ञान के महत्त्व की किसी प्रकार की उपेक्षा करने की इच्छा के बिना ही, मैं रुडोल्फी, डेस्मोलिन्स, क्राफर्ड, तथा अन्य से कुछ सहमत होते हुए भी यह कहने का साहस करता हूँ कि इस विषय में भाषाविज्ञान के महत्त्व का प्रतिपादन करनेवाले जिन लेखकों को मैंने ऊपर उद्धृत किया है उनसे मैं असहमत हूँ। इसके विपरीत मुझे यह सत्य स्पष्ट प्रतीत होता है कि, यद्यपि भाषाओं की एकता उन भाषाओं को बोलनेवाले लोगों की जातिगत एकता के पक्ष में एक मत स्थापित करने का कुछ आधार प्रदान कर सकती है, तथापि इसे उस समय तक जातिगत एकता का प्रमाण नहीं माना जा सकता जब तक भाषावैज्ञानिक यह न दिखा दे कि भाषा के परिवर्तन के साथ रक्त में परिवर्तन हुये बिना कोई भी राष्ट्र अपनी भाषा को छोड़ कर दूसरे राष्ट्र की भाषा को ग्रहण नहीं कर सकता।" और पृ० २६२ आप इस प्रकार लिखते हैं: "अन्ततः हम, इस प्रकार, विशुद्ध प्राणिशास्त्रीय विधि पर आते हैं जिससे किसी अन्य विधि की ही भाँति यह आशा करना अस्वाभाविक नहीं है कि जातिविज्ञान की समस्यायें वही हैं जो अनेक प्रकार के प्राणियों का अध्ययन करते समय प्राणिवैज्ञानिक के समक्ष उपस्थित होती हैं।" इसी लेख के एक बाद के स्थल (पृ० २७६ और बाद) पर यही लेखक, इस मत का कि "इस प्रकार आ कर बसे लोगों को प्रभावित करनेवाली जलवायु तथा अन्य अवस्थायें मानवजाति की समस्त विभिन्नताओं का समाधान करने के लिये पर्याप्त हैं", उद्धरण देते हुए इस प्रकार कहते है: "इस अपवाद के कि गोरा योरपवासी प्रखर सूर्य के ताप से गेहुँयें रंग का हो जाता है, अतिरिक्त यह मत कभी भी सर्वमान्य नहीं हुआ।" इसी विचार में आप इतना और जोड़ देते हैं: "किन्तु मुझे यह ज्ञात नहीं कि इस बात में सत्यता का

---

[60] उमेद्, १८५८।

कण है कि इस प्रकार उत्पन्न त्वचीय परिवर्तन वंशानुगत भी हो सकते हैं—वैसे ही जैसे हमारे देशवासियों की भारत में रहने से यदि यकृतवृद्धि हो भी जाय तो यह वंशानुगत नहीं हो सकती; जब कि इनके वंशानुगत न होने के पक्ष में शक्तिशाली प्रमाण भी उपलब्ध हैं। वास्तव में वर्वोडास में ऐसे अंग्रेज़ परिवारों के उदाहरण मिलते हैं जिनका वर्ण छः पीढ़ियों मे वहाँ रहते हुये भी परिवर्तित नहीं हुआ। इन स्पष्ट तथ्यों का, जलवायु आदि के प्रभाव का प्रतिपादन करनेवालों ने, कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दिया है। और मस्तिष्क के गठन तथा खोपड़ी के आकार में लक्षित होनेवाले और भी अधिक महत्त्वपूर्ण अन्तरों के सम्बन्ध मे किसी ने भी कभी यह दिखाने का प्रयास नहीं किया कि ये भी जलवायु से किस प्रकार प्रत्यक्ष प्रभावित होते हैं।"

एक भाषण[६१] में, जो बाद में १७ मार्च, सन् १८७० के 'नेचर' में प्रकाशित हो गया, प्रो० हक्सले ने भी इस मत के कि जलवायु का त्वचा के वर्ण पर प्रभाव पड़ता है, विरुद्ध इन शब्दों में अपना मत व्यक्त किया है: "गोरी और काली जातियों के एकमात्र वितरण में जलवायुजन्य प्रभावों के महत्त्व को किसी भी प्रकार स्वीकार करने का कोई आधार नहीं है। न केवल गोरे जर्मन ब्लैक-फॉरेस्टर्स से पाँच छः डिगरी और उत्तर में स्कॉच पठारों पर काले केल्टिक भाषी ही निवास करते हैं, वरन् योरप के समस्त गोरे लोगों के उत्तर में एक ऐसी जाति के लोग निवास करते हैं जिनके गुण ब्रिटेन के काले लोगों से सर्वथा भिन्न हैं किन्तु जिनके बाल काले, आँखें भी काली, तथा त्वचा का रंग कुछ मटमैला पीला है।"

उक्त लेखों में से किसी में भी डा० हक्सले ने संस्कृत-भाषी भारतीयों की उत्पत्ति से सम्बद्ध प्रश्न का कोई विशेष उल्लेख नहीं किया है, किन्तु 'नेचर' में हमें यह स्थल मिलता है जहाँ आपने आर्यों के भारत में आकर बसने और यहाँ पहले से बसी जातियों में विलीन हो जाने का ऐसा उल्लेख किया है जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आप उत्तर-भारत के उच्चवर्गीय हिन्दुओं को अंशतः आर्य, और इनके कुछ दबे रंग को इनके पूर्वजों द्वारा भारत में बसी पहले की जातियों के साथ अन्तर्विवाह का परिणाम मानते हैं। आपका कथन इस प्रकार है: "अतः इस बात पर कोई सन्देह नहीं किया जा सकता कि इन (अर्थात् ब्रिटिश) द्वीपों की केल्टिक-भाषी जनसंख्या का गोरा तत्त्व लगभग १,९०० वर्ष पूर्व केवल उस विपद् जाति का पश्चिमी छोर।मात्र था जिसके निवास को मध्य एशिय में ढूँढा जा सकता है और प्राचीन काल में जिसके चीन

---

[६१] ऑन दि फोरफादर्स ऑफ इङ्गलिश पीपुल।

की सरहदों के निकट निवास करने के तथ्य की चीनी इतिहासकारों के विवरणों से पुष्टि होती है। मध्य एशिय के सम्पूर्ण भूभाग में इस जाति के लोग आर्य भाषायें बोलते हैं—अर्थात् उसी परिवार की भाषायें जिसकी प्राचीन पर्शियन अथवा ज़ेण्ड और संस्कृत सदस्य हैं। और इस जाति के लोग एक ओर आज भी अफग़ानों, पर्शिया के सीमावर्ती सियाहपोशों, तथा दूसरी ओर हिन्दुस्तान में वितरित मिलते हैं। किन्तु प्राचीन संस्कृत साहित्य यह सिद्ध करता है कि भारत की आर्य जाति यहाँ लगभग ३,००० वर्ष पूर्व उत्तर-पश्चिम से आकर बसी थी। वेदों में भी इस जाति के चरित्र को इस प्रकार व्यक्त किया गया है जो गॉलों, जर्मनों अथवा गॉथों, सभी के लिये सत्य हो सकता है। दुर्भाग्यवश इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि ये लोग भूरे बालोंवाले थे या काले। भारत में पहले से ही बहुत कुछ आस्ट्रेलियनों की ही भाँति काली जाति के लोग बसे हुये थे जिनकी भाषायें द्रविड़ परिवार के अन्तर्गत आती हैं। इन लोगों की उत्तरी सीमा हिमालय द्वारा रक्षित थी, किन्तु आर्य लोग मध्य एशिया से हिमालय के रास्ते ही आकर सिन्धु और गङ्गा की महान् घाटियों में बसे जहाँ ये प्रमुखतः मूलरूप से निवास कर रही जातियों में विलीन हो गये। इनके आकर बसने के प्रमाण अब इनके द्वारा यहाँ की जाति में उत्पन्न किये गये परिवर्तन, तथा यहाँ की भाषा और साहित्य पर प्रभाव के रूप में ही उपलब्ध हैं।"

अब मैं इस विषय पर अमेरिका के एक प्रख्यात भाषावैज्ञानिक और प्राच्यविद् के कुछ मत दे रहा हूँ जो नॉर्थ अमेरिका रिव्यू, नं० २१७, अक्तूबर १८६७, पृ० ५५२ और बाद, में प्रकाशित हुआ है। श्री एम० ओपर्ट के मत के विरुद्ध यह कहते हुये कि "भारोपीय भाषा की सीमायें बहुत कुछ एक जाति के देशान्तरगमन और विस्तार द्वारा निर्धारित है" आप इतना और जोड़ देते हैं: "निःसन्देह प्रत्येक गम्भीर और सतर्क भाषावैज्ञानिक इस बात से अवगत है कि भाषा वंशानुक्रम का सार्वभौम प्रमाण नहीं है। इससे इस बात का कुछ सम्भाव्य संकेत मात्र ही मिलता है। अतः आज की बोलियों में वह उन्हें बोलने-वाले लोगों में हुये अन्तर्मिश्रणों का स्पष्ट और निर्विवाद प्रमाण खोज पाने की आशा नहीं करता। एक सर्वथा शुद्ध और अमिश्रित जाति जैसी कोई वस्तु सम्पूर्ण एशिया और योरप में कहीं भी नहीं मिलती। यहाँ की सक्रिय और भ्रमणशील जातियाँ अनेक युगों से एक दूसरों को हटाती-बढ़ाती तथा स्थानान्तरित तक करती रही है। और विशेषरूप से भारोपीय जाति के समान एक विस्तृत नस्ल के लोगों की दशा में, जो एक केन्द्रीय देश से निकल कर इतने दूर-दूर के ऐसे प्रदेशों में बस गये जो पहले से निर्जन नहीं थे, विदेशी लोगों

का विलीनीकरण, निष्कासन, और उन्मूलन अवश्य हुआ होगा। इस बढ़ती हुई जाति ने समय-समय पर अपने मार्ग में मिलनेवाली मूल जातियों को अपने में मिला लिया होगा, और इस प्रकार के क्रमिक विलीनीकरण के कारण इन मूलजातियों की जातीय प्रकृति पर्याप्त अंशों तक परिवर्तित हो गई होगी। फिर भी, ये सब इस जाति से सम्बद्ध केवल सामान्य सम्भाव्यनायें मात्र हैं : हम इन अनिर्धारित वक्तव्यों से कितना और आगे बढ़ सकते हैं यह अभी अत्यन्त अनिश्चित है", इत्यादि।

इन सभी तर्कों तथा विवेचनों से जो निष्कर्ष निकाला जा सकता है वह यही प्रतीत होता है कि मूल संस्कृत-भाषी भारतीय उसी जाति के लोग थे जिसके ईरानियन, यूनानी और रोमन थे, यद्यपि पंजाब में आने के पूर्व, और बहुत सम्भवतः कुछ समय बाद तक भी ये और इनके वंशज विदेशी रक्त के मिश्रण से सर्वथा मुक्त नहीं रहे थे।

खण्ड ५—विशेष रूप से भारतीयों तथा पर्शियनों की एक ही स्रोत से उत्पत्ति की कल्पना के आधार

अब मैं उन विभिन्न आधारों का संकेत करूँगा जिनके द्वारा हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भारतीय और पर्शियन अथवा ईरानियन, न केवल एक स्रोत से उद्भूत हैं वरन् ये उस समय तक भी एक ही समुदाय के रूप में रहते थे जब इनकी अन्य सजातीय जातियाँ इनसे पृथक् होकर दूरस्थ देशों में बसने के लिये चली गईं।

प्रथम प्रमाण, जैसा कि हम देख चुके हैं, प्राचीन पर्शियनों[६२] की भाषा, ज़ेण्ड, तथा संस्कृत के बीच घनिष्ठतर साम्य है। गत खण्ड २ में दिये गये धातुओं और शब्दरूपों के साम्य के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि सम्पूर्ण रूप से ज़ेण्ड का संस्कृत से उससे कहीं अधिक निकट साम्य है जितना यूनानी अथवा रोमन का सस्कृत से मिलता है। यह सत्य है कि समानान्तर शब्दों की उक्त तालिकाओं में समानान्तर ज़ेण्ड शब्दों को अक्सर छोड़ दिया गया है जब कि यूनानी और लैटिन शब्दों को दिया गया है किन्तु इसका कारण यह नहीं है कि ज़ेण्ड रूपों का अस्तित्व ही नहीं है, बल्कि यह कि या तो ज़ेण्ड

---

[६२] विभिन्न प्राचीन ईरानियन बोलियो के विवरणो के लिये देखिये स्पीगल को, कुन और श्लीचर के बी०, २६ और बाद, और परिशिष्ट की टिप्पणी "D' मे।

रूप किसी विद्यमान ज़ेण्ड ग्रन्थ में खोजे नहीं जा सके है, अथवा वे मुझे सरलता से उपलब्ध नहीं हो सके हैं। किन्तु जिन ज़ेण्ड शब्दों को प्रस्तुत किया गया है वे, जितने समकक्ष यूनानी अथवा लैटिन है, उससे कहीं अधिक संस्कृत के निकट मिलेंगे। नीचे मैं जेण्ड और संस्कृत के ऐसे शब्दों की सूची प्रस्तुत कर रहा हूँ जिनके समकक्ष या तो यूनानी और लैटिन शब्द मिलते ही नहीं, अथवा संस्कृत के साथ ज़ेण्ड का जितना साम्य है उसकी अपेक्षा ये संस्कृत से अधिक दूर हैं। यह सूची, जिसमें कुछ शब्दों को पुनः दोहराया गया है, इस प्रकार है :—

संस्कृत	ज़ेण्ड	अँग्रेज़ी	संस्कृत	ज़ेण्ड	अँग्रेज़ी
येभ्यस	यएइब्यो	टु हूम	अप्	अप	वाटर
यदि[६३]	येधि, येज़ि	इफ	सुभद्र	हुफेध्रि	वेरी गुड
मिथुन	मिथ्वन्	ए पेयर	तुर्य	तूइर्य	फोर्थ
गिरिभ्यत्	गैरिब्यो	टु हिल्स	त्रितय	थ्रित्व	थ्री
उक्त	आओख्त	स्पोकेन	चतुष्टय	चथ्रुषु	फोर
स्त्री	स्त्रि	वूमन	अथर्वाणम्	आथ्रवनेम	प्रीस्ट
अन्तर	अन्तरे	विदिन	अस्मै	अह्माइ	टु हिम
दातारम्	दातेरेम	गिवर	स्वर्	ह्वरे	हेवेन
गौः	गाउस	काउ	स्व	ह्व	ओन
कस, का,	को, का,	हू	जिह्वा	हिज्व	टङ्ग
किम्	कत्[६४]		सहस्र	हज़र	थाउज़ेण्ड
क्व	क्व	व्हेयर ?	महान्तम्	मज़ाओन्तेम	ग्रेट
घर्म	गरेम[६५]	वार्म	यूयम्	यूज़्हेम	यू
वृत्रहन्	वेरेथ्रजन	स्लेयर आफ एनीमीज़	वारि	वैरि	सी वाटर
			तनु	तनु	बॉडी
वृत्रघ्न	वेरेथ्रघ्न्य	,,	शयानम्	शयनेम	स्लीपिङ्ग
मन्त्र	मथ्र	हिम	सप्त सिन्धवस्	हप्त हिन्दु	कन्ट्री आफ सेवेन रिवर्स
पाद	पाध	फ़ूट			
पदानाम्	पाधनंम्	फ़ीट	आर्य	ऐर्य	रेस्पेक्टेबल

---

[६३] यूनानी मे 'एइ', लैटिन मे 'सि'।

[६४] लैटिन मे 'क्विस', 'काये', 'कोउ'।

[६५] यूनानी मे 'थर्मोस'।

संस्कृत	ज़ेण्ड	अँग्रेजी
सोम	होम	मून प्लान्ट
अन्य	अन्य	अदर
विश्व	वीश्प	ऑल
सर्व	हौर्व	,,
उपम	उपम	हाइएस्ट
उग्र	उग्र	वेहेमेन्ट
तरुण	तौरुन	टेण्डर
सव्य	हव्य	लेफ्ट
रजिष्ठ	रज़िस्त	मोस्ट स्ट्रेट
दूर	दूर	फार
नेदिष्ट	नज़्दिस्त	नीयर
प्रथम	फ्रतेम	फर्स्ट
अग्र	अग्र	,,
पूर्व	पौर्व	फॉर्मर
श्याव	श्याव	ब्लैक
कृश	केरेश	लीन
सकृत्	हकेरेत	वन्स
आविस्	आविष	मेनिफेस्ट
यम	येम	ट्विन
अन्ध	अन्दाओ	ब्लाइण्ड
अन्तिम	अन्तेम	लास्ट
एष	अएष	दिस
अत्र	अथ्र	हीयर
अधर	अधर	लोवर
अर्वन्	और्वन्त	हॉर्स
स्पश्	स्पश्	स्पाई
दृष्टि	दर्स्ति	व्यू
स्तुति	स्तूइति	प्रेज़
स्थूण	स्तून	पिलर
रथ	रथ	चैरियट
गाथा	गाथ	वर्स
पितु	पितु	फूड

संस्कृत	ज़ेण्ड	अँग्रेजी
रै	राइ	वेल्थ
हिरण्य	ज़रण्य	गोल्ड
पेशस	पएशह	फॉर्म
अह्नन्	अज़न	डे
शरद्	शरेध	ऑटम
अस्त	अस्त	हाउस
क्षय	ख्षय	,,
अङ्गुष्ठ	अन्गुस्त	थम्ब
वन	वन	फॉरेस्ट
कश्यप	कश्यप	टॉर्टाएज़
तमस्	तेमह	डार्कनेस
भूमी	बूमि	अर्थ
मेष	मएष	शीप
वराह	वराज़	बोर
उक्षन्	उख्षन	बुल
क्षीर	ख्षीर	मिल्क
इषु	इषु	ऐरो
धन्वन्	थन्वन	बाउ
भाग	बाग	लॉट
भक्त	बख्त	एलॉटेड, फेट
सखि	हखि	फ्रेण्ड
ओजस्	अओजंह	विगर
क्षत्र	ख्षथ्र	रॉएल्टी
वश	वशंह	पावर
कृष्टि	कर्स्ति	कल्टीवेशन
प्रश्न	फ्रश्न	क्वेश्चन
पार्ष्णि	पाश्न	हील
दस्त	ज़स्त	हैण्ड
मुष्टि	मुस्ति	फिस्ट
ग्रीवा	ग्रीव	नेक
पांशु	पांसु	डस्ट

संस्कृत	ज़ेण्ड	अँग्रेज़ी	संस्कृत	ज़ेण्ड	अँग्रेज़ी
पशु	पेरेशु	रिब	अमृत	अमेरेताट	इम्मॉर्टैलिटी
मत्स्य	मश्य	फिश	धान्य	दान	ग्रेन
पर्ण	परेन	फेदर	विश्	वीश्	पीपुल
पर्णिन्	पेरेनिन्	बर्ड	तायु	तायु	थीफ
चर्मन्	चरेमन	हाइड	गर्भ	गरेव	फीटस
अश्रु	अश्रु	टीयर	पुत्र	पुथ्र	सन
अंश	आश	पार्ट	अन्त	अन्त	एण्ड
वक्षथ	वख्षथ	इन्क्रीज़	क्षुधा	शुध	हङ्गर
यक्ष्म	यश्क	कंज़म्प्शन	गिरि	गैरि	माउण्टेन
अध्वन्	अध्वन्	रोड	पर्वत	पौर्वत	,,
अर्थ	अरेथ	ऑब्जेक्ट	विष	विस्, विष	पॉएज़न
अनर्थ	अनरेथ	यूज़लेस	कन्या	कन्य	डैमसेल
व्यर्थ	व्यरेथ	वेन			

२—क्रियार्थक धातुयें और रूप

संस्कृत	ज़ेण्ड	अँग्रेज़ी	संस्कृत	ज़ेण्ड	अँग्रेज़ी
राज्	राज़	टु शाइन	चि	चि	टु गैदर
जुष्	ज़ुष	टु लव	चि + वि	चिं + वि	टु डिस्टिंग्विश
रुद्	रुद	टु वीप	द्रु	द्रु	टु रन
रुह्[६६]	रुद	टु ग्रो	रम्	रम	टु रेस्ट
रुध्	रुद	टु स्टॉप	गर्(गिरति)	गर	टु स्वालो
इध्	इद्	टु किन्डिल	गर्(गृणाति)	गर्	टु प्रेज़
शुच्	शुच	टु ग्लो	गर्(जागर्ति)	गर्	टु अवेक
धर्ष्	दरेष	टु डेअर	शिक्ष्	शख्ष	टु लर्न
मुच्	मुच	टु लूज़	नी	नी	टु लीड
मुह्[६७]	मुघ	टु बिविल्डर	वर्	वर	टु कवर
वन्	वन	टु लव	गम्	गम्	टु गो
वन्	वन	टु स्माइट	नम्	नम्	टु बेण्ड
गा	गा	टु सिङ्ग	खन्	कन्	टु डिग

---

६६ सम्भवतः एक मूलरूप 'रुध्' से कोमल किया हुआ।

६७ सम्भवत एक मूलरूप 'मुघ्' से।

[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	अंग्रेज़ी
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	टु [illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	टु [illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	टु [illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	टु [illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	टु [illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	टु [illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	टु [illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible], [illegible]	टु [illegible]

[illegible]	[illegible]	अंग्रेज़ी
[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	टु [illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	
[illegible]	[illegible]	टु [illegible]
[illegible]	[illegible]	टु [illegible]
[illegible]	[illegible]	टु [illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]

[illegible]

संस्कृत	ज़ेण्ड	अँग्रेज़ी
भवन्ति	ववन्ति, ववैन्ति	दे आर
भविष्यन्तम्	बूष्यन्तेम	एबाउट टु बी
ददाति	दधैति	ही गिव्स
ददामि	दधामि	आइ गिव्
दद्मसि	ददेमहि	वी गिव्
तापयति	तापयेइति	ही वार्म्स
आतापयति	आतापयेइति	ही लाइट्स
प्रदेशयेयम्	फ्रादएशएम	मे आइ एन्ज्वाइन
जग्मुषीम्	जध्मूषीम्	
स्तौति	श्तओइति	ही प्रेज़ेज़
स्तौमि	श्तओमि	आइ प्रेज़
स्तुधि	(अवि) श्तूइधि	प्रेज़ दाउ
अस्तौत्	श्तओट	ही प्रेज्ड
हन्ति	जैन्ति	ही किल्स
हन्तु	जन्तु	लेट हिम किल
यज्	यज़	टु सैक्रीफाइस
यजते	यज़ैते	ही सैक्रीफाइससेज़
यजामहे	यजमैदे	वी सैक्रीफाइस
यजन्ते	यज़ेन्ते	दे सैक्रीफाइस
प्रीणामि	आफ्रीनामि	आइ लव्
प्रीणीमसि	फ्रीनामहि	वी लव्
वेद	वएदा	आइ नो
वेद	वएदा, वएध	ही नोज़
वेत्थ	वोइश्ता	दाउ नोएस्ट
विद्यात्	वीद्यात्	ही मे नो
विद्वान्	वीद्वाओ	नोइङ्ग
विन्दन्ति	विन्देन्ति	दे फाइण्ड
अवामि	अवामि	आइ प्रोटेक्ट
क्षयसि	ख्षयेहि	दाउ रूलेस्ट
वष्टि	वस्ति	ही डिज़ायर्स
अस्मि	अह्मि	आइ ऐम
असि	अहि	दाउ आर्ट

संस्कृत	ज़ेण्ड	अँग्रेजी	संस्कृत	ज़ेण्ड	अँग्रेज़ी
द्रुह्	द्रुज	लाइ	स्था + उत्	श्ता + उश्	टु राइज़
पश्	पस	टु बाइण्ड	कर्त्	करेट	टु कट
द्विष्	द्विष	टु हेट	दा	दा	टु कट
धन्	द्वान्	टु साउण्ड	जर्	ज़र	टु ग्रो ओल्ड
इष्	इष	टु विश	जि	जि	टु काङ्कर
कम्	कम	टु डिज़ायर	भी	वी	टु फीयर
सु	हु	टुब्रिङ्ग फोर्थ	कर्ष	करेष	टु ड्रॉ
स्मर्	मर	टु रेमेम्बर	भज्	वज़, वख्ष	टु डिवाइड

संस्कृत	ज़ेण्ड	अँग्रेज़ी
पा	पा	टु प्रोटेक्ट
पातर्	पातर	प्रोटेक्टर
त्रा	थ्रा	टु डिलीवर
त्रातर्	थ्रातर्	डेलिवरर
उष् दह्	उष दज़	टु बर्न
ईश्	ईश	टु बी पावरफुल
बन्ध्	बन्द	टु बाइण्ड
बध्नामि	बन्दामि	आइ बाइण्ड
ददर्श	दादरेस	आइ सॉ
वहामि	वज़ामि	आइ कैरी
वहति	वज़ैति	ही कैरीज़
वहन्ति	वज़ेन्ति	दे कैरी[१८]
वहन्तः	वज़ेन्तो	कैरीइङ्ग
भरति	बरैति	ही कैरीज़
भरन्ति	बरेन्ति	दे कैरी
प्रचरति	फ्रचरैति	ही गोज़
विचरन्ति	वीचरेन्ति	दे रोम
भवति	बवैति	ही इज़

---

१८ युस्टि के कोश में वस्या० 'वज़', के अन्तर्गत मुझे एक रूप 'वज़्याइ' मिला है जो वैदिक संस्कृत रूप 'वह्यै' के प्रायः समान होगा। किन्तु यह तब होगा जब हम 'वह्' को धातु मानें, किन्तु ऐसा है नहीं।

संस्कृत	ज़ेण्ड	अँग्रेज़ी
भवन्ति	बवन्ति, ववैन्ति	दे आर
भविष्यन्तम्	बूष्यन्तेम	एबाउट टु बी
ददाति	दधैति	ही गिव्स
ददामि	दधामि	आइ गिव्
दद्मसि	ददेमहि	वी गिव्
तापयति	तापयेइति	ही वार्म्स
आतापयति	आतापयेइति	ही लाट्स
प्रदेशयेयम्	फ्रादएशएम	मे आइ एन्ज्वाइन
जग्मुपीम्	जघ्मूपीम्	
स्तैति	श्तओइति	ही प्रेज़ेज़
स्तौमि	श्तओमि	आइ प्रेज़
स्तुधि	(अवि) श्तूइधि	प्रेज़ दाउ
अस्तौत्	श्तओट	ही प्रेज्ड
हन्ति	जैन्ति	ही किल्स
हन्तु	जन्तु	लेट हिम किल
यज्	यज़	टु सैक्रीफाइस
यजते	यज़ैते	ही सैक्रीफाइससेज़
यजामहे	यज़मैदे	वी सैक्रीफाइस
यजन्ते	यज़ेन्ते	दे सैक्रीफाइस
प्रीणामि	आफ्रीनामि	आइ लव्
प्रीणीमसि	फ्रीनामहि	वी लव्
वेद	वएदा	आइ नो
वेद	वएदा, वएध	ही नोज़
वेत्थ	वोइश्ता	दाउ नोएस्ट
विद्यात्	वीद्यात्	ही मे नो
विद्वान्	वीद्वाओ	नोइङ्ग
विन्दन्ति	विन्देन्ति	दे फाइण्ड
अवामि	अवामि	आइ प्रोटेक्ट
क्षयसि	ख्षयेहि	दाउ रूलेस्ट
वष्टि	वस्ति	ही डिज़ायर्स
अस्मि	अह्मि	आइ ऐम
असि	अहि	दाउ आर्ट

संस्कृत	ज़ेण्ड	अंग्रेज़ी
अस्ति	अश्ति	ही इज़
सन्ति	हेन्ति	दे आर
अस्तु[६९]	अश्तु	लेट हिम बी
सन्तु	हेन्तू	लेट देम बी
सन्तम्	हेन्तेम	बीइङ्ग
सन्तः	हेन्तो	बीइङ्ग
कृणोमि	केरेनओमि	आइ डू
कृणोषि	केरेनूइषि	दाउ डोस्ट
कृणोति	केरेनओइति	ही डज़
कृण्वन्ति	केरेन्वैन्ति	दे डू
कृण्णवानि	केरेनवानि	मे आइ डू
कृणुहि	केरेनूइधि	डू दाउ
अकृणोत्	केरेनओत	ही डिड

ऊपर की तालिका की, पृ० २८९ और बाद, तथा ३०५ और बाद, पर दी गई संस्कृत, ज़ेण्ड, यूनानी और लैटिन तथा संस्कृत और पर्शियन शब्दों की तुलनात्मक तालिकाओं से तुलना कीजिये। पृ० २८९ और बाद, की तालिका में अनेक पर्शियन शब्द ऐसे मिलेंगे जो रूप की दृष्टि से उसी अर्थवाले संस्कृत शब्दों के समान हैं, जब कि दूसरी ओर अनेक उदाहरण ऐसे मिलेंगे जहाँ यूनानी अथवा लैटिन शब्दों का उन्हीं अर्थोंवाले संस्कृत शब्दों के साथ आशय अथवा रूप की दृष्टि से कोई साम्य नहीं है। अब, यदि अनेक शताब्दियों के दीर्घकालीन सतत् परिवर्तनात्मक प्रभाव के विपरीत भी आधुनिक पर्शियन तक में ऐसे शब्दों की पर्याप्त संख्या उपलब्ध है जिनका संस्कृत के साथ घनिष्ट साम्य मिलता है, तो हम सरलता से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि स्वयं ज़ेण्ड में, जो आरम्भिक पर्शियन का एक रूप है (यही वह प्राचीन माध्यम, अथवा प्राचीन माध्यम से सम्बद्ध है[७०], जिससे आधुनिक पर्शियन ने उन सब

---

[६९] यूनानी 'एस्तो'।

[७०] मुझे प्रो० फर्ने से जाति की प्राचीनता सम्बन्धी लीडन के एक शोध-निबन्ध का पता लगा है जिसमें उन्होंने यह दिखाया है कि "नवीन पर्शियन 'ओमेनिदे' के प्राचीन-पर्शियन से सीधे उद्भूत नहीं है, बल्कि यह एक ऐसी बोली है जिसको पश्चिमी तथा पूर्वी ईरानी भाषाओं में स्थान दिया जा

आर्य शब्दों को ग्रहण किया जो आज उसमें उपलब्ध हैं) संस्कृत के साथ कहीं अधिक साम्य रखनेवाले शब्दों की बहुलता रही होगी, चाहे ऐसे शब्दों में से अधिकांश को विद्यमान ज़ेण्ड ग्रन्थों में ढूँढ़ा न जा सके।

इन दृष्टिकोणों की प्रो० मूलर (लास्ट रेज़ल्ट्स ऑफ दि पर्शियन रिसर्चेज़, पृ० १११–११२) की निम्नलिखित टिप्पणी से पुष्टि होती है :—

'बॉप के तुलनात्मक व्याकरण, और उनके (एम० ई० बर्नफ के) मतों से यह स्पष्ट है कि किसी भी अन्य भारोपीय भाषा की अपेक्षा, व्याकरण और आशय दोनों ही दृष्टियों से ज़ेण्ड का संस्कृत से कहीं अधिक साम्य मिलता है। अनेक ज़ेण्ड शब्दों का संस्कृत में केवल ज़ेण्ड रूपों को संस्कृत में परिवर्तित मात्र कर देने से अनुवाद हो जाता है।···जहाँ शब्दों और व्याकरणिक विशेषताओं की दृष्टि से संस्कृत का आर्य परिवार की उत्तरी शाखा की सदस्य भाषाओं के साथ अन्तर मिलता है, वहाँ भी अक्सर इसका ज़ेण्ड से साम्य है। १०० तक की संख्यायें इन सभी भाषाओं में समान हैं। फिर भी 'सहस्र' शब्द केवल संस्कृत में ही प्रयुक्त होता है, और ज़ेण्ड को छोड़कर, जहाँ यह 'हजन्न' हो जाता है, किसी भी अन्य भारोपीय बोली में नहीं आता। ये तथ्य एतिहासिक अर्थ से परिपूर्ण हैं; और ज़ेण्ड तथा संस्कृत के विषय में ये यह सिद्ध करते हैं कि मूल भारोपीय स्वरूप से पृथक् होने के बाद भी ये दोनों भाषायें बहुत समय तक एक साथ ही विद्यमान रहीं।"

मैं जिस मान्यता को प्रमाणित कर रहा हूँ उसकी पुष्टि में द्वितीय तर्क यह है कि दोनों सम्बद्ध राष्ट्र, अर्थात् भारतीय तथा पर्शियन, अपने आरम्भिकतम लिखित ग्रन्थों में अपने लिये एक ही नाम, 'आर्य, का व्यवहार करते हैं।

मैं पहले ही दिखा चुका हूँ कि वेद सभी भारतीय ग्रन्थों में से प्राचीन है। अतः यह न केवल भारतीयों की प्राचीनतम भाषा के विषय में सर्वाधिक प्रामाणिक स्रोत है, वरन् इस बात की प्रत्येक सम्भावना है कि इनमें उनके आरम्भिक इतिहास के उससे कहीं अधिक स्पष्ट तथा यथातथ्य चिह्न सुरक्षित हैं, जितने हमें उन शास्त्रों में मिलते हैं जिनकी रचना एक ऐसे बाद के समय में हुई जब इस जाति की उत्पत्ति-सम्बन्धी सर्वाधिक प्रामाणिक परम्परायें अवरुद्ध या भ्रष्ट हो चुकी थीं। इस प्रकार, अन्य किसी भी भारतीय रचना की अपेक्षा वैदिक सूक्तों से यह कहीं अधिक स्पष्टता से व्यक्त होता है कि हिन्दुओं के पूर्वजों को मूलतः आर्य कहा जाता था। भारतीयों (उन दस्युओं के विपरीत जो

सकता है।" किन्तु डा० कर्न ने यह सूचना नहीं दी कि लीडेन का यह लेख कहाँ मिल सकता है।

एक भिन्न जाति के, तथा आर्यों के पहले से भारत में वसे प्रतीत होते हैं) में से उच्च वर्गों के पूर्वजों के लिये 'आर्य' शब्द का वेद के इन स्थलों पर उल्लेख मिलता है : ऋग्वेद १.१५,८ "आर्यो और दस्युओं में विभेद करो, उनको दण्डित करो जो यज्ञादि नहीं करते; ऐसों को होता के अधीन करो।" ऋग्वेद १.१०३,३ : "वज्रहस्त इन्द्र, दैत्यों पर वज्र फेको और आर्यों की शक्ति तथा वैभव में वृद्धि करो।"[७१]

अतः इस 'आर्य' शब्द से हम आरम्भिक हिन्दुओं को आरम्भिक पर्शियनों से सम्बद्ध कर सकते हैं। क्योंकि, प्रथमतः, ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन समयों में 'मेडियन' भी (जिन्हें अन्ततः पर्शियनों के साथ एक ही साम्राज्य के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया गया था)[७२] आर्य ही कहे जाते थे। यह वात उस प्राचीन यूनानी इतिहासकार, हेरोडोटस, के निम्न स्थल से स्पष्ट है जिसने यूनानियों और पर्शियनो के युद्धों का वर्णन किया है। उनके इतिहास के सातवें खण्ड के ६२ वें अध्याय में यह कथन मिलता है :—"इन्हें (मेडियन को) पहले सभी आर्य कहते थे, किन्तु जव कोल्चियन मेडिया एथेन्स से आर्यों के वीच आ गये तव इन लोगों ने भी अपना नाम परिवर्तित कर लिया। अपने

[७१] इन स्थलो तथा अनेक अन्य समान के मूल स्थलो को आगे उद्धृत किया गया है।

[७२] मेडियनो तथा पर्शियनो के परस्पर सम्वन्ध के विषय पर श्री रालिन्सन ने अपते हेरोडटस, १, पृ० ४०१ मे इस प्रकार मत व्यक्त किया है — "मेडियन लोग महान् आर्य परिवार की ही एक शाखा हैं, तथा इसी परिवार के एक अन्य सदस्य, पर्शियनो, के साथ भाषा और धर्म के क्षेत्र मे इनका घनिष्ट सम्वन्ध था। इस वात को सामान्य रूप से सभी स्वीकार करते हैं। मूलरूप से मेडियन कहे जानेवाले लोगो के, और उन पर्शियनो की परम्पराओ के सम्वन्ध मे, जो इनके पूर्वज अरिआ से लाये थे, हेरोडोटस का वक्तव्य मात्र, सम्भवतः इन दोनो के जातीय सम्वन्ध की स्थापना के लिये पर्याप्त है। फिर भी, अन्य प्रमाणो का भी अभाव नही है। आर्मेनियन लेखको ने भी मेडियनो को सदैव ही आर्य ही कहा है। डेरिअस हिस्टेस्पीज़ ने भी अपने मकवरे के अभिलेख मे अपने को 'एक पर्शियन, पर्शियन का पुत्र, और आर्यवंशज कहा है।' इस प्रकार, ऐसा प्रतीत होता है कि जातीयतावोधक आर्य शव्द इन दोनो ही राष्ट्रो के लिये समान रूप से व्यवहृत होता था; और इस वात का विश्वास करने के लिये भी पर्याप्त आधार है कि दोनो की भाषा तथा धर्म मे प्रायः तादात्म्य था।"

सम्बन्ध में मेडियनों का यही कहना है।" इसी खण्ड के ६६ वें अध्याय में हेरोडोटस ने आर्य नामक एक जाति अथवा राष्ट्र का उल्लेख किया है :—"आर्य लोग यद्यपि मेडियन धनुषों से सुसज्जित थे, तथापि अन्य दृष्टियों से ये बैक्ट्रियनों के समान थे। आर्यों की सेना का नायकत्व सिसाम्नीज़ कर रहा था।" ऐसा प्रतीत होता है कि ये बादवाले आर्य हिरात के आसपास निवास करते थे (देखिये वाह्ल का हेरोडो० ३.९३ और ७.६२)। इसी लेखक ने ऐसे ही नाम की एक जाति को पार्शियनों, कोरस्मियनों, और सोग्दियनों के साथ ३०० मुद्रायें भेंट देनेवाला वताया है (३.९३)। अर्रियन ने भी इसी जाति के लोगों को डेरिअस की सेना में सम्मिलित कहा है (३.८,४)। अरिजन्टियों को भी सात मेडियन जातियों में से एक कहा गया है (हेरोडो० १.१०१)। हेरोडोटस के वर्णन में ही हमें अनेक ऐसे व्यक्तिवाचक नाम भी मिलते हैं जिन्हें 'एरियस' शब्द के साथ संयुक्त किया गया है। इस प्रकार (७.६७) कास्पियनों के नामक को एरिओमेडस कहा गया है। इसी खण्ड के ७८ वें अध्याय में, एक अन्य व्यक्ति का डेरियस के पुत्र के रूप में उल्लेख है। इसी लेखक के अन्य स्थलों तथा कुछ अन्य प्राचीन लेखकों (जैसे ज़ेनोफोन, पोलीबिअस, अर्रियन, और क्विन्टुस कर्टियस) की रचनाओं में अरिआबिग्नीज़, अरिआरम्नीज़, अरिआसीज़, अरिआउस, अरिमेज़ेस, और अरिआरथीज़ (=आर्यरथ), जैसे नाम पर्शियनों के लिये व्यवहृत हुये हैं। 'Αριον' (आरिओन) शब्द की, जो प्राचीन यूनानी नाटककार एश्चीलस, कोएफोरोइ, श्लोक ४२३ में आता है, इस स्थल के भाष्यकारों ने περσικον (पेर्सिकोन) अर्थात् 'पर्शियन' के समकक्ष के रूप में व्याख्या की है।

किन्तु, हम न केवल यूनानी लेखकों द्वारा ही आर्य शब्द को मेडियनों अथवा पर्शियनों के लिये व्यवहृत देखते है, वरन् ज़ोरोआस्ट्रियन धर्म की प्राचीनतम पुस्तकों में भी, जो ज़ेण्ड भाषा में रचित है, आरम्भिक पर्शियनों के लिये इसी आर्य शब्द का बहुधा प्रयोग पाते हैं। मैं कुछ सक्षिप्त रूप में भारतीयों और पर्शियनों के एक ही स्रोत से उद्भूत हुये होने के प्रमाण के रूप में प्रो० स्पीगेल के कुछ विचार प्रस्तुत कर रहा हूँ। (देखिये उनका अवेस्ता का अनुवाद, भाग १, प्रस्तावना पृ० ४)। इस प्रमाण का एक अंश दोनों के लिये एक ही नाम, आर्य, का व्यवहार है :—

"जातिविज्ञान ने, अपने दो सहकारी शास्त्रों, शरीरविज्ञान और भाषा-विज्ञान, के सहयोग से यह दिखा दिया है कि एक ही जाति (इण्डो-जर्मनिक) की शाखायें भारत से लेकर योरप के पश्चिमतम क्षेत्रों तक फैली हुई हैं। प्राचीन

और आधुनिक संसार के सर्वाधिक प्रतिभावान तथा सभ्य राष्ट्र इसी स्रोत से उद्भूत हैं, अर्थात भारतीय, पर्शियन, यूनानी, रोमन, जर्मन, स्लैवोनियन, और सम्भवतः केल्ट भी इसी जाति के हैं। ये सभी राष्ट्र मूलतः एकमात्र उसी परिवार की ही शाखायें हैं जिनके मूल आवास को न तो अभी निश्चित किया जा सका है, और न इसे निर्विवाद रूप से निश्चित किया ही जा सकता है। किन्तु ऐसा सम्भव है कि प्रारम्भिकतम समयों में ये सभी राष्ट्र मध्य एशिया के पठारों पर एक साथ एक ही जाति के लोगों के रूप में निवास करते थे। इस जाति के लोगों का मूल आवासस्थान से प्रवासगमन और इनका विभिन्न शाखाओं के रूप में विभाजन, ऐसी घटनायें हैं जो सम्भवत इतिहास से परे हैं। विभाजन के पूर्व इस जाति के सांस्कृतिक स्तर का एक मूल्यवान संकेत उन धारणाओं-सम्बन्धी शब्द हैं जो इन सभी में समान रूप से मिलते हैं, और इन शब्दों के ज्ञान का न्यूनांकन नहीं किया जाना चाहिये। यदि इन लोगों ने राज्य का गठन नहीं किया था तो भी, कम से कम, सम्बन्धों को व्यक्त करने वाले शब्दों से ऐसा स्पष्ट है कि ये पर्याप्त रूप से नियन्त्रित थे। इनमें विभिन्न प्रकार के पशुओं और कृषि उपकरणों के लिये इनके समान नाम मिलते हैं। इसके विपरीत, ईश्वर सम्बन्धी इनकी धारणाओं की प्रकृति सदैव अत्यन्त सामान्य बनी रही।[७३]

"किन्तु सम्पूर्ण इण्डो जर्मनिक जाति द्वारा कुछ विशेष शब्दों के समान प्रयोग के अतिरिक्त, इस परिवार के अलग-अलग सदस्यों के बीच और घनिष्ठतर सम्बन्ध मिलता है। इस घनिष्ठतर सम्बन्ध की इस तथ्य द्वारा व्याख्या की जानी चाहिये कि इनमें से कुछ जातियाँ कुछ अन्य से पृथक् हो जाने के बाद भी साथ साथ ही रहती रहीं। इस प्रकार, उदाहरण के लिये, यूनानियों और रोमनों की भाषाओं और विचारों में बहुत कुछ समानता है, जिसकी

---

७३ देखिये वेबर इण्डि० स्टू० १ ३२१ और बाद, में कुहन का लेख। ऊपर उद्धृत एडोल्फ पिक्टेट के विस्तृत अध्ययनों का उद्देश्य समस्त आर्य राष्ट्रों में समान रूप से मिलनेवाले पूर्वंग शब्दों की तुलना द्वारा इन सबके एक मूल आवासक्षेत्र की, और विभिन्न शाखाओं में विभक्त होने के पूर्व इस पितृजाति की सभ्यता, धर्म, और संस्कृति की क्या दशा थी इस बात की खोज करना है। इस मूल जाति की जातिशास्त्रीय, भौगोलिक और प्राकृतिक-ऐतिहासिक व्याख्या से सम्बद्ध इनके ग्रन्थ का प्रथम भाग १८५९ में निकला था। आर्यों की भौतिक सभ्यता, सामाजिक स्थिति, और बौद्धिक, नैतिक तथा धार्मिक जीवन से सम्बद्ध द्वितीय भाग का प्रकाशन १८६३ में हुआ।

इन दोनों के मौलिक सम्बन्ध के आधार पर व्याख्या नहीं की जा सकती। किन्तु इस सम्बन्ध की घनिष्ठता भारतीयों और पर्शियनों से अधिक और किसी के बीच नहीं लक्षित होती। अपने सामूहिक आवास को छोड़ने के बाद भी ये दोनों शाखायें बहुत समय तक एक साथ रही होंगी, ऐसा भाषाशास्त्रीय तथा पुराकथाशास्त्रीय दोनों ही आधारों द्वारा स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है। प्राचीन पर्शियन की जिन तीन बोलियों, यथा क्यूनीफॉर्म अभिलेखों की, यश्न के द्वितीय भाग की, और अवेस्ता के शेष अंश की बोलियों से हम परिचित हैं उन सबका प्राचीनतम भारतीय भाषा, अर्थात् वैदिक संस्कृत, से इतना अधिक घनिष्ठ साम्य है कि इन सबको एक ही मूल भाषा की विभिन्न बोलियाँ कहा जा सकता है। अन्य, विशेषतः पुराकथाशास्त्रीय आधार, भी इन दोनों जातियों (भारतीयों और पर्शियनों) के दीर्घकाल तक साथ रहे होने के तथ्य को कुछ कम सिद्ध नहीं करते। यह विशेष महत्त्व रखता है कि ये दोनों अपने को एक ही नाम से पुकारती हैं। साधारण बोली में माननीय का द्योतक शब्द 'आर्य', जो उस 'आर्य' से व्युत्पन्न है जिसका वेदों में 'अधिपति' अर्थ है, भारतीयों का सर्वाधिक प्राचीन तथा सर्वाधिक प्रचलित नाम है (देखिये ऋग्वेद १.५१,८, और सामवेद १.१,१,५,३,)। भारतीयों में 'म्लेच्छ' शब्द, जो अपवित्र बर्बरों का द्योतक है, 'आर्य' का विलोम है। पर्शियनों में भी यही स्थिति है। समस्वरता के पर्शियन नियमों के अनुसार 'आर्य' शब्द को उस 'ऐर्य' में परिणत कर दिया जाता है जिसका पर्शियन लोग बहुत समय से अपने लिये व्यवहार करते हैं, और जिससे ही अपेक्षाकृत आधुनिक शब्द 'ईरान' की उत्पत्ति हुई है। यह एक ऐसा नाम है जिससे हेरोडोटस भी परिचित हैं। इस 'ऐर्य' शब्द का विलोम 'अनैर्य' अर्थात 'अ–ईरानिक' है।

"फिर भी, यह एक प्रमाणिक तथ्य है कि यह मूल आर्य जाति, जिससे बाद के समय में पृथक् होकर भारतीयों तथा पर्शियनों का निर्माण हुआ, एक समुदाय के रूप में भारत या पर्शिया में निवास नहीं करती होगी। हमें इस बात को स्पष्ट रूप से सिद्ध मानना चाहिये कि वह भारतीय जो संस्कृत बोलते थे, भारत के मौलिक निवासी नहीं थे। जो उल्लेख मिलता है उससे भारतीयों का प्राचीनतम निवास-स्थान पंजाब सिद्ध होता है। वेण्डिडाड के प्रथम फार्गाड के श्लोक ७३ में 'हस हेन्दु' अथवा भारत नामक एक देश का उल्लेख मिलता है, जिसे क्यूनीफार्म अभिलेखों में 'हिदुस्' कहा गया है। बहुत समय तक इस बात को समझा नहीं जा सका कि 'हस हेन्दु' का क्या अर्थ है, किन्तु वेदों में इस नाम की व्याख्या मिलती है। वैदिक सूक्तों में भारतीयों के देश के लिये 'सप्त-

सिन्धव.' अर्थात 'सात नदियों का देश' शब्द व्यवहृत मिलता है।[७४] जैसा कि भारतीयों के बाद के ग्रन्थ व्यक्त करते हैं, पञ्जाब से भारतीय और पूर्व की ओर बढ़े : सर्वप्रथम सरस्वती नदी तक, जिसके बाद वे सम्पूर्ण उत्तर भारत में फैल गये, और काफी बाद के समय में ही दक्षिण की ओर बढ़े। पर्शियन आख्यान हमें इतनी ही स्पष्टता के साथ उत्तर में अपने पूर्वग देश की ओर ले जाते हैं।"

हम शीघ्र ही इस समस्या पर पुन. लौट कर इस बात का अनुसन्धान करेंगे कि आर्यों का आदिस्थान क्या था। इस बीच मैं पर्शियनों और भारतीयों के सम्बन्ध के विषय पर लौटता हूँ।

इस बात के लिये जो तीसरा प्रमाण मुझे प्रस्तुत करना है वह इन दोनों राष्ट्रों की प्राचीन पुराकथाओं में मिलनेवाली समानताओं से सम्बद्ध है। इस विषय पर प्रो० स्पीगल (पृ० ६ और बाद) इस प्रकार मत व्यक्त करते हैं:—
"हम यह कह चुके है कि आर्य परिवार की विभिन्न शाखाओं में ईश्वरतत्व सम्बन्धी समान शब्दों की मात्रा अत्यन्त कम है। सर्वाधिक समान रूप से ईश्वर को व्यक्त करनेवाला 'दिव्' अथवा 'द्यु' धातु (चमकना) से बना शब्द मिलता है। इसी धातु से सस्कृत 'देव', लैटिन 'डेउस', लिथूनियन 'डिएवस', जर्मन 'ज़िओ' और 'टिर्', यूनानी 'ज्यूस' (और 'डीसपिटेर' से 'जुपीटर' शब्द भी) बने हैं। प्राचीन पर्शियन शब्द 'दएव' भी इसी धातु से बना है। किन्तु इसका कुछ भिन्न अर्थ है (किस आधार पर इसे हम आगे देखेंगे)। अधिक घनिष्ठ पुराकथात्मक समानतायें इन्डो-जर्मनिक परिवार की विशेष शाखाओं, जैसे यूनानियों और रोमनों, तथा विशेषतः भारतीयों और पर्शियनों के बीच मिलती है। वेद में मिलनेवाले अनेक व्यक्तियों के नाम अवेस्ता के नामों के समान हैं और ये मूलतः निश्चित रूप से एक ही रहे होंगे, यद्यपि कालान्तर में यह समानता बहुत कुछ मिट गई। एक व्यक्ति जिसकी समानता ने सर्वप्रथम ध्यान आकर्षित किया था, भारतीयों का 'यम' (विवस्वत् का पुत्र) और पर्शियनों का 'यिम' (वीवहन्ट का पुत्र) है। वेदों और उपनिषदों में मृत्यु के देवता के रूप में हमारा यम से परिचय होता है। यह एक ऐसे लोक-विशेष में निवास करते हैं जहाँ ये अपने चारों ओर अमरों को एकत्र कर रखते हैं। प्राचीन भारतीयों के लिये इनका लोक भयवरता का स्थान नहीं बल्कि प्रकाशित, सुखद तथा आनन्ददायक स्थान है।[७५] ईरान में भी यिम एक

[७४] स्पीगेल अवेस्ता, भाग १, पृ० ६६- नोट ३।

[७५] देखिये ऋग्वेद ९.११३, ७–११, जिसका रॉथ ने जजयोमो०, ४.४२६

सौभाग्यशाली सम्राट हैं जिनके शासन के अन्तर्गत मृत्यु और व्याधि का नाम नहीं है। कुछ समय तक सुख तथा अमरत्व प्रदान करने के बाद, अपने संसार पर आनेवाली विपत्तियों के कारण ये अपने सेवकों-सहित अधिक सकीर्ण और सुरक्षित स्थान पर चले गये। मेरे विचार से इन दोनों आख्यानों के बीच के सम्बन्ध को व्यक्त करनेवाला आधार भी यही है। भारतीय लोग यम को केवल मृतकों, अथवा कम से कम, अधिक सौभाग्यशालियों का सम्राट मानते है: पर्शियन लोग इन सौभाग्यशालियों की सख्या को थोडे से ऐसे लोगों तक सीमित कर देते है जिन्हें यिम ने अपने साथ रखने के लिये चुना।

पर्शियन वीरकाव्य का एक अन्य व्यक्तित्व, जो वेदों में भी आता है, अथ्व्य का वशज 'थ्रएटओनो' है जिसे बाद मे 'फेदुन' अथवा 'फेरीदुन' कहते थे, और जिसके साथ वेदों के 'त्रित' को सम्बद्ध किया जा सकता है। 'त्रित' के पिता का नाम 'आप्त्य' है, और वैदिक विवरणों के आधार पर यह एक सर्प से युद्ध करते हुये उस तीन सर तथा सात पूँछोंवाले भयंकर जीव का वध करके पशुओं को मुक्त कराते हैं। बहुत कुछ इसी समान 'थ्रएटओनो' भी एक तीन सर, तीन कटियों, छ. पूछों तथा एक सहस्र शक्तियों से युक्त घातक सर्प का नाश करते हैं।

एक तीसरे व्यक्ति का, जो भारतीय तथा पर्शियन, दोनों ही पुराकथाओं में मिलता है, नाम 'साम केरेशास्प' है। यह एक वीर पुरुष और भारतीय 'कृशाश्व' है जिसे, यह सत्य है कि, अभी वेदों में ढूँढ़ा नहीं जा सका है, किन्तु यह भारतीय वैयाकरण, पाणिनि, को ज्ञात है और पुराणों में भी इसका एक युद्ध-शील ऋषि के रूप में अक्सर उल्लेख मिलता है (देखिये रामायण १.२३,१२, श्लेगेल सं०; १.२१, १० गोरेसियो सं०)।

व्यक्तित्वों के इन तादात्म्यों के अतिरिक्त हम यह भी देखते हैं कि भारतीयों और पर्शियनों के कुछ सांस्कारिक कृत्यों में भी समानता है। हम यहाँ केवल दो का उल्लेख करेंगे, यद्यपि पर्शियन संस्कारों के और निकट परीक्षण द्वारा अनेक अन्य उदाहरण भी मिल सकते है। प्रथम संस्कार 'सोम' अथवा 'होम' के समर्पण से सम्बद्ध है (देखिये स्पीगल के अवेस्ता का, भाग २, पृ० ६९ भी)। भारतीय तथा पर्शियन, दोनों ही धर्मों में सोम अथवा 'हओम', जो सोम के समान है, एक पौधे का नाम है जिसके रस को कुछ धार्मिक कृत्यों के साथ निचोड़ कर निकाला तथा पान किया जाता है। इन दोनों ही धर्मों में

और बाद, मे उद्धरण दिया है। मूल स्थल को आगे परिशिष्ट मे नोट 'D' के अन्तर्गत दिया गया है।

सोम एक देवता भी हैं।[७६] सोम और हओम के अनेक विशेषण भी दोनों में समान रूप से मिलते हैं, जो स्पष्ट रूप से यह दिखाते हैं कि इस प्रकार उपासना में आस्था रखनेवाले पर्शियन और भारतीय अभी थोड़े समय से ही एक दूसरे से पृथक् हुये हैं।

भारतीयों और पर्शियनों का कम से कम एक देवता दोनों में समान रूप से मिलता है। इस देवता का नाम 'मित्र' है।

"वेदों में (डा० एफ० विण्डिशमैन, मिथ्र, पृ० ५४, ५६, और ६२) मित्र, अदिति (असीम आकाश) के पुत्र के रूप में आता है, अतः यह सूर्य के समानान्तर, और प्रायः सदैव वरुण के साथ अवियोज्य रूप से सम्बद्ध है। यह देवों के ऐसे वर्ग का देवता प्रतीत होता है जो लुप्त हो चला था और इसके कुछ कार्य इन्द्र के साथ सयुक्त हो गये थे। वेद में मित्र प्रकाश है, जब कि वरुण आकाश, विशेष रूप से रात्रिकालीन आकाश, का देवता है। वेद में मित्र और वरुण का सम्बन्ध ज़ेण्ड के मिथ्र और 'वयु' के सम्बन्ध के समान है। इस प्रकार मिथ्र प्राचीन आर्यों का एक राष्ट्रीय देवता है, और ज़ेण्डावेस्ता में इसके चरित्र को जिस रूप में व्यक्त किया गया है वह अनेक दृष्टियों से वैदिक मित्र के समान है, यद्यपि ज़ोरोआस्ट्रियन स्रोतगत अनेक अन्तर भी हैं। 'अर्यमन्', जिसे सूर्य से सम्बद्ध माना गया है, ऋग्वेद १.२६,४ तथा अन्यत्र भी, मित्र और वरुण के साथ आता है। इसका नाम मित्र अथवा सखा को व्यक्त करता है, और यह ज़ेण्ड मे भी मिलता है।"[७७]

मैं प्रो० स्पीगल की प्रस्तावना (१.८) से और भी उद्धरण दे रहा हूँ :

---

[७६] देखिये परिशिष्ट, नोट 'E'।

[७७] भाग १, पृ० २६६ पर २२ वें फार्गर्ड के अपने नोट मे इस अन्तिम देवता के सम्बन्ध मे प्रो० स्पीगल इस प्रकार कहते हैं —"यह दुर्भाग्य की बात है कि वह देवता, जिसे यहाँ 'ऐर्यम' कहा गया है, बहुत कम आता है और अवेस्ता मे भी बहुत सक्षिप्त रूप से ही इसका वर्णन है, क्योकि यह निर्विवाद रूप से वह प्राचीन इण्डो-जर्मनिक देवता है जिसका वेदो मे 'अर्यमन्' के नाम से वर्णन है।" किन्तु स्पीगल ने और अधिक पुष्ट आधारो पर अपने इस मत को परिवर्तित कर दिया है। कुन और श्लेचर के बी०, १ १३१ और बाद, मे इन्होंने यह कहा है "मैंने वेण्ड० २२.२३ (पृ० २६६) की अपनी टिप्पणी मे अन्तिम अध्याय के 'ऐर्यम' को वैदिक 'अर्यमन्' माना है। यह तुलना केवल अशत ही उचित है। यह सत्य है कि अक्षरश ऐर्यम सस्कृत अर्यमन है और इसलिये ध्वन्यात्मक साम्य पर सन्देह नही किया जा सकता। फिर भी यह

द्वितीयतः, "पवित्र समाज के अन्तर्गत नवदीक्षितों के सम्मिलन का संस्कार भारतीयों तथा पर्शियनों दोनों में ही एक करधनी या धागा पहना कर सम्पन्न किया जाता है। ब्राह्मण की दशा में यह संस्कार जन्म के आठवें, क्षत्रियों की दशा में ग्यारहवें, और वैश्यों की दशा में बारहवें वर्ष में सम्पन्न किया जाता है। किन्तु ब्राह्मण की दशा में सोलहवें, क्षत्रिय की दशा में बाइसवें, तथा वैश्य की दशा में चौबीसवें वर्ष तक इस कार्य को सम्पन्न भी कर दिया जाना चाहिये।[७८] इस सस्कार के बाद आचार्य अपने शिष्य को वेद तथा प्रायश्चित आदि से सम्बद्ध उपदेश देना आरम्भ करता है (मनु० २.६९, याज्ञवल्क्य १.१५)। अपने जीवन के आरम्भ के सात वर्षों तक एक पारसी को कोई भी पाप करने के योग्य नहीं माना जाता। यदि इस अवस्था में वह कुछ पाप कर भी दे तो उसका उत्तरदायित्व उसके माता पिता पर पड़ता है। भारत में सातवें वर्ष में उपनयन संस्कार सम्पन्न कर दिया जाता है। किर्मान में रहनेवाले पारसियों में यह सस्कार दसवें वर्ष में होता है। सातवें से दसवें वर्षों

निष्कर्ष नही निकलता कि दोनो का आशय भी एक ही होना चाहिये। जैसा कि अनेक ने माना है, यदि ईरानियो की भारतीयो के गर्भ से उत्पत्ति हुई, और यदि भारत की सम्पूर्ण वैदिक सस्कृति ही इनकी संस्कृति का आधार है, तव तो इस मान्यता को अधिक सन्दिग्ध नही कहा जा सकता। किन्तु मेरे विचार से स्थिति ऐसी नही है। इन दोनो राष्ट्रो का पृथक्त्व वैदिक काल के पूर्व (यद्यपि बहुत पूर्व नही) हो चुका था। इस प्रकार प्रश्न यह उठता है कि क्या—यह मानकर कि दोनो राष्ट्रो मे अर्यमन् शव्द विद्यमान था—हमे यह मान लेना चाहिये कि अर्यमन् देवता सम्बन्धी धारणाओ का निर्माण पहले ही हो चुका था। यह शव्द यश्न के द्वितीय भाग मे अनेक स्थलो पर आता है, जहाँ, फिर भी, प्रसग हमे इसकी व्यक्तिवाचक नाम के रूप मे व्याख्या करने का आधार नही प्रदान करता।" तदनन्तर स्पीगल अपना यह मत व्यक्त करते हैं कि वेण्डिडाड के अन्तिम अध्याय मे ऐर्यम को देवता के रूप मे नही वल्कि एक ऐसी स्तुति के रूप मे ही ग्रहण करना चाहिये जिसमे यह शव्द आता है और जिसे अहुर मज्द पूर्वअनुभूत अन्य स्तुतियो की अपेक्षा व्याधियो के उपचार के लिये अधिक उपयुक्त मानते हैं।

[७८] आश्वलायन गृह्य सूत्र, १ २० —अष्टमे वर्षे ब्राह्मणम उपनयेद् गर्भाष्टमे वा। एकादशे क्षत्रिय द्वादशे वैश्यम्। आ षोडशाद् ब्राह्मणस्य अनतीत काल आ द्वाविंशात् क्षत्रियस्य आ चतुर्विंशाद् वैश्यस्य—अत ऊर्ध्वम् पतित-सवित्रीकाः भवन्ति।

के बीच यदि कोई बालक पाप करता है तो उसके आधे का उत्तरदायित्व उसके माता-पिता पर होता है। रवायतों के अनुसार दसवें वर्ष में बालक औपचारिक रूप से पारसियों के समाज में प्रवेश कर जाता है। अन्य ग्रन्थों के अनुसार, ऐसा प्रतीत होता है कि उसे पन्द्रहवें वर्ष में ही धार्मिक समाज में प्रवेश मिलता है।

"भारतीयों और पर्शियनों के बीच समान विकास के जितने भी चिह्नों की ओर हम लोगों ने अभी संकेत किया है उन सब का स्रोत, निःसन्देह एक ऐसे प्रागैतिहासिक काल में निहित है जब ये दोनों राष्ट्र अविभक्त और एक ही राष्ट्र के रूप में निवास करते थे। ऐसे भी चिह्नों को ढूँढा जा सकता है जो इस निष्कर्ष की ओर संकेत करते हैं कि, इन दोनों राष्ट्रों के विभाजन का कारण, कम से कम आंशिक रूप से धार्मिक था।"[७९] चाहे पर्शियनों के उच्चतम देवता, अहुर, को उस 'असुर' नाम के अन्तर्गत रखा जाना आकस्मिक ही रहा हो जिसे बाद के भारतीय दुष्टात्माना मानने लगे,[८०] यह बात कदाचित

---

[७९] अपने द्वितीय भाग में, फिर भी, प्रो० स्पीगल ने इस विषय पर अपने विचारों को इन टिप्पणियों द्वारा व्यक्त कर दिया है "प्रथम भाग में मैंने धार्मिक आधार पर पृथक्त्व की चर्चा की है, किन्तु इस दृष्टिकोण को न तो बहुत अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिये और न इसके आधार पर कोई दुःसाहसिक परिकल्पना का ही निर्माण किया जाना चाहिये। धार्मिक पृथक्त्व की मान्यता के बिना भी यह सर्वथा बोधगम्य है कि वे देवता, जिन्हें एक राष्ट्र के लोग आदर के साथ देखते थे, किस प्रकार अन्य लोगों द्वारा पातालवासियों के रूप में च्युत कर दिये गये। धार्मिक धारणाओं के आधार पर भारतीयों और ईरानियों के वास्तविक पृथक्त्व की मान्यता को यह तथ्य केवल सम्भावना के स्तर पर ला देता है कि इन दोनों के बीच परस्पर विरोधी धारणाओं की मात्रा अत्यन्त कम है।" (पृ० cix, cx)। इसी विषय पर अपने हैण्डबुक ऑफ दि ज़ेण्ड लैंग्वेज, की प्रस्तावना (पृ० v) में डा० जुस्टि ने इस प्रकार लिखा है "आर्य जाति के पूर्वग समयों से निकृष्ट प्रकृति-धर्म जरथुष्ट्र के नवीन सिद्धान्तों के पूर्व ही लुप्त हो चुका था और इसके अनेक देवताओं का भी वही दुर्भाग्य हुआ जैसा कि ईसाई धर्म के पाताल देवताओं का।"

[८०] "निघण्टुओं में 'असु' = 'प्रज्ञा' से व्युत्पन्न। वैदिक सस्कृत में 'असुर' अच्छे आशय में भी आता है, इसका अर्थ 'सर्वेषाम् प्राणद' है। तुकी० ऋग्वेद पर सायण। जएसो०, १८६६, पृ० २७६ में प्रकाशित मेरा वेद की व्याख्या से सम्बद्ध लेख, और बॉटलिङ्क तथा रॉथ के कोश में 'असुर' शब्द भी देखिये।

ही सम्भव हो सकती है कि भारतीयों के देवों को आकस्मिक रूप से 'दएवस' के रूप में 'अंग्र मैन्यु' के सहायक तथा दुष्टात्माओं के रूप में परिणत कर दिया गया; और यह कि आरम्भिक हिन्दुत्व के उच्चतम देवता, इन्द्र, को भी इसी प्रकार, नरक में बहिष्कृत कर दिया गया। शर्व भी एक दुष्टात्मा के रूप में ही आता है जब कि भारतीयों ने इस नाम को बाद के अपने धर्म के उच्चतम देवता, शिव, की उपाधि मान लेने के योग्य समझा है।[८१] अतः यह अनुमान अस्वाभाविक नहीं है कि धार्मिक मतभेद ही इन दोनों राष्ट्रों के पृथक्त्व के आधार बने होंगे। फिर भी, इस पृथक्त्व के बाद भी, भारतीय और पर्शियन एक दूसरे की प्रगति के ज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ नहीं रहे। ये लोग पृथक् हो कर इतने दूरस्थ स्थानों को नहीं गये कि इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होती; और वेण्डिडाड (१.७४) भारत के 'हस-हेन्दु', अर्थात् 'सप्त सिन्धवः' (सात नदियों के प्रदेश) नाम से परिचित है,

इसी विषय पर प्रो० मूलर यह विचार व्यक्त करते हैं: "धर्म तथा पुराकथा के क्षेत्र में भारत तथा पर्शिया में और भी उल्लेखनीय साम्य मिलता है। किसी भी अन्य भारोपीय राष्ट्र को अज्ञात देवों की संस्कृत तथा ज़ेण्ड में एक ही नाम से उपासना की गई है, और सस्कृत के कुछ पवित्रतम नामों का ज़ेण्ड में दुष्टात्माओं के रूप में परिणत हो जाना इसी विश्वास को और दृढ़ बनाता है कि धार्मिक मतवाद ने ही एक ऐसे समुदाय को दो भागों में विभक्त कर दिया जो पहले एक ही था।" (लास्ट रेज़ल्ट्स ऑफ पर्शियन रिसर्चेज़, पृ० ११२; चिप्स १.८३)।

ऊपर उल्लिखित त्रिविध तर्क—(१) संस्कृत और ज़ेण्ड में उल्लेखनीय साम्य से गृहीत, (२) ईरानियों और भारतीयों दोनों के लिये एक ही 'आर्य' नाम का प्रयोग; और (३) इन दोनों राष्ट्रों के धर्म तथा पुराकथाओं में साम्य—के आधार पर मेरे विचार से इस निष्कर्ष की, जिसकी स्थापना का मैं प्रयास कर रहा हूँ, सशक्त पुष्टि होती है कि उन सभी राष्ट्रों का जिनके लिये भारोपीय नाम व्यवहृत हो सकता है, एक ही स्रोत है। यदि केवल भाषा-वैज्ञानिक आधार पर ही हम यह निष्कर्ष निकालने के अधिकारी हों कि भारतीय, ईरानी, यूनानी, और रोमन, सब एक ही पूर्वजों की सन्तान हैं, तो

---

[८१] फिर भी, देखिये प्रस्तुत कृति का पाँचवा भाग, जहाँ प्रो० स्पीगल के आधार पर यह कहा गया है कि ज़ेण्ड मे उपलब्ध सामग्रियाँ 'अद्र' देवता तथा उसके वैदिक 'इन्द्र' के साथ सम्बन्ध के विषय पर कोई निश्चित निष्कर्ष निकालने के लिये पर्याप्त आधार नही प्रदान करती।

भाषा पर आधारित हमारा यह सामान्य निष्कर्ष उस समय और भी पुष्ट हो जाता है (कम से कम इन दो राष्ट्रों की दशा में) जब हम नाम तथा कुछ अंशों तक परम्परा और पुराकथाओं के बीच भी समानता देखते हैं ।

खण्ड ६—क्या भारोपीय जाति के मूल आवास का देश भारत था ?

यतः ऊपर के विवेचनों के आधार पर हमने ये निष्कर्ष निकाले हैं कि (१) संस्कृत, जेण्ड, यूनानी और लैटिन सभी की उत्पत्ति का स्रोत एक ही है, (२) यह कि इन भाषाओं का व्यवहार करनेवाली जातियाँ भी एक ही महान परिवार की, न्यूनाधिक विशुद्ध शाखायें हैं; और (३) यह कि इन सभी शाखाओं के पूर्वज किसी न किसी समय एक साथ, एक राष्ट्र के रूप में, एक ही देश में रहते रहे होंगे, अत , यदि सम्भव हो तो, अब हमें यह निश्चित करना है कि वह कौन सा देश था । प्रथमतः, तब क्या भारत ही इण्डो-जर्मनिक जातियों का मूल आवास-स्थान था, और क्या इस परिवार की अन्य सब शाखायें भारत से ही पश्चिम की ओर गईं जब कि इण्डो-आर्य अपने इस पूर्वग देश में ही रह गये ? अथवा, द्वितीयत', क्या उस स्थान के रूप में किसी अन्य देश की कल्पना करनी चाहिये जहाँ से इस जाति की अनेक शाखायें निकल कर विभिन्न दिशाओं में उन देशों की ओर चली गईं जहाँ हम अन्तत. इन्हें बसा हुआ पाते हैं ?

श्री ऐ० कर्जन[८२] इन दोनों मे से प्रथम सिद्धान्त का समर्थन करते हैं, अर्थात् इसका कि आर्य-परिवार का मूल देश भारत ही था जहाँ से इसकी विभिन्न शाखायें उत्तर-पश्चिम तथा अन्य दिशाओं की ओर चली गईं ।

इस मत को कि आर्य लोग विदेशी थे और उन्होंने भारत को आक्रमण करके विजित किया तथा यहाँ के तथाकथित आदिवासियों पर अपने धर्म तथा अपनी संस्थाओं को बलात् लाद दिया, कर्ज़न ने यह कह कर अस्वीकृत कर दिया है कि यह अत्यन्त अपर्याप्त तथ्यों पर आधारित है और इसको पुष्ट करने के लिये कोई स्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है । आपके विचार से तुलनात्मक भाषाविज्ञान के परिणामों पर आधारित तथ्य इस मान्यता के विरुद्ध हैं कि लिखित ग्रन्थों, परम्परागत धार्मिक पद्धतियों अथवा सुस्पष्ट संस्थाओं से सर्वथा रहित भारत के बर्बर आदिवासी एक आरम्भिक सभ्यता से युक्त हिन्दू आर्यों से भी प्राचीन थे । आपके विचार से ये असभ्य जातियाँ

[८२] जएसो० १६ १७२–२०० ।

वास्तव में उन आक्रामकों में से किसी से उत्पन्न हैं जिनका संस्कृत लेखकों ने शकों, हूणों, आदि नामों से उल्लेख करते हुये भारत पर आक्रमण करनेवाला तथा पराजित होकर भारत के वनों तथा पर्वतीय प्रदेशों में बस जानेवाला कहा है।

भारत में आर्यों के आकर बसने से सम्बद्ध विभिन्न सम्भाव्य मान्यताओं का पर्यवेक्षण करने के पश्चात् श्री कर्ज़न ये निष्कर्ष निकालते हैं: (१) आर्यों ने पश्चिम से प्रवेश नहीं किया हो सकता क्योंकि यह स्पष्ट है कि उस दिशा में रहनेवाले लोग इन्हीं भारतीय आर्यों के वंशज थे। उनका इस प्रकार वंशज होना इस तथ्य से प्रमाणित होता है कि उनकी भाषा के प्राचीनतम रूप संस्कृत से ही (जिसके साथ इनका वैसा ही सम्बन्ध है जैसा पालि तथा प्राकृत का) उद्भूत हैं। और यह वस्तुस्थिति कि इनकी पुराकथायें भी भारतीय आर्यों से ही गृहीत है, इसी तथ्य को प्रमाणित करती है। (२) आर्यों ने उत्तर अथवा उत्तर-पश्चिम मे भी भारत में प्रवेश नहीं किया हो सकता, क्योंकि इतिहास और भाषाविज्ञान द्वारा हमें इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि इन दिशाओं में उनके धर्म तथा भाषा से मिलती-जुलती उस आरम्भिक समय में कोई ऐसी सभ्यता थी जिसने भारतीय-आर्यों की सभ्यता को जन्म दिया हो। (३) यह भी इसी प्रकार असम्भव है कि आर्य लोग पूर्व से भारत में आये, क्योंकि इस दिशा में स्थित देशों के लोग (चीनी) भाषा, धर्म और संस्कारों आदि की दृष्टि से भारतीयों से सर्वथा भिन्न हैं और उनका इनसे कोई वंशानुगत सम्बन्ध नही है। (४) इसी प्रकार आर्य लोग उत्तर-पूर्व में स्थित तिब्बत के पठार से भी नहीं आये हो सकते, क्योंकि हिमालय जैसे महान अवरोध के अतिरिक्त उस क्षेत्र मे चीनियों की भाँति एक भिन्न जाति के लोग रहते है। (५) आर्य सेमिटिक अथवा मिश्र-देशीय भी नहीं हो सकते क्योंकि संस्कृत में सेमिटिक स्रोत का कोई शब्द नहीं है, और सेमिटिक बोली से इसका गठन भी सर्वथा भिन्न है, जब की मिश्र की भाषा का सेमिटिक से बहुत कुछ साम्य प्रगट होता है। (६) यदि आर्य लोग मनु द्वारा व्यक्त दो समुद्रों के बीच और हिमालय के दक्षिण-पश्चिमी मैदान के क्षेत्र के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र रहे होते तो उनके भग्नावशेषों, लिखित आँकड़ों, और परम्पराओं को भी उन स्थानों मे अवश्य पाया गया होता जैसे कि अपने पूर्वग स्थानों से आकर बस गई इतिहास को ज्ञात अन्य जातियों के स्मारक मिले है। (७) श्री कर्ज़न इस निष्कर्ष को विवेकरहित मानते हैं कि यतः आर्य लोग एक आरम्भिक समय में ही दक्षिण की ओर, और पश्चिम तथा पश्चिमोत्तर क्षेत्रों की ओर फैल गये थे, अतः उन लोगों ने कहीं बाहर के किसी

अज्ञात देश से आकर भारत पर आक्रमण किया होगा। इसी प्रकार, आप कहते हैं कि, यह भी तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि रोमनों ने किसी अनिर्धारित क्षेत्र से आकर इटली पर आक्रमण किया (स्वय इटली के ही निवासी होने के बदले) क्योंकि उन लोगों ने भी अपने अधिकार-क्षेत्र को दक्षिण तथा अन्य दिशाओं में विस्तृत किया था। आर्यों की गतिविधि की व्याख्या करने के लिये आप मनु २.१७ और बाद (जिसे आगे विस्तार मे उद्धृत किया जायगा) का उद्धरण देते हुए इसके द्वारा प्रदत्त सूचनाओं के अनुसार यह मानते है कि भारतीय सभ्यता का आरम्भिकतम स्थान ब्रह्मावर्त था; और आर्य लोग, ज्यों ज्यों इनकी सख्या में वृद्धि तथा सामाजिक उन्नति हुई, धीरे-धीरे उस क्षेत्र की ओर बढ़ने लगे जिसे मध्य देश, और अन्ततः आर्यावर्त्त कहते हैं और जो पूर्वी और पश्चिमी सागरों के बीच हिमालय तथा विन्ध्य पर्वतों से सीमित भूभाग था। श्री कर्ज़न दक्षिण में एक अनार्य जाति तथा राष्ट्रीयता के अस्तित्व को भी स्वीकार करते हैं जिन्हें तामुलियन कहते थे। आपके अनुसार इन लोगों का निर्माण भी उत्तर मे आर्य समुदाय के उत्थान का समसामयिक था, यद्यपि आप का विचार है कि इस बात को दिखाने के लिये कोई संकेत नहीं मिलता कि तामुलियन, अथवा पर्वतों पर निवास करनेवाली जाति, या और किसी देशीय जाति का आर्यों के आधिपत्य के पूर्व आर्यावर्त्त (विन्ध्या के उत्तर के क्षेत्र) पर किसी प्रकार का कोई अधिकार था। इन तथ्यों पर कि आर्यपरिवार की भारत की सभी आर्य जातियों की मूल भाषा, संस्कृत से ही भ्रष्ट अथवा परिवर्तित बोलियाँ हैं, आप ये निष्कर्ष निकलते हैं कि यातो (१) वे राष्ट्र, जिनकी बोलियाँ सस्कृत से उद्भूत हैं, भारत की प्राचीन आर्य जाति के क्रमिक फैलाव और विभाजन से उत्पन्न हुये हैं, तथा इस विभाजन का कारण राजनीतिक और धार्मिक था, जिसके फलस्वरूप पराजित लोग मुख्यतः पश्चिम के प्रायः निर्जन क्षेत्रों में जाकर बस गये, अथवा (२) आर्यों ने भारतके पश्चिम तथा उत्तर पश्चिम के क्षेत्रों पर आक्रमण करके वहाँ निवास कर रही अपने से अपेक्षाकृत हीन जातियों को अपने अधीन कर लिया तथा उन पर अपनी भाषा और सस्थाओं को बलात् लाद दिया। इन दो विकल्पों मे से आप के अनुसार द्वितीय की ही अधिक सम्भावना है। आर्यों के पश्चिम की ओर बढ़ने के समय के सम्बन्ध में आपके विचार इस प्रकार है : "यह घटना आर्यों द्वारा दक्षिण के पठारों को अपने अधिकार में कर लेने के बाद घटित हुई होगी, जिसका समय उनके इतिहास का तृतीय युग था जब उनकी सभ्यता एक विकसित स्तर प्राप्त कर चुकी थी, वेदों की रचना हो चुकी थी, तथा धर्म की एक राष्ट्रीय पद्धति निर्मित हो चुकी थी। इस समय, ब्राह्मण वर्णाश्रम

बन चुका था, आर्य भाषा का प्रचार-प्रसार और स्मृतियों का निर्माण हो चुका था। यह जाति इस समय तक विभिन्न राजाओं के अधीन विभक्त और इनकी देश के विभिन्न भागों में अलग अलग सरकारें भी बन चुकी थीं। इस समय धार्मिक मतवादों का आविर्भाव हो चुका था तथा ब्राह्मण-विरोधी सम्प्रदायों की संख्या में वृद्धि हो चुकी थी जिसके फलस्वरूप राजनीतिक मतभेदों तथा गृह युद्धों का प्रभाव फैलने लगा था। इस समय के बाद ही आर्य लोग पश्चिम तथा पश्चिमोत्तर क्षेत्रों की ओर गये तथा वहाँ के भूभागों पर अपनी भाषा का विस्तार किया।" इन पश्चिमी तथा पश्चिमोत्तर स्थानों के अन्तर्गत आप अरियाना, पर्शिया, आर्मीनिया, फ्रीगिया, यूनान, इटली, जर्मनी, आदि स्थानों को सम्मिलित करते हैं।

मैंने इस विषय पर श्री कर्ज़न के विचारों तथा तर्कों को कुछ विस्तार से प्रस्तुत किया है, क्योंकि यह एक ऐसा 'दृष्टिकोण है जिसको भारतीय पाठक अधिक तर्कसंगत समझ कर ग्रहण करना चाहेगा। अतः इसके पक्ष में जो कुछ भी कहा जा सकता है उसको विस्तार से प्रस्तुत कर देना उचित है।

श्री कर्ज़न की परिकल्पनाओं का विवेचन करने के पूर्व मैं इसी विषय पर श्री एलिफस्टन (हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग १, पृ० ९५ और बाद) का वक्तव्य भी प्रस्तुत कर रहा हूँ। इस वक्तव्य में यह देखा जायगा कि दोनों पक्षों के तर्कों का पर्यवेक्षण करने के पश्चात् इस विद्वान लेखक ने इस प्रश्न को अनिश्चित ही छोड़ दिया है कि हिन्दू लोग भारत के बाहर से आये थे अथवा भारत ही उनका आदिस्थान था।

"स्मृति (मनु की) से संकलित सूचनाओं को देखते हुये हम यह पाते हैं सम्पूर्ण समुदाय में द्विजवर्ग श्रेष्ठ, तथा शूद्र एक हीनता और दासत्व की स्थिति में थे। फिर भी, ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे भी नगर थे जिनके शासक शूद्र थे और ब्राह्मणों को परामर्श दिया गया है कि वे ऐसे नगरों में न रहें (४.६१)। इसके अतिरिक्त ऐसे क्षेत्र भी थे जहाँ शूद्र तथा नास्तिक ही निवास करते थे ब्राह्मण नहीं (८ २२)। तीन द्विज वर्णों को पूर्वी से पश्चिम सागर तक फैले हिमवत् और विन्ध्य पर्वतों के बीच के क्षेत्र में ही निवास करने का निर्देश दिया गया है। किन्तु यद्यपि तीन प्रमुख वर्ण इसी क्षेत्र तक सीमित हैं, तथापि जीवन-यापन के लिये शूद्र कहीं भी निवास कर सकता है (२.२१–२४)। इस सबसे यह निष्कर्ष न निकालना असम्भव है कि द्विज वर्ण के लोग विजेता थे; यह कि शूद्र वर्ग के लोग दास के रूप में परिणत आदिवासी थे; और यह कि स्वतन्त्र शूद्र नगर ऐसे ही छोटे छोटे क्षेत्रों में स्थित

थे जिनमें भारत विभक्त था, और वे किसी प्रकार अपनी स्वतन्त्रता सुरक्षित रखने में सफल रहे, जब कि विन्ध्य पर्वत के आगे का सम्पूर्ण क्षेत्र आक्रामकों से अछूत तथा उनके धर्म से अप्रभावित रहा। फिर भी, यहाँ शीघ्र ही यह सन्देह सामने आता है कि ये विजेता विदेशी थे अथवा यूनान में डोरियन के समान स्थानीय लोग। अथवा क्या ये देशी-प्रदेशों में से किसी एक के ऐसे अंश मात्र (उदाहरण के लिये एक धार्मिक सम्प्रदाय) तो नहीं थे जिन्होंने अन्य सह-नागरिकों की अपेक्षा ज्ञान में प्रगति करके समाज की समस्त सुविधाओं को अपने अनुकूल बना लिया ?

"शूद्र वर्ग की अपेक्षा उच्चवर्गों का सर्वथा भिन्न रूप-रंग, जिसे आज भी देखा जा सकता है, हमें इन्हें विदेशी मानने के तथ्य की ओर प्रेरित कर सकता है; किन्तु इस तर्क को (कम-से कम जहाँ तक यह ब्राह्मणों और क्षत्रियों से सम्बद्ध है) सर्वथा अस्वीकृत किये बिना ही हमें कुछ अन्य ऐसे आधारों पर भी विचार करना चाहिये जो इसकी शक्ति को बहुत कुछ क्षीण बना देते हैं।

"ब्राह्मणों से सर्वाधिक असमान वर्ग उन चाण्डालों का है जो मूलतः ब्राह्मण माताओं की ही सन्तान और अपने वर्ण की अत्यन्त हीनता के कारण अपने अतिरिक्त किसी अन्य जाति के लोगों के साथ मिश्रित होने से वंचित रह कर अपनी पैतृक जाति से ही अपनी अनुरूपता को सुरक्षित रखने के लिये विवश थे।[८३] आदतों तथा व्यवसाय का अन्तर स्वयं में भी ब्राह्मणों तथा शूद्रों के बीच उस असमानता के सृजन के लिये पर्याप्त है जो आज भी मिलती है, और भारत में विभिन्न व्यवसायों का वंशानुगत पृथक्त्व इस प्रकार के विभेद की वृद्धि करने तथा उसे बना रखने में और भी अधिक सहायक है।

"हिन्दुओं के विदेशी होने के विरुद्ध यह तथ्य प्रस्तुत किया जा सकता है कि मनुस्मृति में, और मेरे विचार से वेदों अथवा अन्य किसी ऐसे ग्रन्थ में जो मनुस्मृति से प्राचीन हैं, किसी भी पूर्व आवासक्षेत्र का, अथवा भारत के बाहर के किसी अन्य देश के नाम से अधिक ज्ञान का कोई संकेत नहीं मिलता। यहाँ तक कि पुराकथाशास्त्र भी उस हिमालय पर्वतमाला से आगे नहीं बढ़ता जिसे देवों की निवासभूमि कहा गया है।

---

[८३] प्रस्तुत कृति का प्रथम भाग देखिये जहाँ मनु १० १२ को उद्धृत किया गया है। फिर भी, यह स्पष्ट है कि हमें विभिन्न वर्णों के निर्माण सम्बन्धी इन विवरणों को, जो ब्राह्मण-धर्म के पूर्ण विकसित हो जाने के बाद तथा उनके समर्थकों की ओर से लिखे गये थे, इनकी उत्पत्ति के वास्तविक इतिहास के रूप में नहीं ग्रहण करना चाहिये। देखिये लासन, इण्डि० १ ४०७।

"पश्चिम की भाषाओं के साथ संस्कृत का समान स्रोत इस बात के लिये सन्देह का कोई स्थान नहीं छोड़ता कि इन भाषाओं का व्यवहार करनेवाले राष्ट्रों में कभी न कभी परस्पर सम्बन्ध अवश्य था। किन्तु यह न तो उस स्थान के सम्बन्ध में कुछ भी प्रमाणित करता है कि इस प्रकार का सम्बन्ध कहाँ रहा हो सकता है, और न उस समय का कोई संकेत करता है जिसके आधार पर इन राष्ट्रों की सामाजिक दशा के इतने आरम्भिक स्तर पर कोई ऐतिहासिक प्रकाश पड़ सके। यह कहना कि ये किसी मध्यवर्ती स्थान से चारों ओर फैले, एक निर्मूल मान्यता है, और इसका कोई तुलनात्मक आधार भी नहीं, क्योंकि देशान्तरगमन तथा सभ्यता का विस्तार वृत्ताकार नहीं बल्कि पूर्व से पश्चिम तक हुआ था। साथ ही यह मध्यवर्ती स्थान कहाँ हो सकता है जहाँ से एक ही भाषा भारत, यूनान और इटली में तो फैल गई परन्तु चाल्डिया, सीरिया तथा अरेबिया उससे अछूते रह गये?

अतः यह प्रश्न अभी भी अनिश्चित है। इस बात को स्वीकार करने का कोई भी आधार नहीं है कि हिन्दू लोग अपने वर्तमान देश के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र रहते थे। साथ ही, इस बात को भी अस्वीकार करने का कोई विशेष आधार नहीं है कि ये लोग अपनी परम्पराओं तथा किसी भी अन्य विवरणों के आरम्भिकतम संकेतों के पूर्व कहीं बाहर रहे हो सकते हैं।"[८४]

तदुपरान्त श्री एल्फिंस्टन अपने विचार से वर्णाश्रम की उत्पत्ति की व्याख्या करते हैं।

खण्ड ७—मध्य-एशिया आर्यों का आदिस्थान है: इस विषय पर श्लेगेल, लासन, बेनफे, मूलर, स्पीगल, रेनन, और पिक्टेट के मत

गत खण्ड में श्री कर्ज़न के जिन दृष्टिकोणों का मैंने सारांश दिया है वे योरोपीय विद्वानों की सामान्य सहमति के विरुद्ध हैं। ए० डब्लू० फॉन श्लेगेल, लासन, बेनफे, मूलर, वेबर, रॉथ, स्पीगल, रेनन, और पिक्टेट, यद्यपि अन्य विषयों पर असहमत होते हुये, इस बात पर सहमत हैं कि भारतीयों तथा इण्डो-जर्मनिक जाति की अन्य शाखाओं के आदिस्थान को भारत से बाहर ही कहीं ढूँढ़ना चाहिये।

मै इन विद्वान लेखकों की कृतियों से कुछ उद्धरण देकर उन तर्कों का एक सारांश दूँगा जो उस निष्कर्ष के पक्ष में हैं जिस पर ये सब सहमत हैं।

---

[८४] देखिये परिशिष्ट; नोट 'G'

प्रथम विद्वान्, जिनका मैं उद्धरण दूँगा, वह ए० डब्लू० फॉन श्लेगेल है, जिन्होंने 'ऑन दि ओरिजिन ऑफ दि हिन्दूज़'[८५] शीर्षक लेख में इस समस्या के सभी पक्षों का एक व्यवस्थित विवेचन किया है। आप प्राचीन राष्ट्रों की देशान्तरगमन सम्बन्धी गतिविधियों, हिन्दुओं की उत्पत्ति सम्बन्धी उन्हीं की परम्पराओं, जातियों की विभिन्नताओं, हिन्दुओं और भारत की स्थानीय जातियों की दैहिक विशेषताओं, राष्ट्रों के इतिहास को प्रभावित करनेवाले तुलनात्मक भाषाविज्ञान के महत्त्वों, आर्य-भाषाओं के एक दूसरे के साथ सम्बन्धों, आदि, का विवेचन करने के पश्चात, इन विभिन्न अनुसन्धानों के आधार पर सर्वसम्मत निष्कर्ष निकालने का प्रयास करते हैं। यतः मैं इनमें से कुछ विषयों का विस्तार से विवेचन कर चुका हूँ, अतः यहाँ मै केवल दो ही स्थलों का उद्धरण दूँगा, जिनमें से प्रथम में कर्ज़न द्वारा हिन्दुओं के किसी बाहर के क्षेत्र से भारत में आकर न बसे होने की मान्यता का इस आधार पर प्रतिवाद किया गया है कि इस सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की राष्ट्रीय परम्परा उपलब्ध नहीं है। यह उद्धरण इस प्रकार है :—

"किसी जाति के उद्गमस्थान, तथा उस मार्ग के जिससे होकर, और उस समय के जब वे अपने वर्तमान स्थानों पर आये, सम्बन्ध में अनुसन्धान करते समय हम स्वभावत. सर्वप्रथम इन विषयों से सम्बद्ध प्रचलित परम्पराओं की समीक्षा करने की ओर प्रवृत्त होते हैं। किन्तु, यदि हम ऐसा करते हैं तो या तो किसी भी उत्तर का न मिलना, अथवा एक गलत उत्तर मिल जाना भी अत्यन्त सरलतापूर्वक सम्भव हो सकता है। लिखने से अपरिचित एक निरक्षर जाति के लोग, जिन्होंने एक लम्बे और कठिन देशान्तरगमन के पश्चात् एक स्थायी जीवन आरम्भ कर दिया है, कुछ शताब्दियों के बाद अपने निवास के इस परिवर्तन के सम्बन्ध में समस्त स्मृतियों को खो चुके हो सकते हैं। और यदि इस प्रकार के परिवर्तन के कुछ चिह्न बचे भी हों, तो इस प्रकार के लोगों के लिये ठीक-ठीक यह बताना असम्भव हो सकता है कि वे कहाँ से चले थे, क्योंकि इस बात के लिये महाद्वीपों और सागरों के सामान्य स्वरूप का कुछ ज्ञान आवश्यक होगा। अक्सर ऐसा हुआ है कि किसी बर्बर प्रदेश की जातियाँ या तो आवश्यकतावश अथवा किसी शक्तिशाली पड़ोसी से बचने के लिये दूसरे देशों में चली जाती हैं। इस प्रकार की जातियाँ अधिक से अधिक जो कर सकती हैं वह चार मुख्य

---

[८५] 'डे ल'ओरिजिने डेस हिन्दोउस', जो मूलत 'ट्राजैक्शन्स आफ रॉयल सोसाइटी आफ लिटरेचर, लन्दन, १८३४ मे प्रकाशित हुआ था।

दिशाओं के अनुसार अपनी यात्रा का कामचलाऊ शुद्धता के साथ सञ्चालन है। वे अपने पथ की अप्रत्याशित कठिनाइयों का निवारण करने के लिये केवल अवसर तथा आकस्मिकता का ही आश्रय ले सकते हैं; और दूरी का एकमात्र ज्ञान उनकी थकान तथा यात्रा की अवधि होता है।" (एसेज़, पृ० ४४४)।

नीचे वह उद्धरण दिया जा रहा है जिसमें श्लेगेल ने अपने अनुसंधानों के प्रमाणों का सारांश व्यक्त किया है :—

"यदि हम यह स्वीकार कर लें—(और मेरा विश्वास है कि हम इस विषय का जितना ही गहन अध्ययन करेंगे, हमारा यह निष्कर्ष उतना ही असन्दिग्ध रह जायगा) कि किसी एक ही पितृ-स्रोत (भारोपीय) से भाषाओं की उत्पत्ति इस निष्कर्ष की पुष्टि करती है कि जो राष्ट्र इन भाषाओं को बोलते थे वे भी एक ही स्रोत से उत्पन्न हैं; तथा यह कि इनके पूर्वज, किसी न किसी समय, एकमात्र ऐसे राष्ट्र के सदस्य थे जो अपने विस्तार की प्रगति के साथ-साथ विभाजित और उपविभाजित होता गया—तो स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि उस पितृ-राष्ट्र का आदि आवासक्षेत्र कहाँ था? यह किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है कि ऐसा देशान्तरगमन, जिसने पृथ्वी के इतने विस्तृत भागों को आबाद किया, अपने दक्षिणी छोर से आरम्भ होकर उसी स्थान से उत्तर-पश्चिम दिशा की ओर सतत निर्देशित होता रहा होगा। इसके विपरीत, सभी कुछ हमें यह स्वीकार करने के लिये प्रेरित करता है कि मूल जाति किसी केन्द्रीय क्षेत्र से ही विभिन्न दिशाओं की ओर फैली होगी। इस मान्यता के अनुसार, इन प्रवासियों को अपने बसने के स्थान तक आने में जिन दूरियों की यात्रा करनी पड़ी होगी वह अपेक्षाकृत कम हो जायगी। ऐसी स्थिति में जलवायु के उतार-चढ़ाव का भी कम सामना करना पड़ा होगा, जिसके कारण अनेक जातियों ने भूमि की उर्वरता तथा वायु के तापमान के अनुसार अपने स्थानों में सुविधानुसार परिवर्तन भी किये होंगे। और इस केन्द्रीय देश को इस महान महाद्वीप के भीतर कैस्पियन सागर के पूर्व के आस-पास के अतिरिक्त और कहाँ ढूँढ़ा जाय? सम्भवतः यह आपत्ति की जा सकती है कि इस क्षेत्र में अब एक भिन्न जाति निवास करती है : परन्तु कितने देशों में वहाँ के निवासियों में सर्वथा परिवर्तन नहीं हुआ? वह पितृ-देश, जहाँ से इतने अधिक लोगों ने देशान्तरगमन किया, सम्भवतः किसी कारण एक मरुस्थल में परिणत हो गया हो। यह सम्भव है कि इतिहास के आरम्भ के समय के बाद उस देश की प्रकृति परिवर्तित हो गई, और आज की अपेक्षा उस समय, वह कृषि

और आवास के लिये अधिक अनुकूल रहा हो। मेरी परिकल्पना के अनुसार, पर्शियनों और हिन्दुओं के पूर्वज अपने आदिस्थान मे दक्षिण-पश्चिम और दक्षिण-पूर्व की ओर, और योरोपीय राष्ट्रों के पूर्वज पश्चिम और उत्तर की ओर गये होंगे।' मेरी धारणा है कि इन जातियों ने, जो योरप की ओर गईं, दो महान् मार्गों का अनुसरण किया होगा : एक वह लम्बा रास्ता जो काले सागर के उत्तरी तट से होकर जाता है, जब कि दूसरे दल ने एशिया माइनर होते हुये एजियन सागर अथवा हेलेस्पोन्ट, थ्रेस, इलिरिया और एड्रियाटिक को पार किया होगा। यह प्राय. निश्चित है कि इस द्वितीय मार्ग का अनुसरण करनेवाले लोगों से ही यूनान और इटली ने अपने प्रवासियों को ग्रहण किया होगा।" (एसेस, पृ० ५१४–५१७)।

प्रो० लासन भी इस परिकल्पना के विरुद्ध ही निर्णय देते हैं कि भारत भारोपीय जातियों का उद्गमस्थल है। आपका कथन इस प्रकार है :—[८६]

"जैसा कि हम देख चुके हैं, आधुनिक अनुसन्धानों का यह परिणाम निकला है कि भारतीयों की प्राचीन भाषा का इण्डो-जर्मनिक राष्ट्रों की भाषाओं से इतना घनिष्ठ साम्य है कि इन दोनों ही वर्ग की भाषाओं तथा राष्ट्रों के मूल रूप से एक ही होने का तथ्य प्रमाणित हो जाता है। अतः हम दो निष्कर्षों की ओर प्रेरित होते है . या तो (१) भारतीय लोग किसी अन्य आदि स्थान से भारत मे आये; अथवा (२) सभी इण्डो-जर्मनिक राष्ट्रों का उद्गम-स्थल भारत ही है। नीचे लिखे तर्क प्रथम विकल्प के पक्ष में निर्णय करने का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

"पहले तो, यह एक असम्भव मान्यता होगी कि वे राष्ट्र जो आज इतनी अधिक दूरियों से पृथक् हैं, सम्पूर्ण श्रृङ्खला के दूरतम सदस्य से उद्भूत हुये होंगे। इन सबके समान उद्गमस्थल को यदि केन्द्र में नहीं, तो भी ऐसे स्थान में ढूँढ़ना चाहिये जहाँ से ससार के विभिन्न भागों में इनके फैलाव की व्यावहारिकता का समाधान किया जा सके। भारत को उद्गमस्थल मान लेने पर इस स्थिति का भलीभाँति समाधान नहीं होता। दूसरे, अन्य सजातीय राष्ट्रों की बोलियों, रीति-रवाजों और विचारों में लक्षित होनेवाली कोई भी घटना भारतीय उद्गम की ओर संकेत नहीं करती। महान इण्डो-जर्मनिक परिवार का जिन देशों पर प्राचीन काल में अधिकार था उनमें भारत की स्थिति सर्वाधिक विशिष्ट तथा अन्य सबसे अत्यधिक भिन्न है। ऐसी दशा मे, बाद के

---

[८६] इण्डियन ऐन्टीक्विटीज़, प्रथम स०, पृ० ५१२ और बाद, द्वि० स० पृ० ६१३।

समय में किसी भी केल्टिक जाति में, यदि वह मूलतः भारत में ही निवास करती थी, इन भारतीय विशिष्टताओं के किसी भी चिह्न के न मिलने के तथ्य का समाधान नहीं किया जा सकता। इन सभी देशों में समान रूप से मिलनेवाले पौधों और पशुओं के नामों में से कोई भी ऐसे नहीं हैं जिन्हें भारतीय विशिष्टता कहा जा सके।[८७] सर्वाधिक व्यापक रूप से मिलनेवाले अन्न का नाम (यव) जौ का द्योतक है चावल का नहीं। तीसरे, इस प्रश्न के निर्णय के लिये इन सभी राष्ट्रों के बीच भारत की भौगोलिक स्थिति सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। दक्षिण की ओर आर्यों का फैलाव इस बात की ओर सकेत करता है कि वे विन्ध्यपर्वत के उत्तर के देश के उत्तर-पश्चिमी भाग से, सम्भवतः जमुना तथा पञ्जाब के पूर्वी भाग से, आये थे। इनका हिमालय और विन्ध्य पर्वतों के बीच के भूभाग में क्रमश पूर्व की ओर फैलाव भी उक्त देश के ही इनके उद्गमस्थल होने की ओर संकेत करता है। इसके अतिरिक्त, हम इस बात के भी स्पष्ट संकेत पाते हैं कि उत्तर-पश्चिम दिशा से आगे बढ़ते समय आर्यों ने हिन्दुस्तान की आरम्भिक जनसंख्या को बीच से विभाजित करके एक भाग को उत्तर की तथा दूसरे को दक्षिण की पहाड़ियों की ओर भगा दिया। हम यह नहीं मान सकते कि इस प्रकार भगा दिये जानेवाले आरम्भिक निवासी स्वयं आर्य थे, क्योंकि विन्ध्यपर्वत के निवासियों की ही भाँति दक्षिण के निवासी भी सदैव निर्बल तथा ऐसे पलायनोन्मुख लोग है, जिन्हें आर्यों ने पीछे हटा दिया होगा। हम अनार्य जाति को इतना शक्तिसम्पन्न नहीं मान सकते कि उन लोगों ने एक आरम्भिक आर्य जाति के बीच से आगे बढ़ते हुये उन्हें उन स्थानों की ओर भगा दिया होगा जहाँ आज वे सम्पूर्ण देश में फैले मिलते हैं। इसके विपरीत, सभी कुछ इस बात की ओर सकेत करता है कि जिन क्षेत्रों में एक बाद के समय में अनार्य जातियाँ बसी मिलती हैं वे वहाँ बस गई प्रतीत होती हैं, और किसी पूर्व समय में वे और विस्तृत भूभाग में फैली रही होंगी। वास्तव में ये अनार्य जातियाँ, आस्ट्रेलिया की नीग्रो तथा अमेरिका के लाल लोगों के समान आपेक्षतया निर्बल जातियाँ थीं। दूसरी ओर, आर्य अधिक पूर्णरूप से संगठित, उत्साही, और रचनात्मक लोग थे, और इसलिये उन्हें

---

[८७] [फिर भी इस स्थिति का, जैसा कि वेबर ने कहा है (मॉडर्न इन्वेस्टिगेशन्स ऑन ऐन्शेण्ट इण्डिया, पृ० १०), इस तथ्य के आधार पर समाधान किया जा सकता है कि इन पौधो और पशुओ के पश्चिमी देशो मे अज्ञात होने के कारण इनके नाम विस्मृत कर दिये गये होगे। इस विषय पर और आगे के पृष्ठो को देखिये।]

अधिक बाद का कहा जा सकता है : ठीक उसी प्रकार जैसे पृथ्वी ने एक बाद के समय में ही पौधों और पशुओं के अधिक पूर्ण वर्गों का उत्पन्न किया। अन्त में, मूल जनसंख्या की इन दो शाखाओं के राजनीतिक सम्बन्धों से भी यही बात व्यक्त होती है। आर्य लोग अपने लिये, अर्थात् तीन उच्चतम वर्णों के लिये, आदिवासियों की तुलना में सदैव सर्वथा उच्च स्थान सुरक्षित रखते हैं। ये अपने लिये 'आर्य' शब्द का व्यवहार तथा विशेषाधिकारों का प्रयोग करते हैं। 'द्विज' शब्द भी एकमात्र उच्चवर्णों के लिये ही सुरक्षित है। इस प्रकार, आर्य अपने को एक श्रेष्ठ तथा विजेता जाति सिद्ध करते हैं। इस बात की पुष्टि करनेवाले तथ्यों के साथ हम उनके एक बाह्य चिह्न, अर्थात् त्वचा के गोरे रंग को भी संयुक्त कर सकते हैं। संस्कृत में जाति के लिये व्यवहृत शब्द, 'वर्ण', का मूलतः 'रंग' अर्थ था। इसलिये जातियों का उनके रंग के आधार पर ही विभेद किया जाता था। किन्तु, जैसा कि सुविज्ञात है, शूद्रों और चाण्डालों की अपेक्षा ब्राह्मणों का रंग अधिक गोरा होता है, और क्षत्रिय तथा वैश्य भी, जो आर्य हैं, इसी प्रकार के गोरे वर्ण के रहे होंगे। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष की ओर, जिसे भाषा के साम्य के आधार पर निकाला जा सकता है, प्रेरित होते हैं कि भारतीय आर्य मूलत. अपना, काले आदिवासियों की तुलना में, श्वेतवर्ण के रूप में विभेद करते थे। और यह निष्कर्ष इस मान्यता के अनुकूल है कि ये लोग और उत्तर के किसी देश से आये थे।"

प्रो० मैक्स मूलर का भी यही मत है कि आर्य लोग भारत के आदि-निवासी नहीं बल्कि उत्तर के किसी देश से ही आकर यहाँ बस गये थे।

"परम्परागत इतिहास के प्रथम उषाकाल के समय हम आर्यजातियों को हिमालय को पारकर दक्षिण में सप्तसिन्धु (सिन्धु, पञ्जाब की पाँच नदियाँ, और सरस्वती) में आकर बसते हुये देखते हैं; और तभी से यह प्रदेश इन लोगों का घर कहा जाने लगा। इस समय के पूर्व ये लोग अधिक उत्तरी क्षेत्रों के उन्हीं स्थानों में रहते थे जहाँ यूनानियों, इटालियनों, स्लेवोनियनों, जर्मनों, तथा केल्टों के पूर्वज निवास करते थे। यह उतना ही प्रामाणिक तथ्य है जितना विजेता विलियम के नॉर्मनों का उत्तरी स्कैण्डिनेविया का निवासी होना। भाषा का प्रमाण अखण्डनीय है, और प्रागैतिहासिक कालों के सम्बन्ध में यही एक प्रमाण श्रवण-योग्य है।"

"जहाँ अधिकांश आर्यजातियों ने इस मार्ग (उत्तर-पश्चिम के मार्ग) का अनुसरण किया वहाँ दक्षिण की जातियों ने धीरे-धीरे भारत की उत्तरी सीमावर्ती पर्वतों की ओर जाना आरम्भ कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दूकुश

अथवा हिमालय के संकीर्ण दर्रों को पार करके आर्यों ने हिमालय के इस पार के आदिनिवासियों को बिना किसी विशेष प्रयास के ही बहिष्कृत कर दिया। इन लोगों ने अपने प्रधान पथ-प्रदर्शकों के रूप में उत्तर भारत की प्रमुख नदियों का अनुसरण किया और यहाँ के उपजाऊ मैदानों को अपना नवीन आवास बना लिया।" (लास्ट रेज़ल्ट्स ऑफ संस्कृत रिसर्चेज़, पृ० १२९, १३१; ऐसंलि, पृ० १२, १३, १५; विप्स १.६३,६५)।

पुनः, लास्ट रेज़ल्ट्स ऑफ तूरानियन रिसर्चेज़ में यही विद्वान लेखक यह विचार व्यक्त करते हैं : "अब इसे सामान्य रूप से स्वीकार कर लिया गया है कि ब्राह्मणों का यह पवित्र देश, यहाँ तक कि सरस्वती और दृशद्वती के बीच की संकीर्णतम सीमाओं में भी, मनु के वंशजों का जन्मस्थान नहीं था। आर्य लोग सिन्धु और गङ्गा के देश में विदेशी थे, किन्तु आज कोई भी इस बात का निश्चय नहीं कर सकता कि ये कहाँ से आये और मूलतः ये कहाँ के निवासी थे। ब्राह्मणों में प्रचलित इस परम्परा को कि आर्य लोग उत्तरी क्षेत्रों के निवासी थे, उनके उत्तरी देशान्तराधिवास की स्मृति माना जा सकता है। उत्तरी भारत की नदियों के तटपर स्थित पवित्र स्थानों को, जहाँ बाद के समय तक में ब्राह्मण लोग शुद्धतम संस्कृत के अध्ययन के लिये जाते रहे हैं, इनके प्रगति-पथ के चिह्न हो सकते हैं। इनके प्राचीन राज्यों की प्रमुख राजधानियाँ इनके द्वारा भारत की प्रमुख नदियों के मुहानों की ओर धीमी किन्तु व्यवस्थित प्रगति को प्रमाणित कर सकती हैं। किन्तु इन नदियों के स्रोतों के साथ ही विदेशी आर्यों के गृह हमारी दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। यहाँ तक कि भारतीय भूभाग के उच्चतम स्थानों पर पहुँचने पर भी हमें इनके निवास का कोई संकेत नहीं मिलता।"

प्रो० बेनफे भी इसी प्रकार विश्वास के साथ यह मत व्यक्त करते हैं कि भारत मूल हिन्दुओं का आदिस्थान नहीं था। आपके आधार इस प्रकार हैं। उन जातियों का, जो दक्षिणी और मध्यभारत में निवास करती हैं, विवरण देने के बाद आप इस प्रकार कहते हैं : "इस प्रकार हम सम्पूर्ण दक्षिण के पठार को एक ऐसे राष्ट्र के अवशेषों से आच्छन्न पाते हैं, जिसके अनेक भागों का परस्पर साम्य के आधार पर सम्बन्ध रहा होना अत्यन्त सम्भाव्य है। किन्तु हम निश्चित रूप से इस बात को जानते हैं कि संस्कृतभाषी लोग बहुत बाद के समय में ही यहाँ आकर बसे और धीरे-धीरे तटवर्ती क्षेत्रों से आरम्भ करके इन लोगों ने अपने अधिकार-क्षेत्र का विस्तार किया। "अब, यह कदाचित् ही सम्भव है कि इन क्षेत्रों की वह बर्बर जातियाँ भारतीय आर्यों के बीच एक

ऐसे युग में प्रवेश प्राप्त करने में सफल हो सकी होंगी जब आर्य लोग सामाजिक और राजनीतिक विकास की पराकाष्ठा पर पहुँच चुके थे। साथ ही, यही वह समय है जब हमें इनमें से अनेक बर्बर जातियों के उल्लेख मिलते हैं। अतः हम इन बर्बर जातियों को दक्षिण के पठारों के आदिवासियों के रूप में स्वीकार करने के लिये बाध्य हैं, जिन्हें संस्कृतभाषी आर्यजाति ने या तो दास बनाकर अपने समुदाय में सम्मिलित कर लिया अथवा पर्वतों के संकीर्ण गह्वरों में बहिष्कृत कर दिया।" इण्डियेन,[८८] पृ० ९। पृ० १२ पर यही लेखक आगे इस प्रकार कहते हैं: "गत खण्डों से ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृतभाषी लोगों को जो अपने को 'आर्य' तथा 'विश' कहते थे, बाहर से आकर इन नवीन क्षेत्रों में बसनेवाला सिद्ध किया जा सकता है। इसे निश्चित रूप से दिखाया जा सकता है कि एक समय ये उन जातियों के, जो इनके साथ भाषा की दृष्टि से सम्बद्ध हैं, अर्थात् ईरानियों, यूनानियों, लैटिनों इत्यादि के साथ एक राष्ट्र थे, एक ही भाषा बोलते थे, तथा सब की एक ही सभ्यता थी। इस बात पर सन्देह नहीं किया जा सकता कि इस आरम्भिक ऐक्य का मञ्च एशिया के ही देशों में से कहीं था। किन्तु इसका समय इतिहास के उषाकाल से इतने अधिक पीछे है, और जहाँ ये पहले रहते रहे होंगे वहाँ इतने अधिक देशान्तरगमन तथा विप्लव आदि हुये होंगे कि इस संस्कृतभाषी जाति ने अपने निवास के जो भी चिह्न छोड़े होंगे वे मिट गये हैं।"

प्रोफेसर स्पीगल की निम्नलिखित टिप्पणी (इण्ट्रोडक्शन टु अवेस्ता, भाग २, पृ० CVI और बाद) श्री कर्ज़न के इस विचार का उत्तर है कि पर्शियन लोगों की भाषा, तथा पुराकथायें भारत से गृहीत हैं। "यद्यपि इसे सभी स्वीकार करते हैं कि एक किसी ऐसे पूर्वग देश की कल्पना आवश्यक है जहाँ आर्य लोग प्रागैतिहासिक काल में एक राष्ट्र के रूप में रहते थे और जहाँ से इन लोगों ने क्रमशः देशान्तरगमन किया, और यद्यपि इस बात को भी स्वीकार कर लिया गया है कि अन्य सब शाखाओं के पृथक् हो जाने के बाद भी कुछ समय तक ईरानी तथा भारतीय इसी पूर्वग देश में अथवा इसके पास के ही किसी स्थान में साथ-साथ रहते रहे, तथापि यह किसी भी प्रकार स्पष्ट नहीं है कि किस स्थान को यह पूर्वग देश माना जाय। श्री कर्ज़न के विचार से भारत ही इण्डो-जर्मनिक जातियों की पितृभूमि है। इसी देश से इस जाति की विभिन्न शाखायें पश्चिम दिशा की ओर गईं और इनमें से ईरानी लोग सबसे बाद में गये तथा अपने इस मूल देश के ठीक पड़ोस के देश में ही रहने लगे। इनके

[८८] अर्श ऐण्ड ग्रूबर के एनसाइक्लोपीडिया (जर्मन) में।

बाद से भारत केवल एक ही भारतीय जाति के मात्र अधिकार में आ गया। इस मान्यता के अनुसार ईरान तथा भारत के सम्बन्ध का एक अत्यन्त सरल समाधान हो जायगा : भारत उद्गमस्थल है और भारतीय भाषा (वैदिक संस्कृत) ही समस्त इण्डो-जर्मनिक राष्ट्रों की मातृभाषा। तदनुसार, यदि भारतीयों और ईरानियों के विचारों तथा भाषा में महत्त्वपूर्ण साम्य लक्षित होता है तो इसका कारण केवल यही है कि ईरानी लोगों ने सबसे बाद में भारत छोड़ा, और इस प्रकार भारतीय विशेषताओं का अधिकतम अंश अपने साथ ले गये। इस दृष्टिकोण के अनुसार ईरानियन साहित्य की प्राचीन धरोहरों का वैदिक साहित्य के साथ वही सम्बन्ध होना चाहिये जो पालि तथा प्राकृत का बाद की संस्कृत के साथ है। फिर भी, लासन[८९] ने पहले ही इस बात को मानना अस्वीकार कर दिया है कि भारत ही इण्डो-जर्मनिक जातियों का उद्गमस्थल था, और कर्ज़न उनके तर्कों को अप्रमाणित नहीं कर सके है। और जहाँ तक प्राचीन ईरानी बोली के वैदिक संस्कृत के साथ सम्बन्ध का प्रश्न है, मैं इस बात को दावे के साथ कह सकता हूँ कि ईरानी का वैदिक सस्कृत के साथ वैसा निर्भरता का सम्बन्ध कदापि नहीं है जैसा बाद की सस्कृत के साथ पालि और प्राकृत का है, और जो कोई भी इस समस्या का निष्पक्ष परीक्षण करेगा वह मेरे दृष्टिकोण का ही समर्थन करेगा।

अतः हम इस मान्यता को कि भारत ही इण्डो-जर्मनिक जातियों का उद्गम था, एक-दम अस्वीकृत कर सकते हैं। लासन के साथ सहमत होते हुये हम यही मानना चाहेंगे कि इनके मूल निवासस्थान को ईरानी प्रदेश के सुदूर-पूर्व में कहीं उस स्थान पर ढूँढ़ना चाहिये जो ओक्सस और जैक्सार्टीज़ का स्रोत है।

किन्तु भाषा-सम्बन्धी द्वितीय प्रश्न का इस प्रकार का कोई समाधान नहीं निकलता। क्योंकि, इस बात के भी सम्भव होने की कल्पना की जा सकती है कि न केवल भारतीय ही वरन् उनके साथ ईरानी भी सिन्धु नदी के देशों में आ बसे, और, सम्भवतः धार्मिक मतभेदों के कारण ईरानी लोग पश्चिम की ओर लौट गये। संस्कृत तथा प्राचीन वैक्ट्रियन भाषाओं के बीच अत्यधिक साम्य की, तथा एक ओर वेदों की तथा दूसरी ओर अवेस्ता की पुराकथाओं में समानता की भी, तब यही व्याख्या की जा सकती है, अर्थात् यह कि ईरानी लोगों ने वैदिक काल अथवा उसके अधिकांश को भारतीयों के साथ व्यतीत किया, और इसीलिये दोनों के विचारों में घनिष्ठ साम्य है। यह, वास्तव में एक ऐसे

---

[८९] इण्ड० ऐन्टि० १, प्रथम स० पृ० ५१२, द्वि० स० पृ० ६१३।

विद्वान्, प्रो० मैक्स मूलर[१०] का दृष्टिकोण है, जो अध्ययन की इस शाखा से अत्यधिक परिचित हैं।

'मैं इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हो सकता क्योंकि मैं इस बात को खोज पाने में सर्वथा असमर्थ हूँ कि इसको प्रमाणित करने के लिये किसी भी ऐतिहासिक स्मृति का अस्तित्व है।[११]' मैंने ऊपर ज़ोरोआस्टर तथा उनके धर्म के सम्बन्ध में जिन तथ्यों का संग्रह किया है वह इस निष्कर्ष की ओर कदापि संकेत नहीं करते कि ये बैक्ट्रियन थे, और इस बात का तो और भी कम कि बैक्ट्रियनों का धर्म भारत से आया। इसके विपरीत ये विवरण हमें यह मानने की ओर उन्मुख करते हैं कि इनका धर्म सर्वप्रथम मेडिया से आया। किन्तु, यदि कोई ऐतिहासिक स्मृति नहीं है, तब इस मत का समर्थन और किस आधार पर हो सकता है? निःसन्देह यह भारत और पर्शिया की भाषाओं के गठन में साम्य नहीं हो सकता। हम संस्कृत का इतना आदर इसलिये नहीं करते कि इण्डो-जर्मनिक जातियों की मूल बोली थी, बल्कि इसलिये कि यह उस मूल भाषा के निकटतम है। अब हमें इस बात पर आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि इसी परिवार की एक अन्य भाषा, जैसे कि बैक्ट्रियन है, प्राय. इसी समान स्तर पर रही हो सकती है। बैक्ट्रियन की आयु वैदिक संस्कृत से कहीं कम है, क्योंकि यह सुविदित है कि बाह्य परिस्थितियाँ कभी-कभी एक भाषा को तो

---

[१०] लास्ट रेज़ल्ट्स ऑफ दि पर्शियन रिसर्चेज़, पृ० ११३। यह इनके चिप्स, १८६ मे पुन प्रकाशित हो गया है: "यदि वैदिक दृष्टिकोण से देखा जाय' ' तो ज़ोरोआस्ट्रियनो के देवता तत्काल वेदो के पूर्वग तथा प्रामाणिक देवताओ की छाया मात्र प्रतीत होने लगते है। अब इस बात को भौगोलिक प्रमाणो के आधार पर भी सिद्ध किया जा सकता है कि पर्शिया आने के पूर्व ज़ोरोआस्ट्रियन लोग भारत मे बसे थे। मैं यहाँ केवल ज़ोरोआस्ट्रियनो का ही नाम ले रहा हूँ क्योकि हमारे पास मेडिआ और पर्शिया की सामान्य जनसख्या के सम्बन्ध मे भी ऐसा ही मानने के लिये कोई प्रमाण नही है। इस बात को कि ज़ोरोआस्ट्रियन तथा उनके पूर्वज वैदिक काल मे ही भारत से चल पडे, उसी स्पष्टता के साथ सिद्ध किया जा सकता है जिस प्रकार यूनान से मेस्सीलिया के निवासियो के चलने को। इत्यादि ३" देखिये मूलर का 'एसे ऑन दि बगला लैंग्वेज, जो ब्रिटिश एसोसियेशन की रिपोर्ट, १८४८, पृ० ३२९ मे और बुनसेन के फिलॉसफी ऑफ यूनि० हिस्ट०, भाग १, पृ० ३४०–३६४ मे भी प्रकाशित हुआ है।

[११] फिर भी, देखिये परिशिष्ट, नोट 'H'।

द्रुत गति से भ्रष्ट कर देती हैं, जब कि दूसरी भाषा के प्राचीन स्तर को बहुत समय तक सुरक्षित रहने देती हैं। और इसी प्रकार, इस दशा में, ये दोनों ही भाषायें एक पितृभाषा से प्रायः समान रूपों में उत्पन्न और उसके पश्चात् एक दूसरे से स्वतन्त्र रूप से विकसित हुईं। और यतः इन दोनों भाषाओं की घटना-प्रणाली की व्याख्या के लिये न तो इस मान्यता की आवश्यकता है कि प्राचीन वैक्ट्रियन भाषा वैदिक संस्कृत के बीच से होकर आई है; और न इसकी कि अवेस्ता का विषयवस्तु ही हम पर यह मत लादता है। निःसन्देह, पुराकथाओं के बीच, तथा वेदों और अवेस्ता के रीति-रवाजों के बीच सम्पर्क के चिह्नों का संकेत किया गया है। किन्तु जो थोड़ी-सी बातें वेदों में भी मिलती हैं, उन्हें उन बहुसंख्यक बातों के विरुद्ध खड़ा नहीं किया जा सकता जो वेदों में नहीं आतीं। इसी प्रकार की समान पुराकथायें यूनानी पुराकथाशास्त्र में भी मिली हैं, किन्तु तब भी इस बात की किसी ने कभी कल्पना नहीं की है कि प्राचीन यूनानी वेदों में विश्वास करते रहे होंगे, अतः हम लोग यह मानने के लिये विवश हैं कि प्राचीन वैक्ट्रियन भाषा तथा साहित्य में ऐसे लोगों के स्मारक सुरक्षित हैं जो किसी भी अन्य सजातीय लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक दीर्घ अवधि तक भारतीयों के साथ रहे और इसीलिये दोनों में अनेक धार्मिक तथा अन्य धारणायें समान रूप से उपलब्ध हैं। किन्तु विशिष्टतः ईरानी विकास को व्यक्त करनेवाले तत्त्वों की तुलना में इस प्रकार के समान तत्त्व इतने नगण्य हैं कि हमारे लिये ईरानियों के भाषा और साहित्य को स्वतन्त्र ईरानी सृजन ही मानना अधिक उपयुक्त होगा। ईरानियों का भारतीयों से क्यों और किन कारणों से पृथक्त्व हुआ इसका, उस आरम्भिक काल से सम्बद्ध सूचनाओं के अभाव में अब निश्चित रूप से निर्धारण नहीं किया जा सकता।.... इनके कारणों के अन्तर्गत मैंने इन दोनों राष्ट्रों के धार्मिक विभाजन का उल्लेख किया है, किन्तु इस मत को बहुत अधिक महत्त्व नहीं किया जाना चाहिये। इस प्रकार के किसी विभाजन को माने विना भी, यह बोधगम्य है कि एक जाति के लोगों द्वारा आदरित देवों को दूसरे लोग नरकवासी बना सकते हैं।[९२] इस प्रकार की परस्पर-विरोधी धारणाओं की संख्या एक ऐसा आधार है जो धार्मिक आधार पर भारतीयों और ईरानियों के वास्तविक विभेद के विचार को सम्भावना प्रदान करता है।

"फलस्वरूप हमें यही मानना चाहिये कि भारतीय तथा ईरानी दोनों ही एक दूसरे से स्वतन्त्र और अपने-अपने विकास की विभिन्न अवस्थाओं से होकर

---

[९२] देखिये परिशिष्ट, नोट I।

गुजरे हैं। दोनों के बीच किसी भी बात के सहअस्तित्व को इन दोनों में से किसी के विशेष विकास के युग का नहीं वल्कि प्राग्-वैदिक युग का ही मानना चाहिये। मैंने भाग १ में जिन समान बातों का उल्लेख किया है उनमें से किसी की भी प्रकृति ऐसी नहीं है कि वह हमारे लिये यह मानना आवश्यक बना दे कि सिन्धु-तटवर्ती देश ही इनका उद्‌गम-स्थान था। सर्वाधिक सम्भावना के साथ इन्द्र की 'वृत्रहन्' के रूप में उस वृत्र के, जो मेघों और वर्षा को अवरुद्ध कर देता. वध के आख्यान को इस स्थान की उत्पत्ति कहा जा सकता है। यह शब्द (वृत्रहन्) प्राचीन वैक्ट्रियन में 'वेरेथ्र्य' ('वेरेथ्रघ्न' नामक देवता की उत्पत्ति को मैं एक वहुत बाद के समय का मानता हूँ) के रूप मे पुन. आता है। इस बात से, कि प्राचीन वैक्ट्रियन भाषा में इस शब्द को किसी विशेष आशय के साथ सयुक्त नहीं किया गया है, मैं यह निष्कर्ष नहीं निकालता, जैसा कि अक्सर निकाला गया है, कि अवेस्ता मे इसका विशेष अर्थ लुप्त हो गया है। इसके विपरीत, मै यह मानता हूँ कि इस शब्द के इन्द्र के लिये सीमित कर दिये जाने की घटना दोनों जातियों के पृथक्त्व के वहुत बाद ही घटित हुई, और मूलरूप से इस शब्द का अपेक्षाकृत अधिक सामान्य अर्थ था।" (पृ० cx)।

इसी सामान्य प्रश्न पर प्रो० वेवर के विचार इस प्रकार हैं। अपने इस लेख (मॉडर्न इन्वेस्टिगेशन्स ऑन ऐन्शेण्ट इण्डिया, पृ० १०) में सभी भारोपीय भाषाओं में समानरूप से मिलनेवाले शब्दों से गृहीत आरम्भिक आर्यों की दैहिक तथा बौद्धिक स्थिति की समीक्षा करने के बाद आप आगे इस प्रकार कहते हैं :—

"अभी-अभी खींचे गये चित्र में, ऐसे समर्थक चिह्नों का प्रायः सर्वथा अभाव है जिनके आधार पर हम उस देश को पहचान सकें जहाँ हमारे पूर्वज रहते थे और जो उन सबका समान रूप से निवासस्थान था। इस देश के एशिया में स्थित होने का तथ्य एक पुरानी ऐतिहासिक बात है : ऊपर हमारी गणना मे विशिष्टतः एशिया के सभी पशुओं के नामों का अभाव इस मत के विरुद्ध आधार प्रदान करता है, किन्तु इसकी केवल इस तथ्य मात्र से व्याख्या की जा सकती है कि इन पशुओं के योरप में न मिलने के कारण इनके नामों को विस्मृत कर दिया गया, अथवा अन्य समान पशुओं के लिये ही इनको व्यवहृत किया जाने लगा। फिर भी, समग्र रूप से ऐसा प्रतीत होता है कि उस मूल देश का जलवायु उष्ण नहीं वल्कि समशीतोष्ण, तथा योरप से वहुत असमान नहीं था। इसके कारण हम उसकी स्थिति को मध्य-एशिया के पठारों में ही

निर्धारित कर सकते हैं जिसे अत्यन्त प्राचीन काल से ही मानवजाति का उद्‌गम-स्थल माना जाता रहा है।"

मेरा दूसरा उद्धरण पिक्टेट की 'लेस ओरिजिनेस इण्डो-योरोपीनीज़' नामक कृति से लिया गया है जिसमें लेखक ने समस्त उपलब्ध भौगोलिक और जातिवैज्ञानिक तथ्यों की समीक्षा तथा समस्त आर्यभाषाओं में मिलनेवाले जलवायु, स्थान, और प्राकृतिक इतिहास विषयक समान शब्दों की तुलना के आधार पर इस बात के निर्धारण का प्रयास किया है कि वह देश कौन हो सकता है जहाँ भारोपीय राष्ट्रों के समान पूर्वज मूलतः निवास करते थे।[93]

मैं श्री पिक्टेट के विविध अनुसन्धानों और तर्कों के विभिन्न स्तरों का अनुसरण करने का अथवा उनके विशेष निष्कर्षों पर कोई निर्णय देने का प्रयास नहीं करूँगा। मै केवल उनके द्वारा किये गये अनुसन्धानों के सामान्य परिणामों के उद्धरण तक ही अपने को सीमित रक्खूँगा।

"राष्ट्रीय विशेषणों, परम्पराओं, तथा भूगोल, भाषाविज्ञान, और जातिविज्ञान के क्रमिक अध्ययन के आधार पर हम इन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं:—आर्य लोग, जैसा कि बर्बरों की तुलना में वे अपने को पुकारते थे, उस स्थान पर रहे होंगे जिसका मध्यवर्ती स्थान बैक्ट्रिया माना जा सकता है। इस केन्द्र से निकल कर जानेवाले उन मानव-समूहों द्वारा, जो इसी केन्द्र से चारो ओर गये, ग्रहण की गई दिशाओं की तुलना मात्र से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते है। एशिया के इस देश की भौगोलिक बनावट इस प्रथम निष्कर्ष की पुष्टि करती है, क्योंकि इस स्थान से बहिर्गमन के जो सम्भव द्वार हैं वह आर्यों के अन्ततोगत्वा बस जाने के स्थानों के, और उनकी उत्पत्ति से सम्बद्ध उन बिखरी हुई परम्पराओं के, जो आज भी उनमे सुरक्षित हैं, आधार पर निर्णय करने पर वही सिद्ध होते हैं जिनसे होकर ही प्रमुख देशान्तरगमन की घटनायें घटित हुईं।"

"हम (१) देशान्तरगमन की उन घटनाओं के, जिन्होंने आर्य जातियों के अन्ततोगत्वा बस जाने के स्थानों का निर्धारण किया, क्रम और दिशा के आधार पर, (२) उन मार्गों पर, जिनका उन्होंने अनुसरण किया, विभिन्न राष्ट्रों द्वारा छोड़े गये प्राचीन नामों के चिह्नों के आधार पर, और (३) आर्य-भाषाओं के विभिन्न समूहों को परस्पर सम्बद्ध करनेवाली विशेष समानताओं के आधार पर, यह मान सकते है कि पूर्वग आर्यदेश के अन्तर्गत, उसके अधिकतम

---

[93] एम० पिक्टेट के द्वितीय भाग मे, जो १८६३ मे प्रकाशित हुआ था, पूर्वग लोगो, उनके विभिन्न राष्ट्रो मे विभक्त होने के पूर्व की भौतिक सभ्यता और सामाजिक स्थिति, तथा बौद्धिक, नैतिक और धार्मिक जीवन का विवेचन है।

विस्तार के समय, हिन्दूकुश, बेलूर्टग, ओक्सस, और कैस्पियन सागर के बीच का सम्पूर्ण भूभाग तथा सम्भवतः सोग्दियाना में ओक्सस तथा जैक्सार्टीज़ के स्रोतों का भूभाग भी सम्मिलित रहा होगा। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि उस समय आर्य देश एक सुगठित राज्य था। अधिक सम्भावना इस बात की है कि उस समय यह अनेक ऐसे कबीलों में विभाजित था जो केवल जातिगत बन्धन, रीति रवाजों तथा भाषा के साम्य, विश्वासों तथा परम्पराओं के समान भण्डार, और एक स्वाभाविक भ्रातृत्व की भावना से ही एकयबद्ध थे। उस देश की स्थानीय प्रकृति, और उन क्रमिक देशान्तरगमन की घटनाओं द्वारा, जो पर्याप्त अन्तरों के बाद घटित हुई होंगी—इन दोनों ही तथ्यों के आधार पर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है। मैंने तृतीय अध्याय में, अनुमानात्मक आधार पर आर्यजाति की विभिन्न शाखाओं के, उनके पृथक्त्व के पूर्व के सापेक्षिक स्थानों का निर्धारण करने का प्रयास किया है।"

[मैं यहाँ पिक्टेट की कृति के पृ० ५१ से उनके द्वारा उपरोल्लिखित स्थल के ईरानियों, भारतीयों, यूनानियों, और रोमनों से सम्बद्ध विचारों का सारांश प्रस्तुत कर रहा हूँ :—

"यह मानते हुये कि पूर्वग आर्य जिस क्षेत्र में रहते थे उसके मध्य में बैक्ट्रिया स्थित था, हम कह सकते हैं कि ईरानी लोग उस क्षेत्र के उत्तर-पूर्वी किनारे पर सोग्दियाना की सीमा के निकट बेलूर्टग की ओर रहते रहे होंगे, और सर्वप्रथम ये पूर्व में उच्च पर्वतीय घाटियों तक फैले होंगे जहाँ से बाद में उतर कर ईरान आ गये। इन्हीं के साथ दक्षिण-पूर्व में, सम्भवतः बदख्शान के उर्वर क्षेत्रों में हिन्दूकुश पर्वत के ढालों पर भारतीय-आर्य निवास करते थे, जहाँ से ये हिन्दूकुश को पार-कर अथवा घूमकर काबुल पहुँचे और फिर उत्तरी भारत की ओर आये। दक्षिण पश्चिम में आर्टिमिस तथा बैक्ट्रस के स्रोतों की ओर हमें पेलास्गो-एरियन्स (यूनानी और रोमन आर्य) की स्थिति माननी चाहिये जो यहाँ से हिरात की ओर बढ़े और फिर वहाँ से ख़ोरासान और माज़न्देरान होते हुए एशिया माइनर तथा हेल्लेस्पॉन्ट आ गये।"]

"यद्यपि एक परिकल्पना मात्र से कुछ अधिक न होते हुये भी उक्त विवरण किसी भी अन्य की अपेक्षा समस्या के सभी पक्षों का अपेक्षाकृत अधिक अच्छा समाधान प्रस्तुत करता प्रतीत होता है। किन्तु अपेक्षाकृत इससे भी अधिक शुद्धता के साथ यह दिखाया जा सकता है कि आर्य लोग मूलतः दो, एक पूर्वी और दूसरे पश्चिमी, समूहों में विभाजित रहे होंगे जिनसे एक ओर पर्शिया और भारत के आर्य और दूसरी ओर योरोपीय राष्ट्रों के आर्य उत्पन्न हुये। फिर भी,

इस वक्तव्य का समर्थन करनेवाले प्रमुख तर्क की और अधिक व्याख्या तब तक नहीं की जा सकती जब तक मैं अपने ग्रन्थ के अन्तिम पृष्ठों तक नहीं पहुँच जाता। • • आर्यो के देशान्तरगमन के समय के सम्बन्ध में, अनुमान के आधार पर मैं अत्यन्त सम्भावना के साथ यह कह सकता हूँ कि इनमें से आरम्भिकतम को ईसा से ३,००० वर्ष से कम नहीं माना जा सकता, और सम्भवतः यह समय और भी प्राचीन हो सकता है।" (पिक्टेट : ले आर्यांज़ प्रिमिटिप्स, पृ० ५३६ और बाद)।

अपने ग्रन्थ के द्वितीय भाग (पृ० ७३४) में एम० पिक्टेट समय सम्बन्धी इसी निष्कर्ष का प्रतिपादन करते हैं। वहाँ आप का यह कथन है : "ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है उसके परिणामस्वरूप मेरा विश्वास है कि प्राचीन आर्यों के विभाजन तथा प्रथम देशान्तरगमन की घटना के समय को अपने ईसवी सन से तीन सहस्र वर्ष पूर्व घटित मानने में मैं तथ्यों को अतिरञ्जित नहीं कर रहा हूँ, क्योंकि उनके बाद के उन देशान्तरगमन की घटनाओं ने कई शताब्दियों का समय लिया होगा जिनके परिणामस्वरूप हम आर्यो के वशजों को इतने विस्तृत क्षेत्रों में बसा हुआ पाते हैं।"

अब मैं इस निष्कर्ष के पक्ष में प्रस्तुत तर्कों का साराश प्रस्तुत करूँगा कि भारतीय-आर्य भारत के आदिनिवासी नहीं बल्कि मध्य-एशिया से आकर भारत में बस गये थे।

जैसा कि हम देख चुके है, श्री कर्ज़न का एक भिन्न मत है जिसे वे इस मान्यता पर आधारित करते हैं कि पर्शियनों, तथा साथ ही साथ, यूनानियों और रोमनों की भाषायें और पुराकथाये भारत से ही गृहीत हैं। हम पहले ही (पृ० ३४५ और बाद) देख चुके हैं कि यह धारणा कितनी निराधार है कि यूनानी तथा लैटिन भाषायें संस्कृत से उत्पन्न हुई हैं, और यूनानी, इटालियन, और भारतीय पुराकथाओं के बीच समानतायें इतनी कम तथा इतनी दूर की हैं कि उनके भारतीय आर्यो से, इतने अर्वाचीन समय में जितने की इस परिकल्पना के लिये आवश्यकता है, गृहीत होने के विचार का औचित्य सिद्ध नहीं होता। मैं इस बात को सर्वथा अबोधगम्य नहीं कह सकता कि यूनानी और लैटिन जातियाँ १,५०० ई० पूर्व के बाद के किसी समय में भारत से देशान्तरगमन करके किसी ऐसे स्पष्ट चिह्न को छोड़े बिना ही आ गईं जिसे उनके साहित्य में, अथवा किसी अन्य राष्ट्र के साहित्य में ही, ढूँढ़ा नहीं जा सकता ; क्योंकि जैसा हम पहले देख चुके हैं, इस प्रकार की गतियों के चिह्न एक अशिक्षित जाति की परम्पराओं से शीघ्र ही मिट जाते हैं। किन्तु यदि

यूनान तथा इटली की भाषायें तथा धर्म भारत से गृहीत नहीं हैं तो इस परिकल्पना की कोई आवश्यकता नहीं। और ऊपर उल्लिखित समय से भी पूर्व भारत से हुआ कोई देशान्तरगमन असम्भाव्य प्रतीत होता है। ईसा से पन्द्रह शताब्दियों पूर्व यदि भारत आर्यों द्वारा (जैसा कि निःसन्देह था) अधिकृत था, तो उस समय यह जनसंख्या घनी कदापि नहीं रही हो सकती। उस समय तक आर्य लोग भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं फैल सके थे।[९४] गङ्गा के पूर्व और पश्चिम के, और विन्ध्यपर्वत के उत्तर के विस्तृत भूभाग उस समय अभी भी अकृषित रहे होंगे। जब उनके ठीक पड़ोस में ही कृषि तथा चरागाहों के लिये इस प्रकार की सुविधायें सुलभ थीं, तब यह बात समझ में नहीं आती कि उस आर्य जाति की छोटी-सी जनसंख्या की कोई शाखा किस उद्देश्य से भारत के उर्वर मैदानों और उष्ण तापक्रम को छोड़कर (जिससे, परिकल्पना के आधार पर, वे बहुत दिनों से अभ्यस्त हो चुके होंगे) उस पर्वतीय, बंजर, तथा कम सुविधाजनक क्षेत्रों की ओर चली गई जो सिन्धु नदी के उत्तर पश्चिम और पश्चिम में स्थित थे।

जहाँ तक ईरानी भाषा और पुराकथाशास्त्र के भारत से गृहीत हुये होने का प्रश्न है (जिसे यूनानियों और लैटिनों की अपेक्षा अधिक सम्भावना के साथ दिखाया जा सकता है) मैं श्री कर्ज़न के विरोध मे अभी-अभी उद्धृत प्रो० स्पीगल के तर्कों और प्रमाणों को प्रस्तुत करता हूँ।

अभी तक मैंने श्री कर्ज़न के सिद्धान्त का सामान्य रूप से और उस काल के किसी सन्दर्भ के बिना ही परीक्षण किया है जब वह आर्यों के पश्चिम की ओर देशान्तरगमन की घटना को घटित हुआ मानते हैं। किन्तु जब हम उस बाद के युग पर, जब वह इस देशान्तरगमन को घटित हुआ मानते हैं, आते हैं तब जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उन्हीं के शब्दों में उनके सिद्धान्त की असम्भाव्यता में और भी वृद्धि हो जाती है। यदि आर्य, अथवा (भारत की दशा में) ब्राह्मणधर्मी आर्यों ने सिन्धु नदी के पश्चिम के देशों को अपने दक्षिण के पठारों पर आधिपत्य और अपनी सभ्यता तथा विशिष्ट संस्थाओं के पूर्ण विकास के बाद आक्रमण करके विजित किया, तो यह बात समझ में नहीं आती कि या तो स्वयं इनके, अथवा किसी अन्य पश्चिमी देशों के ही साहित्य में इस आक्रमण का कोई चिह्न क्यों नहीं मिलता, अथवा पर्शिया, यूनान, रोम, और जर्मनी आदि की धार्मिक और

---

[९४] भारत मे इनके फैलने से सम्बद्ध जो विवरण मैं आगे प्रस्तुत करूँगा उससे यह बात स्पष्ट हो जायगी।

राजनीतिक पद्धतियों पर कोई विशिष्टतः ब्राह्मणधर्मी प्रभाव का लक्षण क्यों नहीं दिखाई पडता, क्योंकि इन ब्राह्मण-भारतीयों के इस कल्पित विस्तार का जो समय माना गया है वह न तो हेल्लेनिक-युग (पृ० २५०) के पूर्व का हो सकता है, और न इसी बात की कल्पना की जा सकती है इस बात के समस्त चिह्न और विवरण किसी कल्पित 'अन्धयुग' में लुप्त हो गये होंगे (पृ० २४९)। 'प्राग्-हेल्लेनिक युग' प्रायः १,००० ई० पू० के आस-पास समाप्त हुआ, और ब्राह्मण संस्थाओं का इस समय के बहुत पूर्व पूर्ण विकास हो चुका होना सम्भव नहीं है।

जैसा कि हम देख चुके हैं, श्री एल्फिस्टन किसी भी सिद्धान्त के पक्ष में निर्णय न देकर इस बात को सन्दिग्ध ही छोड़ देते हैं कि हिन्दू लोग भारत के आदि-निवासी अथवा आकर बसे लोग थे। अपने सन्देह की पुष्टि के रूप में आप इस स्थिति का उल्लेख करते हैं कि प्राचीन काल के अन्य सब ज्ञात देशान्तरगमन पूर्व से पश्चिम दिशा में हुये हैं न कि किसी समान केन्द्र से चारों दिशाओं मे। किन्तु यह मत एक सीमित मान्यता के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्रस्तुत करता; अतः इसे उन शक्तिशाली सम्भावनाओं के विरुद्ध नहीं रक्खा जा सकता जो, इस दशा में, एक समान केन्द्र से ही विभिन्न आर्य राष्ट्रों के उद्भूत हुये होने के परवर्ती इतिहास द्वारा उपलब्ध होती हैं।

आर्य बोलियों का परस्पर साम्य, जैसा कि हम देख चुके हैं, किसी और प्राचीन एक ही पितृभाषा के अस्तित्व की ओर संकेत करता है जिससे ही ये सब उत्पन्न हुईं। इस प्रकार सम्भव अनुमान के आधार पर ये हमें इस निष्कर्ष की ओर अग्रसर करती हैं कि जो अनेक राष्ट्र इन विभिन्न बोलियों का व्यवहार करते थे, वे भी, यद्यपि अन्य जातियों के साथ अन्तर्मिश्रण के बिना नहीं, उन एक ही समान पूर्वजों से उत्पन्न हुये होंगे जो उस पितृभाषा का व्यवहार करते थे। यतः इतिहास के आधार पर इस बात का निर्णय नहीं किया जा सकता कि यह पूर्वग देश कहाँ था, अतः हमें अनुमान का ही आश्रय लेना पड़ता है, और इसलिये हम इस बात का अनुसन्धान करने के लिये प्रेरित होते हैं कि वह कौन-सा क्षेत्र है जो अपनी स्थिति के द्वारा उस बहिर्गमन का सुविधाजनक केन्द्र बन सकता है जहाँ से चलकर परस्पर उलटी दिशाओं में स्थित वे राष्ट्र, जो अन्ततः भारतीयों, ईरानियों, यूनानियों, रोमनों, जर्मनों, और स्लेवोनियनों द्वारा अधिकृत मिलते हैं, सुविधाजनक और सरल प्राकृतिक मार्गों का अनुसरण करते हुए अपने वर्तमान आवासों तक पहुँचे होंगे। बहिर्गमन का स्थल, जो इस स्थिति के सर्वाधिक अनुकूल है, उन विद्वान लेखकों के मत से जिनका

मैंने उद्धरण दिया है, भारत के उत्तर-पश्चिम में स्थित मध्यएशिया का कोई क्षेत्र हो सकता है। अतः हम आर्यों के आदिस्थान को वैक्ट्रिया या उसके आस-पास के क्षेत्र में ही स्थित कर सकते हैं।

खण्ड ८—स्वयं अपने मूलदेश के सम्बन्ध में भारतीयों की राष्ट्रीय परम्परायें

अब मैं इस बात का अनुसन्धान करूँगा कि पर्शियनों और भारतीयों की परम्पराओं में कोई ऐसे तथ्य उपलब्ध हैं या नहीं जिनके आधार पर हम उन निष्कर्षों की पुष्टि कर सकते हैं जिन्हें हमने अन्य आधारों पर प्राप्त किया है। फिर भी, मैं इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार करके ही आरम्भ करूँगा कि, जहाँ तक मैं परिचित हूँ, किसी भी संस्कृत ग्रन्थ में, यहाँ तक कि प्राचीनतम में भी, भारतीयों के विदेशी होने का कोई स्पष्ट उल्लेख या सन्दर्भ नहीं मिलता। सम्भवतः, यह बात किसी आश्चर्य का उचित आधार प्रस्तुत नहीं करती। स्वयं वैदिकसूक्त भी हमें इस राष्ट्र के प्रथम युगों तक पीछे नहीं ले जाते, बल्कि इनमें अपने से पूर्व समय के व्यक्तियों और घटनाओं का ही उल्लेख है। अपनी जाति का विगत इतिहास कोई भी अशिक्षित लोग, जैसा कि श्लेगेल ने कहा है, सरलता से विस्मृत कर सकते हैं। और आर्यों के आरम्भिक देशान्तरगमन की परम्पराओं का एक समय यदि अस्तित्व रहा भी होगा तो वह उन विपुल पुराकथात्मक सृजनों के बीच सरलता से अतिक्रमित और लुप्त हो गया होगा जिनके लिये भारत आरम्भिकतम युगों से उल्लेखनीय रहा है। लोप और अवरोध की यह प्रक्रिया भारतीय इतिहास के अन्य विभागों में भी स्पष्ट लक्षित होती है, और इस बात का अवसर संकेत किया गया है कि वेदों के उल्लेखों तक को बाद के पुराकथाशास्त्रियों ने कितना अधिक विकृत और विस्तृत कर दिया है। फिर भी, मैं ऐसे स्थलों को उद्धृत करने का प्रयास करूँगा जिनमें एक विदेशी उत्पत्ति-स्रोत की परम्परायें किसी न किसी प्रकार निहित प्रतीत होती हैं।

प्रथम—ऋग्वेद[1] में एक ऐसी उक्ति मिलती है जिससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भारतीय लोगों में एक पूर्व के समय में अपेक्षाकृत अधिक ठण्डे प्रदेश में रहे होने की स्मृति सुरक्षित है। इन स्थलों पर शीत ऋतु के सन्दर्भ मिलते हैं'—ऋग्वेद १.६४,१४: तोकम् पुष्येम

[1] विल्सन, इण्ट्रो० टु ऋग्वेद, भाग १, पृ० xlii।

तनय शत हिमा. । "हम अपने पुत्रों और वंशजों को सौ शीत ऋतुओं तक पालनेवाले हों।" ५.५४,१५; इद् सु मे मरुतो हर्यता वचो यस्य तरेम तरसा शतं हिमाः। "हे मरुतो! तुम हमारे इस स्तोत्र से प्रसन्न होते हुये हमको चाहो, जिससे हम अपनी आयु को सौ शीतऋतुओं से निकाल सकें।" ६.४,८ : मदेम शतहिमाः सुवीराः। "हम वीर सन्तान के साथ शतशीतों तक आनन्द ले।" यही शब्द ६.१०,७, ६.१२,६, ६.१३,६, ६.१७,१५, में भी दोहराये गये हैं। ६.४८,८ में अग्नि से इस प्रकार स्तुति की गई है : पाहि अहसः समेद्धारां शत हिमाः स्तोतृभ्यो ये च ददनि। "उसकी रक्षा करो जो सौ शीतऋतुओं तक तुम्हें प्रदीप्त करता है, और अपने स्तोता को अन्न देनेवाले यजमान की भी रक्षा करो।" और २.१,११ में हमें ये शब्द मिलते हैं त्वम् इळा शतहिमाऽसि दक्षसे। "तुम इळा हो, और बुद्धिमान व्यक्तियों को शतशीत ऋतुयें प्रदान करते हो।" और ९.७४,८ में हमें ये शब्द मिलते हैं : कक्षीवते शतहिमाय। "कक्षीवत् को, जो सौ शीतऋतुओं तक जीवित रहा।" पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम, अर्थात् "हम शतशरदों को देखें, शतशरद् तक जीवित रहें" शब्द भी ऋग्वेद ७.६६,१६ में आता है। ऋग्वेद १०.१८,४ भी देखिये। यह सम्भवतः इस अभिव्यक्ति का एक और अर्वाचीन रूप हो सकता है, जब कि उन अधिक ठण्डे क्षेत्रों की स्मृतियाँ विस्मृत हो चली थीं जहाँ से आर्य लोग आये थे।[९६]

द्वितीय :—भारतीय ग्रन्थों में उत्तर-कुरुओं के उल्लेखों में हिमालय के उत्तर के देशों के साथ आरम्भिक सम्बन्ध की कुछ स्मृति हो सकती है। ऐतरेय ब्राह्मण, ८.१४ (जिसे वेबर ने इण्डि० स्टू० १.२१८ में उद्धृत किया है) में उत्तर कुरुओं का मुझे ज्ञात प्राचीनतम सन्दर्भ मिलता है : तस्माद् एतस्याम्

---

[९६] मैंने यहाँ शतपथ ब्राह्मण १.८, १, १ और बाद, का उद्धरण नही दिया है जहाँ भारतीय ग्रन्थो मे प्रलय की कथा का प्राचीनतम रूप मिलता है। इसी प्रकार इसी कथा के महाभारत के वनपर्व के विवरण को, और मनु से आर्यों के उत्पन्न हुये होने के वैदिक सूक्तो के समस्त उद्धरणो को छोड दिया गया है, क्योकि इन सब तथा ऐसे ही अनेक को प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग मे विस्तार से उद्धृत किया गया है। साथ ही मुझे इस बात पर सन्देह है कि शतपथ ब्राह्मण १.८, १, ५ मे 'अतिदुद्राव' पाठ है अथवा 'अधिदुद्राव' जो उसी आशय को स्पष्ट रूप से व्यक्त नही करेगा, और इस प्रकार इस बात को सन्दिग्ध ही छोड देगा कि लेखक का अभिप्राय मनु को हिमालय पार करके आनेवाले के रूप मे व्यक्त करना था अथवा नही।

उदीच्यां दिशि ये के च परेण हिमवन्तं जनपदाः "उत्तरकुरवः उत्तर-मद्राः" इति वैराज्याय तेऽभिषिच्यन्ते । "वीराळ्" इत्य् एतान् अभिषिक्तान् आचक्षते । "इस उत्तरीक्षेत्र में, सभी लोग जो हिमवत् के उस पार निवास करते हैं, उत्तरकुरु तथा उत्तरमद्र वैराज्य के रूप में यहाँ अभिषिक्त हैं । जो अभिषिक्त हैं उन्हें विराल कहते हैं ।"

फिर भी, ऐतरेय ब्राह्मण के एक अन्य भाग (८.२३) से लिया गया यह उद्धरण इस बात को व्यक्त करेगा कि इस ग्रन्थ की रचना जैसे आरम्भिक समय में भी उत्तर कुरुओं का देश पुराकथाशास्त्र का विषय बन चुका था : एतम् ह वै ऐन्द्रम् महाभिषेक वासिष्ठः सात्यहव्योऽत्यरातये जानन्तपये प्रोवाच । तस्माद् उ अत्यरातिर् जानन्तपिर् अराजा सन् विद्यया समन्त सर्वतः पृथिवीं जयन् परीयाय । स ह उवाच वासिष्ठः सात्यहव्यः "अजैषीर् वै समन्त सर्वतः पृथिवीम् । महन् मा गमय" इति । स ह उवाच अत्यरातिर् जानन्तपिर् "यदा ब्राह्मण उत्तरकुरून् जयेयम् अथ त्वम् उ ह एव पृथिव्यै राजा स्याः सेनापतिर् एव तेऽहं स्याम्" इति । स ह उवाच वासिष्ठः सात्यहव्यः "देवक्षेत्रं वै तद् न वै तद् मर्त्यो जेतुम् अर्हति । अद्रुक्षो वै मे आऽतः इद् ददे" इति । ततो ह अत्यराति जानन्तपिम् आत्तवीर्य निःशुक्रम् अमित्रतपनो शुष्मिन' शैब्यो जघान । तस्माद् एवंविदुषे ब्राह्मणाय एवचक्रुषे न क्षत्रियो द्रुह्येद् न इद् राष्ट्राद् अवपद्येयद् न इद् वामप्राणो जहत् । "वसिष्ठ के वंशज, सात्यहव्य ने इन्द्र के समान इस महाभिषेक का जनन्तप के पुत्र अत्यराति को उपदेश दिया, और उसके परिणामस्वरूप अत्यराति ने, जो राजा नहीं था, उसके ज्ञान से समस्त पृथिवी की परिक्रमा करके उसे अपने अधीन कर लिया । सात्यहव्य ने उससे कहा : 'तुमने समस्त पृथिवी को अपने अधीन कर लिया है, अब मुझे महान पद प्रदान करो ।' अत्यराति ने उत्तर दिया : 'हे ब्राह्मण, जब मैं उत्तर कुरुओं को विजित कर लूँगा तब मैं तुम्हें पृथिवी का राजा बना दूँगा और स्वय केवल सेनापति बन जाऊँगा ।' सात्यहव्य ने कहा : 'वह देवों की भूमि है; कोई मर्त्य उस पर विजय नहीं प्राप्त कर सकता, तुमने मेरे प्रति अन्याय किया है, अतः मैंने जो कुछ तुम्हें प्रदान किया था उसे लौटा लेता हूँ ।' इसके परिणामस्वरूप शिवि के पुत्र, शत्रुओं के विनाशक शुष्मिण ने जनन्तप के पुत्र, अत्यराति का, जो शक्ति और वीरता से रहित हो गया था, वध कर दिया । इसलिये कोई भी व्यक्ति ऐसे ब्राह्मण का अपमान न करे जो इस विद्या का ज्ञाता हो और जिसने इस कृत्य को सम्पन्न किया हो, अन्यथा वह भी अपने राज्य और जीवन को खो देगा ।" (देखिये कोलब्रुक, मिसए०, १.४३) ।

रामायण में भी उत्तर कुरुओं का उल्लेख है।[१७] 'उत्तरी क्षेत्र' के वर्णन में हमें यह विवरण मिलता है : ४.४४,८२ : तान् गच्छत हरि-श्रेष्ठाः विशालान् उत्तरान् कुरून्। दानशीलान् महाभागान् नित्यतुष्टान् गतज्वरान्। न तत्र शीतम् उष्ण वा न जरा नामयस् तथा। न शोको न भयं वाऽपि न वर्षं नाऽपि भास्करः। "हे वानर श्रेष्ठ, उन उत्तर कुरुओं के पास जाओ, जो दानशील, सम्पन्न, चिरप्रसन्न, और अजर हैं। उनके देश में न तो शीत है न उष्णता, न जरावस्था है न व्याधि, न शोक है न दुःख, और न वर्षा है न सूर्य।" इनका और भी इसी प्रकार अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करने के बाद ११७ वे श्लोक में इस प्रकार कहा गया है : कुरूस् तान् समतिक्रम्य उत्तरे पयसां निधिः। तत्र सोमगिरिर् नाम हिरण्मय-समो महान्। और १२१, १२२ वें श्लोक में यह कथन है : न कथञ्चन गन्तव्यं कुरूणाम् उत्तरेण च। अन्येषाम् अपि भूतानां न तत्र क्रमते गतिः। स हि सोमगिरिर् नाम देवानान् अपि दुर्गमः। "कुरुओं के देश के उस पार उत्तर में सागर है, और वहाँ विशाल सोमपर्वत एक सुवर्णराशि के समान स्थित है।" "तुम कुरुओं के उत्तर मे मत जाना। कोई भी जीवित प्राणी उस देश मे अभी तक नहीं गया है, क्योंकि वह सोमपर्वत देवों तक के लिये दुर्गम है।"[१८]

इसी प्रकार, अपनी दिग्विजय के समय जब अर्जुन (जैसा कि महाभारत के दिग्विजय पर्व में वर्णन है) हरिवर्ष में उत्तरकुरुओं के देश में आये तब नगर के द्वारपालों ने उन्हें इस प्रकार सम्बोधित किया : पार्थ नेद त्वया शक्यम् पुरं जेतुं कथञ्चन।...इदम् पुरं यः प्रविशेद् ध्रुवं न स भवेद् नर.। ... न चात्र किञ्चिज् जेतव्यम् अर्जुनात्र प्रदृश्यते। उत्तराः कुरवो ह्य एते नात्र युद्धम् प्रवर्तते। प्रविष्टोऽपि हि कौन्तेय नेह द्रक्ष्यसि किञ्चन। न हि

---

[१७] देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम भाग भी।

[१८] ये उद्धरण गोरेसियो स० से लिये गये है। बम्बई स० के इसी काण्ड के ४३ वे अध्याय के ३८ वें तथा ५० वें और बाद, श्लोक कम अस्पष्ट हैं। ४.४३, ३८ "उत्तरा कुरवम् तत कृतपुण्य-प्रतिश्रया.।" "वहाँ उन उत्तर कुरुओ का देश है जिन्होने अनेक पुण्यकर्म किये है।" श्लोक ५७. "न कथञ्चन गन्तव्यं कुरूणाम् उत्तरेण व। अन्येपाम् अपि भूताना नानुक्रामति वै गति। ५८ स हि सोमगिरिर् नाम देवानाम् अपि दुर्गम ·" "तुम कुरुओ के उत्तर मे किसी भी प्रकार मत जाना और न कोई अन्य प्राणी ही उधर जाय; क्योंकि वह सोमपर्वत देवो के लिये भी दुर्गम है।"

मानुष देहेन शक्यम् अत्राभिवीक्षितुम्। "इस नगर को जीतना, हे पार्थ, तुम्हारी शक्ति के बाहर है। इस पुरी में वही प्रवेश कर सकता है जो मनुष्य से अधिक है। हे अर्जुन! यहाँ कुछ भी द्रव्य नहीं जिसे तुम जीत सको। यहाँ उत्तर कुरुगण निवास करते हैं जिनसे कोई युद्ध करने का प्रयास नहीं करता। और यदि तुम नगर में प्रवेश करो भी तो तुम्हें कुछ दृष्टिगत नहीं होगा क्योंकि मनुष्य देह से कोई भी व्यक्ति यहाँ कुछ देख नहीं सकता।"

इस स्थल पर (जिसका कुछ अंश ऐतरेय ब्राह्मण ८.२३ की पुनरुक्ति मात्र है) प्रो० लासन ने (स्नीमा० २ ६२) में इस प्रकार टिप्पणी की है: "पृथ्वी के सुदूरतम छोर पर हरिवर्ष स्थित प्रतीत होता है जहाँ उत्तर कुरु निवास करते हैं। हरि अथवा विष्णु का क्षेत्र पौराणिक भूगोल के अन्तर्गत आता है। किन्तु उत्तर कुरुओं के साथ स्थिति भिन्न है। यहाँ भौगोलिक तथ्य के लिये एक वास्तविक आधार है, जिसका बिना सृजन किये ही आख्यान ने उपयोग किया है। पहले उत्तर कुरु द्वीपों की पौराणिक प्रणाली से सर्वथा स्वतन्त्र था, यद्यपि एक आरम्भिक समय में इसे भी द्वीपों के अन्तर्गत ही रक्खा गया था।" पुनः, पृ० ६५ पर यही लेखक इस प्रकार कहते हैं: "उत्तर कुरुओं से सम्बद्ध धारणा का किसी वास्तविक देश पर आधारित होना न कि कल्पना पर, इन बातों से सिद्ध होता है: (१) वेदों में इनका जिस प्रकार उल्लेख है [ऐतरेय ब्राह्मण, जिसे ऊपर उद्धृत किया गया है]; (२) ऐतिहासिक काल में एक वास्तविक देश के रूप में उत्तर कुरु का अस्तित्व; और (३) जिस प्रकार आख्यान में इस क्षेत्र का पूर्वग आचार व्यवहारों के गृह के रूप में उल्लेख किया गया है। इस अन्तिम आधार से आरम्भ करते हुये, महाभारत स्त्रियों के उस स्वतन्त्र जीवन का उल्लेख करता है जो वे पूर्वयुग में व्यतीत करती थीं (१.४७१९–२२): अनावृता किल पुरा स्त्रियः आसन् वरानने। काम चारविहारिण्यः स्वतन्त्राश् चारुहासिनि। तासां व्युच्चरमाणानांऽभवत्। तं चैव धर्मम् पौराणं तिर्यग्योनि-गताः प्रजाः। अद्याप्य् अनुविधीयन्ते काम-क्रोध विवर्जिता। प्रमाण-दृष्टो धर्मोऽयम् पूज्यते च महर्षिभिः। उत्तरेषु च रम्भोरु कुरुष्व् अद्यापि पूज्यते। "पूर्वयुग में स्त्रियाँ अनावृता होती थीं। वे तब स्वतन्त्र और अपनी इच्छा से विहार करती थीं। यद्यपि अपने यौवन के अज्ञानवश वे अपने पति से अलग व्यभिचार भी करती थीं किन्तु उन्हें पाप नहीं लगता था क्योंकि पूर्वसमय में ऐसा ही विधान था। यह प्राचीन नियम आज भी तिर्यग्योनि के प्राणियों में प्रचलित है जो काम-क्रोध से मुक्त होते हैं। यह प्रचलन प्रामाणिक है और महर्षि लोग भी इसका

व्यवहार करते थे। उत्तर कुरुओं में यह आज भी प्रचलित है।"[९९]

यहाँ जो विचार प्रस्तुत किया गया है वह यह है कि वह मूल प्रचलन, जो स्वर्णयुग में प्रचलित था, आज भी संसार के एक भाग में प्रचलित है। दक्षिण कुरुओं की सुखद स्थिति को व्यक्त करते हुये एक अन्य स्थान (महाभारत १.४३४६) पर यह कथन मिलता है : उत्तरैः कुरुभिः सार्धं दक्षिणाः कुरवस् तथा। विस्पर्धमाणाः व्यहरंस् तथा देवर्षि-चारणैः। "दक्षिण कुरु सुख में उत्तर कुरुओं, तथा देवर्षियों और चारणों से स्पर्धा रखते थे।"

प्रो० लासन आगे इस प्रकार कहते हैं : टॉलमी (६.१६)[१००] भी उत्तर कुरु से परिचित है। उसने एक पर्वत, एक जाति, और 'ओत्तोरोकोर्रा' नामक एक नगर का उल्लेख किया है। अधिकांश अन्य प्राचीन लेखकों ने, जिन्होंने अन्यत्र इस नाम का उल्लेख किया है, इसे टॉलमी से ही प्राप्त किया है। यह एक ऐसे देश का अंग है जिसे वह 'सेरिका' कहता है। उसके अनुसार यह सेरा नामक नगर से बारह अंश पश्चिम में स्थित है, और पर्वत वहीं से दूर पूर्व की ओर चला गया है। यतः टॉलमी ने सम्पूर्ण पूर्वी एशिया को गलती से गङ्गा के उस पर स्थित बताया है, अत वह जो सापेक्षिक स्थिति निर्धारित करता है वह निरपेक्ष की अपेक्षा अधिक ठीक से मार्गदर्शन करेगी, क्योंकि अन्यथा 'आत्तोरोकोर्रा' की स्थिति इतने पूर्व में हो जायगी कि उसमें संशोधन अनिवार्य हो जायगा।

"मेरे विचार से टॉलमी के 'ओत्तारोकोर्रा' को काशग़र के पूर्व में स्थित किया जाना चाहिये।"

लासन का यह भी विचार है कि भारतीयों में ख्यात सहस्रवर्ष[१०१] की

---

[९९] [इन पक्तियो के अनुवाद के लिये मैं स्वय उत्तरदायी हूँ। आख्यान के अनुसार व्यभिचार का महर्पि उद्दालक के पुत्र, श्वेतकेतु, ने उन्मूलन किया था जो एक अपरिचित ब्राह्मण द्वारा अपनी माता को भ्रष्ट कर दिये जाने से क्रुद्ध हो उठा था। उसके पिता ने उसे बताया कि इसमे क्रुद्ध होने की कोई बात नही है "अनावृता. सर्वेपाम् वर्णानाम् अङ्गना भुवि। यथा गावः स्थितास् तात स्वे वार्णे तथा प्रजा।" "पृथ्वी पर सभी वर्णों की स्त्रियाँ अनावृत्त हैं जो स्थिति गायो की है, वही वर्णानुसार मनुष्यो की है।" फिर भी श्वेतकेतु इस प्रचलन को सहन नही कर सका और यह नियम बना दिया कि स्त्रियो को अपने पतियो के और पतियो को अपनी स्त्रियो के प्रति निष्ठावान् होना चाहिये। महाभारत १ ४७२४–३३]

[१००] मूल को परिशिष्ट 'J' मे दिया जायगा।

[१०१] ती० २६०, और श्वनवेक. मेगास्थनीज़ इण्डिका, पृ० ७७, ११७।

आयुवाले 'हिपर्बोरियन्स' का उल्लेख करते हुये, मेगास्थनीज़ के सामने उत्तर कुरुओं का ही चित्र था। इण्डियन एन्टीक्विटीज़ (इआ०, द्वि० सं० १.६१२ और बाद, तथा नोट) से यही लेखक यह निष्कर्ष निकालते हैं: ऊपर उद्धृत किये गये स्थलों तथा उनके समान अन्य में उत्तर कुरुओं के सम्बन्ध में जो विवरण दिये गये हैं उन्हें कुरुओं की किसी उत्तरी क्षेत्र से उत्पत्ति पर आधारित की अपेक्षा एक आदर्श स्वर्ग के चित्र के रूप में ही ग्रहण करना चाहिये। फिर भी, आपके विचार से यह सम्भव है कि इस प्रकार की किसी स्मृति का मूलतः कोई अस्तित्व अवश्य था जो वैदिक युग में भी बना रहा यद्यपि बाद के समय में उसका कोई चिह्न शेष नहीं रहा।

महाभारत के वनपर्व में कश्मीर की पवित्रता की इस प्रकार प्रशंसा की गई है: काश्मीर-मण्डल चैतत् सर्वपुण्यम् अरिन्दम। महर्षिभिश् चाध्युषितम् पश्येदम् भ्रातृभिः सः। यत्रोत्तराणां सर्वेषाम् ऋषीणां नाहुषस्य च। अग्नेश् चैवात्र संवादः काश्यपस्य च भारत। "और यह सर्वपुण्य-भूमि, काश्मीर-मण्डल है जहाँ महर्षिगण निवास करते हैं: अपने भ्राताओं के साथ इसका दर्शन करो। यहीं उत्तर के समस्त ऋषियों का नहुष से, और अग्नि का काश्यप से संवाद हुआ था।"

चतुर्थ—अथर्ववेद ५.४,१ में 'कुष्ठ' नामक ओषधि को हिमालय के उस पार उगनेवाला कहा गया है: उद् जातो हिमवतः प्राच्यां नीयसे जनम्। "हिमवन् के उत्तर में उत्पन्न तुम्हें पूर्व के लोगों के पास ले जाया गया।" इस सन्दर्भ से यह अनुमान किया जा सकता है कि इस मन्त्र के प्रणेताओं को हिमालय के उस पार के देश का भी कुछ ज्ञान था।

पञ्चम—शाङ्खायन अथवा कौषीतकि ब्राह्मण ७.६ (वेबर, द्वारा इण्डिशे स्टू० १.१५३, नोट, में उद्धृत, और मूलर द्वारा लास्ट रेज़ल्ट्स ऑफ दि तूरानियन रिसर्चेज़, पृ० ३४०, में उल्लिखित): एक अत्यधिक आरम्भिक समय में भाषा का अध्ययन करने के लिये उत्तर दिशा में जाया जाता था, क्योंकि वहाँ के लोग भाषा के अच्छे ज्ञाता थे: पथ्या स्वस्तिर् उदीचीम् दिशम् प्राजानात्। वाग् वै पथ्या स्वस्तिः। तस्माद् उदीच्याम् दिशि प्रज्ञाततरा वाग् उद्यते। उदञ्च उ एव यन्ति वाचं शिक्षितुम्। यो वा ततः आगच्छति तस्य वा शुश्रूषन्ते "इति स्म आह"। एषा हि वाचो दिक् प्रज्ञाता। "पथ्या स्वस्ति (एक देवी) उत्तरी क्षेत्र को जानती है। पथ्या स्वस्ति ही वाच् हैं। अतः उत्तरी क्षेत्र में वाच् को अधिक अच्छी तरह जाना तथा बोला जाता है: मनुष्य वाच् के अध्ययन के लिये उत्तर जाते हैं: उस दिशा से आनेवाले किसी भी व्यक्ति का यह कहकर कि 'वह कहता है',

लोग श्रवण करते हैं : क्योंकि वह दिशा वाच के क्षेत्र के रूप में प्रख्यात है।" इस स्थल पर भाष्यकार विनायक भट्ट ने इस प्रकार टिप्पणी की है (ऊपर उल्लिखित वेवर का सन्दर्भ देखिये) : "प्रज्ञाततरा वाग् उद्यते" काश्मीरे सरस्वती कीर्त्यते । बदरिकाश्रमे वेद-घोषः श्रूयते। "वाच शिक्षितुम" सरस्वती-प्रासादार्थम् "उदञ्चे एव यन्ति" । यो वा प्रसादं लब्ध्वा "ततः आगच्छति" । "स्माह" प्रसिद्धम् आह स्म सर्वलोक. । " 'वाच् को अच्छी तरह बोला और समझा जाता है'; क्योंकि ऐसा कहा गया है कि कश्मीर सरस्वती का घर है, और बदरिकाश्रम में वेद-घोष सुनाई पड़ता है। मनुष्य वाच् को सीखने के लिये उत्तर जाते हैं : सरस्वती की कृपा प्राप्त करने; और सरस्वती की कृपा प्राप्त करके जो 'वहाँ से आता है';उसे लोग 'ध्यान से सुनते हैं' ऐसा सभी जानते है और दोहराते है।"

इस स्थल पर उत्तर के साथ एक आरम्भिक सम्बन्ध की धुँधली स्मृति निहित हो सकती है।

खण्ड ९—वेण्डिडाड के प्रथम फार्गर्द मे आर्यों के आरम्भिकतम आवासों से सम्बद्ध कोई परम्परा निहित है अथवा नहीं

अब मै वेण्डिडाड के प्रथम फार्गर्द से विस्तार से कुछ ऐसे स्थलों को उद्धृत करूँगा जिनमें अहुरमज्द द्वारा विभिन्न देशों की सृष्टि का वर्णन है। कुछ लोगों ने इन वर्णनों में ईरानियों को ज्ञात तथा बाद मे उनके द्वारा अधिकृत क्षेत्रों का सन्दर्भ निहित माना है, यद्यपि कुछ अन्य ने इस बात को अस्वीकार भी किया है। ज़ेण्ड से अपरिचित होने के कारण मैंने इस खण्ड में जिन स्थलों को उद्धृत किया है उन्हे प्रो० स्पीगल[१०२] और डा० हॉग[१०३] से लिया है।

१, ४ :—"अहुर-मज्द पवित्र ज़रथुस्त्र से बोले : 'मैंने पहले के बञ्जर क्षेत्र को निवास के योग्य बना दिया है। यदि मै ऐसा न करता तो वहाँ के समस्त प्राणी ऐर्यन-वएजो में आ जाते।"[१०४]

---

[१०२] अवेस्ता : दी सेक्रेड राइटिंग्स ऑफ दि पारसीज़ (जर्मन मे), भाग १, पृ० ६१ और बाद।

[१०३] दि फर्स्ट चैप्टर ऑफ दि वेण्डिडाड (जर्मन मे) पृ० १८ और बाद।

[१०४] डा० हॉग से अनुसार इसका तात्पर्य यह है कि मूलत 'ऐर्यन-वएजो' ही एकमात्र कृपित देश था और अन्य सब देश बञ्जर थे। यत यह आशंका

५, ९ :—"मैं, अहुरमज्द ने, सर्वप्रथम, सर्वश्रेष्ठ क्षेत्र, ऐर्यन वएजो की अति उत्तम रूप से सृष्टि की। तब विनाशक अंग्र-मैन्यु ने इसके विरुद्ध एक महान सर्प तथा शीत (अथवा हिम) का निर्माण किया, जो सब दएवों की सृष्टि है। शीतकाल के दस और ग्रीष्म के दो मास होते हैं।"

१३, १४ :—"मैं, अहुर-मज्द ने दूसरे श्रेष्ठ क्षेत्र के रूप में गाव की सृष्टि की जहाँ सुग्ध स्थित है।

[यहाँ तथा नीचे की अधिकांश दशाओं में भी, मैंने अंग्र मैन्यु की प्रति-सृष्टियों को छोड़ दिया है।]

१७, १८ —"मैंने, इत्यादि, तीसरे श्रेष्ठ क्षेत्र के रूप में मोउरु की सृष्टि की जो अत्यन्त पवित्र है।"

२१, २२ :—"मैंने, इत्यादि, चौथे श्रेष्ठ क्षेत्र के रूप में सौभाग्यशाली तथा उच्च ध्वजावाले बख्धी की सृष्टि की।"

२५, २६ :—"मैंने, इत्यादि, पाँचवें श्रेष्ठ क्षेत्र के रूप में निसाइ (मोउरु और बख्धी के बीच स्थित) की सृष्टि की।"

२९, ३० :—मैंने, इत्यादि, छठवें श्रेष्ठ क्षेत्र के रूप में, प्रचुर गृहों (अथवा जलों) से युक्त हरोयु की सृष्टि की।"

३३, ३६ :—"मैंने, इत्यादि, सातवें श्रेष्ठ क्षेत्र के रूप में वाएकेरते की सृष्टि की जहाँ दुजक स्थित है। इसके विरोध में, विनाशक अंग्र मैन्यु ने पैरिक ख्नथैति की रचना की जो केरेशास्प से लटका हुआ है।"

३७, ३८ :—"मैंने, इत्यादि, आठवें श्रेष्ठ क्षेत्र के रूप में उर्वा की सृष्टि की जिसमें प्रचुर चरागाह हैं।"

४१, ४२ :—"मैंने, इत्यादि, नवें श्रेष्ठ क्षेत्र के रूप में ख्नेन्त की सृष्टि की जहाँ वेहकान स्थित है।"

४५, ४६ :—"मैंने, इत्यादि, दसवें श्रेष्ठ क्षेत्र के रूप में सौभाग्यशाली हरकैति की सृष्टि की।

४९, ५० :—"मैंने, इत्यादि, ग्यारहवें श्रेष्ठ क्षेत्र के रूप में सम्पन्न और प्रज्वलित हएतुमत की सृष्टि की।"

५९, ६० :—"मैंने, इत्यादि बारहवें श्रेष्ठ क्षेत्र के रूप में तीन गढ़ों (अथवा जातियों) से युक्त रघा की सृष्टि की।"

६३, ६४ :—"मैंने, इत्यादि, तेरहवें श्रेष्ठ क्षेत्र के रूप से, शक्तिशाली चख्र की सृष्टि की।"

हुई कि बञ्जर देशों के लोग ऐर्यन-वएजो पर आक्रमण कर देंगे, अत अहुर-मज़्द ने उन अन्य देशों को भी रहने योग्य बना दिया।

६७, ६८ :—"मैंने, इत्यादि, चौदहवें श्रेष्ठ क्षेत्र के रूप में चार कोनों वाले वरेन की सृष्टि की, जहाँ दहाक नामक सर्प का वध करनेवाले थ्रएटओनो का जन्म हुआ था।"

७२, ७३ :—"मैंने, इत्यादि, पन्द्रहवें श्रेष्ठ क्षेत्र के रूप में सर्वश्रेष्ठ देश हप्त-हेन्दु [पूर्वी से पश्चिमी हेन्दु तक[१०५]] की सृष्टि की। इसके विरुद्ध अंग्र-मैन्यु ने अकाल विपत्तियाँ और घातक ताप (ज्वर) उत्पन्न किया।"

७६, ७७ :—'मैंने, इत्यादि, सोलहवे और श्रेष्ठों के रूप में उन लोगों को उत्पन्न किया जो विना किसी शासक के ही सागर-तट पर निवास करते हैं।"

८१ :—"इनके अतिरिक्त भी अनेक देश हैं जो सौभाग्यशाली, प्रसिद्ध, ऊँचे, सम्पन्न और भव्य हैं।"

अब मैं इस कुछ-कौतूहलवर्धक स्थल पर विभिन्न लेखकों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण टिप्पणियों को उद्धृत करूँगा।

हॉग का मत है (पृ० ९) कि "ऐर्यन-वएजो में होने वाली दस मास की शीत ऋतु से जैक्सार्टीज़ से बहुत दूर उत्तर के किसी स्थान का संकेत मिलता है; किन्तु किसी ठीक-ठीक विवरण के अभाव में इस स्थान का अधिक शुद्धता के साथ निर्धारण नहीं किया जा सकता। केवल इस बात को अस्वीकार नही किया जा सकता कि ईरानी सुदूर उत्तर से आये थे। वेण्डिडाड के द्वितीय फार्गार्ड से भी यही परिणाम निकलता है जहाँ यिम के वर्षों की शीत ऋतुओं से गणना कराई गई है, और शीत ऋतु के कष्टों का सजीव चित्रण किया गया है।" यही लेखक और आगे (पृ० २३, २४) में इस प्रकार कहते हैं : "ऐर्यन—वएजो से हमें आर्यों के मूल देश तथा ईरानियों के स्वर्ग का तात्पर्य समझना चाहिये। इसका शासक राजा यिम था जो ईरानी पुराकथाओं का प्रसिद्ध जमशेद है, और इसलिये इसे 'श्रुतो ऐर्येने-वएजहि' कहा गया ह (फार्गार्ड २)। इस क्षेत्र में अहुर-मज्द और ज़रथुस्त्र दिव्य सोते के जल की आराधना करते है ('अर्द्वी शूरा अनाहिता', यष्ट, ५, १७, १०४), और यहीं ज़रथुस्त्र द्रवास्पा और अशि की प्रार्थना भी करते हैं। इस प्रकार ऐर्यन-वएजो एक सर्वथा पौराणिक क्षेत्र बन जाता है जहाँ व्याधि, मृत्यु, शीत, और ताप से मुक्त देवता तथा वीर निवास करते है क्योंकि इसे यिम का क्षेत्र कहा गया है। फिर भी, प्रस्तुत अध्याय में हम ऐतिहासिकता की पृष्ठभूमि भी ढूँढ़ सकते हैं। ऐर्यम—वएजो में शीत ऋतु दस मास

---

[१०५] स्पीगल ने ब्रैकेट मे लिखे शब्दो को छोड दिया है।

तक रहती है; किन्तु शीत के अंग्र मन्यु के द्वारा प्रेरित विपत्ति होने के कारण इस क्षेत्र की स्वर्ग तथा सुख और समृद्धि के विचार के साथ संगति नहीं बैठती। फिर भी, शीत ऋतु की यह लम्बी अवधि सुदूर उत्तर के क्षेत्रों की एक निश्चित विशेषता है; अतः इसे ईरानियों के पूर्वग आवास की स्मृति कहा जा सकता है। इस प्रकार ऐर्यम-वएजो के आख्यान में इस आरम्भिकतम आवास की स्मृति का स्वर्ग में मानव के एक ऐसे पूर्वग आवास की धारणा के साथ सम्मिश्रण हो गया है जो अनेक लौकिक परम्पराओं में व्यक्त होती है।"

"ऐर्यम–वएजो को", स्पीगल के कथनानुसार, "ईरानी पठारों के सुदूरतम पूर्व में उस क्षेत्र में स्थित करना चाहिये जहाँ ओक्सस और जैक्सार्टीज़ का उद्गम है।"

दूसरा देश सोग्दियाना है; तीसरा मेर्व (प्राचीन मार्जियाना) है, चौथा बल्ख (प्राचीन बैक्ट्रिया) है, पाँचवा निस (प्राचीन निसाए),[१०६] छठवाँ हेरात (प्राचीन अरिआ), सातवाँ स्पीगल के अनुसार काबुल,[१०७] और हॉग, बर्नफ तथा लासन के अनुसार सेजेस्तान है; आठवाँ हॉग और लासन[१०८] के अनुसार काबुल है, नवाँ स्पीगल[१०९] के अनुसार गुर्गान और हॉग के अनुसार कन्धार है, दसवाँ प्राचीन लोगों का अर्कोसिया है, ग्यारहवाँ हिल्मेन्द नदी की घाटी है, बारहवाँ मेडिया का रेइ है; तेरहवें और चौदहवें को विभिन्न स्थानों में स्थित किया गया है, पन्द्रहवाँ सात नदियाँ (सप्त-सिन्धवः) अथवा पजाब है, और सोलहवें को हॉग के विचार से कैस्पियन सागर के तटों पर खोजा जा सकता है,[११०]।

---

[१०६] स्पीगल का कथन है कि इस खण्ड की भूगोल-सम्बन्धी कृतियों में इस देश की स्थिति अत्यधिक विवादास्पद है।

[१०७] अपनी टीका के अनुसार (पृ० २८) स्पीगल का विचार है कि इस समीकरण की शुद्धता को निश्चित नहीं कहा जा सकता, यद्यपि बहुत कुछ इसके पक्ष में है।

[१०८] स्पीगल के अनुसार इस स्थान का निर्धारण कठिन है (टीका पृ० ३१)।

[१०९] अपनी टीका (पृ० ३२) में स्पीगल का कथन है कि वेह्रकान नाम प्राचीन हिर्केनिया प्रतीत होता है। लासन भी इससे सहमत है।

[११०] 'ऑन दि ज्योग्राफिकल अरेञ्जमेन्ट्स ऑफ दि एरियन कन्ट्रीज़ मेन्शण्ड इन दि फर्स्ट फार्गार्ड ऑफ दि वेण्डिडाड" नामक एक लेख में, जो ट्रान्जैक्शन्स ऑफ बर्लिन एकेडमी, १८५६, पृ० ६२१-६४७, में प्रकाशित हुआ है, डा०

विवेच्य खण्ड के समय के सम्बन्ध में डॉ० हॉग इस प्रकार टिप्पणी करते हैं (पृ० ६) : "मूल कृति (कुछ प्रक्षिप्त अंशों के विपरीत) निश्चित रूप से बहुत प्राचीन और इसमें सन्देह नहीं कि वर्तमान वेण्डिडाड के प्राचीनतम स्थलों में से एक है। किन्तु जिस रूप में यह आज हमारे सम्मुख है (बाद के प्रक्षिप्त अंशों को निकाल देने पर भी) वह निश्चित रूप से ज़रथुस्ट्र के बाद का है; और उन तथाकथित गाथाओं से भी बाद का है जिनमें अधिकांशतः ज़रथुस्ट्र के वास्तविक कथन और सिद्धान्त हमें उपलब्ध हैं। इस निष्कर्ष का प्रमुख आधार यह है कि विवेच्य स्थल ज़रथुस्ट्र के गायनों की अपेक्षा पर्शियन सिद्धान्तों के एक कहीं अधिक विकसित रूप को व्यक्त करता है।" और पुनः पृ० ७ पर आप का यह कथन है : "इस प्रकार यद्यपि इस फार्गार्ड का समय ज़रथुस्ट्र के बाद का ही है, तथापि इससे हम यह नहीं कह सकते कि इसकी रचना आधुनिक है। इसके विपरीत, इसके सम्पूर्ण विषयवस्तु से ऐसा प्रतीत होता है कि इसे अत्यन्त प्राचीन होना चाहिये। इससे हम कोई ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त नहीं कर सकते। फिर भी, देशों के नाम से हम न केवल इतना ही जान पाते हैं कि इसके लेखक का भौगोलिक ज्ञान अत्यन्त सीमित था, वरन् यह भी कि उस समय आर्यों द्वारा वास्तविक रूप से अधिकृत क्षेत्र उससे कहीं अधिक सकुचित था जितना बाद में उसे पाते हैं।"

अपने ग्रन्थ के प्रथम भाग में इसी फार्गार्ड पर प्रो० स्पीगल इस प्रकार टिप्पणी करते हैं (पृ० ५९) : "सामान्यरूप से इण्डो-जर्मनिक जाति के, तथा विशेष रूप से पर्शियन जाति के प्रागैतिहासिक काल के समय में इस प्रथम अध्याय के अत्यधिक महत्त्व को प्राचीन संसार के इतिहास तथा पुराकथाओं के सभी अनुसन्धानकर्त्ताओं ने पूरी तरह स्वीकार किया है। हीरेन, रोड, लासन तथा अन्य ने वेण्डिडाड के इन विवरणों में एक अर्ध-ऐतिहासिक तथा अर्ध-पौराणिक ऐसे तथ्य को स्वीकार किया है जो अवेस्ता की रचना के समय अवेस्ता के अनुयायियों के भौगोलिक ज्ञान की स्थिति का उद्घाटन करता है। सम्भवतः, रोड के साथ हम लोग भी इसमें ईरानी जाति के क्रमिक विस्तार के इतिहास को ढूंढ़ सकते हैं : यदि हम उल्लिखित पहले देश को इनका पूर्वंग आवास मान लें और बाद के क्रमिक देशों को वे देश जहाँ ये उत्तरोत्तर बाद में बसते गये। जिस क्रम से देशों का उल्लेख है वह इस परिकल्पना के अनुकूल प्रतीत होता है।"

कीपर्ट ने कुछ देशो के स्थान से सम्बद्ध डा० हॉग तथा अन्य के मतो का प्रतिवाद किया है। डा० हॉग ने जजओसो०, भाग ११, पृ० ५२६–५३३, मे एक लेख मे अपने मत का पुन समर्थन किया है।

अपने द्वितीय भाग (पृ० cix) में प्रो० स्पीगल रौठ के मत के प्रति अपनी सीमित सहमति को भी वापस लेते हैं। आपका कथन इस प्रकार है: "मैं वेण्डिडाड के प्रथम अध्याय में ईरानियों के क्रमिक देशान्तरगमन का विवरण ढूँढ़ने के प्रयास के साथ सहमत नहीं हो सकता। ऐसा कहा गया है कि देशों की तालिका में इनके उत्तरी गृह से आरम्भ कर के हप्त-हेन्दु अथवा भारत में उत्तरोत्तर आकर बसने का क्रमिक इतिहास निहित है। किन्तु तालिका में इस देशान्तरगमन का कहीं भी कोई उल्लेख नहीं है।...अतः मुझे इस अध्याय में किसी समय ईरानियों को ज्ञात देशों के उल्लेख के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं पड़ता। फिर भी, यह समय बहुत अर्वाचीन नहीं हो सकता, क्योंकि हप्त हेन्दु नाम वैदिक युग से सम्बद्ध है। फिर भी, यह नाम भारत में लुप्त हो जाने के बाद भी पर्शिया में सुरक्षित रहा हो सकता है, और इससे हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि इस फार्गार्ड की रचना वेदों की समकालीन है।"[111]

दूसरी ओर, एम० पिक्टेट यह मत व्यक्त करते हैं: "ये नाम (देशों के) हमें उस विस्तृत क्षेत्र पर, जहाँ तब से हम ईरानियों को पाते हैं, क्रमिक विस्तार का अनुसरण करने में सहायता करते हैं। इस गणना में हमारे लिये जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात है वह प्रस्थान का स्थान तथा प्रगति की सामान्य दिशा है। ओर्मुज्द ने जिस प्रथम श्रेष्ठ आवासक्षेत्र की रचना की उसे 'ऐर्यन-वएजो' कहा गया है।" जैसा कि रिट्टर और लासन ने कहा है, दस मास की शीत ऋतु तथा दो मास की ग्रीष्म ऋतु ईरानी पठार के उत्तर-पूर्वी कोने पर स्थित बेलर्टघ और मुस्टघ की उच्चतम घाटियों के लिये ही व्यवहृत हो सकती है। किन्तु जब तक हम जलवायु में एक अत्यन्त असम्भाव्य परिवर्तन न कर लें, तब तक यह सोच पाना कठिन है कि वहाँ कभी एक 'उत्कृष्ट' आवास रहा भी

[111] अवेस्ता की अपनी टीका, भाग १ (१८६५), पृ० 1, पर यही लेखक इस प्रकार लिखते है इस मत (कि यह फार्गार्ड ईरानियो के देशान्तरगमन का वर्णन करता है) को सर्वप्रथम कीपर्ट ने अपने लेख (प्रोसीडिंग्स आफ दि बर्लिन एकेडमी, दिसम्बर १८५६, पृ० ६२१ और बाद) मे जर्जर कर दिया था, और मै उनसे सहमत हूँ, और एम० ब्रेल (जर्न० एशियाटिके, १८३२) का भी यही मत है। दूसरी ओर हॉग तथा बुनसेन का यह मत है कि यह अध्याय इण्डो-जर्मनो और विशेषत आर्यो के, ईरान और भारत मे आ जाने तक के देशान्तरगमन का वर्णन करता है (तु० बुनसेन का एवे०, भाग २, पृ० १०४ और बाद।)

हो सकता है कि इतना वञ्जर तथा इतना निर्धन देश आर्यों जैसी प्रचुर जाति का आदि-स्थान कैसे बन गया। अतः मेरा विश्वास है कि, इस परम्परा में हमें ऐतिहासिक तथ्यों से पौराणिक तत्त्वों को अवश्य पृथक् कर देना चाहिये। अपने विभाजन के समय पर्शो-एरियन शाखा, जिसे सम्भवतः आर्य जनसंख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण पीछे हटना पड़ा होगा, बेलूर्टघ और मुस्टघ की उच्च घाटियों की ओर चली गई होगी और वहाँ जा कर इसकी और प्रगति रुक गई होगी। एक बाद के समय, जब अन्य आर्य कबीलों के देशान्तरगमन के कारण स्थान रिक्त हो गया, तब ये उन अलाभकर क्षेत्रों से उतर कर ऐसे और अनुकूल देशों की ओर चले गये, जिनकी कुछ स्मृतियों को, जैसा कि हमें वेण्डि-डाड के आख्यान से पता लगता है, सुरक्षित रखा गया है।" (ओरिजिनेस इण्डोयोरोपीन्नेस, पृ० ३६, ३७)।

वेण्डिडाड के प्रथम फार्गार्ड पर प्रो० सूलर, तथा एम० ब्रेल के मतों को ऊपर नोट ९० में देखा जा सकता है।[११२]

खण्ड १०—वह कौन-सा मार्ग था जिससे आर्यों ने भारत में प्रवेश किया

हम पहले ही देख चुके है कि अनेक आधिकारिक विद्वानों के अनुसार वैक्ट्रिया अथवा उसके आस-पास का क्षेत्र ही वह देश था जहाँ विभाजन के पूर्व भारोपीय जाति की विभिन्न शाखायें एक साथ निवास करती थीं। तब इन लोगों ने किस मार्ग से भारत में प्रवेश किया?[११३]

---

[११२] देखिये परिशिष्ट, नोट 'k'।

[११३] प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग में मैंने इस प्रकार लिखा था "प्रो० वेनफे का, जो प्रत्यक्षत. टार्टरी को पूर्वग देश मानने के कुछ विद्वानों के मत से असहमत हैं, यह मत है कि इस परिवार की भारतीय तथा पर्शियन शाखायें अन्य से अपने पृथक्त्व के बाद, कुछ दक्षिण मे सिन्धु नदी के स्रोत के निकट छोटे तिब्बत के प्रदेश-मे एक साथ रहती थी।" तदनन्तर मैंने इनके इण्डियेन (पृ० १४ और बाद) से एक ऐसे स्थल का उद्धरण दिया था जिसमे आप यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि बहुत सभवत भारतीय हिमालय के उस पार और उसके उत्तरी घाटियो के अपने आवास से विजेताओ के रूप मे नही बल्कि शान्तिप्रिय नागरिको के रूप मे आकर हिमालय के दक्षिण के मैदानो मे वस गये। यह सत्य है कि जिन दर्रों से होकर मार्ग आता है वे अत्यन्त दुर्गम है, किन्तु सर्वथा अगम नही, और युद्ध-स्तरीय गतिविधियो के लिये चाहे कठिन हो,

ए० डब्लू० फान श्लेगेल का विचार है कि भारतीय-आर्य पश्चिम से ही भारत में आये होंगे। दक्षिण से आनेवाले समुद्री, तथा हिमालय को पार कर के आने के स्थलीय मार्गों की कठिनाइयों का वर्णन करने के पश्चात् आप इस प्रकार अपना विचार प्रगट करते हैं :—भारत का पश्चिमी भाग अधिक खुला प्रतीत होता है क्योंकि काश्मीर से लेकर सिन्धु नदी के डेल्टा तक सीमायें स्वयं इस नदी के अतिरिक्त और किसी प्रकार चिह्नित नहीं हैं। किन्तु ऊपरी भाग में सिन्धु नदी, धारा की तीव्रता और प्रपातों के कारण, नौकाचालन के योग्य नहीं है। साथ ही, इसके दाहिने तट पर पर्वत स्थित है।

किन्तु साधारण आवगमन के लिये सुलभ है। इन मार्गों से आकर बसनेवाले प्रथम आर्य अन्तत गङ्गा की विभिन्न शाखाओ का अनुसरण करते हुए कुमायूं गढ़वाल, और सिरमूर होकर हिमालय के दक्षिण के मैदानो में आ गये होंगे। यहाँ इन लोगो ने इन्द्रप्रस्थ की स्थापना की, और निर्बल म्लेच्छो को अपने अधीन करते हुये इधर-उधर फैल गये। अन्तत इन लोगो ने भारत के सभी भागो को, जो बहुत अगम नही थे, अपने अधीन कर लिया।"

प्रस्तुत कृति के प्रथम भाग की अपनी समालोचना मे प्रो० बेनफे (गोगेऐ० १८६१, पृ० १३६) ने इस प्रकार लिखा है . "लेखक ने मेरे उस मत को भी थोडा स्थान दिया है जो मैंने १८४० मे सस्कृत भाषी आर्यों के भारत मे आकर बसने के मार्ग के सम्बन्ध मे व्यक्त किया था। यह लेख उस समय लिखा गया था जब मेरे पास वेदो से परिचित होने का कदाचित ही कोई साधन था, और तब से इस विषय पर फिर से कोई मत व्यक्त करने का मुझे अवसर नही मिल सका। किन्तु १८४४ मे ही, जब मैंने लन्दन मे सर्वप्रथम ऋग्वेद का अध्ययन किया, और इससे भी अधिक, जब १८४६ मे रॉथ का वैदिक साहित्य विषयक लेख प्रकाशित हो गया, तब मैं भी अपने इस विचार मे दृढ हो गया कि यह सरस्वती का क्षेत्र नही था जिसे भारत मे आकर बसनेवालो का आरम्भिकतम आवसगृह मानना चाहिये (जिस पर इनके मार्ग से सम्बद्ध मेरा मत आधारित था), बल्कि ऊपरी सिन्धु घाटी ही ऐसा प्रदेश था, और इसलिये आर्यों का मार्ग हिन्दूकुश और सिन्धु से होकर आया होगा।" तदनन्तर प्रो० बेनफे अपने इस विश्वास का उल्लेख करते हैं कि वेदो का अध्ययन करने के पूर्व जो सामग्री उन्हें उपलब्ध थी उसी के आधार पर उन्होने अपना पहले का मत निर्धारित किया था। और आप इस तथ्य का उल्लेख करते हैं कि पहले प्रो० वेबर का मत भी इन्ही के समान था, और अब उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही उन्होने बाद मे अपने मत को परिवर्तित किया।

समुद्र की ओर या तो यह स्वयं दलदलों के रूप में फैल गई है अथवा इसके चारों ओर दलदल है। थोड़ा और भीतर, तथा पाँचों सहायक नदियों के मुहानों के ऊपर तक भी इसके दोनों ओर मरुभूमि है। इस स्थान से लेकर जहाँ यह ऐटक के निकट मैदानों में बहती है। इसका बहाव कुछ ऐसा है कि इसमें आवागमन हो सकता है। फलस्वरूप इसी स्थान से विदेशी आक्रामक भारत की ओर बढ़ते रहे हैं। सिकन्दर महान, सेल्यूकस, बैक्ट्रिया के यूनानी राजा, इण्डो-सीथियन्स, तथा अन्य लोग भी ईसवी सन के पूर्व की कुछ शताब्दियों मे इसी स्थाय से होकर भारत में आये। बाद में महमूद ग़ज़नी, अफगान, मुग़ल, और नादिरशाह के नेतृत्व में पशियन लोगों ने भी इसी मार्ग से भारत पर आक्रमण किये। अत. सभी सम्भवनायें इसी मान्यता के पक्ष मे हैं कि हिन्दुओं के पूर्वज भी इसी मार्ग से भारत मे आये होंगे। यह मान्यता कुछ अन्य आधारों द्वारा भी पुष्ट होती है। फलस्वरूप आकर बसनेवालों ने पंजाब को ही सर्वप्रथम अपने अधिकार में किया होगा। फिर भी, परम्परा में इसकी किसी अभिजात देश के रूप में प्रख्याति नहीं है। इसके विपरीत, लासन द्वारा प्रकाशित तथा विवेचित महाभारत के एक स्थल पर इस प्रदेश के निवासियों को आर्यो की तुलना में आचार-व्यवहार की दृष्टि से कम पवित्र अथवा शुद्ध कहा गया है, क्योंकि, सम्भवतः असभ्यों के पड़ोस के कारण ये भ्रष्ट हो गये थे। इससे हमें विश्वास करना पड़ता है कि आकर बसे अर्यो के गङ्गा के मैदान में फैल जाने के बाद ही उनकी उपासना-पद्धति तथा उस पर आधारित समाजिक गठन को पूर्णता तथा स्थायी रूप प्राप्त हुआ होगा।" (एसेस लिट्टेरेटेस एट हिस्टॉरिके, पृ० ४५५–४५७)।

लासन (इआ०, प्रथम सं०, १.५११, द्वि० स० पृ० ६१२) ने भी इसी मत को ग्रहण किया है :—

"प्राचीन संसार के अधिकांश अन्य राष्ट्रों की ही भाँति भारतीय भी अपने को अपने देश का ही आदि-निवासी समझते हैं। इनके पवित्र आख्यान भारत को ही सृष्टि का मञ्च, पितरों का गृह तथा उनके क्रिया कलापों का क्षेत्र मानते हैं। भारत से बाहर से आकर बसे होने अथवा कभी भारतवर्ष की सीमा से बाहर रहे होने की उन्हें कोई स्मृति नहीं है।

"यह सत्य है कि उत्तर को इन लोगों ने जो एक श्रेष्ठतर पवित्रता प्रदान की है उसमें हम इनके उत्तर के देशों के साथ एक ऐसे घनिष्ठतर संबन्ध का सन्दर्भ ढूँढ़ सकते हैं, क्योंकि अधिकांश देवों के आवास को उत्तर में और हिमालय के उस पार स्थित माना गया है, तथा पवित्र और अद्भुत पर्वत, सुमेरु, भी इसी दिशा के दूरतम क्षेत्र में स्थित है। फिर भी, एक अधिक निकट परीक्षण

करने पर हम इस निष्कर्ष की ओर प्रेरित होंगे कि जिस धारणा का अभी हमने उल्लेख किया है वह स्वयं भारत में ही विकसित हुई है, और उत्तर की पर्वतमाला की विशिष्ट प्रकृति पर आधारित है। मैदानों के ऊपर दूर-दूर तक हिमालय के हिममण्डित शिखरों का प्रतिदिन चमकना, उनकी दुर्गमता, तथा उनके उत्तर के पठारों के विस्तृत, शान्त, स्वच्छ और मेघरहित आकाश, और प्राकृतिक उत्पादनों की एक सर्वथा भिन्न प्रकृति का भारतीयों का जो ज्ञान है, वह सब स्वभावतः उन्हें उस दिशा को देवों का आवास तथा आश्चर्यों का क्षेत्र मानने के लिये अनिवार्य प्रेरणा प्रदान करता है, जब कि इस क्षेत्र की पवित्रता चतुर्दिक प्रकृति द्वारा मन पर डालनेवाले विशेष प्रकार के प्रभाव का परिणाम है। सुदूर उत्तर में उत्तर कुरु को शान्त तथा समृद्ध जीवन के एक कल्पना द्वारा रचित आदर्श चित्र के रूप में ही ग्रहण करना उचित होगा, न कि कुरुओं के आरम्भिक समय में कभी निवास किये होने की स्मृति के रूप में। महाकाव्यों में इस प्रदेश का जो चित्रण मिलता है, उसके आधार पर, कम से कम, यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है। फिर भी, यह सम्भव है कि मूलतः, तथा वैदिक युग जैसे बाद के समय में भी, इस प्रदेश से कोई ऐसी स्मृति सम्बद्ध रही होगी, यद्यपि बाद में इसका कोई चिह्न सुरक्षित नहीं रह सका।"

उन आधारों को जो इस निष्कर्ष की ओर प्रेरित करते है कि आर्य भारत के आदि-निवासी नहीं हैं, प्रस्तुत करने के पश्चात् लासन आगे इस प्रकार कहते हैं (वही, पृ० ५१५) : "केवल एक ही मार्ग ऐसा है जिससे हम आर्यों के भारत में आकर बसने की कल्पना कर सकते हैं। ये लोग पञ्जाब से होकर ही आये होंगे, और इन लोगों ने पश्चिमी काबुलिस्तान से पञ्जाब में प्रवेश किया होगा। ओक्स से पूर्वी काबुलिस्तान में आने वाला मार्ग, और वहाँ से पञ्जकोरा की घाटी अथवा गिलगिट से नीचे सिन्धु की ऊपरी घाटी, तथा वहाँ से या तो सिन्धु के किनारे-किनारे, अथवा गिलगिट से काश्मीर आनेवाले मार्ग सर्वाधिक कठिन तथा बीहड़ हैं, ऐसा हमें आज ज्ञात है; अतः इन मार्गों का यातायात के लिये कभी भी बहुत अथवा अक्सर ही प्रयोग नहीं किया जाता रहा होगा। हम केवल यही कल्पना कर सकते है कि दरदों जैसी एक छोटी सी जाति ही इस द्वितीय मार्ग से हिन्दूकुश के उत्तर से इस पार के ऊँचे मैदानों मे आई होगी; किन्तु हम यह नहीं मान सकते कि बहुसंख्यक आर्य जाति भी इसी मार्ग से भारत में आई होगी। राष्ट्रों अथवा सेनाओं के जो भी महत्त्वपूर्ण अभियान हमें ज्ञात हैं, वह सब हिन्दूकुश के पश्चिमी दर्रों से ही होकर आये हैं। अतः यदि हम यह मानते हैं कि आर्य लोग बैक्ट्रिया से भारत में

आये थे, तब हमें यही मानना होगा कि वे लोग इसी मार्ग से आये होंगे।" यह सत्य है कि हिन्दू लोग पञ्जाब को पवित्र नहीं मानते। इसके विपरीत ब्राह्मण धर्म द्वारा नियन्त्रित पवित्र भूभाग की पश्चिमी सीमा "सरस्वती नदी को माना गया है। इसमें सन्देह नहीं कि इस सीमा के पश्चिम में भी भारतीय ही रहते थे, किन्तु उन्हें शुद्धता तथा निष्ठा के साथ ब्राह्मण धर्म के विधानों का पालन करनेवाला नहीं माना गया है। किन्तु पश्चिम के लोगों के प्रति इस दृष्टिकोण का, भारतीय संस्थाओं के विकास के बाद, तथा पश्चिम के और सरस्वती के पूर्व के लोगों के आचरणों में स्पष्ट अन्तर की अनुभूति के बाद ही, आरम्भ हुआ होगा। पंजाब के लोग सदैव से आर्यों की ही सन्तान प्रतीत होते हैं, और उक्त विपरीत मान्यताओं के होते हुये भी, महाकाव्यों में हमें भारत के पवित्र भाग तथा पश्चिम के राजाओं के बीच सम्बन्धों का बहुधा उल्लेख मिलता है। वास्तव में भारतीय जाति की श्रृङ्खला पश्चिम की ओर बढ़ने पर कहीं खण्डित नहीं मिलती।" (पृ० ६१६)।

एम० बर्नफ भी, इस समस्या के सम्बन्ध में संक्षेप में अपना मत व्यक्त करते हुये इस प्रकार कहते है : "आरम्भिकतम काल से ही आर्य जाति सिन्धु नदी से गङ्गा तथा फिर वहाँ से दक्खिन के क्षेत्रों की ओर बढ़ती रही है।" (भागवत पुराण की भूमिका, भाग ३, पृ० xxix)।

मुझे पता नहीं कि प्रो० रॉथ ने भी कभी उस मार्ग के सम्बन्ध में कोई मत व्यक्त किया या नहीं जिससे आर्य लोग भारत में आये; किन्तु वेद के इतिहास और साहित्य सम्बन्धी अपने एक ग्रन्थ के (१८४६) पृ० १३६ पर उन्होंने इस प्रकार लिखा है : "इस बात की अधिक सम्भावना है कि उस जाति के, जिन्हें हम वैदिक जाति कह सकते हैं, अधिकांश लोग यमुना की अपेक्षा सिन्धु के ही अधिक निकट रहते थे। विवेच्य सूक्त में जिस युद्ध का वर्णन है वह उन संघर्षों में से एक था जिसमें उत्तरी जाति ने उस स्थान की ओर, जिसे उसने अन्ततः अपने अधिकार में कर लिया, बढ़ते हुये दक्षिण के लोगों को पराजित किया था। सिन्धु सुज्ञात है और ऋग्वेद के सूक्तों में इस नदी की अक्सर प्रख्याति मिलती है, जब कि अभी मैं केवल एक ही ऐसे स्थल को जानता हूँ जिसमें गङ्गा का उल्लेख है और वह भी ऐसा जो इस नदी (गङ्गा) को एक अपेक्षाकृत हीन स्थान देता है।"

जजओसो०, १८४७, पृ० ८१, में प्रकाशित अपने 'ब्रह्म और ब्राह्मण' शीर्षक लेख में यही लेखक अपने को, पुनः, इस प्रकार व्यक्त करते है : "जब किसी आघात से बहिष्कृत होकर—और यह भी अधिकांश वैदिक सूक्तों के बाद के समय में—आर्यों ने सिन्धु तथा पञ्जाब के अपने स्थानों को छोड़ा, और

दक्षिण की ओर उत्तरोत्तर आगे बढ़ते हुये आदवासियों को पर्वतीय क्षेत्रों में भगाकर गङ्गा, यमुना तथा विन्ध्य पर्वतमाला के बीच के भूभाग को अपने अधिकार में ले लिया तब इस समय ही अधिकार के विभाजन तथा राजाओं और पुरोहितों के सम्बन्ध आदि का व्यापक और द्रुतगति से रूपान्तर हुआ।"

प्रो० वेबर ने भी कहा है कि एक समय आर्य लोग सिन्धु नदी के उस पार निवास करते थे। हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर में आपने इस प्रकार लिखा है (१८५२, पृ० २-३): "ऋग्वेद के प्राचीनतम अंशों में भारतीय लोग भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमापर पञ्जाब में, और पञ्जाब के भी आगे काबुल नदी के तट पर काबुल में कोफेन तक बसे मिलते है।[११८] इस जाति के लोगों के इस स्थान से पूर्व की ओर सरस्वती के उस पार तथा गङ्गा के मैदानों तक विस्तार के प्रत्येक स्तर को वैदिक ग्रन्थों के आधार पर ढूंढ़ा जा सकता है।" देखिये इण्डि० स्टू० २.२० भी।

अपने 'रीसेन्ट इन्वेस्टिगेशन्स ऑन एंशेण्ट इण्डिया' मे इसी लेखक ने यह टिप्पणी की है: "वेद के प्राचीनतम सूक्त हमारे सम्मुख आर्यों को अभी भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा अथवा उसके भी पार बसे लोगों के रूप में प्रस्तुत करते हैं: अर्थात् उन्हें काबुल नदी तथा सिन्धु के बीच के भागों तथा पञ्जाब में बसा सिद्ध करते हैं। इस स्थान से इनकी प्रगति तथा भारत में इनके विस्तार के प्रत्येक स्तर को इनके साहित्य में ढूंढ़ा जा सकता है। इनका मार्ग मारवाड़ की विशाल मरुभूमि के उत्तर मे शतद्रु (आधुनिक सतलज) से लेकर उस सरस्वती नदी (जिसे बाद में अत्यन्त पवित्र माना जाने लगा) तक के बीच स्थित था जिसकी धारा मरुभूमि में लुप्त हो जाती है। इस क्षेत्र को बाद मे जितना अधिक पवित्र माना जाने लगा उससे ऐसा प्रतीत

---

[११८] अपने इण्डिशे स्टूडियन १ १६५ (१८४९-५० मे प्रकाशित) मे वेबर ने "आर्यो के अपने गृह से प्रलय के कारण भाग आने का" उल्लेख किया है। "ये लोग पश्चिम से नहीं बल्कि उत्तर से भारत मे आये थे। पहले ये काश्मीर मे आये और फिर वहाँ से पञ्जाब मे। उन उत्तर कुरुओ और उत्तर मद्रो की हम इसी प्रकार व्याख्या कर सकते हैं जिनके साथ बाद मे एक स्वर्ण युग की धारणा सयुक्त हो गई।" फिर भी, जिन मूल स्थलो को उद्धृत किया गया है उनके आधार पर बाद मे लिखते हुये वेबर ने यह माना है कि आर्यों ने, जो काबुल नदी के तट पर रहते थे, उक्त स्थान पर आने के लिये या तो उस मार्ग का अनुसरण किया होगा जिसका लासन ने उल्लेख किया है, अथवा बाद मे पश्चिम की ओर फैल गये होगे।

होता है कि अपनी सतत प्रगति के मार्ग में आर्य लोग यहाँ कुछ अधिक समय तक रुके रहे। इस समय सरस्वती नदी उस ब्राह्मणात्मक संगठन के जो अब भारत में विकसित हो चला था, तथा पश्चिम की उन आर्यजातियों के बीच की सीमा थी जो अभी अपने पूर्वजों से प्राप्त जीवन की अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्र शैली के ही अनुयायी बने रहे।" (इण्डियन स्केचेज़, पृ० १३, १४)।

ऋग्वेद के फ्रेंच अनुवाद की अपनी भूमिका (पृ० IX, X) में एम० लैंग्लोइ भी ऐसा ही मत व्यक्त करते हैं : "ऋग्वेद के सूक्तों की रचना उन जातियों के लिये की गई थी जो सिन्धु के तटों से आकर गङ्गा के मैदानों में रह रही थीं। यह लोग उस महान मानव जाति के सदस्य प्रतीत होते हैं जिन्हें आर्य कहते थे। ये लोग एक सरल और विनम्र सभ्यता, पितृप्रधान व्यवस्था और एक परिष्कृत भाषा अपने साथ लाये थे। जब इन आर्यों ने अपने को भारत में स्थापित किया तब अपने पूर्व बसी यहाँ की जनसंख्या को पीछे हटा दिया जो पर्वतों और वनों में जाकर बस गई। अपनी असभ्यता और हिंसात्मक आचार-व्यवहार के कारण इस पूर्वग जनसख्या के लोग आर्यों के लिये वे दुष्टात्मायें बन गये जिनकी उन लोगों ने अपने ग्रन्थों में चर्चा की है। प्रथम बसे आर्य-समाज का प्रधान एक राजा था जिसका नाम मनु था और जिसे परम्परायें मानवजाति का पिता मानती हैं।"

एक अन्य स्थान पर (ऋग्वेद १.३३,३ पर एक नोट में) यही लेखक विवेच्य विषय पर और स्पष्टता के साथ विचार व्यक्त करते हैं : "मेरा यह मत है कि मनु के नेतृत्व में आर्य जाति, जो आर्यावर्त्त में बस गई, उन देशों से आई थी जो सिन्धु के पश्चिम में स्थित थे तथा जिनके एरिया, एरियाना अथवा हिरान, आदि सामान्य नाम हैं।"

जहाँ तक मुझे ज्ञात है, प्रो० मूलर ने कहीं भी उस मार्ग का निम्नलिखित स्थल से अधिक शुद्धता के साथ निर्धारण नहीं किया है जिससे होकर आर्य लोग भारत आये थे : "परम्परागत इतिहास के प्रथम उषाकाल में हम आर्यों को हिमालय की हिममण्डित श्रेणियों को पार करके दक्षिण की ओर 'सात नदियों' (सिन्धु, पंजाब की पाँच नदियाँ, और सरस्वती) के प्रदेश में आते देखते हैं, और उसके बाद से भारत को ही इनका गृह कहा जाने लगा (लास्ट रेज़ल्ट्स ऑफ दि संस्कृत रिसर्चेज़, पृ० १२९, ऐसंलि० पृ० १२, चिप्स १.६३)। और पुन', पृ० १३१ (चिप्स १.६५, ऐसलि० पृ० १५) पर आप इस प्रकार लिखते हैं : "हिन्दूकुश अथवा हिमालय के संकीर्ण दर्रों को पार करने के बाद इन (दक्षिणी आर्य) लोगों ने हिमालय के इस पार के निवासियों को विजित किया अथवा उन्हें पीछे ढकेल दिया।" इसी विषय पर इनके

कुछ विचारों को इनके "लास्ट रेज़ल्ट्स ऑफ दि तूरानियन रिसर्चेज़", पृ० ३४०, से भी ऊपर उद्धृत किया जा चुका है।

मैंने ऊपर जिन अनेक विद्वानों को उद्धृत किया है उनके विचारों में चाहे जो साधारण मतभेद हों, किन्तु इस प्रश्न पर कि भारत हिन्दुओं का मूलदेश नहीं है, सभी सहमत हैं।

खण्ड ११—वैदिक सूक्तों द्वारा भारतीय आर्यों के भारत में उत्तर-पश्चिम से आकर बसने की पुष्टि होती है

ब्राह्मण-भारतीयों के पूर्वज, आर्यों, का उत्तर-पश्चिम दिशा से भारत में आगमन इस तथ्य से और भी सम्भाव्य हो जाता है कि वैदिक सूक्तों के प्रणेता इस दिशा में स्थित देशों, अर्थात् स्वयं भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग से, और साथ ही साथ सिन्धु के तटवर्ती या उसके और भी पश्चिम के देशों तथा वहाँ की नदियों से सर्वाधिक परिचित प्रतीत होते हैं। जब कि, इसके विपरीत, भारत के मध्य और पूर्वी भागों के प्रदेशों तथा नदियों का दुर्लभ रूप से ही उल्लेख है, और दक्षिण के देशों का तो कोई उल्लेख मिलता ही नहीं। इस विषय पर मैं लिट० ऐण्ड हिस्ट० ऑफ वेद (पृ० १३६) नामक ग्रन्थ से प्रो० रॉथ की निम्नलिखित टिप्पणी प्रस्तुत कर रहा हूँ: "सिन्धु नदी सुज्ञात है और ऋग्वेद के सूक्तों में इसकी बहुधा प्रशस्ति मिलती है, जब कि अभी मैं केवल एक ही ऐसे सूक्त से परिचित हूँ जिसमें गङ्गा का उल्लेख है और वह भी एक गौण रूप से। यह स्थल प्रियमेध के पुत्र सिन्धुक्षित् को आरोपित सूक्तों में से एक (१०.७५,५) में आता है जिसमें सिन्धु को सम्बोधित करते हुये उसे 'अपसाम् अपस्तमा' कहा गया है। अन्य नदियों से भी, सिन्धु को समर्पित कवि की इन स्तुतियों को, उदारतापूर्वक ग्रहण करने का निवेदन किया गया है।[११७] यास्क (निरुक्त ९.२६) के अनुसार इस स्थल की इस प्रकार व्याख्या की जानी चाहिये: "गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री, परुष्णी सहित मेरे सूक्त को ग्रहण करें। मरुद्वृधा, असिक्नी, वितस्ता, आर्जीकीया और सुषोमा, मेरे स्तोत्र को अपने अपने भाग में विभाजित करके मेरी याचना को सुनें।" (इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचत परुष्णी आ। असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तया आर्जीकीये शृणुहि आ सुषोमया)।[११८]

---

[११७] इस सम्पूर्ण सूक्त को प्रस्तुत ग्रन्थ के पाँचवें भाग में उद्धृत करके इसका अनुवाद भी किया गया है।

[११८] यास्क के निरुक्त (९.२६) का कुछ अंश इस प्रकार है इमम् मे

एक अन्य स्थल, जिसमें सिन्धु का उल्लेख है, इस प्रकार है (ऋग्वेद १.१२६,१) : अमन्दान् स्तोमान् प्रभरे मनीषा सिन्धाव् अधि क्षियतो भाव्यस्य। यो मे सहस्रम् अमिमीत सवान् अतूर्तो राजा स्रवः इच्छमानः। "मैं सिन्धु नदी के तटपर निवास करनेवाले भाव्य के पुत्र, उस स्वनय को बुद्धि द्वारा स्तोत्र भेंट करता हूँ जिसने यज्ञ की इच्छा से मेरे निमित्त सहस्र यज्ञानुष्ठान किये है।" इसी सूक्त के सातवें मन्त्र में हमें एक ऐसा सन्दर्भ मिलता है जो गान्धारों के देश तथा वहाँ की भेड़ों से परिचित होने का संकेत करता है : सर्वाऽहम् अस्मि रोमशा गान्धारीणाम् इवाविका। "मैं गान्धारों की भेड़ के समान सर्वरोमशा हूँ।" लासन ने गान्धार को सिन्धु के पश्चिम और काबुल नदी के दक्षिण में स्थित किया है (अपने इण्डियन ऐन्टीक्विटीज़, भाग २, के प्राचीन भारत के मानचित्र में) और यह वही स्थिति है जहाँ प्राचीन गान्धारों के निवास का उल्लेख मिलता है।[११७] अपने विष्णु-पुराण के अनुवाद (डा० हॉल का संस्करण, भाग २, पृ० १७४) में प्रो० विलसन ने गान्धारों के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है : "ये भी उत्तर-पश्चिम में मिलनेवाले लोग हैं, जो सिन्धु के पश्चिम तथा पञ्जाब में भी पाये जाते हैं।" 'सिन्धु' शब्द ऋग्वेद के इन स्थलों पर भी आता है : १.९४,१६; १.१२२,६, २.१५,६, ४.३०,१२; ५.५३,९; ७.३३,३; ८.२०,२५, १०.६४,९। फिर भी, यह कह सकना कठिन है कि इससे सदैव सिन्धु नदी का ही तात्पर्य

गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि परुष्णी सोमम् आ सेवधम् असिक्न्या च सह मरुद्वृधे वितस्तया च आर्जीकीये आश्रृणुहि सुषोमया च इति समस्तार्थ।... इरावतीम् परुष्णी इत्य् आहु ... असिक्नी अशुक्ला असिता।... मरुद्वृधा सर्वा नद्य। मरुत एना वर्धयन्ति। ...आर्जीकीयाम् विपाड इत्य् आहु। "सम्पूर्ण आशय यह है . हे गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री, परुष्णी, और मरुद्वृधा, तथा असिक्नी, और वितस्ता तथा सुषोमा सहित आर्जीकीया... .. परुष्णी इरावती का एक नाम है' असिक्नी का अर्थ काला है...... सभी नदियो को मरुद्वृधा कहा जा सकता है क्योकि मरुद्गण उनमे वृद्धि कर देते है ..... आर्जीकीया विपाश् का नाम है।" इन नदियो पर लिट० हिस्ट० ऑफ वेद, पृ० १३६-१४०, मे रॉथ की टिप्पणियाँ देखिये।

[११७] पर्शियनो, कोरेस्मियनो, और डडिकाए के साथ गन्धारो का भी हेरोडोटस (७ ६६) ने ज़र्क्सेस की सेना के एक अग के रूप मे उल्लेख किया है। देखिये एशियाटिक रिसर्चेज़, भाग १५ १०३ और बाद, जएसो० ५.१७, और रॉलिन्सन का हेरोडोटस, ४. २१६ और बाद।

है। इनमें से अन्तिम स्थल, जो विश्वदेवों के एक सूक्त में आता है, इस प्रकार है : ऋग्वेद १०.६४,९ : सरस्वती सरयुः सिन्धुर् ऊर्मिभिर् महो महीर् अवसाऽऽयन्तु वक्षणीः। देवीर् आपो मातरः सूदयित्न्वो घृतवत् पयो मधुमत् नो अर्चत। "सरस्वती, सरयू, सिन्धु : अपनी लहरों से ये महान नदियाँ शीघ्रतापूर्वक आकर हमें अपनी सहायता से शक्तिशाली बनायें। ये दिव्य नदियाँ, मातायें, जल को प्रेरित करनेवाली हैं, अतः ये हमें घृतवत मधुर जल दें।"

ऊपर ऋग्वेद १०.७५,५ का जो मन्त्र प्रो० रॉथ की कृति के उद्धरण में दिया गया है, उसके बाद एक और मंत्र आता है[११८] जिसमें अनेक अन्य नदियों के नामों का उल्लेख है, जैसे तृष्टामा, सुसर्तु, रसा[११९], श्वेती, क्रुभा, गोमती, क्रुमु, और मेहत्नू। रॉथ और बॉटलिङ्क के कोश में

---

[११८] ऋवेद १० ७५, ६ —"तृष्टामया प्रथम यातवे सजू सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या। त्व सिन्धो कुभया गोमतीम् क्रुमुम् मेहत्न्वा सरथ याभिर् ईयसे।" "हे सिन्धु नदी! तुम सर्वप्रथम तृष्टामा के साथ चली, फिर सुसर्तु, रसा, और श्वेत्या के साथ हुई। तुमने ही क्रुमु और गोमती को कुभा और मेहत्नू से सुसगत किया। तुम इन सब नदियो मे मिलकर एक ही रथ मे प्रवाहित होती हो।"

[११९] ऋवेद १०.१०८ की अपनी व्याख्या मे डॉ० आफरेख्त ने रसा को यहाँ तथा अन्यत्र "आकाश गङ्गा" का द्योतक माना है (देखिये जजओसो०, भाग १३, पृ० ४९८)। यास्क ने इसकी केवल एक नदी के अर्थ मे व्याख्या की है (निरुक्त ११ २५ रसा नदी)। सामवेद २ २४७ (= ऋग्वेद ९ ४१, ६) के अपने अनुवाद मे वेनफे ने 'रसा' का 'महासागर' अनुवाद किया है। ऋग्वेद १०.१०८ का सन्दर्भ देते हुये आपने अपने ग्लॉसरी मे इस शब्द की 'एक ऐसी नदी जो इन्द्रलोक को पणियो के लोक से पृथक करती है' के रूप मे व्याख्या की है। ऋग्वेद १ ११२, १२ मे आपने इसकी रसा नदी के रूप मे व्याख्या की है। ओरियण्ट उण्ट ऑक्सीडेण्ट ३ १५० में इस मन्त्र के अपने अनुवाद में आपने इसे एक अवरलोक की नदी कहा है। बॉटलिङ्क तथा रॉथ के कोश मे ऋग्वेद १.११२, १२, ५ ५३,९, १० ७५, ६ मे तो रसा को एक नदी कहा गया है, किन्तु ९ ४१,६, १० १०८,१ और बाद, १०,१२ १४, ५ ४१,१५, मे इसे एक ऐसी "पौराणिक नदी" कहा गया है जो आकाश तथा पृथ्वी के चारो ओर बहती है।"

कुभा, गोमती, और क्रुमु को सिन्धु नदी की सहायक कहा गया है।[१२०] ये ऐसी ही नदियाँ हैं, यह उक्त नदी के साथ इनके उल्लेख से सम्भाव्य हो जाता है। कुभा की दशा में सम्भावना इसके नाम से ही पुष्ट होती है, जिसकी ऐट्टक के थोड़ा ऊपर सिन्धु में मिलनेवाली कोफेन अथवा काबुल नदी के साथ घनिष्ठ समानता है (देखिये ऊपर वेबर के इण्डि० लिट० से उद्धृत स्थल)। ऋग्वेद ५.५३,९ में इस नदी का पुनः उल्लेख हैं : मा वो रसाऽनितभा कुभा क्रुमुर् मा वः सिन्धुर् नि रीरमत्। मा वः परिष्ठात् सरयुः पुरीषिणी अस्मे इत् सुम्नम् अस्तु वः। "हे मरुद्गण ! अनितभा, कुभा, क्रुमु, तथा सर्वत्र जानेवाली सिन्धु नदी तुमको कभी न रोके। जल से परिपूर्ण सरयू तुमको न रोके। तुम्हारे आने से उत्पन्न सुख को हम सब प्राप्त करें।" ऊपर उद्धृत मन्त्र (१०.७५,७) में उल्लिखित एक अन्य नदी, जिसे रॉथ ने सिन्धु की सहायक माना है, गोमती है। यह आवश्यक नहीं कि हम इस नदी को अवध के उत्तर-पश्चिम से निकलकर लखनऊ के पास से बहनेवाली गोमती नदी के साथ समीकृत करें, यद्यपि सरयू (यदि वास्तव में यह वर्तमान सरयू ही है तो) के साथ उल्लेख होने के कारण यह समीकरण सम्भव है। इसी नाम की एक नदी का, पुनः, ऋग्वेद ८.२४,३० में भी उल्लेख है : एपो अपश्रितो वलो गोमतीम् अनु तिष्ठति।[१२१] "यह वल दूर गोमती के तटपर निवास करता है।" यह सर्वथा सम्भव है कि अवध की नदियों के नाम अधिक पश्चिम की नदियों के नाम से ग्रहण किये गये हों।[१२२] एक अन्य नदी, सुवास्तु, का ऋग्वेद ८.१९,३७ में उल्लेख है जो सिन्धु की सहायक हो सकती है : सुवास्त्वाः अधि तुग्वनि। इन शब्दों की, निरुक्त ४.१५ में उद्धृत करके, इस

---

[१२०] निरुक्त की अपनी प्रस्तावना, पृ० ४३, मे प्रो० रॉथ ने यह टिप्पणी की है : "कोफेन वेद की कुभा है जिसका ऋग्वेद ५.५३,९ और १० ७५, ७ मे उल्लेख है। इस अन्तिम मन्त्र मे यदि हम क्रुमु और गोमती को उस कुरुम और गोमल के साथ समीकृत करें जो पश्चिम से आकर सिन्धु में मिलती है (जैसा कि एक पत्र मे लासन ने प्रस्ताव रक्खा है) तो हमे इनके पूर्व आनेवाली नदियो के नामो (यथा तृष्टामा, रसा, श्वेती, और अनितभा) को कोफेन के और उत्तर मे स्थिति सिन्धु की सहायको के रूप मे ग्रहण करना होगा।"

[१२१] तुकी० ऋग्वेद ५ ६१,१९।

[१२२] कुमायूँ मे भी एक गोमती नदी है जिसे अवध की गोमती से भिन्न होना चाहिये क्योकि इस वादवाली नदी का स्रोत मैदानो में स्थित है।

प्रकार व्याख्या की गई है : सुवास्तुर् नदी। तुग्म तीर्थम् भवति। "सुवास्तु एक नदी है, तुग्म का अर्थ तीर्थ है।" इस स्थल के सम्बन्ध में रॉथ ने अपनी प्रस्तावना (निरुक्त की) में इस प्रकार मत व्यक्त किया है. "सोभरि ऋषि उन उपहारों का उल्लेख कर रहे हैं जो उन्होंने सुवास्तु नदी के तट पर पुरुकुत्स के पुत्र, त्रसदस्यु, से प्राप्त किये थे। महाभारत ६.३३३,[१-२] में सुवास्तु गौरी से सम्बद्ध है। अर्रियन (इण्डिका, ४,११,[१२४]) के अनुसार सोअस्टोस और

[१२३] जम्बूखण्ड की नदियो की सूची मे। शब्द इस प्रकार है : "वास्तु सुवास्तु गौरी च कम्पना स-हिरण्वतीम्।" "वास्तु, सुवास्तु, गौरी, कम्पना, और हिरण्वती।"

[१२४] "कोफेन नदी प्यूकेलाएटिस के निकट सिन्धु से मिलती है, और इसके पूर्व यह मलन्टुस, सोअस्टुस, और गरोइस से मिलकर उनके जल भी अपने साथ ले आती है।" प्रो० विलसन (एरियन ऐन्टी० पृ० १८३, १९०, १९४) के विचार से उक्त अन्तिम दो नाम वास्तव मे एक ही नदी के नाम हैं। "अब इस बात मे सन्देह नही है कि कोफेन से काबुल नदी का तात्पर्य समझना चाहिये; क्योंकि अर्रियन का कथन है कि मलमन्टुस, सोअस्टुस तथा गरोइस के जलो को लेकर यह (कोफेन) सिन्धु नदी से मिल जाती है, और सिकन्दर के अन्तिम क्रियाकलाप, जो सिन्धु नदी पार करने के पूर्व घटित हुये थे, सिन्धु के पश्चिम तथा कोफेन नदी के आस-पास के प्रदेशो मे ही हुये थे।" (विलसन : एरियन ऐन्टी० पृ० १८३)। पञ्जकोरा तथा सेवत के मिल जाने पर उनकी धारा को पञ्जकोरा अथवा सेवत, कुछ भी कहते हैं, और इससे इस बात की व्याख्या हो जाती है कि अपने इण्डिका मे अर्रियन ने गलती से क्यो एक सुअस्टुस और एक गरोइस की चर्चा की है, जब कि टॉलमी मे हमे सुअस्टुस के अतिरिक्त अन्य किसी नदी का वर्णन नही मिलता।" वही पृ० १९०। "अर्रियन के वर्णन के अनुसार सिकन्दर ने सिन्धु तक पहुँचने के पूर्व चार नदियो को पार किया था, और ये नदियाँ, कोफेन, खोएस, यूस्प्ल, और गरोइस, आज भी पुञ्जशीर, अलिशुङ्ग, खोनर और पञ्जकोर के रूप मे विद्यमान हैं। इस प्रकार अर्रियन भी भूगोल की अपेक्षा इतिहास के प्रमाण अधिक हैं, क्योंकि उन्होने कहा है कि सिन्धु मे मिलने के पूर्व कोफेन अपने साथ मलमन्टुस, सुअस्टुस और गरोइस का जल भी लाती है, और इनमे से दो का इन्होने अपने वर्णन मे कोई उल्लेख नही किया है, और इनमे से तीसरी कदाचित् दूसरी का ही एक अन्य नाम है।" वही, पृ० १९४। दूसरी ओर लासन, का यह मत है कि टॉलमी गलत है। इनका यह कथन है "यह आश्चर्यजनक है कि पूर्वी

गरोइस कोफेन में मिल जाती हैं। इन स्थलों की तुलना करने पर प्रायः यह निश्चित निष्कर्ष निकलता है कि सुवास्तु आधुनिक सुवद ही है जो पहले पञ्जकोरा से मिलकर उत्तर से आती हुई काबुल नदी में मिल जाती है।"

अब ऋग्वेद १० ७५,६ पर लौटते तथा सर्वप्रथम इस स्थल पर उल्लिखित सिन्धु के बाद की सर्वाधिक पश्चिमी नदियों को ग्रहण करते हुये हम (१) वितस्ता और बेहत्, (२) असिक्नी अथवा चेनाब, (३) परुष्णी, इरावती अथवा रावी, (४) आर्जीकीया, विपाश् अथवा ब्यास, और (५) शुतुद्री, अथवा सतलज पर आते है। जैसा कि हम देख चुके हैं, यास्क परुष्णी का इरावती के साथ और आर्जीकीया का विपाश् के साथ समीकरण करते हैं। प्रो० रॉथ असिक्नी को चेनाब मानते हैं, और इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि वितस्ता हिदस्पीज़ है और शुतुद्री सतलज। फलस्वरूप इस स्थल पर हमें पञ्जाब की नदियों की गणना मिलती है। पुनः, ऋग्वेद ८.२०,२५ में असिक्नी का; ऋग्वेद ७.१८,८.९ और ८.६३,१५ में परुष्णी का, ऋग्वेद ३.३३,१ में शुतुद्री का; और ऋग्वेद ३.३३, १.३, तथा ४.३०,११ में विपाशा का उल्लेख मिलता है।

बहुचर्चित ऋग्वेद १०.७५, ५.६ में जिन अन्य नदियों का उल्लेख है वे हैं सरस्वती, गङ्गा, और यमुना। कुछ ऐसे उल्लेखनीय स्थल, जिनमें सरस्वती की प्रख्याति है, इस प्रकार हैं : ऋग्वेद ३.२३,४ में दृषद्वती (मनु २.१७ में भी सरस्वती और दृषद्वती सम्बद्ध हैं), तथा आपया के साथ साथ इसका इस प्रकार उल्लेख है : नि त्वा दधे वरे आ पृथिव्याः इळायास्पदे सुदिनत्वे अह्नाम्। दृषद्वत्याम मानुषे आपयाया सरस्वत्याम् रेवद् अग्ने दिदीहि। "हे अग्ने ! एक श्रेष्ठ दिन हम तुम्हें इस पृथ्वी के पवित्र स्थान पर प्रतिष्ठित करते हैं। तुम दृषद्वती, आपया और सरस्वती, इन तीनों नदियों के निकट वासकरनेवालों के घरों में धन सहित प्रदीप्त होओ।" ऋग्वेद ६.६१,२ में इसी

काबुल की नदियो मे से टॉलमी केवल सुअस्टुस का वर्णन करके गरोइस (जो प्राचीन गौरी और आज की पञ्जकोर है) पर आ जाते हैं, यद्यपि यह उन्हे मेसीडोनियन युग के लेखको के विवरण से ज्ञात हुआ होगा। यत टॉलमी गोर्ये नामक क्षेत्र से भी परिचित है, अत. यह और भी आश्चर्यजनक है। इस प्रकार टॉलमी ने भ्रमवश सुअस्टुस के उद्गम को और उत्तर मे स्थित कर दिया है।" लासन का इण्डि० ऐण्टी० २.६६८–९ भी देखिये। जो कुछ भी हो, सिकन्दर के अभियान के समय काबुल देश मे सुअस्टुस नामक एक नदी का अस्तित्व असन्दिग्ध है।

नदी की इस प्रकार प्रशस्ति है : इयं शुष्मेभिर् बिस-खा इवारुजत् सानु गिरीणां तविषेभिर् ऊर्मिभिः । पारावत-घ्नीम् अवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीम् आ विवासेम धीतिभिः । "अपनी शक्ति तथा लहरों के वेग से इस सरस्वती नदी ने किनारे के पर्वतों को उसी प्रकार तोड़ा है जैसे एक मनुष्य कमलनाल को खोदता है । रक्षा के लिये हम स्तोत्रों और सूक्तों से उस सरस्वती का आह्वान करें जो अपने किनारों को तोड़ती है ।"[125] इसी सूक्त के १३ वें मन्त्र में उसी 'अपसम् अपस्तमा' विशेषण का सरस्वती के लिये प्रयोग किया गया जो ऋग्वेद १०.७५,७ में सिन्धु नदी के लिये व्यवहृत है ।

ऋग्वेद के सातवें मण्डल के ९५ तथा ९६ सूक्त सरस्वती तथा सरस्वत् की स्तुति में समर्पित हैं । इस प्रथम सूक्त (९५ वें) का प्रथम मंत्र तथा द्वितीय का एक अंश इस प्रकार है : प्र क्षोदसा धायसा सस्रे एषा सरस्वती धरुणम् आयसी पूः । प्र बाबधाना रथ्य् एव याति विश्वाः अपो महिना सिन्धुर् अन्याः । एका अचेतत् सरस्वती नदीनां शुचिर् यती गिरिभ्यः आ समुद्रात् । "लौहनिर्मित नगरी के समान धारण करनेवाली होकर यह सरस्वती धारक जल के साथ गमन करती है । यह अपनी महिमा से बहनेवाली, सब नदियों को बाधा देनेवाले सारथि के समान, गमन करती है ।[126] सरस्वती एक ऐसी श्रेष्ठ नदी है जो पर्वत से चल कर समुद्र तक जाती है ।"[127]

---

[125] इस मंत्र के सन्दर्भ में यास्क का यह मत है (निरुक्त २.२३) : "तत्र "सरस्वती" इत्य् एतस्य नदी-वत् देवता-वच्च निगमा भवन्ति ।...अथ एतद् नदीवत् ।" "ऐसे मन्त्र हैं जो सरस्वती को एक नदी और एक देवी, दोनों बताते हैं ।...इस आगे के मंत्र में इसका एक नदी के रूप में उल्लेख है ।" तदनन्तर यास्क प्रस्तुत मंत्र को उद्धृत करते हुए "पारावत-घ्नीम्" की "पारावार-घातिनीम्" के रूप में व्याख्या करते हैं (२.२२४) । तैत्त० ब्रा० भाग २, पृ० ८४२ (विब्इ०) पर भाष्य भी देखिये । इस व्याख्या की बॉटलिङ्क और रॉथ ने भर्त्सना की है ।

[126] बेनफे की सामवेद ग्लॉसरी, पृ० १५७, में 'रथी' शब्द के अन्तर्गत इस मंत्र का अनुवाद देखिये ।

[127] लैंगलोइ, भाग ३, पृ० २४१ नोट १३, का विचार है कि इस सूक्त में सरस्वती एक नदी नहीं बल्कि हवि सहित "यज्ञ की देवी" है । ये हवियाँ एक ऐसी नदी का रूप हैं जो उस पर्वत से प्रवाहित होती हैं जहाँ यज्ञ किया जा रहा है और जहाँ सोम का भी संग्रह किया गया है । यह हवि-रूपी नदी पात्र-रूपी समुद्र में गिरती है ।

ऋग्वेद १०.७५,५ के अतिरिक्त दो अन्य स्थलों पर यमुना का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद ५.५२,१७ में यमुना तट की गायों और अश्वों की सम्पत्ति का उल्लेख है;[१२८] और ७.१८,१९ में यह कहा गया है कि—"यमुना ने इन्द्र की रक्षा की रक्षा की।"[१२९] ऋग्वेद १०.७५,५ के अतिरिक्त मुझे ऋग्वेद ६.४५,३१,[१३०] में भी गङ्गा का सन्दर्भ मिला है जहाँ 'गाङ्गय' विशेषण आता है। किन्तु जिस प्रकार सिन्धु और सरस्वती की स्तुति है, उस प्रकार गङ्गा की स्तुति में ऋग्वेद में कोई स्थल नहीं मिलता।

सरयु का भी ऋग्वेद के तीन स्थलों (४.३०, १८, ५.५३, ९ और १०. ६४, ९) पर उल्लेख है। इनमें से प्रथम स्थल इस प्रकार है: उत त्या सद्यः आर्या सरयोर् इन्द्र पारतः। अर्णाचित्ररथा अवधीः। "तुमने सरयु के उस पार अर्ण और चित्ररथ नामक इन दो आर्यों का सीधे वध किया।" दूसरे तथा तीसरे स्थल को ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। इन स्थलों, और विशेष रूप से अन्तिम दो स्थलों पर उल्लिखित सरयु इसी नाम की उस नदी से भिन्न हो सकती है जो अवध की उत्तर-पूर्वी सीमा से होकर बहती है, क्योंकि यहाँ इसका ऐसी ही नदियों के साथ उल्लेख है जो पञ्जाब की है। किन्तु ऐसा मानना सर्वथा आवश्यक नहीं है,[१३१] क्योंकि हम अभी आगे देखेंगे कि वैदिक ऋषियों में से एक विहार अथवा कीकट से परिचित है। ऋग्वेद में दक्षिण की उन नदियों का कोई उल्लेख नहीं है, जो बाद मे पवित्रता की दृष्टि से भारत मे इतनी प्रसिद्ध मिलती हैं, जैसे नर्मदा, गोदावरी, और कावेरी, इत्यादि।

[गत पृष्ठों में विवेचित विषय पर लासन के इण्डियन ऐन्टीक्विटीज, के दूसरे संस्करण में भाग १. पृ० ६४३ पर कुछ नवीन सामग्री है जिसका अनुवाद इस प्रकार है : ऋग्वेद के सूक्तों में उल्लिखित नदियों के नाम हमें इन सूक्तों की रचना के समय भारतीय आर्यों के आवास-स्थानों के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालने का आधार प्रदान करते हैं। गङ्गा तथा यमुना का केवल एक

---

[१२८] ऋग्वेद ५ ५२,१७ "यमुनायाम् अधि श्रुतम् उद् राधो गव्य मृजे निराधो अश्व्यम् मृजे।"

[१२९] ऋग्वेद ७.१८,१९ "आवद् इन्द्र यमुना इत्यादि।"

[१३०] देखिये रॉथ लिट्० उण्ट गे० डेस वेद, पृ० १३६। शब्द इस प्रकार है "उरु कक्षो न गाङ्गय।" रॉथ, 'कक्ष' शब्द के अन्तर्गत इसके आशय को अनिश्चित बताते हैं। लैङ्गलोइ ने इसका अनुवाद ही नही किया है। विलसन ने सायण की व्याख्या को गलत समझा है।

[१३१] फिर भी, लासन का ऊपर उद्धृत मत देखिये।

वार दसवें मण्डल में उल्लेख है। एक पहले के मण्डल में दृषद्वती का भी केवल एक वार उल्लेख है। सरस्वती का उल्लेख अपेक्षाकृत अधिक मिलता है, किन्तु सिन्धु का उसकी सहायक नदियों सहित सर्वाधिक उल्लेख है। सिन्धु की इन सहायक नदियों में से कुछ का उनके प्राचीन नामों से उल्लेख है, जैसे चन्द्रभागा के लिये असिक्नी, मरुद्वृधा का वितस्ता से मिलने के वाद भी मरुद्वृधा, इरावती के लिये उरुञ्जिरा, और विपाशा के लिये परुष्णी। (ऋग्वेद का इस सम्वन्ध में प्रमुख स्थल १०.७५ है)। सिन्धु की तीन पश्चिमी सहायकों का, जिन्हें अब गोमल, कुर्रम, और काबुल कहते हैं, इन सूक्तों में क्रमशः गोमती, क्रुमु, और कुभा के नाम से उल्लेख है। इस अन्तिम नाम को, जैसा कि सुविदित है, यूनानियों ने 'कोफेन' के रूप में परिणत कर दिया है। अनितभा, रसा और श्वेती को भी सिन्धु की ही सहायक मानना चाहिये (ऋग्वेद ५.५३, ९; १०.७५, ६)। 'और आगे बढ़ने के के पूर्व, मैं यह कह देना उचित समझता हूँ कि यह विद्वान् भौगोलिक सेन्ट मार्टिन का नहीं, जिसने वैदिक भूगोल से सम्बद्ध महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत है, बल्कि फ्रान्सीसी अनुवादक (ऋग्वेद के) एम० लैंग्लोइ का दोष है जिसके कारण सेन्ट मार्टिन ने तीन ऐसी नदियों के अस्तित्व को ग्रहण कर लिया है जिनका वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं है। सुषोमा और आर्जीकीया उन पात्रों की द्योतक हैं जिनका सोम तैयार करने के लिये प्रयोग होता है।[132] यह मान्यता कि तृष्टामा नाम की भी एक नदी है, भाषा के अज्ञान पर निर्भर है। सम्बद्ध मन्त्र (ऋग्वेद १०.७५, ६) में 'तृष्टा' का सिन्धु से सम्बन्ध है, जब कि 'असया' वास्तव में 'अस' का एकवचन स्त्रीलिङ्ग करण रूप है।[133]

"ऋग्वेद में कुछ और नदियों, जैसे हरियुपीया और यव्यावती, का भी उल्लेख है, किन्तु केवल एक वार ही (६.२७, ५.६, ८.८५, १३) और वह भी इस प्रकार कि इनकी स्थिति का निर्धारण नहीं किया जा सकता। सरयु का तीन वार उल्लेख है। एक स्थान (४.३०, १७) पर यह कहा गया है

[132] इसके प्रमाण मे लासन, रॉथ लिट० ऐण्ड हिस्ट्री० ऑफ दि वेद, पृ० १३७ का सन्दर्भ-सकेत करते है। रॉथ. इलस्ट्रे० ऑफ निरुक्त, पृ० १३१, और वॉटलिङ्क तथा रॉथ के कोश मे वस्या० 'आर्जीकीया', भी देखिये। वेनफे के सामवेद ग्लॉसरी मे 'शरण्यावत्' के अन्तर्गत भी देखिये।

[133] वॉटलिङ्क और रॉथ के कोश मे 'तृष्टामा' को नदी का नाम कहा गया है।

कि इन्द्र की सहायता से तुर्वसु और यदु ने इस नदी को पार किया ।[134] द्वितीय स्थल (१०.६४, ९) पर इसका सरस्वती और सिन्धु के सन्दर्भ में उल्लेख है । तृतीय स्थल (५.५३,९) पर, पुनः इन्हीं दो तथा सिन्धु की अनेक सहायक नदियों तथा यमुना के सन्दर्भ में इसका उल्लेख है । यह सामग्री इस बात को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त नहीं है कि इससे किस नदी का तात्पर्य है । सम्भवतः यह सरस्वती की एक सहायक है । जो कुछ भी हो, गङ्गा की सुविख्यात इसी नाम की सहायक से इसका विभेद करना आवश्यक है । इस पर्यवेक्षण से यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद की रचना के समय भारतीय आर्य प्रमुखतः पूर्वी काबुलिस्तान और पञ्जाब में सरस्वती तक निवास करते थे ।

"यदि हम अनितभा, रसा और श्वेती को भी आधुनिक आबू सिन, बुरिन्दु, और सुदुम माने—जैसा कि सन्दर्भ से हमें मानना ही चाहिये—तो उस समय आर्यों के अधिकार में ऊपरी सिन्धु का भी कुछ भूभाग था । इस अनुमान को कि रसा से सुवास्तु का और श्वेती से प्राचीनों के कोआस का का तात्पर्य है, उपयुक्त नहीं कहा जा सकता । पश्चिमी काबुलिस्तान के कुछ भूभाग के भी भारतीय आर्यों के अधिकार में होने का तथ्य ऋग्वेद की उन तीन नदियों के नाम के आधुनिक रूपों के निर्धारण पर निर्भर है जो अभी नहीं किया जा सका है । ऋग्वेद के दसवें मण्डल के सूक्तों के संग्रह के समय में ही आर्य लोग और पूर्व में गङ्गा के क्षेत्रों में आकर बस चुके थे ।

"अथर्ववेद में हमें भारतीय आर्यों के विस्तार की प्रगति के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है । बाह्लीकों और गान्धारों को दूरस्थ देशों का निवासी कहा गया है । इसी प्रकार मगध तथा अङ्ग देशों के निवासी भी दूर रहते थे । अतः निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस समय तक आर्य लोग बंगाल के उत्तर-पश्चिमी भाग में गङ्गा के दक्षिणी तट से आगे नहीं बढ़े थे ।[135] ब्राह्मण धर्म के विस्तार के सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण में एक उल्लेखनीय आख्यान सुरक्षित है जिसका मुख्य तात्पर्य इस प्रकार है," इत्यादि । इसके बाद लासन ने १.४,१,१० और बाद, को उद्धृत किया है, जिसे मैं और आगे उद्धृत करूँगा ।]

[134] सरयु का ५ १७ मे नही वल्कि ५.१८ मे उल्लेख है, जहाँ यह कहा गया है कि इस नदी के दूसरे तट पर इन्द्र ने दो आर्यों, अर्ण और चित्ररथ, का वध किया ।

[135] यहाँ लेखक रॉथ लिट० ऐण्ड हिस्ट्री आफ वेद, पृ० ३७ और बाद, का सन्दर्भ देता है जहाँ अथर्ववेद ५ २२ के कुछ मन्त्रो का उद्धरण, अनुवाद तथा उदाहरण दिया गया है ,

हम देख चुके हैं कि अथर्ववेद में हिमालय पर्वत का उल्लेख है। ऋग्वेद के १० वे मण्डल के एक सुन्दर सूक्त, १२१ में, भी हमें यह मन्त्र मिलता है : यस्य इमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सह आहुः। "वह जिसकी महानता को ये हिमाच्छादित पर्वत, तथा नदियों सहित समुद्र बताते हैं,[१२६] इत्यादि।" किन्तु ऋग्वेद में उस विन्ध्य पर्वत का कोई उल्लेख नहीं जो मध्य भारत के बीच स्थित है।

ऋग्वेद का यह उद्धरण इस बात को दिखाता है कि सूक्तकार (विश्वामित्र) पूर्व में स्थित कीकट अथवा विहार के कुछ देशों से भी परिचित था। ऋग्वेद ३.५३,१४ 'किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो न आशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्। आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखम् मघवन् रन्धय नः। "तुम्हारी गायें कीकटों में क्या कर रही हैं? ये न तो हवि के लिये दूध देती है और न आग ही प्रदान करती है। हे इन्द्र हमारे पास प्रमगन्द की सम्पत्ति लाओ, और नैचाशाख लोगों को हमारे अधीन करो।" यास्क ने कीकट की व्याख्या एक ऐसे देश के रूप में की है जहाँ आर्य नहीं थे (निरुक्त ६.३२ : कीकटो नाम देशोऽनार्यनिवासः)।[१३०] त्रिकाण्डशेष नामक कोश में कीकट

---

[१२६] देखिये मूलर का अनुवाद। बुनसेन के गोगे० भाग २, पृ० १०७ पर अथर्ववेद १२ १,११ मे भी हिमालय का उल्लेख है "गिरयस् ते पर्वता हिमवन्तो अरण्य ते पृथिवि स्योनम अस्तु।" "हे पृथिवी तुम्हारे पर्वत हिमाच्छादित, और अरण्य सुन्दर हो।"

[१३०] सायण 'कीकट' की यास्क के एक सकेत के आधार पर एक और वैकल्पिक व्याख्या करते हैं "यद्वा क्रियाभिर् याग-दान-होम-लक्षणाभि किम् किम् फलिष्यति" इत्य् अश्रद्दधाना प्रत्युत "पिवत खादत अयम् एव लोको न पर" इति वदन्तो नास्तिका कीकटा।" "अथवा कीकट लोग नास्तिक है जो धर्म से रहित होने के कारण यह कहते हैं कि 'यज्ञ, दान, और होम से क्या लाभ होगा? इस लोक के अतिरिक्त अन्य कोई लोक नही है अत अच्छी तरह भोजन तथा पान करना चाहिये।" सायण की ऋग्वेद-भाष्यभूमिका (मूलर का सस्करण, भाग १, पृ० ७) मे मीमासा के एक सूक्त को भाष्य सहित उद्धृत किया गया है जिसमे एक आपत्तिकर्त्ता इस आधार पर वेद के नित्यत्व को अस्वीकार करता है कि इसमे अनित्य वस्तुओ और व्यक्तियो का उल्लेख है। आपत्तिकर्ता के वक्तव्य मे 'नैचाशाख' को एक नगर तथा 'प्रमगन्द' को एक राजा कहा गया है "किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु" इति मन्त्रे कीकटो नाम जनपद आम्नात। तथा नैचाशाख नाम नगरम् प्रमगन्दो नाम राजा

को मगध का समानार्थी बताया गया है। बॉटलिङ्क और रॉथ के कोश में भागवत पुराण (१.३,२४) से इन पंक्तियों को उद्धृत किया गया है : ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुर-द्विषाम्। बुद्धो नामाञ्जन सुतः कीकटेषु भविष्यति। "कलियुग का आरम्भ हो जाने पर देवों के द्वेषियों (असुरों) को सम्मोहित करने के लिये अञ्जन का एक बुद्ध नामक पुत्र कीकटों में उत्पन्न होगा।" भागवत पुराण के भाष्यकार ने कीकटों की 'मध्ये गया-प्रदेशे' के रूप में व्याख्या की है। पुनः, भागवत पुराण ७.१०,१८ में इस प्रकार कहा गया है : यत्र यत्र च मद्-भक्ता प्रशान्ताः समदर्शिनः। साधवः समुदाचारास् ते पूयन्तेऽपि कीकटाः। "जहाँ जहाँ मेरे प्रशान्त, समदर्शी, साधु और सच्चरित्र भक्त रहते हैं वहाँ के लोग, चाहे वे कीकट ही क्यों न हों, पवित्र हो जाते हैं।" प्रो० वेबर ने अपने इण्डिशे स्टू० १.१८६ में अपना मत व्यक्त करते हुये कहा है कि कीकट लोग (जैसा कि यास्क कहते हैं) अनार्य नहीं बल्कि व्रात्यों की ही भाँति आर्य लोग थे, यद्यपि ये आर्य-कृत्यों का पालन नहीं करते थे। अतः आपके विचार से ये लोग या तो बौद्ध अथवा बौद्धों के पूर्वगामी थे।

इन स्थलों से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि कीकट लोग मगध अथवा बिहार के निवासी थे।

निम्न मन्त्र, जिनकी अथर्ववेद ५.२२ से उद्धृत करके, प्रो० रॉथ ने अपने लिट० ऐण्ड हिस्ट्० ऑफ दि वेद, पृ०३७-४२ में व्याख्या की है, यह दिखायेंगे कि इनकी रचना के समय आर्यों के अधिकार में जो भूभाग था उसकी सीमा क्या थी। यह सीमा एक दिशा में ऊपर उद्धृत उस स्थल की, जिसमें कीकटों का उल्लेख है, एक सीमा के अनुरूप है। इस मन्त्र में तक्मन की स्तुति है जो, प्रत्यक्षतः, एक मूर्तीकृत व्याधि प्रतीत होता है। इस व्याधि से यह स्तुति की गई है कि वह कुछ ऐसी जातियों को ग्रसित करे जिनके नाम का भी उल्लेख है और ये ऐसी जातियाँ हो सकती है जो आर्यों की सीमा के बाहर निवास करती थीं, यद्यपि इनका अनार्य ही होना अनिवार्य नहीं। अथर्ववेद ५.२२, ५ ७.८ १२. १४ : ५. ओको अस्य मूजवन्तो ओको अस्य महावृषाः। यावज् जातस् तक्मंस् तावान् असि बह्लिकेषु न्योचरः। ७. तक्मन् मूजवतो गच्छ बह्लिकान् वा परस्तराम्। शूद्रान् इच्छ प्रफर्यं

इत्य् एतेऽर्था अनित्या आम्नाता।" "इस मन्त्र 'तुम्हारी गायें कीकटो मे' इत्यादि, मे कीकट नामक एक जनपद का उल्लेख है, और इसके साथ नैचा-शाख नामक एक नगर का तथा प्रमगन्द नामक एक राजा का भी, ये सभी अनित्य पदार्थ हैं।"

तां तक्मन् वि इव धूनुहि । ८. महावृषान् मूजवतो बन्धु अधि परेत्य। प्रैतानि तक्मने ब्रूमो अन्यक्षेत्राणि वा इमा । १२.तक्मन् भ्रात्रा वलासेन स्वस्रा कासिकया सह । पाम्ना भ्रातृव्येण सह गच्छामुम अरन जनम् । १४. गन्धारिभ्यो मूजवद्भयो अङ्गेभ्यो मागधेभ्यः । प्रैष्यं जनम् इव शेवधि तक्मानम् परि दद्मसि । "५. उसका (तक्मन् का) स्थान मूजवत् है, महावृष उसका गृह है । हे तक्मन् ! ज्यों ही तुम जन्म लेते हो, बह्लिकों में रहने लगते हो । ७. हे तक्मन ! तू मूजवतों में, [अथवा और दूर बह्लिकों में चला जा । तू प्रथम अवस्थावाली शूद्रा से मिलता हुआ उसे ही कम्पायमान कर । ८. हे मित्र, हमे छोड़ कर, तू महावृषों और मूजवतों का भक्षण कर । हम तक्मन् को इन तथा अन्य अज्ञात क्षेत्रों की ओर भेजते है । १२. हे तक्मन् ! अपने भ्राता, वलास, और अपनी बहन कासिका, और अपने भतीजे पामन्, को लेकर अन्य लोगों के पास जाओ । १४. हम तक्मन् को एक दास और एक निधि की भाँति गान्धारों, अङ्गों और मागधों के पास स्थानान्तरित करते हैं ।"

मूजवतों का, पुनः, वाजसनेयि संहिता ३.६१, मे इस प्रकार उल्लेख है : एतत् ते रुद्र अवसं तेन परो मूजवतो अतीहि । अवततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासाः अहिंसन् नः शिवो अतिहि ।[138] "हे रुद्र ! यह तुम्हारा भोजन

[138] वाजसनेयि सहिया के भाष्यकार ने मूजवत की रुद्र की आवासभूमि, एक पर्वत, के रूप मे व्याख्या की है "मूजवान् नाम कश्चित् पर्वतो रुद्रस्य वास स्थानम् ।" प्रत्यक्षत यह एक बाद का विचार है । तुकी० महाभारत, सौप्तिकपर्व, ७८५ . "एवम् उक्त्वा स सक्रोधो जगाम विमना भव । गिरेर् मुञ्जवत पाद तपस् तप्तुम महातपा. ।" "इस प्रकार कहकर क्रोध तथा विमनस्कता के साथ भव (शिव) तपस्या करने के लिये अपने महान भक्त, मुञ्जवत् पर्वत की ओर चले गये ।" और आश्वमेधिकपर्व, १८० . "गिरेर् हिमवत पृष्ठे मुञ्जवान् नाम पर्वत । तप्यते यत्र भगवास् तपो नित्यम् उमापति ।" "हिमवान् पर्वत के पृष्ठ भाग मे मुञ्जवान् नामक एक पर्वत है जहाँ उमापति (शिव) नित्य तपस्या करते हैं ।" शतपथ ब्राह्मण का भाष्यकार इसे 'उत्तरी पर्वत' (उदीच्य पर्वत) कहता है । वाजसनेयि संहिता को उद्धृत करके शतपथ ब्राह्मण (२ ६,२,१७) उसपर यह टिप्पणी करता है · "अवसेन वै अध्वान यन्ति । तद् एन सावसम् एव अन्ववार्जति यत्र यत्र अस्य चरण तद् अनु । अत्र हि वै अस्य परो मूजवद्भ्यश् चरणम् । तस्माद् आह "परो मूजवतोऽतीहि" इति "अवतत-धन्वापिनाकावस" इत्य् "अहिंसन् न.

है, इसके साथ तुम मूजवतों के भी पार जाओ। अपने अनत धनुष के साथ अदृश्य रूप से, और चर्म-परिधान से युक्त होकर, हमें बिना क्षति पहुँचाये और हम पर अनुग्रह करते हुये दूर चले जाओ।"

मूजवत, जिनका वह्लिकों (एक बैक्ट्रियन जाति) तथा गान्धारों के साथ उल्लेख है, जैसा कि रॉथ का विचार है, भारत के उत्तर-पश्चिम की एक पहाड़ी जाति के लोग हो सकते है। महावृष लोग भी इसी क्षेत्र के हो सकते हैं।[131]

दूसरी ओर १३ वें मन्त्र में वर्णित अङ्ग और वङ्ग दक्षिण विहार तथा उसके पश्चिमी सीमावर्ती क्षेत्र में निवास करनेवाली जातियाँ है। इस प्रकार इस मन्त्र में हमें दो उत्तर-पश्चिम में और दो दक्षिण-पूर्व में निवास करनेवाले राष्ट्र मिलते हैं। इनको दिये गये शापों के आधार पर हम यह मान सकते हैं कि ये ब्राह्मण भारत की सीमाओं पर निवास करनेवाली ऐसी आक्रामक अथवा विदेशी जातियाँ थीं जिन्हें उस समय भी ब्राह्मण-भारत के बाहर निवास करनेवाला माना जाता था (रॉथ: लिट० ऐण्ड हिस्ट्र० ऑफ दि वेद, पृ० ४२)।

फिर भी यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि जिन जातियों को अथर्ववेद में आक्रामक अथवा विदेशी कहा गया है वे वास्तव में अनार्य थीं।

शिवोऽतीहि" इत्य्। एव एतद् आह "कृत्तिवासा" इति। निष्वापयत्य् एव एनम् एतत्। स्वपन्न् उ हि न कञ्चन हिनस्ति। तस्माद् आह "कृत्तिवासा" इति।" मनुष्य अपने आहार के साथ अपने मार्ग पर जाता है। अत वह अपने आहार के साथ उसे (रुद्र को) वहाँ भेज देता है जहाँ उसे जाना है। यहाँ उसे मूजवत् के उस पार की यात्रा करनी है, अत वह कहता है कि 'मूजवत् के उस पार जाओ', 'अनत धनुष के साथ और अदृश्य रूप से,' 'हमे कोई क्षति न पहुँचाते हुये और हम पर कृपा करते हुये चले जाओ।' वह यह भी कहता है कि 'चर्म वसन मे।' यह उसे निद्रित कर देता है क्योंकि निद्रावस्था मे वह किसी को क्षति नही पहुँचाता। इसलिये वह कहता है कि 'चर्म वसन मे'।" मूजवत् का एक व्युत्पन्न रूप ऋग्वेद १० ३४,१ मे भी आता है "सोमस्य इव मौजवतस्य भक्ष।" "मूजवत् पर उत्पन्न सोमलता के समान।" यास्क (निरुक्त ९.८) इस शब्द की इस प्रकार व्याख्या करते हैं. मौजवतो मूजवति जात। मूजवान् पर्वतः।" "मौजवत' का अर्थ मूजवत् पर उत्पन्न है मूजवत् एक पर्वत है।"

[131] बाहीको और बाह्लीको के लिये देखिये, लासन, त्सी० १८४०, पृ० १९४; और १८३९, पृ० ५२ और वाद।

इस प्रकार, ऐसा प्रतीत होता है कि बाद के समय में आर्यों का गान्धारों से भी संचार-सम्बन्ध था। शतपथ ब्राह्मण से गान्धारराज नग्नजित् के पुत्र स्वर्जित नामक एक राजर्षि का उल्लेख है जिसने प्राणवायु के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त किया था। यद्यपि इसके मत को प्रामाणिक नहीं माना गया है, तथापि इसके मत का उद्धृत किया जाना तथा इसे एक राजन्य कहा जाना मात्र ही इसका आर्य होना सिद्ध कर देता है। शतपथ ब्राह्मण का यह स्थल इस प्रकार है (८ १, ४,१०): अथ ह स्म आह स्वजिद् नाग्नजितः। नग्नचिद् वा गान्धारः। " यत् स तद् उवाच राजन्यबन्धुर् इव त्व् एव तद् उवाच ॥ "अब, नग्नजित् के पुत्र स्वर्जित् ने कहा। यह नग्नजित् एक गान्धार था। यह जो कुछ उसने कहा वह केवल एक राजन्य के रूप में कहा।" ऐतरेय ब्राह्मण ७.३४, मे भी गान्धार नग्नजित् का एक ऐसे व्यक्ति के रूप में उल्लेख है जिसने पर्वत और नारद से किसी संस्कार के सम्बन्ध में उपदेश प्राप्त किया था।[१६४] महाभारत (१.२४३९–४१) में भी इसका इस प्रकार उल्लेख[१६५] है: प्रह्लाद-शिष्यो नग्नजित् सुबलश् चाभवत् ततः। तस्य प्रजा धर्म-हन्त्री जज्ञे देव-प्रकोपनात्। गन्धार-राज-पुत्रोऽभूच् छकुनिः सौबलस् तथा। दुर्योधनस्य जननी जज्ञातेऽर्थ-विशारदौ। "तब प्रह्लाद-शिष्य नग्नजित् और सुबल का जन्म हुआ। देवों के कोप के कारण इसकी सन्तान धर्म-द्रोही हो गई। गन्धार राज (सुबल) को दो सन्तान हुई, एक शकुनि सुबल और दूसरी दुर्योधन की माता: ये दोनों ही बुद्धिमान थे।" दुर्योधन एक कुरु राजा तथा महाभारत के नायकों में से एक था।

ये स्थल इस बात को पूरी तरह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं कि गान्धार एक ऐसी जाति के लोग थे जिनके साथ आर्य भारतीयों का संसर्ग तथा सम्बन्ध था। इस संसर्ग से हम दोनों में उत्पत्ति तथा भाषा के साम्य का निष्कर्ष भी निकाल सकते हैं। लासन इस विषय पर इस प्रकार टिप्पणी करते हैं। (इण्डि०आ०, २.२०६): "यद्यपि महाभारत के किसी किसी स्थल पर सिन्धु तथा उसकी पाँचों सहायक नदियों के क्षेत्र में रहनेवाली जातियों के प्रति घृणा तथा द्वेष व्यक्त किया गया है, तथापि इस बात का कोई चिह्न नहीं है कि इन जातियों को कभी अनार्य माना जाता था। इन लोगों की भाषा में किसी अनिवार्य भिन्नता का न होना कम से कम एक बाद के समय की दृष्टि से पाणिनि के प्रमाण द्वारा सिद्ध हो जाता है।" पाणिनि का यहाँ उद्धृत स्थल भी इसी रूप में दिया गया है जिसमें यह कथन है: "वाहीक शब्द का न

१६४ रॉथ लिट० ऐण्ड हि० आफ दि वेद, पृ० ४१, ४२।

१६५ देखिये वेबर इण्डिशे स्टूडियन १.२१८–२२०।

केवल महाभारत में ही प्रयोग हुआ है वरन् यह पाणिनि[१४२] में भी मिलता है। इन दोनों में ही यह पञ्जाब की जातियों के लिये प्रयुक्त हुआ है। इस नाम का प्रयोग इस प्रकार पूर्णतया प्रमाणित हो जाता है; और यदि वैयाकरणों ने वाहीकों के देश में स्थित ग्रामों के नामों के निर्माण के सम्बन्ध में विशेष नियम बनाये थे तब हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वाहीक लोग संस्कृत बोलते थे, यद्यपि ये अन्य भारतीयों की अपेक्षा कुछ विशेष प्रत्ययों का एक भिन्न रूप से प्रयोग करते थे।"

यही लेखक अन्यत्र[१४३] यह कहते हैं: "यद्यपि स्पष्ट रूप से नहीं, तथापि आशय की दृष्टि से, भारतीय लोग सरस्वती तथा हिन्दू कुश के बीच निवास करनेवाले राष्ट्रों का इन दो वर्गों के अन्तर्गत विभेद करते हैं: प्रथम, वह जो सिन्धु के पूर्व में रहते हैं, और कुछ जो इस नदी के ठीक पश्चिम में रहते हैं, जैसे गान्धार लोग। इनके अनुमान से अभी भारतीय हैं।...किन्तु काश्मीरियों तथा कुछ कम प्रसिद्ध जातियों के अपवाद के अतिरिक्त ये भारतीय विशुद्ध नहीं है: इनके आचार-व्यवहारों की अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता को अराजकता की स्थिति माना गया है।" और वेबर ने भी इसी प्रकार टिप्पणी की है:[१४४] "उत्तर-पश्चिम की जातियों ने अपने उन प्राचीन प्रचलनों को सुरक्षित रक्खा जो, किसी समय, उन जातियों में भी प्रचलित थे जो पूर्व की ओर चली गईं। इस प्रथम वर्ग ने अपने को उस वर्ग-विभाजन तथा जातियों के प्रभाव से मुक्त

---

[१४२] यहाँ उद्दिष्ट सूक्त ये है ३.३,८८, ४ २,११७–११८। ये दो अन्तिम तथा इनका भाष्य इस प्रकार है ' ११७ वहीक-ग्रामेभ्यश्च। वाहीक-ग्राम-वाचिभ्यो वृद्ध-सञ्ज्ञकेभ्यष् 'ठञ्' 'ञिठ्' इत्य् एतौ प्रत्ययौ भवत। शकलिकी। शाकलिका॥ ११८. विभाषा उशीनरेषु। उशीनरेषु ये वाहीक-ग्रामास् तद्-वाचिभ्यो वृद्धेभ्यष् 'ठञ्' 'ञिठ्' इत्य् एतौ प्रत्ययौ वा भवत। सौदर्शनिकी। सौदर्शनिका। पक्षे छ। सौदर्शनीया। "११७ 'ठञ्' और 'ञिठ्' प्रत्ययो का वृद्धि-सञ्ज्ञक शब्दो मे प्रयोग होता है जो वाहीको के ग्रामो के द्योतक हैं, जैसे 'शाकलिकी, शकलिका'। ११८. अथवा एक वैकल्पिक रूप से 'ठञ्' और 'ञिठ्' प्रत्ययो का वृद्धि-संज्ञक ऐसे शब्दो मे व्यवहार होता है जो उशीनरो के देश के वाहीक-ग्रामो के द्योतक हैं जैसे सौदर्शनिकी, सौदर्शनिका, अथवा कभी कभी 'छस्' प्रत्यय के साथ, जैसे 'सौदर्शनीया'।

[१४३] त्सी० २ ५८। देखिये एशियाटिक रिसर्चेज़ १५ १०८, और परिशिष्ट, नोट 'L'।

[१४४] इण्डि० स्टू० १ २२०।

रक्खा जो बाद वाले वर्ग के लोगों में, एक विदेशी (आदिनिवासी) लोगों के बीच रहने के परिणामस्वरूप विकसित हो गया। किन्तु पूर्व के आर्यों की बाद की आस्तिक भावना ने उनकी एक आरम्भिक स्वतन्त्र अवस्था की स्मृति को समाप्त कर दिया। इसके परिणामस्वरूप ये लोग पश्चिम के सजातीय लोगों को घृणा की दृष्टि से देखने लगे।"

कुछ अन्य ऐसी जातियाँ भी हैं, जिन्हें यद्यपि बाद के संस्कृत साहित्य में ब्राह्मण वर्णाश्रम से भिन्न कहा गया है, तथापि जो एक समय क्षत्रिय थीं परन्तु यज्ञादि की उपेक्षा के कारण अपने पद से च्युत हो गईं।[१४५] फिर भी, इस परम्परा के अतिरिक्त भी, हमें इन जातियों में से कम से कम कुछ के आर्य होने के अन्य प्रमाण भी मिलते हैं। इस प्रकार निरुक्त के इस स्थल द्वारा ऐसा प्रतीत होता है कि कम्बोज लोग आर्य-भाषायें बोलते थे। निरुक्त २.२ : "कुछ (जातियों) में मूलरूप का व्यवहार होता है और कुछ में व्युत्पन्न रूपों का। 'शवति' का केवल कम्बोजों में प्रयोग होता है, जब कि इससे उत्पन्न 'शव' का आर्यों में। पूर्व के लोग 'काटने' के आशय में 'दाति' का प्रयोग करते हैं, जब कि उत्तर के लोग 'दात्रम्' (हँसिया) का व्यवहार करते हैं।" अतः, यदि कम्बोजों द्वारा व्यवहृत भाषा के सम्बन्ध में यास्क के प्रमाण पर विश्वास किया जाय, तो यह स्पष्ट है कि ये लोग एक संस्कृत बोली ही बोलते थे। यास्क ने जो कुछ कहा है उसमें यह आशय निहित है कि आर्यों और कम्बोजों की भाषाओं में घनिष्ट साम्य था, और दोनों में समान तत्त्व मिलते हैं, यद्यपि कुछ बातें भिन्न अथवा परिवर्तित हो गई हैं। क्योंकि, जहाँ इस प्रकार का सामान्य तादात्म्य मिलता है, वहीं किन्हीं दो बोलियों में मिलनेवाली भिन्नता ध्यान आकर्षित करती है। यदि दोनों भाषाओं में बहुत थोड़ी ही बातें समान होतीं तो वैयाकरणों ने इन गौण विभेदों की तुलना की ओर अधिक ध्यान न दिया होता। अब, कम्बोजों का देश भारत के उत्तर-पश्चिम में सिन्धु के उस पार स्थित था। अतः यह स्पष्ट है कि इस नदी के पश्चिम में कुछ दूर तक संस्कृत ही बोली जाती थी।

प्रो० रॉथ का तो यहाँ तक विचार है कि यह स्थल कम्बोजों द्वारा संस्कृत व्याकरण के अध्ययन के तथ्य को भी प्रमाणित करता है। अपने लिट० ऐण्ड हि० ऑफ दि वेद, पृ० ६७ पर, आप इस प्रकार अपना विचार व्यक्त करते हैं : "अनेक वैयाकरण, जिनके मतों को प्रातिशाख्यों में उद्धृत किया गया है, इस

---

[१४५] इस परम्परा का, कुछ उन पूर्वी तथा दक्षिणी जातियों, पुण्ड्र, ओड्र और द्रविडों में भी विस्तार कर दिया गया है, जो आर्य नहीं रहे हो सकते।

बात को प्रमाणित करते है कि व्याकरण का अत्यन्त व्यापक रूप से अध्ययन होता था। और यास्क (निरुक्त २.२) एक उल्लेखनीय स्थल पर इसकी पुष्टि करते हैं, जिसके अनुसार चार भिन्न प्रान्तों के वैयाकरण शब्द-रूपों का भिन्न-भिन्न रूपों से व्यवहार करते थे। इन चार प्रान्तों के अन्तर्गत ये लोग आते हैं : काम्बोज और आर्य, तथा प्राच्य और उदीच्य लोग। इस प्रकार यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि कम्बोज लोग न केवल मूलतः आर्य थे वरन् इनमें भारतीय संस्कृत का ही प्रचार था। परिणामस्वरूप, यास्क के समय में इस संस्कृति का हिन्दूकुश तक प्रसार रहा होगा। एक बाद के समय में, जैसा कि मनुस्मृति का एक प्रसिद्ध स्थल (१०.४३) दिखाता है, कम्बोजों को एक बर्बर जाति कहा जाने लगा क्योंकि इनका आचार-व्यवहार भारतीयों से भिन्न था।···कुछ कम मात्रा में कम्बोजों तथा भारतीयों के बीच परिवर्तन की यह स्थिति बहुत कुछ वैसी है जैसी कि एक अत्यन्त प्राचीन काल में भारतीयों और प्राचीन पर्शियनों में भी विद्यमान थी।"[१४६]

---

[१४६] अपनी बाद की एक कृति, निरुक्त, मे रॉथ ने कुछ कारणो से यह कहा है कि कम्बोजो से सम्बद्ध यह स्थल प्रक्षिप्त हो सकता है। फिर भी, आप कहते हैं कि "यह उस सीमा तक महत्त्वपूर्ण है, जहाँ तक यह इस बात को दिखाता है कि भारतीय लोग कम्बोजो को भी सस्कृत व्याकरण का अध्ययन करनेवाला मानते थे।" (पृ० १७,१८)। जअओसो० ७ ३७३-३७७ मे प्रो० मूलर ने भी इस स्थल पर कुछ टिप्पणी की है। आप इस बात का सकेत करते हैं कि इसी समान एक स्थल महाभाष्य मे भी आता है। तदनन्तर आप यह विचार प्रगट करते है "यद्यपि यह स्थिति अशतः रॉथ के इस अनुमान की पुष्टि करती है कि इस स्थल के कुछ अश प्रक्षिप्त हैं, तथापि यह भी सम्भव है कि महाभाष्य ने इसे निरुक्त से लिया हो, अथवा निरुक्त तथा महाभाष्य दोनो ने ही इसे किसी अन्य एक ही प्राचीन व्याकरणिक परम्परा से लिया हो।" जो कुछ भी हो, कम्बोजो जैसी एक दूरस्थ जाति के लोगो के इस सन्दर्भ से ऐसा प्रतीत होता है कि इसे किसी प्राचीन स्रोत से ही ग्रहण किया गया होगा। महाभाष्य का उक्त स्थल इस प्रकार है (डा० बैलनटाइन का स० पृ० ६२) "शवतिर् गति-कर्मा कम्बोजेष्व् एव भाषितो भवति। विकारे एव एनम् अर्या भाषन्ते "शव" इति। "हम्मति" सुराष्ट्रेषु "रहति" प्राच्य-मध्यमेषु "गमिम्" एव त्व् आर्या प्रयुञ्जते। "दातिर्" लवनार्थे प्राच्येषु दात्रम् उदीच्येषु।" 'शवति एक क्रिया है और इसका 'जाने' के अर्थ मे केवल कम्बोज लोग ही व्यवहार करते हैं, आर्य लोग केवल इसके व्युत्पन्न रूप, 'शव', का व्यवहार करते हैं। सुराष्ट्र के लोग 'हम्मति' का तथा मध्य और पूर्वदेशीय

अब, जैसा कि मैं कह चुका हूँ, इस तथ्य को कि सिन्धु के पश्चिम की जातियाँ भी संस्कृत बोलती थीं, इस बात के प्रमाण के रूप में ग्रहण किया जा सकता है कि इस क्षेत्र में भी वैसे ही आर्य लोग निवास करते थे जैसे भारतीय आर्य थे।[१८७] इस प्रकार, यह इस स्थिति को पुष्ट करने का एक और आधार प्रदान करता है कि भारतीय-आर्य पश्चिम से ही आकर भारत में बसे थे।

फिर भी, सम्भवतः यह आपत्ति की जा सकती है कि विवेच्य-स्थल (निरुक्त २.२) न केवल यही प्रमाणित करता है कि उत्तर-पश्चिम के कम्बोज लोग संस्कृत बोलते थे, वरन् यह भी कि पूर्व में भी यही भाषा प्रचलित थी। अब, यतः हम यह मान सकते हैं कि यास्क सरस्वती के, अथवा यमुना के, अथवा गङ्गा के तटवर्ती देश में निवास करते थे, अतः उन्होंने जिन लोगों को 'प्राच्य' शब्द से व्यक्त किया है उन्हें कीकट, अथवा मागध, अथवा अङ्ग, अथवा वङ्ग लोग होना चाहिये : किन्तु यतः इस स्थल से यह स्पष्ट है कि ये जातियाँ भी संस्कृत बोलती थीं, अतः इसी प्रकार यह तर्क भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि आर्य लोग पूर्व से भी भारत में आये हो सकते हैं। इसके उत्तर में मैं यह कहूँगा कि कुछ अन्य स्थलों, जैसे शतपथ ब्राह्मण १.४, १, १०-१८ (जिसे आगे उद्धृत किया गया है), के आधार पर इस बात को सिद्ध किया जा सकता है कि आर्य सभ्यता का पश्चिम से पूर्व की ओर प्रसार हुआ, और यह भी कि इस प्रकार हम उचित रूप से यह मान सकते हैं कि ये प्राच्य जातियाँ मूलतः पूर्व में निवास नहीं करती थीं। वास्तव में ये जातियाँ भी या तो उसी जनसंख्या की एक अंग थीं जो पश्चिम की ओर से आकर बसी थीं, अथवा ये उस समय तक संस्कृत नहीं बोलती थीं जब तक पश्चिम से आकर बसे लोगों से इन्होंने उसे सीख नहीं लिया। और साथ ही साथ, यास्क से उद्धृत यह स्थल अकेला नहीं है। यह तो उन अनेक अन्य तर्कों का एक पूरक है जिन्हें पहले ही यह दिखाने के लिये प्रस्तुत किया जा चुका है कि आर्य लोग उत्तर-पश्चिम दिशा से भारत में आये थे।

इस तथ्य की कि संस्कृत बोलियाँ बोलनेवाली जातियाँ भारत के उत्तर-

---

जातियों के लोग 'रंहति' का व्यवहार करते हैं; किन्तु आर्य लोग जाने के अर्थ में केवल 'गमि' का प्रयोग करते हैं। 'दाति' शब्द काटने के अर्थ में केवल पूर्व के लोगों द्वारा व्यवहृत होता है, उत्तर के लोग 'दात्र' का ही व्यवहार करते हैं।"

[१८७] देखिये परिशिष्ट, नोट 'M'। देखिये रालिन्सन हेरोडोटस, १.६७०, ६७१, और वहीं उद्धृत स्ट्राबो भी।

पश्चिम में निवास करती थीं, श्री कर्ज़न की परिकल्पना के आधार पर व्याख्या करते हुये यह कहा जा सकता है कि ये जातियाँ भारत से ही बाहर गईं। किन्तु, जैसा हम देख चुके है, इस परिकल्पना का इस विषय से सम्बद्ध अन्य स्थितियों के साथ साम्य नहीं है।

अभी-अभी प्रस्तुत तथ्यों के आधार पर गृहीत तर्क को यदि संक्षेप में कहा जाय तो वह इस प्रकार होगा : हम भारत के उत्तर-पश्चिम में अनेक ऐसी जातियों को बसा हुआ पाते हैं जो वही भाषा बोलती थीं जिसका भारतीय आर्य व्यवहार करते थे। दूसरी ओर हम यह देखते हैं (जैसा कि अगले अध्याय में विस्तार से दिखाया जायगा) कि स्वयं भारत के विभिन्न भागों (पूर्वी, दक्षिणी, तथा उत्तर-पश्चिमी) में कुछ ऐसी जातियाँ रहती थीं जिनकी भाषा का आर्य-भाषा से आधारभूत अन्तर था। इससे मैं यह निष्कर्ष निकालता हूँ कि भारतीय आर्य अवश्य भारत के बाहर से उसी दिशा से आये थे जिसमें हम आरम्भिकतम समय से आर्यभाषा बोलनेवाली जातियों को ही बसा हुआ पाते है, और भारत में आकर आर्यों ने उन अनार्य जातियों को पूर्व तथा दक्षिण की ओर भगा दिया जिन्हें भारत में आने पर इन्होंने अपने विरुद्ध बसा हुआ पाया। फिर भी, इस विषय का और विस्तार से अगले अध्याय में विवेचन किया जायगा।

अध्याय २

भारत में आर्य : इनका पूर्व तथा दक्षिण की ओर विस्तार

गतअध्याय में मैंने तुलनात्मक भाषाविज्ञान, सामान्य इतिहास, तथ साथ ही साथ, भारतीयों और ईरानियों के प्राचीनतम लिखित विवरणों से निष्कृष्ट तर्कों के आधार पर प्रथमतः यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इतिहास के उषाकाल में हम भारत में जिस प्रमुख जाति को स्थापित पाते हैं वह भारत की मूल निवासी नहीं बल्कि मध्य एशिया से आकर यहाँ बसी जाति थी। द्वितीयतः मैंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इस जाति के लोग काबुल होते हुये सिन्धु नदी को पार करके भारत में उत्तर-पश्चिम दिशा के मार्ग से आये थे। भविष्य के लिये मैं यह मानकर चलूँगा कि ये दोनों मान्यतायें सिद्ध हो चुकी हैं। अब मैं भारतीय आर्य जाति के पञ्जाब में प्रवेश कर लेने के बाद उसकी दक्षिण तथा पूर्व की ओर प्रगति और विस्तार के इतिहास को अंकित करने का प्रयास करूँगा। प्राचीनतम भारतीय विवरण, ऋग्वेद के सूक्तों, के आधार पर हम यह देख चुके हैं कि सिन्धु नदी के दोनों तटवर्ती देश ही भारत में भारतीय आर्यों के आरम्भिकतम आवास-क्षेत्र थे। अब हम यह देखेंगे कि इन सूक्तों में प्राचीन ऋषियों ने अपनी ही जाति के लोगों के लिये आर्य शब्द का प्रयोग करते हुये उन दस्युओं से उनका विभेद किया है जिनको आर्यों से भिन्न जाति का, तथा सम्भवतः, रंग में भी भिन्न मानने के लिये पर्याप्त आधार है। इन दस्युओं की भाषा, धर्म तथा रीति-रिवाज भी आर्यों से भिन्न थे और उत्तर पश्चिम से भारत में आर्यों के आगमन के समय ये लोग भारत में बसे हुये थे। तदनन्तर मैं ब्राह्मणों तथा वैदिकोत्तर साहित्य के उद्धरणों के आधार पर आर्यों के दक्षिण तथा पूर्व की ओर प्रगति के क्रम को दिखाने का प्रयास करूँगा जिसके द्वारा इन लोगों ने यहाँ की आदिम जातियों को पर्वतों तथा वनों में भगाते हुये उनके द्वारा अधिकृत भूभाग को अपने अधीन कर लिया। इसके बाद मैं संस्कृत भाषा तथा दक्षिण की भाषाओं के बीच की कुछ आधारभूत भिन्नताओं को व्यक्त करनेवाले कुछ उदाहरण दूँगा। ये भिन्नतायें यह संकेत करती हैं कि जो दक्षिणी भाषायें बोलते थे वे मूलतः भारतीय-आर्यों से भिन्न जाति के लोग थे। और अन्त में मैं उस प्रणाली

का संकेत करूँगा जिसके अनुसार तथ्यों के ये विभिन्न वर्ग हमारे इस पूर्व-निष्कर्ष की पुष्टि करते हैं कि भारतीय आर्य भारत के आदि-निवासी नहीं बल्कि उत्तर-पश्चिम दिशा से यहाँ आकर बसे लोग हैं।

खण्ड १—ऋग्वेद में मिलनेवाला आर्यों तथा दस्युओं का विभेद

अब, सर्वप्रथम, मैं यह दिखाऊँगा कि वैदिक सूक्तों के प्रणेताओं ने अपने समुदाय के सदस्यों तथा कुछ दस्यु कही जानेवाली जातियों के बीच विभेद किया है। यह बात इन स्थलों से स्पष्ट होगी: ऋग्वेद १.५१,८: विजानीहि आर्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासद् अव्रतान्। शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वा इत् ता ते सधमादेषु चाकन। "आर्यों और दस्युओं में विभेद करो। कर्महीनों को ललकारते हुये उन्हें कुश-आसन बिछाने-वाले यजमान के अधीन करो। यज्ञानुष्ठान के प्रेरक, तुम्हारा मैं यज्ञों में आह्वान करता हूँ।"[1] १०.८६,१९: अयम् एमि विचाकशद् विचिन्वन् दासम् आर्यम्। "(इन्द्र कहते हैं) दास और आर्य के बीच विभेद करता हुआ मैं आ रहा हूँ।" १.१०३,३: स जातूभर्मा श्रद्दधानः ओजः पुरो विभिन्दन्न् अचरद् वि दासीः। विद्वान् वज्रिन् दस्यवे हेतिम् अस्य आर्यम् सहो वर्धय द्युम्नम् इन्द्र। "वज्र[2] से युक्त और अपनी शक्ति पर विश्वास करते हुये वह (इन्द्र) दस्युओं के पुरों को विध्वंस करते हुये चलते हैं। हे इन्द्र! दस्युओं पर अपना वज्र डालो और आर्यों की कीर्ति तथा बल में वृद्धि करो।" १.११७,२१: यवं वृकेण अश्विना वपन्ता इषं दुहाना मनुषाय दस्रा। अभि दस्युं बकुरेण धमन्ता उरु ज्योतिश चक्रथुर् आर्याय। "हे सुन्दर अश्विनों, तुमने खेत जुतवा कर, अन्न उपजवा कर, वज्र से दस्युओं को मारते हुये आर्यों के लिये महान ज्योति का सृजन किया।"[3]

---

[1] इसे तथा ऋग्वेद १ १०३,३ को (जिसे नीचे दिया जा रहा है) प्रो० मैक्स मूलर द्वारा लैंग्वेजेज ऑफ दि सीट ऑफ वार, पृ० २८, नोट, मे उद्धृत किया गया है।

[2] प्रो० वेनफे (ओरियण्ट उण्ट ऑक्सीडेण्ट ३ १३२) ने 'जातूभर्मा' का 'जन्मजात योद्धा' अनुवाद किया है। प्रो० आफ्रेख्त 'जातु' को 'जि' से व्युत्पन्न मानते हुये इसका 'विजय ले जानेवाला' अर्थ करते है। आपके अनुसार 'जि' का एक अन्य रूप 'जा' है जिससे 'जायु' (विजयी) बनता है।

[3] सायण ने महान ज्योति को या तो अश्विनो द्वारा अर्जित तेज (स्वकीय तेजो माहात्म्य चक्रथु), अथवा सूर्य का तेज (विस्तीर्णं सूर्याख्य ज्योति.)

१.१३०,८ : इन्द्रः समत्सु यजमानम् आर्यम प्रावद् विश्वेषु शतमूतिर् आजिषु स्वर्मीळेषु । आजिषु मनवे शासद् अव्रतान् त्वच कृष्णाम अरन्धयत् । "इन्द्र ने, जो सभी युद्धों, स्वर्ग प्रदान करनेवाले युद्धों, में सैकड़ों प्रकार से रक्षा करते हैं, यज्ञ करनेवाले आर्य की युद्ध में रक्षा की । उन्होंने कर्महीनों को दण्ड देते हुये काली त्वचावाले लोगों को मनु के अधीन किया ।"[४] ३.३४,८.९ : ससान यः पृथिवी द्याम उतेमाम् इन्द्रम् मदन्ति अनु धीरणामः । ससान अत्यान उत सूर्यं ससान इन्द्रः ससान पुरुभोजस गाम् । हिरण्यम् उत भोगं ससान हत्वी दस्यून् प्र आर्यं वर्णम् आवत । "बुद्धिमान लोग इन्द्र को प्रसन्न करते हैं । वह इन्द्र पृथिवी, आकाश, और अन्तरिक्ष को धारण करनेवाले हैं । अश्व, सूर्य, गोधन, रत्न और सुवर्ण आदि, यह सब इन्द्र के दान रूप हैं । उन्होंने दस्युओं का संहार कर आर्यों की सदैव रक्षा की है ।"

माना है । क्योंकि जीवित मनुष्य ही सूर्य को देखता है (जीवन् हि सूर्यम् पश्यति) । रॉथ का विचार है कि इस मन्त्र से किसी विस्मृत आख्यान का तात्पर्य है और 'वृक' का साधारण आशय 'भेडिया' हो सकता है । आप ऋग्वेद ८.२२,६ (दशस्यन्ता मनवे पूर्व्यं दिवि यव वृकेण कर्षथ.) की तुलना करते हैं । आप का यह भी मत है कि इस मन्त्र मे 'धमन्ता' का आशय 'धमन करना' है और इसकी पुष्टि मे ऋग्वेद १० १,८ (धमन्ति वाकुर दृतिम्) का उल्लेख करते हैं । आपके विचार से 'वकुर' का अर्थ सम्भवत 'एक ऐसा कांटेदार यन्त्र है जिससे अश्विन लोग अपने शत्रुओ को भयभीत करते थे । और 'वाकुर' (ऋग्वेद ९ १,८ मे) 'वकुर के आकार के एक चर्म का द्योतक हो सकता है । अपने कोश मे रॉथ अपने इसी मत को ठीक मानते है कि 'वकुर' एक युद्ध मे प्रयुक्त होनेवाला वायु-यन्त्र है, और 'वाकुरो दृति' का अर्थ एक चमडे की थैली है । ये दो स्थल भी ज्योति के सम्बन्ध मे इसी प्रकार चर्चा करते हैं । ऋग्वेद ९ ९२,५ ज्योतिर् यद् अह्ने अकृणोद् उ लोकम् प्रावद् मनु दस्यवे कर् अभीकम् । "जब उसने (सोम ने) दिन को प्रकाश और स्थान दिया, तब उसने मनु को मुक्त और दस्यु को बन्दी बनाया ।" ऋग्वेद १०.४३,४ . विदत् स्वर् मनवे ज्योतिर् आर्यम् । "उसने मनु को आशीर्वाद तथा ज्योति प्रदान किया ।"

[४] इस स्थल का प्रस्तुत कृति के प्रथम भाग की एक समालोचना मे अनुवाद किया गया गया है, जो 'टाइम्स', १२ अप्रेल १८५८ मे प्रकाशित है । वहाँ 'कृष्णवर्ण त्वचा' की दस्युओ के कृष्ण वर्ण के रूप मे व्याख्या की गई है । बाद-वाला स्थल भी आंशिक रूप से उसी लेख मे उद्धृत है ।

४.२६,१.२ : अहम् मनुर् अभवं सूर्यश् च अहं कक्षीवान् ऋषिर् अस्मि विप्रः। अहं कुत्सम् आर्जुनेयं नि ऋञ्जे अहं कविर् उशनाः पश्यत माम्। २. अहम् भूमिम् अददाम् अर्याय अहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय। अहम् अपो अनयं वावशानाः मम देवासो अनु केतुम् आयन्। "मैं", इन्द्र कहते हैं, "मनु था, मैं ही सूर्य हूँ, मै ही विद्वान् ऋषि कक्षीवान् हूँ। मैंने अर्जुन के पुत्र कुत्स को अनुकूल किया। मैं ही ऋषि उशना हूँ। मुझे देखो। २. मैंने आर्यों को पृथिवी और होता को वर्षा दी। मैंने ही शब्द करते हुये जल को प्रेरित किया। मेरी इच्छा पर ही सब देवता चलते हैं।"[५] ४.३०,१८ : (इसका संस्कृत ऊपर दिया जा चुका है): "हे इन्द्र ! तुमने सरयु के उस तट पर शीघ्रतापूर्वक उन दो आर्यों, अर्ण और चित्ररथ, का वध किया।" ६.२५,२.३ : आभिर् विश्वाः अभियुजो विशूचीर् आर्याय विश्वो अवतारीर् दासीः। इन्द्र जामयः उत ये अजामयो अर्वाचीनासो वनुषो युयुज्रे त्वम् एषां विथुरा शवांसि जहि वृष्ण्यानि कृणुहि पराचः। "इससे सभी स्थानों पर सभी आक्रमणकारी दासों को आर्यो के अधीन करो। हे इन्द्र ! पास या दूर से जो शत्रु हमारे पास आकर हिंसा करना चाहते हैं उन शत्रुओं को अपने बल से नष्ट कर दो। उनके पराक्रम को नष्ट कर उन्हें भगा

---

[५] सायण 'आर्य' शब्द को एक उपाधि मानते है जिससे मनु का तात्पर्य मानना चाहिये। प्रो० वेबर (इण्ड० स्टु० १ १९५ नोट) का विचार है कि इस स्थल पर 'मनु' का अर्थ चन्द्रमा है। इन मन्त्रो का वक्ता इन्द्र प्रतीत होता है। सायण द्वारा उद्धृत अनुक्रमणी का यह कथन है "अद्याभिस् तिसृभिर् इन्द्रम् इव आत्मानम् ऋषिस् तुष्टाव इन्द्रो वा आत्मानम्।" "प्रथम तीन मन्त्रो मे अपनी इस प्रकार प्रशस्ति करता है मानो स्वय इन्द्र हो; अथवा स्वय इन्द्र अपनी प्रशस्ति कर रहा है।" कुन का अनुमान है कि सम्भवत इन्द्र की प्राचीन उपाधि 'वामदेव' थी। ऋग्वेद १० ४८,१ मे इन्द्र इसी प्रकार कहते हैं . "अह दाशुषे विभजामि भोजनम्।" "मैं होता को भोजन देता हूँ" इत्यादि। वृहदारण्यक उपनिषद् का लेखक यह मानता है कि इन शब्दो मे ऋषि वामदेव ही अपने सम्बन्ध मे कह रहा है: "तद् यो यो देवानाम् प्रत्युबुध्यत स एव तद् अभवत् तथा ऋषीणा तथा मनुष्याणाम्। तद् ह एतत् पश्यन् ऋषिर् वामदेव प्रतिपेदे "अहम् मनुर् अभव सूर्यश् च" इति।" "देवो, ऋषियो, और मनुष्यो मे से जिसने उसे जाना वह उसी के समान हो गया। इसे देखकर ऋषि वामदेव ने इस श्रुति को प्राप्त किया . 'मैं मनु था, मैं सूर्य', इत्यादि।" ऋग्वेद ६.२०,११ मे उशना को इन्द्र से सम्बद्ध किया गया है।

दो ।" ६.३३,३ : त्व तान् इन्द्र उभयान् अमित्रान् दासा वृत्राणि आर्या च शूर । वधीर् इरय् आदि । "हे इन्द्र ! तुम हमारे इन दास और आर्य शत्रुओं को नष्ट कर दो ।" ६.६०,६ : हतो वृत्राणि आर्या हतो दासानि सत्पती । हतो विश्वाः अप द्विषः । "हे सज्जनों के अधिपति ! हमारे आर्य शत्रुओं का संहार करो, हमारे दास शत्रुओं का संहार करो, उन सब को नष्ट कर दो जो हमसे घृणा करते हैं ।" ऋग्वेद ७.५,६ : त्वम् दस्यून् ओकसो अग्ने आजः उरु ज्योतिर् जनयन्न आर्याय । "हे अग्नि ! तुम घरों से दस्युओं को भगाते हो और आर्यो के लिये विस्तृत ज्योति का सृजन करते हो ।" ७ ८३,१ : दासा च वृत्रा हतम् आर्याणि च सुदासम् इन्द्र वरुणाऽवसाऽवतम् ॥ "हमारे आर्य और दास शत्रुओं का वध करो, हे इन्द्र और वरुण, अपने संरक्षण द्वारा सुदास् की रक्षा करो ।" १०.३८,३ : यो नो दासः आर्यो वा पुरुष्टुत अदेवः इन्द्र युधये चिकेतति । अस्माभिस् ते सुपहाः सन्तु शत्रवः त्वया वयं तान् वनुयाम सङ्गमे । "हे बहुप्रशंसित इन्द्र ! जो भी अदेव, दास या आर्य, हमसे युद्ध करने के लिये आयें उसको हम सरलतापूर्वक पराजित करें । हम युद्ध में उनको नष्ट करें ।" १०.४९,३ : अह शुष्णस्य श्नथिता वधर् यम न यो ररे आर्यं नाम दस्यवे । "शुष्ण का वध करने वाले मैंने वज्र को रोक दिया—मैंने, जिसने दस्युओं के लिये आर्य नाम का परित्याग नहीं किया ।" १०.६५,११ : ब्रह्म गाम् अश्व जनयन्त ओषधीर् वनस्पतीन् पृथिवीम् पर्वतान् ओपः । सूर्यं दिवि रोहयन्तः सुदानवः आर्या व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि । "इन देवताओं ने स्तोत्र, अश्व, ओषधि, वृक्ष, पृथिवी, पर्वत और नदियों को उत्पन्न किया, देवताओं ने सूर्य का आकाश पर आरोहण किया और उन्होंने पृथिवी पर आर्यो के अनेक व्रतों को फैलाया ।"[६] १० ८३,१ : साह्याम दासम् आर्यं त्वया युजा वयं सहस्कृतेन सहसा सहस्वता । "(हे मन्यु), हम जो तुम शक्तिशाली से संयुक्त हैं, तुम्हारी प्रभावशाली शक्ति से दास तथा आर्य दोनों पर विजय प्राप्त करें ।" १० १०२,३ : अन्तर यच्छ जिघांसतो वज्रम् इन्द्र अभिदासतः । दासस्य वा मघवन्न् आर्यस्य वा सनुतर् यवय वधम् । "हे इन्द्र ! घातक आक्रमण-

---

[६] तुलना कीजिये ऋग्वेद ७ ९९,४ "उरुम् यज्ञाय चक्रुर् उ लोकम् जनयन्ता सूर्यम् उषसम् अग्निम् । दासस्य चिद् वृषशिप्रस्य माया जघ्नथुर् नरा पृतनाज्येषु ।" "(हे इन्द्र और विष्णु), तुमने सूर्य, उषा और अग्नि की सृष्टि कर के यज्ञ के लिये पर्याप्त स्थान प्रदान किया है । हे वीरो, तुमने वृषभ-नासिका वाले दास की शक्तियों को नष्ट किया है ।"

कारी के वज्र को रोको : चाहे वह दास हो या आर्य, हमारे शत्रुओं के अस्त्रों को हमसे दूर हटाओ।" १०.१३८,८ : वि सूर्यो मध्ये अमुचद् रथं दिवद् दासाय प्रतिमानम् आर्यः। "सूर्य ने अपने रथ को मध्य आकाश में अग्रसर किया : आर्य ने दस्यु को प्रतिफल दिया।" ८.२४,२७ : यः ऋक्षाद् अंहसो मुचद् यो वा अर्यात् सप्तसिन्धुषु। वधर् दासस्य तुविनृम्ण नीनमः। "किसने विनाशकों से, विपत्ति से, हमारी रक्षा की, किसने, हे शक्तिशाली (देवता) सप्तसिन्धु के देश में आर्य को दास के वज्र से बचाया।"

उपरोद्धृत स्थल यह दिखाते प्रतीत होते है कि ऋग्वेद, सूक्तकारों की जातियों तथा भिन्न यज्ञादि कर्म करनेवाले आक्रामकों की जातियों के बीच विभेद करता हुआ इन बादवाली जातियों के प्रति एक श्रेष्ठ जाति के लोगों की घृणा तथा तथा द्वेष की भावना को व्यक्त करता है। अधिकांश स्थलों पर 'आर्य' तथा 'दस्यु' शब्दों के नित्य परस्पर विरोधियों के रूप मे प्रयोग से, तथा कुछ अन्य में आर्य और दस्यु शत्रुओं के उल्लेख से यह बात स्पष्ट हो जाती है। यदि इस बादवाले वर्ग के स्थलों में मानव शत्रुओं को आर्य शब्द से व्यक्त किया गया है, तो हमारे लिये यह मानना उचित होगा कि अक्सर इससे भी उसी वर्ग के शत्रुओं का तात्पर्य है जिसके लिये दस्यु शब्द का व्यवहार हुआ है। किन्तु यह आशा नहीं करनी चाहिये कि भारतीय भाष्यकार निष्पक्ष रूप से इस मत की पुष्टि करेंगे, क्योंकि उन्होंने आर्यों की उत्पत्ति तथा बर्बर आदिवासियों के साथ उनके सम्बन्ध के विषय मे आधुनिक आलोचनात्मक दृष्टिकोण की कभी कल्पना भी नहीं की थी। यास्क आर्य शब्द की ईश्वर-पुत्र के रूप में व्याख्या करते है।[७] व्युत्पत्तिशास्त्र की दृष्टि से उन्होंने 'दस्यु' शब्द की इस प्रकार व्याख्या की है : "'दस्यु' उस 'दुस्' धातु से बना है जिसका अर्थ है नष्ट करना; इसमें रस नष्ट हो जाते हैं, और यह कर्मों को नष्ट कर देता है।"[८]

सायण 'आर्य' शब्द की 'विद्वान अनुष्ठाता',[९] 'विद्वान स्तोता'[१०], 'विद्वान'[११]

---

[७] निरुक्त ६ २६ आर्य ईश्वर-पुत्र।

[८] निरुक्त ७ २३ दस्युर् दस्यते क्षयार्थाद् उपदस्यन्त्य् अस्मिन् रसाः उपदासयति कर्माणि।

[९] 'विदुषोऽनुष्ठात्रीन्'। ऋग्वेद १ ५१.८ पर।

[१०] 'विद्वास स्तोतार'। १ १०३, ३ पर।

[११] 'विदुषे'। १ ११७, २१ पर।

'वह जिसके पास सब कुछ आ जाना चाहिये,'[12] 'तीन उत्तम वर्णों से युक्त जाति,'[13] 'कर्मयुक्त,'[14] तथा 'कर्मानुष्ठान के कारण सर्वश्रेष्ठ,'[15] के रूप में व्याख्या करते हैं। इसके अतिरिक्त दो स्थलों (ऋग्वेद १ ११७,२१; ४.२६,२) पर आप इसे मनु की उपाधि मानते हैं। इसी भाष्यकार ने 'दस्यु' शब्द की 'चोरवृत्र,'[16] 'अनुष्ठान करनेवालों को नष्ट करनेवाले शत्रु,'[17] 'विनाश करनेवाले असुर, पिशाच, इत्यादि',[18] 'बाधक असुर,'[19] 'कर्मों को नष्ट करनेवाले सभी लोग,'[20] 'कर्मों को नष्ट करनेवाले बल तथा अन्य असुर,'[21] 'कर्महीन शत्रु'[22] के रूप में व्याख्या की है। इन उद्धरणों से यह देखा जा सकता है कि सायण अधिकांशतः 'दस्युओं' से मानव शत्रुओं की अपेक्षा मानवेतर असुर, दानव, आदि का तात्पर्य ग्रहण करते हैं। १.१००,८ पर अपने भाष्य में आप इन्हें 'पृथिवी पर निवास करनेवाले शत्रुओं का विनाश करनेवाले'[23] कहते हैं; और एक अन्य स्थान पर आप 'दासवर्ण' की 'शूद्रों और अन्य हीन जातियों, अथवा निकृष्ट असुरों के रूप में व्याख्या करते हैं।"[24]

इसमें सन्देह नहीं है कि ऋग्वेद के अनेक ऐसे स्थलों पर, जिनका मैं आगे उल्लेख करूँगा, 'दस्यु' तथा 'दास' शब्द विभिन्न प्रकार के दानवों (असुरों, राक्षसों, इत्यादि) के लिये व्यवहृत हुये हैं, किन्तु वस्तुस्थिति से बहुत कुछ

---

[12] 'अरणीय सर्वैर् गन्तव्यम्'। १ १३०. ८ पर।

[13] 'उत्तम वर्णं त्रैवर्णिकम्।' ३.३४, ९ पर।

[14] 'कर्मयुक्तानि।' ६ २२, १० पर।

[15] 'कर्मानुष्ठातृत्वेन श्रेष्ठानि'। ६ ३३, ३ पर।

[16] 'चोर वृत्रम्'। १ ३३, ४ पर।

[17] 'अनुष्ठात्रीणाम् उपक्षपयितार शत्रव.'। १ ५१, ८, और १ १०३, ३ पर।

[18] 'उपक्षय-कारिणम् असुरम् पिशाचादिकम्'। १ ११७, २१ पर।

[19] 'बाधकान् असुरान्'। ३ ३४, ९ पर।

[20] 'कर्मणाम् उपक्षपयित्रीर् विश्वा सर्वा प्रजा'। ६ २५, २ पर।

[21] 'उपक्षपयित्रीन् कर्म-विरोधिनो बल-प्रभृतीन् असुरान्'। ६ ३३, ३ पर।

[22] 'कर्महीना शत्रव'। ६ ६०, ६ पर।

[23] 'पृथिव्याम् भूमौ वर्तमानान् दास्यून् उपक्षपयितृन शत्रून्'। १ १००, ८ पर।

[24] 'दास वर्णं शूद्रादिक यद्वा दासन् उपक्षपयितारम् अधर निकृष्टम् असुरम्'।

यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी, या कम से कम अधिकांश स्थलों पर इन शब्दों से हमें भारत की बर्बर आदिवासी जातियों का तात्पर्य ही ग्रहण करना चाहिये। यह बात उस आशय से और भी स्पष्ट हो जाती है जिसमें 'दस्यु' शब्द का ऐतरेय ब्राह्मण, मनु, और महाभारत में प्रयोग हुआ है। इस प्रकार अपने पचास अवज्ञाकारी पुत्रों के प्रति विश्वामित्र की ऐतरेय ब्राह्मण में यह उक्ति मिलती है: ७ १८ तान् अनुव्याजहार "अन्तान् व' प्रजा भक्षीष्ट" इति। ते एते अन्ध्राः पुण्ड्राः शबराः पुलिन्दाः मूतिवा' इत्य्। उदन्त्याः बहवो भवन्ति। वैश्वामित्राः दस्यूनाम् भूयिष्ठाः। "तुम्हारी सन्तान सुदूर सीमाओं पर निवास करें।" "इनके अन्तर्गत अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द, मूतिव तथा अनेक अन्य सीमावर्ती जातियाँ आती हैं। अनेक दस्यु विश्वामित्र के वंशज हैं।"[२५] और एक पहले उद्धृत[२६] प्रामाणिक परिभाषा में मनु इस प्रकार कहते है: "जो जातियाँ ब्रह्मा के मुख, भुजाओं, जंघाओं तथा पादों से उत्पन्न नहीं हैं, वे चाहे म्लेच्छों की भाषा बोलती हों या आर्यों की, उन्हें दस्यु कहते है।"

इसी जाति के लोगों के लिये महाभारत (२.२६, १०२५) में यह कथन मिलता है: पौरव युधि निर्जित्य दस्यून् पर्वत-वासिनः। गणान् उत्सव-संकेतान् अजयत् सप्त पाण्डव। "युद्ध में पौरवों को पराभूत कर के पाण्डवों ने पर्वतवासी सात दस्यु जातियों, उत्सवसंकेतों, को भी पराजित किया।" और (वही, १० ३१-२): दरदान् सह काम्बोजैर् अजयत् पाकशासनिः। प्रागुत्तरां दिश ये च वसन्त्य् आश्रित्य दस्यवः। निवसन्ति वने ये च तान् सर्वान् अजयत् प्रभुः। लोहान् परमकाम्बोजान् ऋषिकान् उत्तरान् अपि। "पाकशासनि ने दरदों, काम्बोजों, और उत्तर पूर्व के क्षेत्र में निवास करनेवाले दस्युओं को, तथा साथ ही साथ वनों के समस्त निवासियों, लोहों, परम काम्बोजों, और उत्तर के ऋचों, को भी जीत लिया।" और एक वार पुनः यह कथन मिलता है: काम्बोजाना सहस्रैश् च शकानां च विशाम्पते। शबराणां किरातानां वर्बराणां तथैव च। अगम्यरूपाम् पृथिवीम् मांश-शोणित-कर्दमाम्। कृतवांस् तत्र सैनेयः क्षपयस् तावकम् बलम्। दस्यूनां स-शिरस्त्राणैः शिरोभिर् लूनमूधजैः दीर्घकूर्चैर् मही कीर्णा विवर्हैर् अणुजैर् इव। "शैनेय (श्रीकृष्ण के सारथि) ने सहस्रों काम्बोजों, शकों, शबरों, किरातों, वर्बरों, आदि आपके शत्रुओं को नष्ट कर के पृथ्वी को मांस और रक्त से कीचड़ के समान बना दिया। समस्त पृथिवी दस्युओं के

---

[२५] प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम भाग देखिये।

[२६] देखिये ऊपर पृ० २०९।

शिरस्त्राणों, तथा पंखहीन पक्षियों के समान उनके दाढ़ी विहीन अथवा दाढ़ी युक्त मुण्डों से पट गई थी।"[२७] यहाँ यह स्पष्ट है कि वाक्य के अन्तिम अंश में 'दस्यु' एक जातिवाचक शब्द है जो पहले उल्लिखित समस्त जातियों, जैसे काम्बोजों, शकों इत्यादि, का द्योतक है।

एक अन्य स्थल महाभारत के शान्तिपर्व (श्लोक २४२९ और बाद) में आता है, जहाँ कुछ जातियों को दस्युओं के समान बताया गया है तथा दस्युओं के कर्त्तव्यों का भी वर्णन है। अत. महाभारत के लेखक ने दस्युओं को दानव या असुर नहीं माना होगा।

इस सम्बन्ध में यदि और अधिक उदाहरण की आवश्यकता हो तो उसे दस्युओं के बीच निवास कर रहे गौतम ऋषि सम्बन्धी इस वर्णन में देखा जा सकता है (महाभारत, शान्तिपर्व, १६८, ६२९३ और बाद) : भीष्म उवाच : हन्त ते वर्तयिष्येऽहम् इतिहासम् पुरातनम्। उदीच्यां दिशि यद् वृत्तम् म्लेच्छेषु मनुजाधिप। ब्राह्मणो मध्यदेशीयः कश्चिद् वै ब्रह्म-वर्जितम्। ग्राम वृद्धि-युत वीक्ष्य प्राविशद् भैक्ष-काङ्क्षया। तत्र दस्युर् धनयुतः सर्व-वर्ण-विशेषवित्। ब्रह्मण्यः सत्यसन्धश् च दाने च निरतोऽभवत्। तस्य क्षयम् उपागम्य ततो भिक्षा अयाचत।······। गौतमः सन्निकर्षेण दस्युभि समताम् इयात्। तथा तु वसतस् तस्य दस्यु-ग्रामे सुख तदा।···किम् इद कुरुपे मोहाद् विप्रस् त्वं हि कुलोद्वहः। मध्यदेश-परिज्ञातो दस्यु-भाव गत' कथम्। "भीष्म ने कहा : मैं तुमसे उत्तरी क्षेत्र में म्लेच्छों के बीच घटित पुरातन इतिहास कहूँगा। मध्यदेश का एक ब्राह्मण, जिसने वेद बिल्कुल नहीं पढ़ा था, कोई सम्पन्न गाँव देखकर उसमें भिक्षा माँगने के लिये गया। उस गाँव में एक धनी दस्यु रहता था जो समस्त वर्णों की विशेषता का ज्ञाता था। उसके हृदय में ब्राह्मणों के प्रति भक्ति थी और वह सत्य-प्रतिज्ञ तथा दानी था। ब्राह्मण ने उसी के घर जाकर भिक्षा की याचना की। · दस्युओं के सम्पर्क में रहने से गौतम भी उनके ही समान पूर्ण दस्यु बन गया। दस्युओं के ग्राम में सुखपूर्वक रहकर प्रतिदिन अनेक पक्षियों का शिकार करते उसके कई मास व्यतीत हो गये। ··अरे। तू मोहवश यह क्या कर रहा है? तू तो मध्यदेश का विख्यात एव कुलीन ब्राह्मण था। यहाँ दस्यु कैसे बन गया?"

मनु तथा महाभारत से उद्धृत इन स्थलों द्वारा प्रदत्त प्रमाणों के आधार पर यह बात सम्भव प्रतीत होती है कि वेद में आने पर दस्यु शब्द कम से कम कहीं कहीं मनुष्यों का, और इसके परिणामस्वरूप उन आदिवासियों का

[२७] महाभारत, द्रोणपर्व, ११९, ४७४७ और बाद।

द्योतक है जिनका, भारत में प्रवेश करने पर भारतीय आर्यों से साक्षात्कार हुआ। यह सत्य है कि जिन बाद के विद्वानों को मैंने उद्धृत किया है, वे दस्युओं को पतित आर्य[२८] मानते हैं (यद्यपि मनु के अनुसार इनमें से कुछ म्लेच्छ भाषायें बोलते थे), और कुछ अन्य निश्चित रूप से आर्य जातियाँ: जैसे काम्बोज, इनके ही अन्तर्गत आते थे। किन्तु, यद्यपि यह सत्य है कि कुछ ऐसी आर्य जातियों को, जिन्होंने ब्राह्मण संस्थाओं को ग्रहण नहीं किया था, बाद में दस्युओं द्वारा व्यक्त किया गया है, तथापि आरम्भिक वैदिक युग में दस्यु शब्द का इसी अर्थ में व्यवहार नहीं होता रहा होगा। उस समय ब्राह्मण-संस्थाओं ने अभी परिपक्वता नहीं प्राप्त की होगी, उनका निष्ठा के साथ पालन करनेवालों तथा उनमें निष्ठा न रखनेवालों के बीच विभेद का उस समय कदाचित ही आविर्भाव हुआ होगा, और इसलिये वे जातियाँ जिन्हे वैदिक कवियों ने भिन्न धर्मावलम्बी कहा है, वैसी रही होंगी जो पहले कभी भी आर्यों के सम्पर्क में न आई होंगी, और उनकी उत्पत्ति सर्वथा भिन्न रही होगी।

इस प्रकार यह प्रतीत होता है दस्युओं से, जिनका ऋग्वेद में उल्लेख है, यद्यपि सब पर नहीं तथापि कुछ स्थलों पर उन बर्बर आदिवासी जातियों का तात्पर्य है जिनका आर्यों से, उनके भारत के उत्तर-पश्चिम में आकर बसने के समय, साक्षात्कार तथा संघर्ष हुआ। फिर भी, और आगे बढ़ने के पूर्व ऋग्वेद के कुछ अन्य प्रमुख स्थलों का अध्ययन भी अच्छा होगा जहाँ आर्यों तथा दस्युओं का उल्लेख है। यदि प्रत्येक दशा में मैं दस्यु तथा दास शब्दों के व्यवहार के सम्बन्ध में निश्चित परिणाम पर पहुँच सका और यदि ठीक ठीक इस बात का निर्धारण कर सका कि इन शब्दों से व्यक्त जातियों और आर्यों का क्या सम्बन्ध था, तो मुझे प्रसन्नता होगी। किन्तु मूल स्थलों का आशय अक्सर इतना अस्पष्ट है कि मैं सदैव उनकी निश्चित व्याख्या नहीं कर सकता, और इस कारण कोई निश्चित निष्कर्ष निकालना कठिन है। फिर भी, यत. इस विषय पर मैंने पर्याप्त उद्धरणों का संग्रह किया है, अतः मैं उन्हें पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करके यह आशा करता हूँ कि अधिक योग्य विद्वानों के अनुसन्धानों द्वारा इनकी और पूर्ण व्याख्या उपलब्ध हो सकेगी।

[ऊपर के शब्दों को लिखने के बाद प्रो० बेनफे और रॉथ ने इस विषय पर अपने मत व्यक्त किये हैं। प्रथम लेखक ने प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम संस्करण की अपनी समालोचना में (गोगेऐ० १८६१, पृ० १३७ और बाद) इस प्रकार लिखा है: "प्रस्तुत कृति में प्रमुख रूप से विवेचित एक विषय के

---

[२८] देखिये लासन, त्सी० २४९ और बाद।

सम्बन्ध में मैं एक और बात कहना चाहूँगा। यह सुज्ञात है कि वेद में 'दस्यु' तथा कहीं कहीं इसके स्थान पर प्रयुक्त 'दास' शब्द अक्सर 'आर्य' के विरोधी अर्थ में आता है। ... इस बात पर कोई सन्देह नहीं कि संस्कृत-भाषी जाति अपने को आर्य शब्द से व्यक्त करती थी। अतः यह एक स्वाभाविक मान्यता है कि 'दस्यु' या 'दास' शब्द से वे उस जाति को व्यक्त करते थे जिन्हें उन्होंने अपने अधीन कर लिया। यह मान्यता अनेक स्थलों द्वारा पुष्ट होती है। फिर भी, दूसरी ओर, कुछ ऐसे भी स्थल हैं जहाँ 'दस्यु' और 'दास' शब्द उन दानवों के द्योतक हैं जिनके साथ देवगण युद्ध करते हैं, और देवों का दिव्य आशीर्वाद प्राप्त करने के लिये जिनकी पराजय आवश्यक है। ' ' प्रश्न उठता है कि इन दोनों में से कौन सा आशय उपयुक्त है, या एक मुख्य तथा दूसरा गौण है, अथवा दोनों को समान रूप से व्यक्त करनेवाला इनका एक तृतीय आशय है। 'दस्यु' और 'दास' शब्दों के परस्पर एकान्तरित प्रयोग द्वारा इस प्रश्न का उत्तर मिल जाता है। हम सर्वाधिक सम्भावना के साथ यह अनुमान कर सकते हैं कि इन दोनों शब्दों में या तो परस्पर तादात्म्य है अथवा कोई आन्तरिक सम्बन्ध। इस विचार की बहुत कुछ निश्चित पुष्टि इस तथ्य द्वारा हो जाती है कि प्रचुर समताओं के अनुसार 'दस्यु' और 'दास' ध्वनिशास्त्रीय दृष्टि से समान प्रतीत होते हैं।" अपने इस मत के आधारों का कुछ विस्तार से उल्लेख करने के पश्चात् प्रो० बेनफे आगे इस प्रकार कहते हैं : " 'दास' और 'दस्यु' दोनों में एक अनिवार्य समानता का होना असन्दिग्ध है। किन्तु 'दास' का निश्चित रूप से दास या सेवक अर्थ है, और यदि उक्त दोनों रूपों का यही मौलिक अर्थ था तब यह भी उसी प्रकार निश्चित है कि 'आर्य' के विपरीत 'दास' और 'दस्यु' दोनों ही आरम्भ में उन आदिवासियों के द्योतक थे जिन्हें आर्यो ने अपने अधीन कर लिया था। और पृथ्वी पर स्थापित इस सम्बन्ध को, जिसमें पराधीन लोगों द्वारा विद्रोह से समय-समय व्यवधान भी पड़ता था, आर्यों ने देवों के क्षेत्र में स्थानान्तरित और क्षति-कारक दानवों को देवों के विद्रोही सेवकों या दासों के रूप में परिणत कर दिया।

"इस मत की कि इस सम्बन्ध के अन्तर्गत 'दास' का वास्तविक आशय दास या सेवक था, अथर्ववेद की प्रायः समान उन तीन अर्ध ऋचाओं से पुष्टि होती है जिनमें 'शूद्र' नाम का, जो भारत में सेवक जाति का सुविदित नाम है, आर्यों के साथ वही सम्बन्ध है जो अन्यत्र इनका 'दस्यु' और 'दास' के साथ। प्रथम ऋचा यह है : ४.२०,४ तयाऽहम् सर्वंग् पश्यामि यश् च शूद्रः उतार्यः। "इससे मैं सबको देखता हूँ, चाहे वह शूद्र हो या आर्य।"

दूसरी यह है . ४.२०,८ तेनाह सर्वम् पश्यामि उत शूद्रम् उतार्यम् । "इससे मैं सबको देखता हुँ, चाहे वह शूद्र हो या आर्य।" तीसरी यह है : १९.६१,१ (जिसे प्रो० वेनफे ने उद्धृत नहीं किया है) : प्रियम् मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु । प्रिय सर्वस्य पश्यतः उत शूद्रे उतार्ये । "मुझे देवों का प्रिय बनाओ, मुझे राजाओं का प्रिय बनाओ, उन सबका प्रिय बनाओ जो मुझे देखता है, चाहे वह शूद्र हो अथवा आर्य।"

अपने कोश में प्रो० रॉथ ने 'दस्यु' शब्द की परिभाषा देते हुये इसे "(१) मानवेतर प्राणियों के एक ऐसे वर्ग का द्योतक बताया है जो देवों और मनुष्यों दोनों से द्वेष रखते हैं, और जिन्हे इन्द्र, तथा विशेषरूप से अग्नि पराजित करते हैं।" इन्द्र द्वारा पराजित अनेक दानवों, जैसे शम्बर, शुष्ण, चुमुरि, इत्यादि, के लिये सामान्य शब्द 'दस्यु' का ही प्रयोग किया गया है। ये लोग केवल तमोलोक के प्राणी ही नहीं हैं, वल्कि विस्तृत क्षेत्रों में फैले मिलते है। अथर्ववेद १८.२,२८ मे ये लोग मृतकों के रूप में उपस्थित दानव हैं (ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टाः ज्ञातिमुखाश् चरन्ति)। वेनफे के अनुसार इनका (क) सामान्य रूप से मनुष्यों (मनु, आयु नर्) के साथ विभेद करते हुये ऋग्वेद १०.२२,८ में इन्हें 'अमानुष' कहा गया है (इसकी पुष्टि में आप ऋग्वेद ८.८७,६, ९.९२,५, वाल० २,८, ऋग्वेद ६.१४,३ और ५.७,१० को भी उद्धृत करते हैं), और (ख) अधिक विशिष्टत: इनका आर्यों (सत्पुरुषों) के साथ विभेद किया गया है। आपके विचार से 'दस्यु' की अनार्यों अथवा वर्वरों के रूप में व्याख्या कदाचित ही आवश्यक है। अपने इस मत की पुष्टि में आप ऋग्वेद १.११७,२१,७.५,६; २.११,१८ और वाद, ३.३४,९, १.१०३, ३,१०.४९,३,१०५१,८, को उद्धृत करते हैं। फिर भी, आप का विचार है कि इस अन्तिम स्थल पर इस शब्द की वर्वरों के रूप मे व्याख्या सर्वश्रेष्ठ है। आगे आप यह कहते है कि यह शब्द (२) सम्भवतः वेद के इन स्थलों पर आक्रामक, दुष्ट अथवा वर्वर मनुष्यों का द्योतक है : ५.७०,३ तुर्याम दस्यून् तनूभिः । "हम अपने ही तन के दस्युओं पर विजय प्राप्त करें।" १०.८३,६ हनाव दस्यून् उत बोधि आपेः । "हम दस्युओं का हनन करें, और तुम अपने मित्र का स्मरण करो।" ऐतरेय ब्रा० ७.१८ में ये लोग एक वर्वर जाति हैं : वैश्वामित्राः दस्यूनाम् भूयिष्ठाः । "अधिकांश दस्यु विश्वामित्र के वंशज हैं।"

खण्ड २—आर्यों और दस्युओं के सम्बन्ध के विषय पर कुछ और वैदिक स्थलों के उद्धरण

१. निम्नोद्धृत स्थलों में से सभी अथवा कुछ में आर्यों को प्रदत्त पृथिवी

अथवा चैत्र का उल्लेख हो सकता है। १.१००,१८ : दस्यून् शिम्यूंश् च पुरुहूतः एवैर् हत्वा पृथिव्या शर्वा निबर्हीत्। सनत् क्षेत्रं सखिभिः श्वित्न्येभिः सनत् सूर्य सनद् अपः सुवज्रः। "अनेक द्वारा आहूत इन्द्र ने अपने वज्र से दस्युओं को और शिम्युओं को मार कर गिरा दिया। उस वज्र-वाले ने अपने उत्तम सखाओं के साथ भूमि को, सूर्य को और जलों को पाया।"[20] २.२०,७ : स वृत्रहा इन्द्रः कृष्णयोनीः पुरन्दरो दासीर् ऐरयद् वि। अजनयद् मनवे क्षाम् अपश् च इत्यादि। "वृत्रहन् और पुरन्दर इन्द्र

[20] इस स्थल की अनेक बातें अस्पष्ट हैं। क्या शिम्यु शब्द एक जाति का नाम है (जैसा प्रो० विलसन इसका अनुवाद करते है) अथवा यह केवल एक विनाशक मात्र का द्योतक हैं? ऋग्वेद ७.१८,५ मे हमे 'शर्धन्तम् शिम्युम्' शब्द मिलते हैं जिनका प्रो० रॉथ ने (लिट० ऐण्ड हिस्ट० ऑफ दि वेद, पृ० ९४) मे 'उपेक्षणशील विघ्न डालनेवाले' अनुवाद किया है। सायण ने इस स्थल पर 'शिम्युम्' की 'बोधमानम्' व्याख्या की है। प्रस्तुत स्थल मे वह (सायण) 'शमयितॄन् वधकारिणो राक्षसादीन्' (शमन करनेवाले, अर्थात् वध करनेवाले राक्षस इत्यादि) द्वारा इस शब्द की व्याख्या करते हैं। और इसी स्थल पर आगे आप यह कहते हैं शिम्यून्। शमु उपशमे शमयति सर्वं तिरस्करोति इति राक्षसादि शिम्यु।" "'शम्' क्रिया उसकी द्योतक है जो सब का शमन करता है। अत 'शिम्यु'='राक्षस' इत्यादि।" तब मन्त्र के दूसरे पाद मे आनेवाले इन्द्र के 'चमकदार सखा' कौन हैं? मरुद्गण? अथवा श्वेतवर्ण आर्य? इसी सूक्त के दूसरे मन्त्र मे हमे 'सखाभि. स्वेभि' शब्द मिलते हैं जिनकी सायण 'मरुतो' के रूप मे व्याख्या करते है। सायण ने १८ वें मन्त्र की इस प्रकार व्याख्या की है· "श्वित्न्येभि श्वेतवर्णैर् अलङ्कारेण दीप्ताङ्गैर् सखिभिर् मित्रभूतैर् मरुद्भि सह क्षेत्र शत्रूणा स्वभूताम् भूमि सनत् समभाक्षीत्।" "अपने दीप्ताङ्ग (अर्थात् जिनके अग अलङ्कारो से दीप्त हो रहे हैं) सखाओं, मरुतो, के साथ उसने अपने शत्रुओ के क्षेत्रो को विभाजित किया।" दूसरी ओर इसी सूक्त के ६ ठवें मन्त्र मे, सायण के भाष्य के अनुसार, स्वय स्तोताओं को ही उन लोगो के रूप मे व्यक्त किया गया है जिनके साथ सूर्य सम्बद्ध है। शब्द इस प्रकार हैं "अस्माकेभिर् नृभि सूर्यं सनत्", जिसकी सायण ने इस प्रकार व्याख्या की है "अस्मदीयैर् नृभि पुरुषै सूर्यं सूर्यप्रकाश सनत् सम्भक्त करोतु शत्रुपुरुषैस् तु दृष्टि-निरोधकम् अन्धकार सयोजयतु।" "वह हमारे पुरुषो के साथ सूर्य के प्रकाश को विभाजित करें, और हमारे शत्रुओं को अन्धकाराच्छन्न कर दें जिससे उनकी दृष्टि अवरुद्ध हो जाय।" इन्ही

ने कृष्णयोनि दासों को छिन्न भिन्न कर दिया। उसने मनु के लिये पृथिवी तथा जलों को उत्पन्न किया।"[30] ३.३४,९ और ४.२६,२, का, जिन्हें ऊपर उद्धृत किया जा चुका है, यहाँ भी सदर्भ-संकेत किया जा सकता है। ६.१८,३ : त्व ह नु त्यद् अदमयो दस्यूंर् एकः कृष्टीर् अवनोर् आर्याय। "तव तुमने दस्युओं का दमन किया; तुमने अकेले ही इन लोगों को आर्यों के अधीन किया।"[31] ६.६१,३ : उत क्षितिभ्यो अवनीर् अविन्दः। "और तुमने

शब्दो का रोजेन ने इस प्रकार अनुवाद किया है "वह हमारे देशवासियो पर सूर्य का प्रकाश डाले।" यहाँ उन्होने करण शब्दो को सम्प्रदान का आशय प्रदान किया है। किन्तु यदि इनका यहाँ ऐसा आशय है तो १८ वें मे भी यही होना चाहिये। तव १८ वें का अर्थ यह हो जायगा "उसने अपने श्वेताङ्ग सखाओ को भूमि, सूर्य, और जल प्रदान किये।" किन्तु करण का यह प्रयोग १० वे मन्त्र के इन शब्दो के अनुकूल नही होगा "स ग्रामेभि सनिता स रथेभि।" उसके "दीप्ताङ्ग सखा' शब्दो पर प्रो० विलसन ने यह टिप्पणी की है (ऋग्वेद, १, पृ० २६० नोट मे) "भाष्यकार के अनुसार ये मरुद्गण हैं, किन्तु इन्हे शत्रुओ के क्षेत्र मे एक अंश क्यो दिया गया, यह सदिग्ध प्रतीत होता है। यहाँ सम्भवत इन्द्र के पार्थिव सखा या स्तोता का आशय अधिक उपयुक्त है जो विजित देश के श्यामवर्ण लोगो की तुलना मे श्वेत (श्वित्न्य) थे।" इन्द्र के साथ स्तोताओ की मित्रता का ऋग्वेद के अनेक स्थलो पर उल्लेख है, जैसे १ १०१,१, ४ १६,१०, ६ १८,५; ६ २१, ५ और ८; ६ ४५,७। अन्य सूक्तो (७.९९,३ और १० ६५,११) मे भी सूर्य का वहुत कुछ उसी प्रकार उल्लेख है जैसे विवेच्य सूक्त मे मिलता है। ओरियण्ट उन्ट ऑक्सीडेण्ट २.५१८ और वाद, मे अपने ऋग्वेद के अनुवाद मे प्रो० वेनफे ने प्रस्तुत मन्त्र को यह आशय प्रदान किया है "अनेक द्वारा आहूत (इन्द्र) दुष्टो और चोरो को मार गिराता है, झञ्झावात मे वह अपने वज्र से उन्हे भूलुठित कर देता है, अपने दीप्ताङ्ग सखाओ के साथ उस वज्रधारी ने भूमि, सूर्य, और जलो को प्राप्त किया।"

[30] सायण ने 'कृष्णयोनी' इत्यादि शब्दो की इस प्रकार व्याख्या की है. "कृष्णयोनीर् निकृष्टजातीर् दासीर् उपक्षपयन्नीर् आसुरी सेना।" "कृष्णयोनि असुरो की विनाशक सेनायें।" वालखिल्य २८ मे ये शब्द हैं "येभिर् नि दस्युम् मनुषो निघोषय।" "वे अश्व जिनसे, हे इन्द्र, तुम दस्युओ को भयभीत कर मनुष्यो से दूर भगाते हो।"

[31] सायण 'कृष्टी' की 'पुत्रदासादीन्' के रूप मे व्याख्या करते हैं।

मनुष्यों के लिये भूमि प्राप्त की।"[32] ७.१९,३ : पौरुकुत्सिं त्रसदस्युम् आवः क्षेत्रसाता वृत्रहत्येषु पूरुम्। "भूमि प्राप्त करने के युद्धों में तुमने पुरुकुत्स के पुत्र, त्रसदस्यु नामक मनुष्य की रक्षा की है।" ७.१००,४ : विचक्रमे पृथिवीम् एष एतां क्षेत्राय विष्णुर् मनवे दशस्यन्। "इस विष्णु ने मनु को प्रदान करने के लिये इस पृथिवी पर पाद प्रक्षेप किया।" यह सम्भव है कि इन स्थलों अथवा उनमें से कुछ में आर्यो द्वारा उत्तर-पश्चिम दिशा से आकर भारत के मैदानों पर अधिकार करने तथा यहाँ की आदिवासी जातियों को अपने अधीन करने का सन्दर्भ हो, किन्तु इस बात को भी स्वीकार करना होगा कि यह व्याख्या अनिश्चित है। ऋग्वेद १०.६५,११ में (जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है) आर्य-संस्थाओं के विस्तार का एक सन्दर्भ निहित प्रतीत होता है।

२. पहले उद्धृत दो स्थलों (१.५१,८.९, १.१३०,८) पर 'अव्रत' और 'अपव्रत' शब्दों को दस्युओं के लिये व्यवहृत देखा गया होगा। मैं अब कुछ और ऐसे स्थलों को उद्धृत करूँगा जिनमें दस्युओं (ये चाहे जो भी हों) के चरित्र तथा उनकी स्थिति का वर्णन किया गया है।

इन्हें (१) एक निम्न जातिवाला कहा गया है। १.१०१,५. इन्द्रो यो दस्यून् अधरान् अवातिरत् मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे। "जिन्होंने नीच दस्युओं का पतन किया वह इन्द्र, मरुतों सहित हमारे सखा हों।"[33] २.११, १८. धिष्व शवः शूर येन वृत्रम् अवाभिनद् दानुम् और्णवाभम्। अपावृणोर् ज्योतिर् आर्याय नि सव्यतः सादि दस्युर् इन्द्र। "हे इन्द्र! जिस बल से तुमने वृत्र, दानु, और्णवाभ को मार डाला उसी बल को धारण करो। तुमने आर्यों को प्रकाश दिखाया और दस्युओं को अलग हटा दिया।"[34] ऋग्वेद २.१२,४ (इसका मूल उद्धृत किया जा चुका है): "जिसने निम्न

---

[32] सायण 'अवनी' की 'असुरैर् अपहृता. भूमी.' (असुरो द्वारा अपहृत भूमि) के रूप मे व्याख्या करते है। रॉथ (कोश) इस शब्द मे 'नदियो' का आशय भी निहित मानते है।

[33] सायण इसकी इन शब्दो मे व्याख्या करते हैं "असुरान् अधरान् निकृष्टान् कृत्वा।"

[34] इस मन्त्र मे सायण दस्यु को पौराणिक व्यक्ति, 'वृत्र,' का द्योतक मानते है। यहाँ नि + सादि' = 'निषादि' का 'निषाद' शब्द से एक कौतूहलवर्धक साम्य मिलता है।

दास-वर्ण को हटा दिया।"[35] ४.२८, ४ :विश्वस्मात् सीम् अधमान् इन्द्र दस्यून् विशो दासीर् अकृणोर् अप्रशस्ताः। "हे इन्द्र! तुमने इन दस्युओं को सबसे निम्न तथा अप्रशस्त दास बना दिया।"

इन्हें (२) या तो कर्महीन अथवा आर्येतर कर्मों का पालन करनेवाला बताया गया है। १.३३, ४ ५ : अयज्वानः सनका : प्रेतिम् ईयुः। परा चित् शीर्षा विवृजुस् ते इन्द्र अयज्वानो यज्वभिः स्पर्धमानाः। "यज्ञ न करने वाले सनक लोगों का पतन हो गया। यज्ञ करनेवालों से स्पर्धा करते हुये यज्ञ न करनेवालों ने, हे इन्द्र! पराङ्मुख हो कर पलायन किया।"[36] १,१२१, ४ : शासस् तम् इन्द्र मर्त्यम् अयज्युम् इत्यादि। "हे इन्द्र! तुमने यज्ञ न करनेवाले मनुष्यों को दण्डित किया।"[37] १ १३२, ४ : सुन्वद्भ्यो रन्धय

---

[35] रॉथ (कोश) मे 'गुहा क.' से 'हटाने, अलग करने' का आशय मानते हैं। सायण इसकी 'गुहा मे छिपने' के रूप मे व्याख्या करते हैं। ३ ३४, ९ मे जिस 'वर्ण' शब्द का आर्यों के लिये प्रयोग किया गया है, उसका यहाँ दस्युओं के लिये व्यवहार किया गया है। सायण दस्युओं को शूद्र या असुर जाति का सदस्य मानते हैं।

[36] सायण सनको को वृत्र का अनुचर मानते हैं "एतन्नामका . वृत्रानुचरा।" मैं यह नही जानता कि सनको से यहाँ किसका तात्पर्य है। ये दस्यु नहीं वल्कि नास्तिक आर्य हो सकते हैं। एक सनक ब्रह्मा का मानस-पुत्र था (विल्सन विष्णु पु०) प्रथम स०, पृ० ३८, नोट १३)। वेवर (इण्ड० स्टू० १ ३८५, नोट) महाभारत (१३ १३०७८) का उद्धरण देते हैं जहाँ सनक को एक ऋषि कहा गया है। वेनफे 'सनका' का 'वृद्ध' अनुवाद करते हैं।

[37] १.१००, १५ मे 'मर्त्ता' शब्द 'देवा.' का विरोधी है। 'मर्त्य' शब्द का सामान्यतया मनुष्यो के लिये व्यवहार होता है। किन्तु शतपथ ब्राह्मण के इस स्थल से ऐसा प्रतीत होता है कि असुरो को भी ऐसा ही समझा जाता था, और देवगण भी पहले ऐसे ही मर्त्य थे। २ २, २, ८ और वाद. "देवाश्च वै असुराश्च उभये प्राजापत्या पस्पृधिरे। ते उभये एव अनात्मान आसु, मर्त्या ह्यू आसु। अनात्मा हि मर्त्य। तेषु उभयेषु मर्त्येषु अग्निर् एव अमृत आस। तम् ह स्म उभये अमृतम् उपजीवन्ति।' ' ततो देवास् तनीयास इव परिशिशिषिरे। ते अर्चन्त श्राम्यन्तश् चेरु। उत असुरान् सपत्नान् मर्त्यान् अभिभवेम इति ते एतद् अमृतम् अग्न्याधेयम् ददृशु। ते ह ऊचु। हन्त इदम् अमृतम् अन्तरात्मन्न् आदधामहै। ते इदम् अमृतम् अन्तरात्मन्न् आधाय अमृता भूत्वा अस्तर्या भूत्वा

कश्चिद् अव्रतं हृणायन्तं चिद् अव्रतम्। "यज्ञविरोधियों को, चाहे वह क्रोधी क्यों न हो, यज्ञकर्त्ताओं के वश में करो।" ४.१६, ९: नि मायावान् अब्रह्मा दस्युर् अर्त। "मायावी और स्तुति न करनेवाला दस्यु नष्ट हो गया।" ५.७, १०: आद् अग्ने अपृणतोऽत्रिः ससह्याद् दस्यून् इषः ससह्यान् नॄन्। "हे अग्ने! तव अत्रि अनुदार दस्युओं को जीत लें: इष मनुष्यों को जीत लें।" ६.१४, ३: तूर्वन्तो दस्युम् आयवो व्रतैः सीक्षन्तो अव्रतम्। "मनुष्य व्रतों द्वारा दस्युओं और अव्रतियों को पराभूत करें।" ५.४२,९: अपव्रतान् प्रसवे वावृधानान् ब्रह्म-द्विषः सूर्याद् यवयस्व। "सन्तान में वृद्धि प्राप्त करनेवाले अव्रतियों और ब्रह्मद्वेषियों को सूर्य से दूर हटाओ।" ८.५९,१०: त्वं नः इन्द्र ऋतायुस त्वानिदो नि तृम्पसि। मध्ये वसिष्व तुविनृम्ण ऊर्वोर् नि दासं शिश्नथो हथैः। ११. अन्य व्रतम् अमानुषम् अयज्वानम् अदेवयुम्। अव स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय दस्युम् पर्वतः। "हे इन्द्र! तुम हमारे धार्मिक कृत्यों को चाहते हो, जो तुम्हारी निन्दा करते हैं उनको तुम कुचल देते हो। हे बलवान देवता, अपने ऊरुओं की रक्षा करो, तुमने अपने मुष्टि-प्रहर से दास को मार डाला। ११. जो अ-व्रती हैं, जो मनुष्य नहीं हैं, जो यज्ञ नहीं करते, और जो देवों का आदर नहीं करते उन दस्युओं को तुम्हारे सखा, पर्वत, शीघ्र ही नष्ट कर देते हैं।"[३८] ४.४१, २:

स्तर्यान् सपत्नान् मर्त्यान् अभिभविष्याम इति।" "प्रजापति की सन्तान, देव और असुर, दोनो ही परस्पर स्पर्धा करते थे। दोनो आत्माविहीन थे क्योंकि दोनो ही मर्त्य थे, क्योंकि जो आत्माविहीन है वह मर्त्य होता है। जहाँ ये दोनो मर्त्य थे, वही अग्नि अकेले अमर थे; और ये दोनो ही उस अमर (अग्नि) से जीवन प्राप्त करते थे। तव देव लोग हीन हो गये। उन लोगो ने अर्चना और तप करना आरम्भ किया, और अपने शत्रुओ, मर्त्य असुरो, को पराजित करने के प्रयास के समय उन लोगो ने (देवो ने) इस अमर अग्न्याधेय को देखा। तब उन लोगो ने कहा 'आओ हम इस अमर अग्नि को अपनी अन्तरात्मा मे स्थित करें। ऐसा करके और इस प्रकार अमर तथा अजेय वन कर हम अपने मर्त्य और पराजेय शत्रुओ पर विजय प्राप्त करेंगे।" इस प्रकार देवों ने पवित्र अग्नि को अपनी अन्तरात्मा मे स्थित कर लिया और इसके द्वारा असुरो पर विजय प्राप्त की।

[३८] मैं इस स्थल के अनुवाद के लिये डा० आफरेख्त का आभारी हूँ। अन्तिम मन्त्र के दस्यु के विशेषण मर्त्यों के लिये भी समान रूप से व्यवहृत हो सकते हैं, किन्तु इनमे से कुछ ऋग्वेद १०.२२,८ मे भी आते है। इसी सूक्त

सह्वांसो दस्युम् अव्रतम्। "अव्रती दस्युओं को दमित करते हुये।"[१] १० २२, ७.८: आ नः इन्द्र पृक्षसे अस्माकम् ब्रह्म उद्यतम्। तत् त्वा याचामहे अवः शुष्णं यद् हन्न् अमानुषम्। ८. अकर्मा दस्युर् अभि नो अमन्तुर् अन्यव्रतो अमानुषः। त्वं तस्य अमित्रहन् वधुर् दासस्य दम्भय। "हे इन्द्र! हम भोजन के लिये तुम्हारी स्तुति करते हैं। हम तुम्हारे उस बल से रक्षित होने की याचना करते हैं जिससे तुमने अमानुष शुष्ण का हनन किया था। अकर्मा, मूर्ख, अन्यव्रती, और अमानुष दस्यु हमारे विरुद्ध है: हे शत्रुओं का हनन करनेवाले, इस दास के अस्त्रों का दमन करो।"

'अनिन्द्र' एक अन्य विशेषण है, जिसका वैदिक ऋषियों द्वारा देवों के विरोधियों (चाहे ये विरोधी आर्य हों, या दस्यु अथवा दानव) के लिये अक्सर प्रयोग किया गया है। यह ऋग्वेद के इन स्थलों पर आता है: १.१३३,१ उभे पुनामि रोदसी ऋतेन द्रुहो दहामि सम् महीर् अनिन्द्राः। "यज्ञ के द्वारा मैं दोनों लोकों को पवित्र करता हूँ, मैं उस महान दानवी का दहन करता हूँ जो इन्द्र का आदर नहीं करती।" ४.२३,७: द्रुहं जिघांसन् ध्वरसम् अनिन्द्रां तेतिक्ते तिग्मा तुजसे अनीका। "द्रोह और हिंसा करनेवाली, और इन्द्र के पराक्रम को न जाननेवाली राक्षसी के वध के लिये इन्द्र पहले से ही शस्त्रों को तीक्ष्ण करते हैं।" ५.२,३: हिरण्यदन्तं शुचिवर्णम् आरात् क्षेत्राद् अपश्यम् आयुधा मिमानम्। ददानो अस्मै अमृतं विपृक्वत् किम् माम् अनिन्द्राः कृणवन्न् अनुक्थाः। "हमने निकटवर्ती स्थान से, सर्वत्र व्याप्त तथा अमरत्व से युक्त स्तोत्र का निवेदन करते हुये सुवर्ण के समान दाँतोंवाले और शुचिवर्ण अग्नि को अपने आयुधों का निर्माण करते देखा है: जो इन्द्र का आदर नहीं करते अथवा स्तोत्रों का उच्चारण नहीं करते वह हमारा क्या बिगाड़ सकते हैं?" ७.१८,६: अर्ध वीरस्य शृतपाम्

के ७ वें मन्त्र मे एक मर्त्य शत्रु का उल्लेख है "न सीम् अदेव आपद् इषम् दीर्घायो मर्त्यं। "हे दीर्घजीवी देव! कोई देवविहीन मर्त्य समृद्धि न प्राप्त करे।" ऋग्वेद ५ २०,२ पर अपने भाष्य मे सायण ने 'अन्यव्रत' शब्द की इस प्रकार व्याख्या की है वैदिकाद् विभक्तम् व्रतम् कर्म यस्य तस्य असुरस्य। "असुर, जिनके कर्म वैदिक कर्मों से भिन्न होते है।" देखिये गोल्डस्टूकर के कोश मे 'अन्यव्रत'।

[३१] सामवेद २ २४३ के अपने अनुवाद की एक टिप्पणी मे बेनफे ने 'दस्युम् अव्रतम्' को 'वृत्र' अथवा सामान्य रूप से दुष्टात्माओ के द्योतक के रूप मे ग्रहण किया।

अनिन्द्रम् परा शर्धन्तं नतुदे अभि क्षाम्। "हवि का पान करनेवाले और इन्द्र का अनादर करनेवाले, सवर्धरत आर्य वीरों को इन्द्र ने भूमि पर फेंक दिया।"[४०] ऋग्वेद १०.२७,६ : दर्शन नु अत्र शृतपान् अनिन्द्रान् बाहुक्षद: शरवे पत्यमानान्। वृपु वा ये निनिदु: सखायम अधि ऊ नु एपु पवयो ववृत्यु। "उन्होने यहाँ उनको देखा जो हवि का पान कर जाते है, जो इन्द्र का अनादर करते है, जो निकृष्ट हवि समर्पित करते है, और जो वज्र-प्रहार के योग्य हैं : जो हमारे निन्दक हैं वह चक्र से दलित हो गये हैं।" ऋग्वेद १०.४८,७ मे इन्द्र इस प्रकार कहते हैं : अभीदम् एकम् एको अस्मि नि'पाळ अभि द्वा किम् उ त्रय: करन्ति। खले न पर्षान् प्रति हन्मि भूरि किम् मा निन्दन्ति शत्रवो अनिन्द्रा:। "मै आक्रमण करनेवाले एक या दो शत्रुओं को शीघ्र पराभूत करता हूँ, तीन शत्रु भी मिलकर मेरा कुछ नहीं कर सकते। कृषक जैसे धान्य को मसलता है उसी प्रकार मै दुष्ट शत्रुओं का संहार करता हूँ। जो इन्द्र को नहीं मानते वह शत्रु मेरी निन्दा क्यों करते है ?"[४२]

इस स्थल पर उन लोगों का उल्लेख है जो सूक्त तथा स्तोत्र मे रहित हैं : १०.१०५,८ अव नो वृजिना शिशीहि ऋचा वनेम अनृच:। नाब्रह्मा यज्ञ: ऋधग् जोपति त्वे। "हमारी विपत्तियों का हरण करो। ऋचा से हम उनका संहार करें जो ऋचाओं का व्यवहार नहीं करते। बिना ऋचाओं मे सम्पन्न किये गये यज्ञ से तुम्हें कोई महान प्रसन्नता नही होती।"[४३]

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, वेद मे आर्यों तथा आदिवासियों की त्वचाओं के रंग मे अन्तर के उल्लेख का कुछ आभास मिलता है। इस विषय

---

[४०] देखिये लिट० ऐण्ड हिस्ट० आफ दि वेद, पृ० ९८, ९९ पर इन मत्र की रॉथ की व्याख्या। इसी ग्रन्थ के पृ० १३२–५ पर इनकी इस मत्र मे उल्लिखित जातियो पर की गई टिप्पणी भी देखिये।

[४१] प्रो० रॉथ अपने कोश मे 'बाहुक्षद्' को ऐसे निकृष्ट अर्चको का द्योतक मानते हैं जो अपना अग्रपाद समर्पित करते हैं।

[४२] देखिये निरुक्त ३ १०।

[४३] अपने एक लेख (जएसो०, नवीन सिरीज़, २ २८६ और बाद) मे मैंने ऋग्वेद मे अनेक ऐसे स्थलो को उद्धृत किया है जिनमे अधार्मिकता की भर्त्सना तो की गई है किन्तु दस्युओ का कोई स्पष्ट सन्दर्भ नही है। अत. न्यूनाधिक सभावना के साथ हम दस्युओ को आर्य समुदाय का सदस्य मान सकते हैं।

पर में प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम संस्करण की एक आलोचना में व्यक्त प्रो० मैक्स मूलर की कुछ टिप्पणियों यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ (यह आलोचना मूलतः १८५८ की १० और १२ अप्रेल की टाइम्स नामक पत्रिका में छपी थी और बाद में मूलर के चिप्स, २, पृ० ३२४ में भी प्रकाशित हो गई) : मूलर का कथन है कि "जिस समय जाति के अर्थ में 'वर्ण' का सर्वप्रथम प्रयोग हुआ उस समय केवल दो ही, आर्य और अनार्य, अथवा श्वेत तथा कृष्णवर्ण, जातियों का अस्तित्व था। वेद के कवि इस काली जाति को कभी-कभी कृष्णवर्ण जाति कहते हैं। ऋग्वेद १.१३०,८ · 'इन्द्र ने युद्ध मे आर्य स्तोताओं की रक्षा की; उन्होंने मनु के लिये कर्महीनों को पराभूत और कृष्णवर्ण त्वचा वालों को विजित किया'।"[४४] (इस स्थल के मूल को ऊपर उद्धृत किया जा चुका है)।

कुछ अन्य स्थलों को भी, जिनमें कृष्ण त्वचावाले शत्रुओं का उल्लेख है, काले आदिवासियों के सन्दर्भ में उद्धृत किया जा सकता है, जैसे ऋग्वेद २ २०,७ (मूल ऊपर उद्धृत है). "वृत्रहन और पुरन्दर इन्द्र ने काली जाति के दासों को छिन्न-भिन्न कर दिया।" किन्तु प्रो० रॉथ ने (अपने कोश में) इस अन्तिम शब्द 'कृष्णयोनिः' की तथा ऋग्वेद १.१०१,१ के 'कृष्णगर्भाः' की काले मेघों के द्योतक होने के रूप में व्याख्या की है। इन दोनों में से बादवाले शब्द को रेग्नियर ने भी इसी अर्थ में ग्रहण किया है। ऋग्वेद ४.१६, १३ में पिप्रु तथा मृगय के विदथिन-पुत्र ऋजिश्वन् के अधीन किये जाने, तथा ५०,००० काली त्वचावालों (भाष्यकार ने इन्हें राक्षस माना है) के इन्द्र द्वारा उसी प्रकार नष्ट किये जाने का उल्लेख है जैसे वृद्धावस्था शरीर को नष्ट

---

[४४] 'कृष्णत्वचा' का यह उल्लेख ऋग्वेद ९ ४१,१ (जो सामवेद १ ४९१, और २ २४२ मे भी आता है) मे भी आता है। शब्द इस प्रकार है "प्र ये गावो न भूर्णयस् त्वेषा अयासो अक्रमु , घ्नन्त' कृष्णाम् अप त्वचम्।' इसका प्रो० वेनफे ने इस प्रकार अनुवाद किया है . "ज्वलन्त और वेगवान देवता एक क्रुद्ध वृषभ के समान आकर 'कृष्णवर्ण' लोगो को भगा देते हैं।" एक टिप्पणी मे आप अपनी व्याख्या मे इतना और जोड देते है "मरुद्गण मेघो को भगाते- हैं।" सामवेद की अपनी ग्लॉसरी मे यही लेखक 'कृष्णवर्ण त्वचा' की 'रात्रि' के रूप मे व्याख्या करते है। इसी समान एक अन्य उक्ति 'त्वचम् असिक्नीम्', ऋग्वेद ९.७३,५ मे भी आती है "इन्द्र-द्विष्टाम् अप-धमन्ति मायया त्वचम् असिक्नीम् भूमनो दिवस् परि।" "अपनी शक्ति से वे (मैं यह नही कह सकता कि कौन ? क्या मरुद्गण ?) आकाश से पृथ्वी की कृष्ण त्वचा को, जिससे इन्द्र घृणा करते है, उडा ले जाते है।"

कर देती है (त्वम् पिप्रुम् मृगयम् शूशुवांसम् ऋजिश्वने वैदथिनाय रन्धीः । पञ्चाशत कृष्णा नि वप. सहस्रा अत्कम् न पुरो जरिमा वि दर्दः) । इन्हें, सम्भवतः अन्तरिक्षीय शत्रु भी मानना चाहिये ।[४५] ऋग्वेद ८.८५,१५ की प्रो० बेनफे की व्याख्या (उनके सामवेद के अनुवाद, १.४.२३, पृ० २२८ में) भी देखिये । आगे उद्धृत स्थल पर भी किसी काली जाति का उल्लेख है । ऋग्वेद ७.५,३ 'त्वद्-भिया विशः आयन् असिक्नीर् असमनाः जहतीर् भोजनानि । वैश्वानर पुरवे शोशुचानः पुरो यद् अग्ने दरयन्न् अदीदेः' । "हे अग्नि वैश्वानर ! जब पुरु के लिये प्रज्वलित होकर, तुमने पुरों को भग्न तथा दग्ध करना आरम्भ किया तब तुम्हारे भय से काली जातियों के लोग अपनी सम्पत्तियों को छोड़कर छिन्न-भिन्न होते हुये भाग गये ।" प्रो० रॉथ (कोश में 'असिक्नि' के अन्तर्गत) 'काली जातियों' की 'अन्धकार के प्राणी' के रूप में व्याख्या करते हैं । एक इसी समान शब्द ऋग्वेद ८.६२,१८ में भी आता है 'पुर न धृष्णो आरुज कृष्णया बाधितो विशा । "हे वेगवान ! काली जाति की बाधाओं को एक प्राकार के समान ध्वस्त कर दो ।" यह स्पष्ट नहीं है कि यहाँ किसका आह्वान किया गया है और काली जातियों से किसका तात्पर्य है ।

कुछ स्थल (४) ऐसे हैं जिनमें दस्युओं की बोली के लिये 'मृध्रवाच्' विशेषण का प्रयोग किया गया है । यदि यह निश्चित हो कि इन सब या इनमें से किसी एक स्थल पर आदिवासी जातियाँ ही उद्दिष्ट हैं, और यह कि उक्त विशेषण से इनकी बोली की किसी विशिष्टता का तात्पर्य है, तो यह एक अत्यन्त मनोरंजक विषय बन जायगा, किन्तु दुर्भाग्यवश ये दोनों ही बातें सन्दिग्ध हैं ।[४६] कुछ स्थल, जहाँ यह विशेषण मिलता है, इस प्रकार हैं — ऋग्वेद १.१७४,२ दनो विशः इन्द्र मृध्रवाचः सप्त यत् पुरः शर्म शारदीर् दर्त् । ऋणोर् अपो अनवद्य अर्णः यूने वृत्रम् पुरुकुत्साय रन्धीः । "हमारे रक्षक इन्द्र ! जब तुम सात शारदीय दुर्गों को ध्वस्त करते हो तो तुम मृधवाच् लोगों को पराजित कर देते हो । हे अनिन्द्य ! तुमने जलों को

---

[४५] तुलना कीजिये, ऋग्वेद १.१०१ का विल्सन का अनुवाद और देखिये इन्हीं की ऋग्वेद की प्रस्तावना ।

[४६] अथर्ववेद १२.१,४५ में यह उल्लेख है कि पृथिवी अत्यन्त विविध प्रकार की बोलियों और आचार व्यवहारों वाले लोगों को धारण करती है, और ये सभी अपने-अपने गृहों में निवास करते हैं (जनम् बिभ्रती बहुधा विवाचस नानाधर्माणम् पृथिवी यथौकसम्) ।

प्रवाहित कराया, तुमने वृत्र को युवा पुरुकुत्स के अधीन किया।" ऋग्वेद ५.२९,१० : प्र अन्यच् चक्रम् अवृहः सूर्यस्य कुत्साय अन्यद् वरिवो यातवे कः। अनासो दस्यून् अमृणोर् वधेन नि दुर्योणे आवृणङ् मृध्रवाचः। "तुमने सूर्य के एक चक्र को निकाल दिया · दूसरे को तुमने मुक्त कर के कुत्स के लिये जाने दिया। अपने अस्त्र से तुमने मुखविहीन (अथवा नासिका विहीन) दस्युओं को मार डाला : उनके घरों में ही तुमने मृध्रवाच लोगों को मारा।" ५.३२,८ : त्यं चिद् अर्णम् मधुप शयानम् असिन्वम् वव्रम् सहि आदद् उग्रः। अपादम् अत्रम् महता वधेन नि दुर्योणे अवृणङ् मृध्रवाचम्। "विकराल कर्मवाले इन्द्र ने चलते हुये मेघ को रोक कर, सोते हुये, जल की रक्षा करनेवाले, शत्रुओं को मारने वाले, और सब को ढँक लेनेवाले वृत्र को पकड़ लिया, और फिर, उस पैर तथा परिमाण से रहित मृध्रवाच वृत्र को अपने वज्र के प्रहार से छिन्न-भिन्न कर दिया।" ७.६,३ : नि अक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पणीन् अश्रद्धान् अवृधान् अयज्ञान्। प्र प्र तान् दस्यून् अग्निर् विवाय पूर्वश् चकार अपरान् अयज्यून्। "बुद्धिहीन, मृध्रवाच, अविश्वासी, यज्ञ न करनेवाले तथा श्रद्धारहित पणि रूपी दस्युओं को, हे अग्नि, दूर हटाओ। अग्नि ने ही धर्महीनों को पहले निम्न बनाया।" ७.१८,१३ : वि सद्यो विश्वा दृंहितानि एषाम् इन्द्रः पुरः सहसा सप्त दर्दः। वि आनवस्य तृत्सवे गयम् भाग् जेष्म पूरु विदथे मृध्रवाचम्। "इन्द्र ने अपनी शक्ति से उनके गढ़ों तथा सात दुर्गों को ध्वस्त कर दिया, उसने आनव के तत्त्व, तृत्सु को विभाजित किया : हमने मृध्रवाच पुरु को युद्ध में पराजित किया।"

'मृध्रवाच्' शब्द की सायण ने (उक्त तीन स्थलों के भाष्य में) हिंसित-वागिन्द्रिय अथवा हिंसित-वचस्क के रूप में व्याख्या की है। १.१७४,२ पर आप इसकी 'मर्षण-वचना' के रूप में और ७.१८,१३ पर 'बाधवाचम्' के रूप में व्याख्या करते हैं। इसी शब्द का अपने अनुवाद में विलसन ने 'वाणी रहित' अर्थ दिया है। रॉथ ने (इलस्ट्रेशन्स आफ दि निरुक्त, पृ० ९७) यास्क (जिन्होंने निरुक्त ६ ३१ में 'मृध्रवाच' का 'मृदुवाच.' अर्थ किया है) की व्याख्या को अस्वीकृत करते हुये कहा है कि इसका अर्थ 'क्षतिकारक बोली' है। डा० कुन (कुगो० पृ० ६०) के मत से इस शब्द का अर्थ 'हकलानेवाला' है। आपका विचार है कि ऋग्वेद ५.२९,१० में एक दूरस्थ गर्जन के क्रमशः समाप्त होने का सन्दर्भ है जिसे पराजित दानव की वाणी माना गया है। भारत की आदिवासी जातियों का विवेचन करते हुये प्रो० मूलर ने (लास्ट रेज़ल्ट्स ऑफ तूरानियन रिसर्चेज़, पृ० २४६) यह कहा है कि "वे

'अनासस्' शत्रु जिनका इन्द्र ने अपने वज्र से वध किया (ऋग्वेद ५.२९,१०) सम्भवतः नासिकाविहीन (अ-नासस्) थे न कि भाष्यकार द्वारा स्वीकृत मुखविहीन (अन्-आसस्) लोग। देखिये हर्षा लिखक का एक अन्य लेख जिसे ऊपर पृ० ४७५ पर उद्धृत किया जा चुका है। दूसरी ओर, प्रो० विल्सन (ऋग्वेद, ३.२७६) यह कहते हैं : "सायण के अनुसार 'अनास' का अर्थ 'आस्यरहितान्' है। उन्होंने 'आस्य' (मुख अथवा चेहरा) का अर्थ सम्बन्ध के आधार पर 'शब्द' मान लिया है, क्योंकि मुख से ही शब्द उच्चरित होते है। और इस प्रकार उन्होंने इससे सम्भवतः बर्बर जातियों के असंस्कृत वाच् का तात्पर्य माना है। हिन्दू बर्बरता तथा असंस्कृत वाच को प्रायः समान मानते है, जैसे 'म्लेच्छ' शब्द एक बर्बर जाति का द्योतक है किन्तु यह 'म्लेच्छ्' धातु (कर्कशता के साथ बोलना) से बना है।" इसके बाद विल्सन प्रो० मूलर द्वारा प्रस्तुत 'अनास' की व्याख्या के सन्दर्भ में इस प्रकार कहते है "यह प्रस्ताव उनका अपना है, किन्तु ऐसा सम्भव प्रतीत होता है कि सायण की व्याख्या ठीक है। क्योंकि यहाँ दस्युओं को 'मृध्रवाचः' (जिनके वाचाङ्ग दूषित है) कहा गया है।"

उपरोक्त चार स्थलों में से केवल दो ही ऐसे है जिनमें 'मृध्रवाच्' के साथ दस्युओं का उल्लेख है। और इनमें से भी द्वितीय (ऋग्वेद ७ ६,३) में यह शब्द पणि नामक व्यक्तियों के लिये व्यवहृत हुआ है जो ऐसे पौराणिक प्राणी है जिन्होंने अङ्गिरसों की गायों को चुरा कर एक गुहा में छिपा दिया था। (देखिये विल्सन : ऋग्वेद, १, पृ० १६,१७, नोट)।[४७] किसी भी दशा में 'मृध्रवाच्' शब्द का आशय इतना अधिक अनिश्चित है कि हम किसी विश्वास के साथ इसे आदिवासियों की बोली की किसी विशिष्टता का द्योतक नहीं मान सकते।

ऋग्वेद मे अक्सर (५) दस्युओं अथवा 'असुरों के पुरों का उल्लेख मिलता है। ऐसे स्थलों में से १.१०३,३ को ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। नीचे कुछ अन्य उदाहरण दिये जा रहे हैं : ऋग्वेद १.५१,५ त्वम् पिप्रोर् नृमण प्रारुजः पुरः प्र ऋजिश्वान दस्यु-हत्येषु आविथ। "हे मनुष्यों पर कृपा करनेवाले! तुमने पिप्रु के पुरों को भग्न किया तथा ऋजिश्वन् की दस्युओं के विरुद्ध युद्ध में रक्षा की।" ऋग्वेद १.६३,७ : त्वं ह त्यद् इन्द्र सप्त युध्यन्

[४७] देखिये बॉटलिङ्क और रॉथ के कोश मे 'पणि', जहाँ ऋग्वेद ७ ६,३ का इनके सन्दर्भ मे उल्लेख है। जएसो०, १८६६, पृ० २९० मे प्रकाशित मेरा 'प्रीस्ट्स इन वैदिक एज' लेख भी देखिये।

पुरो वज्रिन् पुरुकुत्साय दर्दः । "हे वज्रिन् इन्द्र ! तुमने पुरुकुत्स के लिये युद्ध करते हुये सात पुरों को ध्वस्त किया।" १.१७४,८ : भिनत् पुरो न भिदो अदेवीर् ननमो वधर् अदेवस्य पीयोः । "तुमने देवविहीनों को उनके पुरों के समान ही बींध दिया : तुमने देवविहीन विनाशकों के अस्त्रों को झुका दिया।" २.१४,६ : यः शतं शम्बरस्य पुरो बिभेद अश्मनेव पुर्वीः । "किसने वज्र से शम्बर के सौ, अथवा अनेक पुरों को टुकड़े-टुकड़े कर दिया।" २.१९,६ : दिवोदासाय नवतिं च नव इन्द्रः पुरो वि ऐरच् छम्बरस्य । "इन्द्र ने दिवोदास के लिये शम्बर के सौ पुरों को छिन्न भिन्न किया।" ३.१२,६ : इन्द्राग्नी नवतिम् पुरो दासपत्नीर् अधूनुतम् । साकम् एकेन कर्मणा । "हे इन्द्र और अग्नि, तुमने एक साथ प्रयास द्वारा दस्युओं के नब्बे पुरों को ध्वस्त किया।" ४.२६,३ : अहम् पुरो मन्दसानो वि ऐरं नव साकं नवतीः शम्बरस्य । शततमं वेश्यं सर्वताता दिवोदासम् आतिथिग्वम् यद् आवम् । "प्रसन्न होकर मैंने शम्बर के निन्यान्बे पुरों को एक साथ ही ध्वस्त कर दिया : जब मैंने दिवोदास अतिथिग्व की रक्षा की तब सौवों पुर सुरक्षित रहा।"[४८] ६.३१,४ : त्वं शतानि अव शम्बरस्य पुरो जघन्थ अप्रतीनि दस्योः । "तुमने दस्यु शम्बर के सौ अप्रतिम पुरों को नष्ट किया है।" अगले मन्त्र से ऐसा प्रतीत होगा कि इन पुरों तथा साथ ही साथ पर्वतों से मेघों का तात्पर्य है :—१०.८९,७ : जघान वृत्रं स्वधितिर् वनेव रुरोज पुरो अरदद् न सिन्धून् । बिभेद गिरिं नवम् इन न कुम्भम् आ गा इन्द्रो अकृणुत स्वयुग्भिः । "इन्द्र ने वृत्र का उसी प्रकार भेदन किया जैसे कुल्हाड़ी लकड़ी का करती है, उन्होंने पुरों को तोड़ा और नदियों को गहरा किया। उन्होंने एक नूतन कुम्भ के समान पर्वतों को तोड़ दिया, अपने सखाओं के साथ उन्होंने गायों को अपने अधिकार में कर लिया।"

निम्नोद्धृत स्थलों पर लौहपुरों का उल्लेख है :—२.२०,८ : प्रति यद् अस्य वज्रम् बाह्वोर् धुर् हत्वी दस्यून् पुरः आयसीर् नितारीत् । "जब उन लोगों ने उसके हाथ में वज्र दिया तब उसने (इन्द्र ने) दस्युओं

[४८] देखिये कुगो० पृ० १४० और नोट । बेनफे ने 'सर्वताति' की (ओरियण्ट उण्ट ऑक्सीडेण्ट २.५२४) व्याख्या करते हुये इसका इस प्रकार अनुवाद किया है "जब मैंने पवित्र दिवोदास पर कृपा की तब सौवाँ सुरक्षित रहा।" 'सुरक्षित' शब्द या तो इन्द्र के लिये प्रयुक्त हुआ हो सकता है अथवा सौवे पुर के लिये जिसे उसने नष्ट नहीं किया।" इस सन्दर्भ में कुन की ही भाँति आपने भी ऋग्वेद ७.१९,५ का उल्लेख किया है।

का वध किया और उनको लौहपुरों को विदीर्ण कर दिया ।"[४९]

निम्नलिखित स्थलों पर 'शारदीय पुरों' का उल्लेख है :— १.१३१,४ : विदुस् ते अस्य वीर्यस्य पूरवो पुरो यद् इन्द्र शारदीर् अवातिरः। सासहानो अवातिरः। शासस् तम इन्द्र मर्त्यम् अयज्युं शवसस्पते। "मनुष्य तुम्हारी इस वीरता को जानते थे कि तुमने शारदीय पुरों को जीत लिया है। हे शक्ति के अधिपति ! तुमने यज्ञ न करनेवालों को दण्डित किया।"[५०] (देखिये ऋग्वेद १ १७४,२ जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है)। ६.२०,१० । सप्त यत् पुरः शर्म शारदीर् दर्त् हन् दासीः पुरुकुत्साय शिक्षन्। "हमारे रक्षक, जब तुमने सात शारदीय पुरों को ध्वस्त किया तब तुमने पुरुकुत्स पर कृपा करते हुये दासों का वध किया।"[५१]

निम्नलिखित स्थलों पर पुरों के लिये 'शश्वत्' विशेषण का व्यवहार किया गया है। जैसा कि सुविदित है, इस शब्द का अर्थ 'नित्य' है, किन्तु निघण्टु के अनुसार इसका 'अनेक' अर्थ है, और सायण ने सामान्यतया इसे इसी अर्थ में ग्रहण किया है। ८.१७,१४ . द्रप्सो भेत्ता पुरां शश्वतीनाम् इन्द्रो मुनीनां सखा। "सोम-विन्दु अनेक पुरों को ध्वस्त करनेवाला है। इन्द्र मुनियों का सखा है।" ८.८७,६ · त्वं हि शश्वतीनाम् इन्द्र दर्ता पुराम् असि। हन्ता दस्योर् मनोर् वृधः पतिर् दिवः। "हे इन्द्र ! तुम अनेक पुरों को ध्वस्त करनेवाले, दस्युओं को मारनेवाले, मनुष्यों का उपकार

[४९] इन स्थलो पर भी लौह-पुरो या प्राकारो का उल्लेख है ऋग्वेद ४ २७, १, ७ ३,७, ७.१५,१४, ७.९५,१, ८ ८९,८, और १० १०१,८, किन्तु इनमे दस्युओ का सन्दर्भ नही है।

[५०] 'शारदीय पुर' से उन उज्ज्वल मेघरूपी पुरो का तात्पर्य हो सकता है जो इस ऋतु मे भारतीय आकाश मे अक्सर दिखाई पडते हैं। सायण ने इस शब्द की इस प्रकार व्याख्या की है "शारदी सवत्सर-सम्बन्धिनी सवत्सर-पर्यन्तम् प्राकार-परिखादिभिर् दृढीकृता पुर शत्रूणाम् पुरी।" अगली टिप्पणी भी देखिये।

[५१] इस मन्त्र के अपने भाष्य मे सायण ने 'शारदी' शब्द की एक भिन्न व्याख्या की है 'शरत्—नाम्न असुरस्य सम्बन्धिनी'।' इस स्थल के 'शर्म' शब्द की सायण ने 'वज्र' के रूप मे व्याख्या की है। अपने १ १७४, २ के भाष्य मे इन्होंने इसी की 'हमारी प्रसन्नता के लिये' के रूप मे व्याख्या की थी। मैंने इसका 'हमारे रक्षक' अनुवाद किया है।

करनेवाले, और स्वर्ग के अधिपति हो।"[५२] एक स्थल पर पाषाण के पुर का भी उल्लेख है ।—४.३०,२० : शतम् अश्मन्मयीनाम् पुराम् इन्द्रो वि आस्यत् दिवोदासाय दाशुषे। "इन्द्र ने अपने स्तोता दिवोदास के लिये एक सहस्र पाषाण के पुरों को नीचे गिरा दिया।"[५३] ऋग्वेद ८.१,२८ में एक चलायमान पुर का उल्लेख है : त्वम् पुरं चरिष्णव वधैः शुष्णस्य सम्पिणक्। "तुमने अपने वज्र से शुष्ण के चलायमान पुर को विदीर्ण किया।"[५४]

वैदिक सूक्तों में उल्लिखित इन पुरों से, कम से कम बाद के समय में, असुरों के पुरों का तात्पर्य माना जाने लगा, और इनकी प्रकृति की व्याख्या के लिये निम्नलिखित आख्यान का सृजन कर लिया गया। यजुर्वेद की वाजसनेयि संहिता के भाष्य में यह स्थल मिलता है अत्र इयम् आख्यायिका अस्ति। देवैः पराजिताः असुरास् तपस् तप्त्वा त्रैलोक्ये त्रीणि पुराणि चक्रुर् लोहमयीम् भूमौ राजतीम् अन्तरिक्षे हैमीं दिवि। तदा देवैस् ताः दग्धुम् उपसदा अग्निर् आराधितः। तत उपसद्-देवता रूपोऽग्निर् यदा तासु पूर्षु प्रविश्य ताः ददाह तदा तिस्रः पुरोऽग्नेस् तनवोऽभूवन्। तद् अभिप्रेत्य अयम् मन्त्रः। "इस श्रुति (वाज० सं० ५,८) में इस कथा का वर्णन किया गया है:—देवों से पराजित होने के बाद असुरों ने तपस्या की और तीन लोकों में तीन पुरों का निर्माण किया• एक पृथिवी पर लोहे का, एक अन्तरिक्ष में चाँदी का, और एक स्वर्ग में सुवर्ण का। तब देवों ने अग्नि से उपसद् के साथ इन पुरों को दग्ध करने का निवेदन किया। फलस्वरूप उपसद् देवता के रूप में अग्नि ने इन पुरों में प्रवेश करके इन्हें दग्ध किया। तदुपरान्त ये पुर अग्नि के शरीर हो गये। इस मन्त्र द्वारा यही अभिप्रेत है।"[५५] शतपथ ब्राह्मण (३.४,४,३ और बाद) में इसी विषय पर यह स्थल मिलता है : देवाश् च वै असुराश् च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। ततोऽसुराः एषु

---

[५२] ऋग्वेद ८ ८४,३ में हम इसी विशेषण को व्यक्तियो के लिये व्यवहृत पाते है 'त्वम् हि शश्वतीनम् पति राजा विशाम् असि।' "तुम अनेक लोगो के अधिपति और राजा हो"

[५३] सायण 'अश्मन्मयीनाम्' की 'पाषाणैर् निर्मितानाम्' के रूप मे व्याख्या करते हुये इन्हे शम्बर के नगर बताते हैं।

[५४] ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ चलायमान मेघ-रूपी पुरो का तात्पर्य है।

[५५] यहाँ वाजसनेयि सहिता ५ ८ का सन्दर्भ है जहाँ ये शब्द मिलते हैं : "याते अग्ने अय शया तनू, या ते अग्नेरज शया तनू, या ते अग्ने हरिशया तनू।" 'उपसद' ज्योतिष्टोम के उत्सव का एक अग है जिसे कई दिनो तक मनाया जाता था। देखिये बॉटलिङ्क और रॉथ का कोश।

का वध किया और उनकी लौहपुरों को विदीर्ण कर दिया ।"[४९]

निम्नलिखित स्थलों पर 'शारदीय पुरों' का उल्लेख है :— १.१३१,४ : विदुस् ते अस्य वीर्यस्य पूरवो पुरो यद् इन्द्र शारदीर् अवातिरः। सासहानो अवातिरः। शासस् तम् इन्द्र मर्त्यम् अयज्युं शवसस्पते। "मनुष्य तुम्हारी इस वीरता को जानते थे कि तुमने शारदीय पुरों को जीत लिया है। हे शक्ति के अधिपति ! तुमने यज्ञ न करनेवालों को दण्डित किया।"[५०] (देखिये ऋग्वेद १ १७४,२ जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है)। ६.२०,१० । सप्त यत् पुरः शर्म शारदीर् दर्त् हन् दासीः पुरुकुत्साय शिक्षन् । "हमारे रक्षक, जब तुमने सात शारदीय पुरों को ध्वस्त किया तब तुमने पुरुकुत्स पर कृपा करते हुये दासों का वध किया।"[५१]

निम्नलिखित स्थलों पर पुरों के लिये 'शश्वत्' विशेषण का व्यवहार किया गया है। जैसा कि सुविदित है, इस शब्द का अर्थ 'नित्य' है, किन्तु निघण्टु के अनुसार इसका 'अनेक' अर्थ है, और सायण ने सामान्यतया इसे इसी अर्थ में ग्रहण किया है। ८.१७,१४ : द्रप्सो भेत्ता पुरां शश्वतीनाम् इन्द्रो मुनीनां सखा। "सोम-बिन्दु अनेक पुरों को ध्वस्त करनेवाला है। इन्द्र मुनियों का सखा है।" ८.८७,६ : त्व हि शश्वतीनाम् इन्द्र दर्ता पुराम् असि। हन्ता दस्योर् मनोर् वृधः पतिर् दिवः। "हे इन्द्र ! तुम अनेक पुरों को ध्वस्त करनेवाले, दस्युओं को मारनेवाले, मनुष्यों का उपकार

[४९] इन स्थलो पर भी लौह-पुरो या प्राकारो का उल्लेख है ऋग्वेद ४ २७, १, ७ ३,७, ७ १५,१४, ७.९५,१, ८ ८९,८, और १० १०१,८, किन्तु इनमे दस्युओ का सन्दर्भ नही है।

[५०] 'शारदीय पुर' से उन उज्ज्वल मेघरूपी पुरो का तात्पर्य हो सकता है जो इस ऋतु मे भारतीय आकाश मे अक्सर दिखाई पडते हैं। सायण ने इस शब्द की इस प्रकार व्याख्या की है "शारदी सवत्सर-सम्बन्धिनी सवत्सर-पर्यन्तम् प्राकार-परिखादिभिर् दृढीकृता पुर शत्रूणाम् पुरी।" अगली टिप्पणी भी देखिये।

[५१] इस मन्त्र के अपने भाष्य मे सायण ने 'शारदी' शब्द की एक भिन्न व्याख्या की है 'शरत्—नाम्न असुरस्य सम्बन्धिनी'।' इस स्थल के 'शर्म' शब्द की सायण ने 'वज्र' के रूप मे व्याख्या की है। अपने १.१७४, २ के भाष्य मे इन्होंने इसी की 'हमारी प्रसन्नता के लिये' के रूप मे व्याख्या की थी। मैंने इसका 'हमारे रक्षक' अनुवाद किया है।

करनेवाले, और स्वर्ग के अधिपति हो।"[५२] एक स्थल पर पाषाण के पुर का भी उल्लेख है :—४.३०,२० : शतम् अश्मन्मयीनाम् पुराम् इन्द्रो वि आस्यत दिवोदासाय दाशुषे। "इन्द्र ने अपने स्तोता दिवोदास के लिये एक सहस्र पाषाण के पुरों को नीचे गिरा दिया।"[५३] ऋग्वेद ८.१,२८ में एक चलायमान पुर का उल्लेख है : त्वम् पुरं चरिष्णव वधैः शुष्णस्य सम्पिणक्। "तुमने अपने वज्र से शुष्ण के चलायमान पुर को विदीर्ण किया।"[५४]

वैदिक सूक्तों में उल्लिखित इन पुरों से, कम से कम बाद के समय में, असुरों के पुरों का तात्पर्य माना जाने लगा, और इनकी प्रकृति की व्याख्या के लिये निम्नलिखित आख्यान का सृजन कर लिया गया। यजुर्वेद की वाजसनेयि संहिता के भाष्य में यह स्थल मिलता है अत्र इयम् आख्यायिका अस्ति। देवैः पराजिताः असुरास् तपस् तप्त्वा त्रैलोक्ये त्रीणि पुराणि चक्रुर् लोहमयीम् भूमौ राजतीम् अन्तरिक्षे हैमीं दिवि। तदा देवैस् ताः दग्धुम् उपसदा अग्निर् आराधितः। ततः उपसद्-देवता रूपोऽग्निर् यदा तासु पूर्षु प्रविश्य ताः ददाह तदा तिस्रः पुरोऽग्नेस् तनवोऽभूवन्। तद् अभिप्रेत्य अयम् मन्त्रः। "इस श्रुति (वाज० सं० ५,८) में इस कथा का वर्णन किया गया है:—देवों से पराजित होने के बाद असुरों ने तपस्या की और तीन लोकों में तीन पुरों का निर्माण किया : एक पृथिवी पर लोहे का, एक अन्तरिक्ष में चाँदी का, और एक स्वर्ग में सुवर्ण का। तब देवों ने अग्नि से उपसद् के साथ इन पुरों को दग्ध करने का निवेदन किया। फलस्वरूप उपसद् देवता के रूप में अग्नि ने इन पुरों में प्रवेश करके इन्हें दग्ध किया। तदुपरान्त ये पुर अग्नि के शरीर हो गये। इस मन्त्र द्वारा यही अभिप्रेत है।"[५५] शतपथ ब्राह्मण (३.४,४,३ और बाद) में इसी विषय पर यह स्थल मिलता है : देवाश् च वै असुराश् च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। ततोऽसुराः एषु

---

[५२] ऋग्वेद ८.८४,३ में हम इसी विशेषण को व्यक्तियों के लिये व्यवहृत पाते हैं 'त्वम् हि शश्वतीनाम् पति राजा विशाम् असि।' "तुम अनेक लोगों के अधिपति और राजा हो"

[५३] सायण 'अश्मन्मयीनाम्' की 'पाषाणैर् निर्मितानाम्' के रूप में व्याख्या करते हुये इन्हें शम्बर के नगर बताते हैं।

[५४] ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ चलायमान मेघ-रूपी पुरों का तात्पर्य है।

[५५] यहाँ वाजसनेयि संहिता ५ ८ का सन्दर्भ है जहाँ ये शब्द मिलते हैं : "याते अग्ने अय शया तनू, या ते अग्नेरज शया तनू, या ते अग्ने हरिशया तनू।" 'उपसद' ज्योतिष्टोम के उत्सव का एक अंग है जिसे कई दिनों तक मनाया जाता था। देखिये बॉटलिङ्क और रॉथ का कोश।

लोकेषु पुरश् चक्रिरे अयस्मयीम् एव अस्मिन् लोके रजताम् अन्तरिक्षे हरितीम् दिवि । तद् वै देवाः अस्पृण्वत । ते एताभिर् उपसद्भिर् उपासीदन् । तद् यद् उपासीदास् तस्माद् उपसदो नाम । ते पुरः प्राभिन्दन्न् इमान् लोकान् प्राजयन् । तस्माद् आहुर् 'उपसदा पुर जयन्ति" इति । "देव तथा असुर, जो दोनों ही प्रजापति की सन्तान थे, आपस में स्पर्धा रखते थे । तब असुरों ने इन लोकों में पुरों का निर्माण किया : इस लोक में एक लोहे का, अन्तरिक्ष में एक चाँदी का, और स्वर्गलोक में एक सुवर्ण का । देवों को इससे ईर्ष्या हुई । तब वे इस उपसद् के साथ निकट बैठे, और उनके इस प्रकार बैठने से 'उपसद्' नाम की उत्पत्ति हुई । उन लोगों ने इन पुरों को ध्वस्त करके इन लोकों को भी जीत लिया । इसी से ऐसा कहा जाता है कि मनुष्य लोग उपसद् से पुरों पर विजय प्राप्त करते हैं ।" इसी स्थल के बाद (३.४,४,१४ में) यह कथन है : वज्रम् एव एतत् संस्करोति अग्निम् अनीक सोम शल्यं विष्णु कुल्मलम् । "इस प्रकार वह वज्र का निर्माण करता है : अग्नि को अनीक बनाता है, सोम को शल्य, और विष्णु को कुल्मल ।"[७६] (देखिये वेबर का इण्ड० स्टू० २.३१० भी)।

ऐतरेय ब्राह्मण (१.२३) में इसी कथा का थोड़ा भिन्न यह रूप मिलता है : देवासुरा वै एषु लोकेषु समयतन्त । ते वै असुराः इमान् एव लोकान् पुरोऽकुर्वत यथा ओजीयांसो बलीयांस । एवं ते वै अयस्मयीम् एव इमाम् अकुर्वत रजताम् अन्तरिक्ष हरिणीं दिवं ते तथा इमान् लोकान् पुरोऽकुर्वत । ते देवा अब्रुवन् "पुरो वै इमेऽसुराः इमान् लोकान् अक्रत । पुरः इमान् लोकान् प्रति करवामहे" इति "तथा" इति । ते सदः एव अस्याः प्रत्यकुर्वत अग्नीध्रम् अन्तरिक्षाद् हविर्धाने दिवस् तथा इमान् लोकान् पुरः प्रत्यकुर्वत । ते देवा अब्रुवन्न् "उपसदः उपायाम उपसदा वै महापुरं जयन्ति" इति "तथा" इति । ते याम् एव प्रथमाम् उपसदम् उपायस् तया एव एनान् अस्माल् लोकाद् अनुदन्त या द्वितीया तयाऽन्यरिक्षाद् या तृतीया तया दिवः । तास् तथा एभ्यो लोकेभ्योऽनुदन्त । "देव तथा असुर दोनों ही साथ-साथ इन लोकों में रहते थे । जैसा कि शक्तिशाली और बलवान लोग करते हैं, असुरों ने भी इन लोकों को पुर बना दिया । इस प्रकार उन लोगों ने इस पृथिवी को एक लोहे का पुर बनाया, अन्तरिक्ष को चाँदी का बनाया, तथा स्वर्ग को सुवर्ण का इस प्रकार उन्होंने इन तीन लोक रूपी

---

[७६] भाष्य में यह कथन है "अनीक" वज्रस्य मुख-प्रदेश । शल्यस् ततः पूर्वो भाग "कुल्मल" तत्पुच्छ-भाग. ।

पुरों का निर्माण किया। देवों ने कहा : 'इन असुरों ने इन लोकों को पुरों के रूप में परिणत कर दिया है। अतः अब हम भी इनके प्रति पुरों का निर्माण करें।' (अन्य देवों ने कहा) 'ऐसा ही हो।' फलस्वरूप इन लोगों ने इस पृथिवी को एक 'सदस्' (बैठने का कक्ष)[५७] बनाया, अन्तरिक्ष से एक अग्नि-वेदिका बनाया, और स्वर्ग से हविर्धान का निर्माण किया। इस प्रकार इन लोगों ने इन लोकों के ये प्रति-पुर बनाये। देवों ने कहा : 'अब हम उपसद बना लें[५८] क्योंकि उपसद द्वारा ही मनुष्य महान पुरों को विजित करते हैं।' (अन्य देवों ने कहा) 'ऐसा ही हो'। प्रथम उपसद द्वारा उन लोगों ने उन्हें (असुरों को) इस पृथ्वी से, दूसरे से अन्तरिक्ष से, तथा तीसरे से स्वर्ग से भगा दिया। इस प्रकार उन लोगों ने असुरों को उन लोकों से भगा दिया।"

इसी अध्याय के २५ वे खण्ड में ऐतरेय ब्राह्मण में यह कथन मिलता है : इषुं वै एतां देवा' समस्कुर्वत यद् उपसदः। तस्याः अग्निर् अनीकम् आसीत् सोमः शल्यो विष्णुस् तेजनं वरुणः पर्णानि। ताम् आज्यधन्वानोऽसृजस् तया पुरो भिन्दन्तः आयन्। "देवों ने उपसद् रूपी इस बाण का निर्माण किया। अग्नि इसका अनीक था, सोम इसका शल्य और विष्णु इसका पर्ण। धनुष के रूप में आज्य का प्रयोग करते हुए उन लोगों इस बाण को छोड़ा तथा पुरों को ध्वस्त करते हुये आगे बढ़े।"

तैत्तिरीय संहिता ६.२,३ में इस कथा का यह रूप मिलता है जहाँ दो अन्य ब्राह्मणों में पृथक् पृथक् मिलनेवाले कथा के दो भागों को एक में मिला दिया गया है :—तेषां असुराणाम् तिस्र. पुर आसन्। अयस्मयी अवमाऽथ रजतऽथ हरिणी। ताः देवाः जेतुं नाशक्नुवन्। ताः उपसदा एव आजिगीषन्। तस्माद् आहुर् "यश चैव वेद यश चन उपसदा वै महापुर जयन्ति" इति। ते इषु समस्कुर्वत आग्निम् अनीकम् सोम शल्य विष्णु तेजनम्। तेऽब्रुवन् "कः इमाम् असिस्यति" इति। "रुद्रः" इत्य् अब्रुवन्। "रुद्रो वै क्रूरः सोऽअस्यत्व्" इति। सोऽब्रवीद् "वरं वृण अवम् एव पशूनाम् अधिपतिर् असानि" इति। तस्माद् रुद्र. पशूनाम अधिपतिः। त रुद्रोऽवासृजत्। स तिस्र पुरो भित्वा एभ्यो लोकेभ्योऽसुरान् प्राणुदत। "इन असुरों के तीन पुर थे : सबसे निचला लोहे का, उसके बाद का चाँदी का और उसके भी बाद सुवर्ण का : देवगण इनको विजित करने में असमर्थ थे। तब उन लोगों ने

---

[५७] यह प्रो० हॉग का अनुवाद है।

[५८] इस अध्याय मे सर्वत्र 'उपसद्' के दो अर्थ हैं, एक 'मोर्चे' का और दूसरा किमी 'कर्म' का। हॉग, ऐत० ब्रा० पृ० ५२।

इन पुरों को उपसद् से प्राप्त करना चाहा। अतः मनुष्य कहते हैं कि 'जो इसे जानते हैं और जो नहीं जानते, वे दोनों ही महान पुर को उपसद् द्वारा जीत लेते हैं।' उन लोगों ने एक बाण का निर्माण किया जिसका अनीक अग्नि को, शल्य सोम को और नोक विष्णु को बनाया।"[५९] उन लोगों ने कहा : 'इस बाण को कौन छोड़ेगा?' उन्होंने कहा कि 'रुद्र, रुद्र क्रूर है अतः वही इसे छोड़ेंगे।' उसने (रुद्र ने) कहा : 'मुझे एक वरदान दो, मुझे पशुओं का अधिपति बनाओ।' इसलिये रुद्र पशुओं का पति है। उसने बाण छोड़ा, और तीनों पुरों का भेदन कर के इन लोकों से असुरों को भगा दिया।"[६०]

अथर्ववेद ५.२८,९ और बाद, में देवों के तीन पुरों का उल्लेख है :—दिवस् त्वा पातु हरितम् मध्यात् त्वा पातु अर्जुनम्। भूम्याः अयस्मयम् पातु प्रागाद् देवपुराः अयम्। इमास् तिस्रो देवपुरास् तास् त्वा रक्षन्तु सर्वतः। "सुवर्णमय स्वर्ग से, रजतमय अन्तरिक्ष से, तथा लौहमय पृथ्वी से तुम्हारी रक्षा करें : यह मनुष्य देवों के पुरों में पहुँच गया। देवों के ये तीन पुर तुम्हारी सदा रक्षा करें।"

एक अन्य स्थल पर असुरों के पुरों की चर्चा है। अथर्ववेद १०.६,१० : तम् बिभ्रच् चन्द्रमाः मणिम् असुराणाम् पुराऽजयद् दानवानां हिरण्मयीः। "उस मणि को लेकर चन्द्रमा ने दनु के पुत्र, असुरों के, हिरण्यमय पुरों को जीत लिया।"

इसी सूक्त का २० वाँ मन्त्र इस प्रकार कहता है : तेर् मेदिनो अङ्गिरसो दस्यूनाम् बिभिदुः पुरस् तेन त्वं द्विषतो जहि। "उनसे (अथर्वणों से) मिलकर अङ्गिरसों ने दस्युओं के पुरों को विदीर्ण किया : इससे तुम अपने शत्रुओं का संहार करो।"

अनेक स्थलों पर दस्युओं का पर्वतों के सन्दर्भ में उल्लेख है। इस प्रकार ऋग्वेद २.१२,११ में हमें ये शब्द मिलते हैं : य. शम्बरम् पर्वतेषु क्षियन्तम् चत्वारिंश्या शरदि अन्वविन्दत्। "चालीसवें शरद में पर्वतों में निवास कर रहे शम्बर को किसने खोजा।" और १.१३०,७ में ये शब्द हैं : भिनत् पुरो नवतिम् इन्द्र पूरवे दिवोदासाय महि दाशुषे नृतो वज्रेण दाशुषे नृतः। अतिथिग्वाय शाम्बरं गिरेर् उग्रो अवाभरत्। महोधनानि दयमानः

५९ भाष्य, पृ० ३९१ 'अनीक' शब्दो बाणस्य प्रथम भाग काण्डम् आचष्टे शल्य-शब्दो लोह तेजन-शब्दस् तद् अग्रम्।

६० महाभारत के अनुशासनपर्व मे इसी कथा का एक अन्य रूप भी देखिये। कर्णपर्व मे यही कथा और विस्तार से वर्णित है।

ओजसा विश्वा धनानि ओजसा। "हे वेगवान् इन्द्र! तुमने पुरु के लिये, और अत्यन्त उदार स्तोता दिवोदास के लिये अपने वज्र से निन्यानवे पुरों को ध्वस्त किया। उस भयंकर देवता ने अतिथिग्व के लिये शम्बर को पर्वत से नीचे फेंक दिया और अपनी शक्ति तथा ओज से प्रचुर सम्पत्ति प्रदान की।" ४.३०,१४ : उत दासं कौलितरम् बृहतः पर्वताद् अधि। अवाहन्न् इन्द्र शम्बरम्। "हे इन्द्र! तुमने कुलितर के पुत्र, दास शम्बर को, महान् पर्वत से नीचे फेंक दिया।" ६.२६,५ : अव गिरेर् दासं शम्बरम् हन् प्रावो दिवोदासम्। "तुमने दास शम्बर को पर्वत से नीचे फेंक दिया, और तुमने दिवोदास की रक्षा की।"

दस्युओं और असुरों की सम्पत्ति की भी अनेक स्थलों पर चर्चा की गई है। १.३३,४ : वधीर् हि दस्यु धनिनं घनेन एकश् चरन्न् उप शाकेभिर् इन्द्र। "हे इन्द्र! तुमने अकेले ही अग्रसर होते हुये अपने घातक अस्त्र से सम्पन्न दस्यु तथा उसके साथियों का वध किया।"[६१] १. १७६, ४ : असुन्वन्तं सम जहि दूणाशं यो न ते मयः। अस्मभ्यम् अस्य वेदन दद्धि सुरिश् चिद् ओहते। "उन सबका वध करो जो हवि नहीं देते, यद्यपि उन्हें नष्ट करना कठिन है, तथापि उनका वध करो जो तुम्हें प्रसन्नता प्रदान नहीं करते; हमें उनकी सम्पत्ति दो : स्तोता तुमसे ऐसी आशा करता है।" २.१५,४ : स प्रवोलहन् परिगत्य दभीतेर् विश्वम् आधाग् आयुधम् इद्धे अग्नौ। स गोभिर् अश्वैर् असृजद् रथेभिः। "दभीति को उठा ले जानेवाले असुरों को चारों ओर से घेर कर उसने उनके समस्त अस्त्रों को प्रज्वलित अग्नि में दग्ध कर दिया और उसे गायें, अश्व तथा रथ प्रदान किये।" ४.३०,१३ : उत शुष्णस्य धृष्णुया प्रमृक्षो अभि वेदनम्। पुरोवद् अस्य सम्पिणक्। "जब तुमने शुष्ण के पुरों को विदीर्ण किया तब उसकी सब सम्पत्ति को साहसपूर्वक उठा ले गये।" ८.४०,६ : अपि वृश्च पुराण-वद् व्रततेर् इव गुष्पितम्। ओजो दासस्य दम्भय। वयं तद् अस्य सम्भृतं वसु इन्द्रेण विभजेमहि। "पूर्व समय की भाँति लता से युक्त वृक्ष के समान उसे उखाड़ दो, दास की शक्ति का दमन करो, इन्द्र की सहायता से हम उसकी सम्पत्ति का विभाजन करें।" १०६९,६ : सम् अजया पर्वत्या वसूनि दासा वृत्राणि आर्या जिगेथ। "तुमने सम्पत्तियों को जीत लिया, चाहे वे भूमि पर रही हों या पर्वतों पर; तुमने दास और आर्य शत्रुओं को जीत लिया।"

---

[६१] इस मन्त्र पर सायण ने यह टिप्पणी की है : "वृत्रस्यान्त सर्वे देवाः सर्वाश्च विद्या सर्वाणि हर्विषि च आसन्।"

नीचे दिये तथा अनेक अन्य स्थलों पर, विभिन्न दस्युओं अथवा कम से कम विरोधियों का उनसे मुक्त कराये गये व्यक्तियों के साथ नामोल्लेख मिलता है। ऋग्वेद १.५१,६ : त्वं कुत्सं शुष्णहत्येषु आविथ अरन्धयो अतिथिग्वाय शम्बरम्। महान्तं चिद् अर्बुदं न्यक्रमीः पदा सनाद् एव दस्युहत्याय जज्ञिषे। "शुष्ण के विरुद्ध युद्ध में तुमने कुत्स की रक्षा की; तुमने शम्बर को अतिथिग्व के अधीन किया, तुमने महान अर्बुद को पाँव से रौंदा, पुरातन समय से ही तुम्हारा दस्युओं को नष्ट करने के लिये जन्म हुआ है।"[६२] ७.१९,२ : त्वं हि त्यद् इन्द्र कुत्सम् आवः शुश्रूषमाणस तन्वा समर्ये। दास यत् शुष्ण कुयवं नि अस्मै अरन्धयः आर्जुनेयाय शिक्षन्। "हे इन्द्र! तब तुमने युद्ध में कुत्स की रक्षा की, अर्जुन के उस पुत्र पर कृपा करते समय तुमने अपने शरीर से दास शुष्ण और कुयव को उसके अधीन किया।"[६३] १.५३,८ : त्वं करञ्जम् उत पर्णयं वधीस् तेजिष्ठया अतिथिग्वस्य वर्तनी। त्वं शता वङ्गृदस्य अभिनत् पुरो अनानुदः परिषूताः ऋजिश्वना। ९. त्वं एतान जन-राज्ञो द्विर्दश अबन्धुना सुश्रवसा उपजग्मुषः। षष्टिं सहस्रा नवतिं नव श्रुतो नि चक्रेण रथ्या दुष्पदा अवृणक्। १० त्वं आविथ सुश्रवस तवोतिभिस् तव त्रामभिर् इन्द्र तूर्वयाणम्। त्वं अस्मै कुत्सम् अतिथिग्वम आयुम् महे राज्ञे यूने अरन्धनायः॥ "तुमने करञ्ज और पर्णय को अतिथिग्व के चमकते भाले से मारा। हे अनतवीर, तुमने वंगृद के उन सौ पुरों को नष्ट किया जिसको ऋजिश्वन् ने अवरुद्ध किया था। ९. हे प्रख्यात इन्द्र, तुमने अपने द्रुतगामी रथ-चक्रों से मनुष्यों के उन बीस राजाओं को उनके साठ हज़ार निन्यानवे अनुचरों सहित पराभूत किया। १०. तुमने अपनी सहायता से सुश्रवस् की और तूर्वयाण की रक्षा की। इस शक्तिशाली और युवा राजा के लिये तुमने कुत्स, अतिथिग्व, और आयु को जीता।"[६४]

---

[६२] इस मन्त्र के प्राय ठीक बाद १ ५१,८ आता है जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है।

[६३] ऋग्वेद ४ २६,१ मे भी कुत्स को अर्जुन का पुत्र कहा गया है। कुन का विचार है कि कुत्स विद्युत् का मूर्तीकरण है। आपके अनुसार इसके पितृनाम 'आर्जुनि' से भी इसी बात की पुष्टि होती है क्योकि अर्जुन, इन्द्र की तथा वज्र की एक उपाधि है। देखिये कुगो० ५७-६२, ६५, १४०, १७६। देखिये बॉटलिङ्क और रॉथ के कोश मे यह शब्द। कुयव का १.१०४,३ मे भी उल्लेख है "क्षीरेण स्नात कुयवस्य योषे, हते ते स्याताम् प्रवणे शिफाया"। "कुयव की दो पत्नियाँ जलो मे स्नान करती है, वे शिफा नदी मे डूब जाँय।"

[६४] इस अन्तिम मन्त्र मे उल्लिखित युवा राजा जिसे रॉथ (कोश मे

२.३०,८ : सरस्वति त्वम् अस्मान् अविड्ढि मरुत्वती धृषती जेपि शत्रून्।
त्य चिन् शर्धन्तं तविषीयमाणम् इन्द्रो हन्ति वृषभं शण्डिकानाम्।
"हे सरस्वती ! हमारी रक्षा करो; हे वेगवान ! मरुतों से सेवित होकर तुम हमारे शत्रुओं पर विजय प्राप्त करती हो। अपनी शक्ति का परिचय देते हुये इन्द्र उद्दण्ड शण्डिकों के प्रधान को नष्ट करते हैं।"[६] ४.३०,१५ : उन

अनिथिग्व के अन्तर्गत) तूर्वयाण मानते हैं। फिर भी, वही तूर्वयाण भी देखिये। वेनफे (ओर० उण्ट ऑक्सीडेण्ट, १४१३) के अनुसार यह सुश्रवम् है। ये नाम ऋग्वेद ६ १८,१३ मे पुन आते हैं। कुत्स की कभी इन्द्र सहायता करते हैं (ऋग्वेद १ ६३,३, १ १२१,९, ४ १६ १२; १० ९९,९), और कभी उसे पराभूत करते है (२.१४,७; ४ २६,१, ६ १८,१३, वाल० ५ २)।

[६५] सायण का यह कहना है "शण्डामर्काव् असुरपुरोहितौ। "शण्ड और मर्क असुरो के पुरोहित है।" तैत्तिरीय सहिता ६ ४,१० १ मे इनकी कथा देखिये जहाँ ये सायण के मत के अनुरूप, पुरोहित ही हैं। शतपथ ब्राह्मण ४ २, १,५, मे कथा का कुछ भिन्न रूप है "यत्र वै देवा असुर-रक्षसानि अपजघ्निरे तद् एताव् एव न शेकुर् अपहन्तुम्। यद् ह स्म देवा किञ्च कर्म कुर्वते तद् ह स्म मोहयित्वा क्षिप्रे एव पुनर् अपद्रवत । ६. तेह देवा ऊचु. "उपजानीत यथ इमाव् अपहनामहे" इति। ते ह ऊचु "ग्रहाव् एव आभ्याम् गृह्णामताव् अभ्यवैष्यत । तौ स्वीकृत्य अपहनिष्यामहे" इत। ताभ्या ग्रहौ जगृहु । ताव् अभ्यवैताम्। तौ स्वीकृत्य अपघ्नत। तस्मात् शण्डामर्काभ्या गृह्येते देवताभ्यो ह्यते।" "जब देवो ने असुरो और राक्षसो का सहार किया, तब वे इन दो (शण्ड और मर्क) का सहार नही कर सके। जब देवगण कोई यज्ञ करते थे तब ये दो आकर उसमे विघ्न डालकर शीघ्रतापूर्वक भाग जाया करते थे। ६ देवो ने कहा · 'हम विचार करें कि हम इनका कैसे वध करें।' अन्य देवो ने कहा 'हम इनके लिये दो गण्डूप तैयार करें, और जब ये उतरे तब हम इनको पराजित करके मार डालें।' तब उन लोगो ने इनके लिये हवियाँ तैयार की। ये उतरे। तब देवो ने इनको पराजित करके इनका वध कर दिया। इसीलिये शण्ड और मर्क के नाम के दो गण्डूषो का निर्माण किया जाता है किन्तु उन्हे देवो को समर्पित कर दिया जाता है।" शतपथब्राह्मण १ १,४,१४ में किलात और आकुलि को असुरो का पुरोहित कहा गया है . किलाताकुली इति ह असुर-ब्रह्माव् आसतु । इण्डिशे स्टूडियन मे वेवर पचविंश ब्राह्मण १३ ११ से ये शब्द उद्धृत करते हैं गौपावनानाम् वै सत्रम् आसीनानाम किराताकुल्याद् असुरमाये' इत्यादि। महाभारत १ २५४४ के अनुसार

दासस्य वर्चिनः सहस्राणि शताऽवधीः । अधि पञ्च प्रधीन् इव । २१. अस्वापयद् दभीतये सहस्रा त्रिंशत हथैः । दासानाम् इन्द्रो मायया । 'चक्र के चारों ओर स्थित शत्रु के समान दासवर्चिन के चारों ओर स्थित पाँच सौ और सहस्र सहस्र दासों का तुमने वध किया।[६] २१. इन्द्र ने अपनी अलौकिक शक्ति के द्वारा अपने अस्त्रों से दभीति के लिये तीस सहस्र दासों का निद्रित कर दिया।" ५.३०,७ अत्र दासस्य नमुचेः शिरो यद् अवर्तयो मनवे गातुम इच्छन । ९. स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे किं मा करन्न अबला अस्य सेना । अन्तर् हि अख्यद् उभे अस्य धेने अथ उप प्रैद् युधये दस्युम इन्द्र । "जब मनु की समृद्धि का आयोजन करते हुये तुमने दास नमुचि[७] का मस्तक काट दिया, ९. तब उस दास ने अपनी पत्नियों को अस्त्र के साथ ले लिया। ये निर्बल सैनिक मेरा क्या कर सकते हैं ? उन्होंने (इन्द्र ने) उनकी दो स्त्रियों को छिपा दिया, और फिर दस्यु से युद्ध के लिये उपस्थित हुये।" ८.३२,२६ अहन् वृत्रम् ऋचीषम और्णवाभम् अहीशुव हिमेन अविध्यद् अर्बुदम् । "इन्द्र ने वृत्र, और्णवाभ, तथा अहीशुव का वध किया : उन्होंने हिम से अर्बुद को बींध दिया।" ८.४०,१० . यः ओजसा शुष्णस्य अण्डानि भेदति जेषत् स्वर्वतीर् अपः । "कौन अपनी शक्ति से शुष्ण के अण्डों को चूर्ण करता है, उसने दिव्य जलों को जीत लिया।" १०.५४,१ प्राया देवान् आतिरो दासम् ओजः प्रजायै त्वस्यै यद् अशिक्ष इन्द्र । "हे इन्द्र ! तुमने देवों की रक्षा की, तुमने दस्युओं की शक्ति पर विजय प्राप्त की, तुम हमारी रक्षा करते हो।" १०.७३,७ : त्वं जघन्थ नमुचिम् मखस्युं दासं कृण्वान ऋषये विमायम् । "तुमने पराक्रमी नमुचि का वध किया, और दासों को ऋषि बनने की शक्ति से रहित किया।"[१८] १०.९५,७ यत् त्वा पुरूरवो रणाय अवर्धयन् दस्युहत्याय देवाः । "जब, हे पुरूरवा, देवों ने दस्युओं से युद्ध करने के लिये तुम्हें शक्तिशाली बनाया।"

उशनस् काव्य भृगु का पुत्र (भृगु का पुत्र) असुरों का उपाध्याय था और इसी से भार्गव पुत्र कहलाता था। उसी पर्व के ३१८८ में उशनस् और अङ्गिरस की कथा का उल्लेख है। तैत्तिरीय सं० १५,८,५ के अनुसार उशनस् काव्य असुरों का पुरोहित था।

[१६] देखिये ऋग्वेद ७.१९,५ भी।

[१७] शतपथ ब्राह्मण ५.४,१,९ में इन्द्र, और असुर नमुचि की, एक कथा मिलती है।

[१८] देखिये बेनफि . ग्लॉसरी टु सामवेद में 'नमुचि' शब्द ।

मैंने दस्युओं और असुरों के नामों के ऋग्वेद के उल्लेखों का उदाहरण इस दृष्टि से दिया है कि हम यह जान सकें कि इनमें से किसी को अनार्य अथवा भारत का आदिवासी कहा जा सकता है या नहीं, किन्तु मुझे एक भी ऐसा नहीं मिला। किन्तु हमें यह स्मरण करना चाहिये कि आर्यो ने आदिवासी नेताओं को आर्य नामों अथवा आर्य नामों जैसे रूपों मे परिणत करके अस्वाभाविक रूप में व्यक्त नहीं किया होगा। यूनानियों ने पर्शियन तथा अन्य व्यक्तिवाचक नामों में यूनानी परिवर्तन ला दिये, और डेनियल की पुस्तक मे ऐसा कहा गया है कि चाल्डियनों ने यहूदियों को चाल्डियन नाम दे दिये।

कुछ स्थलों पर दस्युओं को असुर कहा गया है।[६९] इस प्रकार २.१४,४ में यह कथन मिलता है : य' उरणं जघान नव चखवांस च बाहून्। यो अर्बुदम् अव नीचा बबाधे। "किसने निन्यानव बाहुओं को धारण करके उरण का वध किया; किसने अर्बुद को मारा,' इत्यादि। १० ९९,६ : स इद् दासं तुविरवम् पतिर् दन् षडक्ष त्रिशीर्षाणं दमन्यत्। अस्य त्रितो नु ओजसा वृधानो विपा वराहम् अयोअग्रया हन्। "इस देवता ने ज़ोर-ज़ोर से चिल्लानेवाले तीन मस्तकों तथा छः आँखों से युक्त दास का दमन किया।[७०] शक्ति में वृद्धि को प्राप्त होते हुये तृत ने अपने लौहाग्र अस्त्र से इस वराह का वध किया।" कुछ स्थलों पर इन्द्र के शत्रुओं को आकाश में आरोहण करने वाला कहा गया है। २.१२,१२ : यो रौहिणम् अस्फुरद् वज्रबाहुर् द्याम् अरोहन्त स जनासः इन्द्रः। "हे मनुष्यो! वह इन्द्र था, जिसने वज्र से आकाश में आरोहण कर रहे रौहिण का वध किया।" ८.१४,१४ : मायाभिर् उत्सिसृप्सतः इन्द्र द्याम् आरुरुक्षतः अव दस्यून् अधूनु था। "हे इन्द्र! तुमने उन दस्युओं को नीचे फेंक दिया जो अपनी मायावी शक्ति से ऊपर चढ़ते हुये आकाश का आरोहण करने का प्रयास कर रहे थे।"[७१] २.१२,२ में यह

---

[६९] अथर्ववेद १८.२,२८ मे दस्यु अवश्य ही दुष्टात्मायें हैं "ये दस्यव पितृषु प्रविष्टा" इत्यादि। इन्हे 'परापुरः' और 'निपुर' कहा गया है जिसको वाज० स० २ ३० के भाष्यकार ने स्थूल और सूक्ष्म कायायें बताया है। इस स्थल पर 'दस्यु' के स्थान पर 'असुरा' का प्रयोग हुआ है। देखिये अथर्ववेद १० ३,११ भी जहाँ इन्हें असुरो से समीकृत किया गया है 'इन्द्रो दस्यून् इव असुरान्।'

[७०] शतपथ ब्राह्मण मे तीन मस्तक तथा छ नेत्रोवाले त्वष्टा के एक पुत्र का उल्लेख है जिसके तीनो मस्तको को इन्द्र ने काट दिया।

[७१] १.७८,४ मे ये शब्द आते हैं "यो दस्यून् अव धूनुषे।'

कहा गया है कि दस्यु अपने को अमर मानते थे : सूनों महीर इन्द्र या: अपिन्व परिष्ठिता' अहिना शूर पूर्वी । अमर्त्य चिद् दासन् मन्यमानम् अवाभिनद् उक्थैर् ववृधान । "हे वीरकर्मा इन्द्र ! जब अहि ने जलों को रोक दिया तब तुमने उन्हें प्रवाहित करके प्रचुर जल दिया। सूक्तों से समृद्ध होकर उसने उन दासों को छिन्न-भिन्न किया जो अपने को अमर मानते थे।" ५.७,१० में दस्युओं को मनुष्यों के साथ सम्बद्ध किया गया है : आद् अग्ने अप्रणतोऽत्रि' सासह्याद् दस्यून् इष: सासह्याद् नॄन । "हे अग्ने ! अब अत्रि अनुदार दस्युओं पर विजय प्राप्त करें, इष मनुष्यों पर विजय प्राप्त करें।"

इस प्रकार इस खण्ड में अनेक प्रकार के ऐसे स्थलों का अध्ययन किया गया है जिनमें आर्यों द्वारा विभिन्न क्षेत्रों पर विजय प्राप्त करने, तथा दस्युओं की स्थिति, उनके वर्ण, उनकी बोली, और उनके धार्मिक संस्कारों का सन्दर्भ है या माना जा सकता है। फिर भी, इनमें से अधिकांश स्थलों का, जैसा कि हम देख चुके हैं, अर्थ अत्यन्त सन्दिग्ध है, और इनमें से कुछ का स्वरूप सर्वथा पुराकथाशास्त्रीय है। उदाहरण के लिये, ऐसे स्थल वे हैं जिनमें वर्षा को अवरुद्ध करनेवाले मेघों के असुर, वृत्र, के साथ इन्द्र के युद्ध का वर्णन है। ऐसे स्थलों पर, इसमें सन्देह नहीं कि, हमें देवता तथा उसके विपक्षी दोनों को अन्तरिक्षीय घटनाओं का मूर्तीकरण मानना चाहिये। इसी प्रकार, शम्बर, शुष्ण, और नमुचि को भी वृत्र के ही समान पुराकथात्मक व्यक्तित्व मानना चाहिये। और अनेक स्थल ऐसे भी हैं जहाँ वृत्र से सामान्य रूप से शत्रु मात्र का तात्पर्य है (जैसे ऋग्वेद ६ ३३,३, ६.६०,६, ७.८३,१)। जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रो० स्पीगल का यह मत है कि 'वृत्रहन्' शब्द का मूलत एक सामान्य से अधिक और कोई तात्पर्य नहीं था, और एक बाद के समय में ही यह इन्द्र की एक विशेष उपाधि बन गया। पुन', जैसा कि बेनफे का विचार है (ग्लॉसरी टु साम० पृ० १८१), शम्बर शब्द को निघण्टु में 'मेघ' (१.१०), 'उदक' (१. १२), और 'बल' (२.९) का पर्यायवाची माना गया है; जब कि पौराणिक वृत्तान्तों में इसे सामान्यतया वृत्र के साथ समीकृत किया गया है। इस शब्द के सम्बन्ध में प्रो० रॉथ (लि० ऐण्ड हि० ऑफ दि वेद, पृ० ११६) में इस प्रकार टिप्पणी करते हैं: "जिन स्थलों पर दिवोदास की चर्चा है वहाँ देवों द्वारा इसे (दिवोदास को) शम्बर से मुक्त कराये जाने का उल्लेख है, जैसे ऋग्वेद १.११२, १४, ९ ६१,२। यह सत्य है कि एक बाद के समय में 'शम्बर' सामान्य रूप से शत्रु मात्र का तथा विशेष रूप से इन्द्र-शत्रु वृत्र का द्योतक है, किन्तु यह भी असम्भाव्य नहीं कि यह एक अत्यन्त भयानक और

बहुत बड़े शत्रु, मेघ रूपी असुर की, एक और प्राचीन स्मृति का रूपान्तरण मात्र हो।" (फिर भी, देखिये ऊपर पृ० ४६८)।

प्रो० मूलर (लास्ट रेजल्ट्स ऑफ दि तूरानियन रिसर्चेज, पृ० २४४ और बाद) दस्यु, राक्षस, यातुधान, इत्यादि शब्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में यह टिप्पणी करते हैं: "दस्यु का अर्थ केवल शत्रु है, उदाहरण के लिये तब, जब इन्द्र की इसलिये स्तुति की गई है कि 'उसने दस्युओं को नष्ट करके आर्य-वर्ण की रक्षा की।'[72] वेद में 'दस्युओं' से अनेक सूक्तों में अनार्य जातियों का तात्पर्य हो सकता है, फिर भी, यह तथ्य मात्र कि कुछ जातियों को कुछ राजाओं अथवा पुरोहितों का शत्रु कहा गया है, उन जातियों का वर्वर होना सिद्ध नहीं करता। स्वयं वसिष्ठ को भी, जो एक विशिष्ट आर्य ब्राह्मण है, विश्वामित्र ने युद्ध के समय न केवल एक शत्रु ही वरन् यातुधान तथा अन्य ऐसे नामों से पुकारा गया है जिनका साधारण रूप से केवल वर्वर असभ्यों तथा दुष्टात्माओं के लिये प्रयोग होता है।" (प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम भाग भी देखिये जहाँ इस प्रकार के स्थलों तथा उनके अनुवादों को दिया गया है)। अन्य स्थलों (ऋग्वेद के) पर 'रक्षस्' शब्द का स्पष्टतः वर्वर राष्ट्रों के लिये प्रयोग किया गया है। मूलतः रक्षस् का अर्थ शक्तिशाली और बलवान् था, किन्तु शीघ्र ही इससे वर्वर और राक्षस का आशय भी संयुक्त हो गया,[73] तथा वेद में यातुधान के साथ यह इसी आशय में आता है। आर्यों के देश में निवास करने वाली जंगली जातियों के लिये प्रयुक्त एक अन्य वैदिक विशेषण 'अनग्नित्र' है। उदाहरण के लिये हमें ये शब्द मिलते हैं: "हे अग्नि! उन शत्रुओं को हमसे दूर भगाओ जो अनग्नित्र हैं और हमपर आक्रमण करने आये हैं। हे पवित्र देवता, समस्त अमरों के साथ पुनः पृथ्वी पर आकर हमारी हवियों को ग्रहण करो।"[74] इन्हीं जातियों को 'क्रव्याद्' अथवा मांस-भक्षी भी कहा गया है।

---

[72] [यह स्थल (३ ३४,९) मुझे ऐसे स्थलों में से एक प्रतीत होता है जिनमे आर्यों तथा आदिवासियो के बीच अत्यन्त स्पष्टता के साथ विभेद किया गया है।—लेखक]

[73] रेव० डा० विलसन (इण्डिया थ्री थाउजेण्ड यीयर्स एगो, पृ० २०) का विचार है कि राक्षस, पिशाच, और असुर शब्द मूलत. जातियो के नाम थे, परन्तु न तो आप इस सम्बन्ध मे कोई प्रमाण देते है और न मुझे ही कोई मिल सका है।

[74] ऋग्वेद १ १८९,३ अग्ने त्वम् अस्मद् युयोधि अमीवा अनग्नित्रा अभ्यमन्त कृष्ठी। पुनर् अस्मभ्यन् सुविताय देव क्षाम् विश्वेभिर् अमृतेभिर् यजत्र।

वसिष्ठ के एक प्रसिद्ध सूक्त में ये शब्द मिलते हैं : " हे इन्द्र और सोम ! राक्षसों को दग्ध करो, उन्हें नष्ट करो, उन्हें नीचे फेंक दो, हे वृषभो ! उन्हें नष्ट करो जो अन्धकार में विकसित होते हैं। पागलों को नीचे फेंको, उन्हें त्रस्त करो, उनका संहार करो, और उन क्रव्यादों का वध करो। हे इन्द्र और सोम ! शाप देनेवाले राक्षस के विरुद्ध उठो, वह अग्नि में डाली गई हवि के समान फुफकराता हुआ दग्ध हो, तुम उसे नित्य घृणा करो जो ब्राह्मणद्वेषी है, जो मांस भक्षण करता है, और जो देखने में अत्यन्त भयंकर है।"[७५] क्रव्याद् से उन लोगों का तात्पर्य है जो मांस भक्षण करते हैं। इन्हें 'आमाद' (कच्चा-मांस खानेवाले) भी कहते हैं, क्योंकि सभ्य राष्ट्र के लोग पका मांस खाते थे और अक्सर इसे यज्ञीय प्रकृति से संयुक्त किया गया है। अग्नि, जो कि यज्ञ-रूप और इसके साथ सभ्यता तथा सामाजिक गुणों के भी प्रतिनिधि हैं, क्रव्याद् के रूप में एक सर्वथा भिन्न प्रकृति से युक्त हैं। इन्हें उतने ही घृणित रूप में व्यक्त किया गया है जितने वे लोग घृणित हैं जिनका भक्षण करने के लिये

---

[७५] [ऋग्वेद ७ १०४, १ २ इन्द्रा-सोमा तपतम् रक्ष उब्जतम् नि अर्पयतम् वृषणा तमोवृध'। पराशृमीतम् अचितो नि ओषतम् हतम् नुदेथाम् नि शिशीतम् अत्रिण । इन्द्र सोमा मम अवशसम् अभ्य् अघम् तपुर् ययस्तु चरुर् अग्निवान् इव। ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तन् अनवायम् किमीदिने। इसी समान भावो को वसिष्ठ के प्रतिद्वन्द्वी, विश्वामित्र ने भी ऋग्वेद ३ ३०, १५-१७ मे इस प्रकार व्यक्त किया है "इन्द्र दह्य यामकोशा अभूवन् यज्ञाय शिक्ष ग्रिणते सखिभ्य । दुर्मायवो दुरेवा मर्त्यासो निषङ्गिणो रिपवो हन्त्वाम । सम् घोष सृण्वे अवमैर् अमित्रैर जहि नि एषु अशनिम् तपिष्ठाम् । वृश्च ईम् अवस्ताद् वि रुज सहस्व जहि रक्षो मघवन् रन्धयस्व। उद्वृह रक्ष सहमूलम् इन्द्र वृश्च मध्यम् प्रति अग्रम् श्रिणीहि । आ कीवत सललूकम् चकर्थ ब्रह्मद्विषे तपुषिम् हेतिम् अस्य। "हे इन्द्र ! शक्ति धारण करो। राक्षसो ने पथ को रोक दिया है यज्ञ पर, और अपने स्तोता तथा उसके सखाओ पर कृपा करो, तरकस लिये हुये मायावी और अधम मर्त्य शत्रुओ को नष्ट करो। हमारे निकटतम शत्रुओ की एक ध्वनि सुनी गई है, उनपर अपना तप्त वज्र फेंको, उन्हे नीचे से काट दो, उन्हे छिन्न-भिन्न करो, उन्हे पराजित करो। हे मघवन् ! राक्षसो का दमन तथा वध करो। हे इन्द्र ! उनको समूल नष्ट करो, उन्हे बीच से काटो, उन्हे सीमाओ पर ही नष्ट कर दो। तुम और कितनी देर करोगे ? स्तोताओ के शत्रुओ पर अपने जलते हुये वज्र से प्रहार करो।" देखिये रॉथ इलस्ट्रे० आफ निरुक्त, ६ ३, पृ० ७२ ।—लेखक]

इनका आवाहन किया गया है। ये अपने दो लौह दाँतों को तीक्ष्ण करते हैं, अपने शत्रुओं को मुख में रखकर उनका भक्षण कर जाते हैं [ऋग्वेद १०.८७,२ और बाद]। यह अपने अस्त्र की नोक को तप्त करते हैं और उससे राक्षसों के हृदय को बींध देते है। यह उनके चर्मों को फाड देते हैं, उनके अंगों को तोड-मरोड देते हैं, और उन्हें या तो भेड़ियों के भक्षण के अथवा गृध्रों के भक्षण के लिये फेंक देते हैं। स्वयं इन राक्षसों को 'अचिता.' और 'मूरदेवा.' कहा गया है।[७६] इतना ही नहीं, इन पर मानव भक्षी होने का व्यंग किया गया है और इन्हें 'असुतृपा.' कहा गया है। ऋग्वेद (१०.८७,१६) में हम उन यातुधानों के सम्बन्ध में पढ़ते हैं जो "मनुष्यों अथवा अश्वों के रक्त-युक्त मांस का भक्षण करते हैं और गायों के दूध को चुरा लेते हैं। 'हे अग्नि! अपने अग्निमय खड्ग से इनके मस्तकों को काट दो।" ये सभी विशेषण आक्रामक, तथा अधिक सम्भवतः आदिवासी जातियों के लिये व्यवहृत हुये हैं, किन्तु ये इतने सामान्य हैं कि इनसे कोई जातीयता सम्बन्धी निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं। वैदिक ऋषि निश्चित रूप से आर्य और अनार्य शत्रुओं में विभेद करते हैं। देवों से आर्य, तथा साथ ही साथ, बर्बर शत्रुओं को नष्ट करने की स्तुति की गई है (दासा चवृत्रा हतम् आर्याणि च), और अक्सर हमें ये उक्तियाँ मिलती हैं: 'हमारे आर्य शत्रुओं को, हमारे दास शत्रुओं को मारो; हे देवता, हमारे शत्रुओं का वध करो।' किन्तु किसी ऐसी दैहिक विशिष्टता का उल्लेख नहीं है जैसा बाद के लेखकों में है। एक मात्र अभिव्यक्ति, जिसकी इस अर्थ में व्याख्या की जा सकती है, 'सुशिप्र' है जिसका आर्य देवों के लिये प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ 'सुन्दर नासिकावाला' है। यतः मनुष्य में अपने उन गुणों को, जिन पर उसे गर्व होता है, देवों पर स्थानान्तरित कर देने की प्रवृत्ति होती है, और यतः वह तुलना के अतिरिक्त और किसी भी प्रकार स्वयं अपने श्रेष्ठ गुणों से अवगत नहीं हो पाता, अतः हम यह मान सकते हैं कि इन्द्र की सुन्दर नासिका की कल्पना का संकेत आदिवासी जातियों की चपटी

[७६] [इससे कहीं अधिक निन्दापूर्ण विशेषण, 'शिश्नदेव' भी, प्रत्यक्षतः ऋग्वेद ७ २१,५, और १० ९९,३, में इसी वर्ग के लिये व्यहृत हुआ है। इनमें से प्रथम स्थल इस प्रकार समाप्त होता है "मा शिश्नादेवा अपिगुर् ऋतम् न।" यास्क ने (निरुक्त ४ १९ में) 'शिश्नदेव' की 'अब्रह्मचर्य' के रूप में व्याख्या की है। गॉथ (इल० टु नि०, पृ० ४७) का विचार है कि यह शब्द कामुक दानवों के लिये प्रयुक्त घृणासूचक विशेषण है। द्वितीय स्थल (१० ९९, ३) की अन्तिम ऋचा इस प्रकार है. "अनर्वा यत शतदुरस्य वेदो घ्नन् शिश्नदेवान् अभिवर्पसा भूत्।" प्रस्तुत ग्रन्थ का चौथा भाग भी देखिये।

नासिका से ही मिला होगा। भारत में चपटी अथवा नासिका-रहित जातियों का सिकन्दर के साथियों ने उल्लेख किया है, और ऋग्वेद के सूक्त में यह कहा गया है कि मनु ने 'वि-शिशिप्रों' (पदपाठ : विशि-शिप्र) को जीता। यहाँ विशिशिप्र का 'नासिका रहित' अनुवाद किया जा सकता है। दास अथवा बर्बरों को भी वेद में 'वृषशिप्र' कहा गया है जिसका अर्थ 'बकरे अथवा वृषभ जैसी नासिका वाला' हो सकता है। 'अनासाः' शत्रु, जिनका इन्द्र ने अपने अस्त्र (ऋग्वेद ५.२९,१ १०) से वध किया, सम्भवतः नासिका रहित (अ + नासम्) थे, न कि, जैसा कि भाष्यकार मानता है, मुख विहीन (अन् + आसम्)।"

तदुपरान्त प्रो० मूलर आगे यह टिप्पणी करते हैं कि आदिवासी जातियों की दैहिक विशेषताओं का पुराणों में अधिक स्पष्टता से वर्णन किया गया है। (प्रस्तुत कृति का प्रथम भाग और भागवत पुराण का वह स्थल भी देखिये जिसे आगे उद्धृत किया गया है)।

सम्भवतः हम इन सूक्तों की अभिव्यक्तियों और उल्लेखों को, तथा उस प्रणाली को जिसके अनुसार कुछ शब्दों तथा उपाधियों को (विभिन्न वर्ग के प्राणियों, मानवों, या असुरों के लिये प्रायः विवेकहीनता के साथ) व्यवहृत किया गया है, हम उस समय और अच्छी तरह समझ सकते हैं यदि हम सर्वप्रथम उस स्थिति का पता लगा लें जिसमें आर्यों ने बसने के समय आदिवासियों के सन्दर्भ में अपने को पाया, और दूसरे, यदि हम यह भी विचार करें कि जिन सूक्तों में ये शब्द प्रयुक्त हुये हैं, उनकी रचना भी अनेक शताब्दियों की अवधि में विभिन्न कालों में हुई थी, यह कि वही शब्द बार-बार विभिन्न सूक्तों में आते हैं, और यह कि किसी पहले के सूक्त में किसी आशय विशेष में व्यवहृत शब्द एक बाद की कृति में एक भिन्न वर्ग के प्राणियों के लिये भी स्थानान्तरित हो गया हो सकता है। हमें यह भी स्मरण करना चाहिये कि सूक्त एक पूर्ण रूप में ही सदैव संचरित नहीं हुये होंगे, और अलग-अलग कृतियों के अंशों को, जिनका मूलतः एक भिन्न विषय और उद्देश्य रहा हो सकता है, बाद के युगों के रचनाकारों ने भूल से एक साथ रख दिया होगा। इनमें से प्रत्येक सम्भावनाओं पर अनुमान के रूप में मैं कुछ शब्द कहूँगा।

प्रथम.—हम यह कल्पना करें कि सिन्धु नदी की ओर से दक्षिण-पूर्वी दिशा में आगे बढ़ते हुये आर्यों ने सम्भवतः एक वनाच्छादित प्रदेश में प्रवेश किया जो ऐसी असभ्य जातियों के अधिकार में था जो भोंडी झोपड़ियों में रहते और वनों के प्राकृतिक पदार्थों, अथवा शिकार और मछलियों पर, या थोड़ी-बहुत कृषि पर जीवन-यापन करते थे। ये असभ्य और बर्बर लोग काले

रंग के तथा कुछ भोंड़ी आकृतिवाले थे। ये आर्यों से सर्वथा पृथक् बोली बोलते थे, इनकी धार्मिक उपासना-पद्धति आर्यों से सर्वथा भिन्न थी, और इनमें (हम सरलता से यह मान सकते हैं) अधिक सभ्य उन आर्य-आक्रामकों के प्रति तीव्र रोष रहा होगा जो इन्हें इनके प्राचीन आवासों से बहिष्कृत करते हुये आगे बढ़ रहे थे। इस बीच आर्यों ने, जो प्रगति करते हुये अपने को क्रमशः आदिवासियों के वनों, खेतों, और ग्रामों में स्थापित करते चल रहे थे, सहसा ही अपनी स्थिति सुदृढ़ करने में सफलता प्राप्त नहीं कर ली होगी। उन्हें अपने शत्रुओं के आक्रमणों का सदैव सामना करते रहना पड़ा होगा जो उन लोगों पर आक्रमण करने के प्रत्येक अवसर से लाभ उठा कर उन्हें त्रस्त करते रहे होंगे।[७७] काला वर्ण, भयंकर कुरूपता, बर्बर आदतें, कर्कश वाणी, तथा इन दस्युओं द्वारा आर्य बस्तियों पर किये गये बर्बर तथा आकस्मिक आक्रमणों ने, जो दुर्भेद्य वनों[७८] से और रात्रि के अन्धकार में किये जाते थे, आर्यों को अपनी सभ्यता के प्रथम स्तर पर इनके सम्बन्ध में अत्यन्त काल्पनिक और लाक्षणिक वर्णन करते हुये इन्हें प्रेतात्मायें और राक्षस आदि कहने के लिये मार्ग प्रशस्त किया होगा।[७९] इस प्रकार आर्यों ने अपने इन छिपे आक्रामकों को अभिचारीय तथा मानवेतर शक्तियों से युक्त, अथवा राक्षसों और दानवों के नेतृत्व में आक्रमण करनेवाला तक समझ लिया हो सकता है। आधुनिक

---

[७७] विलसन, ऋग्वेद भाग १, इण्ट्रो० पृ० xlii। प्रस्तुत ग्रन्थ का पाँचवाँ भाग भी देखिये।

[७८] ऋग्वेद मे छ मन्त्रो का एक सूक्त (१० १४६) वनो की देवी, 'अरण्यानी', को सम्बोधित है। इसकी किसी ऐसे ही समय मे, जिसका ऊपर वर्णन है, किसी ऐसे ऋषि ने रचना की होगी जो विशाल वनो के मध्य मे निवास करते हुये उन एकान्त स्थानो मे होनेवाले बर्बरो के आक्रमण से परिचित था। इस सूक्त के प्रथम तथा अन्तिम मन्त्र इस प्रकार है "अरण्यानि अरण्यानि असौ या प्रेव नश्यसि। कथ ग्रामम् न पृच्छसि न त्वा भीरु इव विन्दति। ... आञ्जनगन्धि सुरभिम् बह्वन्नाम् अकृषीवलाम्। प्राहम् मृगाणाम् मातरम् अरण्यानिम् अशसिषम्।" देखिये रॉथ का इल० ऑफ निरु० पृ० १३२, और प्रस्तुत कृति का पाँचवाँ भाग भी।

[७९] ऋग्वेद ८ १८,१३ मे मानव शत्रुओ को भी राक्षसो के समान व्यवहार करनेवाला कहा गया है यो न कश्चिद् रिरिक्षति रक्षस्त्वेन मर्त्य. स्वैस् स एवै रिरिषीष्ट।"

समय तथा ईसाई राष्ट्रों में भी प्रेतात्माओं के प्रति विश्वास की भावना देखी जा सकती है। रात्रिकालीन आक्रमणों की दशा में दिन का प्रकाश आक्रामकों के पलायन करने तथा घबड़ाये और त्रस्त आर्यों के सुरक्षित अनुभव करने का आश्वासन प्रदान करता है। इसीलिये पूर्व में उदित होते सूर्य को, एक ब्राह्मण में राक्षसों को भगाने तथा नष्ट करनेवाला कहा गया है।[८०] इसी प्रकार रामायणकार (यदि हम यह मान लें कि इस काव्यात्मक वृत्तान्त में कोई ऐतिहासिकता है) ने भी दक्षिण में राक्षसों और वानरों के रूप में बर्बर जातियों के श्रीराम के साथ साक्षात्कार का वर्णन किया है।[८१] यह वस्तुस्थिति कुछ दिनों तक बनी रही हो सकती है। थोड़ा आगे बढ़ चुकने के बाद आर्यों को अधिकृत भूभाग को साफ करने तथा कृषित करने के लिये कुछ समय तक रुकना पड़ता होगा, और उस समय आदिवासी, जो आस-पास के क्षेत्र में विद्यमान रहते थे, अपने इन आक्रामकों के प्रति कभी शान्त रहते होंगे और कभी इन पर आक्रमण करते होंगे। आर्यों के पर्याप्त प्रसार के कारण ये आदिवासी दस्यु या तो देश के सुदूर कोनों में भागने के लिये विवश अथवा अपने विजेताओं के समुदाय में निम्नतम स्तर के लोगों के रूप में सम्मिलित हो गये होंगे। जब यह स्थिति आ गई तब आर्यों के लिये इन आदिवासी जातियों से रक्षार्थ देवों की स्तुति में स्तोत्रों की रचना की कोई आवश्यकता नहीं रह गई होगी, किन्तु दुष्टात्माओं के प्रति भय का अन्धविश्वास, जिसे सभी युगों में सर्वसाधारण के हृदयों में वर्तमान देखा जा सकता है, अब भी इनके मन में बना रहा होगा।

द्वितीय :—इस सम्पूर्ण अवधि में (जिसको हम अनेक शताब्दियों तक विस्तृत मान सकते हैं) जिसमें ऊपर वर्णित स्थिति बनी रही, वैदिक सूक्तों की रचना चलती रही। ये सूक्त अनेक ऋषियों के वंशजों में सुरक्षित रूप से संचित रहे। इस बीच ये वंशज भी इनके संग्रह में नित्य अपनी रचनाओं से वृद्धि करते रहे। इन नवीन रचनाओं के प्रणेताओं ने स्वभावत: अपनी स्मृति में सुरक्षित[८२] अपेक्षाकृत प्राचीनतर सूक्तों से, जिन्हें अब प्राचीनता के कारण बहुत कुछ पवित्र भी माना जाने लगा होगा, अपनी इन रचनाओं में भाव

---

[८०] ऋग्वेद १ ३३,८ पर सायण द्वारा उद्धृत 'आदित्यो ह्य् एव उद्यन् पुरस्ताद् रक्षांस्य् अपहन्ति ।' देखिये ऋग्वेद १ ७१,४ पर भी सायण।

[८१] और हमारा भी अनुभव है कि चीनी लोग योरपवासियो को 'विदेशी राक्षस' कहते हैं।

[८२] तुलना कीजिये रेनन हिसे०, द्वि० स०, पृ० १२०, नोट १।

तथा शब्दों को सम्मिलित कर लिया होगा। ज्यों-ज्यों परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ प्राचीनतर सूक्तों के उल्लेखों और सन्दर्भों में से अनेक विस्मृत हो गये, और एक समय ऐसा आ गया होगा जब इन प्राचीन सूक्तों के भावों और इनकी अभिव्यक्तियों को स्पष्ट रूप से समझ पाना भी कठिन हो गया होगा। इस प्रकार इनका अब ऐसी परिस्थितियों और घटनाओं के लिये व्यवहार किया जाने लगा होगा जिनके साथ इनका मूलतः कोई सम्बन्ध नहीं था। यही स्थिति विभिन्न व्यक्तियों के सम्बन्ध में भी रही होगी। एक वर्ग के शत्रुओं से सम्बद्ध शब्दों और विशेषण को दूसरे वर्ग पर स्थानान्तरित कर दिया गया होगा। प्रो० रॉथ के अनुसार शम्बर शब्द के साथ ऐसा ही हुआ है। वास्तव मे, जब हम यह देखते है कि वेदों के उल्लेखों और संकेतों को अक्सर पुराणों में एक सर्वथा भिन्न प्रकृति तथा प्रवृत्तिवाले आख्यानों में विकसित कर दिया गया है, यह कि वैदिक देवों के कार्यों और गुणों को बाद के समय में सर्वथा परिवर्तित कर दिया गया है, और यह भी कि ब्राह्मणों तक में वेदों के वास्तविक आशयों का मिथ्याग्रहण किया गया है. तब यह मानना अत्यन्त ग्राह्य हो जाता है कि उस युग में भी, जब बाद के सूक्तों की रचना हुई, मिथ्याव्यवहार की प्रक्रिया का आरम्भ हो गया, और उनके प्रणेताओं ने, अनेक दशाओं में, प्राचीनतर सूक्तों के शब्दों का उससे भिन्न रूप मे प्रयोग आरम्भ कर दिया जो उनका मूल प्रयोजन था। इस प्रकार यह बोधगम्य हो जाता है कि पहले जो कुछ काली त्वचावाले, पतित और बर्बर आदिवासियों, उनके पुरों, अथवा उनके आर्यों के साथ संघर्ष के लिये कहा गया था, उसे एक बाद के समय में अन्धकार की दुष्टात्माओं, मेघ रूपी असुरों, तथा देवों के असुरों और दैत्यों के साथ युद्ध के लिये कहा जाने लगा होगा। अथवा अधिक सम्भाव्य मान्यता यह हो सकती है कि आरम्भिक काव्य की कलाविहीन शैली में सूक्तों में स्तोताओं के पार्थिव शत्रुओं का, अन्धकार की दुष्टात्माओं अथवा इन्द्र के अन्तरिक्षीय शत्रुओं के साथ-साथ उल्लेख किया गया हो। विभिन्न प्रकार के शत्रुओं का यह सम्मिश्रण या अस्त-व्यस्त प्रयोग उस समय और बोधगम्य हो हो जाता है जब हम यह मान लें, और जैसा कि भारतीय व्याख्याकारों ने माना है, कि दस्यु शब्द में मूलतः एक सामान्य विनाशक के रूप में जाति-वाचक आशय निहित था। इस प्रकार यह सभी प्रकार के शत्रुओं के लिये व्यहृत होने लगा होगा, क्योंकि एक प्रकार के शत्रुओं के वर्णन से स्वभावतः अन्य के वर्णनों तथा उनके लिये उपयुक्त विशेषणों का संकेत मिला होगा। स्वयं हम लोग भी राक्षसों के लिये 'फाउल फियेण्ड' विशेषण का प्रयोग करते हैं जिसका अर्थ जर्मन भाषा में (फेण्ड) शत्रु होता है। इसी प्रकार जब

हम इस प्रकार की स्तुतियाँ करते हैं कि 'हमें शत्रु के भय से मुक्त करो' तब हम इनके अन्तर्गत हर प्रकार के ऐसे शत्रु को सम्मिलित करते हैं जो हमारी शान्ति को भंग करता है, चाहे वह आन्तरिक हो या बाह्य, भौतिक हो या प्रेत। 'अन्यव्रत', 'अव्रत', 'अयज्यु', 'अदेव' जैसे विशेषण, जिनका मूलतः मनुष्यों के लिये ही व्यवहार होता था, कल्पनात्मक पुराकथाशास्त्र के विकास के साथ-साथ बाद में दानवों और असुरों के लिये प्रयुक्त होने लगे।

यह केवल एक परिकल्पना मात्र नहीं बल्कि एक ऐसी प्रक्रिया है जो भारत में वास्तविक रूप से घटित हुई, ऐसा छान्दोग्य उपनिषद् के कुछ इन कौतूहलवर्धक स्थल से सिद्ध हो जायगा : तस्माद् अपि अद्य इह अददानम् अश्रद्दधानम् अयजमानम् आहुर् "आसुर वत" इति। असुराणा ह्य् एषा उपनिषत् प्रेतस्य शरीरम् भिक्षया वसनेन अलंकारेण इति संस्कुर्वन्ति। एतेन ह्य् अमुं लोक जेष्यन्तो मन्यते। "अतः वर्तमान समय तक में जो व्यक्ति श्रद्धा और आस्था से रहित है, जो यज्ञ नहीं करता, उसे असुरवत् कहा जाता है। असुरों का यह पवित्र सिद्धान्त है. ये प्रेत शरीर को भिक्षा, वसन और अलंकार समर्पित करते हैं और यह मानते हैं कि इस प्रकार ये आगे के लोकों को प्राप्त कर लेंगे।"[८३]

शतपथ ब्राह्मण का यह स्थल भी आदिवासियों और असुरों के सम्बन्ध को दिखाने में सहायक होगा : ३.२, १,२३ : ते असुराः आतवचसो "हे अलवः हे अलव" इति वदन्त. पराबभूवु। तत्र एताम् अपि वाचम् ऊदुर् उपजिज्ञास्याम्। स म्लेच्छस्। तस्माद् न ब्राह्मणो म्लेच्छेद्। असुर्या ह् एषा वाक्। "वाणी से रहित और 'हे अलवः हे अलवः' ('हे अरय.' के बदले) चिल्लाने वाले असुरगण पराजित हुये। यहाँ ये यह सन्दिग्ध शब्द बोल रहे थे। यह गलत भाषा है (अथवा जो ऐसा बोलता है वह म्लेच्छ है)। अतः कोई भी ब्राह्मण अशुद्ध भाषा न बोले, क्योंकि अशुद्धता असुरों की भाषा है।"[८४]

---

[८३] देखिये वेबर इण्डि० स्टू० १.२७१,२ और नोट। मनु ११.२० से तुलना कीजिये "यद् धन यज्ञशीलानाम् देव–स्व तद् विदुर् बुधा। अयज्वना तु यद् वित्तम् आसुर-स्वम् तद् उच्यते॥ "जो लोग यज्ञ करते हैं उनकी सम्पत्ति को बुद्धिमान् लोग देवो की सम्पत्ति कहते हैं, किन्तु जो कभी यज्ञ नही करते उनकी सम्पत्ति को असुरो की सम्पत्ति कहते हैं।" शतपथ ब्राह्मण १३ ८,१ ५, तथा वेबर इण्ड० स्टू० १ १८९ भी देखिये।

[८४] ब्राह्मणो मे देवो और असुरो के युद्ध की अनेक पौराणिक कथायें मिलती

खण्ड ३—सरस्वती के तट पर आर्य, तथा यहाँ से इनकी पूर्व और दक्षिण की ओर प्रगति

गत खण्ड में हमने देखा कि उत्तर-पश्चिम से भारत में प्रवेश करने के पश्चात और सिन्धु से पंजाब को पार कर के सरस्वती की ओर बढ़ने के समय आर्यों को एक ऐसी जाति से साक्षात्कार तथा युद्ध करना पड़ा जो प्रत्यक्षतः आदिवासी थी और जिसे वैदिक सूक्तों में दस्यु शब्द से व्यक्त किया गया है। शीघ्र ही हम यह देखेंगे कि एक बाद के समय में दोआबा क्षेत्र से विन्ध्य के उस पार अपनी दक्षिण की ओर प्रगति के समय आर्यों ने पुनः आदिवासियों को दबाना तथा और अधिक दक्षिण की ओर भगाना आरम्भ किया। सम्भवतः रामायण में दक्षिण की बर्बर जातियों के लिये व्यवहृत विशेषणों में भी हम इस मत की पुष्टि होती देखेंगे कि ऋग्वेद में इसी वर्ग के लोगों को 'राक्षस' आदि शब्दों से व्यक्त किया गया है। फिर भी, इस अनुसन्धान की दिशा में और आगे बढ़ने के पूर्व हमें सरस्वती नदी के तटवर्ती पवित्र भूभाग में ब्राह्मण-भारतीयों के साथ एक क्षण के लिये रुक जाना होगा और फिर इनके प्राचीन लेखकों के कुछ मूल उद्धरणों की सहायता से इस स्थान से इनके पूर्व की ओर बढ़ने तथा सामान्य रूप से सम्पूर्ण उत्तर भारत में फैल जाने के क्रम का अध्ययन करना होगा।

अतः, अब हम यह मान लेंगे कि पञ्चनद प्रदेश को पार करने के पश्चात् आर्य लोग सरस्वती नदी के तट पर आ चुके हैं, और यहाँ तक कि यमुना तथा गङ्गा नदियों तक फैल चुके हैं। ऐसा प्रतीत होगा कि सरस्वती तथा दृषद्वती के बीच का संकीर्ण क्षेत्र, जिसे मनु २.१७–२४ में ब्रह्मावर्त कहा गया है, पर्याप्त समय तक कुछ अत्यन्त विशिष्ट ब्राह्मण पुरोहितों और ऋषियों का आवास-क्षेत्र रहा होगा, और यह भी कि यहीं ब्राह्मणीय संस्थाओं ने विकसित

हैं जिन्हे वेबर (इण्ड० स्टू० १.१८६; २ २४३) के अनुसार आर्यों और आदिवासियो के बीच हुये युद्धो के रूप मे ग्रहण किया जाना चाहिये। यह बात किलात (जिसका नाम एक आदिवासी जाति, किरात, के प्राय अनुरूप है) और आकुलि नामक असुर-पुरोहितो से सम्बद्ध शतपथ ब्राह्मण के स्थल (जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है) और रावण की कथा से पुष्ट होती है। इस बात पर ध्यान देना भी उचित होगा कि ऋग्वेद (२.१७,६ तथा अन्यत्र) मे आनेवाले शब्द 'क्रिवि' को (यद्यपि रॉथ ने अपने कोश मे इसे सामान्य रूप से मेघ का द्योतक माना है) शतपथ ब्राह्मण १३ ५,४,७ मे पञ्चालो का एक प्राचीन नाम कहा गया है . क्रिवय. इति ह वै पुरा पञ्चालान् आचक्षते।

होकर परिपक्वता प्राप्त की होगी, तथा, सम्भवतः, वैदिक सूक्तों का संग्रह पूर्ण हो चुका होगा। देश के इस छोटे से क्षेत्र के साथ संयुक्त पवित्रता की भावना का अन्य किसी प्रकार समाधान करना सरल नहीं है।[८५] इस विषय पर लासन ने यह मत व्यक्त किया है (अपने स्मी० ३.२०१ में) :—"(सरस्वती की) पवित्रता को ऐतिहासिक आधार पर भी स्थित होना चाहिये, और इस भावना को उस समय विकसित मानना चाहिये जब भीतरी भारत के निवासियों, जिनकी संस्थाओं का दृढ़ संस्कारों के आधार पर निर्माण किया गया था, और पञ्जाब के उन निवासियों के, जो ऐसे नियमों का अपेक्षतया कम दृढ़ता से पालन करते थे, बीच विभेद तीव्र रूप से प्रखर हो चुका होगा। फिर भी, यह अन्तर केवल पश्चिम के लोगों तक ही सीमित नहीं था : दक्षिण की ओर भी जो देश विशुद्ध भारतीय संस्कारों से नियन्त्रित था उसकी सीमा सरस्वती के साथ समाप्त हो जाती है। यह नदी जहाँ लुप्त होती है उसे निषाद देश का द्वार कहा गया है, और यह इसीलिये लुप्त भी हो गई कि यह उस अपवित्र जाति के लोगों के सम्पर्क में न आ सके।"[८६] इसी स्थान के सम्बन्ध

---

[८५] सरस्वती से सम्बद्ध वेद के कुछ स्थलों को ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। वेबर (इण्ड० स्टू० २ ३११) शाङ्खायन तथा ऐतरेय ब्राह्मणों से दो ऐसे स्थलों को उद्धृत करते है जिनमे ऋषिगण इस नदी के तट पर यज्ञ करते हैं। प्रो० हॉग का ऐतरेय ब्रा० भी देखिये। ऐतरेय ब्राह्मण इस प्रकार आरम्भ होता है . "ऋषयो वै सरस्वत्या सत्रम् आसत, ते कवषम् ऐलूषम् सोमाद् अनयन् "दास्य पुत्र कितवोऽब्राह्मण कथम् नो मध्ये दीक्षिष्ट" इति तम् बहिर्धन्व उदवहन् "अत्र एनम् पिपासाहन्तु। सरस्वत्या उदकम् मापाद्" इति।" "ऋषिगण सरस्वतीतट के एक यज्ञ-सत्र मे सम्मिलित हुये। उन लोगो ने यह कहते हुये कवष ऐलूष को सोम से पृथक किया 'यह एक दास पुत्र, कितव, और अब्राह्मण है, इसने हम लोगो के बीच यज्ञ के लिये किस प्रकार अपने को दीक्षित कर लिया ?' तदनुसार वे इसे यह कहते हुये वन मे ले गये . 'प्यास इसे नष्ट कर दे, यह सरस्वती का जल न पीने पाये'।" फिर भी सरस्वती ने इस पर कृपा की और इसके परिणामस्वरूप ब्राह्मणो ने इसे अपने समुदाय मे सम्मिलित कर लिया। महाभारत ३ ५०७४ मे (जिसे लासन ने स्मी० ३.२०० मे उद्धृत किया है) इस प्रकार कहा गया है "दक्षिणेन सरस्वत्या ' दृषद्वत्य्-उत्तरेण च, ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिपिष्टपे।" "जो लोग सरस्वती के दक्षिण और दृषद्वती के उत्तर, कुरुक्षेत्र मे निवास करते है वे स्वर्ग मे रहते हैं।" देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम भाग भी।

[८६] महाभारत ३.१०५३८ "एतद् विनशन नाम सरस्वत्या विशाम्पते।

में प्रो० विलसन (विष्णु पुराण, भूमिका पृ० xvii) यह टिप्पणी करते हैं : "आरम्भिक राजाओं और अत्यन्त प्रसिद्ध ऋषियों के अनेक साहसिक कार्य-कलाप इसी क्षेत्र में हुये; और अनेक ऋषियों के आश्रम भी सरस्वती के तट पर ही स्थित बताये गये हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार वेद और पुराणों के रचयिता, व्यास, का आवास भी यहीं था। कुछ अन्य के अनुसार जब वेद अप्रचलित और विस्मृत हो गये तब सरस्वती के पुत्र सारस्वत ने ब्राह्मणों को पुनः वेद का उपदेश दिया।[८७] ब्राह्मणों की एक अत्यन्त विशिष्ट जाति को सारस्वत कहते हैं।' स्वयं इस नदी ने भी अपना नाम विद्या की देवी उस सरस्वती, से प्राप्त किया है जिसके तत्वावधान में ही हिन्दू शास्त्रों ने स्वरूप तथा प्रामाणिकता प्राप्त की।" [क्या हम इसी सम्भावना के साथ स्थिति के इसके विपरीत होने की कल्पना नहीं कर सकते—विशेषतः जब इसका नाम 'सरस्' अर्थात् 'जल' (निरुक्त ९.२६) से व्युत्पन्न है—और यह कि इस देवी ने अपना नाम इस नदी से प्राप्त किया जिसके तट पर ही इसका जन्म हुआ कहा जा सकता है ?][८८] "ये संकेत इस बात को निश्चित बना देते हैं कि, चाहे जो कुछ भी बीज बाहर से लाये गये हों, वह सरस्वती नदी का निकटवर्ती देश ही था

द्वारम् निषादराष्ट्रस्य येषां दोषात् सरस्वती। प्रविष्टा पृथिवी वीर मा निषादा हि माम् विदु।" "इसे ही सरस्वती के विनशन का स्थान कहते हैं। यह निषादों के देश का द्वार है। इनके देश की अपवित्रता के कारण ही सरस्वती यहाँ भूमि मे समा गई जिससे निषाद लोग इससे परिचित न हो सकें।"

[८७] यहाँ उद्दिष्ट आख्यान का एक अंश प्रो० विलसन ने भी दिया है। यह स्थल महाभारत के ९ २९६० पर आता है। बारह वर्ष की एक अनावृष्टि के समय भोजन की खोज मे महर्षिगण इधर-उधर भटकते रहे और इस प्रकार उन्होंने वेदों को नष्ट कर दिया (तेषाम क्षुदा परीताना नष्टा वेदाऽभिधावताम्)। मुनि सारस्वत भी चलने के लिये उद्यत हुये परन्तु सरस्वती ने उन्हे विरत किया . "न गन्तव्यम् इत पुत्र तवाहारम् अह सदा। दास्यामि मत्स्यप्रवरान् उष्यताम् इह भारत।" "हे पुत्र ! यहाँ से मत जाओ। मैं तुम्हे भोजन के रूप मे श्रेष्ठ मत्स्य दूँगी।" तदनुसार ये वही रह गये और इस प्रकार इन्होंने अपने जीवन तथा वेदो को सुरक्षित रखा। (प्राणान् वेदांश्च धारयन्)। तदुपरान्त अन्य ऋषियो के आग्रह पर इन्होंने उन्हे वेद का उपदेश दिया।

[८८] प्रस्तुत ग्रन्थ का पाँचवाँ भाग देखिये। फिर भी, वेवर ने उस भाग की अपनी समालोचना मे वहाँ व्यक्त विचारो को अस्वीकृत किया है।

[illegible] द्वारा भारत में पोषण तथा पोषण हुआ।" देखिये टासन ([illegible] ३.२८०) भी।

[illegible] की समाप्ति के समय तक सरस्वती और दृषद्वती के बीच के [illegible] को जो उच्च पवित्रता प्रदान की उसकी मनु के इस स्थल से [illegible] होती है

मनु २.१७–२४ : सरस्वती दृषद्वत्योर् देव-निमित देशम् ब्रह्मावर्तम् प्रचक्षते। १८ तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्य-क्रमागतः। वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते। १९. कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश् च पञ्चालाः शूरसेनकाः। एष ब्रह्मर्षि देशो वै ब्रह्मावर्तार् अनन्तरः। २०. एतद्देश-प्रसूतस्य सकाशाद् अग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व-मानवाः। २१. हिमवद् विन्ध्ययोर् मध्य यत् प्राग् विनशनाद् अपि। प्रत्यग् एव प्रयागाच् च मध्यदेशः प्रकीर्तितः। २२. आ समुद्रात् तु वै पूर्वाद् आ समुद्रात् तु पश्चिमात् तयोर् एवान्तरं गिर्योर् आर्यावर्तं विदुर् बुधाः। २३. कृष्णसारस् तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः। स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस् ततः परः। २४. एतान् द्विजातयो देशान् संश्रयेरन् प्रयत्नतः। शूद्रस् तु यस्मिन् कस्मिन् वा निवासेद् वृत्ति कर्षितः। "सरस्वती तथा दृषद्वती, इन दो देव-नदियों के मध्य का जो देश है उसे देवनिमित 'ब्रह्मावर्त' कहते हैं। १८. उस देश में ब्राह्मणादि वर्णों और वर्णसंकर जातियों में [illegible] जो आचार है उसे ही 'सदाचार' कहा जाता है। १९. कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल, और शूरसेन देश नामक ब्रह्मर्षिदेश ब्रह्मावर्त के पार्श्व में स्थित हैं। २०. इन देशों में उत्पन्न ब्राह्मणों से पृथिवी पर सब मनुष्य अपने-अपने चरित्र सीखें। २१. हिमालय और विन्ध्य पर्वतों के बीच, विनशन के पूर्व और प्रयाग के पश्चिम का देश मध्यदेश कहा जाता है। २२. पूर्व-समुद्र और पश्चिम समुद्र और इन दोनों पर्वतों के मध्य स्थित देश को पण्डित लोग आर्यावर्त कहते हैं। २३. जहाँ पर काला मृग स्वभाव से ही विचरण करता है, वह यज्ञिय देश है; इसके अतिरिक्त म्लेच्छदेश है। २४. द्विज इन देशों का आश्रय करें, परन्तु शूद्र तो वृत्ति के लिये कहीं भी निवास करें।"[1]

---

[1] [illegible] हूँ। "पाणिनि ([illegible]) [illegible] 'शूद्राणाम् अनिरवसितानाम्।' [illegible] 'निरवसित' [illegible] पर [illegible] का प्रकार लिखता है [illegible] । प्राग् आदर्शात् प्रत्यक्

इस स्थल से ऐसा प्रतीत होता है कि इन श्लोकों में जिस समय के लिये नियमों का विधान किया गया है उस समय तक ब्राह्मण लोग साधारणतया विन्ध्य पर्वत के दक्षिणी भाग में नहीं आये थे, यद्यपि कुछ साहसिक लोग इधर आये अथवा कुछ ऋषि-मुनि इस क्षेत्र में बस गये हो सकते हैं। और विन्ध्य के उत्तर तक मे हम सम्पूर्ण देश को सरस्वती तट से दूरी के अनुसार अधिक या कम पवित्र क्षेत्रों में विभक्त पाते हैं : इस प्रकार हमें स्वयं ब्रह्मावर्त का एक छोटा क्षेत्र मिलता है। यह नाम इनका द्योतक हो सकता है : (१) या तो ब्रह्मा के क्षेत्र का, जिस दशा में इसे इस देवता का किसी विशेष आशय में निवास स्थान और सम्भवतः सृष्टि का मञ्च माना जाता होगा, अथवा (२) यह वेद (ब्रह्म) का क्षेत्र रहा होगा, जिस दशा में यह उस देश का द्योतक होगा जो यज्ञों और पवित्र शास्त्रों के अध्ययन से पवित्र हो गया था। इसके बाद क्रम से ब्रह्मर्षिदेश आता है जो कुरुक्षेत्र (जो यमुना के पश्चिम, उत्तर मे सरस्वती से लेकर वृन्दावन और मथुरा तक फैला है)[१०], और मत्स्यों, पञ्चालों, तथा शूरसेनों के देश से निर्मित है। मनु के भाष्यकार, कुल्लूक भट्ट ने पञ्चालों को कान्यकुब्ज अथवा कन्नोज के आस-पास, और शूरसेनों को मथुरा के निकट बसा कहा है।[११] तीसरा क्षेत्र मध्यदेश है जो अपेक्षाकृत बड़ा है, और उत्तर से दक्षिण हिमालय से लेकर विन्ध्य पर्वत तक तथा उत्तर पश्चिम से दक्षिण-पूर्व में विनशन (जहाँ सरस्वती मरुभूमि में लुप्त हो गई) से प्रयाग तक विस्तृत प्रदेश है। यह भी हिमालय तथा विन्ध्य पर्वतों के बीच सिन्धु नदी के मुहाने के सागर से ले कर बंगाल की खाड़ी (पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों) तक फैला है।

जिस प्रकार इन देशों का यहाँ क्रमिक उल्लेख है उससे ऐसा व्यक्त होता है कि आर्य लोग सरस्वती के तट (जहाँ हमारी मान्यता के अनुसार ये पंजाब को पार करके बसे थे) से पूर्व और दक्षिण की ओर क्रमशः अग्रसर हुये थे; और यह कि सरस्वती से दूरतम दक्षिण और पूर्व के तथा साथ ही साथ दक्षिण-पश्चिम के देश वह थे जिनसे ये सब से अन्त में परिचित हुये। जिस समय का हम अध्ययन कर रहे हैं उसमें आर्यों ने अभी विन्ध्य के दक्षिण में

कालकवनाद् दक्षिणेन हिमवन्तम् उत्तरेण 'परियात्रम्।" इसका आशय इस प्रकार है 'आर्यावत से वहिष्कृत नहीं। किन्तु आर्यावर्त कौन है ? आदर्श के पूर्व, कालकवन के पश्चिम, हिमवत् के दक्षिण और परियात्र के उत्तर के बीच का देश।"

[१०] लासन इआ० २ मे, प्राचीन भारत का मानचित्र देखिये।

[११] 'पञ्चाला' कान्यकुब्ज–देशा' शूरसेनका मथुरा–देशा'।

[illegible] भारत में बहुत देर से प्रवेश किया था। इसका एक अन्य प्रमाण मनु १०.४४ से मिलता है जहाँ यह कहा गया है कि पौण्ड्र, ओड्र, और [illegible] आदि जो पहले क्षत्रिय थे, यज्ञादि कर्मों की उपेक्षा तथा ब्राह्मणों की अनुपस्थिति के कारण क्रम से [illegible] की अवस्था को प्राप्त हो गये। इससे यह [illegible] कि इन जातियों, अर्थात् बंगाल, उत्तरी उड़ीसा तथा नागमण्डल[२२] तट के [illegible] ब्राह्मण धर्म के बाहर निवास कर रहे थे। अतः [illegible] है कि ब्राह्मणों का [illegible] इन क्षेत्रों पर अधिकार नहीं [illegible], यद्यपि, यदि मनु द्वारा प्रयुक्त 'आर्यावर्त' शब्द की परिभाषा को एक [illegible] मान लें तो, आर्यों ने अपने विजय-अभियानों का पूर्वी समुद्र, [illegible] तक विस्तार किया होगा।

[illegible] ब्राह्मण में हमें यह उल्लेखनीय आख्यान मिलता है जिसके अनुसार [illegible] के प्रसार और सरस्वती के तट से पूर्व दिशा की ओर उनके धर्म के [illegible] की ओर संकेत [illegible] (ई०पू० १,१०० और बाद)[२३] [illegible] किया था। शतपथ ब्राह्मण १.४, १,१० और बाद : विदेघो ह माथवोऽग्निं वैश्वानरम् मुखे बभार। तस्य गोतमो राहूगणः ऋषिः पुरोहित आस। तस्मै ह स्म आमन्त्र्यमाणो न प्रतिशृणोति "न [illegible] वैश्वानरो मुखाद् निष्पद्याते" इति। तम् ऋग्भिर्ह्वयितुं [illegible] कवे द्युमन्तं समिधीमहि। अग्ने बृहन्तम् अध्वरे- [illegible]। स न प्रतिशुश्राव "उद् अग्ने शुचयस् तव शुक्राः [illegible]। तव ज्योतींष्य् अर्चयोऽर्चिषा" इति। स ह नैव प्रति- [illegible] "[illegible] घृतस्नव् ईमहे" इत्य् एव अभिव्याहरद्। अथ अस्य [illegible] एव अग्निर् वैश्वानरो मुखाद् उज्जज्वाल। तं न शशाक धारयितुम्। सोऽस्य मुखाद् निष्पेदे। स इमाम् पृथिवीम् प्राप अद.। तर्हि विदेघो माथव आस सरस्वत्याम्। स तत एव प्राङ् दहन्न् अभीयाय इमाम् पृथिवीम्। तं गोतमश् च राहूगणो विदेघश् च माथवः [illegible]। स इमाः सर्वा नदीर् अतिददाह। सदा- [illegible] उत्तराद् गिरेर् निर्धावति। तां ह एव न अतिददाह। तां ह [illegible] ब्राह्मणा न तरन्ति "अन् [illegible] अग्निना वैश्वानरेण" इति। [illegible] बहवो ब्राह्मणाः। तद् ह अक्षेत्रतरम् इव [illegible] इव अस्वदितम् अग्निना वैश्वानरेण इति। तद् [illegible]

[२२] [illegible] पृ० १३०, १३७ और टिप्पणी [illegible]।

[२३] [illegible] भाग १ ([illegible]) पृ० ६८५ आदि।

एतर्हि क्षेत्रतरम् इव ब्राह्मणाः उ हि नूनम् एतद् यज्ञैर् असिष्विदन्। साऽपि जघन्ये नैदाघे सम् इव इव कोपयति तावत शीताऽनतिदग्धा ह्य् अग्निना वैश्वानरेण। स ह उवाच विदेघो माथवः "क अहम् भवानि" इति। "एतः एव ते प्राचीनम् भुवनम्" इति ह उवाच। सा एपाऽप्य् एतर्हि कोशलविदेहानाम् मर्यादा। तेहि माथवाः। अथ ह उवाच गोतमो राहूगणः "कथं नु मे आमन्त्र्यमाणो न प्रत्यश्रौषीर्" इति। स उवाच "अग्निर् मे वैश्वानरो मुखेऽभूत् स न इद् मे मुखाद् निष्पद्यातै तस्मात् ते न प्रत्यश्रौषम्" इति। "तद् उ कथम् अभूद्" इति। "यत्र एव त्वम् 'घृतस्नव् ईमहे' इति अभिव्याहार्षीस् तदा एव घृत कीर्ताव् अग्निर् वैश्वानरो मुखाद् उदज्वालीत् त नाशक धारयितुम्। स मे मुखाद् निरपादि" इति। "माथव विदेघ[९४] ने अग्नि वैश्वानर को मुख में धारण किया। ऋषि गोतम राहूगण[९५] उसका पुरोहित था। उसके सम्बोधित करने पर भी विदेघ ने उत्तर नहीं दिया 'क्योंकि (उसने सोचा) कहीं अग्नि मेरे मुख से निकल न जाँय।' (पुरोहित ने) ऋक्मन्त्रों से अग्नि का आवाहन आरम्भ किया; 'हे बुद्धिमान, वीतिहोत्र, द्युतिमान, और शक्तिशाली अग्नि, हम तुम्हें यज्ञ के लिये प्रज्वलित करते हैं', (ऋग्वेद ५.२६,३) 'हे विदेघ'। उसने कोई उत्तर नहीं दिया। 'हे अग्नि, तुम्हारी उज्ज्वल, शुचि, ज्वलन्त रश्मियाँ ऊपर उठती हैं', (ऋग्वेद ८.४४,१६) 'हे विदेघ'। फिर भी उसने कोई उत्तर नहीं दिया। 'हे घृत गिरानेवाले, हम तुम्हारा आह्वान करते हैं', इत्यादि (ऋग्वेद ५.२६,२)। उसने इतना कहा था कि तभी घृत के उल्लेख पर अग्नि-वैश्वानर उसके मुख से प्रज्वलित हो उठे: वह उन्हें रोक नहीं सका; अतः वह उसके मुख से निकल कर और फिर इस पृथिवी पर गिर पड़े: माथव विदेघ उस समय सरस्वती के तट पर था। तब उसने (अग्नि ने) पूर्वाभिमुख होकर प्रज्वलित होते हुये इस पृथिवी का अतिक्रमण किया। ज्यों ज्यों वह आगे जलते गये गोतम राहूगण और माथव विदेघ उनके पीछे-पीछे चलते गये। वह इन सभी नदियों को पार करते हुये जलते गये; किन्तु वह जलते हुये उस सदानीरा के पार नहीं गये जो उत्तरी-पर्वत (हिमालय) से निकलती है। पहले ब्राह्मण इस नदी को पार नहीं करते थे क्योंकि अग्नि-वैश्वानर जलते हुये इसके पार नहीं गये। किन्तु अब ब्राह्मण इसके पूर्व में भी रहते हैं। अग्नि-वैश्वानर से आस्वादित होने से पहले यह बसने

---

[९४] बाद मे इसका 'विदेह' के रूप मे प्राकृतीकरण हो गया।

[९५] देखिये ऋग्वेद १.७८,५।

के अयोग्य और दलदली थी। फिर भी, अब यह बसने योग्य है, क्योंकि ब्राह्मणों ने यज्ञों के द्वारा इसे स्वादिष्ट बना दिया। ग्रीष्म के अन्त में अब भी शीतल यह अग्नि वैश्वानर से अदग्ध रही। माथव विदेघ ने कहा : 'मैं कहाँ रहूँ?' (अग्नि ने कहा) 'तुम्हारा गृह इस नदी के पूर्व में होगा।' आज भी यह नदी कोशलों और विदेहों की सीमा है, क्योंकि ये माथव हैं। तब गोतम राहूगण ने कहा : 'मेरे सम्बोधित करने पर तुमने उत्तर क्यों नहीं दिया?' उसने कहा : 'अग्नि वैश्वानर मेरे मुख में थे। मैंने इसलिये उत्तर नहीं दिया कि कहीं वह मेरे मुख से निकल न जायँ।' 'तब वह कैसे निकल गये?' 'जब तुमने यह कहा कि 'हे घृत गिरानेवाले, हम तुम्हारा आवाहन करते हैं', तब घृत के उल्लेख पर अग्नि-वैश्वानर मेरे मुख से ज्वलन्त रूप में बाहर निकल पड़े : मैं उन्हें रोक नहीं सका और वह मुख से निकल पड़े।"

इस स्थल में अपनी ब्राह्मणीय उपासना पद्धति के साथ आर्यों की सरस्वती के तट से क्रमशः सदानीरा तक, और फिर उस नदी के आगे तक प्रगति का, जैसा कि मैं कह चुका हूँ, संकेत मिलता है। जिस समय शतपथ ब्राह्मण की रचना हुई उस समय ब्राह्मण लोग (जैसा कि वेबर ने कहा है) सदानीरा के आगे के क्षेत्र में बहुत दिनों से रह रहे थे, और इस प्रकार यह क्षेत्र ब्राह्मण धर्म का प्रमुख केन्द्र बन चुका था, क्योंकि इस ग्रन्थ में विदेहराज जनक सम्राट की उपाधि से विभूषित हैं। इस प्रकार (शतपथ ब्राह्मण ११.३,१,२) में हमें यह उल्लेख मिलता है : "विदेहराज जनक ने याज्ञवल्क्य से यह प्रश्न पूछा : 'हे याज्ञवल्क्य! क्या तुम अग्निहोत्र जानते हो?' उसने उत्तर दिया : 'हे सम्राट! मैं इसे जानता हूँ'।"[१६] प्रो० वेबर उक्त आख्यान पर यह टिप्पणी करते हैं : "अग्नि वैश्वानर के नाम से ब्राह्मणों की यज्ञीय प्रणाली का तात्पर्य है। आख्यान में राजा के सन्दर्भ में पुरोहित की भूमिका रहस्यमय है; किन्तु मेरी समझ में इसका तात्पर्य यह यह है कि उसने राजा को आर्य उपासना पद्धति को पूर्व में प्रसारित करने के लिये विवश किया। सदानीरा एक अवरोध बन गई : इस कारण नहीं कि यह बड़ी नदी थी, अथवा इसे पार करना कठिन था (क्योंकि एक पूर्व-समय में इस दृष्टि से गंगा और यमुना ने इससे कहीं अधिक कठिनाई प्रस्तुत की होगी) बल्कि इस कारण कि इसके पार का क्षेत्र

[१६] शतपथ ब्राह्मण तद् ह एतज् जनको वैदेहो याज्ञवल्क्यम् पप्रच्छ "वेत्थ अग्निहोत्रम् याज्ञवल्क्य" इति "वेद सम्राड्" इति।" देखिये शतपथ ब्राह्मण ११ ६,२,१ भी जहां ब्राह्मणों ने भी जनक को इसी उपाधि से सम्बोधित किया है।

सुगम नहीं था, क्योंकि 'स्रावितरम्' शब्द से ऐसा प्रतीत होता है कि वह क्षेत्र दलदली था।[९७] विदेघ माथव के इस नदी के उस पार चले जाने पर भी ब्राह्मण लोग बहुत समय तक इस नदी के पश्चिमी तट पर ही रुके रहे, और इसे उस समय पार किया जब राजा ने अपनी प्रजा के साथ पूर्व के क्षेत्र को कृषि के योग्य बना दिया। शतपथ ब्राह्मण में इसका स्वरूप इतना सम्पन्न हो गया है कि इसकी सागरीय प्रकृति की परम्परा केवल अस्पष्ट रूप से ही सुरक्षित रह गई है।" इण्ड० स्टू० १.१७८, १७९।

अमरसिंह (१.२,३,३३) और हेमचन्द्र (४.१५०) के कोशो मे सदानीरा को करतोया (बंगाल के उत्तर की एक नदी) के पर्यायवाची के रूप में दिया गया है। किन्तु यतः इस स्थल पर सदानीरा को कोशलों और विदेहों अथवा अवध तथा उत्तर विहार के बीच की सीमा बताया गया है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इससे आधुनिक गण्डक नदी का तात्पर्य है। लासन (इआ० १.६४) यह मत व्यक्त करते है : "कुछ कोशकार करतोया तथा सदानीरा को समीकृत करते है, जब कि कुछ अन्य तालिकाओं में दोनों का एक दूसरे से विभेद किया गया है। वर्तमान दशा मे यही उचित प्रतीत होता है, विशेषतः इसलिये कि सदानीरा का अर्थ 'सदैव जल से परिपूर्ण' है और इससे किसी भी बड़ी नदी का तात्पर्य हो सकता है।"

लासन (त्सी० १८३९, २२ और बाद) एक अन्य उद्देश्य से महाभारत के इस स्थल को उद्धृत करते हुये इस पर टीका करते है। इस स्थल पर 'सदानीरा' नाम तो आता है किन्तु इसकी स्थिति पर कोई प्रकाश नहीं पडता। "कुरुओं से विदा होकर ये लोग कुरुजाङ्गल के बीच से होते हुये मनोहर पद्म सरोवर पर आये। तदनन्तर कालकूट को पार करके उन लोगों ने एक पर्वत पर गण्डकी, महाशोन, और सदानीरा को पार किया। इसके बाद सुन्दर सरयू को पार करके और पूर्वी कोशल का दर्शन करने के पश्चात् उन लोगों ने माला चर्मण्वती को पार किया और मिथिला पहुँचे।"[९८] इस स्थल पर (यदि कोई क्रम

---

[९७] इसके उदाहरण मे वेबर ने महाभारत २ १०७८ का उल्लेख किया है जिसमे यह कहा गया है कि पूर्वी देशो के विजय के समय भीमसेन हिमवत् पर्वत के निकट के क्षेत्र मे आये जो जल से उद्भूत क्षेत्र था . "ततो हिमवत. पार्श्वं समभ्येत्य जलोद्भवम्।"

[९८] महाभारत २.७०३ : कुरुभ्य प्रस्थितास् ते तु मघ्येन करुजाङ्गलम्। रम्यम् पद्मसरोगत्वा कालकूटम् अतीत्य च। गण्डकी च महाशोणं सदानीरा तथैव च। एकपर्वतके नद्य , क्रमेणैत्याव्रजन्त ते। उत्तीर्य सरयूं रम्याम् दृष्ट्वा पूर्वां च कोशलान्। अतीत्य जग्मुर् मिथिलाम् माला चर्मण्वती नदीम्॥

सुरक्षित है तो) यह देखा जा सकता है कि सदानीरा को गण्डकी (चाहे इससे किसी भी नदी का तात्पर्य हो) और सरयू के बीच में, और इस प्रकार इस बादवाली नदी के पश्चिम में स्थित किया गया है। अतः इसकी स्थिति का प्राचीन प्रमाणों द्वारा भलीभाँति निर्धारण नहीं होता। फिर भी, हमारे उद्देश्य के लिये इसका कोई महत्त्व नहीं है क्योंकि इस नदी की ठीक-ठीक स्थिति से सम्बद्ध कोई भी अनिश्चितता आख्यान के सीधे और स्पष्ट इस उद्देश्य को अवरुद्ध नहीं करती कि ब्राह्मण अपने धर्म के साथ सरस्वती से पूर्व में बिहार तथा बंगाल की ओर बढ़े।

खण्ड ४—आर्यों का दोआबा से विन्ध्यपर्वत के पार जाना और दक्षिण की आदिवासी जातियों से संघर्ष

मेरे उद्देश्य के लिये यह आवश्यक नहीं कि मैं पूर्व तथा दक्षिण की ओर आर्यों की प्रगति के विभिन्न स्तरों के ठीक-ठीक निर्धारण का प्रयास करूँ, क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों, रामायण, और महाभारत में उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर कोई भी सतर्क अनुसंधानकर्ता इसका ठीक-ठीक निर्धारण और काल-निर्णय कर सकता है।

यतः मेरे तर्क के लिये केवल यही सिद्ध करना पर्याप्त है कि आर्य लोग उत्तर-पश्चिम से ही पूर्व और दक्षिण की ओर बढ़े थे, और अपनी इस प्रगति में ये लोग इन क्षेत्रों में निवास कर रही आदिवासी जातियों के सम्पर्क में आये, अतः मेरे उद्देश्य के लिये अब दक्षिण की ओर की उस महान प्रगति पर आ जाना ही पर्याप्त होगा (ऊपर आर्यों के पूर्व की ओर प्रगति के विवेचन के पश्चात्) जिसके सम्बन्ध में, सम्भवतः, रामायण के काव्यात्मक और अतिरंजित वर्णनों में हम कुछ अस्पष्ट सी रूपरेखा प्राप्त कर सकते हैं।

प्रो० लासन (इआ० १.५३४) इस प्रकार कहते हैं : "काव्य के वर्ण्य-विषय की दृष्टि से रामायण में केवल उत्तर-भारत को ही आर्य-देश कहा गया है। इसमें मिथिला और अङ्ग देश को आर्य-क्षेत्र के पूर्व में स्थित कहा गया है। केकय लोग यद्यपि पश्चिम में सरस्वती के उस पार रहते हैं तथापि इन्हें एक विशुद्ध आर्य जाति माना गया है, और वास्तव में राजा दशरथ की एक पत्नी भी इसी देश की है।" राजा दशरथ के यज्ञ के समय आमन्त्रित किये जानेवाले व्यक्तियों का इस प्रकार उल्लेख है : रामायण, १.१३,२१ : मिथिलाधिपतिं शूरं जनकं दृढविक्रमम्। निष्ठितं सर्व-शास्त्रेषु। तथा वेदेषु निष्ठितम्।··· तथा केकय-राजानं वृद्धम परम-धार्मिकम् श्वशुरं राजसिंहस्य स-पुत्रं त्वम् इहानय। अङ्गेश्वरं च राजानम् लोमपादं सुसत्कृतम्। सुव्रत देव-

संकाशम् स्वयम् एवानयस्व ह। प्राच्यांश् च सिन्धुसौवीरान् सौराष्ट्र-यांश् च पार्थिवान्। दाक्षिणात्यान् नरेन्द्रांश् च सर्वान् आनय मा चिरम्। "मिथिला के राजा जनक को लाओ, जो शूरवीर, दृढ़विक्रम, तथा समस्त शास्त्रों और वेदों के ज्ञाता है। ·· केकय-देश के वृद्ध राजा अत्यन्त धर्मात्मा हैं, वे राजसिंह राजा दशरथ के श्वसुर हैं, अतः उन्हें भी पुत्र सहित यहाँ ले आओ। और तुम स्वयं अङ्गेश्वर राजा लोमपाद को सादर लाओ जो धर्मात्मा तथा देवों के तुल्य हैं। और शीघ्रतापूर्वक पूर्व-देश के राजाओं, सिन्धु-सौवीरों, सुराष्ट्रों और दक्षिण के राजाओं को भी ले आओ।"

लासन का कहना है कि यहाँ 'दाक्षिणात्य राजा' शब्द एक सीमित आशय में अथवा अनुपयुक्त रूप से प्रयुक्त हुआ हो सकता है, क्योंकि महाकाव्य के अन्य अंशों से ऐसा प्रतीत होता है कि विन्ध्य पर्वत के दक्षिण का क्षेत्र अभी आर्यों से रहित था। यहाँ तक कि गङ्गातट के कुछ भागों को भी एक वर्बर जाति, निषादों, से अधिकृत कहा गया है। इस प्रकार रामायण २.५०,३३ और बाद में यह कथन मिलता है (यह एक .कौतूहलवर्धक स्थल है, अतः मैं इसे कुछ विस्तार से उद्धृत कर रहा हूँ): तत्र राजा गुहो नाम रामस्यात्म-समः सखा। निषाद-जात्यो बलवान् स्थपतिश् चेति विश्रुतः। स श्रुत्वा पुरुष-व्याघ्र रामं विषयम् आगतम्। वृद्धैः परिवृतोऽमात्यैर् ज्ञातिभिश् चाप्य् उपागतः। ततो निषादाधिपतिं दृष्ट्वा दूराद् उपस्थितम्। सह सौमित्रिणा रामः समागच्छद् गुहेन सः। तम् आर्तः सम्परिष्वज्य गुहो राघवम् अब्रवीत्। "यथाऽयोध्या तथेदं ते राम किं करवाणि ते। ईदृशं हि महाबाहो कः प्राप्स्यत्य् अतिथिम् प्रियम्"। ततो गुणवद् अन्नाद्यम् उपादाय पृथग्विधम्। अर्घ्यं चोपानयच् छीघ्रं वाक्यं चेदम् उवाच ह। "स्वागतं ते महाबाहो तवेयम् अखिला मही। वयम् प्रेष्याः भवान् भर्ता साधु राज्यम् प्रशाधि नः"।··· गुहम् एवन् ब्रुवाणं तु राघवः प्रत्युवाच ह। "अर्चिताश् चैव हृष्टाश् च भवता सर्वदा वयम्। पद्भ्याम् अभिगमाच् चैव स्नेह-सन्दर्शनेन च"। भुजाभ्यां साधु-वृत्ताभ्याम् पीडयम् वाक्यम् अब्रवीत्। दिष्ट्या त्वां गुह पश्यामि ह्य् अरोगं सह बान्धवैः"। "गुह नाम का एक निषादवंशी राजा था। वह राम का प्राणों के समान प्रिय मित्र और एक शक्तिशाली स्थपति के रूप में विख्यात था।[१२] उसने जब सुना कि श्रीराम उसके राज्य में पधारे हैं तब वह बूढ़े

[१२] प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम भाग, तथा ब्रह्मसूत्र १.३,३४ पर गोविन्द आनन्द का भाष्य देखिये।

मन्त्रियों और बन्धु-बान्धवों से घिरा हुआ वहाँ आया। दूर से ही उस निषाद-राज को आता देखकर श्रीराम, सुमित्रानन्दन (लक्ष्मण) के साथ आगे बढ़ कर उससे मिले। श्रीराम की दशा देखकर दुखी गुह ने उनका आलिङ्गन किया और कहा : 'आपके अयोध्या के समान यह देश भी आपका है। मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ? आप जैसा प्रिय अतिथि किसको सुलभ होगा?' तब भाँति-भाँति के उत्तम अन्न लेकर वह श्रीराम की सेवा में उपस्थित हुआ। शीघ्र ही अर्घ्य-निवेदन करने के पश्चात् उसने कहा : 'महाबाहो! आपका स्वागत है। हमारी यह समस्त भूमि आपकी है, हम सब आपके सेवक हैं और आप हमारे स्वामी हमारे राज्य पर आप सुखपूर्वक शासन करें।"... गुह के वचन को सुन कर श्रीराम ने इस प्रकार कहा : 'सखे! तुम्हारे यहाँ तक पैदल आने और स्नेह प्रगट करने से ही हमारा सदा के लिये भली-भाँति स्वागत-सत्कार हो गया, तुमसे मिल कर हमें अत्यन्त प्रसन्नता हुई।' तद-नन्तर अपनी दोनों गोल-गोल भुजाओं से गुह का भली प्रकार आलिङ्गन करते हुये श्री राम ने कहा : 'गुह! सौभाग्य की बात है कि मैं आज तुम्हें बन्धु-बान्धवों सहित स्वस्थ एवं सानन्द देख रहा हूँ।"[१००] इस राजा ने श्रीराम को

[१००] यह एकमात्र घटना है कि एक निषाद को श्रीराम का मित्र तथा प्राणो के समान प्रिय सखा कहा गया है, जिसका श्रीराम स्नेहपूर्वक ,आलिङ्गन भी करते हैं। इस घटना की भाष्यकार ने इस प्रकार व्याख्या की है "यद्यपि ईदृश-सख्य "हीन-प्रेष्य हीन-सख्यम्" इत्य् आदिना उपपातकेषु गणित तथापि तद् विप्र-विषयम्। राज्ञाम् आटविक-बलेन प्रयोजनवत्त्वात् षड्विध-बल सग्रहस्य राज-धर्मत्वाच्च तत्-सख्यम् एव इति दिक्। अत्र इदम् बोध्यम् निषाद-गुह विषये रामस्य "आत्मसम सखा" इत्य् एवं वदता वाल्मीकिना राम-समत्व-राम समान-ख्यातित्वोक्त्या भगवद्-भक्तत्वेन निषादत्वेऽपि पूर्व-कृत-श्रवणादिमत्त्वेन तस्य तत्वज्ञत्व सूचितम्" "यद्यपि इस प्रकार की मित्रता 'हीन की सेवा और हीन की मित्रता' इत्यादि शब्दो के अनुसार एक गौण पाप है, तथापि यह ब्राह्मणो से सम्बद्ध है, क्योकि राजाओ की दशा मे इस प्रकार की मित्रता का कारण वनो मे निवास करनेवाले लोगो की सेना एकत्र करने की आवश्यकता है, और छ प्रकार के सैनिको को एकत्र करना राजा का कर्तव्य है। यहाँ जब वाल्मीकि यह कहते हैं कि निषादराज गुह 'श्रीराम का प्राणो के समान प्रिय-सखा था' तब श्रीराम से उसकी समानता तथा उन्ही के समान कोटि का होना यह सूचित करता है कि भगवद्भक्ति के द्वारा निषाद होते हुये भी उसने पूर्व जन्म मे जो किया तथा सुना था उसके कारण उसने परम सत्य को प्राप्त कर लिया है।"

एक नौका दी जिससे वह अपनी पत्नी और भ्राता के साथ गङ्गा के पार उतर गये (रामायण २.५२,५ और बाद ७४ और बाद) । इसके बाद जब राम के एक अन्य भ्राता भरत इसी मार्ग पर आये तब इसने उनका भी स्वागत किया (रामायण २.८३,२०८ और ८४,१-१०) ।

इस महाकाव्य में दण्डकारण्य का यमुना के ठीक दक्षिण से आरम्भ बताया गया है । इस स्थान से गोदावरी तक के सम्पूर्ण क्षेत्र को वन्य प्रदेश कहा गया है जिसमें यत्र-तत्र न केवल ऋषियों के आश्रम हैं,[१०१] वरन् जंगली पशुओं और राक्षसों की भी सर्वत्र प्रचुरता है ।[१०२] लासन का कथन है (इआ० १. ६४७) कि "रामायण में दक्षिण की ओर बढ़ कर उसे विजित करने के आर्यों के प्रथम प्रयास का वर्णन है; किन्तु यह मानना होगा कि ब्राह्मण-धर्मावलम्बियों में से कुछ शान्तिपूर्ण लोग इस क्षेत्र में पहले भी आ चुके रहे होंगे। जब राम विन्ध्य पर्वत के दक्षिण में आये तब उन्हें वहाँ ऋषि अगस्त्य मिले जिन्होंने दक्षिण के क्षेत्रों को सुरक्षित तथा सुगम बनाया था । अगस्त्य श्री राम के परामर्शदाता और पथ-प्रदर्शक, तथा दक्षिण में बसे ऋषियों के प्रधान हैं । इस आख्यान में हम इस स्मृति के अतिरिक्त और कुछ नहीं देख सकते कि दक्षिण का क्षेत्र मूलतः अरण्य-प्रदेश था जिसे सर्वप्रथम ब्राह्मणधर्मी लोगों ने कृषि के योग्य बनाया । जिन राक्षसों को यज्ञों का विध्वंसक तथा ऋषियों-मुनियों का भक्षक

---

[१०१] रामायण ३.१,१ "प्रविश्य तु महारण्य आत्मवान् । रामो ददर्श दुर्धर्षस् तापसाश्रम-मण्डलम् ।" राम ने इस वन्यप्रदेश के विस्तार का इस प्रकार वर्णन किया है ३ ११,३१ "न तु जानामि त देश वनस्यास्य महत्तया । कुत्राश्रम पदम् रम्यम् महर्षेस् तस्य धीमत ।"

[१०२] एक बाद के समय मे भारत पर मुसलिम आक्रमणो का आरम्भ हो जाने के पश्चात् दक्षिण भारत को ब्राह्मण धर्म तथा ज्ञान का एक पवित्र तथा सुरक्षित क्षेत्र माना जाने लगा । इस प्रकार वेबर द्वारा उद्धृत (हिस्ट्री० ऑफ इण्डि० लिट०, पृ० २४७ नोट) व्यास के एक श्लोक मे यह कथन है : "सम्प्राप्ते तु कलौ काले विन्ध्याद्रेर् उत्तरे स्थिता ' ब्राह्मणा यज्ञरहिता ज्योति -शास्त्र-पराङ्मुखा ।" "कलियुग मे विन्ध्यपर्वत के उत्तर मे निवास करनेवाले ब्राह्मण यज्ञरहित और ज्योतिष-शास्त्र से पराङ्मुख हो जायेंगे ।" इसी लेखक द्वारा उद्धृत एक अन्य स्मृति मे यह कथन है विन्ध्यस्य दक्षिणे भागे यत्र गोदावरी स्थिता । तत्र वेदाश्च यज्ञाश्च भविष्यन्ति कलौ युगे । "कलियुग मे विन्ध्य के दक्षिण मे गोदावरी के तटपर यज्ञादि और वेद मिलेंगे ।"

कहा गया है, वे यहाँ और अक्सर अन्यत्र भी, केवल उन बर्बर जातियों के द्योतक मात्र हैं जो आर्य-संस्थाओं के विरोधी थे। इन निवासियों के अतिरिक्त जो एकमात्र अन्य अभिनेता इस कथा में आते हैं, वे वानर हैं, जो श्रीराम के साथ होकर उनकी सहायता करते हैं। इसका केवल यही अर्थ हो सकता है कि जब आर्य-क्षत्रियों ने सर्वप्रथम दक्षिण में आक्रामक प्रवेश किया तब वहाँ की मूलजातियों के एक अंश ने उनकी सहायता की। श्रीराम एक वानर-राज को उसके उस पैतृक राज्य पर अभिषिक्त भी कर देते हैं जिससे उसे च्युत कर दिया गया था। इसके बदले में वह वानर राजा श्रीराम की सहायता करता है।"

हम लासन से यह मानने में सहमत हों या नहीं, कि इन विशालकाय दैत्यों या राक्षसों में संयुक्त दानवीय विशेषतायें उन बर्बर जातियों से गृहीत हैं जिन्हें ब्राह्मण आक्रामकों ने वनों में बसा पाया और जो उनके प्रति सदैव आक्रामक रुख ही रखते थे (और सम्भवतः यह दृष्टिकोण कुछ सीमा तक इस तथ्य द्वारा पुष्ट होता है कि वैदिक सूक्तों में इन क्रूर आदिवासी जातियों और मेघरूपी दानवों दोनों को 'दस्यु' शब्द से ही व्यक्त किया गया है), अथवा हम इन्हें एक कविकल्पना मानें जिसमें क्रूरता आदि का वर्णन करते समय भारतीय कल्पना सीमा का अतिक्रमण कर जाती है, इस बात में कोई सन्देह नहीं कि उस समय तक दक्षिण भारत में कृषि केवल आंशिक रूप से ही होती थी और आर्यों ने अभी उसको अपने अधिकार में लेना आरम्भ मात्र किया था। नीचे रामायण के कुछ अन्य स्थल उद्धृत किये जा रहे हैं जिनमें राक्षसों के उत्पातों का वर्णन है। एक वृद्ध ऋषि चित्रकूट के आश्रमों में निवास करनेवाले अन्य मुनियों की ओर से श्रीराम से राक्षसों के उत्पातों के सम्बन्ध में इस प्रकार कहते हैं। रामायण २.११६,११ और बाद : रावणावरजः कश्चित् खरो नामेह राक्षसः। उत्पाट्य तापसान् सर्वान् जनस्थाननिवासिनः। १२. धृष्टश् च जितकाशी च नृशंसः पुरुषादकः। अवलिप्तश् च पापश् च त्वं च तात न मृष्यते। १३. त्वं यदा-प्रभृति ह्य् अस्मिन्न् आश्रमे तात वर्तसे। तदा-प्रभृति रक्षांसि विप्रकुर्वन्ति तापसान्। १४. दर्शयन्ति हि बीभत्सैः क्रूरैर् भीषणकैर् अपि। नाना रूपैर् विरूपैश् च रूपैर् असुख-दर्शनैः। १५. अप्रशस्तैर् अशुचिभिः सम्प्रयुज्य च तापसान्। प्रतिघ्नन्त्य् अपरान् क्षिप्रम् अनार्याः पुरतः स्थितान्। १६. तेषु तेष्व् आश्रम-स्थानेष्व् अबुद्धम् अवलीय च। रमन्ते तापसांस् तत्र नाशयन्तो-ऽल्पचेतसः। १७. अवक्षिपन्ति स्रुग्-भाण्डान् अग्नीन् सिञ्चन्ति वारिण। कलशांश् च प्रमर्दन्ति हवने समुपस्थिते। १८. तैर् दुरात्मभिर्

आविष्टान् आश्रमान् प्रजिघांसवः। गमनायान्य-देशस्य चोदयन्त्य् ऋषयोऽद्यमाम। तत् पुरा राम शारीरीम् उपहिंसां तपस्विषु। दर्शयन्ति हि दुष्टाश् ते त्यक्ष्याम' इमम् आश्रमम्। "रावण का छोटा भाई, एक खर नामक राक्षस है जिसने जनस्थान में रहनेवाले समस्त तपस्वियों को उखाड़ फेंका है। वह बड़ा ढीठ, विजयोन्मत्त, क्रूर, नरभक्षी और घमण्डी है। वह आपको भी सहन नहीं कर पाता। १३. आप जब से इस आश्रम मे रहने लगे हैं तब से सब राक्षस तपस्वियों को और अधिक त्रस्त करने लगे है। १४.१५ वे अनार्य राक्षस, वीभत्स, क्रूर, और भीषण, नाना प्रकार के विकृत एवं देखने से दुःखदायक रूप धारण करके सामने आते हैं और पाप जनक अपवित्र पदार्थों से तपस्वियों का स्पर्श कराकर अपने सामने खडे अन्य ऋषियों को भी पीड़ा देते है। १६. वे उन-उन आश्रमों मे अज्ञात रूप[103] से आकर छिप जाते है और अल्पज्ञ अथवा असावधान तपस्वियों का विनाश करते हुये वहाँ सानन्द विचरण करते हैं। १७. होम कर्म आरम्भ होने पर वे स्रुक-स्रुवा आदि यज्ञ-सामग्रियों को इधर-उधर फेंक देते हैं, अग्नि में पानी डाल देते है और कलशों को फोड़ डालते हैं। १८. उन दुरात्मा राक्षसों से आविष्ट हुये आश्रमों को त्याग देने की इच्छा रखकर ये ऋषि लोग आज मुझे यहाँ से अन्य स्थानों मे चलने के लिये प्रेरित कर रहे है। १९. वे दुष्ट राक्षस तपस्वियों की शारीरिक हिंसा का प्रदर्शन करें इसके पूर्व ही हम इस आश्रम का त्याग कर देंगे।"

और आगे यात्रा करते हुये श्रीराम का एक विराध नामक राक्षस से सामना होता है, जिसका इस प्रकार वर्णन है: रामायण ३. २,४: ददर्श गिरि शृङ्गाभम् पुरुषादं महास्वनम्। ५. गभीराक्षम् महावक्त्रम् विकटं विकटोदरम्। बीभत्सं विषमं दीर्घं विकृतं घोर-दर्शनम्। ६. वसानं चर्म वैयाघ्रं व सार्द्रं रुधिरोक्षितम्। त्रासनं सर्व-भूतानां व्यादितास्यम् इवान्तकम्। ७. त्रीन् सिंहांस् चतुरो व्याघ्रान् द्वौ वृकौ पृषतान् दश। सविषाणम् वसादिग्धं गजस्य च शिरो महत्। अवसज्यायसे शूले विनदन्तम् महास्वनम्। "(श्रीराम ने) एक नरभक्षी राक्षस देखा जो पर्वत-शिखर के समान ऊँचा तथा उच्च स्वर से गर्जन करता था। ५. उसकी आँखें गहरी, मुँह बहुत बड़ा, आकार विकट, और पेट विकराल था। वह देखने में अत्यन्त

---

[103] मूल शब्द ये हैं "अबुद्धम्' और 'अवलीय', जिनकी भाष्यकार 'अबुद्धम्' अविदितम् यथा भवति तथा निद्रादौ 'अवलीय च' निर्भयम् आश्लिष्य च', के रूप मे व्याख्या करते है।

भयंकर, घृणित, बेडौल, बहुत विशाल तथा विकृत वेश से युक्त था। ६ उसने रक्तमिश्रित और चर्बी से गीला व्याघ्रचर्म पहन रक्खा था। समस्त प्राणियों को त्रास पहुँचानेवाला वह राक्षस यमराज के समान मुँह बाये खड़ा था। ७. वह एक लोहे के शूल में तीन सिंह, चार व्याघ्र, दो भेड़िये, दस चितकबरे मृगों और दाँतों सहित एक अत्यन्त विशाल हाथी का मस्तक, जिसमें चर्बी लिपटी हुई थी, गूँथ कर जोर जोर से दहाड़ रहा था।"[१०४]

यह राक्षस, जिसका श्रीराम ने वध किया, एक गन्धर्व निकला जो शाप के कारण राक्षस हो गया था; किन्तु मृत्यु के पश्चात् इसने पुनः अपना पूर्वरूप प्राप्त कर लिया। फिर भी, इसने यह विनती की इसके शव को राक्षसों की परम्परा के अनुसार गाड़ दिया जाय। रामायण ३.४,२२ : अवटे चापि मां राम निक्षिप्य कुशली व्रज। रक्षसां गत-सत्वानाम् एष धर्मः सनातनः। २३. अवटे ये निधीयन्ते तेषां लोकाः सनातना। ...२७. ततः खनित्रम् आदाय लक्ष्मण श्वभ्रम् उत्तमम्। अखनत् पार्श्वतस् तस्य विराधस्य महात्मनः। २८. तम् मुक्त-कण्ठम् उत्क्षिप्य शंकुकर्णम् महास्वनम्।

---

[१०४] निषादों का पुराणों में भी अत्यन्त कुरूप तथा काले लोगों के रूप में वर्णन है, किन्तु ये कद में राक्षसों की अपेक्षा छोटे होते हैं। प्रस्तुत कृति का प्रथम भाग, और विल्सन का विष्णु पुराण १ १८१ देखिये। भाग० पुराण ४.१४, ४३-४६ में निषादों का इस प्रकार वर्णन है . "विनिश्चित्यैवम् ऋषयो विपन्नस्य महीपते। ममन्थुर् ऊरुम् तरसा तत्रासीद् बाहुको नरः। काककृष्णोऽतिह्रस्वाङ्गो ह्रस्वबाहुर् महाहनुः। ह्रस्वपाद् निम्ननासाग्रो रक्ताक्षस् ताम्र-मूर्धजः। त तु नेऽवननम् दीनम् किं करोमीति वादिनम्। निषीदेत्य् अब्रुवम् तात स निषादस् ततोऽभवत्। तस्य वंशास्तु नैषादा गिरि-कानन गोचरा।" 'इस प्रकार निश्चय करके ऋषियों ने विपन्न राजा (वेण) के ऊरुओं को जोर-जोर से दबाया जिससे एक हीन व्यक्ति की उत्पत्ति हुई। वह कौये के समान काला, अत्यन्त ह्रस्वाङ्ग, ह्रस्वबाहु, बड़े जबड़ोंवाला, ह्रस्वपाद, लम्बी नासिकावाला, लाल नेत्रोंवाला, तथा ताम्रवर्ण केशोंवाला था। उस मनुष्य ने तब विनम्रता तथा दीनतापूर्वक पूछा कि वह क्या करे। उन लोगों ने कहा 'बैठो (निषीद), और उसके फलस्वरूप वह 'निषाद' हो गया। उसके वंशजों को नैषाद कहते हैं जो पर्वतों और वनों में निवास करते हैं।" प्रो० विल्सन का कहना है कि पद्मपुराण (भू-ख०) में भी "इसी प्रकार का एक वर्णन है जिसमें उनकी वामन आकार तथा काले रंग के साथ चौड़े मुख, बड़े कान, और निकले हुये पेट, जैसी विशेषतायें और जोड़ दी गई है।"

विराधम् प्राक्षिपत् श्वभ्रे नदन्तम् भैरवस्वनम् । "हे राम ! आप मेरे शरीर को गड्ढे में गाड़ कर कुशलपूर्वक चले जाइये । मरे हुये राक्षस को गड्ढे में गाड देना ही उनके लिये सनातन धर्म है । २३. जो राक्षस गड्ढे मे गाड दिये जाते हैं उन्हे सनातन लोक की प्राप्ति हो जाती है । २७ तव लक्ष्मण ने फावड़ा लेकर उस विशालकाय राक्षस, विराध, के पास ही एक बहुत बड़ा गड्ढा खोद कर तैयार किया । २८. तब श्रीराम ने उसके गले को छोड दिया और लक्ष्मण ने खूँटे जैसे कान-वाले[१०५] उस विराध को उठाकर उस गड्ढे में डाल दिया, उस समय वह अत्यन्त भयानक आवाज़ में गर्जन कर रहा था ।"[१०६] इससे, जैसा कि वेवर ने कहा है (इण्ड० स्टू० १.२७२, नोट), ब्राह्मण भारतीयों और आदिवासी जातियों के मृतक-संस्कारों में अन्तर का पता लगता है ।

नीचे दो और स्थल दिये जा रहे हैं जिनमें राक्षसों और आर्यों द्वारा उनके दमन का वर्णन है । ऐसा प्रतीत होता है कि प्रताड़ित (ऋषि) लोग यह कहते है कि वे अपनी अलौकिक शक्तियों द्वारा अपने शत्रुओं से वच सकते हैं ; किन्तु वे ऐसी शक्तियों का प्रयोग नहीं करना चाहते । ऐसा न करने के कारणों का भी इन स्थलों पर उल्लेख है । रामायण ३.६, १५ : सोऽयम् ब्राह्मण भूयिष्ठो वानप्रस्थ-गणो महान् । त्वन्नाथोऽनाथवद् राम राक्षसैर् हन्यते भृशम् । एहि पश्य शरीराणि मुनीनाम् भावितात्मनाम् । हतानां राक्षसैर् घोरैर् वाहनाम् बहुधा वने । पम्पा-नदी-निवासानाम् अनु मन्दाकिनीम् अपि चित्रकूटालयानां च क्रियते कदनम् महत् । "श्रीराम ! इस वन में रहने वाला वानप्रस्थ महात्माओं का यह महान सम्प्रदाय, जिसमें ब्राह्मणों का आधिक्य है और जिनके रक्षक आप हैं, राक्षसों द्वारा अनाथ की तरह मारा जा रहा है । आइये देखिये, ये भयंकर राक्षसों द्वारा मार गये वहु-संख्यक पवित्रात्मा मुनियों के शरीर दिखाई पड़ रहे हैं । पम्पासरोवर, और उसके निकट वहने वाली मन्दाकिनी[१०७] नदी के तट पर जिनका निवास है,

---

[१०५] 'शकुकर्ण' विशेपण का आशय स्पष्ट नही है । भाष्यकार ने 'शकु' की इस प्रकार व्याख्या की है "शंकु-वत् कठिनम् ।'

[१०६] फिर भी, वाद मे श्रीराम का एक अन्य राक्षस् , कवन्ध, से सामना होता है, जिसे उसके निवेदन पर लक्ष्मण चिता मे जला देते हैं (रामायण ३ ७१,३१,७२,१ और वाद ।

[१०७] यहाँ यह देखा जा सकता है कि हिमालय की एक नदी के नाम को [यह केदारनाथ के निकट से निकलकर गङ्गा मे मिल जाती है। देखिये

तथा जिन्होंने चित्रकूट में अपना निवास बना लिया है, उन सभी ऋषि-मुनियों का राक्षस महान संहार कर रहे है।" रामायण ३.१०,१० : राक्षसैर् दण्डकारण्ये बहुभिः कामरूपिभिः । ११. अर्दिताः स्म भृशम् राम भवान् नस् तत्र रक्षतु । होम-काले तु सम्प्राप्ते पर्व कालेषु चानघ । १२. धर्षयन्ति स्म दुर्धर्षाः राक्षसाः पिशिताशनाः । राक्षसैर् धर्षितानां च तापसानां तपस्विनाम् । १३ गतिम् मृगयमाणानाम् भवान् नः परमा गतिः । काम तपःप्रभावेन शक्ता. हन्तुं निशाचरान् । १४. चिरार्जितं तु नेच्छामस् तपः खण्डयितु वयम् । बहुविघ्न तपो नित्यं दुश्चर चैव राघव । १५. तेन शाप न मुञ्चामो भक्ष्यमाणाश् च राक्षसैः । "हे राम ! दण्डकारण्य में इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले अनेक राक्षस रहते हैं। उनसे हमें बड़ा कष्ट पहुँच रहा है, अतः वहाँ उनके भय से आप हमारी रक्षा करें । हे अनघ ! अग्निहोत्र का समय आने पर तथा पर्व के अवसरों पर ये अत्यन्त दुर्धर्ष मांसभोजी राक्षस हमें घर दबाते हैं। राक्षसों से आक्रान्त हम तपस्वी सदा अपने लिये कोई आश्रय ढूँढ़ते रहते हैं; अतः आप ही हमारे परम आश्रय हों। यद्यपि हम तपस्या के प्रभाव से इच्छानुसार इन राक्षसों का वध करने में समर्थ हैं, तथापि चिरकाल से उपार्जित किये हुए तप को हम खण्डित नहीं करना चाहते, क्योंकि तप में अनेक विघ्न आते रहते हैं तथा इसका सम्पादन अत्यन्त कठिन है। यही कारण है कि राक्षसों का ग्रास बन कर भी हम उन्हें शाप नहीं देते ।" इस स्थल से ऐसा प्रतीत होता है कि शाप देने से शाप देनेवाले के पुण्य का क्षय हो जाता था। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग में उल्लिखित विश्वामित्र की कथा से तुलना कीजिये। फिर भी, सीता का विचार है कि उनके पति, श्रीराम को, राक्षसों का वध करने का कोई अधिकार नहीं है क्योंकि राक्षस न तो उन लोगों पर कोई आक्रमण कर रहे हैं और न उन्हें कोई क्षति ही पहुँचा रहे हैं।[१०८]

फिर भी, यह स्पष्ट नहीं है कि श्रीराम की सहायता का इतने आग्रह-

---

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम भाग । रामायण ४ ४४,९४ (गोरेसियो स०) 'सर्पिभवन तत्र-तत्र मन्दाकिनी नदी'] मध्यभारत की एक नदी के लिये व्यवहृत किया गया है। एक ही नाम के विभिन्न नदियो के लिये प्रयुक्त हुये होने के सम्बन्ध मे ऊपर जो कुछ कहा गया है उसी का यह एक और उदाहरण है।

[१०८] रामायण ३ ९,२४ न कथञ्चन सा कार्या गृहीत-धनुषा त्वया । बुधिर् वैर विना हन्तुं राक्षसान् दण्डकाश्रितान । अपराध विना हन्तुम् लोको वीर न मस्यते ।

पूर्वक क्यों आह्वान किया गया है; क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि महर्षि अगस्त्य राक्षसों को पूर्णतया नियन्त्रित रखने में सफल हो गये थे। अगस्त्य की शक्ति का इस प्रकार वर्णन हैं। रामायण ३. ११, ७९: अगस्त्यं इति विख्यातो लोको स्वेनैव कर्मणा। आश्रमो दृश्यते तस्य परिश्रान्तश्रमापहः। ..८१ निगृह्य तरसा मृत्युं लोकानां हितकाम्यया। दक्षिणा दिक् कृता येन शरण्या पुण्यकर्मणा। ८२. तास्येरम् आश्रय-पदम् प्रभावाद् यस्य राक्षसैः। दिग् इय दक्षिणा त्रासाद् दृश्यते नोपभुज्यते ८३. यदा प्रभृति चाक्रान्ता दिग् इयम पुण्यकर्मणा। तदा-प्रभृति निर्वैराः प्रशान्ताः रजनीचराः। ८४. नाम्ना चेयम् भगवतो दक्षिणा दिक् प्रदक्षिणा। प्रथिता त्रिषु लोकेषु दुर्धर्षा क्रूर-कर्मभिः। ८५ मार्गं निरोधुं सततम् भास्करस्याचलोत्तमः। सन्देशम् पालयस् यस्य विन्ध्य शैलो न वर्धते।

९०. नात्र जीवेद् मृषावादी क्रूरो वा यदिवा शठः। नृशंसः पापवृत्तो वामुनिर् एप तथा विधः। "७९. जो अपने कर्म से ही संसार में अगस्त्य के नाम से विख्यात हैं, उन्हीं का यह आश्रम दिखाई पड रहा है। यह आश्रम थके-माँदे पथिकों की थकावट को दूर करने वाला है। ८१.८२. जिन पुण्यकर्मा महर्षि अगस्त्य ने समस्त लोकों की हितकामना से मृत्यु-स्वरूप राक्षसों का वेगपूर्वक दमन करके इस दक्षिण दिशा को शरण लेने योग्य बना दिया तथा जिनके प्रभाव से राक्षस इस दक्षिण दिशा को केवल दूर से भयभीत होकर देखते हैं, इसका उपयोग भी नहीं करते, उन्हीं का यह आश्रम है। ८३. पुण्यकर्मा अगस्त्य ने जब से इस दिशा में पदार्पण किया है तब से यहाँ के निशाचर वैररहित तथा शान्त हो गये हैं। ८४. भगवान् अगस्त्य की महिमा से इस आश्रम के निकट निर्वैरता आदि गुणों के सम्पादन में समर्थ तथा क्रूर कर्मा राक्षसों के लिये दुर्जय होने के कारण यह सम्पूर्ण दिशा नाम से भी तीनों लोकों में 'दक्षिणा' ही कहलायी, इसी नाम से विख्यात हुई, तथा इसे अगस्त्य की दिशा भी कहते हैं। ८५. एक बार पर्वत श्रेष्ठ विन्ध्य सूर्य का मार्ग रोकने के लिये बढ़ा था, किन्तु महर्षि अगस्त्य के कहने से वह नम्र हो गया। तब से आजतक निरन्तर उनके आदेश का पालन करता हुआ वह कभी नहीं बढ़ता। ··
९०. ये ऐसे प्रभावशाली मुनि हैं कि इनके आश्रम में कोई झूठ बोलनेवाला क्रूर, शठ, नृशस अथवा पापाचारी मनुष्य जीवित नहीं रह सकता।"

इसी अध्याय के एक पहले के अश में वातापि और इल्वल नामक दो राक्षसों के अगस्त्य द्वारा मारे जाने का वर्णन है। रामायण ३.११,५५ इहैकदा किल क्रूरो वातापिर् अपि चेल्वलः भ्रातरौ सहिताव् आस्ता ब्राह्मण-घ्नौ महासुरौ। ५६. धारयन् ब्राह्मण रूपम् इल्वलः संस्कृतं वदन्। आम-

न्त्रयत विप्रान स श्राद्धम् उद्दिश्य निर्घृण'। ५७. भ्रातरं संस्कृतं कृत्वा ततस् तम् मेष-रूपिणम्। तान् द्विजान् भोजयामास श्राद्ध दृष्टेन कर्मणा। ५८. ततो भुक्तवता तेषा विप्राणाम् इल्वलोऽब्रवीत्। "वातापे निष्क्रमस्व" इति स्वरेण महता वदन्। ५९. ततो भ्रातुर् वच. श्रुत्वा वातापिर् मेष वद् नदन्। भित्त्वा भित्त्वा शरीराणि ब्राह्मणानां विनिष्पतत्[१०१]। ६१. अगस्त्येन तदा देवैः प्रार्थितेन महर्षिणा। अनुभूय किल श्राद्धे भक्षित. स महासुरः। ६२. ततः "सम्पन्नम्" इत्य् उक्त्वा दत्त्वा हस्तेऽवणेजनम्। भ्रातर "निष्क्रमस्व" इति इल्वलः समभाषत। ६३. स तदा भाषमाण तु भ्रातर विप्रघातिनम्। अब्रवीन् प्रहसन् धीमान् अगस्त्यो मुनिसत्तमः। ६४. "कुतो निष्क्रमितु शक्तिर् मया जीर्णस्य रक्षसः। भ्रातुस् तु मेष-रूपस्य प्रहस्य यम-सादनम्"। ६५. अथ तस्य वचः श्रुत्वा भ्रातुर् निधन-सश्रतम्। प्रधर्षयितुम् आरेभे मुनि क्रोधाद् निशाचरः। "एक समय की बात है, यहाँ क्रूर स्वभाववाले वातापि और इल्वल नामक दो भाई एक साथ रहते थे। ये दोनों महान् असुर ब्राह्मणों की हत्या करनेवाले थे। निर्दयी इल्वल ब्राह्मण का रूप धारण करके संस्कृत बोलता हुआ जाता और श्राद्ध के लिये ब्राह्मणों को निमन्त्रण दे आता था। फिर मेष का रूप धारण करनेवाले अपने भाई वातापि का संस्कार करके श्राद्धकल्पोक्त विधि से ब्राह्मणों को खिला देता था। ५८. ये ब्राह्मण जब भोजन कर लेते थे तब इल्वल उच्च स्वर से बोलता : 'वातापे ! निकलो।' ५९. भाई की बात सुनकर वातापि भेड़े के समान में-में करता हुआ उन ब्राह्मणों का पेट फाड़कर निकल आता था।...... ६१. उस समय देवताओं की प्रार्थना से महर्षि अगस्त्य ने श्राद्ध में उस महान् असुर का जान बूझ कर भक्षण कर लिया। ६२. तदनन्तर श्राद्ध-कर्म सम्पन्न हो गया। ऐसा कहकर ब्राह्मण के हाथ में अवनेजन का जल दे कर इल्वल ने भाई को सम्बोधित करते हुये कहा 'निकलो'। ६३. इस प्रकार भाई को पुकारते हुये उस ब्राह्मणघाती असुर से बुद्धिमान मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य ने हँस कर कहा—६४. 'जिस मेषरूपी तेरे भाई राक्षस को मैंने खाकर पचा लिया है, वह तो यमलोक में जा पहुँचा है। अब उसमें निकलने की

---

[१०१] यहाँ विनिरपतत्' के स्थान पर 'विनिष्पतत्' है, जिस पर भाष्यकार यह टिप्पणी करता है कि आगम का अभाव वैदिक है (अड् अभाव. आर्ष)। ११८,१७ मे भी 'पुष्प–वृष्टिश् च खात् पतत' है जहाँ भाष्यकार इसी प्रकार टिप्पणी करता है (अड्–अभावाश् छान्दस)।

शक्ति कहाँ है।' ६५. भाई की मृत्यु को सूचित करनेवाले मुनि के इस वचन को सुन कर उस निशाचर ने क्रोधपूर्वक उन्हें मार डालने का उद्योग आरम्भ किया।"[११०]

अगस्त्य को पुनः दक्षिण दिशा को विजित करनेवाला कहा गया है।[१११] रामा० ६. ११७, १४ : निर्जिता जीवलोकस्य तपसा भावितात्मना। अगस्त्येन दुराधर्षा मुनिना दक्षिणेव दिक्। "जो दक्षिण दिशा मनुष्यों के लिये दुर्जेय थी उसे तपस्वी मुनि अगस्त्य ने अपनी तपस्या से जीत लिया।"

रावण के भ्राता, विभीषण, को उसकी बहन, शूर्पणखा, श्रीराम से एक पुण्यात्मा तथा राक्षसों के समान व्यवहार न करनेवाला बताती है।[११२] क्या इससे कुछ ऐसी दक्षिणी जातियों का तात्पर्य हो सकता है जो ब्राह्मण-धर्म को स्वीकार करके श्रीराम के साथ हो गई थीं, अथवा यह कथा का एक काल्पनिक स्थल मात्र है? अन्ततोगत्वा विभीषण अपने भाई को छोड़ देता है और श्रीराम उसका अपने मित्र के रूप में स्वागत करते हैं।[११३] महाभारत (३. १५,९१३-१८) के रामोपाख्यान में जहाँ रावण ब्रह्मा से मनुष्यों से अवध्य होने का वर माँगता है, वहीं दूसरी ओर, विभीषण यह वर माँगता है कि 'कठिन से कठिन विपत्ति पड़ने पर भी वह अधर्म की ओर प्रवृत्त न हो और यह कि उसे वह ब्रह्मास्त्र प्राप्त हो जिसे चलाना उसने कभी नहीं सीखा है'।"[११४] इस प्रकार वह ब्राह्मणों के प्रति अपनी नम्रता को प्रदर्शित करता है।

एक राक्षस-प्रमुख, खर, ने राक्षसों का वर्णन करते हुये उन्हे "भयंकर, द्रुतगामी, युद्ध में दुर्जेय, और नीलेमेघ के समान रंगवाला बताया है।"[११५]

---

[११०] वेबर (इण्ड० स्टु० १.४७५) ने इस कथा की एक व्याख्या का परामर्श दिया है। आपका विचार है कि इसकी अंशतः दक्षिण मे निवास करने-वाली किसी नरभक्षी जाति की स्मृति से उत्पत्ति हुई हो सकती है

[१११] अगस्त्य से सम्बद्ध लासन का उद्धरण भी देखिये जिसे ऊपर दिया जा चुका है। काल्डवेल का 'द्रवेडियन ग्रामर' भी देखिये।

[११२] रामायण ३ १७,२२ विभीषणस् तु धर्मात्मा न तु राक्षस चेष्टित ।

[११३] रामायण ६.१९,२४ 'इति ब्रुवाण रामस् तु परिष्वज्य विभीषणम्। अब्रवीत् लक्ष्मणम् इत्यादि।'

[११४] महाभारत ३ १५,९१८ 'परमाद्गतस्यापि नाधर्मे मे मतिर् भवेत्। अशिक्षितं च भगवन् ब्रह्मास्त्रम् प्रतिभातु मे।' १५,१९७ वें श्लोक मे विभीषण को 'धर्मगोप्ता क्रियारतिः' कहा गया है।

[११५] 'रक्षसाम् भीम—वेगाना समरेष्व् अनिवर्त्तिनाम्। नीलजीमूत-वर्णानाम्।'

स्वयं खर को राम ने 'ब्राह्मणों का एक नित्य शत्रु'[११६] 'क्रूर, ब्राह्मणों को घृणा करनेवाला, धर्मविहीन, और दुष्ट'[११७] कहा है। रावण को 'धर्म का उच्छेदक तथा दूसरे की पत्नियों का अपहरण करनेवाला,[११८] यज्ञ के अवसर पर सोम को भ्रष्ट करनेवाला, और यज्ञ का विध्वंसक, ब्राह्मणघाती, दुष्ट और क्रूर व्यक्ति'[११९] कहा गया है। फिर भी, विश्वास का संचार करने के लिये रावण वेदोच्चारण करते हुये ही सीता के निकट आता है (रामायण ३. ४६, १४)।[१२०]

उन वानरों के रूप में, जिनकी रामायण में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका है; हमें आदिवासियों का एक अन्य ऐसा वर्ग मिलता है जिसने ब्राह्मणों के साथ होकर उन्हीं के धर्म को स्वीकार कर लिया था। अथवा, क्या ये तथा राक्षस भी केवल एक कवि-कल्पना मात्र है? रामायण ३.७२,१८ और बाद में यह कहा गया है कि "वानर-प्रमुख सुग्रीव को घृणा नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह धर्मात्मा हैं, वह अपनी इच्छानुसार रूप धारण कर सकते हैं, और अपने मित्रों की सहायता करने में तत्पर हैं।"[१२१] और इसी सुग्रीव की, जिसे श्रीराम ने वालि द्वारा निर्वासित कर दिये जाने पर भी पुनः राजा बना दिया, चर्चा करते हुये यह कहा गया है : "वानरों ने विधिवत् भोजन, वस्त्र और रत्नों से ब्राह्मणों का सत्कार किया। मंत्रवेत्ता पुरुषों ने वेदी पर अग्नि की स्थापना करके उसे प्रज्वलित किया, और अग्निवेदिका के चारों ओर कुश बिछाये। फिर अग्निका संस्कार करके मंत्रपूत हविष्य के द्वारा प्रज्वलित अग्नि में आहुति दी।"[१२२]

---

[११६] रामायण ३ ३०,१२ नित्यम् ब्राह्मणकण्टक।

[११७] गोरेसियो सं० श्लोक ७० 'क्रूरात्मन् ब्रह्मविद्विष्ट त्यक्तधर्म सुपापकृत्।'

[११८] वही ३२,१२. उच्छेतार च धर्माणाम् परदाराभिमर्दनम्।

[११९] रामायण ३ ३२,१९. "मन्त्रैर् अभिष्टुतम् पुण्यम् अध्वरेषु द्विजातिभि.। हविर्धानेषु य सोमम् उपहन्ति माहाबल। प्राप्त-यज्ञ-हर दुष्टम् ब्रह्मघ्नम् क्रूरकारिणम्।"

[१२०] 'ब्रह्म-घोषम्–उदीरयन्।' महाभारत ३ १५,९८१ मे वैश्रवण के पुत्रो, रावण आदि को, मूलत 'सर्वे-वेद-विदः शूरा सर्वे सुचरित-व्रता' कहा गया है।

[१२१] "न तु ते सोऽवमन्तव्य सुग्रीवो वानराधिप। कृतज्ञ कामरूपी च सहायार्थी च कृत्यवान्"

[१२२] रामायण ४.२६,२९ और बाद ततस् ते वानरश्रेष्ठ अभिषेक्तु यथा-

वानरों को गुहाओं में निवास करता हुआ दिखाया गया है। लक्ष्मण इन्हीं गुहाओं में प्रवेश करके श्रीराम की सहायता में शिथिल हो जाने पर सुग्रीव को फटकारते हैं। फिर भी, गुहा केवल एक नाम है, क्योंकि बाद की भारतीय काव्य-शैली की भाँति इसे यहाँ भी वृक्षों, फूलों, प्रासादों, नदियों आदि से परिपूर्ण कहा गया है। वानर जीवन की यह विशिष्टता या तो पूर्णतया काव्यात्मक हो सकती है जो इनकी अन्य विशिष्टताओं के अनुकूल है, अथवा इसमें दक्षिण के वनों में निवास कर रही आदिवासी जातियों की असभ्य आदतों का सन्दर्भ हो सकता है।

मेरे लिये यह निर्णय करना आवश्यक नहीं कि मैंने दक्षिण की विशालकाय और वनों में निवास करनेवाली जातियों के जिन अतिरंजित वर्णनों का उद्धरण दिया है वे जातियाँ वास्तव में वहाँ की निवासी थीं, अथवा केवल कवि की कल्पना मात्र हैं।

यह निश्चित है कि रामायण में राक्षसों का जो वर्णन है वह उन विशेषणों के अनुकूल है जो इसी समान वर्ग की एक अन्य जाति, दस्यु, के लिये भी व्यवहृत हुये हैं और जिनका ऋग्वेद में इतनी अधिक बार उल्लेख मिलता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, रामायण में इन्हें आर्यों के आश्रमों और बस्तियों को लूटने वाला, उनके यज्ञों का विध्वंस करने वाला,[१०३] ब्राह्मण-शत्रु, नरभक्षी[१०४],

---

विधि। रत्नैर वस्त्रैश् च भक्ष्यैश् च तोपयित्वा द्विजर्षभान्। ३०. तत. कुश-परिस्तीर्ण समिद्धम् जातवेदसम्। मन्त्रपूतेन हविपा हुत्वा मन्त्रविदो जना।

[१०३] महाभारत १४.२४७२—७४, मे भी उसी बर्बर कृत्यो को, जिन्हे रामायण मे राक्षसो पर आरोपित किया गया है, निषादो पर प्रक्षिप्त किया गया है। दक्षिण-दिग्विजय के समय अर्जुन निषादराज एकलव्य के देश मे आये और उसके पुत्र का वध किया जो यज्ञ का विध्वस करने के लिये उपस्थित हुआ था (यज्ञ-विघ्नार्थम् आगतम्)।

[१०४] गौतम की कथा मे, जिसे अशत महाभारत से ऊपर उद्धृत किया जा चुका है, उसी 'पुरुषाद' विशेषण का, जिसका रामायण मे राक्षसो के लिये प्रयोग हुआ है, उन दस्युओ के लिये प्रयोग किया गया है जिन्हे महाभारत मे कोई दानव नही बल्कि केवल एक असभ्य जाति मात्र माना गया है। जो ब्राह्मण, दस्युवत् हो जाने के लिये गौतम की भर्त्सना करता है वह उसे (गौतम) धनुष-बाण लिये हुये, तथा हाथ-पैर मे रक्त लगाये हुये एक मानवभक्षी के रूप मे आता देखता है (धनुष-पाणिम् धृतायुधम्। रुधिरेणवसिक्तागं गृह-द्वारम् उपागतम्। त दृष्ट्वा पुरुषादाभम् अपध्वस्तम् क्षयागतम्)।

भयंकर, इच्छानुसार रूप धारण करनेवाला, इत्यादि, कहा गया है। इसी प्रकार ऋग्वेद मे दस्युओं, राक्षसों, अथवा यातुधानों को भी कर्म रहित अथवा धर्म-विरोधी कहा गया है। उदाहरण के लिये, इनको इन विशेषणों से व्यक्त किया गया है : अकर्मन्, अव्रत, अपव्रत, अयज्यु, अयज्वन्, अन्यव्रत, अदेव, अदेवयु, ब्रह्मद्विष, अमानुष, घोर-चक्षस्, क्रव्याद्, असुतृप्, आदि। ऋग्वेद १० ८७,१६ में इनका यह वर्णन है : य. पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः। इन्हें विशालकाय तथा अभिचारीय और मायावी शक्तियों से युक्त कहा गया है।[१२५] बहुत सम्भव है कि रामायण के लेखक ने इन अनेक विशेषणों को ऋग्वेद से लिया हो जिनका वह राक्षसों के लिये प्रयोग करता है।

रामायण के विगत सम्पादक और अनुवादक, सिग्नोर गोरेसियो ने दक्षिण की अख्यात जातियों के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है : "विन्ध्य के दक्षिण के वनों में निवास करनेवाली जातियों को रामायण मे, मेरी समझ मे, घृणा-सूचक अर्थ में वानर कहा गया है, क्योंकि इनकी स्थिति असभ्यों जैसी थी और सम्भवत. उस समय तक ये बहुत अधिक ज्ञात भी नहीं थे। इसी प्रकार होमर ने भी उन जातियों के सम्बन्ध मे अनेक काल्पनिक कथाओं का वर्णन किया है जो उसके समय में यूनानियों को सर्वथा अज्ञात थीं। दक्षिण के निवासियों की उत्पत्ति, उनका धर्म, और उनकी भाषा, सभी आर्यों से भिन्न थी।" और राक्षसों के सम्बन्ध में इनका यह कथन है : "रामायणकार ने पौराणिक आख्यान में वर्णित राक्षस संज्ञा का एक ऐसी बर्बर जाति के लोगों के लिये व्यवहार किया है जो संस्कृत-भाषी भारतीयों के प्रति द्वेष रखते थे, और इनसे धर्म तथा सभ्यता में भी भिन्न थे। ये राक्षस ऐसे चोर या डाकू थे जो भारत के दक्षिणी तटों और लङ्का में निवास करते थे।" अपने रामायण के अन्तिम, दसवें भाग की भूमिका में सिग्नोर गोरेसियो पुनः इस विषय पर आते हैं, और यह कहने के बाद कि उत्तरी एशिया से पंजाब में आकर बसने के समय आर्यों को विभिन्न उत्पत्ति वाली[१२६] स्थानीय जातियों का सामना करना

---

[१२५] ऋग्वेद ४.४,१५ मे 'अशस्' नामक एक अन्य विशेषण का राक्षसो के लिये प्रयोग किया गया है . "दह अशसो रक्षस पाहि अस्मान् द्रुहो निदो मित्रमहो अवद्यात।"

[१२६] आपका कथन है कि सेमिटिक लोगो की दशा मे भी ऐसा ही हुआ। ये लोग भी उन हेमिटिक अथवा कुशिटिक जातियो के सम्पर्क मे आये जो प्राय. असभ्य थे।

पड़ा जिन्हें उन लोगों ने अशतः भगा दिया और अशतः अपना दास बना लिया, आप आगे विन्ध्य पर्वत के आस-पास निवास करने वाली तथा और अधिक दक्षिण मे रहने वाली असभ्य जातियों के बीच विभेद करते है। प्रथम, जिन्हें रामायण मे वानर कहा गया है, यद्यपि जाति, वर्ण तथा चारित्रिक गुणों में आर्यों से भिन्न थे, तथापि आपका विचार है कि इनमें आर्य-सभ्यता जैसी भी कुछ प्रवृत्तियाँ वर्त्तमान थीं; क्योंकि ये राम के साथ मिल गये और सुदूर दक्षिण की काली जातियों के विरुद्ध राम के अभियान में उनके साथ रहे। विन्ध्य के दक्षिण की जातियों में से अधिकाश ने आर्यो के धर्म को स्वीकार कर लिया, किन्तु प्रायद्वीप के दक्षिणी छोर की ओर तथा लङ्का में एक नृशंस काली जाति के लोग आर्य धर्म के कट्टर विरोधी भी थे। इनके लिये ही आर्यो ने 'राक्षस' नाम का व्यवहार किया। यह नाम वेद में आक्रामक बर्बरों तथा घृणित प्राणियों के लिये व्यवहृत हुआ है। रामायण में वर्णित श्रीराम का अभियान इसी जाति के विरुद्ध संचालित था। आर्य-परम्पराओं ने इस जाति के गुणों को भी निश्चित रूप से परिवर्तित कर दिया जिसके कारण ये एक विशालकाय, विकृताङ्ग, भयंकर, क्रूर तथा इच्छानुसार रूप धारण करने वाले बन गये। किन्तु इन अत्युक्तियों के विपरीत भी, रामायण में यत्र-तत्र इस जाति के कुछ ऐसे गुण विशेष भी सुरक्षित हैं जो इनके वास्तविक चरित्र पर प्रकाश डालते है। यहाँ इन्हें काला बताते हुए इनकी कभी एक काले मेघ से, कभी काले काजल से तुलना की गई है। इन्हें कड़े और घने बालों वाला, मोटे ओठों वाला, तथा सुवर्ण के उन सभी अलङ्कारों से युक्त बताया गया है जिनको धारण करने में इस जाति को सदैव आनन्द मिलता था। इन्हे आर्य-धर्म का विरोधी और यज्ञों का विध्वंसक भी कहा गया है। जिस देवता की ये आराधना तथा यज्ञ आदि से पूजा करते है वह भयकर रुद्र अथवा शिव हैं, जिन्हें गोरेसियो हेमिटिक स्रोत से उद्भूत मानते है।[१२७] इनकी ध्वजायें तथा चिह्न

[१२७] रामायण ६,५४,३३ पर एक टिप्पणी मे गोरेसियो इस प्रकार लिखते हैं "यहाँ उद्दिष्ट तथ्य का प्रथम काण्ड (६९,९ और बाद) मे वर्णन की अपेक्षा उल्लेख है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह तथ्य एक पौराणिक आवरण मे प्राचीन उपासना-पद्धति के सघर्ष को व्यक्त करता है। जैसा कि मेरा विश्वास है, शिव हेमिटिक अथवा कुशिटिक जाति के देवता हैं जो आर्यजाति के पहले हो चुकी थी। यह शिव विजेता आर्यों के उन यज्ञो तथा उपासनाओ मे भाग प्राप्त करना चाहते थे जिनमे इन्हे कोई स्थान प्राप्त नही था। इस प्रकार आर्यों के यज्ञो मे उत्पात करके तथा आर्यों के प्रति हिंसा करके इन्होने

नाग तथा अन्य भयंकर जीव हैं जिनका हेमिटिक लोग भी व्यवहार करते थे।[५२८] सिग्नोर गोरेसियो राक्षसों के विरुद्ध राम के अभियान की कथा के आधार को ऐतिहासिक मानते हैं, यद्यपि इसमें कहीं-कहीं अतिरंजनात्मक अलंकरण हो सकते हैं। आपका विचार है कि आर्य परम्परा में इन्हीं दो जातियों के बीच एक और पहले के संघर्ष की स्मृति भी सुरक्षित है। इस प्रकार, कुछ पुराणों में परशुराम के समकालीन यादव परिवार के एक कार्त्तवीर्य के, जो श्रीराम से कुछ पहले हो चुका था, लङ्का पर आक्रमण करके रावण को बन्दी बनाने का उल्लेख है (विष्णु पुराण, विलसन सम्पादित, और प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम भाग देखिये)।[५२९]

ऊपर प्रवर्तित सिग्नोर गोरेसियो के मतों के सम्बन्ध में मैं केवल इतना ही कहूँगा कि दक्षिणी भारत के आदिवासियों को सामान्यरूप से हेमिटिक जाति का नहीं माना जाता। जैसा कि हम अगले खण्ड में देखेंगे, इन्हें भाषा वैज्ञानिकों ने तूरानियन जाति का माना है।

प्रो० वेबर (हिस्ट० ऑफ इण्डि० लिट०, पृ० १८१) का यह विचार है कि रामायण के प्रमुख पात्र किसी भी प्रकार ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है। ये

उनके बीच अपना स्थान बना लिया।" दक्ष के यज्ञ मे शिव के उत्पात के लिये देखिये विलसन का विष्णुपुराण, भाग १, पृ० १२० और बाद, तथा प्रस्तुत कृति का चौथा भाग भी।

[५२८] यत. सिग्नोर गोरेसियो ने उन स्थलो का कोई सन्दर्भ-सकेत नही किया है जहाँ राक्षसो की इन विशेषताओ का उल्लेख है, अत. मैं उनके विवरणो की प्रामाणिकता को ढूँढ पाने मे असमर्थ हूँ। फिर भी, रामायण ५.४९,१ और बाद देखिये।

[५२९] विष्णु पुराण मे इस कथा का इस प्रकार वर्णन है · "माहिष्मत्या दिग्विजयाभ्यागतो नर्मदा-जलावगाहन-क्रीडा-निपानमदाकुलने अयत्नेनैव तेन अशेष-देव-दैत्य-गन्धर्वेश-जयोद्भूत-मदावलेपोऽपि रावण पशुर् इव वद्ध स्व-नगरेकान्ते स्थापित ।" "जब दिग्विजय करता हुआ रावण महिष्मती मे आया तब वहाँ उसे, जो देवो, दैत्यो और गन्धर्वों आदि पर विजय प्राप्त करने के कारण मदमत्त हो रहा था, कार्त्तवीर्य ने विना किसी कठिनाई के बन्दी वना लिया और अपने नगर मे लाकर एक जगली पशु के समान एक कोने मे बाँध दिया।" प्रो० विलसन का कहना है कि वायु पुराण के अनुसार कार्तवीर्य ने लङ्का पर आक्रमण किया और रावण को वही बन्दी बनाया। किन्तु वस्तु-स्थिति विष्णु पुराण के ही अनुरूप रही हो सकती है।

केवल कुछ घटनाओं और परिस्थितियों के मूर्तीकरण मात्र है। आपका कहना है कि 'सीता' ऋग्वेद[130] में, तथा साथ ही साथ, गृह्य सूक्तों में भी एक उपस्य देवी के रूप मे आती और आर्य-कृषि को व्यक्त करती है। आप राम को एक कृषक (हल चलाने वाले) का मूर्तीकरण मानते हैं। आपका विचार है कि रामायण में केवल इतनी ही ऐतिहासिकता है कि इसमें एक वास्तविक घटना, आर्य सभ्यता के भारत के दक्षिणी प्रायद्वीप मे प्रसार की घटना, को व्यक्त किया गया है।[131]

खण्ड ५—प्रायद्वीप के दक्षिण भाग की जातियों से सम्बद्ध भारतीय परम्परायें

दक्षिण भारत मे आर्यों की प्रगति तथा वहाँ की जातियों (यदि रामायण के आख्यान मे कुछ ऐतिहासिक आधार है तो) का कुछ विवरण देने के पश्चात्, अब मैं इस बात का अनुसन्धान करूँगा कि हिन्दू परम्परा में भी ब्राह्मणों के दक्षिण में बसने के पूर्व दक्षिण की जातियों की उत्पत्ति तथा सम्बन्धों की कोई सम्भाव्य व्याख्या उपलब्ध है या नहीं।

दस्यु जातियों में, जो ऐतरेय ब्राह्मण ७ १८[132] के अनुसार ऋषि विश्वामित्र के वंशज थीं, आन्ध्रों का भी उल्लेख है। और मनु (१०.४३-

---

[130] ऋग्वेद ४ ५७,६ और बाद (=अथर्ववेद ३ १७,८): "अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा। यथा न सभगाऽस्मि यथा न सुफलाऽसि। १७ (=अथर्ववेद ३.१७,४). इन्द्र सीता नि गृह्णातु ताम् पूपा अनु याछतु। (अथर्ववेद अभिरक्षतु)। सा न पयस्वती दुहाम् उत्तराम् उत्तरा समाम्।" "हे सुभगे सीते! हम तुम्हारी वन्दना करते है जिससे तुम हमारे लिये सौभाग्यशाली और श्रेष्ठ फलो को प्रदान करनेवाली हो। ७. इन्द्र सीता को कृपित करें, पूषा उसे निर्देशित करें वह पयस्वती होकर हमारे लिये प्रतिवर्ष आहार प्रदान करे।" देखिये विलसन का अनुवाद और टिप्पणी, तथा वाज० स० १२.७०।

[131] देखिये इसी लेखक का इण्ड० स्टू० १, पृ० १७५,२७७, २, पृ० २९२, ४१०। इनका रामतापनीय-उपनिषद् (बर्लिन १८६४) पर लेख तथा रामायण पर लेख (बर्लिन १८७०) भी देखिये। इन विद्वत्तापूर्ण लेखो का यहाँ साराश देने के लिये स्थान नही है। पाठक टी० व्हीलर का उनके हिस्ट्री ऑफ इण्डि०, भाग २ मे, विचार भी देख सकते हैं।

[132] प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग मे उद्धृत।

४४)[१३३] द्रविडों को भी ऐसी जाति के लोग बताते हैं जो पहले क्षत्रिय थे किन्तु ब्राह्मणों और कर्म के अभाव के कारण वृषल (अथवा शूद्र) हो गये। इसी प्रकार हरिवंश में चोलों और केरलों को पूर्व समय का क्षत्रिय कहा गया है जिन्हें राजा सगर ने धार्मिक और सामाजिक अधिकारों से वंचित कर दिया।[१३४] इसी प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि वायु, मत्स्य, अग्नि और ब्रह्म आदि अनेक पुराण दक्षिणात्यों को आर्य कहते हैं। इनके अनुसार पाण्ड्य, कर्णाट, चोल और केरल ये सभी चान्द्रवशी क्षत्रिय, तुर्वसु, के दत्तक पुत्र दुष्यन्त के वशज हैं (देखिये विलसन का विष्णु पुराण)।[१३५] पुराणों का कथन है कि तुर्वसु को उसके पिता ने दक्षिण-पूर्व का शासक बनाया। हरिवंश में इस प्रकार वर्णन है : "नहुष के पुत्र, ययाति ने, सातों द्वीपों तथा सागरों से युक्त इस सम्पूर्ण पृथिवी को जीत कर उसको पाँच भाग में विभाजित करके अपने पुत्रों को दे दिया। इस बुद्धिमान नरेश ने तुर्वसु को दक्षिण-पूर्व का अधिपति बनाया।"[१३६]

आख्यान के अनुसार, ययाति के अन्य पुत्रों की ही भाँति तुर्वसु ने भी अपने पिता को अपनी युवावस्था देना अस्वीकार कर दिया था, जिसके फलस्वरूप इसके वृद्ध पिता ने इसे भी शाप दे दिया। महाभारत में इस शाप का इस प्रकार वर्णन किया गया है :—१. ३, ३७८ और बाद . "यद्यपि तुम्हारा जन्म मुझ से हुआ है, तथापि तुम मुझे अपनी युवावस्था नहीं दे रहे हो, अतः तुम्हारी सन्तान का उच्छेद हो जायगा। हे मूर्ख ! तुम उन पतितों के राजा होगे जो मिश्रित जाति के हैं, जो संकीर्ण आचार-व्यवहार वाले हैं, और

---

[१३३] महाभारत के समानान्तर स्थलो के साथ प्रस्तुत कृति के प्रथम भाग मे उद्धृत।

[१३४] देखिये प्रस्तुत कृति का प्रथम भाग।

[१३५] हरिवश ३२ १८३६, मे कर्णाट के स्थान पर कोल है . "कुरुथामाद् अथऽआक्रीडश् चत्वारस् तस्य छ्" आत्मजा। पाण्डयश्च केरलश्चैव कोलश् चोलश्च पार्थिव;। तेषा जनपदा स्फीतॉ पाण्डयाश् चोला सकेरला।" "कुरुथाम से अक्रीड का जन्म हुआ। इसके चार पुत्र, पाड्य, केरल, कोल, और चोल, हुये जो पाण्ड्य, चोल तथा केरल नामक सम्पन्न देशो के राजा हुये।"

[१३६] वही, ३० १६१६ और बाद —"सप्तद्वीपा ययातिस् तु जित्वा पृथ्वी ससागरम्। व्यभजत् पञ्चधा राजन् पुत्राणा नाहुपस् तदा। दिशि दक्षिण-पूर्वस्याम् तुर्वसम् मतिमान् प्रभु।···न्ययोजयत्।"

जो मांस-भक्षण करते हैं। तुम उन दुष्ट म्लेच्छों पर शासन करोगे जो अपनी गुरु पत्नी के साथ व्यभिचार करते है, पशु-धर्मी तथा पापी हैं।"[१३७]

अन्ध्र, द्रविड़, चोल, और केरल, जिन्हें गत स्थल पर क्षत्रिय अथवा दत्तक पुत्र तुर्वसु का वंशज कहा गया है, क्रमशः तेलङ्गाना, कारोमण्डल तट के मध्य और दक्षिणी भागों, तथा मालावार के निवासी थे। यह स्पष्ट है कि मैंने जिन आख्यानों को ऊपर उद्धृत किया है वे इनकी उत्पत्ति पर कोई प्रकाश नहीं डालते। ये जातियाँ आर्य नहीं हो सकतीं इसे मैं इनके आधुनिक वंशजों की भाषा पर आधारित अधिक संतोषजनक प्रमाणों द्वारा सिद्ध करने का प्रयास करूँगा।

खण्ड ६—दक्षिण भारत की भाषायें और उनका संस्कृत से अन्तर

जैसा कि प्रस्तुत ग्रन्थ के आरम्भिक अंशों में मैं सूचित कर चुका हूँ, उत्तर भारत की देशबोलियों में संस्कृत से सर्वथा भिन्न, ऐसी पूर्ववर्ती भाषाओं के अनेक चिह्न विद्यमान हैं जिन्हें आर्यों के आगमन के पूर्व इस क्षेत्र में निवास कर रही अनार्य जातियाँ बोलती थीं। मैंने दक्षिण भारत में भी भाषा के एक ऐसे वर्ग, जिसके अन्तर्गत तेलुगु, तमिल, मलयालम, और कन्नड आती हैं, का भी उल्लेख किया है जिनका संस्कृत से आधार-भूत अन्तर है।[१३८] अब मैं विस्तार से, दक्षिण की भाषा सम्बन्धी अपनी उक्तियों को विस्तार से प्रमाणित करने का प्रयास करूँगा।

मध्य-भारत के पर्वतीय क्षेत्रों में आज भी अनेक असभ्य जातियाँ, जैसे गोंड, कोल, इत्यादि निवास करती हैं जिनकी भाषा संस्कृत से निष्कृष्ट किसी भी प्राचीन या अर्वाचीन प्राकृत बोली से भिन्न है। फिर भी, इन असभ्य जातियों की भाषा का विस्तार से अध्ययन करना मेरे लिये आवश्यक नहीं है। मेरे तर्कों के लिये यह दिखा देना ही पर्याप्त है कि यही उक्ति दक्षिण के पठार पर निवास करनेवाली कहीं अधिक सभ्य अनेक जातियों के लिये भी

---

[१३७] "यत् त्वम् मे हृदयाज् जातो वय स्वम् न प्रयच्छसि। तस्मात् प्रजा समुच्छेद तुर्वसो तव यास्यति। साकीर्णाचार-धर्मेषु प्रतिलोमचरेषु च। पिशिताशिषु चऽआन्त्येषु मूढ राजा भविष्यसि। गुरु दर-प्रसक्तेषु तियग्-योनि-गतेषु च। पशु-धर्मिषु पापेषु म्लेच्छेषु त्वम् भविष्यसि।" ३५३३ वें श्लोक मे तुर्वसु को यवनो का वशज कहा गया है (तुर्वसोर् यवना स्मृता)।

[१३८] देखिये ऊपर पृ० ६६।

उपयुक्त है; और यह कि दक्षिण के विभिन्न प्रान्तों में प्रचलित विभिन्न भाषाओं में जहाँ परस्पर सम्बन्ध और समान उत्पत्ति के चिह्न स्पष्ट हैं वहीं उनकी सम्पूर्ण प्रकृति संस्कृत तथा उससे व्युत्पन्न भाषाओं से अनिवार्यतः भिन्न है। इन भाषाओं के सम्बन्ध में सर्वाधिक निर्णायक सूचनायें श्री ए० डी० कैम्बेल के तेलुगु ग्रामर (इलिस के नोट सहित) तथा साथ ही साथ, रेव० डा० काल्डवेल के कम्परेटिव ग्रामर ऑफ दि द्रवेडियन लैंग्वेज़, से उपलब्ध हो सकती हैं। इस बाद में उल्लिखित ग्रन्थ से मैं इन विवरणों को उद्धृत कर रहा हूँ :—"दक्षिण-भारत के प्रान्तों में चार प्रमुख भाषायें, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, और मलयालम, प्रचलित है, और इन्हें लगभग ३ करोड से अधिक लोग बोलते हैं। इनके अतिरिक्त यहाँ लगभग साढ़े छः लाख व्यक्ति कुछ अप्रमुख भाषाओं का भी व्यवहार करते हैं। बोली के ये रूप, इस शब्द के विशिष्ट आशय की दृष्टि से किसी एक भाषा की विभिन्न बोलियाँ नहीं हैं क्योंकि इनमें से कोई भी एक दूसरे से उतनी निकट रूप से सम्बद्ध नहीं है कि एक भाषा बोलनेवाला दूसरे की भाषा को तत्काल समझ सकें। तमिल और मलयालम में परस्पर सर्वाधिक साम्य मिलता है, किन्तु इस पर भी इनमें से किसी एक के सरलतम वाक्य को भी दूसरा अत्यन्त कठिनता से ही समझ पायेगा। दूसरी ओर तमिल और तेलुगु, उक्त चारों भाषाओं में, एक दूसरे से सर्वाधिक दूर है; और यद्यपि दोनों में अधिकांश धातुयें समान हैं, तथापि ये रूपरचना तथा बोलीगत परिवर्तनों से इतनी अधिक आच्छादित हैं कि इनमें से किसी एक भाषाभाषी को दूसरा कदाचित ही समझ सकता है। अत' विभिन्न द्राविड़ शब्दों को, जो यद्यपि एक ही स्रोत से उद्भूत हैं, भिन्न भाषाओं का मानना चाहिये।

"उत्तर के पण्डित लोग भारत की देशबोलियों को[139] पाँच-पाँच के दो वर्गों, पाँच गौरों और पाँच द्राविड़ों. के अन्तर्गत वर्गीकृत करते है। इस द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत वे मराठी, गुर्जरी, तेलङ्गी, कर्णाटकी और द्राविड़ अथवा तमिल को रखते हैं। किन्तु प्रथम दो को अन्तिम तीन के साथ रखना अनुचित है, क्योंकि यद्यपि मराठी और गुर्जरी (गुजराती) में कुछ ऐसी बातें है जिनका दक्षिण की भाषाओं से साम्य है, तथापि ये इनसे इतनी अधिक भिन्न, और उत्तरी वर्ग की भाषाओं, हिन्दी, बँगला, इत्यादि से इतनी अधिक घनिष्ठता से सम्बद्ध हैं कि इन्हें उत्तरी वर्ग के अन्तर्गत ही रखना चाहिये। तमिल, तेलङ्गी अथवा तेलुगु, और कर्णाटकी अथवा कन्नड़, उत्तर भारत की भाषाओं के समान संस्कृत से व्युत्पन्न नहीं हैं, जैसा कि उत्तर के पण्डित मानते

---

[139] देखिये कोलब्रुक : मिए० २० पृ० २१ और बाद।

हैं। इनका मौलिक तथा आधारभूत अंश संस्कृत से सर्वथा स्वतन्त्र है। उत्तरी तथा दक्षिणी बोलियों का अन्तर इस बात में निहित है कि जहाँ प्रथम वर्ग में अ-संस्कृत तथा आदिम शब्दों की मात्रा अत्यन्त कम है और ये प्रमुखतः संस्कृत से ही निर्मित हैं ;[१४०] वहीं दूसरी ओर, तमिल, तेलुगु और दक्षिणी भाषायें कुछ संस्कृत शब्दों से युक्त होते हुये भी अपने सम्पूर्ण शब्द-भण्डार तथा प्रकृति की दृष्टि से आर्यो की अभिजात बोली, संस्कृत, से सर्वथा भिन्न हैं।"

इस विषय पर मैं, कैम्बेल के तेलुगु ग्रामर की भूमिका के एफ० डब्लू० इलिस की कुछ टिप्पणियों को उद्धृत कर रहा हूँ : "क्रम की दृष्टि से कर्णाटकी और तेलङ्गी अक्षर, जो प्रायः एक ही हैं, निश्चित रूप से नागरी क्रम का अनुसरण करते हैं, किन्तु अक्षरों के स्वरूप, उनके संयुक्तीकरण, तथा अन्य बातों की दृष्टि से इनमें कोई साम्य नहीं है, और तमिल तो सर्वथा भिन्न है जिसमें सभी महाप्राणों को छोड़ दिया गया है, तथा उसमें अनेक ऐसी भी ध्वनियाँ हैं जिन्हें संस्कृत के किसी भी अक्षर द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता।...तमिल, तेलुगु, अथवा अन्य सजातीय बोलियों में से कोई भी संस्कृत से उत्पन्न नहीं है। संस्कृत ने यद्यपि इनके परिष्कार में योग दिया हो सकता है तथापि इनके अस्तित्व के लिये उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। अतः हम इन्हें भाषाओं का एक सर्वथा भिन्न परिवार कह सकते हैं, जिसमें बाद के समय संस्कृत के कुछ शब्द सम्मिलित भले ही हो गये हों, संस्कृत के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।"..."तेलुगु, जिसकी ओर यहाँ अधिक ध्यान दिया जायगा, स्वयं अपनी ही धातुओं से बनी है, जिनका सामान्य रूप से न तो संस्कृत से कोई सम्बन्ध है और न दक्षिण-भारत की अन्य किसी सजातीय भाषा, जैसे तमिल, कन्नड़, इत्यादि से। यहाँ उल्लिखित तीनों बोलियों का वास्तविक अन्तर धातुओं से शब्दों के निर्माण के लिये प्रयुक्त प्रत्ययों में निहित है, स्वयं धातुयें न केवल समान वरन् एक ही हैं।" (पृ०३)।

"यह दिखाने के लिये कि संस्कृत तथा तेलुगु में कोई प्रमुख सम्बन्ध नहीं है, मैं वर्णक्रमानुसार अ, क, प, और व अक्षरों के अन्तर्गत धातुमाला से दस-दस धातुओं को लेकर, इनकी इन्हीं अक्षरों के अन्तर्गत तेलुगु धातुमाला से ली गई तेलुगु धातुओं की तुलना कर रहा हूँ। इन्हें नीचे की सूची में दिया गया है, जिसका परीक्षण यह स्पष्ट करेगा कि चालीस तेलुगु धातुओं में से एक भी ऐसी नहीं है जिसकी संस्कृत से समानता हो।" इस सूची को मैं इस प्रकार उद्धृत कर रहा हूँ :

---

[१४०] देखिये ऊपर पृ० ४७ और बाद।

संस्कृत	तेलुगु
अक्— सर्पाकार चलना	अक्कलु—पेट की मांस-पेशियों को सिकोड़ना
अग्—सर्पाकार चलना	अगलु—पृथक करना
अङ्क, अङ्ग — चिह्न	अग्गु—पूजन करना
अघ्—अनुचित करना	अग्गलु—अति करना
अघ—अपराध	अरसु - वाध्य होकर देना
अच्—सम्मान करना	अण्टु—स्पर्श करना
अञ्च्—जाना, अस्पष्ट शब्द कहना	अडंगु—नष्ट होना
अज्—फेंकना	अडरु—चमकना
अट्, अठ्—जाना, घूमना-फिरना	अडलु—रोना
अड्—उद्यम करना	अड्डु—थप्पड़ मारना
कक्—अभिलाषा करना	कक्कु—उल्टी करना
कक्क्—हँसना	करसु—पासा खेलना
कख्—हँसना	क्रंसु—चाहना
कक्ख्—हँसना	कट्टु—बाँधना
कग्—चलना	कडुगु—धोना
कच्—चमकाना	कडगु, कनंगु—फूलना
कज्—?	कटकु, कडगु—कुत्ते की तरह चाटना
कट्—चलना	कडरु—ज़ोर से बुलाना
कठ्—भयभीत होना	कढलु—हिलाना
कड्—खाना, आनन्द करना	कडि—प्राप्त करना
पच्—पकाना	पगलु, पंगलु—तोड़ना
पड्—चमकाना	पञ्चु—बँटवारा करना
पठ्—बोलना	पट्टु—पकड़ना, स्पर्श करना
पण्—प्रशंसा करना	पड्डु—गिरना
पत्—चलना, शासन करना	पण्डु—लेटना
पथ्—चलना	पडयु—प्राप्त करना
पद्—चलना	पतगु—प्रण करना
पन्—प्रशंसा करना	पडरु—धमकाना
पम्य्—चलना	पन्नु—तैयार करना
पर्य्—चलना	पनरसु—भेजना

संस्कृत	तेलुगु
वक्—चलना	वग, वगु—दुःख प्रगट करना
वग्—लँगड़ा होना	वगिर्—कुत्ते की तरह भौंकना
वच्—बोलना, आदेश देना	वंगु—रोकना
वज्—चलना	वत्स्—आना
वट्—घेरना, बोलना	वन्त्सु—बाँधना, पानी गिरना
वट—घेरना	व्रत्स—बाँटना
वण्ट—बँटवारा करना	वडु—दुबला होना
वठ्—सबल होना	वड्डु—सूख जाना
वड्—चमकना	वट्ट्—चमकना
वण्—शब्द करना	वड्डु—भोजन परोसना

तदनन्तर (पृ० ७ पर) श्री इलिस तेलुगु, कन्नड और तमिल से अकारादिक्रम से पन्द्रह धातुओं की एक सूची देते हैं। इसके द्वारा आप यह दिखाना चाहते हैं कि "तेलुगु तथा दक्षिण-भारत की अन्य बोलियों के बीच एक मौलिक सम्बन्ध है।" मेरा विश्वास है कि इन भाषाओं के सम्बन्ध को सभी विद्वान स्वीकार करते हैं, अतः इस तुलनात्मक सूची को उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। इसके बाद (पृ० ११ पर) और विवरणों के आधार पर श्री इलिस यह प्रमाणित करते हैं कि इन तीन भाषाओं में न केवल मौलिक सम्बन्ध ही है वरन् 'विचारों को व्यक्त करने के लिये प्रयुक्त शब्दों में भी' घनिष्ठ साम्य है। इस दृष्टि से आप सर्वप्रथम मामिडि वेङ्कय नामक एक स्थानीय लेखक को उद्धृत करते हैं।

"मामिडि वेङ्कय ने, जो आन्ध्रदीपिका नामक एक श्रेष्ठ तेलुगु कोश के लेखक है, इस ग्रन्थ की भूमिका में भाषा का एक सक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत किया है जिसका सारांश इस प्रकार है :—

"तेलुगु भाषा में शब्दरूप चार प्रकार के होते हैं : तत्समम् , तद्भवम् , देश्यम् , और ग्राम्यम् । तत्समम् के अन्तर्गत सस्कृत शब्द आते हैं, जो उसी प्रकार शुद्ध होते है जैसे वे स्वर्ग मे बोले जाते हैं। इन मूल शब्दों में केवल तेलुगु प्रत्यय जोड दिये जाते हैं।"

इनके उदाहरण इस प्रकार है[१४१] :—

---

[१४१] इन दो शीर्षको के अन्तर्गत केवल कुछ उदाहरणो का ही चयन किया गया है ।

संस्कृत	तत्समम्
रामः	रामण्डु
वनम्	वनमु
वाच्	वाञ्चु
द्यौ	दिवमु

"तद्भवम के अन्तर्गत ऐसे शब्द आते हैं जो या तो सीधे सस्कृत से अथवा छः प्राकृतों में से किसी से बने होते हैं। इनमें बीच बीच में कुछ अन्य अक्षर जोड या घटा दिये जाते हैं। ' इस सूची में शब्द-रूपों की विभिन्न पद्धतियों का उदाहरण दिया गया है":—

संस्कृत	तद्भवम्
समुद्रः	सन्द्रमु
छन्दः	त्सण्डुरुण्डु

महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची (पाण्ड्य और केकय देश में बोली जानेवाली भाषा), चुलिका-पैशाची (गन्धार, नेपाल, और कुन्तल में बोली जानेवाली भाषा), और अपभ्रश के माध्यम से संस्कृत से तेलुगु में आये तद्भव शब्दों की सूची भी दी गई है।

श्री इलिस (पृ० १५) और आगे मामिडि वेङ्कय से इस प्रकार उद्धरण देते हैं : "देश्यम् (दूसरे शब्दों में आन्ध्र अथवा तेलुगु) भाषा दो प्रकार की होती है : पहली वह भाषा जो तेलङ्गाना में उत्पन्न हुई है, और दूसरी अन्य देश्यम् अथवा अन्य देशों की वह भाषा जो इसमें निश्रित हो गई है।" त्रिलिङ्गम् में भाषा का कौन सा अश उत्पन्न हुआ इसे दिखाने के पूर्व देशी लेखक 'अथरवन व्याचरनम्' से उस देश का वर्णन उद्धृत करता है जिसके लिये इस नाम का व्यवहार हुआ है।[१४२] श्री इलिस ने देश्यम् तेलुगु की लेखक की परिभाषा

---

[१४२] इस स्थल को जैसा कि इसे अन्ध्रकौमुदी से उद्धृत किया गया है, श्री कैम्बेल ने अपनी व्याकरण की प्रस्तावना के पृष्ठ ii पर दिया है। मैं इसके तेलुगु से रूपान्तरण के लिये प्रो० विलसन का आभारी हूँ "श्रीशैल-भीम-कालेश-महेन्द्र गिरि-सयुतम्। प्राकार तु महत् कृत्वा त्रीणि द्वाराणि चऽआकरोत्। त्रिलोचनो महेशस्य त्रिशूलच करे वहन्। त्रिलिङ्ग-रूपी न्यवसत् त्रि-द्वारेपु गणैर् वृत। आन्ध्र-विष्णु सुर-युतो दनुजेन निषम्भुन। युध्वा त्रयोदश युगान् हत्वा तम् राक्षसोत्तमम्। अवसत् तत्र ऋषिभिर् युतो गोदावरी-तटे। तत्काल-प्रभृति क्षेत्रम् त्रिलिङ्गम् इति विश्रुतम्।" मैं इसका इस प्रकार अनुवाद कर रहा हूँ —"उसने श्रीशैल, भीमेश्वर, कालेश्वर, और महेन्द्र

उस भाषा के रूप में दी है जो त्रिलिङ्ग की सीमा के अन्तर्गत उत्पन्न हुई है। परिभाषा इस प्रकार है : "जैसा कि यहाँ कहा गया है, श्रीसैलम, द्रक्षरामम् में भीमेश्वर के स्थान पर, बृहत्तर कालेश्वरम में, और चौथे, महेन्द्र पर्वत पर तीन लिङ्गम् थे। और त्रिलिङ्ग देशम के नाम से विख्यात इस देश में उत्पन्न भाषा का अब विवेचन किया जा रहा है। यह भाषा अत्सु अथवा शुद्ध तेलुगु है और अप्पचवीयम् में इसका इस प्रकार वर्णन है : "अन्ध्र देश के आदिवासियों द्वारा प्रयुक्त सभी शब्द, जो सर्वथा स्पष्ट तथा किसी प्रकार की अस्पष्टता से रहित है, 'शुद्ध अन्ध्र देश्यम्' भाषा के रूप में संसार में प्रकाशित है।" कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं : 'पालु' (दूध), 'पेरुगु' (दही), 'नेय' (घृत), 'पुडमि' (पृथिवी), 'पडतुक' (स्त्री), 'कोडुकु' (पुत्र), 'तल' (मस्तक), 'नेल' (चन्द्रमा), 'मडि' (खेत), 'पुलि' (सिंह), 'भगवण्डु' (मनुष्य)। तदनन्तर मामिडि वेङ्कय ऐसे शब्दों पर आते हैं जो अन्य देशों से तेलुगु में आ गये है। "यह श्लोक अप्पचवीयम से उद्धृत है : 'हे केशव। विभिन्न देशों में निवास करते हुये और वहाँ के लोगों के साथ आन्ध्र के लोगों ने जिन तेलुगु शब्दों का व्यवहार किया था वे अन्य देशीय आन्ध्र शब्द बन गये।"

ग्राम्यम शब्दों के सम्बन्ध में मामिडि वेङ्कय यह मत व्यक्त करते हैं. "जिन शब्दों को व्याकरण के नियमों से अनुशासित नहीं किया जा सकता, और जिनमें अक्षरों की एक अनियमित रूप से वृद्धि तथा ह्रास की प्रक्रिया देखी जाती है उन्हें ग्राम्यम् कहते हैं। ये भ्रष्ट शब्द होते हैं और अप्पचवीयम् में इनका इस प्रकार वर्णन है : 'ऐसे तेलुगु शब्द जिनका साधारणतया अपढ़ लोग व्यवहार करते हैं, ग्राम्यम् कहे जाते है। इनमें कुछ नियमित अक्षरों का ह्रास हो जाता है और ऐसे शब्द कविता में नहीं मिलते। अपमानसूचक भाषा में इनका अक्सर प्रयोग होता है'।"

श्री इलिस आगे इस प्रकार कहते हैं : "उपरोक्त उद्धरणों में प्रमाणों के आधार पर लेखक ने यह बताया है कि संस्कृत से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उत्पन्न शब्दों, और अन्य भाषाओं से गृहीत शब्दों को अस्वीकृत कर देने पर

पर्वत को सम्बद्ध करते हुये एक विशाल प्राकार का निर्माण करके उसमे तीन द्वार बनाये। वहाँ तीन लिङ्गो के रूप मे तीन नेत्रो से युक्त तथा हाथ मे महेश के त्रिशूल को लेकर वह इन अपने गणो सहित तीनो द्वारो पर स्थित हुये। सुरो से सेवित अन्ध्र-विष्णु, दनुपुत्र प्रसिद्ध राक्षस निषम्भु से तेरह युगो तक युद्ध करते हुये उसका वध करने के बाद गोदावरी के तट पर ऋषियो सहित निवास करते थे। उस समय से ही उस पवित्र क्षेत्र को त्रिलिङ्ग कहते है।"

यहाँ की केवल शुद्ध देशी भाषा ही अवशिष्ट रह जाती है। ऐसे शब्द ही इस बोली के अधिकांश का निर्माण करते हैं, और ये सभी शारीरिक तथा मानसिक क्रियाओं, सभी सम्भव सम्बन्धों और वस्तुओं को व्यक्त कर सकने की क्षमता रखते हैं, क्योंकि कुछ धार्मिक और पारिभाषिक शब्दों को छोड़ कर संस्कृत से उत्पन्न शब्द तेलुगु भाषा के लिये आवश्यक नहीं है। देश की यह शुद्ध देशी भाषा, बोलचाल के अन्तरों और प्रत्ययों को छोड़कर तेलुगु, तमिल, कन्नड और दक्षिण-भारत की अन्य बोलियों में समान रूप से व्याप्त मिलती है। इसे हम वेङ्कय द्वारा अप्पचवीयम से संगृहीत शब्दों की सूची के देश्यम शब्दों की उन्हीं विचारों को व्यक्त करनेवाले तमिल और कन्नड शब्दों के साथ तुलना करने पर देख सकते हैं। यह पहले ही दिखाया जा चुका है कि इन भाषाओं के मौलिक शब्द थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ, प्रायः समान हैं। अतः यह तुलना इस बात को स्पष्ट करेगी कि सभी में सामान्य रूप से व्यवहृत देशी शब्द भी समान हैं।"

इसके बाद तेलुगु, कन्नड और तमिल शब्दों की एक तुलनात्मक सूची दी गई है (पृ० १९ २१) जिसे मैं यहाँ छोड़ देता हूँ। उसके बाद आगे श्री इलिस (पृ० २१) इस प्रकार कहते हैं : "शब्दों की दृष्टि से तेलुगु भाषा के निर्माण के सम्बन्ध में उपरोक्त टिप्पणियों तथा वक्तव्यों से यह परिणाम निकलता है कि इस भाषा को चार शाखाओं में विभक्त किया जा सकता है जिनका यह स्वाभाविक क्रम होगा : देश्यम अत्सु–तेलुगु शब्द जो इस भाषा के और सामान्यतया दक्षिण-भारत की अन्य भाषाओं के आधार हैं, अन्य-देश्यस शब्द जिन्हें अन्य देशों से ग्रहण कर लिया गया है, तत्समम् शब्द जिनमें तेलुगु प्रत्यय जोड़कर तेलुगु में सम्मिलित कर लिया गया है, और जो सब न्यूनाधिक भ्रष्ट हैं। ग्राम्यम शब्द इस भाषा के अंग नहीं बल्कि ये अत्सु तेलुगु से कुछ अक्षरों की वृद्धि या ह्रास द्वारा बने ऐसे शब्द होते हैं जो व्याकरण द्वारा अनुशासित नहीं होते। अन्य सभी स्रोतों से सम्मिलित रूप से व्युत्पन्न शब्दों की तुलना में अत्सु-तेलुगु शब्दों का अनुपात आधा आधा है, अन्य-देश्यम् शब्दों का अनुपात एक बटा-दशमांश, तत्सम का तीन-बटा बीस, और तद्भव का एक-बटा-चार।

"थोड़े अन्तर के अतिरिक्त तमिल और कन्नड की रचना तेलुगु के ही समान है, अथवा इनके वैयाकरणों ने भी यही विभेद किये हैं। तमिल की अपेक्षा तेलुगु और कन्नड तत्सम शब्दों को अधिक मुक्त रूप से ग्रहण करते हैं। वास्तव में इन दोनों में लेखक का विवेक ही ऐसे शब्दों के प्रयोग की सीमा है। तमिल की उच्चस्तरीय बोली में केवल ऐसे ही तत्सम शब्दों का प्रयोग हो

सकता है जिन्हे या तो बहुत दिनों से कोशों में स्थान प्राप्त हो चुका है, अथवा जिनके लिये कोई अभिजात प्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है। निम्नस्तरीय भाषा में ऐसे शब्दों का प्रयोग अधिक सामान्यरूप से मिलता है। ब्राह्मण लोग इनका प्रचुरता से व्यवहार करते हैं जब कि शूद्र कम। अन्य बोलियों की अपेक्षा तद्भव शब्दों का अनुपात कन्नड में अधिक और तमिल में कम है। किन्तु तमिल में सभी संस्कृत शब्दों में उससे कहीं अधिक अन्तर आ जाता है जितना केवल प्रत्ययों मात्र के अन्तर से सम्भव हो सकता है क्योंकि इस भाषा की वर्णमाला में सभी महाप्राणित वर्णों को त्याग दिया गया है। साथ ही इसमें ककार आदि प्रत्येक शृङ्खला के प्रथम और तृतीय व्यञ्जन को एक ही रूप में व्यक्त किया जाता है, और स्पर्श व्यञ्जनों की द्विरुक्ति अथवा आनुनासिक तथा स्पर्श के संयुक्तीकरण के अतिरिक्त व्यञ्जनों के और किसी भी प्रकार के संयुक्तीकरण को स्वीकार नहीं किया जाता। स्पष्ट है कि ऐसी परिस्थित में सरलतम संस्कृत शब्दों के अतिरिक्त इसमें और किसी को शुद्धता के साथ व्यक्त करने की क्षमता नहीं है। फिर भी, इस भाषा में जब परिवर्तन नियमित और किसी अक्षर की कमी मात्र से ही उत्पन्न होता है तो ऐसे सब को तत्सम ही कहा जाता है।

"किन्तु, यद्यपि सजातीय बोलियों में व्युत्पत्ति तथा सामान्य शब्दों की समानता हो सकती है, तथापि भाषा की रचना में इतना अधिक अन्तर हो सकता है कि किसी एक का ज्ञान दूसरे के ज्ञान में सहायक नहीं होता। जहाँ तक दक्षिण-भारत की बोलियों का प्रश्न है, स्थित ऐसी नहीं है : शब्दों के संग्रह, वाक्य रचना, तथा उस सबकी दृष्टि से जिसे वाक्य-रचना के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है, इन सब में न केवल समानता ही है वरन् सब प्रायः एक ही हैं। इसे दिखाने के लिये और इस बात को सिद्ध करने के लिये कि ये संस्कृत से कितनी समान अथवा असमान हैं," प्रो० इलिस संस्कृत, तमिल, तेलुगु, और कन्नड में वाक्यों के तुलनात्मक अनुवादों की सूची प्रस्तुत करते हैं। फिर भी, यदि मैं इन विवरणों को उद्धृत करूँ तो इस खण्ड के आकार में अत्यधिक वृद्धि हो जायगी। अतः जो इस विषय का और अधिक अध्ययन करना चाहते हैं उन्हें मैं श्री इलिस की टिप्पणियों का ही अवलोकन करने का परामर्श दूँगा।

कैम्बेल के व्याकरण की प्रस्तावना (पृ० VII, VIII और बाद) से मैं तेलुगु के एक आरम्भिक समय में ही प्रचलित हो गये होने और इस भाषा की उत्पत्ति-विषयक देशी वैयाकरणों के विश्वास से सम्बद्ध कुछ और विवरण प्रस्तुत कर रहा हूँ:—"प्राचीनतम तेलुगु वैयाकरण, जिसका देशी पुस्तकों में

उल्लेख मिलता है, ऋषि कुण्व हैं, जिन्हें इस भाषा के व्याकरणिक सिद्धान्तों का प्रथम रचयिता कहा गया है। ऐसा कथन है कि इन्होंने इस कृति की रचना[१८३] सुचन्द्र के पुत्र, अन्ध्र रोयुडु[१८४] नामक आन्ध्र के एक राजा के आदेश पर की थी।...कुण्व, औथर्वन् आचार्य, तथा अनेक अन्य प्राचीन वैयाकरणों की रचनायें अब उपलब्ध नहीं हैं। आज वर्तमान तेलुगु व्याकरण के सभी ग्रन्थ नन्नप अथवा नुन्नियाह भट्ट नामक एक ब्राह्मण द्वारा संस्कृत में रचित संक्षिप्त सूक्तों पर संस्कृत भाष्यों के रूप में उपलब्ध है।"

श्रीकैम्बेल (पृ० xv और बाद) आगे इस प्रकार कहते हैं : "अत्यन्त सामान्य रूप से इसे कहा, और वास्तव में विश्वास भी किया गया है कि तेलुगु की उत्पत्ति वेदम की भाषा से हुई है।...परन्तु मैं सार्वजनिक रूप से यह कहने का साहस करता हूँ कि मेरे अनुसन्धानों से इसके विरुद्ध निष्कर्ष निकला है। फिर भी, मैं कुछ कम सकोच के साथ ऐसा कहता हूँ क्योंकि मेरे मत की उन सभी देशी लेखकों के प्रमाणों द्वारा पुष्टि होती है जिन्होंने तेलुगु भाषा के विषय पर कभी कुछ लिखा है।"

"भारत में बोली जानेवाली अन्य सभी बोलियों की ही भाँति तेलुगु में भी सस्कृत शब्दों की प्रचुरता है। फिर भी, इस बात को मानने के लिये पर्याप्त आधार है कि दोनों भाषाओं की उत्पत्ति सर्वथा भिन्न है।" "तेलुगु बोलते समय शूद्र लोग सस्कृत शब्दों का बहुत कम प्रयोग करते हैं : वैश्यों के उच्चवर्ग तथा क्षत्रिय जाति के लोग ब्राह्मणों तथा उनके ग्रन्थों से अपने परिचय के अनुपात में सस्कृत शब्दों का व्यवहार करते हैं। और इन वर्गों

---

[१८३] "कुण्व ने कहा 'जो मेरे व्याकरण को, जिसकी मैंने अन्ध्र विष्णु के आदेश पर रचना की थी, अश्रद्धापूर्वक देखेगा वह अपने पुरोहित का अपमान करने के पाप का भागी होगा।' अन्ध्र कौमुदी।" मूल इस प्रकार है "कण्वस् तु यथा आह अन्ध्र-विष्णोर् अनुज्ञा कृतस्य मद् व्याकरणस्य द्रोही गुरु-द्रोहीति।"

[१८४] इस राजा के विषय मे श्री कैम्बेल ने इस स्थल का उद्धरण दिया है "अन्ध्र-नाथो महाविष्णुर् निषम्भु-दनुजापहा। पुरा स्वयम्भूवो मनो काले कलियुगे हरि। काकुले राजा-वर्यस्य सुचन्द्रस्य तनूभव। अभवत् सर्व-देवैश्च वेष्टितो लोक-पूजित।" "पूर्व-समय मे मनुस्वयम्भुव के समय कलियुग मे निषम्भु नामक दनु का वध करनेवाले अन्ध्रनाथ महाविष्णु ने राजा सुचन्द्र के पुत्र के रूप मे काकुल मे जन्म लिया। सभी देवता इनकी सेवा और मनुष्य इनकी पूजा कर रहे थे।"

को भी जब हम ऐसे संस्कृत शब्दों का एक अत्यन्त अशुद्ध रूप से उच्चारण करते देखते हैं तब हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ये संस्कृत शब्द भी अधिकांश तेलुगु-भाषी लोगों के लिये मूलतः विदेशी थे।"

"कुछ देशी वैयाकरण यह मानते हैं कि राजा अन्ध्र रोयूद्र[१४७] द्वारा गोदावरी के तट पर अपनी राजधानी की स्थापना के पूर्व एकमात्र तेलुगु शब्द वही थे जिन्हें आज शुद्ध तेलुगु या देशी तेलुगु कहते हैं। ये लोग ऐसे शब्दों को 'ब्रिम्ह' देवता द्वारा रचित मानते हैं। इन वैयाकरणों का यह कथन है कि इस राजा के अनुगामियों ने तेलुगु प्रत्ययों से युक्त करके सर्वप्रथम संस्कृत शब्दों का ग्रहण आरम्भ किया, और फिर धीरे-धीरे संस्कृत से भ्रष्ट शब्द इस भाषा में आते गये क्योंकि सर्वसाधारण मूल-शब्दों के उचित उच्चारण से अनभिज्ञ थे।[१४८] इसका तात्पर्य यह हुआ कि इस राष्ट्र में अब भी उस समय की कुछ स्मृतियाँ सुरक्षित हैं जब इसकी भाषा का संस्कृत से स्वतंत्र अस्तित्व था। और यह निश्चित है कि नुन्नियाह भट्ट से लेकर आज तक का प्रत्येक तेलुगु वैयाकरण यह मानता है कि इन दोनों भाषाओं की उत्पत्ति सर्वथा भिन्न स्रोतों से हुई है, क्योंकि प्रत्येक अपने ग्रन्थ का आरम्भ अपनी भाषा के शब्दों के चार वर्गों के अन्तर्गत विभाजन से आरम्भ करता है : यथा, तत्सुमुम् अथवा संस्कृत से व्युत्पन्न शब्द, तुद्भुयुम् अथवा संस्कृत से भ्रष्ट शब्द, ग्राम्युमू अथवा प्रान्तीय शब्द। बाद के लेखकों ने इन तीन में चौथा वर्ग, अन्य-देश्युमू, शब्दों का भी जोड़ दिया है।"

---

[१४७] "यही वह राजा है जिसकी अब कृष्णा नदी के निकट पूजा होती है, और यही प्रथम तेलुगु वैयाकरण, कुण्व, का संरक्षक था।

[१४८] मूल स्थल इस प्रकार है "तत्रत्यास् तत्समालायास् तत्कालीना हरेर् भटा। कालेन महता सर्वं तत्सम स्वल्प--बुद्धिभि। अशुद्धोचार्यमाण सत् तद्भवञ्चेति सम्मतम्। विकर्ष-व्यत्ययाभ्याच पदार्धोक्ति विशेषत। तद्भवम् इति कथ्यन्ते कालेन महता समा। ब्रह्मणा निर्मिता वाच पूर्वम् अन्ध्रेशितुर् हरे.। अच्चा इति च कथ्यन्ते सुप्-कृद्-धातु-समन्विता।" "उस समय हरी के भक्त, जो वहाँ रहते थे, तत्सम शब्द बोलते थे। कालान्तर मे अल्पबुद्धि लोग तत्सम शब्दो का अशुद्ध उच्चारण करने लगे, और इसलिये इन्हे तद्भव कहा जाने लगा। वर्णों के ह्रास या नवीन वर्णों को जोड देने से, अथवा शब्दो को आधा या चौथाई आकार मे सकुचित कर देने से ही तत्सम शब्द तद्भव बन गये। सज्ञा, क्रिया और धातु से बने जिन शब्दो की अन्ध्रपति हरि के पूर्व ब्रह्मा ने रचना की थी उन्हे अच्च (शुद्ध) कहते हैं।"

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत सम्मिलित शब्दों की, जिन्हें मैंने देश की भाषा कहा है, संख्या सर्वाधिक है, और अन्य वर्गों में सम्मिलित विभिन्न भाषाओं के मूल शब्दों का परिवर्तन इन्हीं के आधार पर किया गया है। इन्हें जिस नाम से व्यक्त किया गया है उसका आशय 'देश की भाषा' है। इस नाम से इस प्रकार के शब्दों के 'देश में प्रचलित' होने की नहीं बल्कि 'देश में ही उत्पन्न हुये होने' की सूचना मिलती है।"

"प्रस्तुत कृति से संस्कृत के विद्वानों को यह पता लगेगा कि प्रथम और द्वितीय पुरुषों के लिये व्यवहृत बहुवचन सर्वनाम के प्रयोग, अस्तित्ववाची क्रिया की रूप-रचना—एक नकारात्मक सामान्यभूत, एक नकारात्मक लोट्, तथा क्रिया के अन्य नकारात्मक रूप—एकवचन में क्लीव और स्त्रीलिङ्ग का, बहुवचन में पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग का, तथा सर्वनामों और क्रियाओं के योग तथा संस्कृत भाषा शैली की सम्पूर्ण प्रक्रिया—इन सभी दृष्टियों से तेलुगु और संस्कृत सर्वथा असमान हैं। पाठक यह देखेंगे कि मानव शरीर के विभिन्न भागों, देशी लोगों द्वारा प्रयुक्त विभिन्न प्रकार के भोजनों और पात्रों, वस्त्रों के अनेक अंशों, आवासों के कक्षों, और संक्षेप में समाज के आरम्भिक स्तरों पर व्यक्त सभी विचारों और वस्तुओं के नामकरण की दृष्टि से सब शब्द देश्यम तेलुगु के अन्तर्गत आते हैं। यह सत्य है कि संस्कृत तत्समों अथवा तद्भवों का भी आज अक्सर इनमें से किसी-किसी को व्यक्त करने के लिये प्रयोग मिलता है। फिर भी, सामान्य रूप से ऐसा नहीं है : इस भाषा में गृहीत अधिकांश संस्कृत शब्द अमूर्त बातों, तथा वैज्ञानिक, धार्मिक और नैतिक विषयों से सम्बद्ध हैं। यह स्थिति वैसी ही है जैसी कि हम लोगों की भाषा (अंग्रेजी) में बहुत अंशों तक सम्मिलित यूनानी और लैटिन शब्दों की है। किन्तु इस प्रकार गृहीत संस्कृत शब्दों के मूल रूप को सुरक्षित नहीं रहने दिया गया है। इन्हें इस प्रकार परिवर्तित और ऐसे प्रत्ययों से युक्त कर दिया गया है जो संस्कृत में अज्ञात हैं। विदेशी उद्धरणों के अतिरिक्त ऐसे शब्द जहाँ भी प्रयुक्त हैं केवल देशी वेश-भूषा में ही मिलते हैं।"

पुनरुक्ति होते हुये भी मैं, संस्कृत और दक्षिणी भाषाओं के बीच मौलिक अन्तरों को सिद्ध करने के लिये डा० काल्डवेल के व्याकरण (पृ० २९ और बाद, और ५६) से कुछ और विचार उद्धृत कर रहा हूँ : "तुलनात्मक भाषाविज्ञान से परिचित कोई भी व्यक्ति, अथवा जिसने द्राविड भाषाओं के पूर्वग और अनिवार्य शब्दों तथा व्याकरणिक गठन की संस्कृत से तुलना की है, इस बात की कल्पना नहीं कर सकता कि भ्रष्टता अथवा विकृति की किसी भी ज्ञात प्रक्रिया पर प्रथम वर्ग द्वितीय से व्युत्पन्न हो सकता है। पहले मैं

उन संस्कृत तत्त्वों का विवेचन करूँगा जो इन भाषाओं में सम्मिलित हो गये हैं। इसके बाद मैं इनके अ-संस्कृत अथवा अनिवार्य आधार पर आऊँगा।" डा० काल्डवेल (पृ० ५६) का कहना है कि तमिल में संस्कृत शब्दों का प्रथमतः सर्वाधिक अर्वाचीन प्रवेश "दसवीं से ग्यारहवीं शताब्दी के बीच शङ्कराचार्य और रामानुज के धार्मिक सम्प्रदायों के माध्यम से हुआ। इस प्रकार प्रविष्ट शब्द (कुछ ऐसे अवसरों को छोड़कर जहाँ परिवर्तन अपरिहार्य था) शुद्ध और अपरिवर्तित संस्कृत हैं। द्वितीयतः, यह घटना ऊपर के समय से अंशतः पूर्व और अंशतः समकालीन आठवीं से बारहवीं या तेरहवीं शताब्दियों के बीच घटित हुई जब जैनों ने संस्कृत तत्सम शब्दों के उस अधिकतम अनुपात का प्रवेश कराया जो तमिल में आज मिलता है। जैनों के बौद्धिक प्राधान्य का यह समय तमिल साहित्य का ऑगस्टन काल है जिसमें मदुरा का प्रख्यात विद्यापीठ अपने चरमोत्कर्ष पर था, और जब अभिजात कोशों तथा व्याकरण-ग्रन्थों की रचना हुई। इस काल के तमिल लेखकों ने, राष्ट्रीय भावना तथा ब्राह्मणीय प्रभाव के प्रति ईर्ष्या के कारण, प्रयुक्त संस्कृत शब्दों को इस प्रकार परिवर्तित कर दिया जिससे वे तमिल ध्वनिशास्त्रीय नियमों के अनुकूल हो गये। इस प्रकार 'लोक' शब्द तमिल में 'उलगु'[१८७], 'राजा' 'अरशु', और 'र' 'इरवु' बन गये। तेलुगु, कन्नड, और मलयालम में मिलनेवाले प्रायः सभी संस्कृत शब्द या तो इन्हीं दो कालों के हैं, अथवा तमिल के, विशेषतः अधिक अर्वाचीन संस्कृत से व्युत्पन्न शब्दों के अनुरूप हैं। इन व्युत्पन्न शब्दों को दो वर्गों में, तत्सम (जो प्रायः अथवा सर्वथा संस्कृत के समान हैं) और तद्भव (जो संस्कृत अथवा उत्तर की प्राकृतों से गृहीत तो हैं किन्तु जिनका रूप कुछ सीमा तक परिवर्तित हो गया है) में विभक्त किये गये हैं। तृतीयतः तमिल में इस भाषा के आरम्भिकतम साहित्य सृजन तक के समय के अनेक व्युत्पन्न शब्द हैं जो सम्भवतः दक्षिण की किसी भी भाषा में संस्कृत शब्दों के प्रवेश के आरम्भ के पूर्व के हैं। इस काल की संस्कृत जैन काल की अपेक्षा अधिक भ्रष्ट है, तथा भ्रष्टता का स्वरूप भी भिन्न है। जैनों ने तमिल के ध्वनिशास्त्रीय नियमों के अनुसार संस्कृत शब्दों को परिवर्तित किया, जब कि आरम्भिकतम समय में प्रविष्ट शब्दों में हुये परिवर्तन किसी भी

---

[१८७] कुछ विद्वान इस तथ्य के आधार पर कि ऋग्वेद के उन अधिकांश स्थलों पर जहाँ 'लोक' शब्द आता है वहाँ इसके पहले सदैव 'उ' भी है, यह मानते हैं कि इस शब्द का मूल रूप 'उलोक' था और 'उ' इस शब्द से पृथक् एक निपात नहीं है। बॉटलिङ्क और रॉथ के कोश में 'लोक' देखिये।

नियम का अनुसरण नहीं करते, जैसे संस्कृत 'श्री' का 'तिरु' बन गया है। फिर भी, जहाँ संस्कृत शब्दों के कुछ अनुपात ने द्रविड़ भाषाओं में उक्त प्रणाली के अनुसार प्रवेश प्राप्त कर लिया है, वहीं यह मानना एक त्रुटि होगी कि ये भाषायें उसी प्रकार संस्कृत से उद्भूत हैं जैसे हिन्दी, मराठी, और अन्य गौड बोलियाँ। क्योंकि (१) द्राविड भाषाओं का अ-संस्कृत अंश संस्कृत अंश से उतना ही अधिक है, जितना उत्तर-भारत की बोलियों में संस्कृत अंश स्थानीय अ संस्कृत अंश से, (२) द्राविड भाषाओं मे सर्वनाम और संख्यायें, क्रिया और संज्ञा शब्दों की रूपरचना, शब्दों का वाक्यों के अन्तर्गत विन्यास, और वास्तव में वह सब कुछ जिससे किसी भाषा की अनिवार्य-प्रकृति का निर्माण होता है, संस्कृत से मूलतः भिन्न है। उत्तर की देशबोलियों के साथ स्थिति इसके सर्वथा विपरीत है, जिनमें सर्वनाम, संख्यायें, तथा संज्ञाओं और क्रियाओं में से अधिकांश को अपेक्षतया प्राचीनतर प्राकृतों तथा अन्ततः संस्कृत से ही रूपान्तरण की एक क्रमिक प्रणाली के आधार पर ग्रहण किया गया है। (३) शुद्ध द्राविड़ शब्दों को, जो दक्षिणी भाषाओं के शब्द-भण्डार के अधिकांश का निर्माण करते हैं, देशीय वैयाकरणों ने संस्कृत से उद्भृत शब्दों से एक भिन्न वर्ग के अन्तर्गत वर्गीकृत करते हुये उन्हें 'देश्यम' या देशी शब्द कहा है।" इस बात की पुष्टि से डा० काल्डवेल ऊपर उद्धृत एक स्थल का संदर्भ-संकेत करते हुये यह मत व्यक्त करते हैं कि अन्ध्रराय सम्भवतः ईसवी सन के कई शताब्दी पूर्व हो चुके थे। "(४) द्राविड परिवार की अविकसित भाषाओं में संस्कृत शब्दों का बिल्कुल ही नहीं अथवा दुर्लभ रूप से ही व्यवहार मिलता है। साथ ही, विकसित भाषाओं में से भी जो संस्कृत तत्सम या तद्भव शब्दों का व्यवहार करती है, वे इनके व्यवहार का परित्याग भी कर देने की स्थिति में हैं। तेलुगु, कन्नड, और मलयालम के साथ तो स्थिति ऐसी नहीं है, किन्तु तमिल, जो अपने मौलिक गठन की दृष्टि से द्राविड़ भाषाओं में सर्वाधिक विकसित भाषा है, अपने विचारों की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये संस्कृत पर निर्भर नहीं है। वास्तव में इस भाषा की प्राचीन अथवा अभिजात बोली, शेन-तमिल में, जिसमें ही प्रायः समस्त साहित्य लिखा गया है, बहुत कम संस्कृत शब्द हैं। यह लोकबोली से भी इस अर्थ में भिन्न है कि यह प्रायः ईर्ष्यात्मक सतर्कता के साथ संस्कृत से उद्भूत शब्दों को अस्वीकृत करते हुये केवल द्राविड तत्वों तक अपने को सीमित रखती है। यह स्थिति इस सीमा तक देखी जा सकती है कि किसी तमिल रचना को उसमें निहित संस्कृत के अनुपात में नहीं बल्कि संस्कृत की अनुपस्थिति के अनुपात में परिष्कृत कहा जाता है। यह भी उल्लेखनीय है कि जहाँ प्रमुख तेलुगु लेखक और वैयाकरण ब्राह्मण रहे हैं, वहीं,

उसके विपरीत, तमिल में बहुत थोडे ही ब्राह्मणों ने किसी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है। यहाँ तक कि तमिल शूद्रों ने अपनी भाषा का अत्यधिक उत्साह और सतर्कता के साथ विकास किया है, और तमिल की श्रेष्ठतम रचनायें, चुडल् तथा चिन्तामणि, न केवल संस्कृत से स्वतन्त्र हैं वरन् रचना तथा शैली में भी सर्वथा मौलिक हैं।

काल्डवेल की पुस्तक से कुछ और तमिल शब्दों के उदाहरणों को यहाँ यह दिखाने के लिये प्रस्तुत किया जा सकता है। कि ये संस्कृत तथा उत्तर भारतीय देशबोलियों के इसी आशय के शब्दों से, जिनसे पाठक परिचित होंगे, कितने भिन्न, हैं।

संज्ञायें, इत्यादि

नान—मैं	निलम—भूमि	काल—पैर
नाम—हम	माडु—बैल	विण—आकाश
नी—तू	आडु—भेड	कुरुडु—अन्धापन
नीर—हम	कुरन्जु—बन्दर	इरुम्बु—लोहा
विडल—उँगली	पगल—दिन	इरुम्पु—लोहे का
कडल—सागर	कण—आँख	सुवर—दीवार
मणल—बालू	मूक्कु—नाक	उगिर—नाखून
निड़ल—छाया	मेल—ऊपर	तमिर—मिठास
सेवल—मुर्गा	कीड़—नीचे	किणडु—कूँआ
ईरल—यकृत	इल्लाल—पत्नी	एट्टु[१४८]—आठ
तिगिल—भय	वण्णान—धोबी	ओन्बदु—नौ
तिंगल—चन्द्रमा	वण्णात्ति—धोबिन	पत्तु—दस
इरुल—अन्धकार	ओरु—एक	मुपत्तु—तीस
तोप्पु—गुल्म	इरन्डु—दो	मूरु—सौ
मगन—पुत्र	मुन्ड्रु—तीन	मुन्नूड़—तीन सौ
मगल—पुत्री	नांगु—चार	अरुबदु—साठ
इल्लान—पति	ऐन्दु—पाँच	एडुबदु—सत्तर
	अरु—छः	

'मने' (गृह) के तमिल रूप

एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता—मने	मनेगल

[१४८] यह मानना चाहिये कि यह शब्द हिन्दी 'आठ' के समान नहीं है।

कर्ता–मनै	मनैगळ्
करण–मनैयाल्	मनैगळाल्
संयोजक–मनैयोडु	मनैगळोडु
सम्प्रदान–मनैक्कु	मनैगळुक्कु
अपादान–मनैयिलिरुन्दु	मनैगळिलिरुन्दु
सम्बन्ध–मनैयिन	मनैगळिन
अधिकरण–मनैयिडत्तिल्	मनैगळिडत्तिल्
सम्बोधन–मनैये	मनैगळे

क्रियायें

इरुक्किरदु—यह है	आगु—होना
पडुगिरदु—यह पड़ता है	आक्कु—बनाना
अडंगु—निहित होना	नीङ्गु—हट जाना
अडक्कु—धारण करना	नीक्कु—स्थगित करना
निरम्बु—भरा होना	मूडु—बन्द करना
निरप्पु—भरना	कुविल—[illegible] करना
वळर—बढ़ना	कुवल—झुकाना
मुळिर—[illegible] होना	उरुळ—लपेटना
पुगऴ्—प्रशंसा करना	तोडु—छूना या अनुभव करना
मुगिऴ्—आनन्द मनाना	तर—देना
	वर—आना

"(५) द्रविड़ भाषाओं के व्याकरणिक गठन का संस्कृत से मौलिक अन्तर है, और यह इस बात को सिद्ध करता है कि यह संस्कृत से सर्वथा स्वतन्त्र है।" इस तथ्य के और अधिक उदाहरणों के लिये मैं काल्डवेल के व्याकरण के पृ० ३४ और बाद, तथा सामान्य रूप से प्रायः सर्वत्र, का सन्दर्भ संकेत करूँगा।

खण्ड ८—गत खण्डों से निष्कृष्ट निष्कर्ष

दक्षिण भारत तथा संस्कृत के बीच मिलनेवाले मौलिक अन्तरों के विषय पर गत खण्ड में मैंने श्रेष्ठ स्रोतों पर आधारित प्रचुर प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। मैंने जो प्रमाण दिये हैं (जैसा कि देखा गया होगा) वे धातुओं तथा गठन सम्बन्धी असमानताओं जैसे इन तथ्यों तक सीमित नहीं हैं जो तुलनात्मक भाषावैज्ञानिकों को यह विश्वास दिलाने के लिये पर्याप्त हैं कि द्रविड़ बोलियों का भारोपीय बोलियों के साथ कोई मौलिक सम्बन्ध नहीं है। हमें दक्षिण के देशीय वैयाकरणों का भी इसी विषय से सम्बद्ध

लेखकों का विचार है कि उनकी भाषा जिन शब्दों से बनी है उन्हें चार प्रकारों के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है : देश्य अथवा अत्सु, तत्सम, तद्भव, और ग्राम्य। उनका यह भी विचार है कि देश्य अथवा अत्सु-तेलुगु वर्ग के शब्द ही इस भाषा के पूर्वग आधार हैं, और राजा अन्ध्रराय[१४०] ने तत्सम शब्दों को इनके बाद ही ग्रहण कराया। वह यह भी मानते है कि इन देश्य शब्दों का अपना एक पूर्ण व्याकरणिक गठन है जिसकी ब्रह्मा ने रचना की थी। मैं तमिल वैयाकरणों से इसी प्रकार का कोई प्रमाण प्रस्तुत करने की स्थिति में नहीं हूँ, किन्तु श्री इलिस हमें सूचित करते है कि तेलुगु वैयाकरणों की ही भाँति इन लोगों ने भी विभेद किये हैं और अपनी भाषा को संस्कृत से सर्वथा स्वतंत्र मानने का इनका विचार इस तथ्य द्वारा पुष्ट होता है कि ये उसी तमिल को शुद्ध और अभिजात कहते है जिसमें संस्कृत का कदाचित ही कोई मिश्रण हो। अतः यह एक निर्विवाद रूप से प्रमाणित तथ्य है कि द्रविड अथवा दक्षिण-भारतीय भाषाओं का, जहाँ तक उनके मौलिक तथा आधारभूत अंशों का प्रश्न है, भारोपीय भाषाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है, और तुलनात्मक भाषावैज्ञानिकों को ज्ञात परिवर्तन की किसी भी प्रणाली से इन्हें उस परिवार के किसी सदस्य से उद्भूत नहीं कहा जा सकता। जब एक भाषा दूसरे से उत्पन्न होती है तो परिवर्तन की कोई न कोई प्रणाली उसमें अवश्य दृष्टिगत होती है। उद्भूत बोली के शब्द सदैव, अथवा प्राय. सदैव, अपने नवीन रूप में भी पहचाने जा सकते हैं (चाहे बहुत परिवर्तित हो गये हों), और इनके रूपान्तरण के प्रत्येक स्तर को या तो बिलकुल ठीक-ठीक अथवा बहुत कुछ ठीक-ठीक निर्धारित किया जा सकता है। किन्तु दक्षिण भारतीय बोलियों के पूर्वग शब्द परिवर्तन के किसी भी नियम के अनुसार संस्कृत से उद्भूत नहीं हो सकते।

किन्तु यदि द्रविड़ भाषायें संस्कृत से सर्वथा भिन्न किसी परिवार के अन्तर्गत आती है, तो यह निष्कर्ष निकलता है कि जो जातियाँ इन दो वर्ग की भाषायें बोलती थीं वे भी वंशानुक्रम की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न रही होंगी, क्योंकि ये मानव परिवार की एक ही सदस्य की शाखायें नहीं हो सकतीं। यदि द्रविड़

---

[१४१] हम ऊपर देख चुके हैं कि डा० काल्डवेल इस राजा को ईसा से कई शताब्दी पूर्व हुआ मानते हैं। विष्णु पुराण ४ २२ से ऐसा प्रतीत होता है कि राजाओं का अन्ध्र-भृत्य वंश मगध पर शासन करता था। विलसन ने इस वंश के राज्यारोहण की तिथि को १८ वर्ष ईसा पूर्व निश्चित किया है। देखिये लासन इआ० २.७५५,९३४।

राष्ट्र भी आर्यवंशी होते तो उनकी सम्पूर्ण भाषायें भी, न्यूनाधिक मात्रा में या तो प्राचीनतर प्राकृतों के अथवा बाद की उन हिन्दी, मराठी, और बंगला के समान होतीं जो सभी अधिकांशतः प्रत्यक्षरूप से संस्कृत से ही उद्भूत हैं। किन्तु दक्षिणी भाषाओं की दशा में स्थिति ऐसी नहीं है।

और यतः आज द्रविड़ लोग ऐसी भाषाओं का प्रयोग करते हैं जो संस्कृत से सर्वथा भिन्न हैं, अतः हम इस बात को सम्भाव्य नहीं मान सकते कि इस राष्ट्र के पूर्वग अंश, किसी पूर्व समय में, कोई ऐसी भाषा बोलते रहे होंगे जिसका संस्कृत से साम्य था। इस प्रकार की कोई भी मान्यता तेलुगु वैयाकरणों में सुरक्षित किसी भी मान्यता के विरुद्ध होगी। और मनुष्यों की कोई भी ऐसी जाति ज्ञात नहीं है जिसने (किसी बाह्य दबाव के अतिरिक्त) अपनी उस भाषा को खो या छोड़ दिया हो जो उसे अपने पूर्वजों से प्राप्त हुई हो, और स्वेच्छा से किसी भिन्न भाषा को ग्रहण कर लिया हो। किन्तु यतः हमारे पास इस प्रकार के किसी बाह्य दबाव का कोई प्रमाण नहीं है जिसने द्रविड़ों को अपनी मूल भाषा को किसी भिन्न भाषा से बदलने के लिये बाध्य कर दिया हो, अतः हमें यही निष्कर्ष निकालना चाहिये कि इन लोगों ने अपनी वर्तमान बोलियों को अपने पूर्वजों से ही प्राप्त किया है। और इनके ये पूर्वज भी, जैसी कि इनकी भाषा आर्यों के पूर्वजों से भिन्न है, आर्यों से भिन्न वंश के ही रहे होंगे। किन्तु यदि भारत के दक्षिण के मूल द्रविड़-भारतीय भारतीय-आर्यों से भिन्न वंश के हैं, तब, जैसा कि मनु और महाभारत का कहना है, ये पतित क्षत्रिय नहीं हो सकते। और यह निष्कर्ष इस तथ्य से रचमात्र भी प्रभावित नहीं होता कि वर्तमान द्रविड़ जातियों का एक पर्याप्त अंश, दक्षिण की भाषा बोलते हुये भी उच्च आर्य जाति का है या अपने को ऐसा मानता है। क्योंकि, यदि दक्षिण के ब्राह्मण और कुछ अन्य जातियाँ आर्य-वंश की हों (जैसी कि बहुत सम्भवतः हैं) तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अधिकांश द्रविड़ जनसंख्या के साथ भी स्थिति ऐसी होगी, क्योंकि इस बात को मानने का प्रत्येक कारण उपलब्ध है कि ये दक्षिणी जातियाँ आर्यों के विन्ध्य पर्वत के दक्षिण में फैलने के पूर्व से विद्यमान थीं, और यह कि ब्राह्मण लोग एक बहुत बाद के समय में ही उत्तर से दक्षिण में आये। दक्षिण में आने पर ये ब्राह्मण निःसन्देह संस्कृत अथवा प्राकृतों में से किसी भाषा का व्यवहार करते थे। किन्तु यद्यपि अपनी श्रेष्ठ सभ्यता तथा शक्ति के कारण इन्होंने शीघ्र ही द्रविड़ जातियों में उच्चतर स्थान बना लिया और यहाँ ब्राह्मण धर्म और संस्थाओं का भी प्रसार कर दिया, तथापि द्रविड़ों की अपेक्षा इनकी संख्या इतनी कम थी कि इनके

लिये इस स्थान की भाषा को हटा कर अपनी भाषा को प्रतिष्ठित कर देना सर्वथा असम्भव था। अतः ये जिस देश में बसे वहाँ की द्रविड बोली को ही ग्रहण करने के लिये बाध्य रहे होंगे। कालान्तर में इनमें से अधिकांश ने अपने साथ लाई अपनी प्राकृत बोलियों को भी विस्मृत कर दिया होगा। फिर भी, इसने इन्हें अनेक संस्कृत शब्दों के प्रयोग को सुरक्षित रखने से वंचित नहीं किया होगा। और यतः इनमें से अनेक ब्राह्मण, अथवा उत्तर-भारत से बाद में आकर बसने वाले लोग, निःसंदेह विद्वान व्यक्ति थे, और यतः इनकी धार्मिक पुस्तकें संस्कृत में थीं, अतः इन लोगों ने स्वभावतः अपनी इस पवित्र भाषा तथा इसके साहित्य से अपने परिचय को समाप्त नहीं होने दिया होगा। साथ ही साथ, समय-समय पर इन लोगों ने स्थानीय देशबोली[१५०] में भी उसी प्रकार संस्कृत शब्दों का समावेश कराया होगा जैसा कि हम नवीन

[१५०] मैं यहाँ पुन इस सम्भावना का प्रतिपादन करूँगा कि सस्कृत ने न केवल उत्तरी और दक्षिणी भारत की मूल बोलियो को ही प्रभावित किया है, वरन् इनसे स्वयं भी प्रभावित हुई है श्री इ० नॉरिस (जएसो०, १५.१९) यह विचार व्यक्त करते हैं "मैं यहाँ अपना यह विश्वास प्रगट करूँगा कि मूर्धन्य कही जानेवाली ध्वनियाँ तार्तार अथवा फिन्निश वर्ग की भाषाओ की विशेषतायें हैं, यह कि वास्तविक भारतीय ['अर्थात् पूर्वग अथवा अनार्य—जे० मूइर] भाषायें भी तार्तार स्रोत से उदभूत है अथवा इनका उनसे ध्वन्यात्मक और व्याकरणिक साम्य है, और यह कि सस्कृत के लेखको ने ध्वनियो को अपने भारतीय पडोसियो से ग्रहण किया।" और प्रो० वेनफे यह कहते हैं (कम्प्लीट सस्कृत ग्रामर, पृ० २०) : "मूक मूर्धन्य सम्भवत भारतीय आदिवासी ध्वन्यात्मक प्रणाली से सस्कृत मे आये और आकर दृढ रूप से स्थापित हो गये।" इसी कृति के पृ० ७३, पर आप पुन यह कहते हैं "सस्कृत एक अत्यन्त प्राचीन तथा विस्तृत रूप से व्याप्त भाषा है। यह एक देशबोली के रूप मे व्यवहृत होती रही, और अपने इस रूप मे एक अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र मे व्याप्त तथा न केवल अपने से ही उद्भूत अनेक बोलियो के ही साथ-साथ विद्यमान रही वरन् ऐसी बोलियो के साथ-साथ रही जो इससे सर्वथा भिन्न थी। इन परिस्थितियो से यह परिणाम निकलता है कि न केवल ऐसे रूप ही जो प्राकृतो मे गृहीत थे, बाद मे सस्कृत मे सम्मिलित हो गये, वरन् ऐसे भी शब्द, जो सर्वथा भिन्न थे, सस्कृत मे प्रविष्ट हो गये। इन विदेशी शब्दो को उसी समय पृथक किया जा सकता है जब इस बात का ठीक-ठीक ज्ञान हो जाय कि कौन-सी बोलियाँ ऐसी थी जिनका सस्कृत से कोई सम्बन्ध नही था। परन्तु यह एक कठिन कार्य है।

यूनानी तथा लैटिन शब्दों से अँग्रेज़ी को भी सतत् समृद्ध होते देखते हैं। यह तथ्य कि दक्षिण-भारत के निवासियों में से अनेक आर्यों के वंशज हैं, इस बात पर सन्देह के लिये कोई आधार प्रदान नहीं करता कि इन प्रान्तों की पूर्वग भाषा संस्कृत से सर्वथा भिन्न थी, और जो लोग उन भाषाओं को बोलते थे वे भी आर्य-जाति से सर्वथा असम्बद्ध थे। क्योंकि असंस्कृत शब्दों के एक सीमित अंश की उपस्थिति, जिन्हें हम हिन्दी, और अन्य उत्तर-भारतीय बोलियों मे ढूँढ सकते हैं, इस बात को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त प्रतीत होती है कि उत्तर-भारत मे कभी एक या अधिक अनार्य जातियो भी निवास करती थीं और संस्कृत-भाषी आर्यो के भारत में आकर बसने के पहले यह भाग भी इन्हीं जातियों द्वारा अधिकृत था।

अब मेरे लिये इस महत्त्वपूर्ण बात का अनुसन्धान शेष रह जाता है कि दक्षिण की अधिकाश जनसख्या, जो अनार्य है, किस प्रकार आर्यों के हिमालय के उस पार के निवासी होने और उत्तर-पश्चिम से भारत में आकर बस जाने के तथ्य को प्रभावित करती है।

गत अध्याय में हम लोगों ने, एक ही परिणाम की ओर केन्द्रित अनेक आधारों पर यह निष्कर्ष निकाला था कि आर्यों ने उत्तर-पश्चिम की ओर से भारत में प्रवेश किया था। प्रस्तुत अध्याय के पिछले खण्डों में जिन तथ्यों की स्थापना की गई है वे भी उक्त निष्कर्ष के सर्वथा अनुकूल हैं। ये तथ्य इस प्रकार हैं : (१) पञ्जाब में निवास करते हुये आर्य लोगों ने अपने को शत्रुओं के एक ऐसे वर्ग से सघर्परत पाया जिन्हें वे अपनी जाति के लोगों के विपरीत दस्यु कहते थे, (२) सिन्धु से सरस्वती में बीच के भारत के उत्तर-पश्चिमी भूभाग पर अधिकार कर लेने के बाद आर्यों ने पूर्व तथा दक्षिण की ओर भी बढ़ना आरम्भ किया, (३) कुछ और बाद के समय में उन लोगों ने विन्ध्य पर्वतों को पार कर के उस दक्षिण के पठार पर अधिकार करना आरम्भ किया जो पहले असभ्य और बर्बर जातियों के अधिकार में था, और अब हम यह देखते हैं कि (४) दक्षिण के विभिन्न प्रान्तों मे आज जो राष्ट्र निवास करते हैं, और जो (यहाँ की उस जनसख्या के अतिरिक्त जो आर्यों की सन्तान है) मूल जातियों के प्रत्यक्ष वंशज हैं, ऐसी भाषाओं के परिवार का व्यवहार करते हैं जिसका संस्कृत से मौलिक अन्तर है। फिर भी, कुछ और विस्तार से यह दिखाना आवश्यक है कि ये परिस्थितियाँ इस तथ्य की कि आर्य भारत के मूल निवासी नहीं बल्कि उत्तर-पश्चिम की ओर से हिमालय के पार से आकर बसी जाति के लोग हैं, किस सीमा तक पुष्टि करती हैं अथवा कम से कम अनुकूल हैं। पहले, तब, यह तथ्य कि भारतीय इतिहास के उषाकाल, आरम्भिकतम वैदिक काल, में हम आर्यों को पंजाब में बसा पाते हैं, तदनन्तर ये हिमालय

की दक्षिणी सीमा के पास से क्रमशः पूर्व की ओर सरस्वती से सदानीरा तक चढते हैं, और इसमें सन्देह नहीं कि साथ ही साथ ये दोआवा-क्षेत्र के दक्षिणी भाग और विहार की ओर भी वढ़े, और कुछ समय के वाद विन्ध्य पर्वतों को पार कर दक्षिण के पठारों पर भी आ गये—ये सभी इस मान्यता को शक्तिशाली वनाते हैं कि आर्यों ने भारत के उत्तर-पश्चिमी कोने के किसी क्षेत्र से भारत में प्रवेश किया और यही इनके भारत पर वाद के आधिपत्य का आरम्भविन्दु था। दूसरे : यह असन्दिग्ध तथ्य कि दक्षिण में आने पर आर्यों ने इस क्षेत्र को ऐसी जाति के अधिकार में पाया जिसकी भाषा का सस्कृत से मौलिक विभेद था; और प्रायः इसी प्रकार की जाति से पंजाव और दोआवा में भी सामना हो चुका था, इस निष्कर्ष की सम्भावना में वृद्धि कर देता है कि आर्य उस जाति के लोग नहीं हो सकते जिससे इनके आगमन के पूर्व भारत आवाद था; क्योंकि हमें या तो यह मानना चाहिये कि ये दोनों जातियाँ, आर्य और अनार्य, भारत में साथ ही साथ विकसित हुई और आरम्भिकतम समय से ही दोनों के वीच सम्पर्क था, अथवा यह मानना कि इनमें से एक या दोनों ही, भारत में वाहर से आकर वस गई थीं। किन्तु यह असम्भाव्य प्रतीत होता है कि दो ऐसी जातियाँ, जैसे आर्य और अनार्य, जिनकी भाषाओं में इतना अनिवार्य अन्तर था, और जिनका धर्म भी मूलतः निश्चित रूप से भिन्न था, एक ही देश में और एक जलवायु के अन्तर्गत साथ-साथ विकसित हुई और साथ-साथ निवास करती रहीं। अधिक सम्भाव्य यह है कि इनमें से एक या दोनों ही भारत के लिये विदेशी थीं। सत्य तो यह है कि सम्भवतः दोनों ही उत्तर-पश्चिम की ओर से भारत में आई थी,[१५१] किन्तु अनार्यो की अपेक्षा आर्यो की दशा में इस मान्यता के लिये प्रमाण कहीं अधिक शक्तिशाली हैं; क्योंकि, आर्यों की भाषा से निष्कृष्ट प्रमाणों के, जो इन्हे सिन्धु के पश्चिम के राष्ट्रों के साथ स्पष्ट रूप से सम्वद्ध करते हैं, अतिरिक्त इनकी त्वचा का रग भी एक प्रमाण है जो आज भी मूल निवासियों से अधिक साफ और आरम्भिक समय में निश्चित रूप से और स्वच्छतर रहा होगा। किन्तु यदि इनमें से कोई भी जाति भारत की आदि-निवासी नहीं है, और यदि ये भारत के किसी भाग में पूर्व समय मे समसामयिक रूप से निवास नहीं करती थीं तव प्रश्न यह उठता है कि इनमें से कौन सी जाति भारत में पहले आई? इसमें सन्देह नहीं कि हमें यह निष्कर्ष निकालना चाहिये कि दस्यु अथवा

[१५१] परिशिष्ट, नोट 'O' मे मैं डा० काल्डवेल तथा अन्य लेखको के अनार्य जातियो की उत्पत्ति और सम्वन्ध के विषय पर और विचार प्रस्तुत करूँगा।

वर्बर तथा द्रविड़ जातियाँ ही यहाँ पहले आईं। क्योंकि, जैसा कि लासन का मत है, हमें इस बात के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं कि आर्यों ने भारत की आरम्भिक जनसंख्या को बीच से विभाजित कर एक भाग को उत्तरी तथा दूसरी को दक्षिणी पर्वतों की ओर भगा दिया; और यह कि विन्ध्य पर्वतों के तथा दक्षिण के लोग ही उस निर्बल तथा पलायनशील पक्ष के प्रतीत होते हैं जिन्हें आर्यों ने पीछे हटाया था। और हम अनार्य जातियों को उस शक्ति से युक्त नहीं मान सकते जिससे इन लोगों ने एक आर्य जाति के बीच से अपना मार्ग बना कर भारत के मध्य तथा दक्षिण के क्षेत्रों में जा कर बसने में सफलता प्राप्त की होगी : क्योंकि आर्य लोग आरम्भ से ही अपने विरोधियों से अधिक शक्तिशाली तथा सभ्य थे, और एक अत्यन्त आरम्भिक काल में ही इन लोगों ने दक्षिण की जातियों को अपने अधीन कर लिया था। यह सत्य है कि श्री कर्ज़न इस बात पर आपत्ति करते हुये कहते हैं कि ये असभ्य और तथाकथित आदिवासी जातियाँ उन शकों और हूणों इत्यादि नामक कुछ बर्बर आक्रामकों की वंशज हो सकती हैं जिनको संस्कृत लेखकों ने भारत पर आक्रमण करने वाला और फिर पराजित होकर भारत के वनों और पर्वतों में जाकर शरण ले लेने वाला बताया है। किन्तु मेरे विचार से यह व्याख्या परिस्थिति की सम्पूर्ण आवश्यकताओं को पूर्ण नहीं करती। हमारे पास इस बात का कोई आश्वासन नहीं है कि शकों इत्यादि जैसे आख्यानों को, जिन्हें प्रस्तुत कृति के प्रथम भाग में उद्धृत किया जा चुका है, चाहे इनका कोई ऐतिहासिक आधार हो तो भी, बहुत प्राचीन समय की घटनायें नहीं माना जा सकता। क्योंकि वे भारतीय-शक, जिन्हें विक्रमादित्य ने पराजित किया था, जिस समय भारत के शासक बने और भारत की पश्चिमी सीमा को अपने अधिकार में कर लिया, उसे ईसवी सन के आरम्भ के बहुत पूर्व नहीं स्थित किया जा सकता। (देखिये लासन : इआ० २.३६५ और बाद, ३९८, ४०८, ४०९)। किन्तु भारतीय साहित्य में दस्युओं के जो चिह्न हमें मिलते हैं (जैसा कि ऊपर उद्धृत अनेक वैदिक स्थलों के उद्धरणों के आधार पर हम देख चुके हैं) वह इस काल की अपेक्षा कहीं अधिक प्राचीन हैं।

सारांश के रूप में मैं उसी विषय पर लौटते हुये, जिससे मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ को आरम्भ किया था, गत अनुसन्धानों के परिणाम के रूप में ये निष्कर्ष निकालता हूँ : प्रथमः—उच्च वर्णों के हिन्दू, कम से कम अंशतः, उसी भारोपीय जाति से उत्पन्न हैं जिससे पश्चिम के लोग, द्वितीयः—यतः ऐसा प्रतीत होता है कि पितृजाति का उद्भव मध्य एशिया में हुआ था, अतः इसकी भारतीय शाखा के पूर्वज भारत के आदिनिवासी नहीं बल्कि भारत में उत्तर पश्चिम से आकर बसे लोग है।

परिशिष्ट

नोट A—पृ० २५१, अन्तिम पंक्ति

इस विषय पर प्रो० कर्न ने अपने एक लेख (इण्डियन थ्योरीज़ ऑन दि डिवीजन ऑफ क्लासेज़) में यह मत व्यक्त किया है : "यह तथ्य कि जेण्डावेस्ता में अक्सर तीन, तथा कभी कभी चार वर्गों का उल्लेख मिलता है, स्वयं कुछ भी प्रमाणित नहीं करता। यह भी उसी समान है जैसे कभी तीन और कभी चार वेदों का उल्लेख मिलता है। यहाँ भी कुछ लोगों ने एक विरोधाभास ढूंढ़ने का प्रयास किया है और इससे अत्यन्त दु:साहसिक निष्कर्ष निकाले है। जब हिन्दू तीन वेदों की चर्चा करते हैं, तब उनका तात्पर्य त्रिविध वेद से होता है जो (१) ऋचाओं, (२) सामनों, और यजुष् मंत्रों, से मिलकर बना है। इनकी संख्या इन तीन प्रकार के मंत्रों से सर्वथा स्वतन्त्र है। मन्त्रों के यदि एक सौ संग्रह भी होते तो भी वेद को त्रयी विद्या ही कहते। यह केवल एक आकस्मिक घटना मात्र है कि हिन्दुओं के पास केवल चार ही ऐसे सग्रह (कुछ दशाओं के पाँच भी) है जिन्हें ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद (कृष्ण और शुक्ल), और अथर्ववेद की संहितायें कहते हैं। यह इस तथ्य में कदापि हस्तक्षेप नहीं करता कि अथर्ववेद प्रायः सर्वथा ऋग्वेद जैसा है, यद्यपि बडे संग्रह को ऋग्वेद कहते हैं, जब कि यजुर्वेद में केवल अंशतः ही यजुष-मन्त्र मिलते हैं। इस बात को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है कि हमें पहले उन सिद्धान्तों को जान लेना चाहिये जिनके आधार पर कोई वितरण किया जाता है, और उसके बाद ही सख्याओं के आधार पर कोई निष्कर्ष निकालना चाहिये। (पृ० १३ और बाद)।

नोट B—पृ० २५५, नोट २२४*

उपरोद्धृत लेख में प्रो० कर्न अथर्ववेद के सम्बन्ध में यह मत व्यक्त करते हैं (पृ० ३ और बाद) :—"कभी कभी यह अनुमान करना कठिन हो जाता है कि प्राचीनतर और बाद के समय से क्या तात्पर्य है। उदाहरण के लिये, अथर्व-वेद को ऋग्वेद के बाद का कहा गया है : यह एक विश्वास का विषय बन गया है। परन्तु अथर्ववेद के लगभग आधे सूक्त (यत्र-तत्र पाठभेद के अपवाद के अतिरिक्त) वही हैं जो ऋग्वेद में हैं, अतः अथर्ववेद के शेष अंश को भी उसी समय बाद का कहा जा सकता है जब भाषा, छन्द और शैली आदि के आधार

पर इस बात के लिये प्रमाणों का निर्धारण कर दिया जाय। किन्तु जहाँ तक मुझे ज्ञात है, अभी तक किसी ने भी ऐसे किसी आधार की खोज नहीं की है। मैं केवल एक ही उदाहरण से यह दिखाऊँगा कि अथर्ववेद के शेष अंश में भी लेशमात्र सन्देह के बिना कुछ ऐसे स्थल हैं जो प्राचीनतम वैदिक काल में, और यहाँ तक कि और भी प्राचीन समय में भारतीयों को ज्ञात थे, यद्यपि इनका ऋग्वेद में कोई उल्लेख नहीं हैं। अथर्ववेद ६.२२, ५.७.१४ में बह्लीकों (अथवा बल्हिकों) का नामोल्लेख है। यतः बलख भारत में आर्यों के प्राचीनतम आवासों का समकालीन है, अत बह्लीक लोग प्राचीनतम भारतीयों को अज्ञात नहीं रहे हो सकते। फिर भी ऋग्वेद में हमें इन पड़ोसियों का कोई चिह्न नहीं मिलता, जिनके साथ भारतीयों का नित्य सम्पर्क रहा होगा, जबकि अथर्ववेद में इनका चिह्न है।"

मैं उस समय प्रो० कर्न से सहमत नहीं हो सकता जब वह कहते हैं कि किसी ने भी भाषा, छन्द, और शैली इत्यादि के आधार पर ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद की प्राचीनता की खोज करने का प्रयास नहीं किया है, यद्यपि ऐसे प्रमाणों का बहुधा विस्तार से उल्लेख नहीं है। ऊपर पृ० पर प्रो० २५४ व्हिट्नी की टिप्पणी देखिये। लिटरेचर ऐण्ड हि० ऑफ वेद, पृ० १२, पर प्रो० रॉथ इस प्रकार लिखते हैं: "जो स्थल इसमें (अथर्ववेद) और ऋग्वेद दोनों में मिलते हैं, उनमें अनेक परिवर्तन तथा अंश-ग्रहण मिलते हैं, और इनमें से अनेक की प्रकृति सर्वथा काल्पनिक है। इसके अपने स्थलों की भाषा प्रवाहपूर्ण है जो एक बाद के समय की प्रतीत होती है, यद्यपि इसके व्याकरणिक रूप प्राचीनतर सूक्तों जैसे ही हैं। इसमें और ऋग्वेद में एक विशेष सम्बन्ध यह है कि अन्तिम चरण में (दसवें मण्डल के अन्तिम अनुवाक में) ऋग्वेद में ऐसे खण्डों की पर्याप्त संख्या मिलती है जिनकी प्रकृति सर्वथा अथर्ववेद के समान है, और वास्तव में इन्हें अथर्ववेद में भी सम्मिलित कर लिया गया है। इस वेद के एक बाद के समय का होने के सम्बन्ध में इन सामान्य चिह्नों के अतिरिक्त हमें कुछ विशेष बातें भी मिलती हैं, जिनमें से यहाँ मैं केवल एक उल्लेख करूँगा: ऋग्वेद के सूक्त में विविध प्रकार से इन्द्र, अश्विनों, तथा अन्य देवों की उन कृपाओं की प्रशस्तियाँ हैं जो उन्होंने पूर्वजों पर की थीं। इन देवताओं द्वारा उपकृत जिन लोगों के नामों का उल्लेख है वह स्वयं सूक्त-प्रणेताओं के समय के पूर्व के हैं, तथा किसी वैदिक ऋषि का कदाचित ही उल्लेख है। परन्तु अथर्ववेद के चौथे काण्ड में, उदाहरण के लिये, एक ऐसा सूक्त आता है, जिसमें मित्र और वरुण का स्तोता की रक्षा करने के लिये आवाहन है—उस प्रकार नहीं जिस प्रकार इन देवताओं ने दध्यञ्च, रेभ, पेदु, और अन्य की रक्षा की थी,

वल्कि उस प्रकार जैसे जमदग्नि, वसिष्ठ, मेधातिथि, पुरुमीत्ह, इत्यादि की रचा की गई थी; और ये सव ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें परम्परायें ऋग्वेद के सूक्तों का द्रष्टा मानती हैं। अतः इस वात पर सन्देह नहीं किया जा सकता कि अथर्ववेद का न केवल ऋग्वेद के वाद संग्रह हुआ, वरन् यह एक वाद की रचना ही है।

अथर्ववेद पर अपने शोध प्रवन्ध (पृ० २२)[1] में यही लेखक इस प्रकार लिखते हैं : "यदि ऊपर मैंने अथर्ववेद को ऋग्वेद का एक पूरक कहा है तो इसका यह तात्पर्य है कि मैं इस संग्रह को एक वाद की कृति मानता हूँ। किन्तु एक अनुमानिक रूप से भी इसके समय का निर्धारण करना निरर्थक प्रयास होगा क्योंकि विशेष भारतीय रचनाओं की तिथियों के सम्बन्ध में हमारी सूचनाये अत्यन्त अनिश्चित है। अन्य दृष्टियों से इस वेद को प्राचीन साहित्य का ही एक अंश मानना चाहिये। एक अन्य स्थान पर एक पर्यवेक्षण के रूप मे मैं अथर्ववेद के विषयवस्तु से ऐसे प्रमाणों का संग्रह प्रस्तुत करूँगा जो यह सिद्ध करेंगे कि इस वेद के अधिकाश स्थल तथा मंत्र ऋग्वेद के वाद के हैं, और यह कि इसका संग्रह भी ऋग्वेद के वाद हुआ है। यहाँ मैं केवल भाषा से निष्कृष्ट एकमात्र किन्तु सर्वथा निश्चित प्रमाण तक ही अपने को सीमित रक्खूँगा।

"संस्कृत के एक कोश का निर्माण करने की दृष्टि से मैंने अथर्ववेद के अपने सहसम्पादक, श्री डब्लू० डी० व्हिट्ने, के साथ सम्पूर्ण रूप से सभी वैदिक संहिताओं के शब्दों का चयन किया है। अतः मैं एक संतोषजनक शुद्धता के साथ इस वात को वता सकता हूँ कि कौन-सा शब्द इन विभिन्न संहिताओं में कितनी वार आया है। सामान्य रूप से विचार करने पर अथर्ववेद की भाषा अन्य वेदों के ही समान प्रतीत होती है। इस प्रकार यह तथाकथित अभिजात अथवा अधिक उपयुक्ततः लौकिक संस्कृत रचनाओं से अत्यन्त स्पष्ट रूप से भिन्न है। अथर्ववेद में भी अनेक विशेष वैदिक रूप मिलते हैं, अर्थात् प्राचीन वोलीगत रूप, फिर भी, जव कभी ऋग्वेद के किसी समानान्तर स्थल के साथ तुलना करने का अवसर मिलता है तव अवसर ये वातें सामने आती है : (क) प्राचीन रूप का एक वाद के समय के अनुरूप परिवर्तन : उदाहरण के लिये, 'त्वि' अथवा 'त्वाय' के स्थान पर 'त्वा' जो वाद के समय में मात्र प्रचिलित मिलता है। (ख) मन्त्र के किसी खण्ड का प्रतिपादन, जो यह दिखाता है कितने क्रमिक रूप से प्राचीन प्रचलन की समाप्ति हुई। किन्तु एक वाद के भाषात्मक प्रयोग की प्रवृत्ति कोशात्मक दृष्टि से (अर्थात् उस दृष्टि से जो शब्दों के रूप नहीं वल्कि उनके अर्थ से सम्वद्ध है) ही सर्वाधिक

[1] अ० १८५६।

स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है। अनेक निपातों के प्रयोग में यह अत्यन्त स्पष्टता से लक्षित होती है : जिस प्रकार होमर का, जो इन छोटे शब्दों में इतने सम्पन्न है, इस दृष्टि से बाद के लेखकों के साथ विभेद किया जा सकता है, उसी प्रकार ऋग्वेद का भी बाद की पुस्तकों और अथर्ववेद से विभेद किया जा सकता है। इस प्रकार जो स्थल अथर्ववेद के अपने हैं उनमें 'इत्था' निपात केवल एक बार ही आता है, जब कि ऋग्वेद में यह साठ से भी अधिक बार प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार 'इत्' निपात भी इसमें बहुत कम प्रयुक्त हुआ है, जब कि 'इम्', जो ऋग्वेद में प्रायः दो सौ बार प्रयुक्त है, इसमें आता ही नहीं। दूसरी ओर, ऋग्वेद बाद के रूप 'एवम्' से बिल्कुल परिचित नहीं किन्तु प्राचीनतर रूप 'एव' का प्रयोग करता है, जब कि अथर्ववेद में 'एवम्' चालीस से भी अधिक और वह भी आठवें काण्ड के बाद से ही प्रयुक्त हुआ है।

"इसी प्रकार प्राचीनतर भाषा की कुछ प्रमुख धारणायें अथर्ववेद में दुर्लभ रूप से ही आती हैं। यह सत्य है कि यह स्थिति निपातों से भिन्न है। ये छोटे शब्द किसी पुस्तक में कहीं भी आ सकते हैं चाहे उसका विषय-वस्तु कुछ भी हो। इसके विपरीत, संज्ञायें और क्रियायें, ऐसी पुस्तकों में जिनके विषय भिन्न हों, इसी बारम्बार के साथ नहीं आ सकते। फिर भी ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के बीच इनकी भी बहुत कुछ शुद्ध तुलना की जा सकती है। 'ऋत' शब्द, जो वेदों की धार्मिक प्रणाली की एक आधारभूत धारणा है, अथर्ववेद में इतना प्रमुख नहीं है जितना ऋग्वेद में। फिर भी हमें यह जानकर आश्चर्य होगा कि यह अथर्ववेद में सचमुच बहुत दुर्लभ रूप से आया है, जब कि ऋग्वेद में हम इसे तीन सौ से भी अधिक बार पाते हैं। इसी प्रकार 'ऋक्वन्', जो ऋग्वेद में बीस बार आता है, अथर्ववेद में नहीं है। 'ऊति' जो ऋग्वेद में सौ से भी अधिक स्थलों पर मिलता है, अथर्ववेद में केवल छः या सात स्थलों पर ही आता है। 'कारु', जो ऋग्वेद में पैंतालीस बार आया है, अथर्ववेद में केवल एक बार मिलता है। इसी प्रकार अथर्ववेद में 'उक्थ्य' भी केवल एक बार किन्तु ऋग्वेद में प्रायः चालीस बार आता है।

"प्राचीन बहु-व्यवहृत शब्द 'इष्' अथर्ववेद में अत्यन्त दुर्लभ है, और केवल 'ऊर्ज्' के सम्बन्ध में ही आता है। 'उदन्' केवल एक बार आया है। विशेषण 'ऋष्व' ऋग्वेद में अड़तालीस बार आता है किन्तु अथर्ववेद में केवल एक बार मिलता है। प्राचीन क्रियाविशेषणात्मक रूप 'उरुया' अथर्ववेद में अज्ञात है, जब कि ऋग्वेद में हमें यह प्रायः बीस बार मिलता है। नामधातु क्रिया 'उरुष्यति', जो अथर्ववेद में प्रचलित धारणाओं के सर्वथा अनुकूल है,

वहाँ केवल तीन बार मिलती है, जब कि ऋग्वेद में चौंतीस बार प्रयुक्त हुई है। प्राचीन क्रिया 'कन्', जो बाद में सर्वथा लुप्त हो गई, अथर्ववेद में भी अनुपस्थित है, जब कि ऋग्वेद में हम इसे लगभग चालीस बार व्यवहृत पाते हैं। दूसरी ओर, उस 'कल्प्' क्रिया के प्रयोग में अथर्ववेद अत्यन्त उदार है जो बाद में बहुत अधिक व्यवहृत होने लगी, जब कि ऋग्वेद के प्रथम नौ मण्डलों में यह केवल एक बार ही मिलती है, यद्यपि दसवें मण्डल में यह अवश्य दस बार व्यवहृत है। 'इन्द्रिय' शब्द, जो ऋग्वेद में वास्तव में बहुधा तो मिलता है किन्तु बाद के साधारण आशय में नहीं, अथर्ववेद में बाद के ही आशय में आता है : उन्नीसवें काण्ड में पाँच इन्द्रियों के लिये इसका प्रयोग हुआ है।

'ऐसे उदाहरणों में इच्छानुसार वृद्धि की जा सकती है। मैंने इन्हें उन अक्षरों से चुना है जिन्हें कोश के लिये पूर्ण कर लिया गया है। यहाँ मैंने इनको प्रमाण के रूप में ही प्रस्तुत किया है, और ये मेरे उद्देश्य के लिये पर्याप्त हैं। यह देखा जा सकता है कि अथर्ववेद का शब्द भण्डार भाषा के एक उस बाद के काल के निकट आता है जिसकी, जहाँ तक मुझे ज्ञात है, वैदिक ग्रन्थों के द्वितीय वर्ग, ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरम्भिकतम रचनायें हैं। किन्तु इस तथ्य से तत्काल यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये कि अथर्ववेद में सुरक्षित सभी सूक्त ऋग्वेद के बाद के ही हैं। हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि इनमें से जो आरम्भिक भाषात्मक काल के हैं उनसे प्राचीन शब्द कालान्तर में निकल गये हो सकते हैं। क्योंकि, मेरे दृष्टिकोण के अनुसार इस बात को अस्वीकृत नहीं किया जाना चाहिये कि अथर्ववेद में भाषा की शैली तथा विचारों, दोनों ही की दृष्टियों से, अनेक ऐसे भी स्थल हैं जिन्हें ऋग्वेद के प्राचीनतर सूक्तों का समकालीन कहा जा सकता है।"

इसी विषय पर और प्रमाणों के विवरण के लिये मैं प्रो० आफरेख्त का आभारी हूँ। अथर्ववेद के उन भागों में, जिनमें ऐसे सम्पूर्ण सूक्त मिलते हैं जो ऋग्वेद में भी हैं, वहाँ न केवल पूरे मन्त्र, वरन् मन्त्र और वाक्-पद ऐसे मिलते हैं जिनका, ऋग्वेद से लेकर उनके मूल प्रयोजन से भिन्न प्रयोजन के लिये, प्रयोग किया गया है। यह तथ्य कि ये मन्त्र, मन्त्रांश अथवा पद अथर्ववेद में ऋग्वेद से लिये गये हैं न कि अथर्ववेद से ऋग्वेद में, प्रत्येक दशा में प्रसंग से स्पष्ट हो जाता है। यह भी उल्लेखनीय है कि अनेक मन्त्र, जो ऋग्वेद में नहीं वल्कि उसके प्रत्यक्षतः एक बाद के प्रक्षिप्त अंश, खिल भागों में ही आते हैं, अथर्ववेद में मिलते हैं। तुलना कीजिये प्रो० मूलर की, उनके ऋग्वेद के संस्करण में भूमिका, भाग २, पृ० xxxiv, और भाग ४, पृ० १३, १९। इन

खिलों में से एक, रात्रि सूक्त, अंशतः अथर्ववेद में मिलता है। यह इस संभावना को समाप्त नहीं करता कि अथर्ववेद के कुछ सूक्त, मुख्यतः १—९ काण्डों के अभिचारीय सूक्त (अन्य नहीं) इतने प्राचीन हैं जितने ऋग्वेद के दसवें मण्डल के अथवा कुछ अन्य सूक्त जिन्हें अन्य मण्डलों के अन्त में रक्खा गया है, जैसे १.१९१, और दूसरे मण्डल के अन्तिम दो सूक्त। यह भी हो सकता है कि अथर्ववेद के कुछ विचार ऋग्वेद के इन मण्डलों के विचारों के समान ही प्राचीन हों।

यद्यपि ऋग्वेद प्राचीनतम सग्रह है, तथापि इसमें ही वह सब कुछ निहित नहीं है जो भारतीय विचारों और परम्पराओं में सर्वाधिक प्राचीन है। उदाहरण के लिये, हम जानते हैं कि अत्यन्त प्राचीनता की छापवाले कुछ आख्यान, जैसे जलप्लावन के आख्यान, सर्वप्रथम ब्राह्मणों में ही आते हैं।

विषय-वस्तु पर आने पर हमें उक्त दोनों संहिताओं में महान अन्तर मिलते हैं।

१. धर्म

क्या अथर्ववेद के धार्मिक विचार भी उसी बिन्दु पर स्थित हैं जिस पर वे ऋग्वेद में मिलते हैं? अथवा क्या इसमें व्यवस्थीकरण की दिशा में प्रगति मिलती है? क्या हमें बहुदेवतावाद के विकास के चिह्न मिलते हैं, अथवा अद्वैत-वाद की ओर प्रगति मिलती है?

१. विष्णु—अथर्ववेद में इस देवता को समर्पित एक भी सूक्त नहीं है। इसका केवल एक लोकपाल के रूप में ३.२७,५; १२.३,५९ में उल्लेख है।

२. वरुण—अथर्ववेद का ४.१६ सूक्त इस देवता को समर्पित है। यह सूक्त कुछ दृष्टियों से उल्लेखनीय है (इसका साक्षी द्वारा शपथ ग्रहण करने के लिये प्रयोग किया गया है),[२] किन्तु इसकी प्रत्येक पंक्ति इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती है कि इसे ऋग्वेद से लिया गया है। एक अन्य सूक्त भी है, जो निःसन्देह किसी ऐसी प्राचीन परम्परा पर आधारित है जिसमें वरुण को अथर्वन् को एक गाय प्रदान करते हुये दिखाया गया है, परन्तु इसकी रचना प्रत्यक्षतः होता पर यह प्रभाव डालने के लिये की गई प्रतीत होती है कि अथर्वन् पुरोहित

---

[२] विशेष दशाओं में मन्त्र ९ (तैस त्वा सर्वैर् अभिध्यामि पाशैर् असाव् आमुष्यायण अमुष्याः पुत्र) के वास्तविक प्रयोग के समय 'आमुष्यायण' के स्थान पर होता का नाम डाल दिया जाता था। इस प्रकार इस मन्त्र का निश्चित उद्देश्य स्पष्ट है। तुलना कीजिये अथर्ववेद १०.५, ३६.४४; १६.७,८; १६.८,१।

को एक गाय का दान किया जाना चाहिये। शेष दृष्टियों से वरुण को भी बहुत कुछ विष्णु जैसा ही प्रस्तुत किया गया है।

३. इन्द्र —इन्हे कोई विशेष सूक्त समर्पित नहीं है। न तो इनके किसी पराक्रम का और न किसी ऐसे शत्रु का ही उल्लेख है जो ऋग्वेद से बाहर का हो।

४. अग्निः—इनकी स्थिति भी ऐसी ही है। साथ ही यह अब देवों और मनुष्यों के एक युवा मध्यस्थ के रूप में नहीं रह गये हैं। इनकी अग्नि का औपचारिक रूप से दक्षिणाग्नि, पूर्वाग्नि, गार्हपत्य, इत्यादि के रूप में विभाजन कर दिया गया है।

इस सब से यह स्पष्ट है कि अथर्ववेद में कोई ऐसा मौलिक सूक्त नहीं है जो या तो ऋग्वेद के प्राचीनतर सूक्तों का समकालीन हो, अथवा सर्वाधिक प्राचीन देवों के किसी विशिष्ट और मौलिक गुणों को व्यक्त करता हो। जहाँ तक इन सूक्तों का सम्बन्ध है, एक ओर ये ऋग्वेद से गृहीत सामग्री पर अपना निर्माण करते है, और दूसरी ओर इनमें ऐसी नवीन और आधुनिक विशेषताओं को जोड़ देते हैं जो अन्ततः बाद के पुराकथाशास्त्रों के रूप में विकसित हो गईं। वास्तव में, ऋग्वेद के प्रधान देवता उसी स्तर पर ला दिये गये हैं जिन पर हम इन्हें बाद के महाकाव्यों में पाते है, और एक नवीन देवता, भव-शर्व, ने प्रधानता प्राप्त कर ली है।

फिर भी, उक्त अन्तिम देवता, भव शर्व (११. २, १ और अन्यत्र) के अतिरिक्त (जो ऋग्वेद में कहीं भी नहीं आता) इसके देवता ऋग्वेद के समान उज्ज्वल प्राथमिक शक्तियाँ नहीं बल्कि सर्प[3], तथा अग्नि, ओषधि, जल, विद्युत, आदि से उद्भूत हैं : तेभ्यः सर्पेभ्यो नमसा विधेम। "हम श्रद्धापूर्वक इन सर्पों का पूजन करें।" देखिये १०.४, २३; ८.८, १५,८.१०,२९ (जहाँ तक्षक का उल्लेख है), इत्यादि। इसमें एक रात्रिसूक्त (१९.४७–५०) भी है।[4] यहाँ गायों की भी स्तुति की गई है (१२.४ और ५)। दूसरी ओर अथर्ववेद ब्रह्म, ब्रह्म ज्येष्ठम् , स्कम्भ (देखिये प्रस्तुत कृति का पाँचवाँ भाग) आदि की प्रशस्ति के रूप में अद्वैतवाद की ओर प्रगति को व्यक्त करता है। इसमें काल और काम को सम्बोधित सूक्त भी हैं, परन्तु ये देवता के रूप में ऋग्वेद में अज्ञात हैं।

---

[3] ऋग्वेद मे 'सर्प' केवल एक बार १० १६,६ मे आता है।

[4] यह सत्य है कि हमे यही ऋग्वेद १०.१२७ मे भी मिलता है; किन्तु अथर्ववेद मे स्तुति अधिक निश्चित है।

२. काव्य, कल्पना

काव्यात्मक भावना, अथवा कल्पना (उदाहरण के लिये, जैसी कि ऋग्वेद में उषा को सम्बोधित सूक्तों में व्यक्त होती है) की दृष्टि से अथर्ववेद में प्रायः कुछ नहीं है। पाठक अपने को सदैव अन्धकारपूर्ण और दम घोटनेवाले वातावरण में ऐसे पुरोहितों से घिरा पाता है जो किसी भी लाघव का दृढ़तापूर्वक दमन करने के लिये सन्नद्ध प्रतीत होते है।

३. सांस्कारिक कृत्य

इस क्षेत्र में विकास स्पष्ट से स्पष्टतर होता गया है। ऐसे शब्दों की तुलना कीजिये : अग्निष्टोम, अनुवाक, प्रयाज, अनुयाज[५], (१ ३०,४), महानाम्नी, महाव्रत, राजसूय, वाजपेय, अग्निहोत्र, एकरात्र, द्विरात्र, चतूरात्र, पञ्चरात्र इत्यादि (१०.७, ६.९.१०. ११)। १९. २२ और २३ भी देखिये। १३.३,६ में हमें यज्ञ के तीन अक्षरों (यज्ञस्य त्रयोऽक्षरा.) का, ऐसा मानना चाहिये कि, यषत्, वषट्, और स्वाहा, अर्थ है। सम्पूर्ण २० वे काण्ड की कुछ विशेष यज्ञीय उद्देश्य से रचना की गई है और इसका अथर्ववेद के सूक्तों में अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ वर्णन है।

४. विचार

अथर्ववेद मे हमें (क) 'नाम' और 'रूप' जैसे शब्द मिलते हैं जो ब्राह्मण और वेदान्त साहित्य में बहुधा आते हैं, (ख) पीलुमती द्यौः (१८.२,४८), (ग) 'क्षिति' और 'अक्षिति' (११.७,२५), (घ) त्रिगुण (१०.८,४३), देखिये ८.२,१ और प्रस्तुत कृति का पाँचवाँ भाग भी; (ङ) सुषुप्तावस्था की न तो जीवित और न मृत अवस्था के रूप में धारणा (६.४६, १) जो आधुनिक विचार है।

५. भाषा

ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में इस दृष्टि से उपलब्ध एक अन्तर का उल्लेख किया जा सकता है, जिसके अतिरिक्त भी अनेक को प्रस्तुत करना सम्भव है। 'कृ' धातु का ऋग्वेद में केवल एक बार १०.१४५, २ में प्रयोग आता है। अथर्ववेद में 'कृणोति' तो है ही, परन्तु 'करोति' अधिक मिलता है। सोने के अर्थ में ऋग्वेद में 'सस्' धातु का प्रयोग हुआ है, अधिक प्रचलित 'स्वप्' का नहीं। अथर्ववेद मे 'सस्' केवल एक बार ४.१,६ में आता है; इसने जिन मन्त्रों को ऋग्वेद से लिया है उनमें (अर्थात् ४ ५,५.६ में) इसके स्थान पर 'स्वप्' कर दिया गया

---

[५] ये दो शब्द ऋग्वेद १० ५१.८ और बाद, मे भी आते हैं।

है। ऋग्वेद में केवल 'द्युत' रूप मिलता है; अथर्ववेद में यह है तो, किन्तु 'ज्युत्' भी मिलता है (७.१६,१;४.३७,१०)। ऋग्वेद मे 'तदा' कभी नहीं आता और 'तदानीं' केवल एक वार १०. १२९,१ में आता है (इसे इस सूक्त की अर्वाचीनता प्रमाणित करने का एक आधार माना गया है), जब कि अथर्ववेद में दोनों ही रूप मिलते है। 'त्व' ''त्व' का ऋग्वेद में सामान्य रूप से प्रयोग होता है, जब कि अथर्ववेद में यह वाकपद केवल एक वार ८.९,९ में आता है, और यहाँ भी यह ऋग्वेद १०.७१,७.८ का एक अनुकरण मात्र प्रतीत होता है। अथर्ववेद ४.१०,५; १३.२, ३४, में 'दिवाकर' (सूर्य) एक ऐसा शब्द है जिसमें आधुनिकता ध्वनित होती है। 'समान' या 'जैसे' के अर्थ में 'न' का प्रयोग अथर्ववेद में क्रमशः लुप्त हो चला है, इसी प्रकार 'इत्' निपात भी', जबकि ये दोनों ही ऋग्वेद में वहुप्रयुक्त हैं। 'दृश्', जिसके ऋग्वेद में हमें 'दृशेयम्, दर्शम्, दृशन्, अदृश्रन्, दृशाम', आदि रूप मिलते हैं, अथर्ववेद में वाद के संस्कृत जैसे रूपों के अतिरिक्त कभी नहीं आता : १.३१, ४ में 'ज्योग् एव दृशेम सूर्यम्', ऋग्वेद १.२४, १ २, इत्यादि का अनुकरण प्रतीत होता है।

६. अपेक्षाकृत अधिक आधुनिक स्तर को व्यक्त करनेवाले विविध शब्द

'द्वीपिन्' ४.८,७; ६.३८,२; १९.४९,४, में आता है (इस पशु का नाम 'द्वीप', सम्भवतः सिंहल, से गृहीत है)। 'श्यामं लोहितम् अयस्', ११.३.७। 'इमानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि'। ऋतुओं के नामः 'ग्रीष्म' (ऋग्वेद में केवल पुरुष सूक्त में)। कलि : ७.१०९,१। 'आचार्य, ब्रह्मचारिन्'[६] : ११. ५,१। केवल 'श्रोत्रिय' पुरोहित ही अतिथि हो सकता है : ९.६,३७। 'धन', जिसका ऋग्वेद में विशेषतः प्राचीन सूक्तों में 'पुरस्कार' का आशय है, अथर्ववेद में प्रमुखतः (केवल दुर्लभ रूप से ही 'दाव' अर्थ है) अपने वाद के 'सम्पत्ति', 'धन' आदि आशयों में आता है। 'धर्म' रूप अथर्ववेद ११.७,१७, १२.५.७; १८.३,१ में आता है। ऋग्वेद में यह शब्द केवल 'धर्मन्' रूप में ही आता है। 'नग' (पर्वत) १९.८,१ में मिलता है, यह 'न जाने' का द्योतक और एक सर्वथा आधुनिक, उतना ही आधुनिक शब्द है, जितना 'नमुर' (१३.४,४६) अपेक्षाकृत प्राचीनतर 'अमृत' का आधुनिक रूप। 'पुण्डरीक नवद्वारम्' : १०. ८,४३। 'नारकं लोकम' १२.४,३६ में आता है जब कि ऋग्वेद में ऐसा कुछ नहीं है। 'पञ्चाङ्गुरि' आधुनिक है। 'परमेष्ठिन्' (जो अक्सर प्रजापति है : ४.११, ७; ८.५,१०; ९.३,११; अथवा इससे भिन्न, ८.७, १) जो वहुधा आता है,

[६] 'ब्रह्मचारिन' ऋग्वेद १०.१०९,५ मे भी आता है।

ऋग्वेद में एक बार भी नहीं मिलता। 'पश्' का ऋग्वेद में अक्सर प्राचीनतम रूप 'स्पश्' मिलता है, किन्तु अथर्ववेद में यह उन तीन स्थलों के अतिरिक्त, जिन्हें ऋग्वेद से लिया गया है, अन्यत्र नहीं मिलता। ११.२,२८; ११.६,९, १५.५,३ मे 'भव' के लिये व्यवहृत 'पशुपति' ऋग्वेद में कभी नहीं आता। जैसा कि बाद में है, 'मागध' १५.२,१–४ मे आता।

निष्कर्ष के रूप में इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि यह तथ्य मात्र कि अथर्ववेद (५.२२) में मगध, अग, बल्हिक, जैसे देशों का उल्लेख है, इस बात का प्रमाण है कि इस ग्रन्थ की रचना उस समय हुई थी जब हिन्दुओं के भौगोलिक ज्ञान में विस्तार हो चुका था। स्ट्राबो ससार को हेरोडोटस की अपेक्षा अधिक जानता था, अतः वह बाद में हुआ था।

इस विषय पर एक विद्वान ने इस प्रकार लिखा है : "कोई भी यह नहीं कहेगा कि अथर्ववेद का प्रत्येक स्थल ऋग्वेद के प्रत्येक स्थल से अधिक अर्वाचीन है। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति को यह देखना चाहिये कि ऋग्वेद का अधिकाश अथर्ववेद के अधिकाश से कहीं अधिक प्राचीन है, और यह कि उन अलग-अलग टुकड़ों का, जिनसे अथर्ववेद निर्मित है, सग्रह ऋग्वेद की अपेक्षा बाद का है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि कोई अथर्ववेद के किसी अश को ऋग्वेद के किसी अश से प्राचीन बताना चाहता है तो उसे स्वयं ही इस बात को एक अपवाद के रूप में सिद्ध करना होगा, क्योंकि वह अपने विरोधी पर विपरीत स्थिति को प्रमाणित करने का भार नहीं रख सकता। फिर भी, इस प्रकार सामान्य नियमों का निर्माण हमारे लिये बहुत सहायक सिद्ध नहीं हो सकता। प्रत्येक दशा में ऐसे विषयगत प्रमाण पर्याप्त मात्रा में मिल सकते हैं जो हमें इस प्रकार के सामान्य विवेचन से मुक्त कर देंगे।"

जातियों की प्राचीनता से सम्बद्ध प्रो० कर्न के निष्कर्षों पर टिप्पणियाँ

प्रस्तुत भाग में जातियों की विवेचना नहीं है। किन्तु यत' यह मेरे प्रथम भाग का विषय रहा है, अतः यह आवश्यक है कि मैं वर्ण-व्यवस्था की प्राचीनता सम्बन्धी डा० कर्न के उन मतों की विवेचना करूँ जिसे उन्होंने रायल अकेडमी ऑफ साइन्सेज़, ऐम्सटर्डम, के सम्मुख १३ मार्च, १८७१ को पढ़ा था। सर्वप्रथम मैं इस लेखक की स्थिति को तथा उन आधारों को जिन पर उन्होंने अपने मतों को आधारित किया है, प्रस्तुत करूँगा। पहले वह (पृ० ६) इस तथ्य का उल्लेख करते हैं कि पुरुष सूक्त में चार वर्णों का उल्लेख है, जिसे, यद्यपि एक ओर कुछ विद्वान ऋग्वेद का सर्वाधिक अर्वाचीन अंश मानते

हैं, और दूसरी ओर कुछ ठीक इसके विपरीत। आपका विचार है कि इनमें से किसी भी पक्ष ने अपनी मान्यता को सिद्ध नहीं किया है। आप स्वयं इस सूक्त की प्राचीनता को निर्विवाद मानते हैं : स्वयं अपने में नहीं बल्कि वर्णों की प्राचीनता की समस्या के महत्त्व की दृष्टि से। इस सूक्त को उद्धृत तथा इसकी व्याख्या करने के बाद आप इस प्रकार कहते हैं (पृ० ८): "हम विश्वासपूर्वक यह प्रश्न कर सकते हैं कि क्या इसमें निहित उक्तियाँ या तो स्वयं अपने में अथवा सम्पूर्ण रूप से इस बात का लेशमात्र भी आधार प्रदान करती हैं कि कवि इसके द्वारा एक नवीन संस्था की संस्तुति करना चाहता है? वास्तव में, यदि इस सम्पूर्ण कविता में कुछ भी स्पष्ट है तो वह यह है कि कवि की दृष्टि में वर्ण-विभाजन सूर्य और चन्द्रमा, इन्द्र और अग्नि, अश्व और गाय, अथवा संक्षेप में स्वयं सृष्टि के समान प्राचीन है। इस प्रकार के प्रतीकात्मक सिद्धान्त के आविर्भाव के पूर्व, वर्णों की ऐतिहासिक उत्पत्ति से सम्बद्ध समस्त स्मृतियाँ लुप्त हो चुकी होंगी। यह बात इस प्रश्न से किस प्रकार प्रभावित होती है कि पुरुष-सूक्त ऋग्वेद का सबसे बाद का अथवा प्राचीनतम अंश है?"

आगे आप यह कहते हैं (पृ० ८): "हम इस बात से अनभिज्ञ हैं कि वर्ण-व्यवस्था की प्रतिष्ठा तथा इस सूक्त की रचना के बीच समय का कितना व्यवधान था। इससे इस बात का थोड़ा सा भी पता नहीं चलता कि उस समय किसी वर्ण-विशेष के लिये निर्धारित सभी नैतिक नियम व्यवहृत होते थे या नहीं, अथवा उनका कोई सैद्धान्तिक अस्तित्व भी था या नहीं। यह भी अनिश्चित है कि चार प्रधान वर्णों के अतिरिक्त कुछ मध्यवर्ती वर्णों की भी मान्यता थी या नहीं। परन्तु हमारे लिये यह निष्कर्ष निकालना आवश्यक है कि ये वर्ण वंशानुगत थे, क्योंकि पुरुष का एक बार किया गया विभाजन स्थायी माना गया है।" आगे डा० कर्न यह कहते हैं (पृ० ९) कि सूक्तों से न तो हमें समकालीन भारतीय संस्थाओं के एक समग्र चित्र की कल्पना करनी चाहिये, और न यही मानना चाहिये कि इनके द्वारा प्रस्तुत क्षीण प्रदत्तों पर आधारित हमारे अनुमानों में प्रमाणित तथ्यों जैसी निश्चितता है। आपने पृ० ३ पर पहले यह भी कहा है कि मौन के तर्क का कभी कभी वैदिक भारतीयों को प्रभावित करनेवाली भौगोलिक समस्याओं के विवेचन में अनुचित प्रयोग किया गया है।

दूसरी बात, जिसका प्रो० कर्न अनुसन्धान करते हैं (पृ० ९ और बाद) वह यह है कि क्या हमें जेन्दावेस्ता में भी उसी प्रकार की वर्ण-व्यवस्था का सन्दर्भ मिलता है, जैसा भारत में है, अथवा नहीं? आपके विचार से इस

प्रकार का सन्दर्भ पर्शो-आर्यों और भारतीय-आर्यों के पृथक्त्व के पूर्व भी इस वर्ण विभाजन के अस्तित्व का सम्भाव्य प्रमाण प्रस्तुत करेगा। आप इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर देते हैं। आप के विचार से यस्न १९.४६ में चार वर्णों का उल्लेख है : आथ्रव, रथएश्ताओ, वास्त्रिय-फ्शुयण्ट, और हूइति [इन शब्दों का नेरिओसिंह के संस्कृत अनुवाद में आचार्य, क्षत्रिय, कुटुम्बिन्, और प्रकृतिकर्मन्, अर्थात् धर्मगुरु, क्षत्रिय, गृहस्थ, और कार्य करनेवाला, अनुवाद किया गया है]। इस पर आप पृ० ११ पर इस प्रकार टिप्पणी करते हैं : "इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि ज़ेण्दावेस्ता के अनुसार प्रथम वर्ग के अन्तर्गत आचार्य अथवा ब्राह्मण और द्वितीय के अन्तर्गत योद्धा या क्षत्रिय आते थे, और यह बिल्कुल भारत जैसा ही है। फलस्वरूप विशिष्ट वर्ग का ब्राह्मण और क्षत्रिय के रूप में विभाजन तथा प्रथम की अन्य सभी वर्गों की अपेक्षा श्रेष्ठता की कल्पना भारतीय ब्राह्मणों का सृजन नहीं है।" इसी प्रकार, प्रोफेसर कर्न (पृ० ११) यह विचार करते हैं कि तीसरा वर्ग, वास्त्रिय फ्शुयण्ट, भारतीय वैश्य के समकक्ष तथा समान तत्वों से बना है; और ये दोनों ही अत्यन्त प्राचीन हैं; और आगे यह कि (पृ० १२) चौथे वर्ग, हूइति, के अन्तर्गत साधारण सेवक, छोटे व्यवसायी, और दास आते हैं, और इस प्रकार यह शूद्र के समकक्ष है। 'पिष्ट्र' शब्द (जिसका प्रो० स्पीगल ने 'व्यवसाय' अनुवाद किया है) को प्रो० कर्न (पृ० १३) सम्भवतः जाति के लिये प्रयुक्त संस्कृत शब्द 'वर्ण' का समानार्थी मानते हुये यह कहते हैं : "यदि हम देखें कि ऊपर उद्धृत स्थल से कुछ पंक्तियाँ और ऊपर यस्न १९.४४ में इस प्रकार कहा गया है कि 'यह शब्द (आदेश) जिसको अहुर मज़्द (स्रष्टा) ने दिया है चार वर्गों (पिष्ट्र) का उल्लेख करता है', तब, मेरे विचार से, हम यह कह सकते है कि ईरानियों और भारतीयों के पवित्र ग्रन्थों में वर्ण-व्यवस्था का जिस प्रकार उल्लेख है, उससे दोनों में निश्चित साम्य दृष्टिगत होता है, यद्यपि यहाँ भी, जैसा कि अन्य सभी परिस्थितियों में भी है, हिन्दू अपने ईरान के सम्बन्धियों से कहीं अधिक लाक्षणिक भाषा में अपने को व्यक्त करते हैं।"

प्रो० कर्न तब आगे (पृ० १३) प्रो० स्पीगल के एक स्थल की उस टिप्पणी में व्यक्त मत का प्रतिवाद करते हैं जिसे मैं विस्तार से उद्धृत कर रहा हूँ : "केवल बाद के ईरानी राज्य में ही चार व्यवसाय ज्ञात हैं। यस्न के प्राचीनतर स्थल (तु० १४.५ और बाद) तथा वेण्डिडाड भी एक स्वर से केवल तीन को ही स्वीकार करते हैं। यहाँ चौथे वर्ग को जिस शब्द (हुइति) से व्यक्त किया गया है वह सर्वथा विचित्र है और अन्यत्र नहीं आता। इस

वात को मानने का कोई आधार नही है कि यहाँ एक चौथे वर्ग को प्रक्षिप्त किया गया है। अतः जो स्थल हमारे सामने है वह काफी वाद का है।"
प्रो० कर्न इस उक्ति से विना किसी प्रमाण के ही असहमत है। आपका कथन है कि कुछ स्थानों पर तीन तथा कुछ पर चार वर्गों के उल्लेख से कुछ भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि (पृ० १४) यश्न १४.९ में आचार्य, योद्धा और कृषक के जिन तीन वर्गों का उल्लेख है उन्हें 'मज्दयस्नियन धर्म की महानतम शक्तियाँ कहा गया है', और यहाँ तक कि भारत में भी जब कहीं धार्मिक कृत्यों में भ्रातृत्व का सन्दर्भ आता है तव वहाँ केवल तीन उच्च वर्णों का ही उल्लेख मिलता है। वैक्ट्रिया में ऐसी ही स्थिति थी। प्रो० कर्न यह भी कहते हैं कि वेण्डिडाड १३.१२५ में भी चार वर्णों का उल्लेख है, जहाँ चौथे को उस 'वएशु' शब्द से व्यक्त किया है जिसका स्पीगल 'ग्रामीण' अनुवाद करते हैं। उक्त आधारों पर प्रो० कर्न यह मानते है कि यहाँ का चतुर्विध विभाजन प्राचीनतम भारतीय ग्रन्थों से भी प्राचीन है।

एक पत्र में, जिससे उन्होंने मुझे अनुगृहीत किया है, प्रो० कर्न यह मानते हैं कि सभी इण्डो-जर्मनिक जातियों में वर्ण उस समय से ही वंशानुगत थे जब से ये राष्ट्र इतिहास के मंच पर प्रगट हुये। आपका कथन है कि उन्हें यह जान कर आश्चर्य हुआ कि प्राचीन काल के इण्डो-जर्मनिक लोगों में विभिन्न वर्ग आपस में विना किसी सीमा के अन्तर्विवाह कर सकते थे। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि वैक्ट्रियन लोग अन्तर्विवाह सम्बन्धी अपने विचारों में इण्डो-जर्मनिक जातियों के अन्तर्गत सर्वाधिक अलग थे, क्योंकि प्राचीन काल के मागी, और आधुनिक समय के पारसी शुद्ध और अशुद्ध रक्त के अन्तर्मिश्रण के प्रति इस सीमा तक सतर्क रहते हैं कि वे अपने निकटतम सम्बन्धी के साथ विवाह करना ही पुण्य समझते हैं। फिर भी, आप प्रश्न करते हैं (ऊपर के वर्णन के अनुसार वर्णों के ईरानियन विभाजन के उल्लेख के वाद) कि वस्तुस्थिति का जैसा आज ज्ञान है, क्या वह इस निष्कर्ष को सम्भव बनाता है कि केवल भारत में आने पर ही ब्राह्मण वर्ण ने श्रेष्ठता या प्रधानता का ऐसा अधिकार अर्जित कर लिया जो भारत में आने से पहले उसे प्राप्त नहीं था? आप इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देना ही उचित मानते हैं। अगला प्रश्न यह है कि एक वैधानिक संस्था के रूप में चार वर्ण किस सीमा तक सभी आर्य-राष्ट्रों में उपलब्ध हैं? प्रो० कर्न इसे अनिर्णीत छोड़ देते हैं, और केवल इसी तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं कि सभी इण्डो-जर्मनों में विवाह आदि के प्रतिबन्धों की दृष्टि से वशानुगत वर्ण हिन्दू वर्णाश्रम से उसी अनुपात में कम भिन्न हैं जिसमें हम इतिहास में पीछे की ओर हटते हैं।

एक विद्वान मित्र ने डा० कर्न के शोध-प्रबन्ध पर कुछ टिप्पणियों से मुझे अनुगृहीत किया है जिसका सारांश मैं कुछ अपने विचारों के साथ-साथ प्रस्तुत करूँगा।

इन उक्तियों के विरुद्ध निर्णायक आपत्ति यह है कि यदि इस वर्ग-व्यवस्था का आरम्भिकतम समय से ही अस्तित्व था तो इसका प्राचीनतम भारतीय विवरणों में सर्वत्र उल्लेख होना चाहिये था। जिस प्रकार बाद के ग्रन्थ इसके उकता देनेवाले विवरणों से भरे पड़े हैं, उसी प्रकार प्राचीन ग्रन्थों को भी इसका नित्य उल्लेख करना चाहिये था। किन्तु इसका केवल पुरुष सूक्त में ही उल्लेख है। यह कुछ विचित्र-सी बात है। प्रो० कर्न का विचार है कि मौन से तर्क का दुरुपयोग किया जा सकता है, किन्तु इस दशा में इसका प्रयोग सर्वथा उपयुक्त है। शेष दृष्टियों से संस्कृत के विद्वानों के समक्ष इस बात को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है कि यह सूक्त बहुत प्राचीन नहीं है। क्या यह किसी प्राचीन सूक्त की अपेक्षा महाभारत के किसी श्लोक के समान नहीं प्रतीत होता? यदि इसे स्वीकार न किया जाय और विशेष प्रमाणों की आवश्यकता हो, तो इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करना ही पर्याप्त होगा कि 'वैश्य', 'शूद्र', 'पृषदाज्य', 'साध्य' (५.७) शब्द केवल इसी सूक्त में आते हैं (१६ वाँ मन्त्र यहाँ, और जैसा कि ऋग्वेद १.१६४,५०, में भी है, प्रत्यक्षतः बाद में जोड़ा गया है); और यह कि ५,१५ में हमें 'लोक' शब्द मिलता है 'उ लोक' नहीं (देखिये सेण्ट पीटर्सबर्ग कोश, वस्था०)

प्रो० कर्न यह आग्रह करते हैं कि पुरुषसूक्त के प्रणेता की दृष्टि में वर्ण भी सूर्य और चन्द्रमा के समान ही प्राचीन हैं। सत्य है, किन्तु यह क्या सिद्ध करता है? क्या भारत में सभी कुछ इतना ही प्राचीन नहीं है? क्या प्रथम मनुष्य ने ही सुविख्यात एक स्मृति की रचना नहीं की थी?

प्रो० कर्न कहते हैं (पृ० १०) कि सभी राष्ट्रों में इसी प्रकार के वर्ग मिलते हैं। यह उनके पक्ष की अपेक्षा विरुद्ध अधिक है। इन दशाओं में स्वाभाविक वर्ग मिलते हैं, अस्वाभाविक जातियाँ नहीं। और यदि लेखक ने इस विभेद को स्पष्ट रूप से ध्यान में रखा होता और मूल ग्रन्थ में उसने इनमें से प्रत्येक की चारित्रिक विशेषताओं को ढूँढ़ा होता तो उसने देखा होता कि उसकी मान्यता के लिये कोई आधार नहीं है। क्योंकि हम सभी इस बात को जानते हैं कि जहाँ भी मानवसमाज एक निश्चित व्यवस्था को प्राप्त हुआ है, वह विभिन्न वर्गों में विभाजित हो गया है; और उच्च-निम्न का एक क्रम सर्वत्र मिलता है। किन्तु वर्गों का वर्णों या जातियों के रूप में रूपान्तरण भारत की ही विशेषता है (यहाँ तक मिश्र में भी जाति व्यवस्था जैसी कोई

बात नहीं है)। किन्तु इस रूपान्तरण ने स्वयं अपने को उत्पन्न नहीं किया। उदाहरण के लिये, क्या वैश्य ने स्वयं अपने ऊपर यह नियन्त्रण लगाया होगा कि वह पठन-पाठन नहीं करेगा, पुरोहित का कार्य नहीं करेगा, एक ब्राह्मण-कन्या से विवाह नही करेगा, इत्यादि ? यह सब एक विधान के द्वारा सम्भव हुआ जो एक छोटे से आरम्भ से बढ़कर विस्तृत से विस्तृततर होता गया; अर्थात यह एक कृत्रिम रूप से ही उत्पन्न हुआ। इस प्रक्रिया से उस विशेषाधिकारों की तुलना की जानी चाहिये जिसके लिये रोम का चर्च सदैव प्रयत्नशील रहा और अपने तथाकथित ब्राह्मणों के लिये इसे प्राप्त करने में कुछ सीमा तक सफल भी हुआ। और इस प्रकार के विधान का ब्राह्मण के अतिरिक्त और कौन प्रणेता हो सकता है ?

'मैं पुनः दोहराता हूँ कि यहाँ महत्त्वपूर्ण बात स्वाभाविक वर्गों और उन जातियों के बीच विभेद को स्वीकार करना है जिनका स्वाभाविक रूप से नही बल्कि कृत्रिम रूप से ही आविर्भाव हुआ होगा।

"विवेच्य विषय के इस समाधान को उस कट्टरता की ओर नहीं केन्द्रित किया जा सकता जिसके अनुसार ये वर्ग एक दूसरे से पृथक् थे। हम लोग बहुत समय पूर्व से ही इस तथ्य से अवगत रहे हैं कि वर्ग तथा जातियाँ—राष्ट्रों के समान—सर्वत्र आधुनिक की अपेक्षा प्राचीन समय में परस्पर अधिक पृथक् थीं। इस प्रकार विभिन्न वर्गों के बीच विवाह का दुर्लभ होना भी सर्वथा स्वाभाविक है। हम यह स्मरण करें कि रोम में पेट्रीशियनों और प्लेबियनों के बीच कितनी बड़ी खाई थी। अतः सर्वाधिक महत्व जाति की धारणा की शुद्ध परिभाषा को ही देना चाहिये। मेरा विश्वास है कि यह कहा जा सकता है कि केवल भारत में ही प्रत्येक जाति के मनुष्यों की पृथक्-पृथक् दिव्य सृष्टि के आधार पर इस धारणा से उत्पन्न निष्कर्ष निकाले गये हैं।

"मैं इस बात से अनभिज्ञ नहीं हूँ कि किस आधार पर प्रो० कर्न ने यह मत स्थिर किया कि अन्तर्विवाह के प्रश्न पर सभी इण्डो-जर्मनों में से बैक्ट्रियन लोग सर्वाधिक पृथक हैं। इस विषय पर मैं हेरोडोटस ३.३१ की ओर ध्यान आकर्षित करूँगा जहाँ केम्बिसीज़ के उसकी बहन के साथ विवाह की विस्तार से चर्चा की गई है। बाद की ईरानी पुस्तकों में तथाकथित 'खेतुदाओं' के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है वह प्राचीन कालों के सम्बन्ध में कुछ भी सिद्ध नहीं कर सकता। जहाँ तक मैं इसे समझ सका हूँ, अवेस्ता में सम्बन्धियों के साथ विवाह के विषय पर कोई नियम नहीं हैं। हमें सर्वप्रथम यह जानना है कि अवेस्ता के कुछ स्थलों पर जहाँ यह आता है 'क्वएत्वदथ' वास्तव में किसका द्योतक है। स्वयं जुस्टि ने केवल एक स्थान पर ही इसका

अर्थ सम्बन्धियों के बीच विवाह माना है, किन्तु इसे भी अभी सिद्ध नहीं किया जा सका है। 'क्रणु' (ह्वणु) शब्द अथवा जिसे (छन्द के आधार पर, जो सर्वत्र एक अक्षर के रूप में 'ह्व' [= क्र] की अपेक्षा रखता है, उदाहरण के लिये क्रथ्र [ह्वथ्र] एक तीन अक्षरोंवाले शब्द के रूप में = हुअथ्र) 'हएतु' लिखना अधिक उपयुक्त होगा, का अर्थ केवल सम्बन्ध है (और गाथाओं में यह सदैव दो अक्षरोंवाला ही है)। जो भी इसके साथ विवाह के विचार को संयुक्त करना चाहता है, उसे अपने पक्ष को प्रमाणित करना होगा। स्पीगल में भी मुझे प्राचीन पुस्तकों के कोई उदाहरण नहीं मिले हैं। वास्तव में उन्होंने अपने अनुवाद, भाग २, की प्रस्तावना में कहा है कि "विवाह-सम्बद्ध जो कुछ भी है वह बहुत बाद के समय का ही प्रतीत होता है।" अवेस्ता के कुछ स्थलों की प्रो० कर्न ने जो व्याख्या की है उसका हमारी प्रमुख समस्या के लिये कोई महत्त्व नहीं है। वास्तव में, साधारणतया केवल तीन वर्ग, आथ्रव, रथेस्त, और वास्त्र्य, ही ऐसे हैं जिनका उल्लेख है। यद्यपि दो स्थलों-पर इनके साथ एक 'हूइति' अथवा 'वएश' को भी जोड़ दिया गया है, तथापि यह भी एक वर्ग मात्र है। प्रो० कर्न ने 'वएश' की ठीक व्याख्या की है। वेद में भी 'वेश' एक पराधीन व्यक्ति, सम्भवतः ऐसे व्यक्ति का जो किसी अन्य का हो, और इसलिये सेवक का द्योतक है : 'हूइति' की एक 'सामान्य व्यक्ति' के रूप में व्याख्या की उस काल की धारणाओं के साथ संगति नहीं है। यदि इसका यह अर्थ है, तो उन्होंने इसे 'हु' = 'सू' (तुलना कीजिये 'प्रसूत' तथा अन्य रूप जो प्राचीन भाषा में अक्सर आते हैं) से व्युत्पन्न क्यों नहीं माना है, जिसका अर्थ 'आदेश देना', 'निर्देशन करना' है ?

उक्त टिप्पणियों के अतिरिक्त मैं इस तथ्य की ओर भी ध्यान आकर्षित करता हूँ कि यदि भारतीय और ईरानी वर्गों की एक ही और समसामयिक उत्पत्ति हुई, तो इन वर्गों को स्थायी रूप से जिन शब्दों से व्यक्त किया गया है उनमें समानता का न होना एक विचित्र-सी बात है, विशेषतः जब कि संस्कृत तथा ज़ेन्द दोनों की भाषाओं में शब्द-भण्डार का इतना अधिक साम्य मिलता है।

यह सत्य है कि इनमें से दो शब्द दोनों भाषाओं में मिलते हैं, जैसे 'आथ्रव' संस्कृत 'अथर्वन्' के, तथा 'रथएस्ताओ' संस्कृत के 'रथेष्ठा' के बहुत कुछ समान हैं। प्रथम शब्द, 'अथर्वन्', की बॉटलिङ्क और रॉथ के कोश में इस प्रकार व्याख्या की गई है : "(क) अग्नि और सोम पुरोहित, ऋग्वेद ९.११,२; ८.९,७ (यहाँ अग्नि पुरोहित है); वासं० ८.५६ (सोम स्वयं अपने ऋत्विज हैं); ऋग्वेद ६.४७,२४; १०.४८,१; एक

ब्राह्मण, मेदिनीकोश, (ख) मूर्तिमान अथर्वन्, एक अनिर्धारित प्राचीन समय में, प्रथम ऋत्विज है, जो स्वर्ग से अग्नि को नीचे लाते हैं, सोम और स्तोत्र समर्पित करते हैं, ऋग्वेद ६.१६,१३, ६.१५, १७, १०. २१,५, १.८०, १६; १०.९२, १०, १.८३,५, अवे० १८.३,५४। दिव्य शक्तियों द्वारा ये असुरों पर विजय प्राप्त करते है और देवों से दिव्य उपहार प्राप्त करते हैं, ऋग्वेद १० ८७,१२, इत्यादि।" प्रो० विलसन के कोश में इस शब्द की ब्राह्मण के द्योतक होने के रूप में व्याख्या की गई है। प्रो० गोल्डस्टूकर इसकी इस प्रकार व्याख्या करते हैं : "(१) एक ब्राह्मण, ऋत्विज, सम्भवतः ऐसा व्यक्ति जो अग्निहोत्र की अग्नि की देख-भाल करता है। (२) एक ऋत्विज का व्यक्तिवाचक नाम जिसने स्वर्ग से अग्नि प्राप्त की थी," इत्यादि। यह शब्द उस अथर्ववेद के नाम के साथ प्रख्यात है, जिसे 'अथर्वाङ्गिरसस्' (अथर्वन् और अङ्गिरस के सूक्त) भी कहते हैं। ये अथर्वन और अङ्गिरस भी प्राचीन ऋषिद्वय हैं। किन्तु, मेदिनीकोश के प्रमाण के आधार पर यद्यपि हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि 'अथर्वन' 'ब्राह्मण' का पर्यायवाची है, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि इस आशय में यह संस्कृत में बहुत प्रचलित हो सका, यहाँ तक कि इसे पुरोहित का जातिवाचक नाम भी नहीं माना जा सकता। रॉथ द्वारा उद्धृत ऋग्वेद के वे स्थल, जहाँ यह एक व्यक्तिवाचक नाम के रूप में व्यवहृत नहीं है, इस प्रकार हैं : ९.११,२ (= सावे० २.२) : अभि ते मधुना पयो अथर्वाणो अशिश्रयुः। देव देवाय देवयु। "अथर्वनों ने दिव्य दुग्ध को तुम्हारे पेय में मिश्रित किया। (अथर्वन्) जो दिव्य हैं।" ८.९,७ : आ सोमन् मधुमत्तमं घर्मं सिञ्चाद् अथर्वणि। "वह मधुर सोम, तप्त पेय, अथर्वनों में गिराये।" प्रो० रॉथ के अनुसार पुरोहित से 'अग्नि' का तात्पर्य है। सायण ने 'अथर्वणि' शब्द की इस रूप में व्याख्या की है : अहिंसकेऽग्नौ। यद्वाऽथर्वा ऋषिः। तेन निर्मथितोऽग्निर् उपचाराद् "अथर्वा" इत्य् उच्यते। "अहिंसक अग्नि में, अथवा, अथर्वन् एक ऋषि थे : इनके द्वारा मथित अग्नि-रूप को 'अथर्वन्' कहते है।" वाजस० ८.५६ : अथर्वा उपावह्नियमाण। "लाये जाने पर यह (सोम) अथर्वन् बन जाता है।" यहाँ प्रो० रॉथ का कथन है कि सोम अपने ऋत्विज स्वयं है (भाष्यकार की टीका इस प्रकार है : कण्डनार्थम् उपावह्नियमणः आनीयमानः सोमोऽथर्व नामको भवति)। ऋग्वेद ६.४७,२४ : दश रथान् प्रष्टिमतः शतंगाः अथर्वभ्यः। अश्वथः पायवे अदात्। "अश्वत्थ ने अपने पुरोहित, पायु, को अश्वों सहित दस रथ तथा सौ गायें प्रदान कीं।" सायण 'अथर्वभ्यः' की 'अथर्वगोत्रेभ्यः ऋषिभ्यः' के रूप में व्याख्या करते हैं। ऋग्वेद १०.४८,२ :

अहम् इन्द्रो रोधो वक्षो अथर्वणः। "मैं, इन्द्र, अथर्वण का कवच और उसकी शक्ति हूँ।" रॉथ यहाँ 'अथर्वन्' को एक व्यक्तिवाचक नाम के रूप में ग्रहण करते प्रतीत होते हैं। वेद में पुरोहित के लिये व्यवहृत शब्द पहले 'ब्रह्मन्' था जो बाद में 'ब्राह्मण' (ब्रह्मन् का पुत्र) हो गया। देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम भाग। यदि पर्शो-आर्यों और इण्डो-आर्यों के पृथक्करण के पूर्व के समय से ही 'अथर्वन्' का भारतीय आशय में 'जाति' या 'वर्ण' अर्थ होता तो इसे द्वितीय वर्ग ने कदाचित ही छोड़ा या ब्रह्मन्' या 'ब्राह्मण' द्वारा स्थानान्तरित किया होता।

जैसा कि जुस्टि के कोश में दिया गया है, 'रथएस्ताओ' का मूल रूप 'रथएस्तर' है, जब कि संस्कृत रूप 'रथेष्ठा' है। इस प्रकार इन शब्दों के रूप में अन्तर है। बॉटलिङ्क और रॉथ द्वारा उद्धृत ऋग्वेद के सभी स्थलों पर 'रथेष्ठा' इन्द्र की एक उपाधि के रूप में आता है, एकमात्र अन्य स्थल, अर्थात् वाज० २२.२२, जिसे वहाँ उद्धृत किया गया है, इस प्रकार है : आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्। आ राष्ट्रे राजन्यो शूरः इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुः। वोढाऽनड्वान। आशुः सप्तिः। पुरन्धिर् योषा। जिष्णुः रथेष्ठाः सभेयो युवा आऽस्य यजमानस्य जायताम्। "हे ब्रह्मन्! ब्रह्मज्ञान से युक्त एक ब्राह्मण उत्पन्न हो। राष्ट्र में एक शूर, धनुर्धर और महारथी राजन्य उत्पन्न हो। इस स्तोता के लिये दुग्धा गाय, भारवाहक बैल, द्रुतगामी अश्व, बुद्धिमान स्त्री, और विजेता रथेष्ठा उत्पन्न हों।" यहाँ यह देखा जायगा कि वाक्य के आरम्भिक अंश में 'रथेष्ठा' राजन्य के लिये व्यवहृत उपधियों में से एक नहीं है; और यद्यपि बाद में इसे जहाँ पृथक रूप से सम्मिलित किया गया है वहाँ यह सम्भवतः योद्धावर्ग के एक व्यक्ति का द्योतक है, तथापि यह किसी वर्ण या जाति की संज्ञा नहीं बल्कि एक योद्धा का पर्यायवाची है। यह शब्द बाद के संस्कृत को ज्ञात प्रतीत नहीं होता। कम से कम यहाँ इसके प्रयुक्त हुये होने का बॉटलिङ्क और रॉथ ने कोई उदाहरण नहीं दिया है, और यह विल्सन के कोश में भी कहीं नहीं आता।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग में प्रो० हॉग के शोध-निबन्ध, ओरिजिन ऑफ ब्राह्मनिज्म (१८६३ में पूना से प्रकाशित) से वर्णों की प्राचीनता-सम्बन्धी उनकी व्याख्या को उद्धृत किया गया हैं। डा० हॉग ने रॉयल अकेडमी ऑफ साइन्सेज़, म्यूनिख़, के समक्ष २८ मार्च, १८७१ को पढ़े गये अपने एक अन्य निबन्ध में इस विषय की पुनः विवेचना करते हुये अपने पूर्व-निष्कर्षों

का ही थोड़े संशोधन के साथ समर्थन किया है। इस प्रकार पृ० १३ पर आप का यह कथन है:—

(१) पुरुष-सूक्त के विषय में : "किसी भी दशा में, यह इस बात को तो प्रमाणित करता ही है कि भारत में वर्ण-व्यवस्था अत्यन्त प्राचीन तथा वैदिक युग से ही विद्यमान है। कुछ लोगों ने उस युग में इसके अस्तित्व को इस आधार पर अप्रमाणित करने का प्रयास किया है कि इस सूक्त के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्राचीन सूक्त में इसका कोई सन्दर्भ नहीं मिलता। स्वयं इस सूक्त को ऐसे विद्वान वैदिक युग के सर्वथा अन्त में रखते हैं। यह सत्य है कि अपने वर्तमान रूप में यह दसवें मण्डल के अधिकाश सूक्तों से और अथर्व-वेद से प्राचीन नहीं है। किन्तु इसमें जो विचार निहित हैं वह निश्चित रूप से पुरातनकालीन है : विशेष रूप से इसका वर्णनात्मक अंश एक छन्दबद्ध यज्ञीय मंत्र के समान प्रतीत होता है। और वास्तव में यह सूक्त यजुर्वेद में भी उस पुरुषमेध से सम्बद्ध मन्त्रों के साथ मिलता है जिसका पूर्वसमय में भारत मे आयोजन किया जाता था।

(२) "किन्तु यदि यह मानना ही पड़े कि अपने विचारों सहित यह सूक्त वैदिक युग का एक अत्यन्त अर्वाचीन स्थल है, तो भी इससे इस बात के लिये पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलेगा कि भारत में आर्यों के आरम्भिकतम आग-मन के समय वर्णो का अस्तित्व नहीं था। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, ब्रह्मन् का राजन् से विभेद किया गया है (ऋग्वेद ४.५०,८ और बाद, और १.१०८,७), अर्थात् ब्रह्मन् के विपरीत राजन्य को अक्सर क्षत्रिय की अपेक्षा राजन्य ही कहा गया है। यह स्थिति स्पष्ट रूप से वर्ण-विभेद की ओर संकेत करती है।

(३) "साथ ही, यह कदाचित ही बोधगम्य है कि वर्ण-व्यवस्था, जिसका चारों वेदों में कभी बहुधा कभी दुर्लभ रूप से उल्लेख मिलता है, एका-एक बाद के वैदिककाल में निर्मित हो गई होगी।

(४) "वर्णों के नाम का ऋग्वेद के उन सूक्तों में, जिन्हें उचितया अनुचित रूप से (क्योंकि इस विषय पर अभी और अधिक अनुसन्धान की आवश्य-कता है) प्राचीनतम माना गया है, उल्लेख क्यों नहीं है, इसका एक भिन्न कारण हो सकता है" [अर्थात् ऐसे सूक्तों में वर्णों का क्यों उल्लेख नहीं है इसका कारण यह नहीं है कि उस समय वर्णों का अस्तित्व ही नहीं था]। "इस बात की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये कि अधिकांश वैदिक सूक्तों की रचना यज्ञ-कार्यों और अंशतः विशेष कृत्यों के लिये ही की गई थी। इनमें से कुछ अंश पूर्वग यज्ञीय मन्त्रों के केवल काव्यात्मक विभेद मात्र हैं, और इन

सब की रचना ब्राह्मणों ने की थी। यतः सूक्तों में कृत्यों का कोई निदेश नहीं है, और सभी कुछ अत्यन्त विविध देवों के आवाहन की ओर उन्मुख है, अतः वर्णों के विशेष उल्लेख का अवसर नहीं मिल सका है। यजमानों को उनके वर्ण का उल्लेख किये बिना ही सामान्यतया देने वाला और सम्पन्न (मघवन्) कहा गया है।' 'अब, यतः किसी भी सूक्त की विशेष रूप से ब्राह्मणों, अथवा क्षत्रियों, अथवा वैश्यों के लिये रचना नहीं की गई थी--जैसी कि वास्तव में शूद्रों के सम्बन्ध में की गई है जिन्हें वेद के श्रवण से वंचित किया गया है--अतः वैदिक कवि के लिये अपने सूक्तों में वर्णों के उल्लेख का कोई अवसर नहीं मिला। फलस्वरूप यह तथ्य कि अलग अलग वर्णों के नाम नहीं मिलते, किसी भी प्रकार यह सिद्ध नहीं करता कि वर्णों का अस्तित्व था ही नहीं। यह निष्कर्ष, फिर भी, अभी अप्रौढ़ है।"

(५) "ऊपर दिये गये आधारों के अतिरिक्त एक और पुष्ट प्रमाण इस बात का दिया जा सकता है कि प्राचीनतमकाल में भी वर्णों का वास्तविक अस्तित्व था। उन ईरानियों के धार्मिक विवरण, ज़ेण्डावेस्ता, में जो भारतीयों से इतने घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं, केवल भिन्न नामों से चारों वर्ण स्पष्ट रूप से मिलते हैं (१) अथ्रव (सं० अथर्वन्), (२) रथएस्ताओ, (३) वास्त्रियो फशुयस (कृषक), (४) हूइतिस् (पहलवी : 'हुतोख्श) (यश्न १९, १७)। इन वर्गों के परस्पर सम्बन्ध के विषय पर ज़ेन्ड कृतियों में और विवरण उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु हम विभिन्न परिस्थितियों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि पुरोहित या 'अथ्रव' एक वर्ण का रूप ग्रहण कर चुके थे। उदाहरण के लिये, इसीलिये अहुरमज़्द ज़रथुष्ट्र को यह आदेश देते हैं कि वह अथ्रव के अतिरिक्त और किसी को भी पवित्र मन्त्र प्रदान न करें (यष्ट १४, ४६)।" [देखिये स्पीगल का अवेस्ता, ३.१४८]। "पुरोहित का पुत्र ही पुरोहित हो सकता है, और पुरोहित वर्ण की पुत्रियों का अपने वर्ण के भीतर ही विवाह किया जाना चाहिये--यह एक ऐसा प्रचलन है जो आज भी वर्तमान है। फिर भी, अन्य वर्णों का विभेद ज़ोरोआस्ट्रियनों में ठीक उसी प्रकार समाप्त हो गया, जैसे हिन्दुओं मे मात्र ब्राह्मण वर्ण ही अनेक उप-वर्णों में विभाजित होते हुये शुद्ध रह सका है, जब कि अन्य तीन वर्ण अनेक मिश्रित उपजातियों में इतने विलीन हो गये कि आज चार वर्णों का केवल सैद्धान्तिक अस्तित्व ही रह गया है वास्तविक नहीं। अब, यह परिस्थिति कि ज़ोरोआस्ट्रियनों में वर्ण व्यवस्था का एक अवशेष आज भी सुरक्षित है, इस मान्यता की प्रबल पुष्टि करता है कि यह व्यवस्था भारतीयों में प्राचीनतम काल से, और किसी भी दशा में आर्यों के भारत में आकर बसने के समय से

अवश्य उपस्थित थी। वैदिक काल तक में भी, भारतीयों और ईरानियों के बीच कितना घनिष्ट सम्बन्ध रह गया होगा, यह ज़ेण्डावेस्ता में अथर्ववेद के आरम्भिक मन्त्र के उस उल्लेख से स्पष्ट लक्षित होता है जिसे मैंने अभी हाल में ढूंढ़ा है।"

(६) अपने शोध-प्रबन्ध के आरम्भिक अंश (पृ० ८ और बाद) में प्रो० हॉग ने पहले इस बात की व्याख्या की है कि वैदिक युग में क्षत्रिय, तथा साथ ही साथ, ब्राह्मण भी यज्ञ में भाग ले सकते थे, और कुछ दशाओं में ये ऋचाओं के प्रणेता भी थे, तथा इसकी भी कि एक दास-पुत्र, कवष ऐलूष, भी एक सूक्त का प्रणेता था। तदनन्तर आप यह विचार व्यक्त करते हैं : "इस तथ्य के विपरीत भी कि ब्राह्मण लोग वैदिक युग में अन्य वर्णों के कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को भी अपने विशेषाधिकारों में से कुछ मे भाग लेने की स्वीकृति प्रदान करते थे, ये स्वयं, यहाँ तक कि एक और प्राचीन समय में भी, एक जाति का रूप ग्रहण कर चुके थे जो अन्य वर्णों से भिन्न थी, और जिसमें जन्म लेने के अतिरिक्त और किसी भी प्रकार कोई सम्मिलित नहीं हो सकता था।" तदनन्तर आप ऋग्वेद ५.५०,८ और बाद, को उद्धृत, तथा १.१०८,७ का उल्लेख और इससे तुलना करते हैं।

अब मैं प्रो० हॉग के वक्तव्यों पर कुछ टिप्पणियाँ करने का प्रयास करूँगा।

(१) पुरुष सूक्त के सम्बन्ध में, प्रस्तुत कृति के प्रथम भाग की ओर ध्यान आकृष्ट करूँगा। प्रो० हॉग अब यह मत व्यक्त करते हैं कि सूक्त के विचार तो अत्यन्त प्राचीन हैं किन्तु स्वयं सूक्त के शब्द नहीं।

(२) प्रस्तुत कृति का प्रथम भाग तथा बॉटलिङ्क और रॉथ के कोश में 'क्षत्र' देखिये। जिन स्थलों को प्रो० हॉग ने उद्धृत किया है (ऋग्वेद ४.५०,८ और बाद, १.१०८,७), उनमें क्या उन्होंने बहुत अधिक अर्थ नहीं देख लिया है? फिर भी, आगे उद्धृत मनु ३.१३ को भी देखिये जहाँ 'राजन्' शब्द का 'राजन्य' के लिये व्यवहार हुआ है। ऋग्वेद ४ ५०,८ और बाद, में यह शब्द प्रत्यक्षतः 'राजा' का द्योतक है। ऋग्वेद १.१०८,७, में यह शासक वर्ग के किसी व्यक्ति का द्योतक हो सकता है। तुलना कीजिये बॉटलिङ्क और रॉथ के कोश में 'राजन्'।

(३) वैदिक युग का विस्तार काफी बड़ा है। प्रो० हॉग स्वयं भी उस काल को, जिसमें अधिकांश संहिताओं की रचना हुई थी, ईसा के पूर्व १४००–२००० तक विस्तृत मानते हुये यह यह विचार करते हैं कि "प्राचीनतम सूक्त तथा यज्ञीयमंत्र कुछ शताब्दी और पूर्व के हो सकते है।" इस प्रकार आप वैदिक साहित्य के आरम्भ को २४००–२००० ई० पू० के बीच स्थित करते हैं

(ऐत० ब्रा० १.४७ और बाद)। इस प्रकार आपके अनुसार सम्पूर्ण वैदिक युग का विस्तार लगभग एक सहस्र वर्ष होगा, जो अनुमानतः बहुत बड़ा है।

(४) सूक्तों में वर्णों के नामोल्लेख की अनुपस्थिति, तथा उस समय भी वर्णों के अस्तित्व के सम्बन्ध में यहाँ जो आधार प्रस्तुत किये गये हैं वह कदाचित ही पर्याप्त है। सूक्तों की प्रकृति सदैव उतनी यज्ञात्मक नहीं है जितनी यहाँ कही गई है। अतः अनेक सूक्तों में वर्णों का उल्लेख किया जा सकता था।

(५) प्रो० कर्न के शोध-प्रबन्ध के सम्बन्ध में जो बातें कही गई हैं वही इस दशा में भी उपयुक्त हैं।

(६) इन मतों के सन्दर्भ में प्रस्तुत कृति का प्रथम भाग देखिये। प्रो० कर्न ने अपने शोध-प्रबन्ध (पृ० १८) में ब्राह्मणों के अन्य दो वर्णों की स्त्रियों से विवाह करने के सम्बन्ध में महाभारत से एक उद्धरण दिया है जिसका एक श्लोक इस प्रकार है :—१३.२५१५ : अब्राह्मणं तु मन्यन्ते शूद्रा-पुत्रम् अनैपुणात्। त्रिपु वर्णेपु जातो हि ब्राह्मणाद् ब्राह्मणो भवेत्। "अनैपुण्य के कारण ब्राह्मण द्वारा शूद्रा से उत्पन्न पुत्र को अब्राह्मण कहते हैं। तीनों वर्णों में से किसी (स्त्री) से ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न पुत्र ब्राह्मण ही होता है।" और मनु (३.१३) इस प्रकार कहते हैं : शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते। ते च स्वा चैव राज्ञश् च ताश् च स्वा चऽआग्रजन्मनः। "शूद्र की शूद्रा पत्नी ही हो सकती है; वैश्य पुरुष की वैश्य तथा शूद्रा; क्षत्रिय की वैश्य, शूद्रा, तथा क्षत्रिय; और ब्राह्मण की क्षत्रिय, वैश्य, तथा शूद्र पत्नियाँ हो सकती हैं।" इन स्थलों से यह स्पष्ट है कि हिन्दुओं में आरम्भिक समयों में वर्णों के रक्त की शुद्धता को बहुत महत्त्व नहीं दिया जाता था।

नोट C—पृ० ३४५

"एक ही परिवार की भाषाओं में आश्चर्यजनक समानतायें हैं, और विशेष रूप से इसलिये कि ये सूक्ष्मतम विवरणों तक में उपलब्ध हैं। यह एक कौतूहलवर्धक बात ही है कि शैली की अत्यन्त नगण्य बातों तक पर विशेष ध्यान दिया गया है। किसी भाषा के सर्वाधिक अस्थिर अंश, मेरा तात्पर्य उच्चारण से है, में भी पर्याप्त स्थिरता लक्षित होती है : अक्षरों के परिवर्तन के बीच भी, जो निःसन्देह कुछ नियमों के अनुसार ही होते हैं, दीर्घ तथा ह्रस्व स्वरों ने अक्सर अपनी मात्रा को सुरक्षित रक्खा है।" "दूसरी ओर, विभिन्नतायें भी बहुत हैं : अपने वैयक्तिक विकास में भाषाओं को जिन दूरियों को पार करना पड़ा है, उनकी मात्रा अत्यधिक रही है। सभी समताओं, यहाँ तक कि गुह्य समताओं तक की पूर्ण चर्चा कर लेने पर भी इनमें से प्रत्येक भाषा में

ऐसे अंश बच रहते हैं जिनकी उसी परिवार की अन्य भाषा के साथ कोई तुलना नहीं की जा सकती। अतः हमें इस आंशिक विभिन्नता के कारण के रूप में दो परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों को स्वीकार करना होगा, जैसे विस्मृति और आविष्कार। हम जिन भाषाओं के इतिहास से सुपरिचित हैं उनमें पूर्व समय में प्रचलित शब्दों और रूपों की विस्मृति अत्यन्त स्पष्ट रूप से लक्षित होती है, और इससे भाषा की सम्पन्नता तथा उसके सौन्दर्य की भी क्षति हुई है। इस प्रकार की विस्मृत्ति का पथ किसी भी सभ्यता में सदैव प्रतीपगामी होता है: अर्थात् जिस सीमा तक बौद्धिक स्तर सकुचित होता है, उसी सीमा तक वह पीढ़ी, जो अज्ञान तथा बर्बरता के स्तर पर आ जाती है, ऐसी अभिव्यक्तियों को त्याग देती है जो उसके लिये अब निरर्थक होती है। जहाँ तक आविष्कार का प्रश्न है, मुझे इसमें भी कोई कठिनाई नहीं दृष्टिगत होती, क्योंकि भाषा के निरपेक्ष उद्भव को समझने के लिये हमारे समक्ष या तो दिव्य आश्रय अथवा मनुष्य में भाषा के आविष्कार की मूल प्रवृत्ति, इन दो मे से किसी विकल्प को ग्रहण करना होगा।" ए० डब्लू० फॉन श्लेगेल: ट्रांजैक्शन्स ऑफ दि राएल सो० ऑफ लिट० ऑफ यूनाइटेड किंगडम, भाग २, पृ० ४३३।

नोट D—पृ० ३६६

श्री गेल्हार्ट इस समस्या का नकारात्मक तथा सकारात्मक दोनों ही दृष्टि-कोणों से परीक्षण करते हैं। प्रथम शीर्षक के अन्तर्गत आप का कथन है कि "जातिवैज्ञानिक परीक्षण के लिये भाषा इतनी अनिश्चित होती है कि इसका कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं है।" इसके उदाहरण-स्वरूप आप ब्रिटिश द्वीप-समूह की विभिन्न भाषाओं में मिलनेवाले अन्तरों का उल्लेख करते हैं। उदाहरण के लिये, भाषा की दृष्टि से कम्बरलैण्ड और कॉर्नवाल लन्दन के समान किन्तु वेल्स से भिन्न हैं, जब कि जाति की दृष्टि से स्थिति बिल्कुल इसके विपरीत है। आप का कथन है कि यही बात "अनेक समान उदाहरणों से भी प्रगट होती है: इन सब के आधार पर संचित प्रमाण इस बात को व्यक्त करता है कि यतः अनेक दशाओं में जहाँ भी भाषा के जातिवैज्ञानिक संकेतों की इतिहास की वास्तविकता से तुलना की गई है, वहाँ दोनों में परस्पर विरोध मिला है; अत "समान भाषा समान जातीयता का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है।" सकारात्मक दृष्टिकोण से यह दिखाया गया है कि ऊपर उद्धृत सभी दशाओं में जातियों में (१) राजनीतिक, (२) धार्मिक, (३) बौद्धिक, अथवा (४) सामान्य सामाजिक सम्बन्धों, अथवा इनमें से किसी एक, या सभी का मिश्रण मिलता है, अतः यह मत व्यक्त किया गया है कि जातिगत एकता नहीं बल्कि इस प्रकार के मिश्रण के कारण ही भाषागत एकता प्रगट होती है।"

"समग्र रूप से किन्हीं दो राष्ट्रों के बीच भाषागत समता के आधार पर इससे अधिक निष्कर्ष उचित नहीं कि कोई समय ऐसा भी था जब इन राष्ट्रों के बीच सामाजिक, धार्मिक अथवा अन्य किसी प्रकार का सम्बन्ध अवश्य था। भाषा किसी राष्ट्र के भौतिक गठन का नहीं, बल्कि राजनीतिक, नैतिक और बौद्धिक पक्ष का परिणाम है। यह लोगों के वंश को नहीं बल्कि उनके सामाजिक इतिहास को व्यक्त करती है।

"यदि कभी यह सिद्ध कर दिया गया कि सभी भाषायें किसी एक ही स्रोत-भाषा से उद्भूत हैं, तब इसका एकमात्र प्रामाणिक परिणाम यह होगा कि किसी पूर्व समय में सार्वभौम सत्ता प्रधान एक जाति ने शेष सब पर अपनी राजनीतिक अथवा सामाजिक संस्थाओं को लाद दिया; फिर भी, जातियों की संख्या की महान समस्या ज्यों की त्यों रह जायगी।"

नोट D—पृ० ३७६

स्ट्राबो से हमें विदित होता है कि पर्शियन, मेडियन, बैक्ट्रियन, और सोग्दियन जातियाँ प्रायः एक ही भाषा बोलती थीं। हमें यह मानने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती कि भाषा की यह समानता, जो स्ट्राबो के समय में वर्तमान थी, अधिक पूर्व समय में भी रही होगी। प्राचीन ईरानी बोलियाँ, जिनके स्मारक अब भी उपलब्ध हैं, इस मान्यता की पुष्टि करती हैं। इनमें से चार आज मिलती हैं: (१) आरम्भिक अकामेनिडों की बोली, (२) बाद के अकामेनिडों की बोली; (३) गाथाओं की बोलियाँ,[८] (४) अवेस्ता की साधारण भाषा, प्राचीन बैक्ट्रियन। अन्तिम दो को एक साथ अवेस्ता की बोलियाँ कहा जा सकता है। इनमें से प्रथम दो बोलियाँ पश्चिम की हैं, और अन्तिम दो पूर्व में, ईरान की।" स्पीगल . कुगो० २.६। मैं यहाँ इस मूल निबन्ध को पढ़ने का परामर्श दूँगा। मैं स्वयं केवल एक या दो टिप्पणियाँ ही उद्धृत करूँगा। प्राचीन पर्शियन अथवा आरम्भिक अकामेनिडियन बोली के अपने विवरण में स्पीगल यह मत व्यक्त करते हैं: 'हम इसमें संस्कृत वर्ण-माला के सभी वर्गों के अक्षरों का (मूर्धन्यों का छोड़कर, जिनकी विशुद्ध स्थानीय उत्पत्ति है) प्रतिनिधित्व पाते हैं।" पृ० १३ पर आप यह कहते हैं: "हम लोगों ने प्राचीन पर्शियन के व्याकरण में सर्वत्र उस सबकी ओर, जिसकी संस्कृत से समानता है, इतना अधिक संकेत किया है कि अब हमें प्राचीन ईरानी से इसके अन्तर को भी देख लेना चाहिये। व्याकरण के सभी क्षेत्रों में

[८] इस बात के संकेत की कदाचित ही आवश्यकता है कि इसका भारतीय गाथा-बोली से कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस प्रकार की विचित्रताओं की मात्रा कुछ कम नहीं है। ध्वन्यात्मक क्षेत्र में यह महत्त्वपूर्ण विचलन है कि प्राचीन पर्शियन में 'ज' अक्षर है जो संस्कृत मे अज्ञात है; और यूनानी की ही भाँति यहाँ भी भारतीय 'स' को 'ह' में परिवर्तित कर दिया गया है।

नोट E—पृ० ३८६

ऋग्वेद ९.११३, ७–११ : यत्र ज्योतिर् अजस्रं यस्मिन् लोके स्वर् हितम्। तस्मिन् माम् धेहि पवमान अमृते लोके अक्षिते। यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः। यत्रामूर् यह्वतीर् आपस् तत्र माम् अमृतम् कृधि। यत्रानुकामं चरणम् त्रिनाके त्रिदिवे दिवः। लोकाः यत्र ज्योतिष्मन्तस् तत्र माम्, इत्यादि। यत्र कामाः निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम्। स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माम्, इत्यादि। यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते। कामस्य यत्राप्ताः कामास् तत्र माम्। इत्यादि। "हे पवमान! मुझे उस अक्षत और अपरिवर्तनशील लोक में स्थित करो जहाँ सदैव ज्योति और वैभव विराजमान हैं। मुझे उस लोक में अमर करो जहाँ राजा वैवस्वत शासन करते हैं, जहाँ स्वर्ग का द्वार है, जहाँ महान् जल है। मुझे उस तीसरे लोक में अमर करो जहाँ इच्छानुसार कार्य होते हैं, जहाँ ज्योतिर्मय क्षेत्र हैं। मुझे सूर्य के लोक में अमर करो जहाँ सभी प्रकार के आनन्द हैं, जहाँ दिव्य भोजन तथा तृप्ति है। जिस लोक में विविध आनन्द, आमोद, आह्लाद आदि है, जहाँ समस्त कामनायें पूर्ण होती हैं, वहाँ मुझे अमर करो।" बेनफे (सामवेद ग्लॉस) ने 'नकाम' शब्द के अन्तर्गत 'स्वधा' और 'तृप्तिः' का 'अमृत' और 'सुधा' अनुवाद किया है। प्रस्तुत कृति का पाँचवाँ भाग भी देखिये।

नोट F—पृ० ३९०

मैं यहाँ डा० विण्डिशमैन के 'ऑन सोम-वर्शिप ऑफ दि एरियन्स' नामक शोधप्रबन्ध से कुछ महत्त्वपूर्ण अंशों का अनुवाद प्रस्तुत करूँगा। डा० विण्डिशमैन इस टिप्पणी से आरम्भ करते है : "यदि हम ज़रथुष्ट्र के सिद्धान्तों और ब्राह्मणधर्म की विरोधी बातों को, और इस तथ्य को देखें कि प्रथम को एक ऐसे सुधारक का कार्य समझना चाहिये जो प्रकृति-उपासना को पुराकथात्मक रूपान्तरण से बचाने का प्रयास कर रहा था, तो उन बातों पर प्रकाश डालने का महत्त्व और बढ़ जाता है जिनमें इन दोनों धर्मों में समानता मिलती है। क्योंकि जहाँ तक उन धारणाओं का प्रश्न है जो इन दोनों में परस्पर विरोधी सिद्धान्तों के विकास के पूर्व विद्यमान थीं, हम यह मान सकते हैं कि ये बातें

आर्यों के ईरानी तथा भारतीय शाखाओं में विभाजन के बहुत समय पूर्व से दोनों में समान रूप से उपस्थित और ज़ेण्डावेस्ता तथा वेद के धर्मों की समान अंश थीं। हम यह भी मान सकते है कि इन्हें सर्वाधिक पूर्वग परम्पराओं से प्राप्त किया गया होगा। यह सत्य है कि इस प्रकार की परम्परायें बहुत कम हैं किन्तु जो हैं उनका अस्तित्व अत्यन्त उल्लेखनीय है, जैसे, उदाहरण के लिये, लासन (इआ० १.५१७) ने 'विवंवत', के पुत्र, राजा यिम के ईरानी और भारत के विवस्वत के पुत्र यम के आख्यानों की समानता का उल्लेख किया है। फिर भी मेढो-पर्शियन 'यिम' को प्रथम राजा, विधायक, और ईरानी उपासना का संस्थापक मानते है, जब कि ब्राह्मण लोग अपने यम को हेड्स का अधिपति (ऋग्वेद १.३५,६) और मृतकों का न्यायाधीश मानते हैं, और इनके भ्राता, मनु, वास्तव में वह सब कुछ करते है जो यिम ने किया है।'

"किन्तु सर्वाधिक उल्लेखनीय साम्य वह है जो ज़ेण्डावेस्ता के 'हओम' और सर्वाधिक प्राचीन ब्राह्मणीय ग्रन्थों के सोम में मिलता है। यह साम्य आख्यान की कुछ विशिष्टताओं तक ही सीमित नहीं है, बल्कि आरम्भिक आर्य जाति के सम्पूर्ण सोमपूजन में लक्षित होता है।

'हओम' और 'सोम', दोनों नाम व्युत्पत्तिशास्त्रीय दृष्टि से समान हैं। दोनों ही उस 'सु', ज़ेण्ड में 'हु', धातु से व्युत्पन्न हैं, जो 'उत्पन्न करना' तथा, विशेषतः वैदिक बोली में, 'बिन्दु' अथवा 'दबा कर रस निकालना' की द्योतक है। बाद की भारतीय पुराकथा में सोम का अर्थ चन्द्रमा है : किन्तु ज़ेण्डावेस्ता और वेदों में यह एक प्रसिद्ध ओषधि तथा उसके रस का द्योतक है। इसके रस का प्रभाव मादक होता है। इस ओषधि के पौधे को पर्वतों से चाँदनी रात में समूल उखाड़ लिया जाता है; फिर पत्तियों को तोड़ कर इसे दो बकरों की गाड़ी पर रख कर यज्ञ-स्थल पर लाया जाता है जहाँ कुश आदि पहले से बिछा होता है। पुरोहित लोग यहाँ इसे पत्थरों से पीस कर रस सहित एक चलनी में रख देते हैं। यहाँ इसे पुनः ब्राह्मण लोग अपने हाथ से दबाते है जिससे नीचे रक्खे एक पात्र (द्रोण) में इसका द्रव एकत्र हो जाता है। इस रस में घृत, तथा गेहूँ आदि का आटा मिला कर अभिपवन के लिये रख दिया जाता है। सोम-रस तैयार हो जाने पर इसे तीन बार देवों को समर्पित करके ब्राह्मण ग्रहण करते हैं। सामवेद में प्रायः सम्पूर्ण रूप से सोम यज्ञ से सम्बद्ध गायन है और ऋग्वेद में भी अनेक ऐसे स्थल हैं जिनमें इसका सन्दर्भ है। निर्विवाद रूप से प्राचीन भारतीय-पूजन की यह सर्वाधिक महान और पवित्रतम हवि है। द्रोण में रस के टपकने से उत्पन्न ध्वनि को एक पवित्र सूक्त कहा गया है। देवगण भी इस समर्पित पेय को ग्रहण करते हैं, देवगण इसकी उसी प्रकार

कामना करते हैं जैसे स्वयं यह भी उनकी। वे इससे पुष्ट होकर अह्लादित होते हैं · इन्द्र (जो इसका पान करके महान कर्म करते है), अश्विनीकुमारों, मरुद्गणों और अग्नि के साथ स्थिति ऐसी ही है। यह एक दिव्य पेय है। यह शुद्धि-कारक है, मदिरा की अपेक्षा अधिक आनन्द प्रदान करता है, शक्र को मदमत्त करता है, और एक संजीवनी पेय है। यह रक्षा करता है, पुष्ट करता है, और स्वास्थ्य-वर्धक होता है। यह स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त करता है, और शत्रुओं को नष्ट करता है, इत्यादि। सामवेद दो प्रकार के, एक हरे और एक लाल रंग के, सोम का उल्लेख करता है: किन्तु इसके सुवर्ण-वर्ण की ही अधिकतर प्रशस्ति की गई है।

"यदि हम इन सब की उससे तुलना करें जो पर्शियन लोग हओम के लिये कहते हैं, तो हमें आश्चर्यजनक साम्य मिलेगा। हओम वृक्षों मे प्रथम है जिसे अहुर मज्द ने लगाया था। जो इसके रस का पान करता है वह कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता। बुन्देहेश के अनुसार गोगर्द अथवा गेकेरेन वृक्ष से हओम निकलता है जो स्वास्थ्य, प्रजनन-शक्ति, और अमरत्व प्रदान करता है। हओम पौधा सड़ता नहीं, इसमें कोई फल नहीं लगता, यह अंगूर के समान होता है, और इसकी पत्तियाँ जैसमीन की तरह होती हैं; यह श्वेत और पीले रग का होता है। इसके रस को पवित्र संस्कारों के अनुसार निकाला और समर्पित किया जाता है जिसे परहओम कहते हैं। यश्न ३.५ में इस प्रकार कथन है: "हओमेश्च पर हओमेश्च अयेशे।"

यह सत्य है कि मागियों द्वारा समर्पित एक पौधा प्लूटार्क[१] को ज्ञात था, किन्तु यह पौधा क्या था इसका निश्चय नहीं है।...... यह पौधा स्थान के साथ-साथ परिवर्तित हुआ प्रतीत होता है, और भारतीयों का सोम-पौधा ईरानियों का हओम नहीं प्रतीत होता—कम से कम ईरानी यह कहते हैं कि इनका पौधा भारत में नहीं उत्पन्न होता। अहुर मज्द श्वेत हओम को अनेक प्रकार के वृक्षों में उत्पन्न कराते है।' हओम के लिये प्रायः नित्य, वेदों के ही समान सुवर्ण वर्ण (ज़ैरिगओनो) विशेषण का प्रयोग किया गया है।

"किन्तु भारतीयों और पर्शियनों के सोम-पूजन में इतनी ही समानतायें नहीं हैं। एक और विशेष वात है जिसमें दोनों समान हैं। वेदों में सोम केवल एक पवित्र यज्ञीय पेय मात्रा नहीं वल्कि एक देवता भी है। यह वात वेदों के अनेक स्थलों और विशेषतः ऋग्वेद १.९१ जैसे सोम को समर्पित उत्कृष्ट सूक्त से प्रमाणित हो जाती है। विल्कुल इसी प्रकार ज़ेण्डावेस्ता में भी हओम एक पौधा ही नहीं वल्कि एक शक्तिशाली देवता भी है। और इन दोनों ही ग्रन्थों

---

[१] सूचना के लिये देखिये प्लूटार्क के इसिड० एट ओसिर०, ४६।

में एक पवित्र पेय तथा देवता की धारणाओं का पूर्ण सामञ्जस्य मिलता है। इस मूर्तीकृत हओम के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थल यश्न के नवें और दसवें अध्यायों में मिलते हैं, जिनके साथ ऊपर उल्लिखित वेद के सूक्त का उल्लेखनीय साम्य मिलता है। नवाँ अध्याय इस प्रकार आरम्भ होता है : "प्रातःकाल के समय हओम इस ज़रथुष्ट्र के पास आया जो अपनी पवित्र अग्नि का अभिषेक और स्तुतियों का उच्चारण कर रहे थे। ज़रथुष्ट्र ने उससे पूछा : 'तुम कौन हो, जिसे अमर जीवन के कारण मैं सम्पूर्ण संसार में सर्वश्रेष्ठ देख रहा हूँ?' इसपर शुद्ध, व्याधिनाशक, हओम ने मुझसे कहा : 'हे ज़रथुष्ट्र ! मैं शुद्ध, व्याधिनाशक हओम हूँ। हे पवित्रात्मा ! मेरा आवाहन करो, पान करने के लिये मुझे गिराओ, स्तुतियों से मेरी प्रशस्ति करो, जैसा कि पूर्व-समय में पवित्रात्मा लोग करते थे।'"[10] यहाँ हओम को 'व्याधिनाशक' कहा गया है, और इसी प्रकार सोम को भी ऋग्वेद १.९१,१२ में 'अमीवहा' (कष्टों को नष्ट करनेवाला) कहा गया है। यश्न का यह स्थल स्पष्ट रूप से यह दिखा देता है कि, जैसा मैं कह चुका हूँ, रस तथा देवता की धारणाओं के बीच किस प्रकार सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। हओम यह इच्छा प्रगट करता है कि उसे स्वयं ही यज्ञ के लिये तैयार किया जाय।

"इस स्थल के बाद हओम के चार मूल पूजकों का उल्लेख किया गया है। प्रथम विवंहत् हैं, जिन्होंने 'हुनूत' नामक दिव्य पेय का निर्माण किया और इसके परिणामस्वरूप अपनी इस इच्छा की पूर्ति प्राप्त की उन्हें एक पुत्र उत्पन्न हो। यही पुत्र राजा यिम हुये जो मनुष्यों में सबसे प्रसिद्ध थे और जिनके शासन-काल में मनुष्य और पशु कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं हुये, जल और वृक्ष कभी सूखे नहीं, भोजन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध रहा, और शीत, ताप, व्याधि, मृत्यु, तथा शत्रुता अज्ञात थे।

"पहले यिम के लिये जो कुछ कहा जा चुका है वह इस स्थल के महत्त्व को सिद्ध करता है। हओम के पूजन को यिम के पूर्व स्थित किया गया है, अर्थात् इसे ईरानी सभ्यता के आरम्भ में स्थित किया गया है, और वास्तव में इसे ही उस समय के सुखी जीवन का कारण माना गया है। ऋग्वेद भी उस समय सोम-पूजन की अत्यधिक प्राचीनता का उल्लेख करता है जब वह (१.९१,१ में) सोम के सम्बन्ध मे इस प्रकार कहता है : "तुम्हारे निर्देशन से, हे उज्ज्वल (सोम)! हमारे साहसी पितरों ने देवों के बीच कोशों को प्राप्त किया।' विवंहत् की ही भाँति, हओम के दूसरे पूजकों अर्थात् अथव्य और

[10] तुलना कीजिये, इसी स्थल का स्पीगल का अनुवाद।

समनाम सेविश्त ने भी संतान प्राप्त की—अएतओनो तथा अन्य पुत्र, जिन्होंने अहिमनियन दानव को नष्ट किया। इस प्रकाश के संघर्ष के वीरतापूर्ण युग को हओम से सम्बद्ध किया गया है, जब कि ऋग्वेद (१ ९१,८) में सोम का 'विनाश से मुक्त करने, और अपने मित्रों को मृत्यु से बचाने' तथा (मन्त्र १५) शापों और पापों से बचाने के लिये आवाहन किया गया है। और सामवेद मे इससे राक्षसों को भगाने के लिये कहा गया है।

यह उल्लेखनीय है कि जहाँ यहाँ पर अएतओनो को हओम द्वारा प्रदत्त कहा गया है, वहाँ सामवेद, ऋषि त्रित को सोम का याजक बताता है।

"हओम का चौथा पूजक पौरुसश्य है जो ज़रथुष्ट्र का पिता है : इनका वरदान इस प्रसिद्ध पुत्र का जन्म था जिसने असुर-विरोधी सिद्धान्तों का निर्माण किया। यहाँ भी प्राचीन आख्यान ज़ोरोआस्ट्रियन सुधारों पर हओम-पूजन की प्राथमिकता की ओर सकेत करता है।

"जब ज़रथुष्ट्र ने इस प्रकार यह जान लिया कि वह हओम के कारण अस्तित्व मे आये, तब उन्होंने इसकी स्तुति की। उन्होंने यहाँ इस देवता (हओम) के लिये जिन उपाधियों का प्रयोग किया है उनका वैदिक उपाधियों के साथ उल्लेखनीय साम्य है। इनमें से कुछ समानान्तर उपाधियाँ इस प्रकार है : ह्वोस (ज़ेण्ड) = स्वर्षा (सस्कृत) ऋग्वेद १.९१,२१, वेरेथ्रजओ (ज़े०) = वृत्रहा (सं०) ऋग्वेद १.९१,५, हुरव्रतुस (ज़े०) = सुक्रतुः (सं०) ऋग्वेद १.९१,२। हओम से जरथुष्ट्र ने जिन कृपाओं की याचना की, वह भी अनेक दृष्टियों से उनके समान हैं जिनकी वैदिक कवि सोम से याचना करते हैं।"

फिर भी, यह आवश्यक है कि इस विषय का और अधिक अध्ययन किया जाय। जो पाठक इस प्रकार के और विवरण को देखना चाहें उन्हें मैं स्वय डा० विण्डिशमैन के शोध-निबन्ध के अवलोकन का परामर्श दूँगा।

नीचे मैं श्री व्हिट्ने की सोम-पूजन विषयक कुछ टिप्पणियाँ दे रहा हूँ (जअओसो० ३.२९९, ३००) : [ऋग्वेद के नवें मण्डल के] एक सौ और चौदह सूक्त बिना अपवाद के सोम को संबोधित हैं और इस के रस को पौधों से निकालने, तथा उसके साफ किये जाने के समय इन सूक्तों का पाठ किया जाना चाहिये। इन सूक्तों को 'पावमान्य.' कहा गया है। सोम शब्द का अर्थ केवल 'रस' मात्र है ('सु', 'रस निकालना' धातु से), और यह एक प्रकार की ऐसी ओषधि से निर्मित पेय है जो भारत तथा पर्शिया के पर्वतों पर प्रचुर मात्रा में उगती है। यह पौधा, जो अपने नाम के अनुसार हम लोगों के साधारण 'दुग्ध-सेवार' के समान है, प्रचुर मात्रा में ऐसा रस प्रदान करता है

जिसमें अभिपवन के बाद मादक गुण आ जाते हैं। इस परिस्थिति में ही, ऐसा विश्वास किया जाता है कि, सम्पूर्ण स्थिति की व्याख्या निहित है। सरल हृदय आर्यों ने, जिनका सम्पूर्ण धर्म ही प्रकृति की सुन्दर शक्तियों और घटनाओं का पूजन करना है, ज्यों ही देखा कि इस पेय में आह्लादकारी गुण है और यह एक ऐसी अस्थायी उत्साह की अवस्था उत्पन्न कर सकता है जिसमें व्यक्ति अपनी शक्ति के बाहर के कार्य कर सकने की शक्ति का अनुभव अथवा इच्छा करने लग सकता है, तब उन्होंने इसे दिव्य मान लिया। उनकी कल्पना में यह एक देवता बन गया जो, जिसमें प्रवेश करता है उसमें, देव-तुल्य शक्तियाँ भर देता है। जिस पौधे से यह रस निकलता था उसे पौधों का शिरोमणि बना दिया गया, इसको निर्माण करने की विधि एक यज्ञ बन गई; और इसके लिये प्रयुक्त उपकरण भी पवित्र माने जाने लगे। इसकी संस्कृत में अत्यधिक प्राचीनता की पर्शियन अवेस्ता में उपलब्ध सन्दर्भों से पुष्टि होती है। फिर भी, ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय क्षेत्र में आकर इसने एक नवजीवन प्राप्त कर लिया क्योंकि 'पावमान्य' सूक्तों में इसके उल्लेखनीय विकास की स्थिति का संकेत मिलता है। यहाँ सोम को एक ऐसे देवता के रूप में सम्बोधित किया गया है जो उच्चतम श्रद्धा तथा पूजा का पात्र है। यह सभी शक्तियों का अधिपति है, इससे हर प्रकार की कृपाओं की याचना की गई है, और यह सब कुछ प्रदान करता है। और ऐसे सूक्त न केवल ऋग्वेद के एक सम्पूर्ण मण्डल की सामग्री हैं वरन् अन्य मण्डलों में भी यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं। किन्तु सर्वत्र आनेवाले अनेक एक ही प्रकार के स्थल या सन्दर्भ यह दिखाते हैं कि यह वैदिक धर्म के सम्पूर्ण संस्कारों में कितने घनिष्ट रूप से सम्मिलित हो गया है।" प्रस्तुत ग्रन्थ के पाँचवे भाग में सोम से सम्बद्ध खण्ड भी देखिये।

ईरानियों और भारतीयों के सम्बन्ध के विषय पर लासन (इआ० १.६१७ में) इस प्रकार मत व्यक्त करते हैं: "पहले इस बात का स्मरण करना चाहिये कि जेण्डावेस्ता हमारे सम्मुख (ईरानी) सिद्धान्तों को मूल रूप में नहीं बल्कि रूपान्तरित आकार में प्रस्तुत करता है। ऐसे लोगों के, जो ज़ोरोआस्टर द्वारा नियमों की घोषणा के पूर्व हो चुके थे, तथा इसके 'घनिष्टतम सम्बन्धियों' के बीच विभेद किया गया है। हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वह विषय जिनमें ब्राह्मणधर्मी भारतीयों और ज़ोरोआस्टर के अनुगामियों मे साम्य है, प्राचीन काल के, और जिनपर इन दोनों में असमानता है वे नवीन या बाद के है। अवेस्ता में जिन लोगों को पूजा के योग्य कहा गया है उनमें से सात श्रेष्ठतम हैं, जैसे ये लोग: अहुर मज़्द और अमेश स्पेन्तस्

जो विशेष रूप से ईरानी हैं; इनके नाम ब्राह्मणों को अज्ञात हैं। वेदों में इसी प्रकार के ऐसे किन्हीं सात देवताओं की मान्यता नहीं है जो श्रेष्ठतम हों। दूसरी ओर, ईरानियों में ब्रह्म का कोई चिह्न नहीं है। जेण्ड धर्म का आधारभूत सिद्धान्त, जो अच्छे और बुरे सिद्धान्तों का द्वैतवादी पृथक्त्व है, ब्राह्मणों के लिये समान रूप से अज्ञात है। फिर भी, कुछ अन्य ऐसे देवता मिलते हैं जो ज़ेण्डावेस्ता और वेद में समान रूप से पूज्य हैं, जैसे अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, और जल। यह तथ्य इस बात का संकेत करता है कि दोनों ही धर्मों का आधार एक ही है।"

लासन यिम के आख्यान तथा भारतीय और ईरानी धर्मों में समानता के अन्य सम्बन्धों का भी विवेचन करते है (इआ० १. पृ० ६१९–६३४)। आपका यह मत है: "पूर्वी ईरानियों और आर्य भारतीयों की इन समान स्मृतियों की उस संचार के आधार पर व्याख्या नहीं की जा सकती, जो दो पड़ोसी देशों के बीच हो सकता है। इसके विपरीत, हमें महत्त्वपूर्ण परम्पराओं और उपाधियों में कभी परस्पर विरोधी और कभी विभिन्न प्रकार की ऐसी धारणायें मिलती हैं जो उसी समय बोधगम्य हो सकती हैं जब हम एक ऐसी आरम्भिकतर समानता की पूर्वकल्पना कर लें जो दोनों राष्ट्रों के पृथक्करण के बाद कालान्तर में लुप्त और परिवर्तित हो गई अथवा दोनों के मतों में विभाजन के कारण विरोधी धारणाओं के रूप में रूपान्तरित हो गई। यह विरोध भी दोनों राष्ट्रों के बीच एक घनिष्ठतर सम्बन्ध का संकेत करता है।"

जजओसो० १८४८, पृ० २१६ और बाद, १८५०, पृ० ४१७ और बाद, और १८५२, पृ० ६७ और बाद, में प्रकाशित फेरिदून तथा जमशीद विषयक प्रो० रॉथ के निबन्ध भी देखिये। उनका ही नबानज्दिस्त पर शोध-निबन्ध, जो उक्त अन्तिम स्थल के पृ० २४३ पर प्रकाशित है, देखिये। इण्डिशे स्टूडियन, ३.४४८ में स्पीगल का लेख भी द्रष्टव्य है। जजओसो० १८४८, पृ० २१६, में रॉथ ने एक उदाहरण के आधार पर यह दिखाया है कि "वेद और अवेस्ता किस प्रकार एक ही स्रोत से ऐसी दो नदियों के समान उद्भूत हैं जिनमें से वैदिक अपने पूर्णतर, शुद्धतर और मूलस्वरूप के निकटतर रूप में प्रवाहित होता रहा, जब कि दूसरा अनेक दृष्टियों से मिश्रित होकर मूल धारा से हट गया और इसके परिणामस्वरूप उसके स्रोत तक समान निश्चितता के साथ सदैव पहुँचना सम्भव नहीं।" देखिये प्रो० मूलर: लास्ट रेज़ल्ट्स ऑफ दि पर्शियन रिसर्चेज़, जो उनके चिप्स, १.८१ और बाद में पुनर्मुद्रित है।

नोट G—पृ० ३६६

हिस्ट्री ऑफ इण्डिया के सम्पादक, प्रो० कोवेल, ने श्री एलफिस्टन के इस निष्कर्ष पर परिशिष्ट नं० ८, पृ० २८४ और बाद, में कुछ टिप्पणी की है। वहाँ इन्होंने उन परिस्थितियों का एक सारांश दिया है जो इस विश्वास की जनक है कि भारतीय बहुत सम्भवतः बाहर से आकर बसे लोग थे। सर्वप्रथम आप इस तथ्य का संकेत करते हैं कि "मूल संस्कृत-भाषी लोगों और पश्चिमी एशिया तथा योरप के अन्य राष्ट्रों के बीच सम्बन्ध इन सबकी भाषाओं के समान स्रोत का सकेत करता है।" तदनन्तर आप आगे इस प्रकार कहते हैं : "यह कहना अत्युक्ति होगी कि यह सम्बन्ध जातिगत प्रमाणित हो जाता है। जो कुछ भी हो, यह समस्या भौतिकविज्ञान की है, इतिहास की नहीं। इतिहासकार के लिये यही पर्याप्त है कि किसी दूरस्थ प्रागैतिहासिक काल में इन जातियों के पूर्वजों के बीच परस्पर घनिष्ट राजनीतिक साम्य था। और इनकी भाषाओं में हमें जो साम्य मिलता है निश्चित रूप से इसे प्रमाणित कर देता है, चाहे जातिगत साम्य की समस्या पहले की ही भाँति अनिश्चित रह जाय।"

प्रो० कोवेल यह मानते हैं कि "यह साम्य और भाषात्मक सहानुभूति सम्बन्ध के तथ्यमात्र को प्रमाणित करते हैं, किन्तु ये इस बात को प्रमाणित नहीं करते कि यह किस स्थान पर और कैसे सम्भव हुआ होगा। सम्भवत. निम्नलिखित विवेचन इस विषय पर कुछ प्रकाश डाल सकें।" तदनन्तर आप यह कहते है कि "आज इन विस्तृत रूप से बिखरे राष्ट्रों के पूर्वजों का समान और केन्द्रीय निवास यह मानने की अपेक्षा अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि ये लोग दूरस्थ कोने, भारत से ही चारों ओर गये।" तदनन्तर आप उन आधारों को प्रस्तुत करते हैं जो इस मत की पुष्टि करते हैं।

नोट H—पृ० ४०८

"पृथक्त्व का समय और स्थान इसके कारण की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। हमारे वर्तमान अनुसन्धान के लिये इस पृथक्त्व के समय की अपेक्षा स्थान का निर्धारण कम महत्त्व रखता है। जहाँ तक उस क्षेत्र का सम्बन्ध है जहाँ भारतीय और ईरानी साथ-साथ रहते थे, अनेक मान्यतायें सम्भव हैं। ईरानी लोग भी भारतीयों के साथ पहले पजाब में आकर बसे हो सकते है और फिर यहाँ से पश्चिम की ओर चले गये हो सकते हैं। किन्तु, दूसरी ओर, यह भी सम्भव है कि ईरानियों से पृथक् होकर भारतीय ही पूर्व की ओर आ गये हों। तीसरे, यह भी अनुमान किया जा सकता है कि ये दोनों राष्ट्र भारत और ईरान आने के पूर्व ही पृथक् हो गये हों। जो कुछ भी हो, यद्यपि हम इस

पृथक्त्व के समय का निर्धारण करने में असमर्थ है, तथापि हमें मानना चाहिये कि यह वैदिक युग के पहले हो चुका था। दोनों जातियों में ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है जो इस मान्यता की पुष्टि करे कि वैदिक युग में भी ईरानी और भारतीय एक ही समुदाय के सदस्य थे। अधिकांश वैदिक देवता और वैदिक धारणायें ईरानियों को उतनी ही कम ज्ञात हैं जितनी ईरानी देवता और धारणायें भारतीयों को। दोनों में जो समान विचार हैं उनकी इस मान्यता के आधार सन्तोषजनक व्याख्या की जा सकती है कि इनका विकास वैदिक युग के पूर्व हो चुका था।" स्पीगल : कुगो० २. पृ० ३.४।

नोट I—पृ० ४०९

"यह एक सामान्य दृष्टिकोण है कि ईरानियों और भारतीयों का धार्मिक आधार पर पृथक्करण हुआ था। यह मत इस तथ्य से पुष्ट होता है कि अनेक देवताओं के जिन नामों का एक जाति में अच्छा अर्थ है, उन्हीं का दूसरी में बुरा। उदाहरण के लिये, भारतीय 'देव' ईरानियों में 'दएव' नाम से दानव बन गये। इसी प्रकार इन्द्र का भी 'अण्द्र' के रूप में इसी प्रकार पतन हो गया है। इस बात को अस्वीकार नहीं किया जाना चाहिये कि धारणागत ये अन्तर दोनों जातियों के धार्मिक मतवाद पर आधारित हैं। किन्तु इस मत को एक सम्भाव्य अनुमान से अधिक, अथवा कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं मानना चाहिये। भाषात्मक प्रदत्तों के आधार पर इसी समान निश्चितता के साथ यह निष्कर्ष निकलता है कि ईरानियों और भारतीयों, दोनों राष्ट्रों के पूर्वज मूलतः एक ही थे। इस विरोध की उत्पत्ति के लिये अन्य सम्भव प्रणालियों की खोज की जानी चाहिये, जैसे, स्वयं ईरानी लोगों का आन्तरिक विकास। हमें इसके लिये केवल जर्मन धर्म तथा उनके प्राचीन देवताओं के उदाहरण का स्मरण कर लेना पर्याप्त होगा जो ईसाई धर्म के प्रभाव के अन्तर्गत दुष्टात्मायें बन गये। अपने सुदृढ़ परिणामों सहित द्वैतवाद एक ऐसी शक्ति थी जो ईरान में बिल्कुल उसी तरह क्रियाशील थी जिस तरह ईसाई धर्म जर्मनी में। यह द्वैतवाद, जो ईरानियों के एक विशेष प्रकार के विकास का परिणाम था, अपनी व्यवस्था में उन धार्मिक विश्वासों को भी स्थान देने के लिये बाध्य हुआ जिन्हें इसने विद्यमान, तथा जिनका प्रतिकार करने के लिये अपने को असमर्थ, पाया। अनेक लोग, जिन्हें पहले देवता माना जाता था, इस प्रकार दुष्टात्माओं में परिणत हो गये होंगे क्योंकि इनका नवीन नैतिक व्यवस्था के साथ सामञ्जस्य नहीं रह गया होगा। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय और ईरानी धार्मिक धारणाओं में परस्पर विरोध का एकदम से

नहीं वल्कि ज़रथुष्ट्र के सुधारों के फलस्वरूप क्रमशः विकास हुआ।" स्पीगल (ऊपर उल्लिखित स्थान पर पृ० ३ में)।

नोट J—पृ० ४२१

टॉलमी, ज्योग्र० ६.१६, में 'ओत्तोरोकोर्रा' के सम्बन्ध में ये विवरण मिलते हैं :—

"सेरिका देश पर्वतों से घिरा है"। इन पर्वतों के नाम इस प्रकार हैं : अन्निवियन, आक्सेशियन, अस्मिरायन, केसियन, थगुरियन, और इमोड्स।

"इनमें से एक अन्य पर्वतमाला को 'ओत्तोकोरंस' कहते हैं जो १६९° ३६ से १७६° ३९' पूर्वी देशान्तर तक फैला है।'

"सेरिका के उत्तरी भागों में मानव-भक्षी जातियाँ रहती हैं।"

"और सबके दक्षिणतम भाग में इमोडियन और सेरिकन पर्वतों के निकट 'ओत्तोरोकोर्रा' रहते हैं।"

सेरिका के नगरों के अन्तर्गत ओत्तोरोकोर्रा को १६५° ३७' १५" पूर्वी-देशान्तर पर स्थित कहा गया है।

टॉलमी ने अपने आठवें अध्याय में एशिया के आठवें मानचित्र की अपनी टिप्पणी में 'ओत्तोरोकोर्रा' का पुनः उल्लेख किया है :—

"ओत्तोरोकोर्रा के सबसे बड़े दिन की अवधि १४$\frac{2}{3}$ घंटे है। यह सिकन्दरिया से सात घंटे पूर्व में स्थित है।"

टॉलमी की भौगोलिक प्रणालियों के विवरण के लिये देखिये लासन : इआ० ३.९४ और बाद, और ओत्तोरोकोर्रा की स्थिति के लिये इसी भाग के अन्त का मानचित्र।

नोट K—पृ० ४२६

ऐर्यनेम वएजो के सम्बन्ध में लासन इस प्रकार (इआ० १.पृ० ६३२ और बाद) मत व्यक्त करते हैं : यदि हम यह मान लें कि भारतीयों और ईरानियों का भारत से बाहर मूलतः कहीं अन्यत्र समान आवास-क्षेत्र था तो भारतीयों की अपेक्षा ईरानियों में ही इस विषय से सम्बद्ध किसी परम्परा के उपलब्ध होने की आशा करनी चाहिये। हम यह कह चुके हैं कि भारतीयों में इस प्रकार के कोई आख्यान नहीं हैं, यद्यपि भारतीय उत्तर में किसी पवित्र और देवों के क्षेत्र की कल्पना करते हैं।[12] इसके विपरीत, ईरानी लोग स्पष्ट रूप से ऐर्यनेम वएजो को प्रथम सृजित नगर मानते हैं : इस नगर की स्थिति ये सुदूर पूर्व में ईरानी पठारों पर मानते हैं जिस क्षेत्र से ओक्सस और यक्सर्टीज निकलती हैं। अह्रिमन ने इस देश को शीत ऋतु से त्रस्त कर दिया था जिससे

यहाँ केवल दो महीने की ही ग्रीष्म होती थी। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें पृथिवी के तापक्रम में कमी आ जाने की स्मृति अब भी सुरक्षित है। हमें इन शीतल पठारों से वेल्र्टग और मुस्टग के पश्चिमी ढालों का तात्पर्य ग्रहण करना चाहिये।" तदनन्तर ये यह विचार व्यक्त करते हैं : "इस बातको सम्भाव्य बना देना ही पर्याप्त है कि भारतीयों और ईरानियों के आरम्भिकतम आवासों को ईरानी पठारों के सुदुर पूर्व में ढूँढना चाहिये; किन्तु हम इसे सम्भावना मात्र से अधिक मानते हैं कि भारतीय भी ईरानी देश के ही किसी भाग से उद्भूत हैं। ' इस विषय पर किसी निष्कर्ष के आधार अनिश्चित हैं। हम केवल इन राष्ट्रों द्वारा बाद में अधिकृत भौगोलिक स्थितयों के अनुसन्धान के आधार पर ही कुछ अनुमान कर सकते है, और इस प्रकार हम इस देश को कैस्पियन सागर और ऊपर उल्लिखित पठारों के बीच के क्षेत्र में स्थित कर सकते हैं, जो इन राष्ट्रों के प्राचीन आवास का क्षेत्र होगा।'

एरियाना ऐण्टीकुआ, पृ० १३४ भी देखिये जिसे नोट M में उद्धृत किया गया है।

बुनसेन भी अपने 'बाइबेल वेर्क' भाग ५, पृ० ३१५–३१६ पर एक परशिष्ट में वेण्डिडाड के प्रथम फार्गार्ड की विवेचना करते है। मैं उनकी इन टिप्पणियों को प्रस्तुत कर रहा हूँ :—"ज़ोरोआस्टर के अनुयायियों की पवित्र पुस्तक बैक्ट्रिया की आर्य जातियों के सुदूर पञ्जाब तक क्रमशः फैल जाने के वर्णन से आरम्भ होती है। इन बैक्ट्रियन आर्यों के विवरण के पूर्व उत्तर-पूर्व के एक पूर्वग देश का उल्लेखनीय सन्दर्भ है जहाँ से ही उनके पूर्वज किसी महान प्राकृतिक उथल-पुथल के कारण अपने वर्तमान आवास-स्थानों पर आये। ऐसा प्रतीत होता है कि कभी का एक पूर्ण पूर्वग देश, आर्याना, का मूलतः बहुत साधारण जलवायु था। किन्तु एक आक्रामक देवता ने वहाँ शक्तिशाली सर्प तथा हिम की सृष्टि कर दी जिसके कारण दस मास शीत ऋतु और केवल दो मास की ही ग्रीष्म ऋतु रह गई। इस देश के बाद आर्य सोग्दियाना आये और फिर बैक्ट्रिया। सभ्यता सहित आर्यों की प्रगति मानों अहुर मज्द की प्रगति थी। इस प्रगति का ऐतिहासिक महत्त्व है, क्योंकि दक्षिण और पश्चिम की ओर जिन देशों का एक क्रमिक उल्लेख है उन सब में आर्य सभ्यता के चिह्न देखे जा सकते हैं। प्रथम देश उस क्षेत्र के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता जहाँ से ओक्सस और यक्स-र्टीज़ नदियाँ निकलती हैं, अर्थात् यह पामीर का पठार और कोहकन्द देश है। बैक्ट्रियन परम्परा की प्रामाणिकता तथा प्राचीनता को स्वीकार करते हुये,

हमें यहाँ एक ऐसा साक्ष्य मिलता है जिसका, इस देश की महान प्राकृतिक उथल-पुथल की बाइबिल की परम्परा की ऐतिहासिक प्रकृति के विवेचन के लिये अत्यधिक महत्त्व है। पूर्व के ऊपर उल्लिखित पठार तथा पश्चिम के काकेशस तथा अराराट पर्वतों के बीच के भूभाग को, जिसके मध्य में कैस्पियन सागर स्थित है, भूगर्भशास्त्रियों ने वह क्षेत्र माना है जहाँ प्रकृति के सर्वाधिक अर्वाचीन उथल-पुथल हुये हैं। प्राचीनतम आर्य परम्परा में उल्लिखित हिम तथा दीर्घकालीन शीत ऋतु निश्चित रूप से भूमि के ऊपर उठ कर पर्वतों में परिवर्तित हो जाने के कारण उत्पन्न हुये होंगे।"

नोट L—पृ० ४५१

एशियाटिक रिसर्चेज़, भाग १५.१९८, में प्रो० विलसन ने महाभारत के कर्णपर्व के कुछ दीर्घ स्थलों का अनुवाद किया है जिनमें वाहीकों, मद्रों, गान्धारों, अरट्टों तथा पंजाब की अन्य जातियों के आचार-व्यवहार को लज्जाजनक और गर्हित बताया गया है। एम० ट्रायर के राजतरङ्गिणी (भाग २ पृ० ५४९ और बाद) की एक परिशिष्ट में भी इसी स्थल का अनुवाद दिया गया है। इस स्थल से मैं कुछ उदाहरण दूँगा। वाहीक लोग जिस देश में रहते हैं उसका इस प्रकार वर्णन है (कर्ण० श्लोक १०९ और बाद): बहिष्कृता: हिमवता: गङ्गया च बहिष्कृता:। सरस्वत्या यमुनया कुरुक्षेत्रेण चापि ये। पञ्चानाम् सिन्धु-षष्ठानां नदीनां येऽन्तराश्रिता:। तान् धर्मबाह्यान् अशुचीन् वाहीकान् परिवर्जयेत्। "सभी लोग उन अपवित्र वाहीकों का बहिष्कार करें जो धर्मबाह्य, तथा हिमवत्, गङ्गा, सरस्वती, यमुना, और कुरुक्षेत्र से बहिष्कृत हैं और उन पाँच नदियों के देश में रहते हैं जहाँ सिन्धु छठवीं नदी है।"

इनकी स्त्रियों का इस प्रकार वर्णन है (श्लोक २०३५): गायन्त्य् अथ च नृत्यन्ति स्त्रियोमत्ता' विवासस:। नगरागार—वप्रेषु बहिर् माल्यानुलेपना। "यहाँ की स्त्रियाँ मदमत्त, नग्न, माला पहने हुये, और विविध अनुलेपों से सुवासित, सार्वजनिक स्थानों और नगर-प्राकारों पर गायन तथा नर्तन करती रहती है।"

पुन: (श्लोक २०६३ और बाद) : पञ्चनद्यो वहन्त्य् एता: यत्र नि:सृत्य पर्वतात्। आरट्टा: नाम वाहीका. न तेष्व् आर्यो द्व्यहम् वसेत्। .... आरट्टा. नाम ते देशा. बाहीकं नाम तज्जलम्। ब्राह्मणपसदा: यत्र तुल्यकाला: प्रजापते:। वेदे न तेषां वेद्यञ्च यज्ञो यजनम् एव च। व्रात्यानां दासमीयानाम् अन्नम् देवा: न भुञ्जते। प्रस्थला: मद्र—गान्धारा:

आरट्टाः नामतः खशाः। वसातिसिन्धुसौवीराः इति प्रायोऽतिकुत्सिताः। "पर्वतों से निकलकर ये पाँच नदियाँ जिस क्षेत्र में बहती हैं-वहाँ अरट्ट नामक वाहीक निवास करते हैं। कोई भी आर्य यहाँ दो दिन भी निवास न करे। ...इस देश का नाम अरट्ट है, यहाँ के जल को वाहीक कहते हैं। यहाँ पतित ब्राह्मण निवास करते हैं जो प्रजापति के समकालीन हैं। इनके पास वेद नहीं है, कोई वैदिक कर्म नहीं है, और यज्ञ नहीं है। देवगण व्रात्यों तथा अन्य दासों द्वारा समर्पित अन्न ग्रहण नहीं करते। प्रस्थल, मद्र, गन्धार, अरट्ट, खश, वसाति, और सिन्धुसौवीर, ये सभी प्रायः अत्यन्त कुत्सित हैं।" पुनः, इसी देश के लिये इस प्रकार कहा गया है (श्लोक २०७६ और बाद):—तत्र वै ब्राह्मणी भूत्वा ततो भवति क्षत्रियः। वैश्यः शूद्रश्च बाहीकस् ततो भवति नापितः। नापितश्च ततो भूत्वा पुनर् भवति ब्राह्मणः। द्विजो भूत्वा च तत्रैव पुनर् दासोऽभिजायते। भवत्य् एकः कुले विप्रः प्रसृष्टाः कामचारिणः। गान्धाराः मद्रकाश्चैव बाहीकाश्चाल्पचेतसः। "वहाँ एक वाहीक ब्राह्मण के रूप में जन्म लेकर भी क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्ततः नापित तक बन जाता है। और पुनः एक नापित ब्राह्मण बन सकता है। और पुनः वहाँ ब्राह्मण एक दास के रूप में जन्म ले सकता है। मूर्ख गान्धारों, मद्रों और वाहीकों के यहाँ एक परिवार में एक ही ब्राह्मण जन्म लेता है, जब कि अन्य भ्राता अपनी निर्बाध इच्छा के अनुसार कुछ भी कर सकते है।'

राजतरङ्गिणी १.३०७ और बाद, में गान्धार ब्राह्मणों का इस प्रकार वर्णन है: अग्रहारान् जगृहिरे गान्धार-ब्राह्मणास् ततः। समान-शीलास् तस्यैव ध्रुवं तेऽपि द्विजाधमाः। भगिनी-वर्ग-सम्भोग-निर्लज्जाः म्लेच्छ-वंशजाः। स्नुषा-सगति-सक्ताश्च दारदाः सन्ति पापिनः। वस्तुभावैस् तथा भार्य्य भार्य्या-विक्रयकारिणः। परोपभोगितास् तेषा निर्लज्जास् तर्हि योषितः। "तब गान्धार-ब्राह्मणों ने अग्रहारों को छीन लिया; क्योंकि ये अत्यन्त पतित पुरोहित भी उसी के समान थे। म्लेच्छजात ये पापी इतने निर्लज्ज थे कि अपनी बहन तथा पुत्र-वधू के साथ सम्भोग करते थे और अपनी पत्नियों का दूसरों के हाथ धन के लिये वस्तुओं के समान विक्रय करते अथवा किराये पर देते थे। इस प्रकार अपरिचितों को समर्पित होती रहने के कारण इनकी स्त्रियाँ भी निर्लज्ज हो गई थीं।"

एम० ट्रायर यह टिप्पणी (भाग २, पृ० ३१८) करते हैं: "महाभारत के इस स्थल पर पंजाब के निवासियों को सामान्य रूप से वाहीक और अरट्ट कहा गया है, जब कि गान्धारों को इनकी अन्य उपजातियों, जैसे मद्रों और

प्रस्थलों के साथ इस प्रकार सम्बद्ध किया गया है कि इस बात पर कदाचित ही सन्देह किया जा सकता है कि गान्धार भी इनके पड़ोस में पञ्जाब में ही निवास करते थे।...राजतरङ्गिणी १.६६, में उल्लिखित सिन्धु-गान्धार सिन्धु नदी के तट पर ही रहते थे।"

और विलसन (ऐशि० रिस० १५.१०५) इस प्रकार कहते हैं : "महाभारत के अनुसार गान्धार लोग न केवल सतलज को पार करके ऐरावती की ओर बढ़ने पर ही मिलते हैं वरन् वहाँ भी जहाँ स्ट्राबो ने इन्हें स्थित किया है। फिर भी, ये अन्य जातियों के साथ-साथ सम्पूर्ण पञ्जाब में सिन्धु नदी तक फैले हैं राजतरङ्गिणी (१.६६) के अनुसार गान्धारों का एक अंश सिन्धु नदी के तट पर ही रहता था, जिसके कारण उसे सिन्धु-गान्धार कहा गया है। वे लोग पश्चिम में कन्दहार तक फैले हो सकते हैं।" अपने विष्णुपुराण, में यही लेखक गान्धारों के सम्बन्ध में इस प्रकार मत व्यक्त करते हैं : "ये लोग सिन्धु के पश्चिम में तथा पंजाब में भी मिलते हैं, और प्राचीन लेखकों को 'गन्दराइ' तथा 'गन्दरिदाइ' के नाम से सुज्ञात है।" देखिये रॉलिन्सन का हेरोडोटस, ४ पृ. २१६–२१७।

नोट M—पृ० ४५४

लासन (इआ० १.५२७) इस प्रकार टिप्पणी करते हैं : "यह मत कि ईरानियों और भारतीयों के मूल आवास-क्षेत्र को ईरानी पठारों के सुदूरपूर्वी भाग में ढूँढना चाहिये, इस तथ्य द्वारा अत्यधिक पुष्ट होता है कि हम इन ऊँचे पर्वतों के दोनों ओर इन्हीं राष्ट्रों की शाखाओं को निवास करता हुआ पाते हैं, क्योंकि काश्गर, यारखण्ड, खोतान, अक्सु, तुर्फ़ान, और खमिल के प्राचीन निवासी ताजीक हैं और फारसी बोलते हैं। केवल इसी बात से यह विदित है कि ये लोग ऊपरी एशिया तक में फैले होंगे।"

और प्रो० विलसन का यह कथन है : "फिर भी, भारत की सीमा को अत्यधिक उत्तर तक विस्तृत न करते हुए भी इस बात पर सन्देह का कोई कारण नहीं कि भारतीय काकेशस की घाटियाँ भी इसी के अन्तर्गत थीं, और पामीर पर्वत तक के इसके निवासी ऐसे भारतीय ही थे जो पहले पर्शिया के और बाद में बैक्ट्रियन राजाओं के यूनानी जाति की किसी शाखा के अंश रहे हो सकते हैं।" एरियाना ऐन्टीक्ुआ, पृ० १३४।

बदख्शान ओक्सस के स्रोत के निकट और बल्ख के पूर्व में स्थित देश है। पामीर भी इसी दिशा में है।

नोट N—पृ० ४६८

शतपथ ब्राह्मण के जिस स्थल का सन्दर्भ दिया गया है वह इस प्रकार

है : १२.८, १,५ : चतुःस्रक्ति । देवाश् च असुराश् च उभये प्राजापत्याः दिद्व् अस्पर्धन्त । ते देवाः असुरान् सपतान् भ्रातृव्यान् दिग्भ्योऽनुदन्ता तेऽदिक्काः पराभवन् । तस्माद् याः दैव्यः प्रजाश् चतुःस्रक्तीनि ताः श्मशानानि कुर्वते । अथ यः आसुर्यः प्राच्यास् त्वद्ये त्वत् परिमण्डलानि । तेऽनुदन्त ह्य् एनान् दिग्भ्यः । "चार कोनोवाला । प्रजापति की सन्तान, देवों और असुरों दोनों ने स्पर्धा की । देवों ने अपने शत्रु प्रतिद्वन्द्वियों, असुरों को उस क्षेत्र से वहिष्कृत कर दिया । क्षेत्ररहित हो जाने से वे पराजित हो गये । अतः दिव्य लोग अपने श्मशान को चतुष्कोणीय बनाते हैं, जब कि पूर्वी लोग, जो असुरों के समान हैं, इन्हें गोल बनाते हैं । क्योंकि देवो ने असुरों को उस क्षेत्र से भगा दिया था ।"

नोट O—पृ० ५४७

यहाँ एक विशेष रूप से महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है जिस पर कुछ टिप्पणी की जानी चाहिये, अर्थात् इस प्रश्न पर कि स्थानीय या अनार्य जातियाँ, जो अब तमिल तथा दक्षिणी परिवार की अन्य बोलियाँ बोलती हैं, उसी परिवार की सदस्य हैं जिनके सम्पर्क में आर्य लोग अपने प्रथम भारत आगमन के समय आये थे, और जिनकी भाषाओं के अवशेष उत्तर-भारत की देश-बोलियों के रूप में आज वर्तमान हैं । स्व० डा० स्टीवेन्सन का यह मत प्रतीत होता है कि उत्तरी तथा दक्षिणी देशबोलियों का अ संस्कृत तत्त्व मूलतः अधिकांशरूप में समान था और जो लोग इसे बोलते थे वे भी एक ही जाति के थे । आपकी टिप्पणी इस प्रकार है (जबंएसो० न० १२, १८४९) : "अक्सर इसे सिद्ध मान लिया गया हैं कि भाषाओं के उत्तरी और दक्षिणी परिवारों के अ-संस्कृत अंशों में कोई सम्बन्ध नहीं है, और दोनों के बीच एक मात्र सम्बन्ध-सूत्र सस्कृत ही है । प्रस्तुत निबन्ध का लेखक इसी अन्तिम वक्तव्य से असहमत है ।"... "लेखक को जो सबसे अधिक सम्भव सिद्धान्त प्रतीत होता है वह यह कि आज के उच्च वर्णों, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों ने भारत में प्रवेश करने पर एक भिन्न भाषी वर्बर तथा असभ्य जाति को पाया जिसका धर्म, और आचार-व्यवहार, सब कुछ भिन्न था । शस्त्रों तथा नीतियों से इन मूल-निवासियों को पराजित करके उत्तरी क्षेत्रों से भगा दिया गया । जो यहाँ बचे रह गये वे पहले दास और फिर शूद्र बन गये । इन मूल निवासियों की भाषा को उस दक्षिणी परिवार का सदस्य माना गया है जिसका सर्वाधिक पूर्ण रूप, जो आज मिलता है, तमिल है ।" तदनन्तर डा० स्टीवेन्सन ने उत्तरी और दक्षिणी भाषाओं की आधारभूत समानताओं का इसी पत्रिका में प्रकाशित विविध लेखों में विवेचन किया है । फिर भी, डा० काल्डवेल उत्तर तथा दक्षिण

की आर्यों से पूर्व की जातियों, तथा इनकी भाषाओं, दोनों की दृष्टि से डा० स्टीवेन्सन से असहमत हैं (देखिये इनका द्रवेडियन ग्रामर, पृ० ३८, ६९ और बाद)। भाषा के सम्बन्ध में आप का यह कथन है कि इनके सम्बन्ध की परिकल्पना प्रमाणित प्रतीत नहीं होती। जैसे, यद्यपि उत्तरी भारत की बोलियों के अ-संस्कृत तत्त्वों को व्याकरणिक गठन सम्बन्धी अनेक समानतायें शक अथवा तार्तार तत्त्वों के साथ सम्बद्ध करती हैं, तथापि इनका द्रविड़ भाषाओं से कोई सम्बन्ध अभी सिद्ध नहीं किया जा सका है। यदि उत्तरी देशबोली का अ-संस्कृत तत्त्व द्राविड़ होता, तो हमें इनके शब्द-भण्डार में कुछ प्राथमिक द्रविड़ धातुयें, जैसे सर, हाथ, पाँव, आँख, कान इत्यादि से सम्बद्ध शब्दों की धातुयें अवश्य मिलतीं; जब कि डा० काल्डवेल को इस प्रकार का कोई साम्य नहीं मिल सका है। आगे आप का यह कहना है कि और अधिक अनुसन्धान सम्भवतः स्पष्टतः द्रविड़ धातुओं और रूपों की उत्तरी देशबोलियों में उपस्थिति का उद्घाटन कर सकता है, किन्तु अभी तक ऐसा कुछ प्रमाणित नहीं हो सका है। अतः आप यह निष्कर्ष निकालते हैं कि उत्तरी भाषाओं के अ-संस्कृत अंश को दक्षिणी के अन्तर्गत नहीं रक्खा जा सकता। डा० विलसन का भी यही मत है (देखिये मोलसवर्थ के मराठी कोश में इनकी टिप्पणी, पृ० xxiii)। इस प्रश्न के सम्बन्ध में कि उत्तर तथा दक्षिण की अनार्य जातियाँ एक ही हैं, डा० काल्डवेल का यह मत है कि हम द्रविड़ों को विश्वासपूर्वक भारत का आरम्भिकतम निवासी अथवा ऐसा निवासी कह सकते हैं जो सबसे पहले उत्तर-पश्चिम से यहाँ आये। परन्तु यह निश्चित नहीं कि भारत आगमन पर आर्यों ने इन्हें ही यहाँ बसा पाया, अथवा किसी अन्य शक आदि जातियों ने इन्हें पहले ही दक्षिण की ओर भगा दिया था। इस विषय का निश्चय किये बिना डा० काल्डवेल द्राविड़ भाषाओं और उत्तरी देशबोलियों के पूर्वग तत्त्वों के अन्तर के आधार पर यह मान लेते हैं कि द्रविड़ शब्द बोली के एक प्राचीनतर स्तर के प्रतिनिधि हो सकते हैं। यदि यह मत ठीक है, तो यह निष्कर्ष निकलता है कि उत्तरी भारत की जनसंख्या के शब्द अथवा अनार्य अंशों के पूर्वज निश्चित रूप से द्रविड़ों के बाद भारत में आये होंगे और द्रविड़ों को उत्तर भारत के अधिकांश क्षेत्रों से भगा दिया होगा। तदनन्तर ये स्वयं भी उत्तर-पश्चिम से आनेवाले आर्यों के अधीन हो गये होंगे। जो कुछ भी हो, डा० काल्डवेल यह मानते हैं कि उत्तर भारत से द्रविड़ों को आर्यों ने बहिष्कृत नहीं किया था, और यह कि यतः संस्कृत अथवा द्रविड़ परम्परा में ऐसा कोई सन्दर्भ नहीं मिलता जिससे इन दोनों के संघर्ष का आभास मिले, अतः इनके आरम्भिक सम्बन्ध सौहार्द्रपूर्ण ही रहे

होंगे। आर्यों के पहले आये शब्दों को, जिनको डा० काल्डवेल उत्तर से द्रविड़ों को भगानेवाला मानते हैं, कोलों, सन्थालों, भीलों डोमों तथा उत्तर की अन्य आदिवासी जातियों के साथ नहीं मिलाना चाहिये जो, उत्तर पश्चिम से द्रविड़ों के भारत प्रवेश के पहले ही वनों में चली आई होंगी। डा० काल्डवेल के अनुसार इन वन्य जातियों की भाषाओं का उत्तर भारत की देश-बोलियों के आदिम तत्वों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार, जिन दृष्टिकोणो को ऊपर संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत किया गया है उनके आधार पर हमें भारत की जनसंख्या के चार स्तर मिलते हैं :—

(१) आरम्भिकतम वन्य जातियाँ, जैसे कोल, भील, सन्थाल, इत्यादि, जो उत्तर-पूर्व से भारत में आई हो सकती हैं।

(२) द्रविड़, जो उत्तर-पश्चिम से भारत में आये और या तो स्वयं ही या बाद के आक्रामकों के दबाव के कारण अपने वर्तमान दक्षिणी क्षेत्रों में चले आये।

(३) शक अथवा अनार्य जातियां जो उत्तर पश्चिम से ही आईं और जिनकी भाषा ने बाद में संस्कृत से मिल कर उत्तर भारत की प्राकृत बोलियों को जन्म दिया।

(४) आर्य, जो पहले इण्डो जर्मनिक जातियों से और फिर पर्शियनों से पृथक होने के बाद भारत में आये। यहाँ आकर इन लोगों ने उत्तर भारत तथा पंजाब की अनार्य जातियों को भगा कर ब्राह्मण धर्म और समुदाय की स्थापना की। कालान्तर में ये धीरे धीरे पूर्व और दक्षिण में भी फैल गये और अपनी भाषा तथा धर्म का भी सर्वत्र प्रसार कर दिया।

यह सिद्धान्त चाहे जिस सीमा तक प्रमाणित हो सके, कम से कम इसके इस सामान्य निष्कर्ष को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि आर्यों के भारत आगमन के पूर्व द्रविड तथा अन्य अ-संस्कृत भाषी जातियों के पूर्वज इस देश के विभिन्न भागों में बसे थे; और यह कि ये द्रविड़ आदि आर्यों के वंशज नहीं हो सकते। यदि द्रविड़, चोल तथा केरल आदि मूलतः ऐसे क्षत्रिय थे जो ब्राह्मण धर्म से च्युत हो गये थे, तो इन्हें पुनः ब्राह्मण-धर्म में दीक्षित कर लिया गया होता। परन्तु इस दोहरी प्रक्रिया का कोई प्रमाण नहीं है।

परवर्ती टिप्पणियाँ

१. पृ० ६३

यह उक्ति ठीक नहीं प्रतीत होती। भाष्यकार का 'देशी' से महाराष्ट्री अथवा अन्य किसी प्राकृत बोली को व्यक्त करना उद्देश्य नहीं रहा हो सकता क्योंकि इन सब में तत्सम तथा तद्भव, दोनों ही तत्व विद्यमान हैं। 'देशी' शब्द के प्रयोग से उसका केवल स्थानीय तत्वों से ही तात्पर्य हो सकता।

२. पृ० ३३५

'दर्श्' और 'ददर्श' दोनों ही आशय और ध्वनि में 'दर्को' और 'देदोर्क' के समान हैं।

३. पृ० ३३६

संस्कृत नवता, समता, लघुता की अपेक्षा 'अरिष्टताति', 'देवताति', 'सर्वताति' जैसे वैदिक रूपों को वहाँ उद्धृत जेण्ड, यूनानी, और लैटिन शब्दों के अधिक उपयुक्त समानार्थियों के रूप में दिया जाना चाहिये था। देखिये बॉप का कम्प० ग्रामर, भाग ३, पृ० २१८।

४. पृ० ४६५ और बाद

इन स्थलों पर उद्दिष्ट बातों की महाभारत की इन पंक्तियों से और अच्छी व्याख्या हो जाती है : २.११६९ और बाद : ततः शूर्पारकं चैव तालाकटम् अथापि च। वशे चक्रे महातेजाः दण्डकांश् च महाबलः। ११७०. सागर-द्वीपवासांश् च नृपतीन् म्लेच्छयोनि-जान्। निषादान् पुरुषादांश् च कर्णप्रावरपान् अपि। ११७१ ये च कालमुखा नाम नर-राक्षस-योनयः। कृत्स्नं कोलिगिरिं चैव सुरभीपत्तन तथा। ११७३. एक पादाश् च पुरुषान् केरकान् वनवासिनः। नगरीं सञ्जयन्तीं च पाषण्ड करहाटकम्। ११७४. दूतैर् एव वसे चक्रे। ..... ११७६. ततः कच्छ-गतो-धीमान् दूतान् माद्रवती सुतः। ११७७. प्रेषयामास राजेन्द्र पौल-स्त्याय महात्मने। विभीषणाय धर्मात्मा प्रीतिपूर्वम् अरिन्दम। ११७८. श चास्य प्रतिजग्राह शासनम् प्रीतिपूर्वकम्॥ "तब उस महान योद्धा ने शूर्पारकों, तालाकटों, और दण्डकों, आदि म्लेच्छ जाति के राजाओं को अपने अधीन कर लिया जो सागर के द्वीपों में निवास करते थे। उन्होंने पुरुषाद निषादों, कर्णप्रावर्णों, कालमुखों आदि राक्षसों और मनुष्यों से उत्पन्न व्यक्तियों, और सम्पूर्ण कोलगिरि तथा सुरभीपत्तन को भी

अपने अधिकार में कर लिया। तब उन्होंने अपनी सेना द्वारा केरकों, वनों में निवास करनेवाले एकपादों, मंजयन्ती नगरी, तथा दुष्ट करहाटक को भी वशीभूत किया।...तब माद्रवती के वह बुद्धिमान तथा धर्मात्मा पुत्र निचले प्रदेशों में आये और यहां से उन्होंने पुलस्त्य के महान् पुत्र, विभीषण, के पास दूत भेजा और उसने भी उनके आदेशों को प्रीतिपूर्वक ग्रहण किया।"

सीता की खोज में भेजे गये वानरों को अन्य देशों सहित इन लोगों के देश में भी सीता को ढूँढ़ने के लिये कहा गया (रामायण ४.४०, २६):—कर्ण-प्रावरणांश चैत्र तथा चाप्य् ओष्ठकर्णकाः। घोरमोहमुखाश् चैव जवनाश् चैकपादकाः। अक्षयाः बलवन्तश् च तथैव पुरुपादकाः। किराताश् तीक्ष्णचूडश् च हेमाभाः प्रिय-दर्शनाः। आम-मीनाशनाश् चापि किराताः द्वीपवासिनः। अन्तर्जलचराः घोराः नरव्याघ्राः इति स्मृताः।
"जो कर्णप्रावरण, ओष्ठकर्ण (ओठ तक फैले कानवाले), तथा घोरलोहमुख (लोहे के समान काले और भयंकर मुखवाले) हैं, जो एक ही पैर के होते हुये भी वेगपूर्वक चलनेवाले हैं, जिनकी सन्तान-परम्परा कभी क्षीण नहीं होती, वे पुरुष, तथा जो बलवान नरभक्षी राक्षस हैं, जो सूचीके अग्रभाग की भाँति तीखी चोटीवाले, सुवर्ण के समान कान्तिमान्, प्रियदर्शन, कच्ची मछली खानेवाले, द्वीपवासी तथा जल के भीतर विचरण करनेवाले किरात हैं, जिनके नीचे का आकार मनुष्य जैसा और ऊपर का व्याघ्र जैसा है, उन सब के यहाँ, हे वानरों! तुम्हें सीता की खोज करनी चाहिये।

प्रमुख नामों और विषयों की अनुक्रमणिका